हिन्दी

विश्व-भारती

[ज्ञान-विज्ञान का कोश]

हिन्दी

ज्ञान-विज्ञान का कोश

संशोधित और परिवर्द्धित

नवीन संस्करण

संपादक

कृष्ण वल्लभ द्विवेदी

भाग

२

ज्ञान-विज्ञान-साहित्य की प्रमुख प्रकाशन-संस्था

प्रकाशक

हृदयेश्वर प्रसाद

हिन्दी विश्व-भारती

चारबाग, लखनऊ

मूल्य

प्रति भाग

रु० २१)

मुद्रक

नवज्योति प्रेस,

लखनऊ

: लेखक-मंडल :

डॉ० गोरखप्रसाद, डी०एस-सी० (एडिनबरा), एफ०आर० ए०एस०, भूतपूर्व रीडर, गणित विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, भौतिक विज्ञान, धर्म-समाज कॉलेज, अलीगढ़।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम०एस-सी०, प्रधानाचार्य, कान्य-कुब्ज कॉलेज, लखनऊ।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, आचार्य, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय तथा भूतपूर्व अध्यक्ष, पुरातत्त्व-संग्रहालय, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी०एस-सी० (मेटालर्जी)।

डॉ० शिवकण्ठ पांडे, एम०एस-सी०, डी०एस-सी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, वनस्पति-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम०एस-सी, एल-एल०बी०, भूतपूर्व प्राध्यापक, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० कॉम०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०,डी०एस-सी० (लंदन), भूतपूर्व उपकुलपति, सागर-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी, एम०ए०, पी०एच-डी०, भूतपूर्व उपकुलपति, लखनऊ-विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र - विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, भूतपूर्व, उप-प्रधानाचार्य, राजकीय कला-महाविद्यालय, लखनऊ।

डॉ० सत्यनारायण शास्त्री, पी०एच-डी० (हाइडेलबर्ग)।

डॉ० डी०एन० मजूमदार, एम०ए०, पी०एच-डी० (कैंटब), पी०आर०एस०, एफ०आर०ए०आई०, भूतपूर्व अध्यक्ष, मानव-विज्ञान विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम०ए०, एल-एल०बी०।

श्री० रामकृष्ण अवस्थी, एम०ए०।

श्री० रमाकान्त शास्त्री।

श्री० द्वारकाप्रसाद, एम० ए०।

श्री० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०।

श्री० व्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०।

विषयानुक्रम

: विश्व की कहानी :

भौतिक विज्ञान

पृष्ठ ४६१—४८५

गतिशीलता और शक्ति

[श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

गतिशीलता आपेक्षिक है—अपकेन्द्र या सेंट्रीफूगल शक्ति—गति-संबंधी न्यूटन के सिद्धान्त—वेग—पृथ्वी पर सभी वस्तुएँ समान वेग से गिरती है—शक्ति क्या है—शक्ति का माप : : गति-मात्रा या सवेग।

उत्तोलक और चरखी—यांत्रिक शक्ति की पहली सीढ़ी

[श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

संसार की सर्वप्रथम मशीन :: लीवर—प्रथम प्रकार का लीवर—द्वितीय और तृतीय प्रकार का लीवर—गड़ारी : : लीवर का ही परिष्कृत रूप—पुली या चरखी।

द्रव पदार्थों का दबाव

[श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

दबाव का अर्थ—पैस्कल का नियम—गहराई के साथ दवाव की वृद्धि।

हवा का दबाव

[श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

हवा में भी वजन है—गेरिक का प्रयोग—रिक्त स्थान में भरने की हवा की प्रवृत्ति का कारण उसका दबाव ही है—टारिसेली की सूझ—बैरोमीटर—हवा के दवाव में फेरवदल—एनीरायड वैरोमीटर—साइफन का सिद्धान्त।

रसायन विज्ञान

पृष्ठ ४८६—५१३

सृष्टि का सब से हलका पदार्थ—हाइड्रोजन गैस

[श्री० मदनगोपाल मिश्र]

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन का उत्पादन—हाइड्रोजन के भौतिक और रासायनिक गुण—हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के सम्मिलन से पानी—हाइड्रोजन मे अन्य वस्तुएँ नहीं जलतीं—ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा।

जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस

[श्री० मदनगोपाल मिश्र]

फ्लोजिस्टनवाद—ऑक्सिजन का उत्पादन—अधिक परिमाण में ऑक्सिजन का उत्पादन—ऑक्सिजन के भौतिक और रासायनिक गुण—जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व।

जीवन का महान् माध्यम—पानी

[श्री० मदनगोपाल मिश्र]

प्रकृति में पानी—जल-वितरण का चक्र—पानी का कृत्रिम उत्पादन—शुद्ध और अशुद्ध पानी—'मृदु'

सत्य की खोज

: पृथ्वी की कहानी :

पृथ्वी की रचना

धरातल की रूपरेखा

पृष्ठ ५३३-५४७

भौगोलिक स्थिति-सूचक रेखाएँ—'अक्षांश' और 'देशान्तर' [श्री० रामनारायण कपूर]

भूमध्य रेखा—अक्षांश और देशान्तर—इन रेखाओं की उपयोगिता—अक्षांश का पता कैसे लगाया जा सकता है—देशान्तर निश्चित करने की विधि—प्रामाणिक समय—तिथि-रेखा—देशान्तर के बीच का अन्तर समान नहीं है।

नकशे द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन [श्री० रामनारायण कपूर]

नकशे या मानचित्र और उनकी उपयोगिता—भाँति-भाँति के मानचित्र—पैमाना—दिशा-ज्ञान और धरातल की नाप—प्रोजेक्शन या प्रक्षेप—पृथ्वी के मानचित्रों के विविध प्रक्षेप—ढोल-प्रणाली—शंकु-प्रक्षेप—आरथोग्राफिक प्रक्षेप—अजिम्युथल प्रक्षेप—स्टीरियोग्राफिक प्रक्षेप—वायुयान द्वारा भूक्षेत्रों का सर्वेक्षण।

पेड़-पौधों की दुनिया

पृष्ठ ५४८-५८०

पौधे का अंग-विधान [डॉ० शिवकण्ठ पांडे]

पौधे के अंग—पौधे का पृथ्वी के अन्दर का भाग :: 'जड़' और उसके कर्त्तव्य—पौधे के पृथ्वी के ऊपर के भाग :: तना, पत्ती, फूल, फल और बीज—पत्तियाँ क्या करती हैं—पत्ती के मुख्य भाग—फूल—फूल के मुख्य भाग—फल, बीज और प्रसारण।

जीवन का मौलिक रूप अथवा जीवद्रव्य [डॉ० शिवकण्ठ पांडे]

जीव-द्रव्य के भौतिक और रासायनिक गुण—कोशिका, नाभिक, अणुनाभिक और कोशिकामूल—प्लैस्टिड्स—जीवद्रव्य की उत्पत्ति—कोशिका के अन्दर की अन्य वस्तुएँ :: माड़ी, प्रोटीन, तेल और रवे, आदि—कुंड और कोशिका-द्रव्य – रवे या केलास—विटामिन, एनजाइम और हार्मोन—कोशिका-भित्ति—कोशिकाओं के भेद और आकार—कोशिका-सिद्धान्त—कोशिका-वृद्धि, कोशिका-परिवर्तन तथा तन्तु-रचना—एक कोशिका से अनेक कोशिकाओं की रचना :: कोशिका-विभाजन—कोशिकाओं में परिवर्तन :: एक से अनेक प्रकार की कोशिकाएँ कैसे बनती हैं—कोशिका-भित्ति में परिवर्तन—काष्ठकर—कागजन—चर्मोज—मौलिक - तन्तु-संस्थान—आधार-तन्तु—रक्षक - तन्तु—प्रवाहक-तन्तु।

जानवरों की दुनिया

पृष्ठ ५८१–६०४

जीवधारियों का पृथ्वी पर क्रमानुसार प्रवेश [श्री० श्रीचरण वर्मा]

भूतकाल के प्राणियों का पता कैसे चलता है—आदि जीव कैसे थे—साधारण जीवों में तन्तु और अंग कैसे बने—जीवधारियों में मृत्यु और सन्तानोत्पादन—एक के बाद दूसरे अपृष्ठवंशियों का आगमन—नेत्र का आविर्भाव—जीवधारियों का जल से थल पर विकसित होना—उभयचर, मण्डूक और आदि पृष्ठवंशी—आदि उरंगम—प्लायोसॉरस और इकथियोसॉरस—भीमकाय डायनोसॉरों का युग—टेरोडेक्टाइल नामक उरंगम-पक्षी—पक्षियों का आदि पुरखा :: आरकियौप्टैरिक्स—स्तनपोषितों का आविर्भाव—मनुष्य का प्रादुर्भाव ।

जन्तु-जगत् की संक्षिप्त झाँकी [श्री० श्रीचरण वर्मा]

आदि-जीवों का उपवर्ग—मध्यम जीवों का उपवर्ग—लस-मछली और उसके संबंधी—कृमि तथा अन्य गंडेदार जीव—सितारा-मछली और इसके नातेदार—घोंघा एवं सीप के-से जीव—जोड़दार पैरवाले प्राणी—पृष्ठवंशी या रीढ़दार प्राणी—मत्स्य-समुदाय—मंडूक-समुदाय—उरगम-समुदाय—पक्षी-समुदाय—स्तनपोषी-समुदाय ।

: मनुष्य की कहानी :

हम और हमारा शरीर

पृष्ठ ६०७-६४४

हमारा अनोखा शरीर-यंत्र [श्री० श्रीचरण वर्मा]

शरीर के नौ सस्थान—मनुष्य केवल थोड़े से ही तत्त्वों का खिलौना है—हमारे शरीर का गिलाफ—बुढ़ापे में चेहरे पर झुर्रियाँ क्यों पड़ जाती हैं—त्वचा की रचना—उपचर्म एक अद्‌भुत मरता-जीता वस्त्र है—एक व्यक्ति के अँगूठे का निशान दूसरे व्यक्ति के अँगूठे के निशान से नही मिलता—यदि हमारे शरीर में स्वेद-ग्रंथियों का काम वन्द हो जाय तो हम जीवित नहीं रह सकते—गोरे या काले होने का रहस्य—त्वचा के कर्त्तव्य—शरीर ग्रीष्म में ठंडा और जाड़े में

गरम कैसे रहता है—त्वचा ही की बदौलत हम भीषण गरमी या सरदी सह पाते हैं—त्वचा के द्वारा सरदी-गरमी, पीड़ा, आदि का ज्ञान हमें होता है—हम त्वचा से भी साँस लेते हैं—बालों की रचना—हमारे नाखून—खाल, बाल और नाखून की रक्षा—ठंडे और गरम पानी से नहाना—बालों की देख-भाल—नाखूनों की रक्षा।

हमारी मांस-पेशियाँ [श्री० श्रीचरण वर्मा]

इच्छाधीन मांस-पेशियाँ :: उनके आकार और काम करने के ढंग—हम कैसे सीधे खड़े होते, चलते और दौड़ते हैं—स्वाधीन मांस-पेशियाँ—हृदय-पेशियाँ—मस्तिष्क और सुषुम्ना का पेशियों पर अधिकार—पेशियों द्वारा शरीर को ऊष्मा कैसे मिलती है—काम लेने से पेशियाँ मोटी हो जाती हैं—व्यायाम की आवश्यकता और महत्व—मांस-पेशियों की इंजिन से तुलना और उससे उनकी श्रेष्ठता—मांस-पेशी तथा मोटर-साइकिल का इंजिन—पैरों को चलानेवाले पेशीरूपी इंजिन—एक पैर में कितने इंजिन काम आते है—नवशिशु को चलना सीखने में क्यों देर लगती है—मांस-पेशी-रूपी इंजिन कैसे काम करते है—पेशियों का ताप किस प्रकार ठीक रहता है।

हमारे शरीर का सुदृढ़ लचीला आधार—अस्थि-पंजर [श्री० श्रीचरण वर्मा]

हड्डियों का आकार-प्रकार भिन्न क्यों है—हड्डियाँ क्या करती हैं—ढाँचे की विशेषता—अस्थिपंजर के हिस्से और हड्डियों की संख्या—खोपड़ी—धड़ की हड्डियाँ—पसलियाँ—हाथ-पैरों की हड्डियाँ—हड्डियों के जोड़—हड्डियाँ ठोस नहीं, खोखली होती है।

हमारा मन पृष्ठ ६४५-६५२

स्वयंभू वृत्तियाँ और सहज आचरण [श्री० सुरेन्द्र बालुपुरी]

मैग्डूगल की राय—सहज आचरण निश्चित है या परिवर्तनशील—बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मनुष्य में स्वयंभू वृत्तियाँ दबी हुई हैं—वाट्सन द्वारा स्वयंभू वृत्तियों का प्रतिपादन—प्रमुख स्वयंभू वृत्तियाँ।

चेतनवृत्तियाँ और चेतना-प्रवाह [श्री० सुरेन्द्र बालुपुरी]

चेतना का क्षेत्र—चेतना का अविरल प्रवाह—अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग चेतनवृत्तियाँ—चेतना के लक्षण—प्रधान और गौण वृत्तियाँ—चेतनवृत्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध—चेतना का आधार—चेतना के दो पृष्ठ।

रेलगाड़ी का विकास [श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

रेल की पटरियों का विकास—आरंभिक रेलगाड़ियाँ—डिब्बों में सुधार—यात्रियों के लिए सुविधाएँ—वैकुअम ब्रेक—रेल-इंजिनों का विकास—भाँति-भाँति के इंजिन—ट्यूब रेलवे—'डेडमैन का हैन्डिल'—'सिगनल' और 'पाइंट'।

मोटरगाड़ियों का विकास [श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

सर्वप्रथम पेट्रोल-इंजिन :: ऑटो इंजिन का सिद्धान्त—कार्ब्यूरेटर—क्लच का महत्व—'गियर' बदलना—सिलिण्डर को ठंडा रखने की व्यवस्था—डेम्लेर द्वारा ऑटो-इंजिन का सुधार—कार्ल बेन्ज और लैंकेस्टर की मोटरगाड़ियाँ—सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता—भाँति-भाँति की व्यवस्थाएँ—भारी संख्या में मोटरगाड़ियों का निर्माण—मोटरें कैसे बनाई जाती हैं—अन्तिम साज-सिंगार—मोटर-बसें—युद्ध की बख्तर-बन्द गाड़ियाँ—३५० मील प्रति घंटे की रफ्तार—रॉकेट कार—नए ईंधनों की खोज।

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि पृष्ठ ७१७-७३८

प्राचीन मिस्र की कला [श्री० वीरेश्वर सेन]

कांस्य-युग के कला स्मारक—मिस्र की ऐतिहासिक और प्राकृतिक पृष्ठभूमि—अचल स्थिरता और दृढ़ता :: मिस्री कला के आदर्श—कला की आदिभूमि—रोजेटा अभिलेख मिस्र के रहस्य की कुंजी—मिस्र का कला-इतिहास पिरामिडों से भी पुराना है—मिस्र के आदिम निवासियों का जीवन—मोमियाई या हजारों वर्षों से सुरक्षित शव—पिरामिड :: क्या और क्यों—स्फिक्स—स्थापत्य-शैली—तत्कालीन जीवन की झाँकी—उत्कृष्ट मूर्तिकला—मन्दिरों का महत्व बढ़ा—नकली शव-गृह—मन्दिरों की स्थापत्य-शैली, शिल्प-चित्र और मूर्तियाँ—अबू सिम्बेल की भीमकाय मूर्तियाँ—सैत युग का प्रादुर्भाव—कारीगरी और नक्काशी का बारीक काम।

साहित्य-सृष्टि पृष्ठ ७३९-७६९

मानव ने लिखना कैसे सीखा—वर्णमाला का विकास [श्री० ब्रजमोहन तिवारी]

वर्णमाला की आवश्यकता और महत्व—ध्वनि-बोधक और भाव-बोधक संकेत—प्राचीन चित्र-लिपि के प्रमुख पाँच रूप—अमेरिका के आदिवासियों के भाव-बोधक चित्र—ध्वनि-बोधक चित्र—चीनी चित्र-लिपि—जापानी लिपि—क्यूनीफार्म लिपि का आविर्भाव—मिस्री चित्र-लिपि का विकास—

रेलगाड़ी का विकास [श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

रेल की पटरियों का विकास—आरंभिक रेलगाड़ियाँ—डिब्बों में सुधार—यात्रियों के लिए सुविधाएँ—वैकुअम ब्रेक—रेल-इंजिनों का विकास—भाँति-भाँति के इंजिन—ट्यूब रेलवे—'डेडमैन का हैन्डिल'—'सिगनल' और 'पाइंट'।

मोटरगाड़ियों का विकास [श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव]

सर्वप्रथम पेट्रोल-इंजिन :: ऑटो इंजिन का सिद्धान्त—कार्ब्यूरेटर—क्लच का महत्व—'गियर' बदलना—सिलिण्डर को ठंडा रखने की व्यवस्था—डेम्लेर द्वारा ऑटो-इंजिन का सुधार—कार्ल बेन्ज और लैंकेस्टर की मोटरगाड़ियाँ—सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता– भाँति-भाँति की व्यवस्थाएँ—भारी संख्या में मोटरगाड़ियों का निर्माण—मोटरें कैसे बनाई जाती हैं—अन्तिम साज-सिंगार—मोटर-बसें—युद्ध की बख्तर-बन्द गाड़ियाँ—३५० मील प्रति घंटे की रफ्तार—रॉकेट कार—नए ईंधनों की खोज।

मनुष्य की कलात्मक सृष्टि पृष्ठ ७१७-७३८

प्राचीन मिस्र की कला [श्री० वीरेश्वर सेन]

कांस्य-युग के कला स्मारक—मिस्र की ऐतिहासिक और प्राकृतिक पृष्ठभूमि—अचल स्थिरता और दृढ़ता :: मिस्री कला के आदर्श—कला की आदिभूमि– रोजेटा अभिलेख मिस्र के रहस्य की कुंजी—मिस्र का कला-इतिहास पिरामिडों से भी पुराना है—मिस्र के आदिम निवासियों का जीवन—मोमियाई या हजारों वर्षों से सुरक्षित शव—पिरामिड :: क्या और क्यों—स्फिंक्स—स्थापत्य-शैली—तत्कालीन जीवन की झाँकी—उत्कृष्ट मूर्तिकला—मन्दिरों का महत्व बढ़ा—नकली शव-गृह—मन्दिरों की स्थापत्य-शैली, शिल्प-चित्र और मूर्तियाँ—अबू सिम्बेल की भीमकाय मूर्तियाँ—सैत युग का प्रादुर्भाव—कारीगरी और नक्काशी का बारीक काम।

साहित्य-सृष्टि पृष्ठ ७३९-७६९

मानव ने लिखना कैसे सीखा—वर्णमाला का विकास [श्री० ब्रजमोहन तिवारी]

वर्णमाला की आवश्यकता और महत्व—ध्वनि-बोधक और भाव-बोधक संकेत—प्राचीन चित्र-लिपि के प्रमुख पाँच रूप—अमेरिका के आदिवासियों के भाव-बोधक चित्र—ध्वनि-बोधक चित्र—चीनी चित्र-लिपि—जापानी लिपि—क्यूनीफार्म लिपि का आविर्भाव—मिस्री चित्र-लिपि का विकास—

वर्णाक्षरों का प्रादुर्भाव—रूजे की महत्वपूर्ण खोज—सैमिटिक वर्णमाला के विविध रूप—मोआबाइट प्रस्तर—अरामियन लिपि का प्रचार—यूनान की वर्णमाला—अबू सिम्बेल के अभिलेख—अरामियन फ्रीजियन, कारियन, लीसियन सिप्रिओट आदि—इटालिक वर्णमालाएँ—'बृहत्', 'अनवरुद्ध' और 'अंसियल' लिपियाँ—विभिन्न-जातीय लिपियाँ—रूसी वर्णाक्षर—रूनिक लिपि—औघेम लिपि—ईरानी वर्णमाला का विकास—अरामियन से ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं—ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ—पैह्लवी वर्णमाला—पैह्लवी के विविध रूप—जैन्द या पारसी लिपि—ईरानी लिपि में अशोक का महत्वपूर्ण अभिलेख—आर्मीनियन और जार्जियन वर्णमालाएँ।

भारतीय लिपियों की उत्पत्ति और उनका विकास [श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी]

भारतीय वर्णाक्षर भारतीय मस्तिष्क की ही उपज हैं—खोज-संबंधी अड़चनें—प्राचीन भारत में लेखन-कला—ब्राह्मी और खरोष्ठी—पाश्चात्य विद्वानों का भ्रमपूर्ण मत—खरोष्ठी लिपि—ब्राह्मी की शाखाएँ—अंक भारतीय प्रतिभा ही की उपज हैं।

देश और जातियाँ

पृष्ठ ७७०-७७६

पाषाण-काल के प्रतिनिधि—ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी [डॉ० सत्यनारायण]

पैरों तले सोना, फिर भी सदियों से दरिद्री—अनोखे जानवरों से मुकाबला—रहन-सहन, आकृति आदि—विचित्र रस्में—मृत्यु-संबंधी अनोखे रीति-रिवाज।

भारतभूमि

पृष्ठ ७७७-७८९

हमारे गौरवपूर्ण अतीत के महान् स्मारक—(१)
मोहनजोदड़ो, तक्षशिला, अशोक-स्तंभ, साँची [श्री० लक्ष्मीशंकर मिश्र]

छः हजार वर्ष पहले का एक भारतीय नगर—खुदाई में प्राप्त सामग्री—कला और कारीगरी—भारत का एक महान् प्राचीन शिक्षा-केन्द्र :: तक्षशिला—तक्षशिला के स्तूप और अन्य कलावशेष—सम्राट् अशोक की अद्भुत लाटें या स्तम्भ—स्तम्भों की रचना-शैली—स्तम्भों के कला-आदर्श—सारनाथ-स्तंभ का शिरोभाग—साँची के महान् स्तूप और कलापूर्ण तोरण।

विश्व
की कहानी
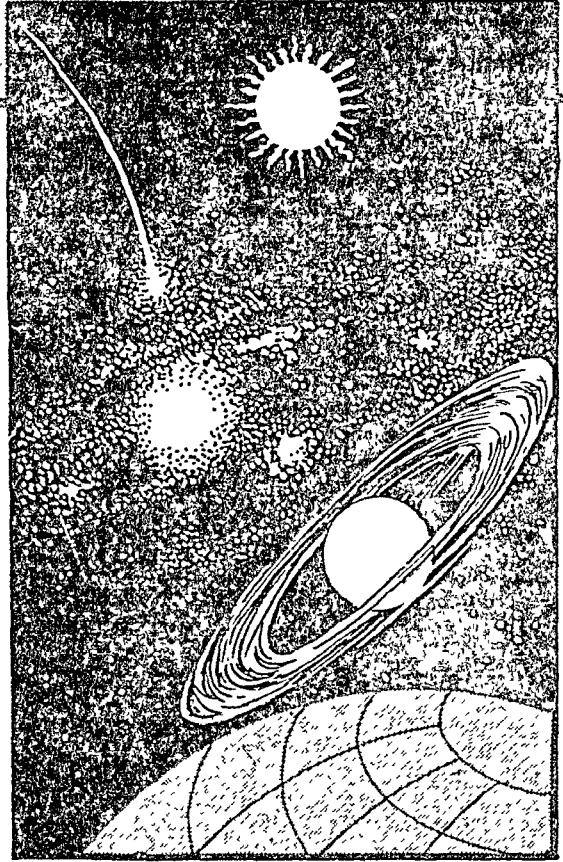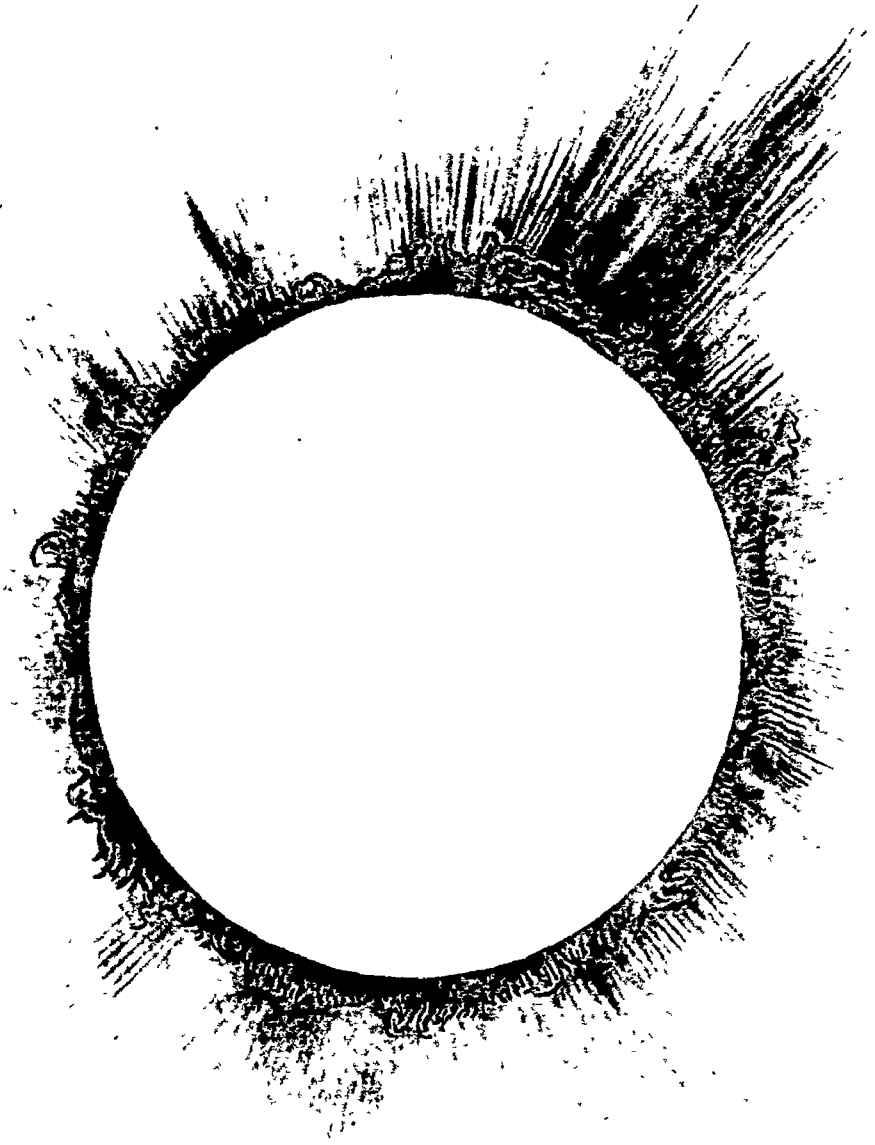
सर्व-सूर्यग्रहण की भव्य झाँकी

साधारण जन आकाश के जिन चमत्कारों को देखकर चकित-थकित रह जाते हैं, उनमें भव्यता और प्रभाव की दृष्टि से सर्व-ग्रहण के समय की सूर्य की झाकी को कोई भी मात नहीं कर सकता। इसमें संदेह नहीं कि ज्योतिषिक ज्ञान-साधना की लम्बी राह पर मानव ने उस दिन एक महत्वपूर्ण मोड़ लिया, जब कि सुदूर अतीत के किसी युगान्तरकारी क्षण में पहलेपहल उसका ध्यान सूर्य के सर्व-ग्रहण की विचित्र लीला की ओर आकृष्ट हुआ!
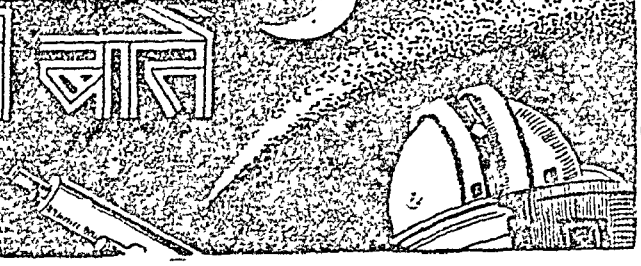
परम तेजस्वी सूर्य

आकाश के कौतुक-भरे पिण्डों और प्रकाशपुञ्ज नक्षत्रों की ओर निगाह उठाने पर सर्वप्रथम सूर्य ही पर—जिसके साथ इस पृथ्वी का सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है—हमारा ध्यान खिचता है। इस और आगे के कुछ अध्यायों में आप इसी परम तेजस्वी नक्षत्र की कहानी पढ़ेंगे।

आकाश के विभिन्न पिण्डों में सूर्य ही परम तेजस्वी है। चंद्रमा, तारे, ग्रह ये सभी मिट भी जायँ तो हमारी कुछ हानि न होगी, परतु सूर्य पर हमारा जीवन ही निर्भर है। सूर्य ही की शक्ति से पौधे उगते है, अन्न उत्पन्न होता है, हम जीवित रहते है। सूर्य जब दक्षिण मे चला जाता है और उसकी रश्मियाँ तिरछी होकर आती है, तो सर्दी पड़ने लगती है। उस ऋतु में चार दिन धूप न मिले तो सरदी खूब बढ़ जाती है। ध्रुव-प्रदेश में, जहाँ सूर्य की किरणें बहुत तिरछी ही होकर पहुँच सकती है, गरमी के दिनों में भी वर्फ के पहाड समुद्र पर तैरा करते है और अनेक स्थान वर्फ से ढके रहते हैं। जाड़े में तो वहाँ वर्फ ही वर्फ दिखलाई पड़ती है। इसी से हम अनुमान कर सकते है कि सूर्य हमारे लिए कितना आवश्यक है। वैज्ञानिकों ने गणना द्वारा पता लगाया है कि यदि आज सूर्य मिट जाय तो तीन दिन के भीतर ही पृथ्वी के चर और अचर सभी जीव मर जायँगे; सूर्य के मिटने के दो दिन के भीतर ही वायुमंडल की कुल जलवाष्प ठंढी होकर पानी या वर्फ के रूप मे गिर पड़ेगी और फिर ऐसी सर्दी पड़ेगी कि कोई भी प्राणी जीवित न रह सकेगा। तब क्या आश्चर्य है कि प्राचीन लोग सूर्य की पूजा किया करते थे!

परम पूजनीय सूर्य

जीवन के लिए सूर्य का महत्त्व प्राचीन जातियों में आर्यों ही ने सबसे अधिक समझा था। तभी तो सूर्य को हमारे यहा 'जगत् का आत्मा या चक्षु' कहा गया और सूर्योपासना को नित्यकर्मों मे प्रधान स्थान दिया गया।

सूर्य है क्या?

आरंभ से ही मनुष्य के हृदय में यह जिज्ञासा उठी होगी कि सूर्य है क्या, कैसे इससे इतनी गरमी और रोशनी बराबर आया करती है? प्रति दिन प्रातःकाल नियमित समय पर यह कैसे उदय होता है, ऋतुएँ नियमानुसार कैसे हुआ करती हैं? हजारों वर्ष तक इन रहस्यों के भेद का पता न चल सका। ऐसे-ऐसे भ्रमपूर्ण सिद्धान्त भी कहीं-कहीं प्रचलित थे कि प्रत्येक दिन एक नवीन सूर्य उदय होता है और सायंकाल के समय वह समुद्र में डूब जाता है, या यह सिद्धान्त कि दो सूर्य हैं, दो चंद्रमा है, दो नक्षत्र-समूह है,
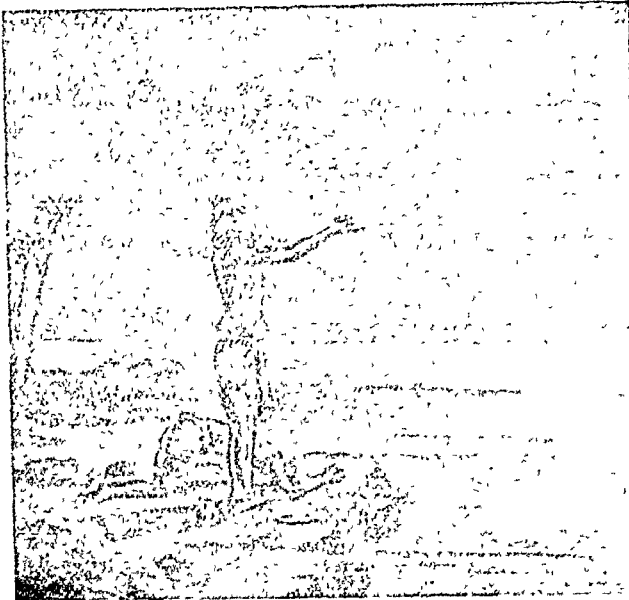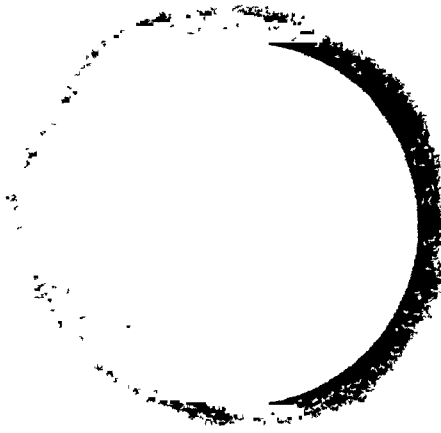
सर्व-सूर्यग्रहण के समय सूर्य की भव्य झाँकी

आसपास जो प्रकाश निकलता दिखाई पड़ रहा है, वही 'कॉरोना' का मुकुट है। सूर्य-बिम्ब को ढाँपे हुए चद्रमा के कृष्णकाय गोले की ओट से कोर पर कतिपय सूर्योत्तप्त ज्वालाएं भी दृष्टिगत हो रही हैं। कभी-कभी ये लाखों मील तक ऊँची लपलपाती हैं! [फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला']

इत्यादि। परंतु मनुष्य अंत में अपने वुद्धि-वल से इन सबका भेद पा ही गया। आधुनिक विज्ञान ने तो यहाँ तक सफलता प्राप्त की है कि सूर्य आदि की सच्ची नाप-तौल, दूरी और रासायनिक वनावट का भी पता लगा लिया है। कुछ वातें बड़ी ही आश्चर्यजनक निकली। इस लेख में सूर्य की महान् शक्ति और उसके संबंध की अन्य भौतिक वातों का परिचय दिया जायगा। आगामी लेखों में सूर्य की रासायनिक वनावट की जाँच की जायगी।

पृथ्वी से सूर्य की दूरी

पहले सूर्य की दूरी ही पर विचार करो। नापने से पता चला है कि सूर्य पृथ्वी से लगभग सवा नौ करोड मील पर है। इकाई, दहाई, सैकडा गिनने पर करोड, दस करोड, क्षण भर में आ जाता है, पर सवा नौ करोड़ मील की दूरी वस्तुत. कल्पनाशक्ति के परे है। पृथ्वी कितनी वड़ी जान पड़ती है! परंतु इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक की सीधी दूरी केवल आठ हजार मील है। पृथ्वी की एक वार परिक्रमा करने में केवल २५ हजार मील की यात्रा करनी पड़ेगी। सवा नौ करोड़ मील चलने में पृथ्वी की प्रदक्षिणा करीव पौने चार सौ वार हो जायगी! और समय? इतना चलने में समय कितना लगेगा? यदि हम ६० मील प्रति घंटे के हिसाव से दिन-रात चलते रहे तो सवा नौ करोड़ मील चलने में १७५ वर्ष से कम नहीं लगेगा! आधा आना प्रति मील के हिसाव से तीसरे दरजे का रेल से सूर्य तक आने-जाने का खर्च २९ लाख रुपया हो जायगा। और इस यात्रा के लिए यदि स्टेशन मास्टर नोट लेना न स्वीकार करे तो हमको लगभग साढ़े ग्यारह मन सोना किराए में देना पड़ेगा! सवा नौ करोड़ तक केवल गिनती गिनने में तुम्हें ग्यारह महीना लगेगा, और शर्त यह कि तुम दिन-रात वरावर गिनते रहो, कभी न सोओ, और न खाने-पीने के लिए रुको, और प्रति मिनट २०० तक गिन डालो!

एक दूसरे लेखक ने सवा नौ करोड़ मील की कल्पना करने की युक्ति यह दी है कि मान लो तुम क्षण भर में अपना हाथ इतना वढा सकते हो कि सूर्य को छू सकते हो। सूर्य के छूने पर तुम्हारी अँगुली जलेगी। इसकी सूचना तुम्हारे मस्तिष्क तक यदि उसी वेग से दौड़े जिस वेग से साधारण मनुष्यों में दौड़ती है तो अँगुली के जलने का पता तुम्हें १६० वर्ष वाद चलेगा! सूर्य पर यदि कोई घोर शब्द हो और वह शब्द शून्य को भेदता हुआ पृथ्वी तक उस वेग से पहुँचे जिस वेग से यह पृथ्वी पर चलता है तो सूर्य पर शब्द होने के चौदह वर्ष वाद पृथ्वी पर सुनाई देगा—सूर्य इतना दूर है!

सूर्य-संवंधी अन्य आँकड़े

सूर्य का डील-डौल भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। उसका व्यास पृथ्वी के व्यास का प्राय: १०९ गुना है, और इसलिए उसका घनफल पृथ्वी की अपेक्षा १०९ × १०९ × १०९ गुना है। १३,००,००० (तेरह लाख) पृथ्वियों को एक में मिला दिया जाय तव कहीं सूर्य के वरावर गोला वन सकेगा।

परंतु सूर्य की घनता पृथ्वी की अपेक्षा लगभग चौथाई ही है। पृथ्वी कुल मिलाकर अपनी ही नाप के पानी के गोले से लगभग साढे पाँच गुना भारी है। उधर सूर्य अपनी नाप के पानी के गोले से केवल सवा गुना ही भारी है। यदि सूर्य थोड़ा-सा और हलका होता तो पानी में तैर सकता। तो भी, *बहुत बड़ा होने के कारण सूर्य पृथ्वी से ३,३०,०००* गुना भारी है।

सूर्य की प्रबल आकर्षण-शक्ति

भौतिक भूगोल के अध्ययन से तुम जान चुके हो कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। तागे मे लंगर बाँधकर घुमाने से तुम जान सकते हो कि लंगर के घुमाने में तागा तन जाता है। यदि तागा कमजोर हो तो वह टूट जायगा और लंगर छिटककर दूर चला जायगा। पृथ्वी के घूमने मे भी यही सिद्धान्त लागू है, अंतर केवल इतना ही है कि यहाँ तागे के बदले सूर्य का आकर्षण रहता है। यदि सूर्य का आकर्षण बंद हो जाय तो पृथ्वी तुरंत छिटककर सीधी दिशा मे चल पड़ेगी, वह सूर्य की प्रदक्षिणा न करेगी।

पृथ्वी की तौल और दूरी को ध्यान में रखते हुए तुम्हें शायद इतना अंदाज हो गया होगा कि सूर्य का आकर्षण अत्यंत बलवान् होता होगा, तभी तो वह इतनी भारी पृथ्वी को नचा सकता है। परंतु वास्तविक आकर्षण से तुम्हारा अनुमान कहीं कम होगा। पृथ्वी पर सबसे मजबूत वस्तु फौलाद है। गणना से पता चलता है कि पृथ्वी को सूर्य के आकर्षण के बदले बाँधकर घुमाने के लिए फौलाद के लगभग छः हजार मील व्यास के मोटे डंडे से बाँधना पड़ेगा! इससे कम मजबूत बंधन तुरंत टूट जायगा।

सूर्य के पृष्ठ पर आकर्षण-शक्ति पृथ्वी के पृष्ठ पर वर्तमान आकर्षण-शक्ति की अपेक्षा २८ गुनी अधिक है। जो पत्थर पृथ्वी पर एक सेर का जान पड़ता है, वह सूर्य पर २८ सेर का जान पड़ेगा। आकर्षण-शक्ति की कल्पना करने के लिए मान लो कि सूर्य इतना ठंडा कर दिया गया कि उस पर मनुष्य बिना जले रह सकता है। यह भी मान लो कि कोई व्यक्ति वहाँ पहुँचा दिया गया, तो क्या वह व्यक्ति वहाँ खड़ा हो सकेगा? कभी नहीं। वहाँ डेढ़ मन का आदमी ४२ मन का हो जायगा और उसकी टाँगों में इतनी शक्ति ही नहीं रहेगी कि वह खड़ा हो सके। वह
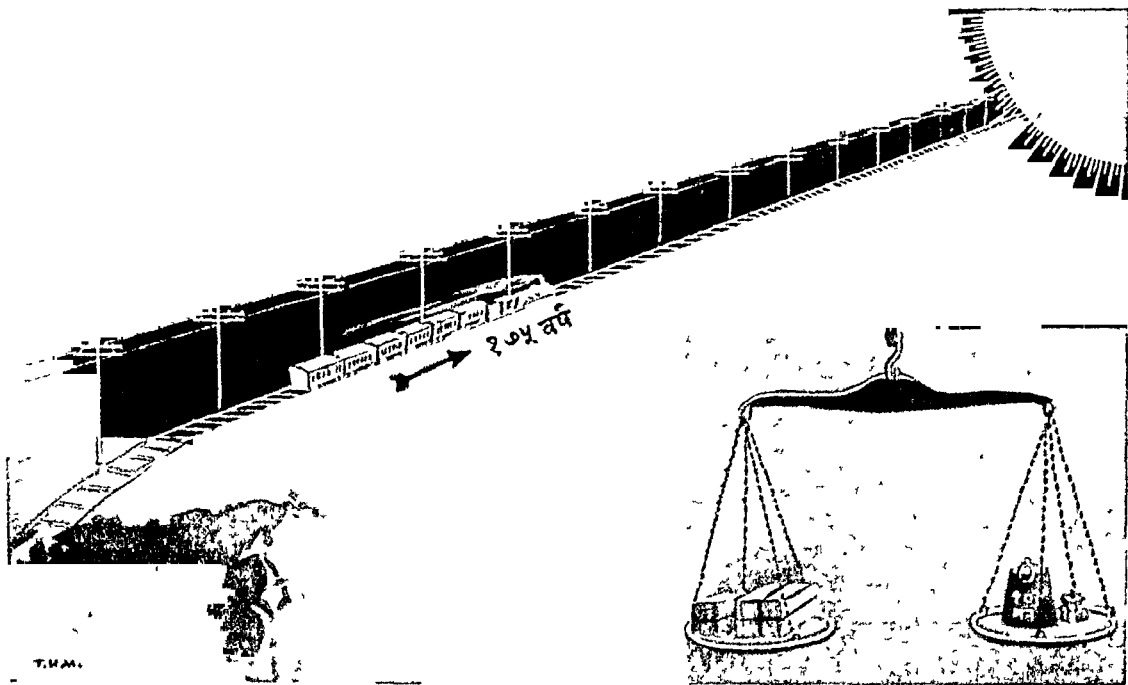
सवा नौ करोड़ मील की दूरी!

पृथ्वी से सूर्य इतना अधिक दूर है कि यदि हम ६० मील प्रति घंटा की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर सूर्य तक बिना कहीं रुके लगातार यात्रा करें तो १७५ वर्ष से कम समय न लगेगा। इतनी लंबी यात्रा के लिए अपने देश के रेल के किराये की दर से हमें २६ लाख रुपया या उतने ही मूल्य का साढ़े ग्यारह मन सोना किराये में देना होगा, जैसा दाहिनी ओर दिग्दर्शित है!

सूर्य की दूरी की एक और कल्पना

यदि हम अपना हाथ इतना फैला सकते कि अँगुली सूर्य को छू लेती, तो जिस गति से संवेदना की सूचना हमारे शरीर में मस्तिष्क तक पहुँचती है, उस गति से अँगुली जलने की सूचना सूर्य से हमारे मस्तिष्क तक पहुंचने में लगभग १६० वर्ष का समय चाहिए! सूर्य इतना अधिक दूर है!!
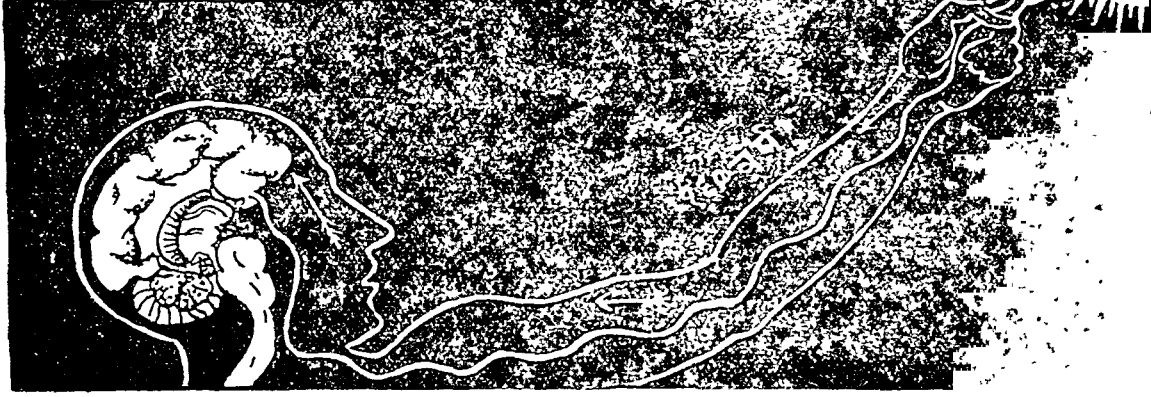
वहाँ अधिक आकर्षण के कारण उसी प्रकार चपटा हो जायगा जिस प्रकार यहाँ किसी के ऊपर ४२ मन का बोझ लाद देने से !

भयंकर ताप

सूर्य कितना गरम है, उसका ताप क्या है, यह भी प्रायः कल्पनाशक्ति से परे का विषय है। विचार करो कि सूर्य हमको कितना छोटा-सा दिखलाई पड़ता है—आकाश में सैकड़ों सूर्य के लिए स्थान मिल सकता है—तो भी सूर्य से इतनी गरमी आती है! अनुमान किया गया है कि गरमी के दिनों में सूर्य की किरणों द्वारा जितनी गरमी दो वर्ग गज पर आती है, उतने में एक 'अश्व-बल' के समान शक्ति रहती है। यदि सूर्य की गरमी से इंजिन चलाने का कोई सुगम उपाय होता तो हम बिना मिट्टी का तेल या कोयला खर्च किये बड़े-बड़े इंजिन सहज मे केवल धूप से चला सकते।

अब इस बात पर विचार करो कि साधारण अग्नि से हमको कितनी गरमी मिलती है। होलिका जलते समय, पास खड़े होने पर, आँच का अनुभव तुमने किया होगा। कुछ अधिक दूर खड़े होने पर आँच की मात्रा बहुत कम पड़ जाती है। क्या ऐसी भी होलिका की कल्पना तुम कर सकते हो जिससे एक मील की दूरी पर आँच लगे? सूर्य तो सवा नौ करोड़ मील पर है। वहाँ कितनी गरमी होगी कि उसके कारण हमे पृथ्वी पर भी खूब गरमी लगती है!

वैज्ञानिकों ने ठीक इन्हीं सब बातों को ध्यान मे रखकर सूर्य के ताप की गणना की है। इससे उनको पता चला है कि शतांश तापमापी (सेंटीग्रेड थर्मामीटर) से सूर्य का ताप ६०००° होगा। अपने शरीर के ताप से चार-पाँच डिगरी अधिक ताप का अनुभव तो प्रायः सभी को होगा। यह तेज बुखार का ताप है। १००° के ताप पर पानी खौलता है। १०००° ताप पर सोना भी पिघल चलता है। बिजली की भट्ठी मे मनुष्य ३०००° की गरमी पैदा कर सकता है। इससे अधिक ताप मनुष्य सामान्यतः उत्पन्न नहीं कर सकता है; परन्तु सूर्य का ताप ६०००° है!

गणना से पता चलता है कि सूर्य की सतह के प्रत्येक वर्ग इंच से ५४ 'अश्व-बल' की शक्ति निकलती है। अँगूठी के नग के बराबर सूर्य की सतह से लगभग तीन 'अश्व-बल' की शक्ति रात-दिन बराबर निकला करती है। सूर्य के प्रत्येक वर्ग इंच से लगभग ३,००,००० मोमबत्ती की रोशनी निकलती है।

सूर्य में गरमी कहाँ से आती है?

विज्ञान का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त यह है कि विश्व में जितनी भी शक्ति है, उतनी ही रहती है। यह कहीं उत्पन्न नहीं होती, इसका कहीं लोप नहीं होता। शक्ति की नाप, कार्य से होती है। किसी वस्तु में जितनी ही अधिक कार्य करने का सामर्थ्य रहती है, उसमें उतनी ही अधिक शक्ति मानी जाती है। दबी हुई कमानी मे शक्ति होती है, क्योंकि खुलने में कमानी कुछ काम कर सकती है, जैसे बोझ उठा सकती है या खिलौने के पहिये आदि चला सकती है। कोयले मे शक्ति होती है, क्योंकि जलने पर गरमी उत्पन्न

होती है, जिससे इंजिन चल सकता है, जो काम कर सकता है। बहते हुए वायु में शक्ति है, क्योंकि बहते हुए वायु से हवाचक्की चल सकती है, इत्यादि। गरमी स्वयं ही शक्ति है, क्योंकि इससे इंजिन चल सकता है। चाहे गरमी इतनी कम भी क्यों न हो कि इससे कोई वास्तविक इंजिन न चल सके, परन्तु सिद्धान्ततः तो इंजिन का चलना संभव है। इसलिए गरमी अवश्य शक्ति है।

अब इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सूर्य से बराबर गरमी बिखरा करती है; इसलिए सूर्य से बराबर शक्ति निकला करती है। यह शक्ति आती कहाँ से है? यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड है, तो गरमी के निकलते-निकलते अवश्य ही यह कुछ दिनों मे ठंढा हो जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे आग में रखकर तपाया हुआ लोहा बाहर निकालने पर कुछ समय में ठंढा हो जाता है। यदि सूर्य केवल तप्त पिण्ड होता, तो यह कभी ही ठंढा हो गया होता। इससे अवश्य ही इसमें कोई ऐसी बात है, जिससे गरमी बराबर पैदा होती रहती है।

वैज्ञानिकों का ध्यान सर्वप्रथम अग्नि की ओर आकर्षित हुआ। सोचा गया कि जिस प्रकार कोयले के जलने से गरमी पैदा होती है, उसी प्रकार सूर्य पर भी किसी वस्तु के जलने से गरमी पैदा होती होगी। परन्तु जब इस बात की गणना की जाती है कि सूर्य से कितनी रोशनी और गरमी बिखरती है और उतने के लिए कितने पदार्थ के जलने की आवश्यकता पड़ेगी, तो पता चलता है कि यदि कुल सूर्य बढ़िया पत्थर के कोयले का बना होता, तो उसे इतनी गरमी पैदा करने के लिए, जितनी वस्तुतः पैदा होती है, कुल डेढ़ हजार वर्ष में ही जलकर भस्म हो जाना पड़ता! परन्तु इतिहास से हमे ज्ञात है कि सूर्य हजारो वर्षों से सम-भाव से चमकता चला आ रहा है।

पिछले दिनों कुछ वृक्ष ऐसे मिले है, जिनको काट कर रेशों की जाँच करने से पता चला है कि उनकी आयु ३२०० वर्ष है। वसंत में वृक्ष शीघ्र बढते और मोटे होते है, जाड़े में उनकी वृद्धि प्रायः रुक जाती है। वसंत की लकड़ी नरम और जाड़े की कड़ी होती है। और इस प्रकार प्रति वर्ष नरम और कडी लकड़ी की तहें तने पर (छिलके के नीचे) जमती चली जाती है। इससे वृक्ष की लकडी देखने से तुरन्त पता चल जाता है कि वृक्ष की आयु क्या है। प्राचीन वृक्षों की जाँच करने से पता चलता है कि

सूर्य का प्रचण्ड आकर्षण

पृथ्वी अदृष्ट रूप से सूर्य की प्रचण्ड आकर्षण-शक्ति से बंधे होने के कारण ही सूर्य के आस-पास लट्टू की तरह नाच रही है। यदि इस आकर्षण-शक्ति के बदले हमें पृथ्वी को सूर्य के आसपास इसी तरह बाँध रखने का कोई और साधन काम में लाना पड़े तो छः हजार मील व्यासवाले और सवा नौ करोड़ मील लंबे फौलाद के मोटे डंडे को काम में लाना होगा। इससे कम मजबूत चीज होने पर पृथ्वी सूर्य का बन्धन तोड़ छिटककर सीधी दिशा में चल पड़ेगी!

आज से ३२०० वर्ष पहले भी एक वर्ष मे ये वृक्ष उतने ही बढते थे, जितने इन दिनो। इससे प्रत्यक्ष है कि उस समय भी प्राय. उतनी ही गरमी पड़ा करती थी, जितनी अब। सूर्य इन सवा तीन हजार वर्षो मे इतना ठंढा नही हो गया है कि कोई विशेप अतर ज्ञात हो। तीन हजार क्या, भूगर्भ-विद्या के वल पर पृथ्वी के पत्थरो की जाँच से पता चलता है कि सूर्य की आयु करोडो-करोड़ वर्ष होगी।

क्या वात है कि सूर्य इतने वर्षो मे भी ठढा नही हुआ ? सन् १८४६ मे एक वैज्ञानिक ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य पर लगातार उल्काओ की वर्षा होती होगी, इसी से सूर्य गरम रहता है। यह वात तो अवश्य सच है कि यदि किसी पदार्थ को वरावर पीटते रहा जाय, तो उसमे गरमी उत्पन्न हो जायगी। यदि तुम लोहे को हथोड़े से दनादन दस मिनट तक पीटते रहो, तो तुम देखोगे कि लोहा गरम हो गया। इसलिए यदि उल्काओ की वर्षा सूर्य पर होती हो, तो अवश्य ही गरमी पैदा होती होगी। उल्का वे आकाशीय पिण्ड है, जो हमको रात्रि के समय गिरते हुए तारे के रूप मे दिखलाई पड़ते है। विश्व मे प्राय. असख्य उल्काये होगी। हमे वे तभी दिखलाई पड़ती है, जव पृथ्वी इनके समीप पहुँच जाती है या ये पृथ्वी के समीप पहुँच जाती है। उस समय पृथ्वी के आकर्पण के कारण वे इतनी जोर से पृथ्वी की ओर खिच आती है कि वे चमक उठती है। परन्तु जव उपरोक्त सिद्धान्त की जाँच गणित से की गई, तो पता चला कि यह सिद्धान्त भी टिक नही सकता। गणना से यह परिणाम निकलता है कि यदि पृथ्वी की तौल के वरावर उल्काये सूर्य मे जाकर गिरे, तो केवल १०० वर्ष भर के लिए ही गरमी उत्पन्न हो सकेगी। अवश्य ही विश्व मे उल्काएँ इतनी घनी न विखरी होगी कि सूर्य पर इतनी उल्काएँ गिर सके, अन्यथा पृथ्वी पर भी प्रत्येक रात्रि वरावर उल्काओ की वर्षा होती दिखलाई पड़ती ! फिर,

सूर्य पर निरंतर उल्कापात की धारणा

सूर्य कैसे गरम बना हुआ है, इस प्रश्न के उत्तर की खोज में वैज्ञानिको ने तरह-तरह की कल्पनाए की है। इनमें से एक यह है कि सूर्य पर निरतर उल्काए वरसती रहती है, इसी से वह गरम रहता है। पर अब यह धारणा निर्मूल प्रमाणित हो चुकी है।

यदि वस्तुत. इतनी उल्काएँ सूर्य पर गिरा करतीं, तो उनके कारण सूर्य तीन ही करोड वर्ष में दुगुना बड़ा हो जाता !

सन् १८५३ मे प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक हेलमहोल्ट्ज ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि सूर्य में सिकुडने के कारण गरमी उत्पन्न होती है। यदि साइकिल-पंप का मुँह बंद करके हवा को खूब दबाया जाय, तो हवा गरम हो जायगी; यह प्रयोग तुम स्वयं करके देख सकते हो। इसी प्रकार जब कभी वायु को संकुचित किया जाता है, तो गरमी पैदा होती है। हेल्महोल्ट्ज का सिद्धान्त यह था कि सूर्य गैस के रूप में है और आकर्षण के कारण बराबर अधिकाधिक संकुचित होता जा रहा है। इसलिए उसमें बराबर गरमी पैदा होती रहती है। यही कारण है कि सूर्य ठढा नही हो रहा है। परन्तु ३० वर्ष बाद जब लार्ड केल्विन इस बात की गणना करने में सफल हुए कि अनन्त विस्तार से वर्त्त-मान संकुचित अवस्था तक पहुँचने में सूर्य मे कितनी ऊष्मा उत्पन्न होगी तब हेल्महोल्ट्ज का सिद्धान्त भी झूठा सिद्ध हुआ; क्योंकि गणना से पता लगा कि इस क्रिया में केवल इतनी ही गरमी उत्पन्न होगी जितनी सूर्य से दो-ढाई करोड़ वर्ष में बिखरती है। परन्तु जैसा हम ऊपर देख चुके है, सूर्य अवश्य ही इससे कही अधिक वर्षो से चमकता आ रहा है।

इस प्रकार वैज्ञानिक बहुत दिनों से चक्कर में पड़े है। अब भी इसका ठीक-ठीक पता नही चला कि सूर्य में गरमी कहाँ से आती है, परन्तु गरमी पैदा होने की एक नवीन रीति का पता पिछले दिनों अवश्य लगा है। आइन्स्टाइन का प्रसिद्ध 'सापेक्षवाद' कहता है कि पदार्थ और शक्ति वस्तुतः एक है। एक दूसरे का ही रूपान्तर है। सापेक्षवाद—थिअरी ऑफ रिलेटिविटी—वही सिद्धान्त है जिससे वैज्ञानिक संसार मे कुछ वर्षो से बड़ा उथल-पुथल मच गया है। सूर्य की गरमी से सापेक्षवाद का कोई विशेष संबंध नहीं था, उसका संबंध केवल गति से था। परन्तु इस सिद्धान्त का एक परिणाम यह भी निकला कि पदार्थ और शक्ति दोनों एक ही जाति के है, और वे एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते है।

परंतु आश्चर्यजनक बात तो यह है कि नाममात्र पदार्थ से भयानक शक्ति उत्पन्न हो सकती है। राई के बराबर कोयले से, यदि यह सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति में परि-वर्तित हो सके, सैकडों मन कोयले के जलने के बराबर शक्ति उत्पन्न होगी। कोयला जलने पर तो राख बच जाती है और गैस उत्पन्न होती है, परन्तु सापेक्षवाद के अनुसार परिवर्तित होने में न राख बनेगी न गैस। उस राई भर कोयले का रूपान्तर किसी अन्य पदार्थ मे नही होगा, उसका रूपान्तर विशुद्ध शक्ति मे होगा। अभी वैज्ञानिक इस प्रयत्न मे है कि पृथ्वी पर यह रूपान्तर कैसे सफल किया जाय, और वे आशा करते है कि एक दिन ऐसा सभव हो जायगा। तब न रेल चलाने के लिए कोयले की आवश्यकता पड़ेगी और न मोटर चलाने के लिए पेट्रोल की। तब तो केवल राई भर किसी पदार्थ का शक्ति में रूपान्तर करके हम इलाहाबाद से कलकत्ता या पेकिंग से लंदन पहुँच सकेंगे। पिछले दिनों परमाणु-बम के निर्माण एवं विस्फोट की सफलता से मनुष्य के हाथों में इस चम-त्कार की कुजी आ गई है।

भयानक गरमी के कारण सूर्य पर पदार्थ का शक्ति मे यह रूपान्तर कदाचित बराबर हो रहा हो। सभव है, यही कारण है कि सूर्य ठढा नही हो रहा है। हाँ, इस सिद्धान्त के अनु-सार भी पर्याप्त समय के पश्चात् सूर्य ठढा हो जायगा या लुप्त हो जायगा। परंतु गणना से पता चलता है कि इसमें अरब-खरब वर्षो से भी अधिक समय लगेगा—यह इतना अधिक लंबा काल है कि वास्तव में हमारी कल्पना के परे है।

सूर्य-कलंक

सूर्य की बनावट का अध्ययन करते समय जब हम दूरदर्शक द्वारा उसके पृष्ठ पर दृष्टि डालते है, तो सर्वप्रथम एक विचित्र प्रकार के काले धब्बो पर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। ये धब्बे या कलंक क्या है, इस प्रकरण में इसी की चर्चा की गई है।

चंद्रमा पर कलंक—काले धब्बे—है, यह तो सभी जानते है। उनको सभी ने कई बार देखा होगा। परंतु क्या सूर्य पर भी कलंक है? हाँ, सूर्य पर भी कलंक दिखलाई पड़ते है। परंतु वे कभी छोटे, कभी बड़े, कभी कम, कभी बहुत-से होते है। सूर्य को कालिख-लगे शीशे द्वारा देखने पर ये धब्बे कभी-कभी कोरी आँख से—विना दूरदर्शक या किसी अन्य यंत्र की सहायता के भी—देखे जा सकते है। परंतु इतने बड़े धब्बे, जो इस प्रकार
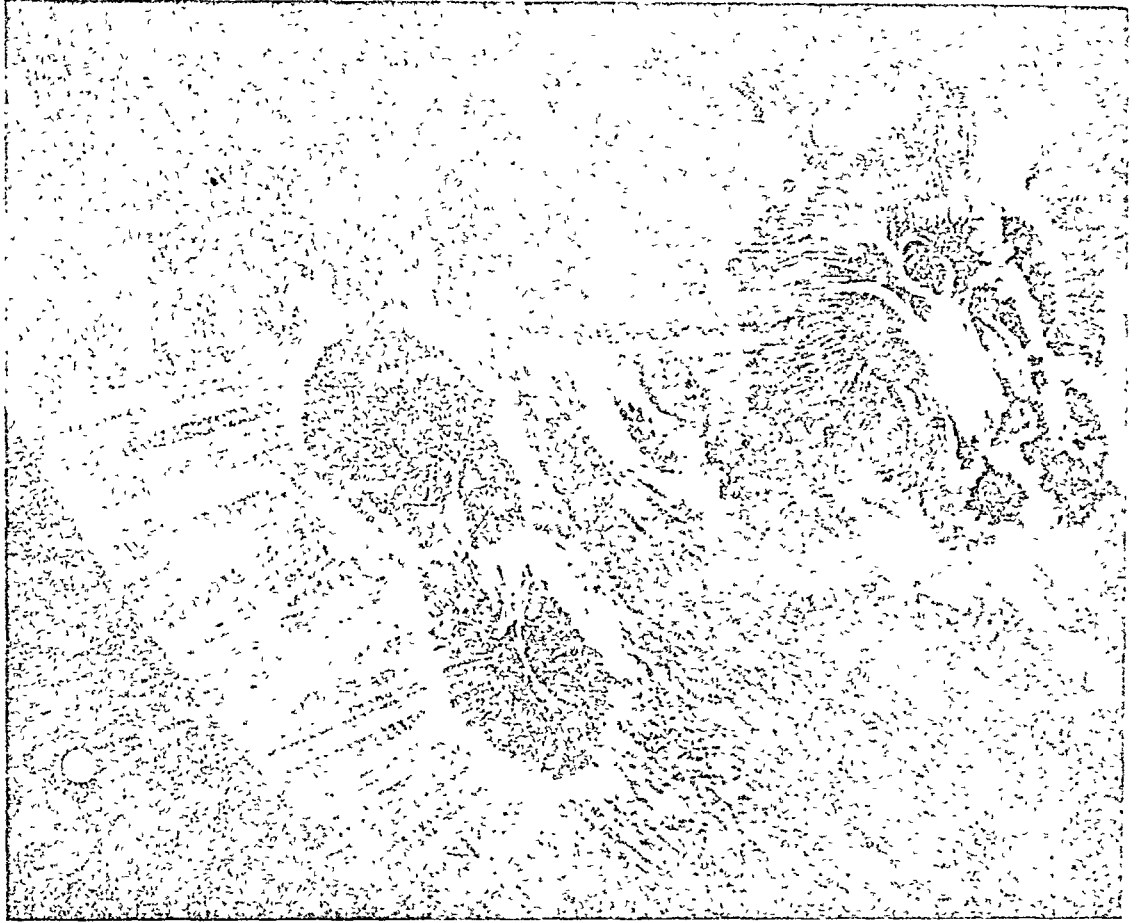
सूर्य-कलंकों का वृहत् आकार

बाईं ओर के कोने में नीचे सफेद गेंद जैसी वस्तु पृथ्वी है। इसकी आकृति की तुलना सूर्य के पृष्ठभाग पर दिखाई दे रहे काले कलंकों की आकृति से कीजिए, तब आप अनुमान कर सकेंगे कि इनका विस्तार कितना अधिक होता होगा?

देखे जा सके, कभी ही कभी बनते हैं। साधारणतः ये धब्बे छोटे होते हैं और उनको देखने के लिए दूरदर्शक यंत्र की आवश्यकता पड़ती है।

चीन देश के पुराने इतिहास-ग्रंथों में इन सूर्य-कलंकों की चर्चा मिलती है। सन् १८८ ई० से लेकर सन् १६३८ ई० तक ६५ कलंको की चर्चा है। ये सब कोरी आँख से ही देखे गये थे। साधारणतः इनको धब्बा बतलाकर ही छोड दिया गया है, परंतु पाँच वार इनकी शक्ल चिड़ियों की-सी या उड़ती हुई चिड़ियों की-सी बतलाई गई है; दो बार इनकी शक्ल अंडे के समान और चार बार सेब के सामान बतलाई गई है। अन्य देशों के इतिहास-ग्रंथों में इनकी चर्चा नहीं मिली है, जिससे जान पड़ता है कि अन्य देश के ज्योतिषियों ने सूर्य की गति पर ही ध्यान दिया, उसकी आकृति पर नहीं।

दूरदर्शक के आविष्कार के बाद स्वभावतः लोग सूर्य को भी इस यंत्र द्वारा देखने लगे। दूरदर्शक के आविष्कारक गैलीलियो ने स्वयं सूर्य-कलंकों को देखा। फैब्रीसियस और शाइनर को भी इन कलंकों का स्वतंत्र रूप से पता पाने का श्रेय है। अंधविश्वास की एक रोचक परन्तु सच्ची कहानी इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। शाइनर पादरी था। जब उसने सूर्य-कलंको को देखा तो उसने बड़े पादरी को भी यह समाचार सुनाया, परन्तु बड़े पादरी ने उसे फटकार दिया। कहा कि 'मैंने प्राचीन पुस्तकों को आदि से अन्त तक कई वार पढ़ डाला है और यह निश्चय है कि उनमें कहीं भी सूर्य-कलंकों की चर्चा नहीं की गई है; निश्चय ही जिसको तुम सूर्य-कलंक बतलाते हो, वह तुम्हारे ऐनक की त्रुटि होगी या तुम्हारी आँखों का दोष होगा।

सूर्य-संबंधी भारतीय पौराणिक धारणा

प्राचीन मिस्री, असीरियन, पारसी, यूनानी, अमेरिका के प्राचीन निवासियों आदि के 'सूर्य' मुख्य देवता थे। भारतवर्ष में भी सूर्य आरंभ ही से एक प्रधान देवता माने गये हैं। पुराणानुसार ये विभिन्न रंगों के सात तेजस्वी घोड़ों के रथ पर आरूढ़ माने गये हैं। इनका सारथि अरुण है। सात रंग के घोड़ों की यह कल्पना और प्रकाश-किरण के सात रंगों के आधुनिक सिद्धान्त का सामंजस्य महत्वपूर्ण है।

सूर्य-कलंकों का वृहत् आकार

बाईं ओर के कोने में नीचे सफेद गेंद जैसी वस्तु पृथ्वी है। इसकी आकृति की तुलना सूर्य के पृष्ठभाग पर दिखाई दे रहे काले कलंकों की आकृति से कीजिए, तब आप अनुमान कर सकेंगे कि इनका विस्तार कितना अधिक होता होगा?

देखे जा सके, कभी ही कभी बनते हैं। साधारणत ये धब्बे छोटे होते हैं और उनको देखने के लिए दूरदर्शक यंत्र की आवश्यकता पड़ती है।

चीन देश के पुराने इतिहास-ग्रथो मे इन सूर्य-कलको की चर्चा मिलती है। सन् १८८ ई० से लेकर सन् १६३८ ई० तक ९५ कलको की चर्चा है। ये सब कोरी आँख से ही देखे गये थे। साधारणतः इनको धब्बा बतलाकर ही छोड दिया गया है, परंतु पाँच बार इनकी शक्ल चिड़ियों की-सी या उड़ती हुई चिडियो की-सी बतलाई गई है; दो बार इनकी शक्ल अडे के समान और चार बार सेब के सामान बतलाई गई है। अन्य देशों के इतिहास-ग्रंथो में इनकी चर्चा नही मिली है, जिससे जान पड़ता है कि अन्य देश के ज्योतिषियो ने सूर्य की गति पर ही ध्यान दिया, उसकी आकृति पर नही।

दूरदर्शक के आविष्कार के बाद स्वभावत. लोग सूर्य को भी इस यंत्र द्वारा देखने लगे। दूरदर्शक के आविष्कारक गैलीलियो ने स्वयं सूर्य-कलंकों को देखा। फैब्रीसियस और शाइनर को भी इन कलंकों का स्वतंत्र रूप से पता पाने का श्रेय है। अधविश्वास की एक रोचक परन्तु सच्ची कहानी इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है। शाइनर पादरी था। जब उसने सूर्य-कलंको को देखा तो उसने बड़े पादरी को भी यह समाचार सुनाया, परन्तु बड़े पादरी ने उसे फटकार दिया। कहा कि 'मैंने प्राचीन पुस्तको को आदि से अन्त तक कई बार पढ डाला है और यह निश्चय है कि उनमे कही भी सूर्य-कलको की चर्चा नही की गई है; निश्चय ही जिसको तुम सूर्य-कलक बतलाते हो, वह तुम्हारे ऐनक की त्रुटि होगी या तुम्हारी आँखों का दोष होगा।'
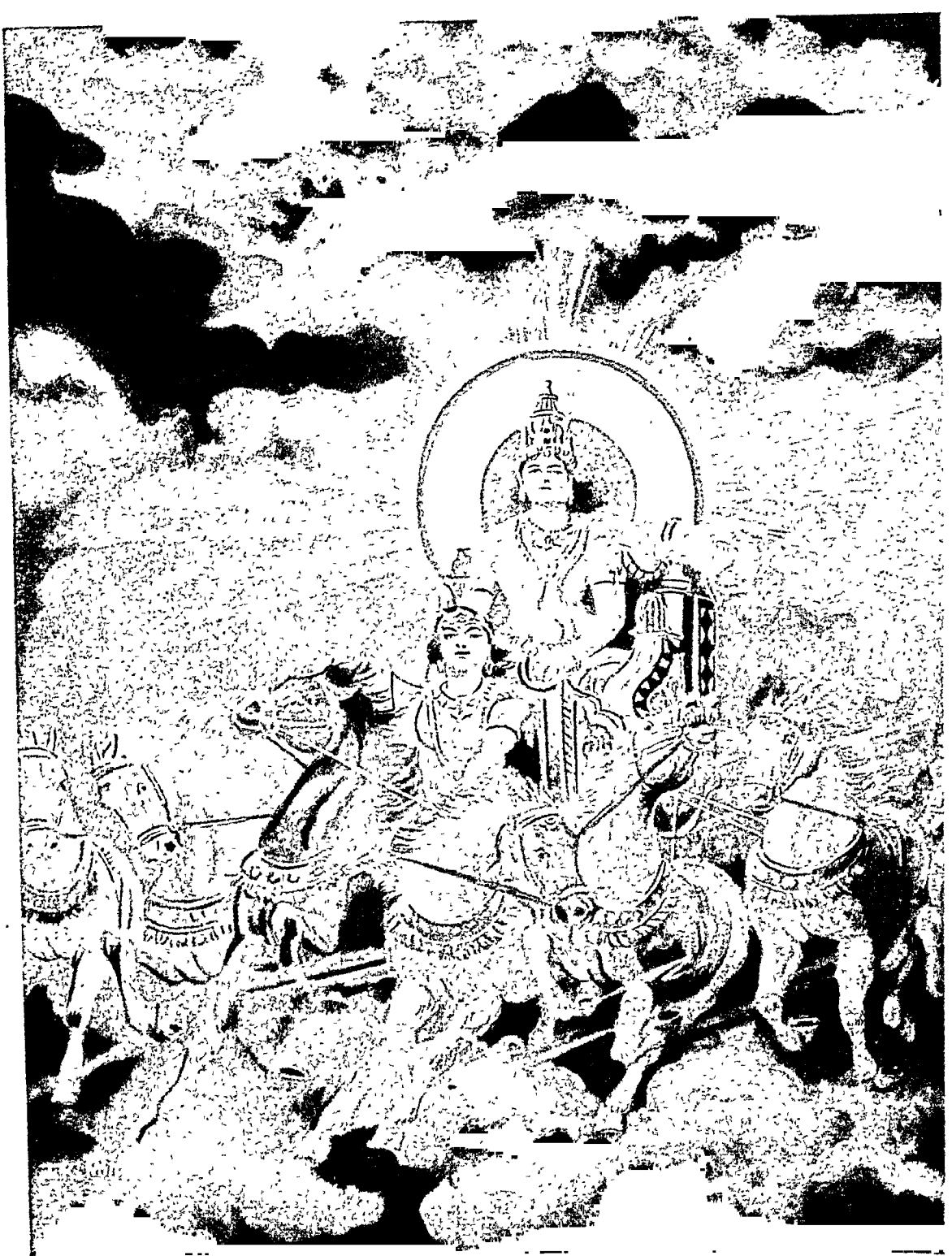
सूर्य-संबंधी भारतीय पौराणिक धारणा

प्राचीन मिस्री, असीरियन, पारसी, यूनानी, अमेरिका के प्राचीन निवासियों आदि के 'सूर्य' मुख्य देवता थे। भारतवर्ष में भी सूर्य आरंभ ही से एक प्रधान देवता माने गये हैं। पुराणानुसार ये विभिन्न रंगों के सात तेजस्वी घोड़ों के रथ पर आरूढ़ माने गये हैं। इनका सारथि अरुण है। सात रंग के घोड़ों की यह कल्पना और प्रकाश-किरण के सात रंगों के आधुनिक सिद्धान्त का सामंजस्य महत्वपूर्ण है।
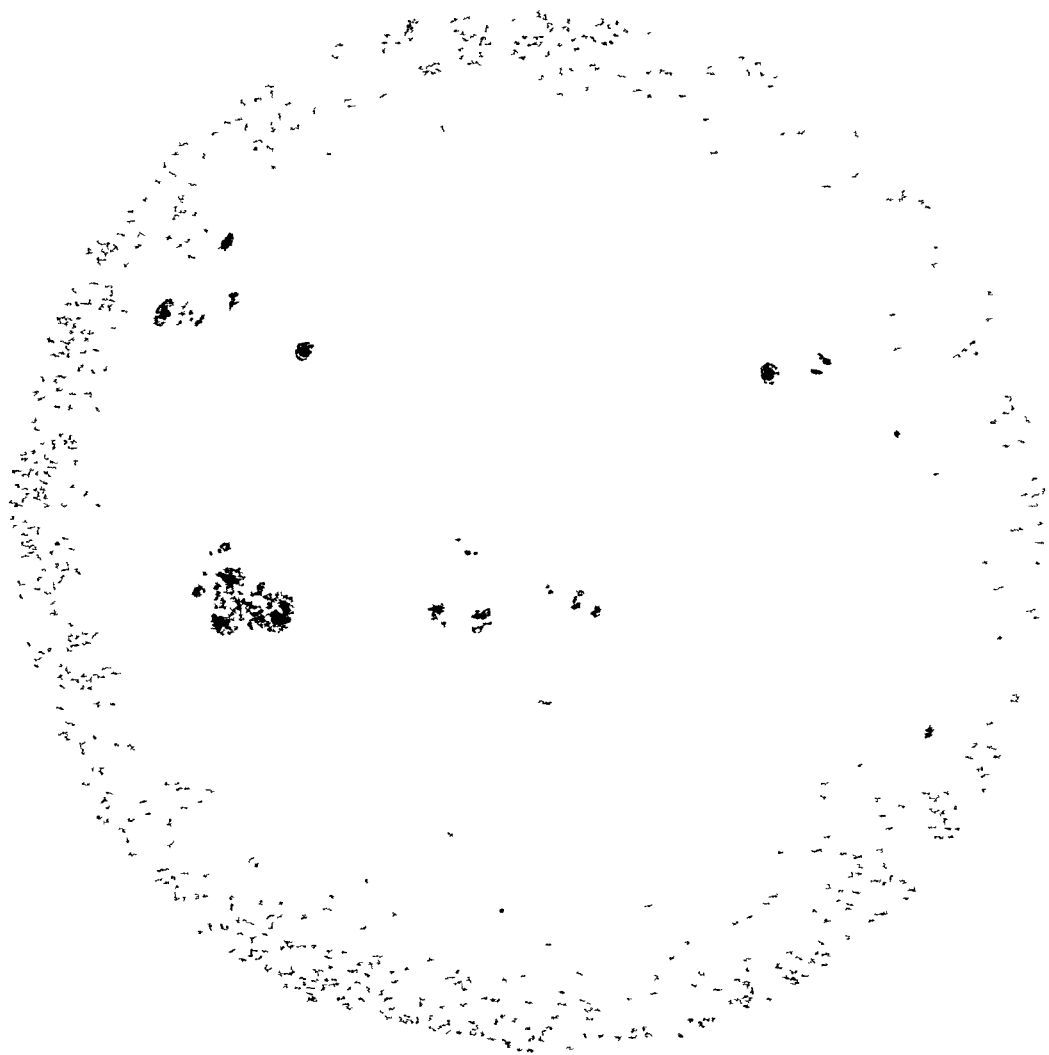
हमारे जीवन का अवलम्ब—सूर्य

विश्व की अनन्त व्यापकता में एक से एक वढ़कर तेजस्वी और विशाल नक्षत्र विखरे पड़े है, किन्तु हमारे लिए तो सूर्य ही सवसे अधिक महत्वपूर्ण है। यदि सूर्य मिट जाय तो तीन ही दिन में पृथ्वी से जीवन विलुप्त हो जायगा। यह 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' में लिया गया सूर्य का एक फोटो है, जिसमें वीच-वीच में छोटे-छोटे [illegible] धव्वे 'सूर्यकलंक' है। इनमें से कई आकार में पृथ्वी से भी वड़े है। इसी से आप सोच सकते है कि सूर्य कितना अधिक वड़ा होगा! (फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' से प्राप्त।)
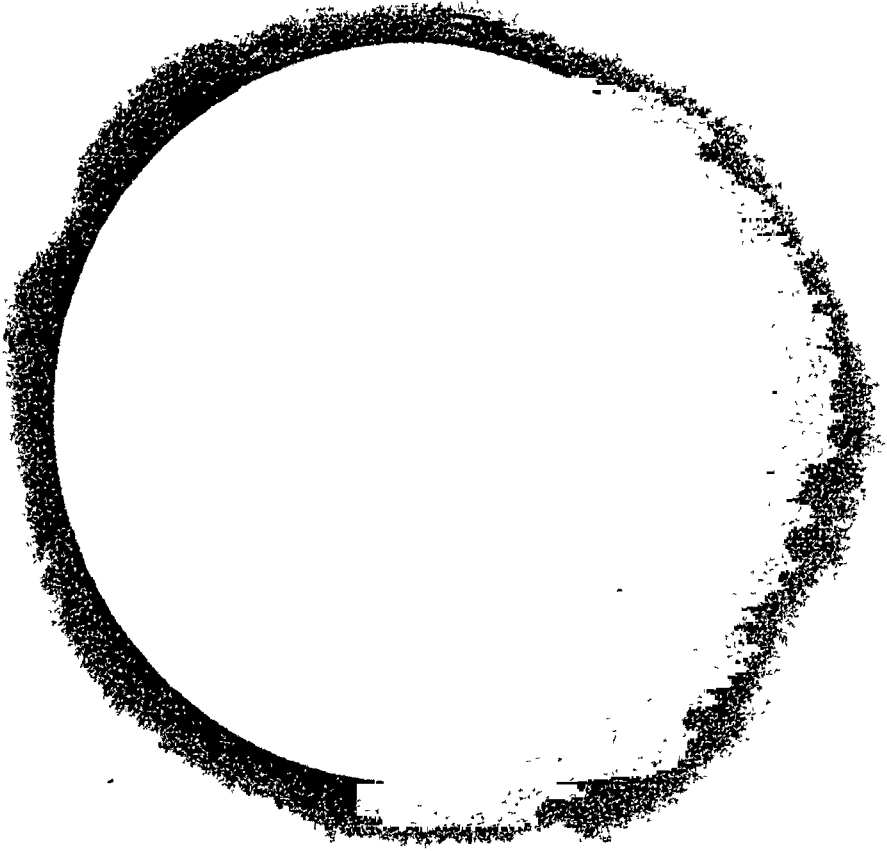
सर्वग्रहण के समय कॉरोना और सूर्योन्नत ज्वालाओं का दृश्य

सर्वग्रहण का यह फोटो दक्षिण अमेरिका के एक स्थान से अप्रैल १६, १८९३, को 'लिक वेधशाला' की ग्रहण-पार्टी द्वारा लिया गया था। सूर्य-बिंब काले चन्द्रमा द्वारा पूरी तरह ढक लिया गया है और आसपास कॉरोना का प्रकाश फैला हुआ दिखाई दे रहा है। किनारे पर स्थान-स्थान में अधिक तीव्र प्रकाशवाली लपटें ही सूर्योन्नत ज्वालाएँ हैं, जो कई हजार मील ऊपर तक उठती रहती हैं। (फोटो—'लिक वेधशाला' से प्राप्त।)

सूर्यपृष्ठ की दो विभिन्न झाँकियाँ

(ऊपर) साधारण प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्यपृष्ठ का फोटो है। काले धब्बे सूर्य कलंक हैं। (बाईं ओर) सूर्य के पृष्ठ का हाइड्रोजन के प्रकाश से लिया गया फोटो है। इसमें सूर्य के ऊपरी वायुमंडल में छाए हुए हाइड्रोजन गैस के बादलों का अद्भुत दृश्य है। काले बिन्दु और उनके आसपास भँवर की तरह दिखाई दे रहे बवण्डर ही सूर्य कलंक हैं। (फोटो—'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से।)
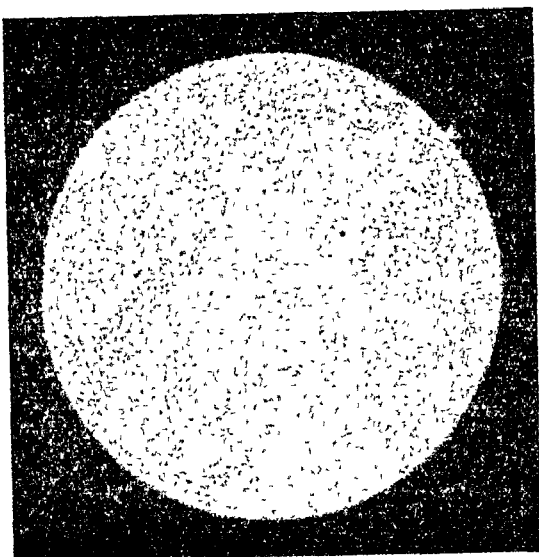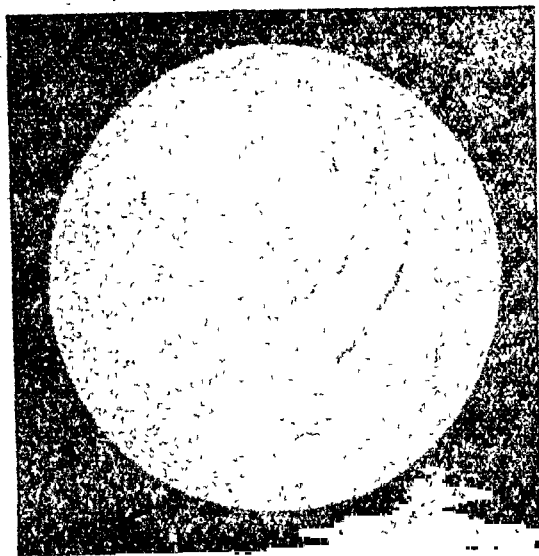
हाइड्रोजन तथा कैल्शियम-प्रकाश से लिये गये फोटो मे सूर्यपृष्ठ की झांकी

साधारण प्रकाश के बजाय (बाईं ओर) हाइड्रोजन-प्रकाश तथा (दाहिनी ओर) कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिये गये सूर्य-पृष्ठ के इन फोटो में जो चितकबरी झाँकी दिखाई दे रही है, वह सूर्यपृष्ठ के गैसीय आवरण की छटा है। कलंक भी दिखाई दे रहे हैं।

विस्तार आदि

ऊपर बतलाया जा चुका है कि चन्द्र-कलंक के समान सूर्य-कलंक स्थायी नहीं होते। वे बदलते रहते हैं। नये उत्पन्न हुआ करते हैं और पुराने मिटते रहते हैं। बड़े कलंक वस्तुतः इतने बड़े होते हैं कि उन पर बीस-पचीस पृथ्वियां बिछा दी जा सकती हैं। यदि सूर्य-कलंक गड्ढे हैं, जैसा संभवतः वे कभी-कभी होते हैं, तो एक-एक कलंक में सैकड़ों पृथ्वी समा सकेंगी !

यदि सूर्य को प्रतिदिन देखा जाय, तो इन कलंकों के स्थिति-परिवर्तन से शीघ्र पता चल जाता है कि सूर्य किसी अक्ष पर उसी प्रकार नाच रहा है जैसे पृथ्वी। कलंक हमें पूर्व से पश्चिम की ओर चलते दिखलाई पड़ते हैं और इस दिशा में वे लगभग सवा सत्ताइस दिन में एक बार चक्कर लगा लेते हैं। परन्तु विचित्र बात यह है कि मध्य-रेखा के पास वाले कलंक शीघ्र चलते हैं। यहां कलंक केवल साढ़े चौबीस या पचीस दिन में ही एक चक्कर लगा लेते हैं। ज्यों-ज्यों हम सूर्य के उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों वहाँ के कलंकों की गति मंद पड़ जाती है। इस सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह भी है कि कलंक मध्य-रेखा से हटकर केवल ५ से ४० अंश तक के ही प्रदेशों में अधिक बनते हैं। ध्रुवों के पासवाले स्थानों में कलंक कभी नहीं
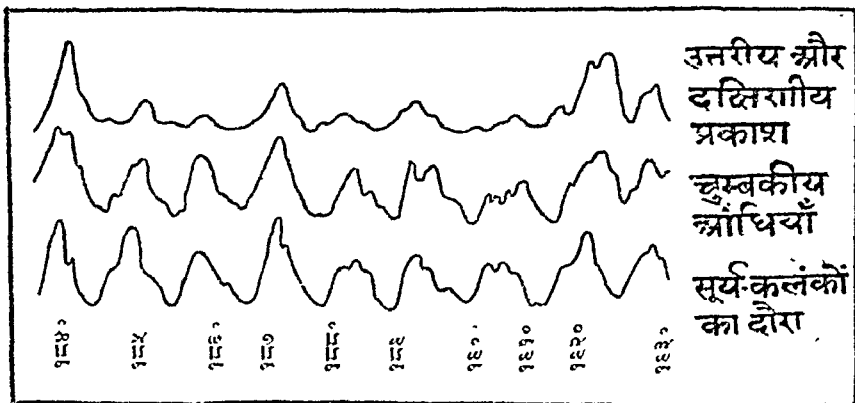
सूर्य-कलंक और उत्तरी तथा दक्षिणी प्रकाश एवं चुम्बकीय आँधियों का ग्यारह-वर्षीय चक्र

यह बात निश्चित हो चुकी है कि सूर्य-कलंकों का पृथ्वी की कुछ घटनाओं पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है, जैसे कि जब-जब सूर्य-कलंकों की बाढ़ आती है, तब-तब पृथ्वी पर ध्रुवों के उत्तरी और दक्षिणी प्रकाश तथा चुम्बकीय आँधियों में वृद्धि होती है। ऐसे दौरे प्रायः ग्यारह-ग्यारह वर्ष के बाद आते हैं

सूर्य-कलंकों का पृथ्वी पर प्रभाव—चुंबकीय आँधियों की उत्पत्ति

वैज्ञानिकों का यह मत है कि सूर्य-कलंक सूर्य के पृष्ठ पर उठनेवाले भीषण बवंडर या गैसीय तूफान हैं, और उनका पृथ्वी की चुम्बकीय क्रियाओं या घटनाओं पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि जब कभी सूर्य पर कोई बड़ा कलंक-समूह दिखाई पड़ता है, उस समय पृथ्वी पर बड़े जोरों से आकाश में उत्तरीय और दक्षिणीय प्रकाश दिखाई पड़ते हैं, दिक्सूचक यंत्र या कुतुबनुमा की सुई की दिशा में भी कुछ परिवर्तन होने लगता है और रेडियो, वायरलेस आदि की आवाज में भी गड़बड़ी होने लगती है।

दिखलाई पड़ते। परन्तु इन प्रदेशों में सूर्य का भ्रमणकाल सूर्यबिम्ब के अन्य चिन्हों से स्थिर किया जा सकता है। पता लगा है कि ध्रुव के पासवाले भागों के एक बार घूमने में लगभग चौंतीस दिन लगते हैं। मध्य-रेखा से एक ही दूरी पर स्थित कलंकों का भी भ्रमणकाल पूर्णतया निश्चित नहीं है—इनमें से कुछ तनिक शीघ्र गति से चलते हैं, कुछ जरा धीरे।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य ठोस नहीं है। यदि सूर्य ठोस होता और उसमें कहीं-कहीं धब्बे होते, तो वे सदा एक ही स्थान पर रहते, उनके आकार में परिवर्तन न होता और उनका भ्रमणकाल सदा समान रहता।

स्वरूप

सूर्य-कलंकों का स्वरूप भी कुछ निश्चित नहीं है, परन्तु बड़े और अधिक दिन तक टिकनेवाले कलंक प्रायः गोल होते हैं। बड़े दूरदर्शक से देखने पर सभी कलंकों में दो भाग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं—एक बीच का भाग, जो अधिक काला होता है; दूसरा बाहर का भाग, जो इस बीच के भाग को घेरे रहता है और कुछ कम काला होता है। बीच के काले भाग को "परिच्छाया" और बाहरवाले कम काले भाग को "उपच्छाया" कहा जाता है, यद्यपि इनका किसी प्रकार की छाया से संबंध नहीं है। परिच्छाया भाग काले मखमल के समान दिखलाई पड़ता है। बाहरी और कम काले उपच्छाया भाग में बहुत-सी रेखाएँ दिखलाई पड़ती हैं। इनकी दिशा परिच्छाया की ओर होती है। जहाँ परिच्छाया और उपच्छाया भाग मिलते हैं, वहाँ ये रेखाएँ उघड़ी हुई-सी दिखलाई पड़ती है। परिच्छाया भाग हमें काला केवल इसीलिए जान पड़ता है कि सूर्य के अन्य भाग इससे कहीं अधिक चमकीले हैं। वास्तव में यह स्वयं इतना चमकीला होता है कि इसके सामने सबसे तेज कृत्रिम प्रकाशवाला बिजली का आर्कलैंप भी काला जान पड़ेगा।

दो बड़े सूर्य-कलंक

यह बारह इंची रिफ्लेक्टर टेलिस्कोप द्वारा लिये गये फोटो का परिवर्द्धित अंश है।

प्रायः कलंक समूहों में विभाजित दिखलाई पड़ते हैं। बहुत बार दो छोटे-छोटे कलंक एक साथ दिखलाई पड़ते हैं, जो आकार में बढ़ते जाते हैं और एक दूसरे से हटते जाते हैं। कभी-कभी इनके एक दूसरे से हटने का वेग ८,००० मील प्रतिदिन तक पहुँच जाता है। इन दोनों के बीच कई छोटे-छोटे अन्य कलंक उत्पन्न हो जाते हैं, जो बहुत दिनों तक नहीं ठहरते, परन्तु कभी-कभी इन बीचवाले कलंकों की संख्या बढ़ती ही जाती है।

कभी-कभी सूर्य-कलंक स्पष्ट गड्ढे जान पड़ते हैं, क्योंकि सूर्य के घूमने के कारण जब वे हमें तिरछी दिशा से दिखलाई पड़ते हैं, तो उनकी आकृति गड्ढे की-सी रहती है। परन्तु कुछ कलंक उभरे हुए भी जान पड़ते हैं। साधारणतः वे न तो उभरे हुए और न धँसे हुए दिखलाई पड़ते हैं।

कलंक एक-दो दिन से लेकर कई महीनों तक टिकते हुए देखे गये हैं। एक बार तो एक कलंक पूरे १८ महीने तक दिखलाई पड़ता रहा, परन्तु अधिकांश कलंक कुछ सप्ताह तक ही टिकते हैं और अन्त में मिट जाते हैं। मिटने का कारण साधारणतः यही होता है कि ऊपर आसपास का चमकीला पदार्थ चढ़ आता है।

अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं लगा है कि सूर्य-कलंक वस्तुतः हैं क्या! परन्तु आधुनिक सिद्धांत यह है कि ये तुरहीनुमा भँवर या बवंडर हैं, जिनमें से भीतर की गैसें चक्कर मारती हुई ऊपर और बाहर निकलती हैं। यदि तुम इस प्रकार के भँवरों को पानी पर देखना चाहते हो तो दफ्ती या पतली लकड़ी का आठ-दस इंच व्यास का एक वृत्त काट लो। तब किसी तालाब के स्थिर जल में लकड़ी को आधी डुबा दो और उसे इसी प्रकार आधी डूबी हुई और खड़ी स्थिति में रखते हुए जोर से पीछे खींचकर पानी के बाहर निकाल लो। तुम देखोगे कि इस प्रकार पानी पर दो भँवर बन जाते हैं। असली बात यह है कि लकड़ी के खींचने पर लकड़ी की कोर के कारण पानी में भँवर में अर्धगोलाकार रेखा बन जाती है। इसके दोनों सिरे ही तुमको पानी पर दिखलाई पड़ते हैं। ये सिरे तुरही के आकार के होते हैं। तुम देखोगे कि यदि एक में पानी घड़ी की सुइयों की दिशा में चक्कर लगाता है, तो दूसरे में इसकी विपरीत दिशा में। सूर्य-कलंक भी कई बातों में ठीक इन्हीं भँवरों के समान

अनुमान किया जाता है कि उस मटमैली जमीन की अपेक्षा ये चावल के-से दाने बीस गुने अधिक चमकीले होंगे। इनका व्यास ४०० मील से लेकर १२०० मील तक होता है। कभी-कभी ऐसे छोटे दाने भी दिखलाई देते है, जिनका कि व्यास १०० मील से अधिक न होता होगा। ये दाने हमे साधारणत गोल या दीर्घ वृत्ताकार दिखलाई पड़ते है और कई दाने सिमिटकर बडे दाने भी बन जाया करते है। पर इन दानो का जीवनकाल बहुत कम होता है। कुछ तो दो-चार मिनट ठहर भी जाते है, परन्तु अधिकाश आधे मिनट भी नही टिकते। इन सब की गति इधर-उधर प्रत्येक दिशा में हुआ करती

होते हैं। यदि उपयुक्त यत्रो द्वारा सूर्य के प्रकाश से अन्य अवयव निकाल दिए जायँ और केवल हाइड्रोजन गैस से आये हुए प्रकाश से सूर्य का फोटो खीचा जाय, तो सूर्य पर के हाइड्रोजन के बादलो का बडा सुन्दर चित्र खिच आता है। इन चित्रो मे सूर्य-कलको की भँवर-सरीखी बनावट स्पष्टतया दिखलाई पडती है। यह भी दिखलाई पडता है कि दो पासवाले कलको का पदार्थ विपरीत दिशाओ मे चक्कर लगाता है। थोडी-थोडी देर पर ऐसे कई फोटो खीचने पर कलको मे आस-पासमे बादल मानो खिचकर आते हुए भी देखे गये है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य-कलक सूर्य-पृष्ठ पर के एक प्रकार के गैसीय भँवर है।
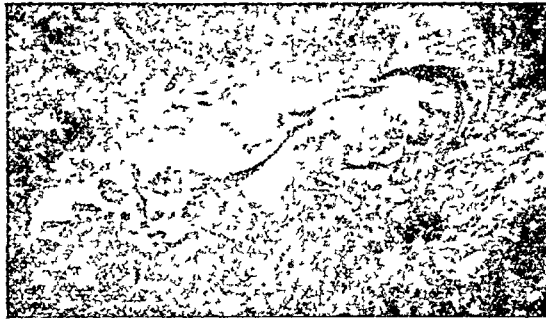
एक ही कलंक के थोड़ी-थोड़ी देर बाद प्रकट होने वाले विविध रूप

ये एक विशालकलक के थोडी-थोडी देर से एक के बाद एक लिये गये चार फोटो हैं। चौथे फोटो में कलकरूपी यह बवडर क्रमश: हटते-हटते सूर्य के पृष्ठ के किनारे तक आ पहुँचा है और अब शीघ्र

ही वह लुप्त हो जानेवाला है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य-कलक एक प्रकार का गतिमान बवडर होता है। [फोटो—'माउण्ट विल्सन वेध-शाला'।]

प्रकाशमंडल

सूर्य के पृष्ठ पर कलक ही सर्वप्रथम हमारा ध्यान आकर्षित करते है, परतु यदि ध्यान से देखा जाय तो अन्य रोचक बाते भी दिखलाई पडती है। बडे दूरदर्शक से देखने पर सूर्य का श्वेत भाग भी सर्वत्र एक जैसा श्वेत नही दिखलाई पडता। इसमे अनेक छोटे-छोटे अत्यत चमकीले कण दिखलाई पडते है। ऐसा जान पडता है जैसे मटमैले कपड़े पर सफेद चावल बिखरा हुआ हो।
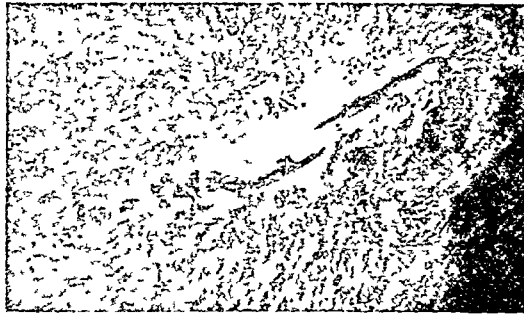
है। कोई तो प्रायः स्थिर ही रहते हैं। ऊँचे हवाई जहाज से जिस प्रकार आँधी से मथा हुआ समुद्र दिखलाई पड़ता है, ठीक वैसे ही, परंतु बड़े पैमाने पर, ये दाने भी दिखलाई पड़ते हैं।

सूर्य का बिंब हमें किनारे की ओर कम चमकीला दिखलाई पड़ता है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि सूर्य पर भी कोई वायुमंडल अवश्य है। किनारे के भागों से जो प्रकाश-रश्मियाँ हमारी आँखों तक पहुँचती है, उनको इस वायुमंडल में तिरछी दिशा में चलना पड़ता है। इसलिए उनकी चमक कुछ कम हो जाती है। यदि सूर्य पर किसी प्रकार का वायुमंडल न होता तो अवश्य ही सूर्य-बिम्ब के केंद्र और किनारे हमको एक-समान चमकीले दिखलाई पड़ते। हम इस वायुमंडल को प्रतिदिन तो नहीं देख सकते, परंतु सर्व-सूर्यग्रहणों के अवसर पर, जब सूर्य स्वयं चन्द्रमा के पीछे छिप जाता है, हम इसे बहुत-कुछ देख सकते हैं।

सूर्य के उस चमकीले भाग को, जिस पर हमें कलंक और चावल के दाने के समान चमकीले कण दिखलाई पड़ते हैं, 'प्रकाशमंडल' या 'फोटोस्फियर' कहते हैं। इसके ऊपर वर्ण-मंडल आदि हैं, जिनका ब्योरा आगे दिया जायगा।

(ऊपर)

हाइड्रोजन-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य पृष्ठ का एक फोटो

सूर्य-कलंकों के समूह दिखाई देते हैं। [फोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से]

(बाईं ओर)

कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिया गया सूर्य का फोटो

चावलों के कण जैसे श्वेत कणों की चादर पर ध्यान दीजिए। [फोटो – कोदईकैनाल' की कृपा से]

ग्यारहवर्षीय चक्र

जर्मन ज्योतिषी श्वावे को सन् १८३२ के लगभग पता चला कि सूर्य-कलंकों के घटने-बढ़ने में भी नियम है, क्योंकि ग्यारह वर्ष में एक बार सूर्य-कलंकों की संख्या और क्षेत्रफल बढ़कर महत्तम तक पहुँचते हैं और एक बार घटकर लघुत्तम तक पहुँचते हैं। प्रत्येक ग्यारह वर्ष के काल में एक ही प्रकार से घटना-बढ़ना लगा रहता है। श्वावे दवा बेचता था, परन्तु ज्योतिष के प्रेम के कारण उसने अपनी दूकान बेच दी, ताकि निश्चिन्त होकर वह सूर्य का अध्ययन कर सके।

श्वावे की खोज के कुछ ही वर्षों बाद इंगलैंड में प्रतिदिन सूर्य के फोटो लेने की योजना बनाई गई। इस अभिप्राय से कि बादलों के कारण कोई भी दिन नागा न चला जाय, भारत में मद्रास के पास स्थित सरकारी 'कोदईकैनाल वेधशाला' और दक्षिण अफ्रीका की सरकारी 'केप आफ गुड होप वेधशाला' में भी प्रतिदिन सूर्य के फोटो लेने का प्रबंध किया गया। इन सब फोटोग्राफों में सूर्य का चित्र एक ही नाप का अर्थात् ८ इंच व्यास का लिया जाता है, जिसमें तुलना में कोई असुविधा न हो। उपर्युक्त वेधशालाओं के अतिरिक्त, फ्रांस और अमेरिका की कुछ वेधशालाओं में भी सूर्य-संबंधी खोज बराबर की जाती है।

पता चला है कि कलंकों के घटने-बढ़ने का चक्र-काल नियमित रूप से ठीक ग्यारह वर्ष नहीं है। कभी एक चक्र में केवल सात ही वर्ष लगता है, तो कभी सत्रह वर्ष तक का समय लग जाता है। फिर प्रत्येक बार यह देखा गया है कि कलंकों की संख्या और क्षेत्रफल शीघ्र (लगभग साढ़े चार

वर्ष में) बढ़कर धीरे-धीरे (लगभग साढ़े छः वर्ष में) घटने लगते हैं। अभी तक इस बात का पता नहीं चल सका है कि क्यों इस प्रकार कलंक घटते-बढ़ते रहते हैं।

सूर्य-कलंक और सांसारिक घटनाएँ

समाचारपत्रों में प्रायः भविष्यवाणियाँ छपा करती हैं, जिनका आधार सूर्य-कलंक बतलाये जाते हैं, जैसे भविष्य में खूब आँधी-पानी आएगा, या अन्य दुर्घटना होगी, क्योंकि कलंकों की संख्या बढ़ रही है। क्या ऐसी भविष्यवाणियाँ सच्ची होती हैं; क्या सूर्य-कलंकों और सांसारिक घटनाओं में वस्तुतः कोई संबंध है? इस पर अमेरिका के सूर्य-संबंधी विशेषज्ञ प्रो० मिचेल की उनकी 'सूर्यग्रहण' पुस्तक में जोरदार भाषा में लिखी निम्न सम्मति जानने योग्य है:—

"कई बार वास्तविक चेष्टा की गई है कि सूर्य-कलंक और अन्य घटनाओं के बीच, चाहे वे सूर्य-संबंधी हों, चाहे पृथ्वी-संबंधी, नाता जोड़ा जाय। सूर्य-संबंधी घटनाओं से जो नाते जोड़े गये हैं, उनकी नींव तो अधिकतर पक्की है, परंतु पृथ्वी-संबंधी नाते प्रायः बिल्कुल काल्पनिक जान पड़ते हैं। यदि संयुक्त राज्य (अमेरिका) के किसी एक स्थान, जैसे लुई में, साधारण से अधिक गर्मी पड़ती है, × × × × और उसी समय यदि संयोगवश सूर्य पर एक बड़ा-सा कलंक-समूह हो तो कोई ज्योतिषी (प्रायः कोई छद्म-ज्योतिषी) अवश्य मिल जाता है, जो दैनिक समाचारपत्रों को सूचित करता है कि ये सूर्य-कलंक ही गर्मी (या सरदी) का कारण हैं। भारतवर्ष के दुर्भिक्ष, आयर्लैंड की आलू की फसल, इंगलैंड में बाजार की दर, मौरिशस द्वीप की जल-वर्षा, और न्यूयार्क की कम्पनियों का हानि-लाभ, इन सब की जाँच गणित से की गई है और इनमें से प्रत्येक के विषय में सिद्ध किया गया है कि उनका भी उतार-चढ़ाव ग्यारह वर्ष में होता है और इसलिए उनका भी संबंध सूर्य-कलंकों से अवश्य है! कई बार कहा गया है कि 'अंक झूठ नहीं बोलते'। यह बिल्कुल सत्य है कि अंक स्वयं झूठी बातें नहीं बतलाते, परन्तु इन अंकों पर जो अर्थ मढ़े जाते हैं, वे अनेक और भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रत्येक बड़े कारबार का मैनेजर अच्छी तरह जानता है कि यदि उसकी कम्पनी में दो वर्षों में एक-सा लाभ हो, तो भी उसके लिए यह अत्यन्त सरल बात है कि एक वर्ष तो वह लाभ बतलाकर हिस्सेदारों को पूरा-पूरा ब्याज दे और दूसरे वर्ष के लाभ को कारबार में उन्नति करने या कार्यालय की वृद्धि करने के खाते में डालकर या तो कम दिखला दे या घाटा दिखलाकर ब्याज एक पैसा भी न दे। × × × × यह पूर्णतया संभव है। संभव ही नहीं, कदाचित् सत्य भी है, कि जलवायु और वृष्टि का संबंध सूर्य के तेज से (जिसका पता कलंकों से लगता है) है; और हो सकता है कि अन्य विषय भी कलंकों से संबंध रखते हों—परन्तु इस संबंध को प्रमाणित कर देना टेढ़ी खीर है। सरदी, गरमी और वर्षा अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न कारणों पर निर्भर हैं और इसलिए उन सब कारणों से, जो कि जलवायु पर प्रभाव डालते हैं, सूर्य के परिणाम को पृथक् करना कठिन और प्रायः असम्भव है।'

सूर्य-कलंक और श्वेत कण

यह एक कलंक और उसके आसपास के पृष्ठ पर बिखरे हुए चावल जैसे श्वेत कणों का चित्र है। इसमें 'परिच्छाया' और 'उपच्छाया' वाले भाग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

चुंबकीय क्रियाओं पर कलंकों का प्रभाव

पृथ्वी की कुछ घटनाओं पर सूर्य-कलंकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इनमें से एक तो चुंबक की दिशा ही है। सभी जानते हैं कि यदि किसी चुंबक को इस प्रकार रक्खा जाय कि वह क्षैतिज धरातल में स्वतंत्रता से घूम सके, तो वह घूमकर उत्तर-दक्षिण दिशा में हो जायगा। दिक्सूचक (कुतुबनुमा) का बनाना इसीलिए संभव है। परन्तु सूक्ष्म जाँच से पता चलता है कि चुंबकीय सुई की दिशा कभी-कभी अनियमित रीति से बदलने लगती है। दिशा में अंतर अधिक नहीं पड़ता, तो भी नापने योग्य पड़ता ही है। ऐसी दशा में कहा जाता है कि 'चुंबकीय आँधी' चल रही है। इसमें अब संदेह नहीं है कि चुंबकीय आँधियों का संबंध सूर्य-कलंकों से है। ऐसी आँधियाँ उस समय अधिक चलती हैं, जब कि सूर्य पर अनेक कलंक बनते रहते हैं।

उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के क्षेत्रों में रात्रि के समय आकाश में एक विचित्र रंगीन प्रकाश दिखलाई पड़ता है, जो सदा

नाचा करता एवं रूप बदलता रहता है और फलत: बहुत सुन्दर जान पड़ता है। उत्तर में दिखलाई पड़नेवाले प्रकाश को 'उत्तरीय प्रकाश' और दक्षिण में दिखलाई पड़नेवाले प्रकाश को 'दक्षिणी प्रकाश' कहते हैं। चुम्बकीय आँधियों के समय ये प्रकाश बहुत बढ़ जाते हैं। १९२१ में १३ मई को सूर्य के केन्द्र के पास कई कलंक थे। इनके कारण ये प्रकाश इतने प्रबल हो उठे थे कि वे प्राय: सारी पृथ्वी पर दिखलाई पड़े। उस समय तार भेजना कठिन हो गया, क्योंकि तार-व्यवस्था पर आकाशीय बिजली का बहुत प्रभाव पड़ा। जिस समय प्रकाश महत्तम तीव्रता पर था, उस समय समुद्र के नीचे-नीचे जानेवाला अमेरिका और योरप वाला एक तार जल गया।

बतलाया जा चुका है कि वृक्षों को काटकर जाँच करने से उनकी आयु का पता चलता है, क्योंकि उनके तनों में परतें पड़ी रहती हैं। ऐसी प्रत्येक परत एक वर्ष की वृद्धि सूचित करती है। इसकी जाँच करने से अनुमान किया जाता है कि गत ढाई हजार वर्षों से भी सूर्य-कलंकों का ग्यारह-वर्षीय चक्र आज ही की तरह चला आया है।

सूर्य की बनावट

सूर्य की ऊपरी सतह की जाँच करने से जो मुख्य बातें मालूम हुई हैं, उनमें से कुछ तो पिछले अध्यायों में बताई जा चुकी हैं और शेष इस लेख में बताई जा रही हैं।

सूर्य के संबंध में बहुत-सी बातों का पता सूर्य के सर्व-ग्रहणों के समय लगा है। इसीलिए सूर्य के सर्व-ग्रहण ज्योतिषियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। उनको देखने के लिए ज्योतिषी अक्सर दूर-दूर से आते हैं और आवश्यक यंत्रों के बनाने और लाने ले जाने में बहुत धन व्यय करते हैं। कभी-कभी कुछ ज्योतिषियों को एक सर्व-ग्रहण देखने के लिए आधी पृथ्वी की यात्रा करनी पड़ती है। बात यह है कि सर्व-सूर्यग्रहण समस्त पृथ्वी पर नहीं दिख-लाई पड़ता है। सूर्य बड़ा है और चंद्रमा छोटा। इसलिए चंद्रमा की वह छाया—प्रच्छाया—जहाँ सूर्य का कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता, सूचिकाकार होती है। ज्यों-ज्यों हम चंद्रमा से दूर होते जाते हैं, त्यों-त्यों छाया छोटी होती जाती है। पृथ्वी तक पहुँचते-पहुँचते यह कुछ ही मील व्यास की रह जाती है। हाँ, पृथ्वी के घूमने और चंद्रमा के चलते रहने के कारण छाया भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर पड़ती है। परिणाम यह होता है कि छाया-मार्ग साधारणत: पृथ्वी की लंबी और केवल कुछ ही मील चौड़ी एक पट्टी पर दौड़ता हुआ निकल जाता है।* केवल उन्हीं को सर्व-सूर्यग्रहण दिखलाई पड़ता है, जो इस छाया-मार्ग में पड़ते हैं। दूसरों को खंड-सूर्यग्रहण दिख-लाई पड़ता है। छाया-मार्ग से बहुत दूर पर किसी प्रकार का ग्रहण नहीं दिखलाई पड़ता।

* कभी भी १८५ मील से अधिक चौड़ी छाया नहीं पड़ सकती। साधारणत: छाया की चौड़ाई इससे बहुत कम होती है।

छाया का वेग भूमध्य-रेखा के पास एक हजार मील प्रति घंटे के लगभग होता है। दूसरे स्थानों में वेग कुछ अधिक होता है। सर्व-सूर्यग्रहण किसी एक स्थान में कुछ ही मिनटों तक दिखलाई पड़ता है। कभी भी साढ़े सात मिनट से अधिक समय के लिए सर्व-ग्रहण नहीं लग सकता। यदि पाँच या छ: मिनट के लिए भी सर्व-ग्रहण लगे, तो ज्योतिषी इसे खूब लंबा सर्व-सूर्यग्रहण समझेंगे और इसके लिए दूर तक जाने के लिए तैयार हो जायँगे। साधारण ग्रहण सर्व-ग्रहण के लगभग एक घंटे पहले आरंभ होता है और इसी प्रकार सर्व ग्रहण के लगभग एक घंटे बाद समाप्त होता है। परन्तु साधारण ग्रहण से ज्योतिषीगण कुछ विशेष सीख नहीं पाते। ये सब बातें वे केवल कुछ मिनटों के सर्व-सूर्यग्रहण ही में सीख पाते हैं।

इन अवसरों पर ज्योतिषी क्या करते हैं, उन्हें क्या दिख-लाई पड़ता है, उन्होंने क्या-क्या सीखा है, आदि बातों की चर्चा अब हमें करना है।

कोरी आँख से क्या दिखलाई पड़ता है?

सर्व-सूर्यग्रहण अत्यंत मनोहर दृश्य है। जिसने कभी भी कोई सर्व-सूर्यग्रहण देखा है, वह उसकी झाँकी को जन्म भर नहीं भूल सकता।

सर्व-ग्रास के लगभग दस मिनट पहले से एक अजीब अँधेरा मालूम होने लगता है। उस समय रोशनी थोड़ी और सो भी केवल सूर्य के किनारे से आती है, इसलिए उसका रंग कुछ असाधारण होता है। फलत: आकाश और पृथ्वी दोनों विचित्र रंग के हो जाते हैं। ताप भी एकदम घट जाता है

और एकाएक ठंढक मालूम पड़ने लगती है। फूलों की पँखुड़ियाँ बंद होने लगती हैं, मानों रात्रि आ रही हो। चिमगादड अपने वसेरों से निकलकर इधर-उधर फडफडाने लगते हैं, परन्तु अन्य पक्षी घबडाकर गिरते-भहराते अपने घोंसलों की ओर दौडते हैं या कहीं आड़ पाकर अपना सिर पख के नीचे दवाकर पड रहते हैं। प्राय: जानवर पंक्तिवद्ध होकर और सींग ऊपर उठाकर एक घेरे में खड़े हो जाते हैं, मानों किसी भयानक शत्रु से उन्हें मुकावला करना हो। मुर्गी के वच्चे दौडकर अपनी माँ के पंख के नीचे छिप जाते हैं और कुत्ते दुम दवाकर अपने मालिक के पैर से लिपट जाते हैं। स्वयं मनुष्य भी, यद्यपि वह अँधेरा होने के कारण को जानता है—इतना ही नहीं, वह इस घटना के समय की गणना भी वर्षों पहले से कर लेता है—इस अशान्ति से वच नहीं सकता। उसके भी हृदय में एक प्रकार का भय उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जब वह आसमान की ओर नजर दौडाता है तो जहाँ दूरस्थ क्षितिज दिखलाई देता रहता है, वहाँ उसे चंद्रमा की छाया आँधी की तरह और अत्यन्त डरावने वेग से आती हुई स्पष्ट दिखलाई पड़ती है।

अब सूर्य क्षीण रेखा-सा प्रतीत होता है, परन्तु मिटने के पहले वह प्रज्वलित मणियों के समान कई टुकड़ों में बँट-सा जाता है। इनके मिटते ही एकाएक ऐसा निविड़ अँधेरा हो जाता है कि मनुष्य चौंक पड़ता है। परन्तु क्षण भर बाद आँखों की चकाचौंध मिट जाने पर पता चलता है कि दरअसल अँधेरा बहुत नहीं है।

साथ ही अनुपम सौंदर्य और वैभवयुक्त एक दृश्य आँखों के सामने उपस्थित मिलता है। चंद्रमंडल तो स्याही से भी काला, अधर में लटकता हुआ दिखलाई पड़ता है और इसके चारों ओर मोती के समान झलकता हुआ कोमल प्रकाश का एक मुकुट दृष्टिगत होता है। इस मुकुट की जड़ के पास स्थान-स्थान पर अत्यन्त अनोखे आकारों की रक्त-वर्ण ज्वालाओं की जिह्वाएँ काले चंद्रमंडल के पीछे से लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं! जिस "वर्ण-मंडल" से ये
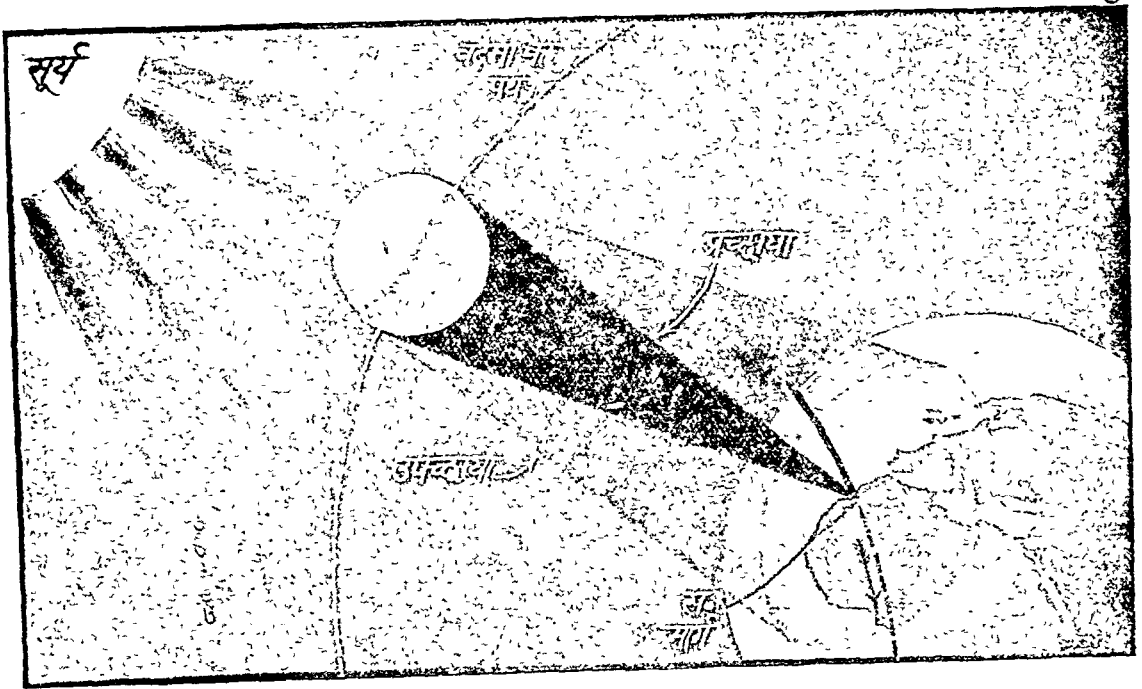
ग्रहण के समय चंद्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया तथा सर्व-सूर्यग्रहण का छाया-मार्ग

ग्रहण के समय सूर्य की आड़ में चंद्रमा के आ जाने से पृथ्वी पर दो प्रकार की छाया पड़ती है—एक बहुत गहरी, जो पृथ्वी पर पहुँचते-पहुँचते सूचिकाकार हो जाती है। इसे 'प्रच्छाया' कहते हैं। यह छाया जिन भागों पर पड़ती है, वहाँ से सर्व-सूर्यग्रहण दिखलाई देता है। दूसरी कम गहरी छाया 'उपच्छाया' कहलाती है। यह छाया जहाँ-जहाँ पड़ती है, वहाँ से खंडग्रहण दिखलाई देता है। 'प्रच्छाया' का मार्ग ही सर्व-सूर्यग्रहण का मार्ग है, जो ऊपर के चित्र में रेखा द्वारा दिखाया गया है।

ज्वालाएँ लपकती है, वह भी अत्यन्त दीप्तिमान और चंद्रमंडल से सटा हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समय आकाश में प्राय: नक्षत्र भी दृष्टि-गत होने लगते हैं। अँधेरे में से सूर्य के फिर से निकलने के पहले उसके वायु-मंडल का सबसे नीचे का भाग इस्पात के समान श्वेत वर्ण का चमकता हुआ दिखलाई पड़ता है। तब एकाएक चकाचौंध पैदा करनेवाला प्रकाश-मंडल निकल पड़ता है। सब जगह प्रकाश भर जाता है और कॉरोना प्राय: छिप जाता है। केवल एक आध मिनट तक इसकी जड़ अँगूठी की भाँति दिखलाई पड़ती है।

प्रकाश-प्रसरण * के कारण प्रकाश-मंडल का प्रथम भाग असली आकार की अपेक्षा बहुत बड़ा दिख-लाई पड़ता है, इसीलिए सूर्य हीरे की अँगूठी के समान जान पड़ता है।
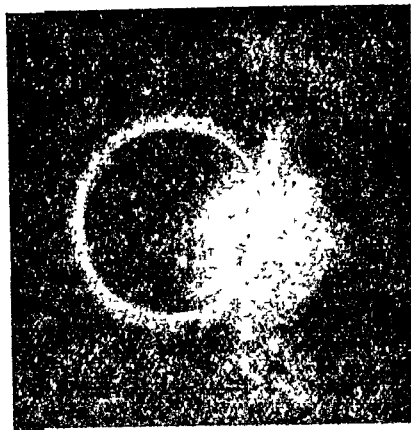
यह हीरे की अँगूठी नहीं, सर्व-ग्रास के समय की सूर्य की झाँकी है !
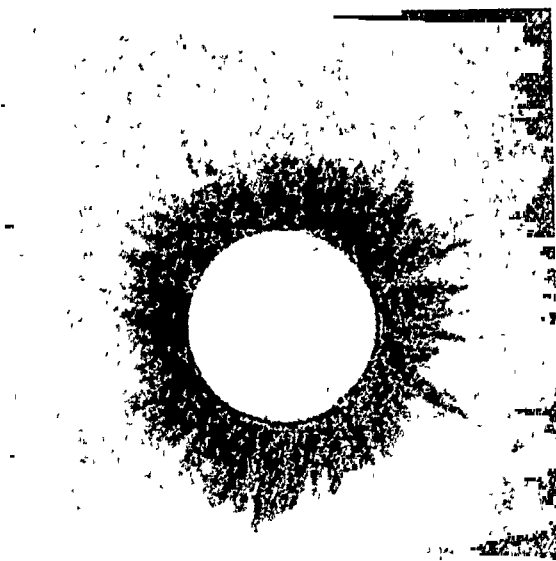
ग्रहण से उग्र होता हुआ सूर्य इसी तरह हीरे की अंगूठी के समान दिखाई पड़ता है।

'बेली-मनका' नामक मणिमाला की छटा

चंद्रमा की आड़ से प्रज्वलित मणियों के रूप में सूर्य-बिंब झलक रहा है। ये मनकाएं 'बेली-मनका' के नाम से मशहूर हैं; क्योंकि बेली नामक व्यक्ति ने सर्वप्रथम इनकी ओर ध्यान आकर्षित किया था।

परन्तु यह दृश्य क्षणिक होता है, कारण एक मिनट ही में कॉरोना आदि की झाँकी लेश-मात्र भी नहीं रह जाती।

सर्व-ग्रहण को देखने के लिए बहुत-से ज्योतिषी महीनों से तैयारी किया करते हैं। आवश्यक धन प्राय: किसी लखपती या सरकार की उदारता से मिल जाता है। सर्व-ग्रहण साधारणत: पाँच ही छ: मिनट के लिए लगता है, इसलिए बहुत पहले से निश्चय किया जाता है कि ग्रहण के समय क्या-क्या और किस प्रकार का काम किया जायगा। वर्षों पहले से चंद्रमा के छाया-मार्ग में स्थानों की जाँच की जाती है, जिससे पता लग जाय कि ग्रहण के समय वहाँ आकाश के स्वच्छ रहने की संभावना है या मेघाच्छन्न। फिर जलवायु के अध्ययन करनेवालों की रिपोर्ट, उस स्थान तक पहुँचने और वहाँ रहने के सुभीते, तथा वहाँ सर्व-ग्रहण कितने समय तक लगा रहेगा, आदि बातों पर विचार करके निश्चय किया जाता है कि किस-किस वेधशाला से कौन ज्योतिषी कहाँ-कहाँ जायँगे। यथासंभव प्रयत्न किया जाता है कि ज्योतिषियों के समूह भिन्न भिन्न स्थानों पर अपना

* बहुत चमकीली चीजें हमें अपने असली आकार से बड़ी दिखाई पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, चमकीले तारे अन्य तारों की अपेक्षा हमें बड़े दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि नाप में वे बराबर होते हैं। देखने में प्रकाश के इस प्रकार फैलने को 'प्रकाश-प्रसरण' कहते हैं।
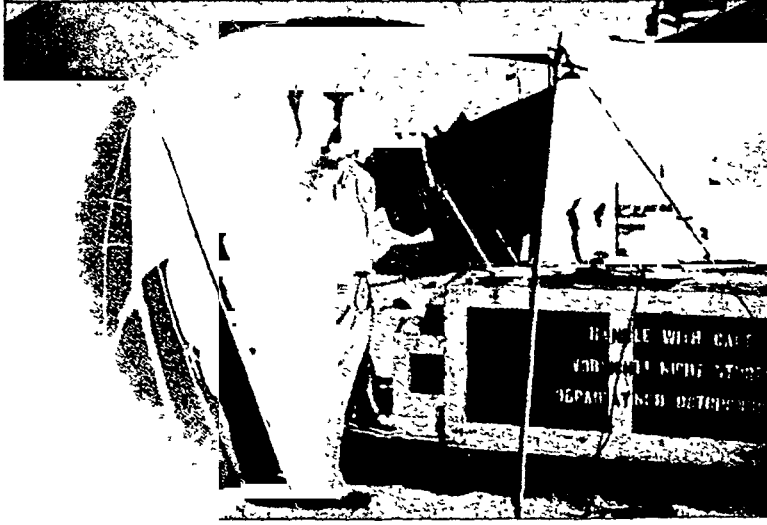
अपने कार्य पर मुस्तैद एक ग्रहण-पार्टी

यह १९३७ के सर्व-सूर्यग्रहण के अवसर पर प्रशान्त महासागर के बीच कैंटन द्वीप पर जानेवाले एक अमेरिकन ज्योतिषी-दल के प्रधान दूरदर्शक और उसके संचालकों का फोटो है।

डेरा डालें, ताकि एक स्थान पर बादलों से काम बिगड़ जाने पर दूसरे स्थानों में कुछ प्रत्यक्ष फल मिले। तब भी कभी-कभी ग्रहण-मार्ग का अधिकांश जल ही पर पड़ता है और एक ही दो टापू या निर्जन स्थान इसके भीतर पड़ा करते हैं।

ऐसी दशा में लाचार होकर ज्योतिषियों को वहाँ ही जाना पड़ता है। एक बार ऐसा भी हुआ था कि एक ही बादल के टुकड़े से ज्योतिषियों का महीनों का कठिन परिश्रम मिट्टी हो गया !

इधर स्थान तय हुआ करता है, उधर ज्योतिषी लोग अपना कार्यक्रम निश्चित करके अनेक प्रकार की तैयारी करते रहते हैं। अनेक बार ग्रहण के अवसर पर उपयोग में लाने के लिए विशेष यंत्र बनाने पड़ते हैं। इन यंत्रों की पहले पूरी जाँच करके उनकी छोटी-से-छोटी त्रुटि भी मिटाई जाती है। ग्रहण के समय सफलता प्राप्त करने के लिए प्रयोग-शाला और वेधशाला में महीनों नये-नये प्रयोग किये जाते हैं। स्थान निश्चित हो जाने, सब सामान ठीक से जुट जाने, और रुपये-पैसे, पासपोर्ट, रेल और जहाज इत्यादि की यात्रा संबंधी सब बातों का प्रबंध हो जाने पर ज्योतिषी-सेना का अग्रभाग यंत्रों को लेकर कार्य-क्षेत्र में पहले पहुँचता है। आवश्यकतानुसार शिविर तैयार होते हैं, यंत्र आरोपित किये जाते हैं और उनकी पूरी जाँच की जाती है। इतने में शेष ज्योतिषी भी आ पहुँचते हैं।

किसी दूरदर्शक से कॉरोना और रक्त-ज्वालाओं के कई एक बड़े फोटोग्राफ लिये जायँगे, किसी से सूर्य के चारो ओर के आकाश का फोटो लिया जायगा, किसी से सूर्य के वायु-मंडल के भिन्न-भिन्न भागों का 'वर्णपट' (इसके संबंध में विशेष हाल इसी लेख में आगे देखिए) लिया जायगा। कहीं-कहीं ताप आदि नापने का प्रबंध किया जायगा। कोई ग्रहण का सिनेमा-चित्र लेगा।
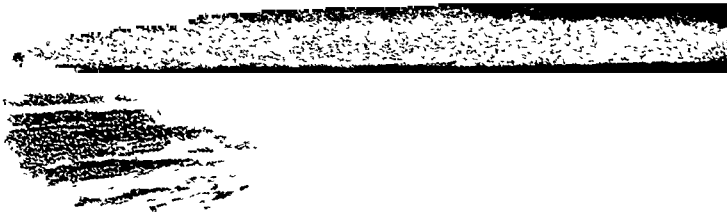
सर्व-ग्रास के समय डरावने वेग से पृथ्वी पर बढ़ती आ रही चंद्रमा की छाया

यह अद्भुत फोटो १९३२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय २७ हजार फीट की ऊँचाई से हवाई जहाज में उड़कर लिया गया था। दूरस्थ क्षितिज पर कुछ प्रकाश शेष है, बाकी जगह डरावना अँधेरा छा गया है। प्रकाश में कहीं-कहीं बादल श्वेत दिखाई दे रहे हैं।

अभी ग्रहण लगने को कई दिन शेष हैं, परंतु अभी से सभी क्रियाओं का पूर्वाभ्यास (रिहर्सल) जारी है। प्रतिदिन कई बार अभ्यास किया जाता है। छोटी से छोटी बात भी पहले से सोच ली जाती है, ताकि समय पर कोई तरह की गड़बड़ी न होने पावे।

अंत में ग्रहण का दिन भी आ जाता है। पहले साधारण ग्रहण आरंभ होता है। लो, सब सामान दुरुस्त है! लोग अपने-अपने स्थान पर मुस्तैद हैं! धीरे-धीरे उत्सुक ज्योतिषियों को जान पड़ता है, मानो चींटी की चाल से भी अधिक धीरे खिसककर चंद्रमा सूर्यबिंब को ढक चलता है। ग्रहण की इस ढिलाई से ज्योतिषियों को दम मारने की फुरसत मिल जाती है। परन्तु इतने पर भी सभी व्यग्रचित्त रहते हैं, विशेषकर सर्वग्रास के दो चार मिनट पूर्व, जब प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कुछ करना धरना नहीं रहता है। अंत में जिस क्षण सर्व-ग्रहण आरंभ होता है, उसी काम के लिए नियुक्त एक ज्योतिषी सूचना देता है और तुरत सब लोग अपने पूर्व-निश्चित कार्यक्रम में लग जाते हैं।
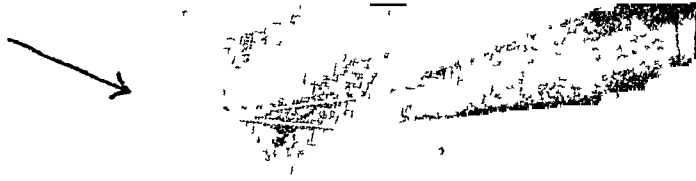
प्रिज्म या त्रिपार्श्व द्वारा रश्मि-विश्लेषण

तीन पहल के इस शीशे के टुकड़े त्रिपार्श्व (प्रिज्म) में से होकर जब प्रकाश निकलता है तो फैलकर वह दाहिनी ओर दिखाये गये सात रंगों की किरणों में विभाजित हो जाता है, जिसे 'वर्णपट' (स्पैक्टम) कहते हैं। 'त्रिपार्श्व' के इस अद्भुत सामर्थ्य ने यह संभव कर दिया है कि हम किसी भी नक्षत्र से आनेवाले प्रकाश का विश्लेषण कर इस बात की जांच कर सकें कि उस नक्षत्र पर कौन-कौन से तत्त्व हैं या वहां कितनी गरमी है, क्योंकि प्रत्येक तत्त्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का 'वर्णपट' भिन्न होता है। नीचे ग्रहण के समय लिये गये सूर्य-प्रकाश के दो वर्णपटों के रश्मिचित्र दिये गये हैं। इन चित्रों की श्वेत या काली रेखाएं सूर्य के वर्ण-मंडल में उपस्थित विभिन्न तत्त्वों का दिग्दर्शन करती हैं।

यह समझने के लिए कि ग्रहणों से ज्योतिषियों ने क्या सीखा है, रश्मि-विश्लेषण का थोड़ा ज्ञान अति आवश्यक है। आपने देखा होगा कि जब किसी रेखाकार छेद से निकला श्वेत प्रकाश प्रिज्म या त्रिपार्श्व (दे० इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र) से होकर
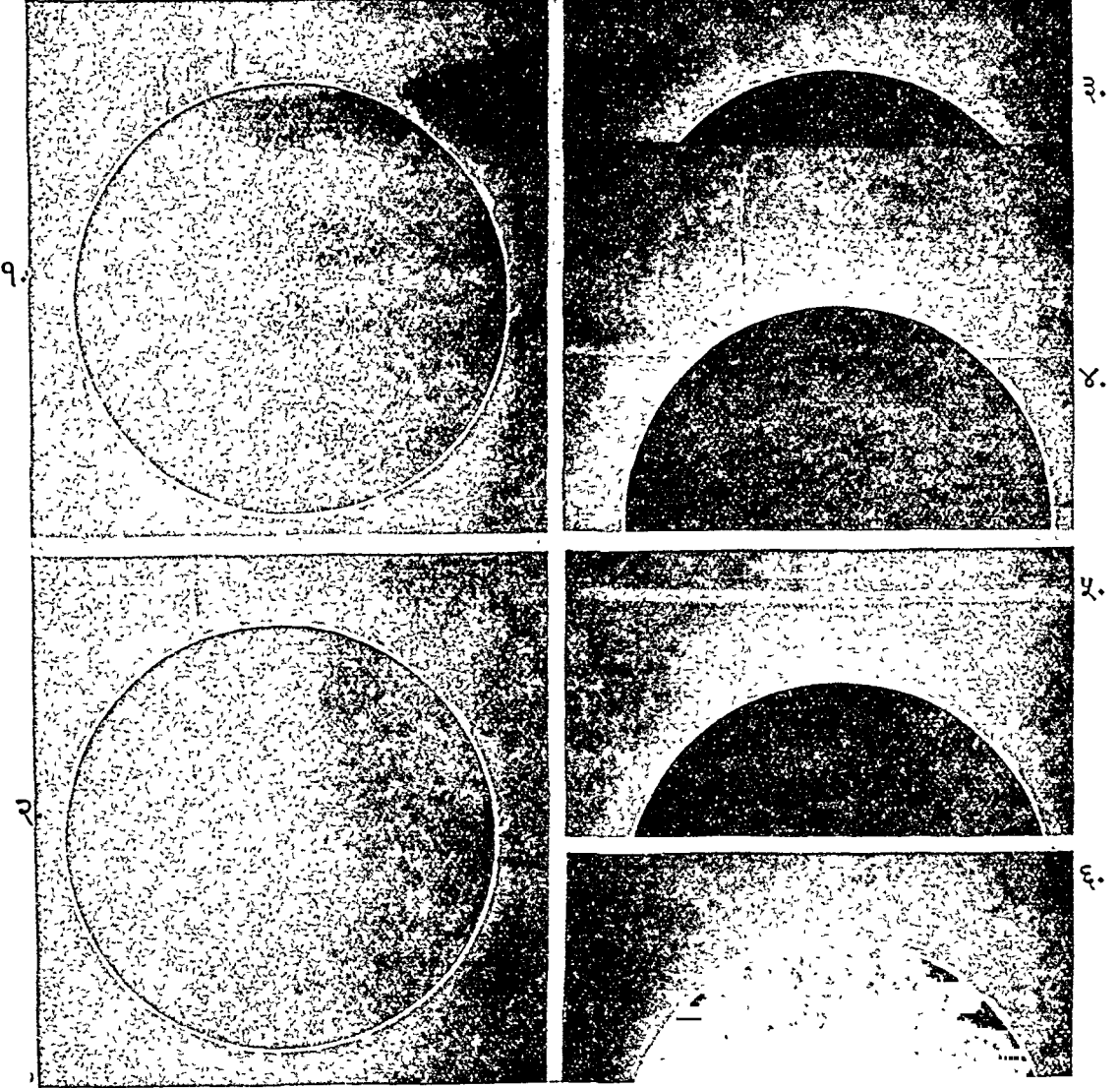
सूर्योन्नत और उद्गारी ज्वालाएँ (२६ मई, १६१६)

ये फोटो ग्रहण के समय के नहीं है, वरन् सौर रश्मिचित्र-कैमेरे से कैल्शियम-प्रकाश द्वारा साधारण दिवस पर थोड़ी-थोड़ी देर के बाद लिये गये है। इनसे यह स्पष्ट है कि सूर्योन्नत या उद्गारी ज्वालाएं किस भयानक वेग से अपना रूप वदलतीं और ऊपर की ओर उठती है। नं० १ फोटो ८ वजकर १८ मिनट ५० सैकंड पर लिया गया था; नं० २ फोटो ८ वजकर ४४ मिनट ६ सैकंड पर; नं० ३ फोटो ८ वजकर ५७ मिनट पर; नं० ४ फोटो ६ वजकर ४ मिनट पर; नं० ५ फोटो ६ वजकर १० मिनट पर; और नं० ६ फोटो ६ वजकर २० मिनट पर। [फोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

वाहर निकलता है, तव वह श्वेत रहने के वदले इंद्र-धनुप के समान कई रंगो मे फैल जाता है, जिसे 'वर्ण-पट' या 'स्पैक्ट्रम' कहते है। प्रसिद्ध गणितज्ञ और वैज्ञानिक न्यूटन ने पहलेपहल यह वतलाया था कि श्वेत प्रकाश असंख्य रंगीन प्रकाशों से मिलकर वना है और त्रिपार्श्व मे से होकर आने पर श्वेत प्रकाश अपने विभिन्न अवयवों में विभक्त हो जाता है। इन अवयवों को साधारणतः सात समूहों में वाँटा जाता है, जिनके नाम इस प्रकार है—वैंजनी,

नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी, और लाल। परंतु वर्णपट को इस प्रकार सात भागों में बाँटना मनमाना है। वस्तुतः वर्णपट की प्रत्येक रेखा एक भिन्न रंग की होती है। हाँ, दो समीपवाली रेखाओं के रंगों में अंतर इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे शब्दों द्वारा सूचित नही कर सकते, परंतु उनमें अंतर होता है अवश्य।

वैज्ञानिकों का मत है कि प्रकाश या आलोक किसी प्रकार की लहर है। श्वेत प्रकाश मे छोटी-बड़ी कई नाप की लहरें होती है। यदि लहर की एक चोटी से दूसरी चोटी तक की दूरी को 'लहर-लंबाई' कहा जाय, तो हम कह सकते है कि श्वेत प्रकाश में असंख्य अवयव है और प्रत्येक अवयव की लहर-लंबाई भिन्न-भिन्न है। जब श्वेत प्रकाश त्रिपार्श्व से होकर निकलता है, तब प्रत्येक भिन्न लहर-लंबाई का प्रकाश एक भिन्न दिशा में चलता है और इस प्रकार श्वेत प्रकाश अपने अवयवों मे बँट जाता है। इसीलिए, यद्यपि वर्णपट की विभिन्न रेखाओं के रंगों को शब्दो से सूचित करना असंभव है, तो भी किसी विशेष रेखा का उल्लेख उसकी लहर-लंबाई बतलाने से किया जा सकता है।

सौभाग्य की बात है कि प्रत्येक तत्त्व के तप्त वाष्प से निकले प्रकाश का वर्णपट विभिन्न होता है। अनेक तत्त्वों के मिश्रण रहने पर भी वर्णपट से इन तत्त्वों की पहचान करने में कोई कठिनाई नही पड़ती। इसलिए सूर्य से (या कही से भी) आये हुए प्रकाश के वर्णपट को देखकर हम बतला सकते हैं कि वहाँ कौन-कौन से तत्त्व है।

बिजली की रोशनी का, या किसी भी अत्यंत तप्त ठोस पदार्थ से निकली रोशनी का वर्णपट 'अटूट' होता है। वह कही से टूटा नही रहता। उसमें कही काले भाग नही रहते। यदि किसी तप्त गैस से निकले हुए प्रकाश का वर्णपट बनाया जाय, तो उसमे केवल चमकती हुई रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती है, शेष भाग काला रहता है। उदाहरणार्थ, यदि हम किसी स्टोव की लौ में कुछ नमक छोड़ दें तो लौ, जो पहले नीली और प्रायः प्रकाशरहित रहती है, पीली और प्रकाशमय हो जाती है। यदि हम इस पीले प्रकाश का वर्णपट बनाएँ, तो हमें उसमें केवल दो प्राय. सटी हुई पीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती है। नमक में सोडियम होता है और जब कभी प्रकाश सोडियम की गरम वाष्प से आता है, तब वर्णपट में ये दो पीली रेखाएँ ही दिखलाई पड़ती है। यदि प्रकाश बिजली के बल्ब से या अन्य किसी अत्यन्त तप्त ठोस पदार्थ से चले और बीच में किसी तप्त गैस को पार करके निकले, तो उसके रश्मि-चित्र में काली रेखाएँ दिखाई
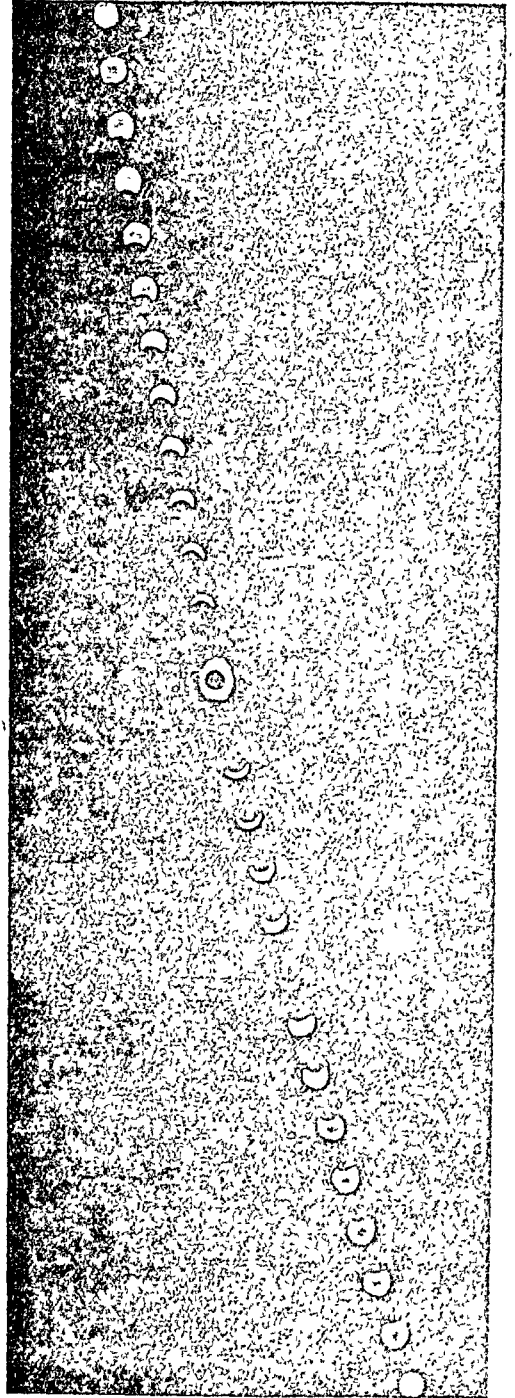
ग्रहण की प्रगति

इस चित्र में एक ही फोटो-प्लेट पर पाँच-पाँच मिनट के बाद लिये गये सूर्य के २६ फोटो दिग्दर्शित है, जिनमें दिखाई दे रहा है कि किस तरह धीरे-धीरे ग्रहण लगकर सूर्य का उग्रह हुआ।
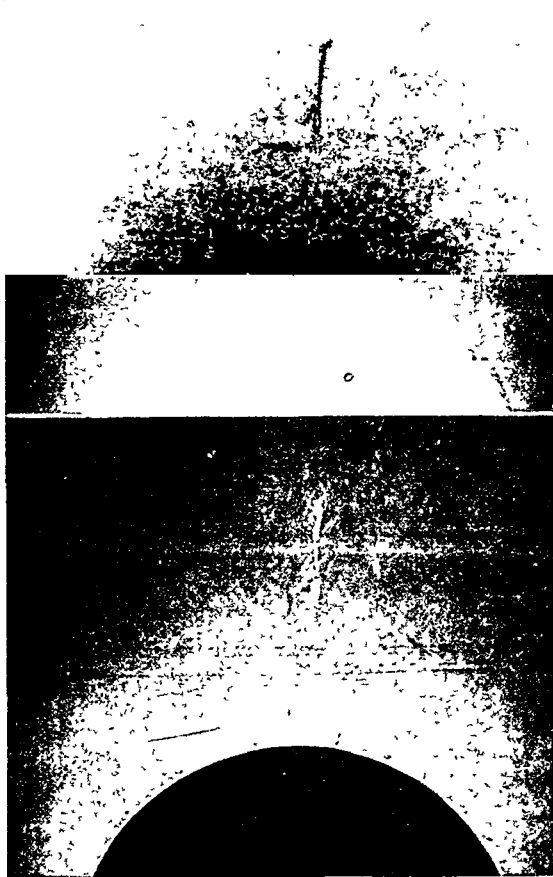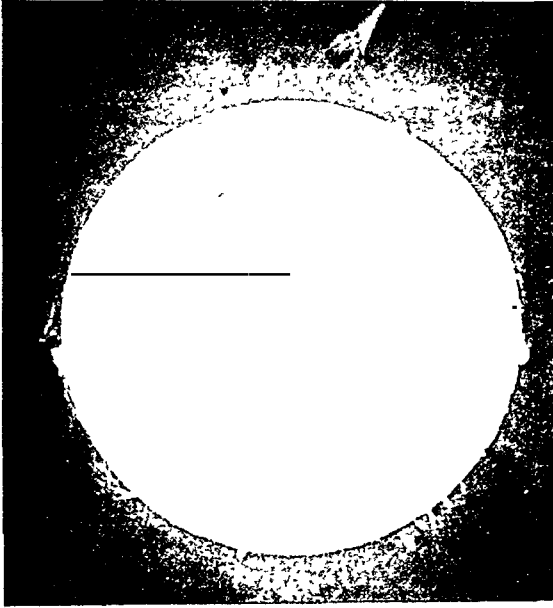
पड़ती है (इसके लिए गैस का ताप तप्त ठोस के ताप से कम होना चाहिए)। उदाहरणार्थ, यदि बिजली की रोशनी नमक-पड़े स्टोव की लौ पार करके त्रिपार्श्व पर पड़े, तो वर्णपट में दो प्रायः सटी हुई काली रेखाएँ ठीक उसी स्थान में दिखलाई पड़ती है, जहाँ पहले दो चमकीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती थी।

जब कभी किसी वर्णपट में ऐसी काली रेखाएँ दिखलाई पड़ती है, तो समझा जाता है कि प्रकाश किसी तप्त ठोस वस्तु से चलकर कुछ कम तप्त गैसों को पार करके आ रहा है।

जर्मन वैज्ञानिक फ्राउनहोफर ने पहले-पहल देखा कि सूर्य के प्रकाश के वर्णपट में भी काली रेखाएँ है। इससे सिद्ध हुआ कि सूर्य का मध्य भाग ठोस है, या यदि वह गैस है तो इतना दबा हुआ है कि उसका प्रकाश तप्त ठोस की जाति का वर्णपट देता है। इसके चारो ओर तप्त गैसो की एक तह है, जिसे "पल्टाऊ तह" कहते है, क्योकि इसके कारण सोडियम आदि धातुओं की चमकीली रेखाएँ पलटकर काली हो जाती है। इस तह मे क्या-क्या वस्तुएँ है, यह हम वर्णपट की सूक्ष्म जाँच से निश्चयपूर्वक बतला सकते है।

सौर वर्णपट की जाँच

वस्तुतः सूर्य में प्राय. वे सभी तत्त्व है, जो पृथ्वी पर है, और इसलिए संभवत. सूर्य की रासायनिक बनावट प्राय. वैसी ही होगी, जैसी पृथ्वी की। परन्तु भयानक गरमी के कारण अवश्य ही सूर्य पर यौगिक पदार्थ न होगे। ऐसे पदार्थ टूटकर अपने मौलिक तत्त्वो मे विभक्त हो गये होंगे। जब सौर वर्णपट की पहले-पहल सूक्ष्म रूप से जाँच हुई तो पता लगा कि उसमे अन्य तत्त्वों की रेखाओं के साथ ही एक समूह ऐसी रेखाओ का था, जो किसी ज्ञात पदार्थ की नही थी। इस पदार्थ का नाम वैज्ञानिको ने 'हीलियम' रक्खा, जो ग्रीक शब्द हीलियस (=सूर्य) से बनाया गया। ध्यान देने की बात है कि हीलियम का अस्तित्व केवल

एक ही उद्गारी ज्वाला के तीन फोटो

ये फोटो १६ नवंबर, १६२८, को क्रमशः (ऊपर से नीचे की ओर) ७ बजकर ५५ मिनट ५ सैकंड, ८ बजकर ५८ मिनट, और ६ बजकर ४ मिनट पर कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिये गये थे। ऊपर के चित्र मे उद्गारी ज्वाला सूर्य की सतह से ३,६८,००० मील की ऊंचाई तक उठ गई है। लगभग १ घंटे बाद बीच के चित्र में वही ज्वाला ४,५१,००० मील की ऊंचाई पर जा पहुँची है। इसके छः ही मिनट बाद वही ज्वाला नीचे के फोटो में ४,६५,००० मील की ऊंचाई पर जा पहुँची है। इससे इन ज्वालाओं के वेग का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। [फोटो—'कोदईकैनाल वेधशाला' से प्राप्त।]

उपरोक्त सिद्धांत के आधार पर टिका था। यदि सिद्धांत अशुद्ध होता, अथवा यदि एक ही धातु वर्णपट में कभी कोई और कभी कोई रेखाएँ उत्पन्न किया करती तथा वैज्ञानिकों को इसका पता न रहता, तो हीलियम की कल्पना कोरी कल्पना ही रहती।

परंतु कुछ वर्षों के बाद वैज्ञानिकों को पृथ्वी ही पर एक नवीन गैस का पता चला, जिसके वर्णपट में ठीक उन्हीं स्थानों मे (अर्थात् ठीक उन्हीं लहर-लंबाइयों की) चमकीली रेखाएँ दिखलाई पड़ती थीं, जहाँ सूर्य में हीलियम वाली काली रेखाएँ थीं। इतना जान लेना काफी था। सिद्ध हो गया कि सूर्य की वह अज्ञात गैस अवश्य ही हीलियम थी।

वैज्ञानिक सिद्धांतों का कैसा सुन्दर समर्थन हुआ! अज्ञात रहने के बदले हीलियम अब जेपलिन की जाति के वायुपोतों में भरी जाती है।

सूर्य की बनावट

उस साधारण-सी वस्तु--त्रिपार्श्व--से हमने कितना अधिक सीखा है! इस त्रिपार्श्व तथा कुछ अन्य यंत्रों और गणित के आधार पर अब हम प्रायः निश्चय रूप से कह सकते हैं कि सूर्य की बनावट कैसी है।

सूर्य का जो भाग हमें प्रति दिन दिखलाई पड़ता है, वह अत्यंत गरम और दबी हुई गैसों से बना है। सूर्य के इस भाग को 'प्रकाश-मंडल' या 'फोटोस्फियर' कहते हैं। इसके भीतर देखने का कोई उपाय नहीं है, परंतु गणित के सहारे हम कई एक बातों का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य के केंद्र पर दबाव, घनत्व और ताप सभी बहुत अधिक होंगे। वहाँ प्रति वर्ग इंच पर २०,००,००,००,००० मन का दबाव होगा और ताप ४,००,००,००० डिग्री सेंटीग्रेड होगा। बाहर से भीतर तक सर्वत्र गैस-ही-गैस होगी—कोई भी भाग ठोस नहीं होगा। तो भी भयानक दबाव के कारण सूर्य का मध्य भाग पानी की अपेक्षा लगभग २८ गुना अधिक भारी होगा! पृथ्वी पर सबसे भारी पदार्थ प्लैटिनम है, परंतु यह पानी की अपेक्षा केवल २१ गुना ही भारी है। इस प्रकार सूर्य का मध्य भाग प्लैटिनम से भी भारी—लगभग सवा गुना भारी—है।

पहले वैज्ञानिकों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि कोई गैस इतनी भारी भी हो सकती है। सोचा जाता था कि जब गैस इतनी अधिक दब जायगी कि उसके सब परमाणु एक दूसरे को छू लेंगे, तब उसे और अधिक भारी करना असंभव होगा, चाहे दबाव कितना भी क्यों न बढ़ाया
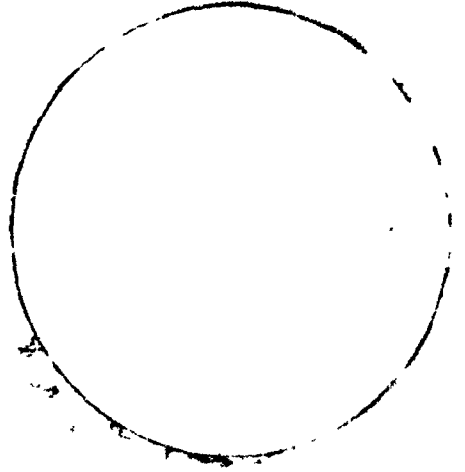
सूर्योन्नत ज्वालाएँ (२९ मई, १९१९)

यह फोटो कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिया गया था। ज्वाला के अद्भुत उभाड़ पर गौर कीजिए। ['कोडईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]
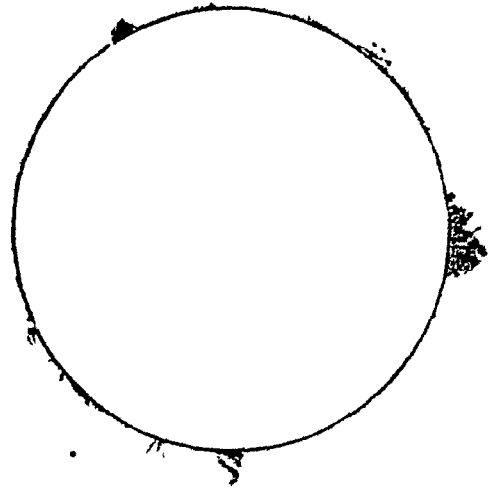
सूर्योन्नत ज्वालाएँ (२ जून, १९३७)

यह फोटो भी कैल्शियम-प्रकाश द्वारा लिया गया था। ['कोडईकैनाल वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

जाय। परंतु भौतिक विज्ञान के अध्ययन से अब यह अनुमान किया जाता है कि परमाणु ठोस नहीं हैं। प्रत्येक परमाणु के केंद्र में एक समूह 'घनाणुओं' का होता
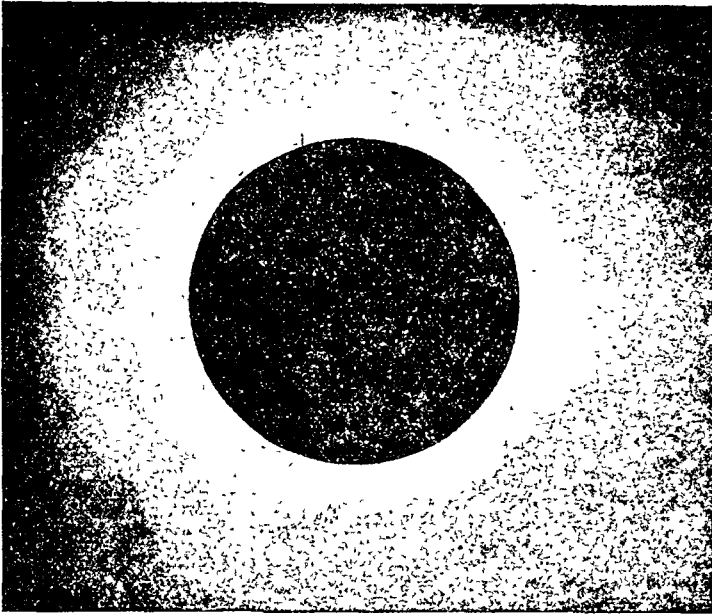
१६२२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना की झाँकी

१६२२ में सूर्य-कलंक अपनी महत्तम अवस्था पर थे, इसलिए इस फोटो में कॉरोना लगभग समान रूप से चारों ओर फैला दिखाई दे रहा है। नीचे के फोटो से तुलना कीजिए।

है और इसके चारों ओर एक या अधिक 'ऋणाणु' चक्कर लगाया करते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि सूर्य के केंद्र पर प्रचंड ताप के कारण परमाणुओं में से ऋणाणु निकल गये होंगे। ऐसे टूटे हुए परमाणु भीषण दबाव के कारण दबकर साधारण ठोस पदार्थों से भी भारी हो गये होंगे।

ये तो हुईं प्रकाश-मंडल के अंतराल की बातें। स्वयं प्रकाश-मंडल पर हमें कलंक दिखलाई पड़ते हैं, जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रकाश-मंडल या फोटो-स्फियर देखने में ठीक गोल जान पड़ता है और इसका किनारा चिकना प्रतीत होता है, जिससे अनुमान होता है कि सूर्य पर गड्ढे नहीं हैं। परंतु सूर्य इतनी दूर है कि वहाँ के सौ-दो-सौ मील व्यास के भी गड्ढे हमको दिखलाई नहीं पड़ सकते!

प्रकाश-मंडल के ऊपर गैसों की एक तह है, जो प्रकाश-मंडल से कुछ कम गरम है। इसे 'पल्टाऊ तह' कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण सौर प्रकाश के वर्णपट में काली रेखाएँ उत्पन्न होती हैं। अनुमान किया जाता है कि पल्टाऊ तह केवल हजार-पाँच सौ मील ही मोटी होगी। इस पल्टाऊ तह के बाहर दस-पाँच हजार मील गहरी एक तह गैसों की है, जो सर्व-ग्रहण के समय हमें चटक लाल रंग की झालर के सदृश दिखलाई पड़ती है। अपने चटक रंग के कारण ही यह "वर्ण-मंडल" कहलाती है। ग्रहण के समय इसकी ऊपरी सतह से लाल रंग की ज्वालाएँ लपकती हुई दिखलाई पड़ती हैं और एक विशेष यंत्र से इनका फोटोग्राफ बिना ग्रहण लगे भी खींचा जा सकता है। ये ज्वालाएँ 'सूर्योन्नत ज्वालाएँ' कहलाती हैं और विविध आकार की होती हैं।

१६३२ के सर्व-सूर्यग्रहण के समय कॉरोना की छटा

इस समय सूर्य-कलंक लघुतम अवस्था में थे, अतएव कॉरोना में रश्मियाँ समान रूप से चारों ओर फैलने के बदले केवल दो बाजू में दूर तक फैली दिखाई दे रही हैं।
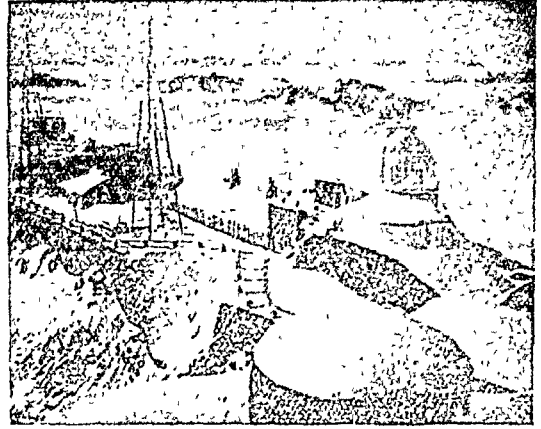
सूर्य के अध्ययन में योग देनेवाली फ्रांस की प्रसिद्ध पिक-दु-माइदी वेधशाला

यह वेधशाला पिरेनीज पर्वतमाला के एक हिमाच्छादित शिखर पर स्थापित है। यहाँ का वायुमंडल इतना स्वच्छ है कि यहाँ से बिना ग्रहण के ही सूर्य के कॉरोना का फोटो खींचा जा सकता है। (बाईं ओर) एक ज्योतिषी दल शिखर पर स्थापित वेधशाला की चढ़ाई कर रहा है। (दाहिनी ओर) वेधशाला का दृश्य।
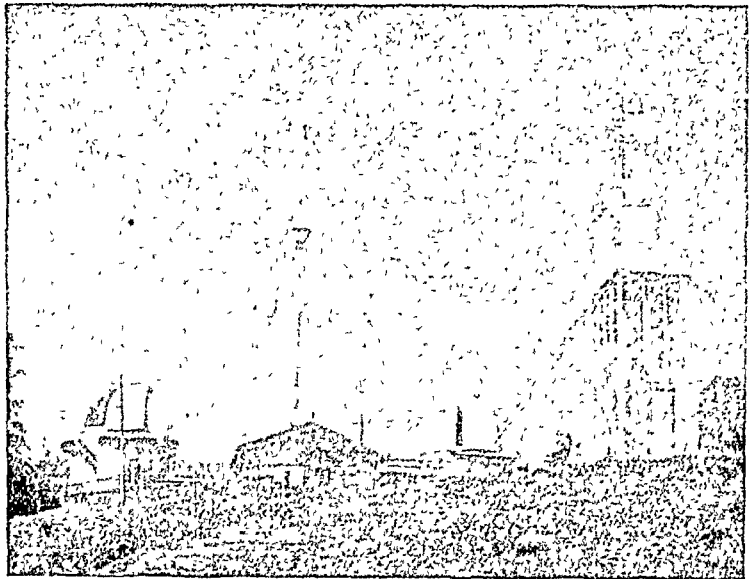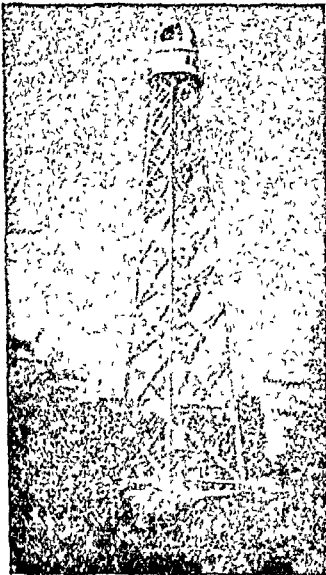
सूर्य के अध्ययन के लिए निर्मित संसार की अन्य दो प्रसिद्ध वेधशालाएँ

(बाईं ओर) अमेरिका की सुप्रसिद्ध 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' में सूर्य का अध्ययन करने के लिए निर्मित डेढ़ सौ फीट ऊँचा अट्टालिका-दूरदर्शक। इसके सिरे पर एक वेधशाला है, जिसमें प्रति दिन सूर्य के फोटो लिये जाते हैं। इस मीनार पर जो दूरदर्शक कैमेरा लगा है, उसके द्वारा सूर्य का साढ़े सोलह इंच व्यास का फोटो लिया जा सकता है। इस वेधशाला में लिये गये सूर्य के कुछ फोटो इस लेख में दिये गये हैं। (दाहिनी ओर) नीलगिरि पर्वतश्रेणी के अंचल में स्थापित भारत की सुप्रसिद्ध कोडईकैनाल वेधशाला, जहाँ सूर्य का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है। चूँकि इंगलैंड, फ्रांस, आदि योरपीय देशों की अपेक्षा हमारे देश में वर्ष के लगभग सभी दिनों में सूर्य दिखाई देता रहता है—वह कदाचित् ही किसी दिन बादलों में छिपकर दिन भर के लिए अंतर्धान हो जाता हो—अतः यहाँ सारे साल भर सूर्य के नियमित फोटो लेने की सुविधायें रहती हैं। इस वेधशाला में भी लिये गये सूर्य के अनेक फोटो इस ग्रंथ में दिये गये हैं।

कुछ ज्वालाएँ शात होती है और कई दिनो तक प्राय: एक-सी बनी रहती है। सौर वायुमंडल मे ये ज्वालाएँ बादल के समान जान पड़ती होगी। अन्य ज्वालाएँ 'उद्गारी ज्वालाएँ' कहलाती है और ये कलंकों के आसपास से उठती है। शांत ज्वालाओ की अपेक्षा ये बहुत अधिक चमकीली होती है और बड़े वेग से ऊपर उठती है। कभी कभी तो ये इतने वेग से उठती है कि घंटे डेढ़ घंटे मे ये पाँच लाख मील ऊपर चली जाती है!

वर्ण-मंडल के बाहर सूर्य का 'कॉरोना' या मुकुट फैला हुआ है। यह अनियमित आकार का होता है और सूर्य के प्रकाश-मडल से बीस पचीस लाख मील ऊपर तक आकाश में फैला हुआ देखा गया है।

सूर्य के सर्वग्रहणों के समय बराबर फोटोग्राफ लेते रहने से इतना पता लगा है कि कॉरोना का स्वरूप भी ग्यारह वर्षीय सूर्य-कलंक-चक्र के साथ बदलता रहता है। कम कलक के समय मे सूर्य की मध्य रेखा के पास कॉरोना की रश्मियाँ लबी और ध्रुवों के पास की रश्मियाँ छोटी होती है। अधिक कलंको के समय कॉरोना का आकार प्राय. गोल रहता है। अभी तक पता नही चल सका है कि ऐसा क्यों होता है।

सूर्योन्नत ज्वालाओं के आकार की पृथ्वी से तुलना

वर्त्तुलाकार काला भाग सूर्य के प्रकाश-मंडल का एक भाग है, जिसमें से ज्वालाए लपलपाती हुई ऊपर उठ रही है। नीचे के काले भाग में सफेद गेंद के रूप मे इसी अनुपात में पृथ्वी का आकार दिखाया गया है।

कॉरोना का घनत्व अति सूक्ष्म होगा। १८४३ मे एक पुच्छल तारा कॉरोना को चीरता हुआ निकल गया था। पुच्छल तारे का वेग उस समय ३५० मील प्रति सैकंड था। इतने प्रचंड वेग से चलने पर भी कॉरोना के कारण पुच्छल तारे को न कुछ रुकावट मालूम हुई और न उसको कोई क्षति ही पहुँची। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक का अनुमान है कि कॉरोना का घनत्व इतना कम है कि प्रत्येक पंद्रह घन गज मे उसमें केवल एक सूक्ष्म कण होगा। वैज्ञानिक अभी तक यह नहीं जान पाये है कि इतना सूक्ष्म होने हुए भी कॉरोना किस प्रकार इतना अधिक चमक सकता है।

सर्व-ग्रहण मे वर्णमंडल और कॉरोना मे लगभग सप्तमी की चाँदनी इतना प्रकाश आता है।

अभी तक कॉरोना का फोटोग्राफ केवल सर्व-सूर्यग्रहण के समय ही खीचा जा सकता था, परन्तु पिछले कुछ वर्षो से प्रोफेसर बरनर्ड लॉयट के द्वारा सुझाई गई रीति से बिना ग्रहण के ही कॉरोना का अच्छा फोटोग्राफ लेने में सफलता प्राप्त करने की राह खुल गई है। इस रीति से अत्यन्त स्वच्छ ताल से और खूब ऊँचे पहाड़ पर से फोटो लेने में सूर्य का प्रकाश इतना नही बिखरने पाता कि वह कॉरोना को दबा दे। इसलिए अब कॉरोना का फोटोग्राफ प्रति दिन लिया जाने लगा है, जिससे उसके सम्बंध में ज्ञान-वृद्धि की पूरी आशा है।

हाइड्रोजन और कैल्शियम के बादल

ऊपर हम बतला चुके है कि प्रत्येक तत्त्व से उत्पन्न हुआ प्रकाश वर्णपट में पृथक्-पृथक् हो जाता है। अमेरिका के हेल और फ्रांस के डेलाण्डर्स नामक ज्योतिषियों ने एक ऐसा यंत्र बनाया, जिससे वर्णपट की किसी भी वांछित रेखा से सूर्य का फोटोग्राफ लिया जा सकता है। इस यंत्र द्वारा हाइड्रोजन के प्रकाश से लिये गये फोटो में यह स्पष्ट रूप से पता चलता है कि सूर्यबिम्ब पर हाइड्रोजन कहाँ-कहाँ और किस रूप मे है। ऐसे चित्र बड़े सुन्दर जान पड़ते है। इनमें हाइड्रोजन बादल के रूप में सर्वत्र फैली हुई देख पड़ती और सूर्य-कलंकों के पास भँवर सरीखी चक्कर खाती हुई जान पड़ती है। इसी प्रकार कैल्शियम के प्रकाश से लिये गये फोटोग्राफों में कैल्शियम-वाष्प के बादल दिखलाई पड़ते है। ये भी बड़े सुन्दर जान पड़ते है।

सूर्य से विकीर्ण होनेवाली अनाप-शनाप शक्ति का उपयोग यदि किया जा सके तो सदा के लिए ईंधन का सवाल हल किया जा सकता है। यह बात बहुत दिनों से वैज्ञानिकों के माथे में ठनक रही है। हमारे अपने देश की नव-संस्थापित 'राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला' में भी इस संबंध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान-कार्य चल रहा है। पिछले दिनों उक्त प्रयोगशाला ने एक ऐसा चूल्हा तैयार किया है, जो सूर्य से ग्रहण की गई ऊष्मा की शक्ति से खाना पका सकता है। पाश्चात्य देशों में भी इस बारे में अनेक छोटे-छोटे मनोरंजक प्रयोग किये गये हैं। वहाँ सूर्य की शक्ति से रेडियो चलाये जाने लगे हैं और छोटे डायनमो चलाकर कम मात्रा में बिजली पैदा करने के भी सफल प्रयोग हुए हैं।

प्रशान्त चंद्रमा

आकाशीय पिण्डों में सूर्य के बाद हमारा ध्यान सबसे पहले चंद्रमा की ओर आकर्षित होता है, क्योंकि सूर्य के बाद वही हमें सबसे बड़ा और प्रकाशमय दिखाई देता है। आइए, इस लेख में देखें कि आधुनिक विज्ञान हमारे इस अद्भुत पड़ोसी के संबंध में क्या-क्या बातें बताता है।

जब से मनुष्य ने होश सँभाला है, तभी से वह आश्चर्य करता रहा है कि चंद्रमा क्या है! इसके अनुपम सौंदर्य से, शीतल प्रकाश से, वह आरंभ से ही इस पर मुग्ध हो गया था। कवियों ने अनेक प्रकार से चंद्रमा का गुण गाया है, परंतु ज्योतिषियों के लिए यह सदा ही पहेली-सा रहा है। क्यों यह घटता-बढ़ता है और क्यों इसमें कभी-कभी ग्रहण लगता है, इसका पता तो आज से दो हजार वर्ष पहलेवाले ज्योतिषियों को भी लग गया था, परंतु इसमें जो काले-काले धब्बे दिखलाई पड़ते हैं, वे क्या हैं, इसका पता तब तक न चला, जब तक दूर-दर्शक यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ। चंद्रमा की गति के संबंध में तो अभी तक भी खोज हो रही है। आज के ज्योतिषी भी ठीक-ठीक नहीं बतला पाते कि किस क्षण ग्रहण लगेगा—कुछ सेकंड का अंतर रह ही जाता है! अभी तक भी पक्का पता नहीं है कि चंद्रमा के पहाड़ों और ज्वालामुखों की उत्पत्ति कैसे हुई।

परंतु आधुनिक दूरदर्शक और गणित की सहायता से चंद्रमा के बारे में हम बहुत-सी बातें निश्चित रूप से जानते हैं। हमें ठीक पता है कि चंद्रमा की दूरी, नाप, तौल आदि क्या है; वहाँ के पहाड़ों और गड्ढों की क्या आकृति है; वहाँ का ताप, वायुमंडल आदि कैसा है!

दूरी, आकार, आदि

समस्त आकाशीय पिंडों में चंद्रमा ही हमारे सबसे निकट है। इसकी औसत दूरी ढाई लाख मील से कुछ कम है। आधुनिक हवाई जहाजों का वेग ३०० मील प्रति घंटा से भी अधिक होता है। यदि ऐसा वायुयान शून्य में भी चल सकता, तो हम चंद्रमा तक महीने भर में पहुँच सकते। इधर वैज्ञानिक ऐसे रॉकेटों को बनाने में लगे हैं, जिनमें द्रव ईंधन जलाया जायगा। जिस शक्ति से आतिशबाजी की चरखी नाचती है, या बाण ऊपर भागता है, उसी शक्ति से संचालित होकर ये रॉकेट भी चंद्रमा या अन्य ग्रहों तक जा सकेंगे। जब से सोवियत रूस ने पृथ्वी के आस-पास घूमनेवाला उपग्रह छोड़कर एक नये युग का उद्घाटन किया है, तब से इस बात की पक्की आशाएँ बँधी हैं कि मनुष्य निकट भविष्य में चंद्रमा पर पहुँच जायगा!

नाप में भी चंद्रमा अपेक्षाकृत बहुत छोटा है। इसका व्यास लगभग २१६० मील है। उनचास चंद्रमाओं को पिघलाकर एक गोला बनाने पर कहीं पृथ्वी के बराबर पिंड बन सकेगा। पृथ्वी के पत्थरों की अपेक्षा चंद्रमा के पत्थर हलके हैं। औसत अनुपात पाँच और तीन का है। इस प्रकार नाप के हिसाब से चंद्रमा को पृथ्वी की अपेक्षा जितना हलका होना चाहिए, वस्तुतः उससे वह कहीं अधिक हलका है। इक्यासी चंद्रमाओं को मिलाने पर ही पृथ्वी के समान भारी पिंड बन सकेगा। इसलिए वहाँ की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति यहाँ की अपेक्षा बहुत कम होगी। जो वस्तु यहाँ तौल में एक मन जान पड़ती है, वह वहाँ पौने सात सेर की ही जान पड़ेगी!

चंद्रमा की पीठ किसी ने नहीं देखी है

पाठशालाओं में सभी ने पढ़ा होगा कि चंद्रमा स्वयं नहीं चमकता। इसके जिस भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है, वही हमें दिखलाई पड़ता है। यही कारण है कि चंद्रमा में कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश चंद्रमा के केवल आधे भाग को ही एक बार में प्रकाशित कर सकता है। जब हम उस प्रकाशित भाग को पूरा देखते हैं, तब

पूर्णिमा होती है। जब हमें प्रकाशित भाग बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ता है, तब अमावस्या होती है। इसी प्रकार प्रकाशित और अप्रकाशित भागों के न्यूनाधिक मात्रा में दिखलाई पड़ने पर द्वितीया आदि कलाएँ दिखाई देती हैं।

परंतु बहुत कम लोगों ने ही इस पर ध्यान दिया होगा कि हम लोग चंद्रमा की पीठ नहीं देख पाते। चद्रमा इस प्रकार घूमता है कि उसका वही एक भाग सदा हमारी ओर रहता है। चंद्रमा के उस ओर क्या होगा, इसका केवल अनुमान ही हम कर सकते हैं, परंतु हमें कोई कारण नहीं ज्ञात है, जिससे यह कल्पना की जाय कि चद्रमा की पीठ उसके मुखमंडल से किसी विशेष बात में भिन्न होगी। चद्रमा पृथ्वी-प्रदक्षिणा करने में सदा एक ही वेग से नहीं चलता। यह कभी औसत से मंद वेग से और कभी तीव्र वेग से चलता है। इसके कारण कभी उसके दाहिनी ओर का भाग, कभी बाईं ओर का भाग, हमें कुछ अधिक दिखलाई पड़ जाता है। इसी प्रकार चंद्रमा के घूमने का अक्ष उसके मार्ग के धरातल से समकोण नहीं बनाता। इसका परिणाम यह होता है कि कभी हमें चन्द्रमा का उत्तरी भाग और कभी दक्षिणी भाग कुछ अधिक दिखलाई पड़ जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर चंद्रमा की पूरी सतह का ५९ प्रतिशत भाग कभी न कभी हमें दिखलाई पड़ जाता है।

दूरदर्शक से क्या दिखलाई पड़ता है?

गैलीलियो ने जब अपने नवीन दूरदर्शक से चन्द्रमा को देखा तो उसे तुरन्त यह पता चल गया कि चन्द्रमा में पहाड़ और गड्ढे हैं। परंतु उसे कुछ काले-काले सपाट भाग भी दिखलाई पड़े, जिनका वास्तविक स्वरूप वह न पहचान सका। उसने समझा कि ये समुद्र हैं और उसी हिसाब से उनका नाम भी रख दिया गया। ये काले भाग ही हमें कोरी आँख से चन्द्र-कलंक के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु यद्यपि इनका नाम अब भी गैलीलियो के अनुसार शांति सागर, वर्षा सागर, रस सागर आदि पड़ा रह गया है, तो भी यह बात पक्की हो चुकी है कि ये समुद्र नहीं हैं। बड़े दूरदर्शकों से देखने पर इनमें कहीं-कहीं गड्ढे और कहीं-कहीं पहाड़ियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इससे स्पष्ट है कि अवश्य ही ये बड़े-बड़े मैदान हैं। इसका निश्चय बड़े यंत्रों से लिये गये फोटोग्राफों को देखकर आप स्वयं कर सकते हैं।

इन तथाकथित काले 'समुद्रों' को कोरी आँख से देखना हो तो सुबह या शाम को चन्द्रमा को ध्यान से देखना चाहिए। ये तब बहुत ही स्पष्ट दिखलाई पड़ेंगे। पृष्ठ ४५९ पर दिये गये नकशे से आप प्रत्येक का नाम भी जान जायँगे।

दूरदर्शक से देखने पर चन्द्रमा में चार तरह की रचनाएँ दिखलाई पड़ती हैं—(१) 'मैदान,' जिनको गैलीलियो ने समुद्र समझा था और जिनकी चर्चा ऊपर की गई है; (२) 'ज्वालामुख,' जो पृथ्वी के ज्वालामुखी पहाड़ों के सदृश्य दिखलाई पड़ते हैं; (३) 'पहाड़', जो पृथ्वी के पहाड़ों के ही समान हैं; (४) 'दरार', जो पहाड़ों या मैदानों के फट जाने से बनी हैं; और (५) वे 'चमकीली धारियाँ', जो कुछ ज्वालामुखों से निकलती हैं और मीलों लम्बी चली गई हैं। यों तो कोरी आँखों से देखने पर काले मैदान ही हमारा ध्यान पहले आकृष्ट करते हैं, परंतु दूर-दर्शक से देखने पर चंद्रलोक

चंद्रमा की दूरी और पृथ्वी से उसके आकार की तुलना

चन्द्रमा पृथ्वी से लगभग ढाई लाख मील दूर है। यदि हम ३०० मील प्रति घंटे की चालवाले वायुयान से उड़कर वहाँ तक पहुँचना चाहते तो पूरा एक महीना चाहिये। यदि १००० मील प्रति घंटे की चालवाले विमान से हम यात्रा करें तो १० दिन में हम वहाँ पहुँचेंगे। दाहिनी ओर पृथ्वी और चंद्रमा के आकार दिग्दर्शित हैं।

के ज्वालामुख ही वहाँ की मुख्य विशेषता जान पड़ते हैं। ये प्रायः सर्वत्र छिटके हुए दिखलाई पड़ते हैं और ठीक चेचक के दाग की तरह के गड्ढे जान पड़ते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि ये छोटे-बड़े सभी नाप के दिखलाई पड़ते हैं। कुछ तो इतने छोटे हैं कि वे बड़े दूरदर्शक से भी मुश्किल से दिखलाई पड़ते हैं और कुछ इतने बड़े कि उनका व्यास १०० मील से भी अधिक होगा! इनकी आकृति फोटोग्राफों में भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। ये थाली के आकार के होते हैं, यद्यपि अक्सर ये ठीक-ठीक गोल नहीं भी होते। बीच में मैदान-सा होता है और चारों ओर ऊबड़-खाबड़ दीवाल, जिसकी ऊँचाई २०,००० फीट तक हो सकती है। बहुत-से ज्वालामुखों के ठीक बीच में एक चोटी भी दिखलाई पड़ती है, परंतु बहुत-से ज्वालामुख ऐसे भी हैं, जिनमें ऐसी चोटियाँ नहीं भी हैं, या उनका लेश-मात्र ही है। छोटे-बड़े सब मिलाकर इन ज्वालामुखों की संख्या ३०,००० से भी अधिक है।

चंद्रमा के पहाड़ रूप में पृथ्वी के ही पहाड़ों के समान हैं; परंतु चंद्रमा के छोटे आकार को ध्यान में रखते हुए वहाँ के पहाड़ों की ऊँचाई अपेक्षाकृत बहुत अधिक है। उदाहरणतः, वहाँ की सबसे ऊँची चोटी लगभग २७,००० फीट ऊँची है, जो हिमालय के उच्चतम शिखर की ऊँचाई से जरा-सी ही कम है! चंद्रमा की सबसे बड़ी पर्वतमाला, जिसे 'अपेनाइन्स' नाम दिया गया है, चार सौ मील लम्बी है।

दरारों में से कई एक तो सैकड़ों मील लंबी हैं। वे पहाड़ों और मैदानों को चीरती हुई निकल गई हैं। भिन्न-भिन्न दिशाओं से धूप पड़ने पर इनके पार्श्वों की परछाइयाँ स्पष्ट बतलाती हैं कि ये दरार ही हैं, जो वहाँ की भूमि फट जाने के कारण बन गई हैं।

चंद्रमा में कलाएँ क्यों होती हैं

सूर्य द्वारा प्रकाशित चंद्रमा का भाग पृथ्वी के मुकाबले में उसकी निरंतर बदलती स्थिति के कारण न्यूनाधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है। इसी से चंद्रमा में कलाएं होती हैं। इस चित्र में भीतरी चक्र में चंद्रमा के प्रकाशित भाग का वास्तविक रूप और बाहरी चक्र में उसी का पृथ्वी से दिखाई पड़नेवाला रूप श्वेत वर्ण का दिखाया गया है।

चमकीली धारियाँ अन्य बातों में तो दरारों की तरह ही हैं, परंतु उन्हें न गड्ढे कह सकते हैं और न उभरे हुए टीले। वे पास की जमीन से न ऊँची हैं और न नीची, क्योंकि उनकी परछाईं नहीं पड़ती। इनकी उत्पत्ति का रहस्य अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम है, परंतु कुछ ज्योतिषियों का मत है कि ये अत्यंत प्राचीन काल में बनी होंगी, जब चंद्रमा का भीतरी भाग पिघली हुई दशा में था। उस समय ऊपर के कड़े भाग में दरारें फटी होंगी, जिनमें पिघला पदार्थ आकर जम गया होगा। संभवतः यह पदार्थ कुछ हलके रंग का रहा होगा, इसी से ये धारियाँ स्पष्ट रूप से अब भी दिखलाई पड़ती हैं। 'टाइको' नाम के ज्वालामुख से जो धारियाँ निकलती हैं, वे बहुत लंबी और स्पष्ट हैं। इनकी चौड़ाई आठ-दस मील है। पूर्णिमा के लगभग ये धारियाँ बहुत अच्छी तरह दिखलाई पड़ती हैं।

नामकरण

चंद्रमा के पहाड़, पहाड़ियों इत्यादि का नाम विचित्र ढंग से रखा गया है। गैलीलियो की बात को सच्ची मानकर पुराने ज्योतिषियों ने काले मैदानों का नाम शांति सागर, वर्षा सागर, प्रशांत सागर, रस सागर, संकट सागर, अमृत सागर, आदि रख दिया। चंद्रमा की दस पर्वत-श्रेणियों में से अधिकांश के वे ही नाम रक्खे गये हैं, जो कि पृथ्वी के पर्वतों के हैं, जैसे अपेनाइन्स, ऐल्प्स, काकेशस इत्यादि। दो-चार पर्वतों को संसार के प्रसिद्ध ज्योतिषियों या गणितज्ञों का का नाम दे दिया गया है, जैसे लाइबनिज, डैलंबर्ट, इत्यादि।

ज्वाला मुखो को प्राचीन और मध्य-कालीन ज्योतिषियों और दार्शनिकों का नाम दे दिया गया है, जैसे प्लेटो, आर्कमिदीज, टाइको, कापरनिकस, केपलर इत्यादि। सैकड़ो छोटे-छोटे ज्वालामुखों को आधुनिक ज्योतिषियों का नाम दे दिया गया है। मालूम नही, भविष्य के ज्योतिषियों को कहाँ स्थान मिलेगा !

यदि हम चंद्रमा पर पहुँच पाते तो हमें कैसा दृश्य दिखाई देता ?

यह चित्र केवल कल्पना के आधार पर बनाया गया है, किन्तु अनुमान किया जाता है कि चंद्रमा की वीरान सतह पर ऐसे ही ऊबड़-खावड पर्वत और भयावने ज्वालामुख फैले होंगे।

चंद्रमा के नक्शे की सहायता से वहाँ के पहाड़-पहाडियों को पहचानने की चेष्टा करते समय ध्यान रखना चाहिए कि अधिकांश नक्शे सुविधा के लिए उलटे बनाये जाते हैं, क्योंकि ज्योतिषियो के दूरदर्शकों मे चीजे उलटी दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार नक्शे में चंद्रमा का दक्षिण भाग ऊपर रहता है। (आकाश मे चंद्र-बिंब का वह बिंदु, जो ध्रुव के निकटतम रहता है, चंद्रमा का उत्तर बिंदु गिना जाता है।)

दूरदर्शक से देखने पर चंद्रमा अत्यंत सुन्दर जान पड़ता है—विशेषकर द्वितीया, तृतीया या चतुर्थी का चंद्रमा। चन्द्रमंडल का वह भाग जो प्रकाशित और अप्रकाशित भाग की संधि पर रहता है, विशेष रूप से सुन्दर जान पड़ता है; क्योंकि वहाँ प्रकाश तिरछी दिशा से आकर पड़ा करता है। अतः वहाँ परछाइयाँ लंबी पड़ती हैं— ठीक उसी तरह जैसे संध्या समय या प्रातःकाल पृथ्वी पर। यदि कभी दूरदर्शक से चंद्रमा को देखने का अवसर प्राप्त हो, तो अवश्य एक बार देखना चाहिए। वह सौंदर्य, जो दूरदर्शक मे दिखलाई पड़ता है, चित्रों में आ ही नही सकता। दूरदर्शक में प्रकाशमय भाग अत्यंत चमकीले, और छायावाले भाग कालिख से भी काले जान पड़ते हैं। इससे दृश्य बहुत ही सुन्दर लगता है। साथ ही सब ब्योरे अत्यंत तीक्ष्ण रूप से स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। ज्वालामुखों की दीवारें और पहाड़ की चोटियाँ करकराती और कोरदार दिखलाई पड़ती हैं; और इस बात पर ध्यान देने से कि वहाँ किधर से प्रकाश आ रहा है और किधर परछाईं पड़ रही है, पहाड़ आदि स्पष्ट रूप से उभरे हुए और ज्वालामुख स्पष्ट गड्ढे-से जान पड़ते हैं। बहुत छोटे-से दूरदर्शक से भी ये बातें देखी जा सकती हैं। इस लेख के साथ बड़े दूरदर्शकों द्वारा लिये गये चंद्रमा के कई सुन्दर फोटो दिये जा रहे हैं।

चंद्रमा के पर्वतों की ऊँचाई

बाईं ओर पृथ्वी की दो पर्वतमालाओं और दाहिनी ओर चंद्रमा की तीन सर्वोच्च चोटियों की ऊँचाई प्रदर्शित है।

चंद्रमा का वायुमंडल

अनुमान किया जाता है कि चंद्रमा पर वायु या जल होगा ही नहीं; यदि होगा भी तो इतनी कम मात्रा में कि उसे नही के बराबर ही समझना चाहिए। इसका पता इस बात से चलता है कि जब चंद्रमा चलते-चलते आकाश में किसी तारे को ढक लेता है तो वह तारा एकाएक छिप जाता है। यदि वहाँ वायुमंडल होता तो तारे का प्रकाश धीरे-धीरे कम होता। वह पहले लाल और फीका पड़ जाता और तब मिटता। इसके अतिरिक्त वहाँ की परछाइयाँ अत्यंत तीक्ष्ण और काली जान पड़ती हैं। यदि वहाँ वायुमंडल होता तो प्रकाश के बिखरने के कारण परछाइयाँ मंद पड़ जाती। फिर अत्यंत सूक्ष्म यंत्रो से नापने पर पता चला है कि धूप में तपने पर वहाँ के पत्थरों का ताप खौलते हुए पानी से भी अधिक हो जाता है। धूप के हटने के एक घंटे के भीतर ही वहाँ अत्यंत ठंढा हो जाता है। रात्रि के मध्य में तो वहाँ इतनी ठंढक पड़ती होगी, जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते। उस समय वहाँ का ताप –१०० डिगरी सेंटीग्रेड हो जाता है। यह सब वहाँ वायुमंडल के न रहने का ही परिणाम है। हमारा वायुमंडल हमको कंबल की तरह बचाता है। यह धूप की प्रचंडता को कम कर देता है और सूर्यास्त होने पर पृथ्वी की गरमी को बाहर नही जाने देता। परंतु चंद्रमा में वायुमंडल के न रहने से धूप अत्यंत प्रचंड होती होगी और फिर रात को बड़ी भयानक सरदी पड़ती होगी।

अनुमान किया जाता है कि चंद्रमा के कम आकर्षण के कारण ही वहाँ का वायुमंडल वहाँ पर टिका न रह सका होगा। प्रत्येक गैस में फैल जाने का स्वभाव होता है, क्योंकि गैस के कण एक-दूसरे से टक्कर खाया करते हैं और बराबर चलते-रहते हैं। इसलिए या तो गैस किसी बंद बरतन में रहे या उस पर किसी पिंड का पर्याप्त आकर्षण रहे, तभी वह रहेगी, नही तो धीरे-धीरे उसके सभी परिमाणु शून्य मे विलीन हो जायँगे।

शुक्ल पक्ष की अष्टमी का चंद्रमा

यह हमारे ही देश की कोदईकैनाल वेधशाला द्वारा लिया गया चंद्रमा का एक फोटो है। प्रकाशित और अप्रकाशित भाग की संधि पर चेचक के दाग जैसे ज्वालामुख कितने सुंदर दिखाई दे रहे हैं! (फोटो—कोदईकैनाल वेधशाला की कृपा से प्राप्त।)

क्या चन्द्रलोक में पानी है?

एक प्रसिद्ध आधुनिक ज्योतिषी का मत है कि अब भी चंद्रमा मे कही-कही इतना पानी है कि वहाँ काई या इसी प्रकार की कोई अन्य वनस्पति उग सके, क्योंकि बहुत ध्यान से चन्द्र पृष्ठ को बड़े दूरदर्शक से देखते रहने पर कही-कही रंग बदलता-सा जान पड़ता है। इस ज्योतिषी का कहना है कि इन स्थानों में वहाँ कुछ वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है और १४ दिन के भीतर ही वे पनपती हैं, बढती है, और मर जाती है। सूर्य की गरमी पाने पर ये क्रियाएँ आरम्भ होती है। सूर्यास्त होने पर, जब सब पानी जम जाता होगा, ये पौधे मर जाते होंगे। ये सब बातें इतनी सूक्ष्म है कि ठीक-ठीक पता नही चलता कि सच्ची बात क्या है। अन्य ज्योतिषियो का मत है कि रंग

बदलने का भ्रम केवल भिन्न-भिन्न दिशाओं के प्रकाश के पड़ने के कारण होता है।

इस समय संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक माउण्ट पालोमर का २०० इंच व्यास का विशाल यंत्र है (देखिये पृष्ठ ५०-५८)। इससे चन्द्रमा इतना स्पष्ट और परिवर्द्धित दिखलाई पड़ता है, जैसे वह केवल २५ मील की दूरी पर ही हो। संभव है, जब भविष्य में इस प्रकार के अत्यन्त बलवान् यंत्रों से सूक्ष्म रूप से चन्द्रमा की जाँच की जायगी, तो बहुत-कुछ निश्चित रूप से पता चल सकेगा कि असल मे बात क्या है।

ज्वालामुखों की उत्पत्ति

चंद्रमा के गोलाकार गड्ढो को 'ज्वालामुख' नाम इसलिए दे दिया गया है कि वे देखने में बहुत-कुछ ज्वालामुखी पहाडों के सदृश्य होते हैं। परंतु क्या इनका सम्बन्ध कभी ज्वालामुखी पर्वतों से रहा भी है? इस समय तो अवश्य ही चन्द्रमा मे कोई जाग्रत ज्वालामुखी पहाड़ नहीं है। इसका एक प्रमाण यह है कि जब से चद्रमा का अच्छा नक्शा बनना संभव हुआ है, तब से वहाँ पर किसी भी प्रकार का परिवर्तन होते नही देखा गया है। अतः ज्योतिषियो का सिद्धात है कि ये ज्वालामुख उस सुदूर भूतकाल मे बने होगे, जब चद्रमा आज-जैसा ठंडा नहीं था। उस समय चंद्रमा का केवल बाहरी खोल ठंडा हो पाया था। भीतरी भाग पिघला ही था। तब चंद्रमा मे वास्तविक ज्वालामुखी पहाड थे। ज्यों-ज्यों ऊपरी खोल ठंढक के कारण सिकुड़ता गया, त्यो त्यो भीतर का पिघला भाग ऊपर निकल पडा। कम आकर्षण-शक्ति के कारण वहाँ पिघला पदार्थ बहुत ऊँचे तक पहुँच सका। इसी से वहाँ ऊँचे-ऊँचे पहाड़ बन गये। पीछे थोड़ा-बहुत पिघला पदार्थ और निकला। इसी से ज्वालामुख बने। बाद में किसी-किसी छेद में से कुछ पिघला पदार्थ और निकला। इनसे ज्वालामुखो के भीतर की चोटियाँ बन गईं।

परंतु कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि ये ज्वालामुख उल्काओ के कारण बने हैं। पृथ्वी पर जब उल्कापिण्ड गिरते है तो हवा के कारण उनका वेग बहुत कम हो जाता है और वे बहुत-कुछ जल भी जाते हैं। परंतु चंद्रमा पर वायुमंडल के न रहने के कारण उल्काएँ भयानक वेग से आघात करती होंगी और इस प्रकार वहाँ ये ज्वालामुख बन गये होंगे। इस सिद्धांत में कई एक कठिनाइयाँ भी है, जैसे यह कि क्यों कही-कही ज्वालामुख एक पंक्ति में है या अब क्यों नही नवीन ज्वालामुख बनते। परन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि गाढ़े कीचड़ मे ढेला फेंकने से या लोहे की चादर पर गोली मारने से जो गड्ढे बनते हैं, वे भी ठीक वैसी ही आकृति के होते हैं, जैसे चन्द्रमा के ये ज्वालामुख। अत: आश्चर्य नही कि यह सिद्धान्त ठीक ही हो।

चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण

पृथ्वी पर मनुष्य ऊँचाई में ६ फीट ८ इंच और लबान में २६ फीट २ इंच तक कूदने में सफल हुआ है। किन्तु चंद्रमा पर गुरुत्वाकर्षणशक्ति का खिंचाव इतना कम है कि वहाँ हम ऊँचाई में ४० फीट और लबान में १५७ फीट तक कूद लेंगे।

चन्द्रमा की सैर

हम चंद्रमा के बारे में आज के दिन कई बातें इतनी अच्छी तरह से जानते है कि वहाँ के दृश्यों की बहुत-कुछ सच्ची कल्पना हम कर सकते है। मान लीजिए कि भविष्य मे वहाँ पहुँचनेवाला वह रॉकेट विमान, जिसकी कि चर्चा पहले की गई थी, बन चुका है और हमें चन्द्रमा पर पहुँचा देने के लिए तैयार है। खाने-पीने का सामान और गरम कपड़ों के अतिरिक्त हमे अपने साथ गोताखोरों की तरह की वायु के लिए अभेद्य पोशाक और काफी आक्सिजन भी साथ मे ले चलना होगा, जिसमें हम वहाँ साँस ले सकें और हवा के दबाव के अभाव मे हमारी नसें फट न जायें। इस पोशाक को हमें
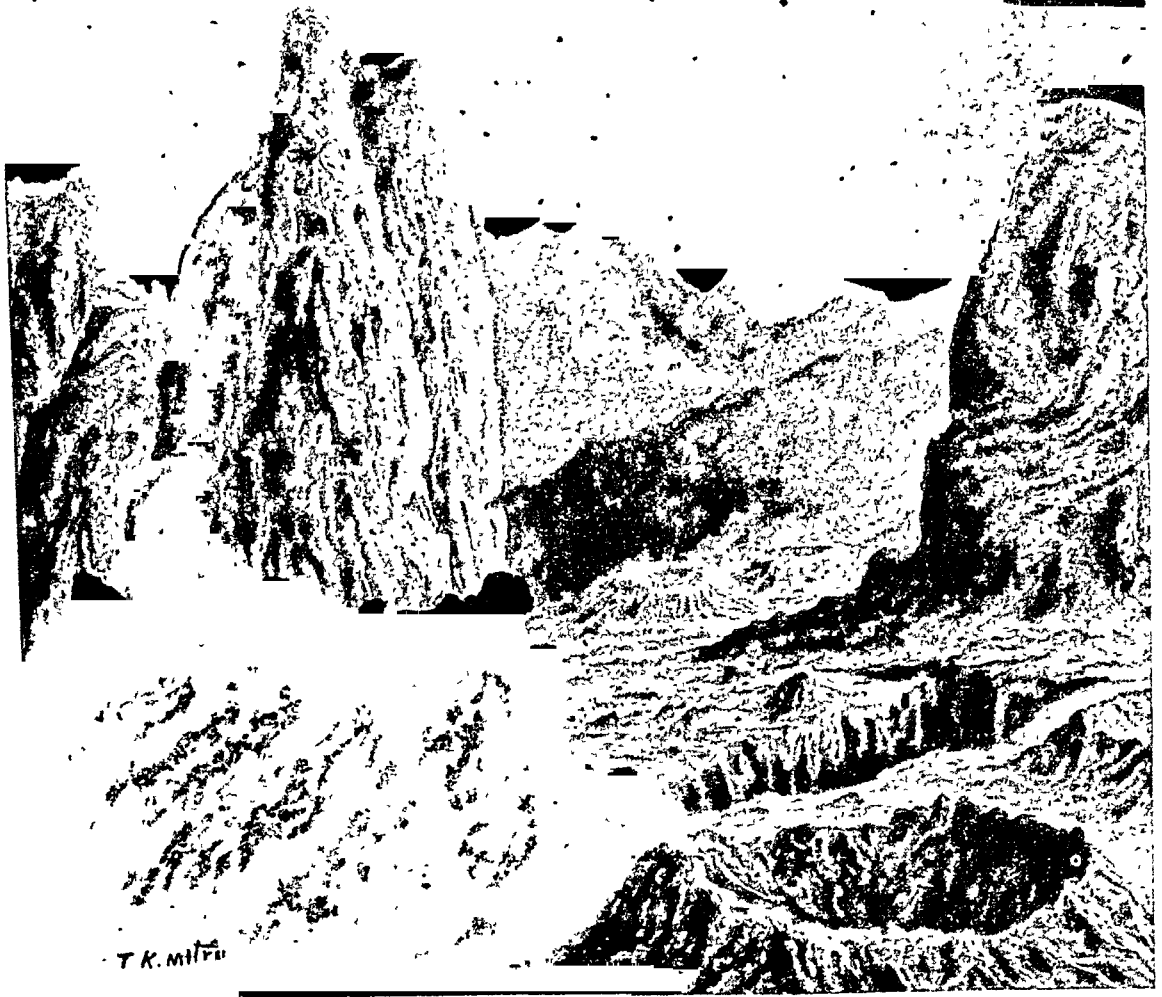
चन्द्रलोक के दृश्य की एक कल्पना

चंद्रमा पर ऐसे ही पर्वत, दरारें और ज्वालामुखी फैले होंगे। पृथ्वी वहाँ से आकाश में ऐसे ही प्रकाशित पिण्ड के रूप में दिखाई देती होगी।

चन्द्रमा—उत्तरी भाग का एक अंश (१५ सितम्बर, १९१९)
(दोनों फोटो 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त)
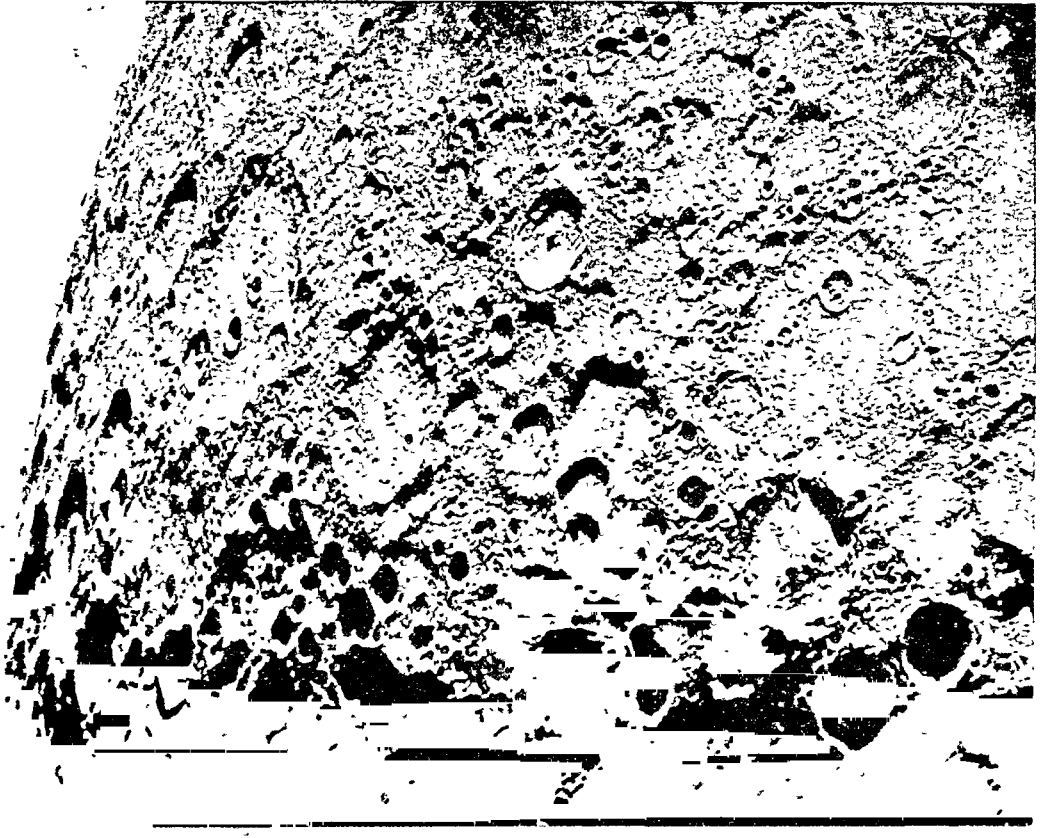
चन्द्रमा—दक्षिणी भाग का एक अंश (सितम्बर, १९१९)
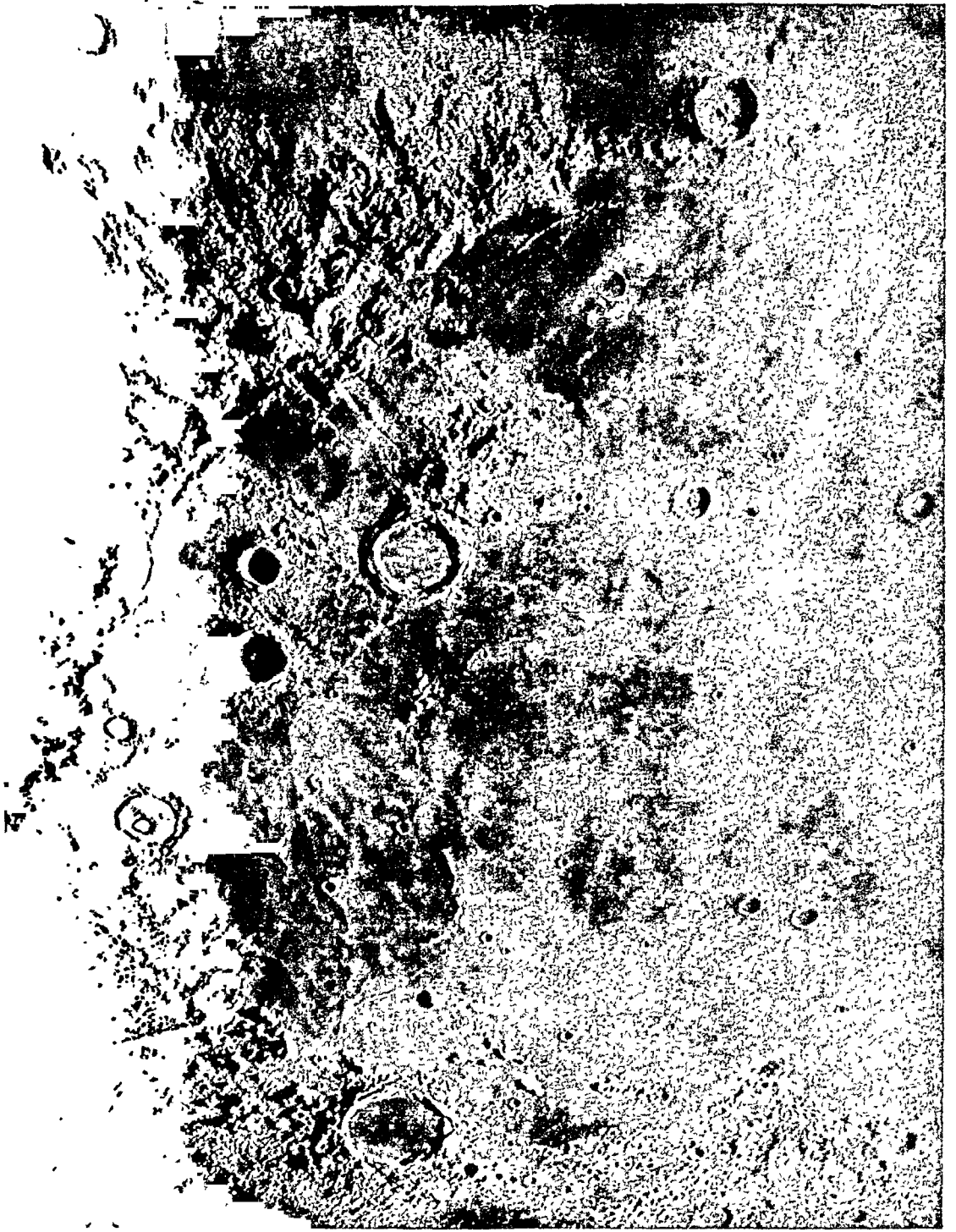
चंद्रमा का उत्तरी मध्य भाग

यह फोटो 'माउण्ट विलसन वेधशाला' के १०० इंच व्यासवाले दूरदर्शक से १५ सितम्बर, १९१९ को लिया गया था। कहीं-कहीं दिखाई दे रहे गोल-गोल-से गड्ढे-जैसे चिह्न ही ज्वालामुख हैं। (फोटो—'माउण्ट विलसन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।)
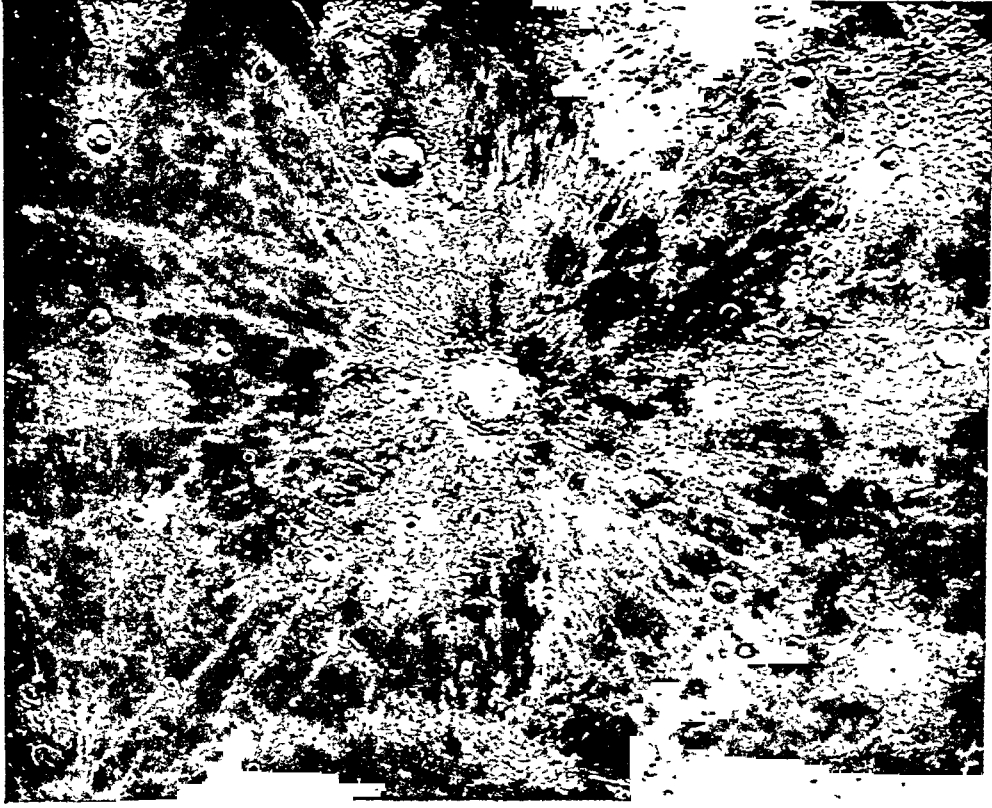
चंद्रमा—कॉपरनिकस के आसपास का प्रदेश (१५ सितंबर, १९१९)
यह भी माउण्ट विलसन के १०० इंच वाले दूरदर्शक से लिया गया चित्र है।
(फोटो—'माउण्ट विलसन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।)
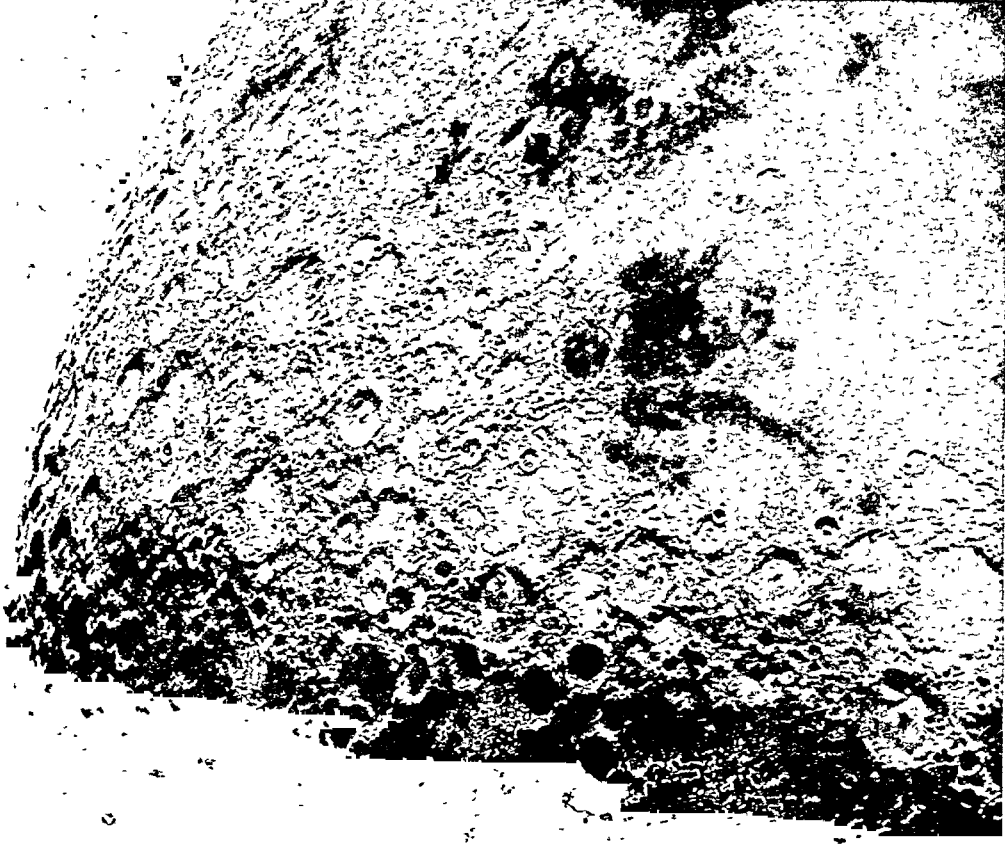
चंद्रमा—टाइको ज्वालामुख के आसपास का प्रदेश (२८ अक्टूबर, १९३७)
(फोटो—'लिक वेधशाला, केलीफोर्निया', की कृपा से प्राप्त।)
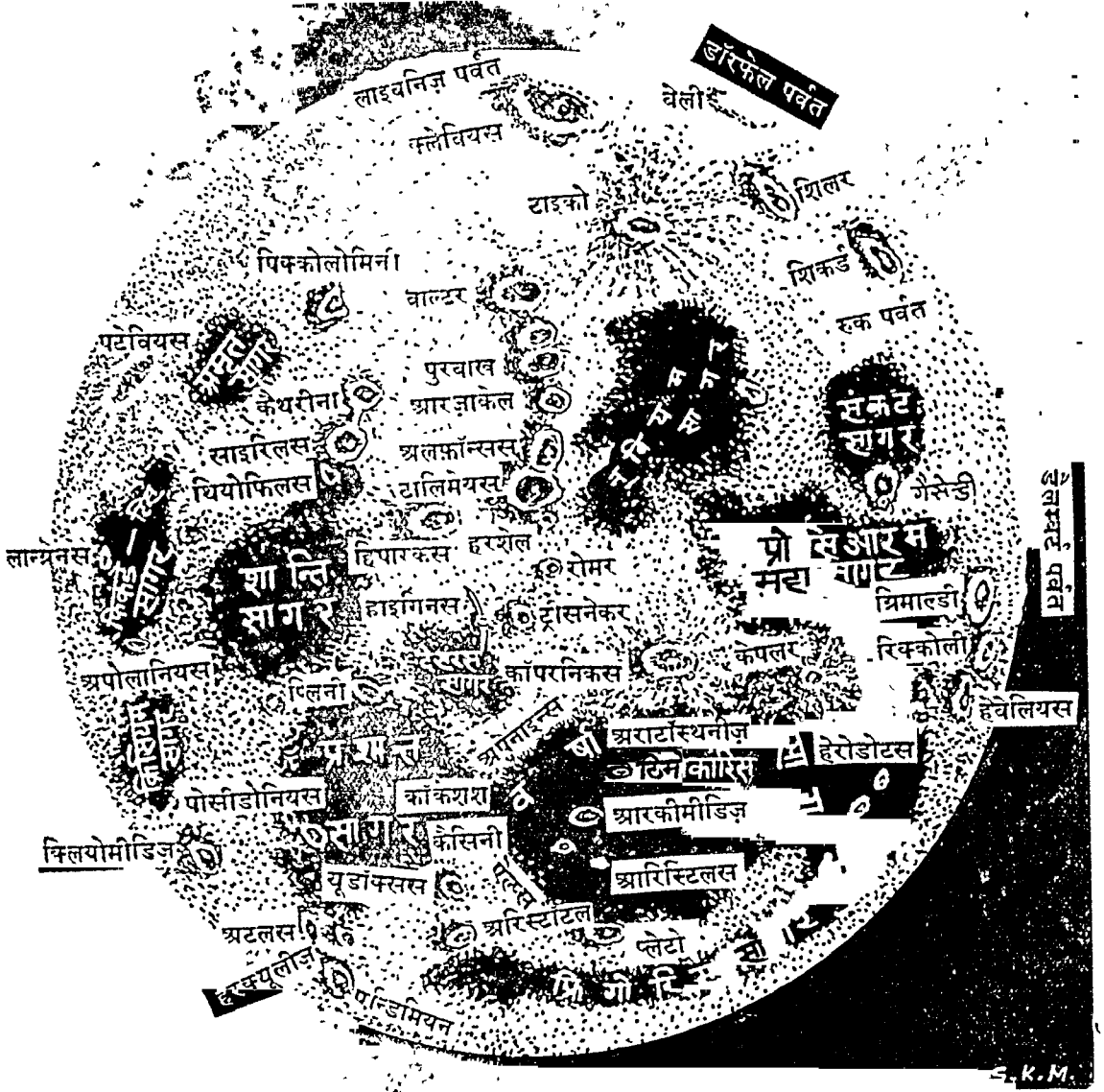
चन्द्रमा का मानचित्र

इस नक़शे में सिरे की ओर चंद्रमा का दक्षिणी भाग और नीचे की ओर उत्तरी भाग दिग्दर्शित है। इसका कारण यह है कि दूरदर्शक में प्रत्येक वस्तु उलटी दिखाई देती है।

यहीं पहन लेना चाहिए, अन्यथा पृथ्वी से कुछ ही मील दूर निकलने पर वायु की कमी के कारण कदाचित् हम बेहोश हो जायँगे।

हमारा राकेट अब चन्द्रयात्रा के लिए रवाना होता है। चंद्रमा हमें अब उत्तरोत्तर बड़ा दिखलाई पड़ रहा है। लो, अब तो चंद्रमा हमें दुगुना बड़ा दिखलाई पड़ रहा है। और यह क्या है? पृथ्वी! यह तो एक बड़े चंद्रमा-सरीखी दिखलाई पड़ रही है! इसमें कलाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं। यह तो चंद्रमा से तेरहगुनी बड़ी जान पड़ती है! कैसा अनुपम दृश्य है! सूर्य अत्यन्त प्रचंड जान पड़ता है, परंतु आकाश इतना स्वच्छ है कि किसी भी वस्तु से सूर्य को आँखों के ओझल करते ही इसका रंगीन और अत्यन्त सुन्दर मुकुट---कॉरोना---भी हमें दिखलाई पड़ रहा है। आकाश में तारे भी निखरे हुए हैं।

लो, आखिरकार हम चंद्रमा के पास पहुँच ही गये। अब हम इसकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। पहाड़ बेतरह भयंकर जान पड़ रहे हैं। जमीन बड़ी ऊबड़-खाबड़ है, पत्थर बड़े कोरदार हैं। जगह-जगह भयंकर दरारें हैं, जिनमें पड़ते ही हमारा विमान कदाचित् पाताल पहुँच जायगा। लो, हमने पूरा चक्कर लगा लिया! यह काला मैदान फिर आ गया। यहाँ उतरने की सुविधा जान पड़ती है। हम उतर रहे हैं। परमेश्वर को धन्यवाद! हम सकुशल उतर तो सके!

इस मैदान में भी एक टीला दिखलाई पड़ रहा है। चलें, देखें कैसा है। परंतु यह क्या? हम लड़खड़ा क्यों रहे हैं? हमारे साथी मित्र इतनी लंबी छलांगे कैसे मार रहे हैं! हिरन भी तो कभी इतनी छलांगें नहीं मार सकता! अच्छा, यहाँ आकर्षण इतना कम जो है। हम भी खूब उछल सकते हैं। पृथ्वी पर हम मुश्किल से पाँच-छः फीट ऊँचा उछल पाते थे। यहाँ तो हम ऊँचाई में ४० फीट और लंबान में १५७ फीट तक कूद सकते हैं!

जब मनुष्य चंद्रमा पर अपना रॉकेट विमान जा उतारेगा

आशा की जाती है कि निकट भविष्य ही में मनुष्य पृथ्वी से चंद्रमा तक जा पहुँचेगा। प्रस्तुत चित्र में चद्रलोक में रॉकेटविमान द्वारा मनुष्य के पदार्पण की कल्पना की गई है।

अरे, मेरे मित्र गूंगे हो गये क्या? या हम ही बहरे हो गये? वे स्पष्ट रूप से मुझे बुलाते हुए जान पड़ते थे, परंतु उनकी बोली मुझे न सुनाई पड़ी! अब दूसरे साथी का ध्यान आकर्षित करने के लिए वह ताली बजा रहे हैं, परंतु कोई शब्द क्यों नहीं हो रहा है? अच्छा, अब समझ मे आया, यहाँ वायु नहीं है। शब्द कहाँ से उत्पन्न हो! शब्द तो वायु की तरंगो के कारण उत्पन्न होता और आगे बढ़ता है। यहाँ तो शून्य ही शून्य है!

धूप से कुछ ही मिनटों में हमारी पोशाक इतनी गरम हो गई कि हम जले जा रहे हैं। चलें, छाँह मे बैठें।

हम बड़ी कठिनाई से एक ज्वालामुख के भीतर पहुँच पाये हैं। कैसा अनुपम दृश्य है! चारों ओर बीहड़ दीवारें हैं। एक ओर तेज धूप पड़ रही है। पत्थर धूप में चमक रहे हैं। दूसरी ओर दीवार की छाया पड़ रही है—एकदम काली! वहाँ खड़े होने से आकाश के तारे दिखलाई पड़ते हैं। साये में आते ही सरदी के मारे कँपकपी लग रही है।

हम ज्वालामुख के बाहर किसी प्रकार निकल आये हैं। अब एक पहाड़ के पास खड़े हैं। कैसा आश्चर्यजनक दृश्य है! ऊँची-ऊँची, करकराती और पैनी चोटियाँ हैं। परंतु कहीं भी बर्फ या जल का नाम नहीं है।

आज ग्रहण का दिन है। सर्व-सूर्यग्रहण है। पृथ्वी तो सूर्य से तेरह गुनी बड़ी दिखाई दे रही है। ग्रहण कई घंटे तक रहेगा। ग्रहण आरंभ हो गया है। परंतु पूर्ण अंधकार नहीं हुआ है। रोशनी लाल हो गई है। पृथ्वी के चारों ओर लाल प्रकाश-मंडल अत्यन्त सुन्दर दिखलाई पड़ रहा है। यह लाल मंडल पृथ्वी का वायुमंडल है। इसी से मुड़कर और बिखरकर प्रकाश लाल हो गया है और इसी के कारण यहाँ पूर्ण अंधकार नहीं होने पाया है।

लो, ग्रहण समाप्त हो गया! अब धूप और छाया फिर पूर्ववत् पड़ रही है।

सुन्दर होते हुए भी कैसा भयंकर दृश्य है! न कहीं जल है, न कहीं वायु। न कहीं पशु है, न कहीं पक्षी। तृण तक नहीं है। एक शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। चन्द्रलोक पूर्णतया प्रशान्त है!

गतिशीलता और शक्ति

विश्व का कण-कण गतिमान् है और प्रत्येक कण में शक्ति है। गति ही पर विश्व का विकास निर्भर है।

प्रायः हम देखते हैं कि कुछ चीजों में गति या हरकत है, तो कुछ चीजें स्थिर पड़ी रहती हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु या तो गतिशील है या स्थिर। कमरे में बैठे हुए हम देखते हैं; घड़ी में सैकंड की सुई टिक-टिक करती हुई बड़े वेग से भाग रही है। खिड़की से बाहर नजर गई, तो आसमान में बादल भागते हुए नजर आये। उधर आफिस भी आप किसी न किसी सवारी में ही जाते हैं। सध्या को मनोरञ्जन के लिए सिनेमा-भवन में गये, तो वहाँ भी चलती-फिरती तस्वीरें ही आपको परदे पर देखने को मिलती हैं। इन सभी चीजों में हम गतिशीलता पाते हैं।

किन्तु संसार की सैकड़ों-हजारों वस्तुएँ स्थिर दशा में भी हमें मिलती हैं। मेज पर रक्खी हुई पुस्तक, कमरे की कुर्सी, आपका मकान, एकदम स्थिर जान पड़ते हैं। पेड़
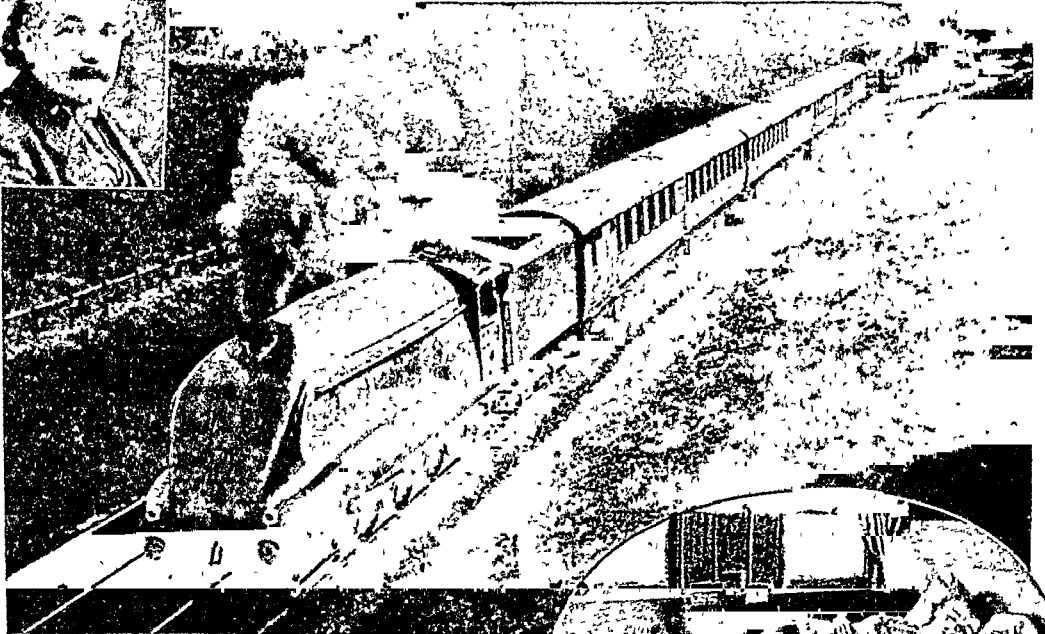
गतिशीलता और स्थिरता आपेक्षिक हैं

मेलट्रेन में आप बिना हिले-डुले खर्राटे की नींद ले रहे हों और ट्रेन प्रति घंटा ५० मील की रफ्तार से दौड़ रही हो तब आप अपने को स्थिर मानेंगे या चलायमान? वास्तव में ट्रेन के लिहाज से आप स्थिर कहे जा सकते हैं, लेकिन धरती के लिहाज से आप ट्रेन ही की तरह गतिमान् हैं। अतएव गति आपेक्षिक है। इस युग के महान् क्रान्तदर्शी गणितज्ञ आइन्स्टाइन (देखिए ऊपर के कोने का चित्र) के सुप्रसिद्ध आपेक्षिकता सिद्धान्त का यह एक मूल नियम है।

की पत्तियाँ हिलती हैं, किन्तु तना स्थिर रहता है; लट्ठे में लगी हुई पताका फरफराती है, किन्तु लट्ठा नही हिलता।

विभिन्न पदार्थों की हरकत से हम अच्छी तरह परिचित हैं—फिर भी गति की समस्या उतनी आसान नही है, जितनी यह जान पडती है। सड़क पर जिस समय आप टहलते हैं, निस्सन्देह आप अपनी गतिशीलता का अनुभव करते हैं, किन्तु जब मेलट्रेन मे आप खर्राटे की नीद ले रहे हों, और सनसन करती हुई ट्रेन ५० मील की रफ्तार से भागती जा रही हो, तब आप अपने को स्थिर मानेंगे या चलायमान? आपको मानना पडेगा कि आप अवश्य चलायमान थे, वरना रात भर में ही लखनऊ से बनारस कैसे पहुँच जाते! मान लीजिए, आपकी गाड़ी के समानान्तर एक दूसरी ट्रेन भी उसी रफ्तार से दौड़ रही है, जिस रफ्तार से आपकी गाड़ी। अब इस दूसरी ट्रेन के मुकाबले में आपकी ट्रेन तो स्थिर ही कही जा सकती है। किन्तु रेल की लाइन के किनारे खड़ा

स्थान-परिवर्तनीय गति

वस्तुओं की गति कई प्रकार की होती है। जब आप पानी में कूदते हैं तो गतिमान् होकर आप एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते हैं। इस तरह की हरकत को 'स्थानपरिवर्तनीय गति' कहते हैं।
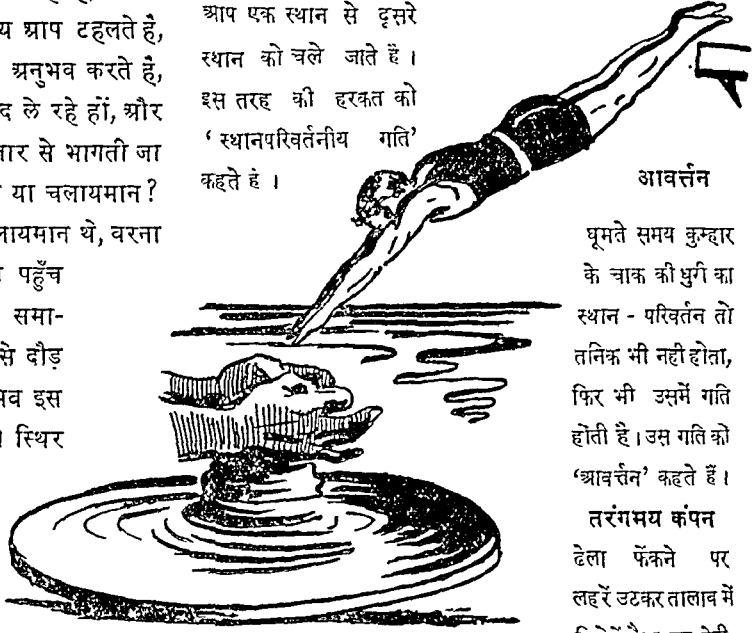
आवर्त्तन

घूमते समय कुम्हार के चाक की धुरी का स्थान - परिवर्तन तो तनिक भी नही होता, फिर भी उसमें गति होती है। उस गति को 'आवर्त्तन' कहते हैं।

तरंगमय कंपन

ढेला फेंकने पर लहरें उठकर तालाब में हिलोरें पैदा कर देती हैं। वास्तव में इन लहरों से पानी का स्थान-परिवर्तन नही होता, वरन् लहरों का आंदोलन-मात्र आगे बढ़ना है। इस तरह की हरकत को 'तरंगमय कंपन' कहते हैं।

वक्र गति

फुटबाल को पैर से मारने पर वह सीधी रेखा में नहीं वरन् एक वक्र रेखा बनाता हुआ गिरता है। यह 'वक्र गति' का उदाहरण है।

अपकेन्द्र या सेंट्रीफूगल शक्ति

आवर्त्तन के समय चीजों में एक शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वे अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती हैं। मेले में लगनेवाली चरखी के घोड़े, कुर्सी आदि का घूमते समय बाहर की ओर तन जाना इसी सेंट्रीफूगल शक्ति का उदाहरण है।
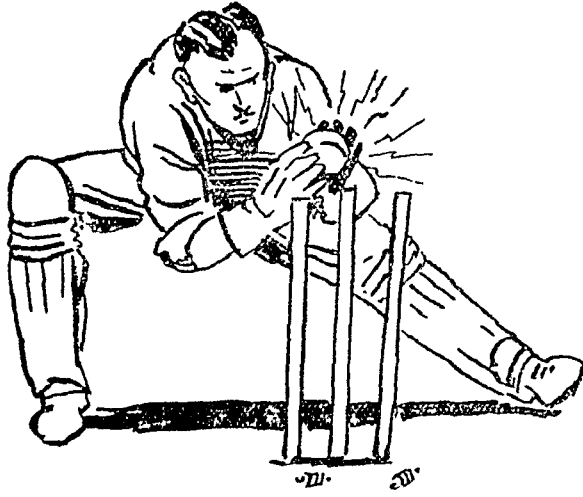
गति से शक्ति की उत्पत्ति

जब क्रिकेट का खिलाड़ी गेंद को मारता है तो वह न सिर्फ गेंद में गति ही बल्कि एक शक्ति भी पैदा कर देता है, जिसका अनुभव सामने का खिलाड़ी गेंद को हाथ से रोकते समय करता है।

इस शक्ति को 'गतिज' या काइनेटिक शक्ति कहते हैं।

हुआ व्यक्ति तो कहेगा कि दोनों ही ट्रेनें ५० मील की रफ्तार से भागी जा रही हैं। डिब्बे के अन्दर बैठे हुए व्यक्ति आपस में एक दूसरे के लिहाज से स्थिर हैं, किन्तु जमीन पर खड़े हुए लोगों की निगाह में तो वे ५० मील की रफ्तार से सफर कर रहे हैं!

यही नहीं, कमरे में निश्चल बैठे हुए आप कहते हैं कि आप एकदम स्थिर हैं, किन्तु ज्योतिषी आपको बताता है कि ऐसी बात नहीं है। आपका मकान पृथ्वी के संग सूर्य के चारों ओर १९ मील प्रति सैकण्ड की गति से परिक्रमा कर रहा है। अतः सूर्य के लिहाज से तो आप, आपका मकान, बल्कि समूची पृथ्वी चलायमान है।

गतिशीलता आपेक्षिक है

इस तरह हम देखते हैं कि गतिशीलता तथा स्थिरता आपेक्षिक शब्द हैं। वस्तुओं की गति का नियमन किसी विशेष पदार्थ के लिहाज से करना होता है। बिना किसी विशेष वस्तु का हवाला दिये हुए हम नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु स्थिर है या चलायमान। साधारण बोल-चाल में चीजों के गति-नियमन के लिए पृथ्वी का हवाला देते हैं, किन्तु आकाशपिण्डों की गति निर्धारित करते समय सूर्य के लिहाज से हम उनकी गति आंकते हैं।

किन्तु सौर परिवार से भी आगे बढ़ने पर हमें पूरी आकाश-गंगा को स्थिर मानकर अनन्त अन्तरिक्ष के नक्षत्रों की गति निकालनी होती है। निरपेक्ष भाव से गति आप आंक ही नहीं सकते। इस युग के महान् गणितज्ञ आइन्स्टाइन के 'आपेक्षिकता सिद्धान्त' का यह एक मूल नियम है।

गति-नियमन की इस पेचीदगी के बावजूद भी आप गतिशीलता के अनेक पहलुओं से अच्छी तरह परिचित हैं। जब आप क्रिकेट के बल्ले को घुमाकर (अर्थात् उसमें एक विशेष गति उत्पन्न करके) गेंद को मारते हैं, तो गेंद चलायमान होकर तेजी से एक ओर दौड़ती है। उसमें गति तो उत्पन्न होती है, साथ ही एक शक्ति भी। क्रिकेट की इस तेज गेंद को जब आप हाथ से रोकते हैं, तो आपके हाथ झनझना उठते हैं। इसी तरह गति के कारण सभी

स्थितिज या पोटेंशियल शक्ति

स्थिर अवस्था में भी प्रत्येक वस्तु में एक शक्ति होती है, जो उसे गतिमान् होने से रोकती है। पहाड़ के ढाल पर छोटे-से पत्थर के अटकाव से रुके विशाल शिलाखण्ड में यही शक्ति निहित रहती है। यदि अटकाव का रोड़ा अलग कर दिया जाय, तो शिलाखण्ड की स्थितिज शक्ति तुरंत गतिज शक्ति में परिणत हो जायगी और वह नीचे लुढ़कने लगेगा।

वस्तुओं में प्रबल शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। गति की बदौलत पैदा हुई इस शक्ति को 'गतिज' या 'काइनेटिक शक्ति' कहते हैं।

गतिशीलता के कारण वस्तुओं मे और भी अनेक नये गुणो का समावेश हो जाता है। एक मोटी जजीर को हाथ में लेकर तेजी के साथ घुमाइये तो जंजीर तनकर एकदम कठोर हो जायगी--मानों वह लोहे का डण्डा हो। ज्योंही रफ्तार कम हुई, वह फिर ढीली पड़ जाती है। पानी को बन्दूक में भरकर लोग साँप को मारते हैं। पानी तेज रफ्तार
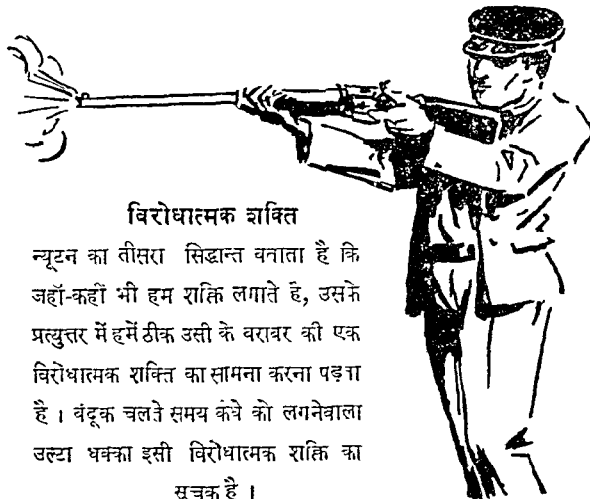
विरोधात्मक शक्ति

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कहीं भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर की एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। बंदूक चलते समय कंधे को लगनेवाला उल्टा धक्का इसी विरोधात्मक शक्ति का सूचक है।

के साथ बन्दूक से बाहर निकलता है, अतः उसमें बहुत ही ज्यादा काइनेटिक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी तरह अगर मोमबत्ती को नली में भरकर बन्दूक दागी जाय, तो लकड़ी के दरवाजे को भी यह मोमबत्ती आसानी से भेद सकेगी, और स्वयं नाममात्र को भी न मुड़ेगी! गति के कारण मुलायम चीजे भी सख्त हो जाती हैं; पर गति कम होने पर वे चीजें फिर मुलायम पड जाती है।

रेल के इंजिन की शक्ति के पीछे भी भाप के अणु-परमाणुओं की हरकत ही काम करती है। भाप के अणु तीव्र गति से सिलिण्डर के अन्दर पिस्टन से टकराते हैं। इन अणु-परमाणुओं की गतिज या काइनेटिक शक्ति के धक्के के कारण पिस्टन आगे-पीछे को हरकत करता है।

चीजो की हरकत या गति कई प्रकार की होती है। आपके हाथ से कलम छूटकर सीधे जमीन पर आ गिरती है। कोट को खूँटी से उतारकर आप बक्स में रख देते हैं। दोनो ही दशाओ में चीजों के स्थान बदल दिये गये। हरकत के बाद ये चीजें पहले से भिन्न स्थान पर पहुँच गई। इस तरह की हरकत को 'स्थान-परिवर्तनीय गति' कहते है। ऐसी हरकत का मार्ग सीधी रेखा भी हो सकता है और वक्र भी। जब आप ढेला फेंकते हैं, तो यहाँ भी स्थान-परिवर्तन होता है, किन्तु ढेला एक वक्र मार्ग का अनुसरण करता है।

अपकेन्द्र या सेंट्रीफ्यूगल शक्ति

जब कुम्हार का चाक घूमता है, तो घूमने में चाक की धुरी का स्थान-परिवर्तन नही होता। इस प्रकार की गति को 'आवर्त्तन' कहते हैं। पृथ्वी भी अपनी धुरी पर इसी तरह घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती हैं। आवर्त्तन में हरकत करनेवाली वस्तु एक ही मार्ग की पुनरावृत्ति करती रहती है। आवर्त्तन के समय चीजों के अन्दर एक 'सेन्ट्रीफूगल शक्ति' उत्पन्न हो जाती है। परिक्रमा करने की गति जितनी तेज हुई, उतनी ही प्रबल यह सेन्ट्रीफूगल शक्ति भी होती है। इस शक्ति के कारण वह वस्तु अपनी वृत्ताकार परिधि से बाहर भाग जाना चाहती है। कार्निवाल में चर्खी जब तेज रफ्तार से घूमने लगती है तो बैठनेवालों की कुर्सियाँ, घोड़े आदि बाहर की ओर इसी सेन्ट्रीफूगल शक्ति के कारण तन जाते हैं।

एक तीसरे प्रकार की हरकत भी हमे देखने को मिलती है। तालाब में ढेला फेंक दीजिए। जहाँ ढेला गिरेगा, वहाँ से लहरे उठकर सारे तालाब मे हिलकोरे पैदा कर देंगी। यदि आप गौर से देखे तो पायेंगे कि इन लहरो के साथ पानी स्वयं एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जाता।

पानी का स्थान-परिवर्तन नहीं होता, वरन् लहरों का आन्दोलन ही आगे को बढ़ता है। जिस समय लहरें आगे को बढती है, पानी की सतह पर तैरता हुआ तिनका केवल नीचे-ऊपर हरकत करता है, लहरों के साथ वह स्वयं आगे नहीं बढता। इस तरह की हरकत को 'तरंग-मय कम्पन' कहते है। सितार के तार मे भी हम इसी तरह का कम्पन उत्पन्न करके वाद्य सगीत का आनन्द लेते है।

गति-संबंधी न्यूटन के सिद्धान्त

किसी प्रकार की भी हरकत क्यों न हो, उसके पीछे कोई-न-कोई शक्ति अवश्य होगी। हरकत न तो अपने आप उत्पन्न ही होती है और न अपने आप गायब। मेज पर से किताब इसलिए गिरती है कि उसे पृथ्वी अपनी ओर आकर्षित करती है और इस आकर्षण को रोकने के लिए कोई अन्य शक्ति इस पर काम नहीं करती रहती है। आप हाथ में थैला लटकाये हैं, थैला स्थिर है। क्योंकि यद्यपि पृथ्वी उसे नीचे की ओर खीच रही है, आप उसके खिलाफ अपनी मासपेशियों की शक्ति लगा रहे हैं। जिस क्षण आप अपनी शक्ति बढ़ा देते है, थैले में हरकत होती है। आप उसे ऊपर को खीच लेते हैं। चीजों की गतिशीलता या स्थिरता दोनों ही उन पर काम करनेवाली शक्तियों पर निर्भर हैं। अत: जब तक अन्य कोई शक्ति दखल न दे, संसार की हर एक वस्तु जिस दशा मे है उसी दशा में पड़ी रहेगी। यदि उसमें हरकत है, तो उसी रफ्तार से सीधी रेखा में वह चलती रहेगी, या यदि वह स्थिर है, तो जब तक कोई शक्ति उसे हिलाती-डुलाती नहीं, वह उसी स्थान पर निश्चल पड़ी रहेगी। न्यूटन ने इस सिद्धान्त की ओर सर्वप्रथम लोगों का ध्यान आकर्षित कराया था। यही न्यूटन का गति-सम्बन्धी पहला सिद्धान्त कहलाता है। निस्सन्देह यह नियम बड़े महत्व का है। बड़ी-से-बड़ी चीज में भी यदि किसी नन्ही शक्ति से हमने हरकत पैदा कर दी, तो वह चीज बगैर अपना रुख बदले उसी रफ्तार से सीधी रेखा मे अनत तक चलती रहेगी—यदि किसी अन्य शक्ति ने उसके साथ रोक-टोक या हस्तक्षेप न किया!

न्यूटन ने गति-सम्बन्धी दो और भी सिद्धान्तों का पता लगाया था। इनमें से एक सिद्धान्त कहता है कि जब हम किसी चीज में गति पैदा करते है, तो वह गति उसी शक्ति के अनुपात मे होती है, जिसके कारण यह गति उत्पन्न हुई है। साथ ही इस हरकत का रुख भी वही होता है, जो इस शक्ति का। यदि शक्ति प्रबल हुई, तो उस चीज की रफ्तार भी उतनी ही अधिक तेज होगी।

न्यूटन का तीसरा सिद्धान्त बताता है कि जहाँ-कही भी हम शक्ति लगाते हैं, उसके प्रत्युत्तर में हमें ठीक उसी के बराबर एक विरोधात्मक शक्ति का सामना करना पड़ता है। इसका रुख पहली शक्ति की ठीक उल्टी दिशा में होता है। बन्दूक चलाते समय जिस समय गोली तेजी के साथ बाहर को निकलती है, उस समय वह बन्दूक को एक जबर्दस्त धक्का भी देती है। बन्दूक के धक्के से कितने ही नौसिखियों के कन्धे की हड्डियाँ टूट चुकी है। किश्ती पर से जब आप कूदते है, तो किश्ती भी आपके धक्के से पीछे को हट जाती है। काई लगे फर्श पर खड़े होकर लदे हुए ठेले को धक्का देकर ढकेलने की कोशिश

वेग-वर्द्धनीयता का एक उदाहरण

दौड़ते समय हम एकदम ही पूरी तेजी से नहीं दौड़ पड़ते, बल्कि धीरे-धीरे वेग बढ़ाते-बढ़ाते हैं। यदि ऐसा न किया जाय तो संवेग के कारण हम लड़खड़ा जाएंगे।

कीजिए। स्वयं आप ही पीछे की ओर फिसलने लगेंगे, क्योंकि जब आप ठेले पर जोर लगाते हैं, तो ठेले की ओर से भी प्रत्युत्तर में आपके ऊपर उसी के बराबर शक्ति काम करती है।

वेग

गति के अध्ययन में हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना होता है। पहले यह कि हरकत कितनी देर तक कायम रही; दूसरे इस दर्मियान में उस वस्तु ने कितना फासला तय किया, और तीसरे उस वस्तु का वेग क्या था।

आम बोलचाल की भाषा में वेग या रफ्तार से हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रति सैकंड या प्रति घण्टा वह वस्तु कितनी दूरी तय करती है। वह वस्तु किस दिशा मे जाती है, इसका विचार वेग निर्धारित करते समय हम नही किया करते। किन्तु विज्ञान की भाषा मे चीजो की रफ्तार के अतिरिक्त वे किस दिशा मे जा रही है, इस बात का भी समावेश रहता है। रस्सी में बाँधकर पत्थर के टुकड़े को घुमाइये। पत्थर का टुकड़ा एक वृत्ताकार परिधि में एक ही ढंग से चक्कर लगायेगा। पर इसका वेग निरंतर बदलता रहेगा; क्योंकि उसका रुख भी रास्ते में बराबर बदल रहा है।

वेग अपरिवर्तनशील और परिवर्तनशील दोनों ही प्रकार का हो सकता है। बैलगाड़ी सारे दिन २ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से सडक पर चलती रहती है। यात्रा के अन्त तक उसके वेग में किसी प्रकार का अन्तर नही आता है। किन्तु रेलगाड़ी स्टेशन से छुटने पर शुरू में बहुत ही धीमी चाल से चलती है, फिर उसकी रफ्तार बढ़ने लगती है, और सिगनल तक पहुँचते-पहुँचते उसका वेग ४०-५० मील प्रति घण्टा हो जाता है। इसके उपरान्त कुछ दूर तक इसी रफ्तार से वह जाती है। फिर दूसरे स्टेशन के समीप जब वह पहुँचती है, तो ड्राईवर ट्रेन की चाल धीमी कर देता है। यदि इस यात्रा में हम स्टॉप-वॉच (एक विशेष प्रकार की घड़ी) लेकर देखें कि जिस वक्त ट्रेन रवाना हुई, तब से दूसरे स्टेशन तक पहुँचने के वक्त तक हर एक सैकड मे ट्रेन की क्या रफ्तार रही, तो कदाचित् हम पायेंगे कि रवाना होने के १२ सेकंड के बाद ट्रेन की रफ्तार ६ फीट, १६ सैकंड के बाद १४ फीट, और २० सैकंड के बाद २२ फीट रही। स्पष्ट है कि ट्रेन की चाल प्रति ४ सैकंड मे ८ फीट बढ़ रही थी, अर्थात् प्रति सैकड २ फीट। रफ्तार की इस घट-बढ़ को हम 'वेग-वर्द्धनीयता' कहते है। दूसरे शब्दों मे वेग-वर्द्धनीयता हमे बताती है कि किसी वस्तु की रफ्तार प्रति सैकंड कितनी बढ़ती या घटती है। वस्तुओं का वेग शनैः-शनैः घट भी सकता है। ट्रेन भी स्टेशन के समीप आते-आते मीलो दूर से ही रफ्तार कम करने लगती है। इस दशा में वेग-वर्द्धनीयता ऋणात्मक माने रखती है—अर्थात् प्रति सैकंड ट्रेन का वेग कितना कम हो रहा है।

जब चीजें जमीन पर ऊँचाई से गिरती है, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण उस वस्तु में हरकत पैदा होती है। पहले सैकंड के अन्त में उस चीज की रफ्तार ३२ फीट प्रति सैकंड होती है; दूसरे सैकड के अन्त में ६४ फीट और तीसरे सैकंड के अन्त मे ९६ फीट प्रति सैकंड। इस तरह पृथ्वी के आकर्षण के कारण उत्पन्न हुई 'वेग-वर्द्धनीयता' ३२ फीट प्रति सैकंड है। अर्थात् प्रति सैकड उस वस्तु की रफ्तार ३२ फीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढ़ती है। इस तरह जब हम किसी चीज को आसमान में लम्बवत् ऊपर को फेंकते है, तो पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति उसे ऊपर जाने से रोकती है। 'वेग-वर्द्धनीयता' इस हालत में ऋणात्मक है। फलस्वरूप वह वस्तु ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ती है, उसकी रफ्तार कम होती जाती है। यहाँ तक कि कुछ ऊँचाई पर पहुँचने पर उसका वेग एकदम शून्य हो जाती है। इसके उपरान्त वह वस्तु नीचे की ओर गिरने लगती है। पहले सैकंड के अन्त में ३२ फीट, दूसरे सैकंड के अन्त मे ६४ फीट——इस तरह प्रति सैकंड इसकी रफ्तार ३२ फीट प्रति सैकंड के हिसाब से बढती है।

पृथ्वी पर सभी वस्तुएँ समान वेग से गिरती हैं

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति सभी वस्तुओ के लिए समान नही है। पदार्थ की मात्रा के अनुसार यह शक्ति भी घटती-बढ़ती रहती है। न्यूटन का गति-सम्बन्धी द्वितीय सिद्धान्त हमें बताता है कि एक-सी हरकत पैदा करने के लिए भारी वस्तुओ में हल्की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक शक्ति लगानी पड़ती है। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति मानों इस सिद्धांत से भली-भाँति परिचित है। अतः हर एक वस्तु के लिए फौरन् ही वह अपनी आकर्षण-शक्ति इस तरह समतुलित कर लेती है कि इस आकर्षण-शक्ति के फलस्वरूप जब उस वस्तु में हरकत पैदा हो, तो उसका वेग हर सैकंड में ३२ फीट प्रति सैकंड ही हो। जान पड़ता है, मानों पृथ्वी के अन्दर एक दानव छिपा हो, जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न मात्रा मे आकर्षण-शक्ति का प्रयोग करता है और सो भी इस अन्दाज़ से कि जब ये वस्तुएँ अपने आप पृथ्वी पर गिरे, तो उन सब का वेग एक-सा हो!

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १६वी शताब्दी

तक लोग इस महान् सत्य से एकदम अपरिचित थे। अरस्तू तथा अन्य दार्शनिकों का विचार था कि समान ऊँचाई पर से गिराने पर हलकी चीजों में भारी चीजों की अपेक्षा कम हरकत पैदा होती है, अतः हलकी चीजें वजनी चीजों की अपेक्षा देर में पृथ्वी पर पहुँच पाती हैं। उनका यों समझना कुछ ऐसा था, जिसका समर्थन हमारे नित्य के अनुभव द्वारा भी होता जान पड़ता है। छत से गिराने पर कागज का टुकड़ा जमीन पर देर में ही पहुँचता है, जब कि पत्थर का ढेला जल्दी। फिर इन प्राचीन दार्शनिकों की आलोचना करने का साहस उन दिनों किसे हो सकता था!

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में इटली के तत्कालीन प्रमुख वैज्ञानिक गैलीलियो ने 'पीजा' के टेढ़े बुर्ज पर खड़े होकर इस नियम की जाँच की। उसने एक ही आकार की भिन्न-भिन्न गेंदें बनवाईं। कुछ भीतर से खोखली थीं और कुछ एकदम ठोस। अतः उनके वजन में काफी अन्तर था। उसने उन गेंदों को जब बुर्ज पर से एक साथ गिराया, तो वे सब-की-सब साथ ही जमीन पर पहुँचीं! इस प्रकार गैलीलियो ने पहली बार एक गलत धारणा से लोगों को छुटकारा दिलाया, अब तक बड़े-बड़े विचारकों के मस्तिष्क पर छाई हुई थी। इस सिलसिले में आप भी एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। एक लम्बा ट्यूब लीजिए और पम्प की सहायता से उसके भीतर की हवा निकाल डालिए—अब ट्यूब के भीतर वैकुअम या वायु-शून्यता पैदा हो जायगी। इस ट्यूब के अन्दर डैने का पंख और लोहे का टुकड़ा दोनों एक ही रफ्तार से नीचे गिरते आप देखेंगे। छत पर से जब एक पत्थर का टुकड़ा और उसके साथ ही साथ एक कागज का टुकड़ा नीचे को गिरता है, तो कागज की गति में वास्तव में हवा के कारण रुकावट पैदा होती है, अन्यथा यह भी पत्थर के टुकड़े की ही गति से नीचे पहुँचते देखा जाता।

पीजा की टेढ़ी मीनार पर से गैलीलियो का गति-संबंधी प्रयोग

एक ही आकार की भिन्न-भिन्न वजन की गेंदें बुर्ज पर से गिराने पर एक साथ एक ही वेग से गिर रही हैं। (बाईं ओर नीचे के चित्र में) गैलीलियो।

गति-संबंधी नियमों का महत्व हमारे लिए केवल इसीलिए नहीं है कि उनसे हमारी ज्ञान-वृद्धि होती है, बल्कि हमारे दैनिक जीवन में भी उनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। साधारण-से-साधारण क्रियाओं में भी हम इन नियमों का अनुसरण करते हैं। न्यूटन द्वारा इन नियमों के प्रतिपादन के बाद भाँति-भाँति के यंत्रों के निर्माण में उनका उपयोग करके वैज्ञानिकों ने चमत्कारिक लाभ उठाया है। गति और उससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति ही पर विविध प्रकार के यंत्रों की क्रिया निर्भर है। इस संबंध में विशेष

बातें हम आगे के अध्यायों में बतायेंगे। यहाँ गति और शक्ति संबंधी कुछ और महत्वपूर्ण बातों का वर्णन कर इस लेख को समाप्त करते हैं।

शक्ति क्या है ?

जैसा हम ऊपर बता चुके है, जब क्रिकेट का खिलाड़ी बल्ले से गेंद को मारता है और उसकी इस हरकत से गेंद दौड़ती हुई मैदान को पार करने लगती है, तब वास्तव में वह गेंद में गति उत्पन्न करने के लिए एक शक्ति का प्रयोग करता है। यह शक्ति क्या है, वैज्ञानिकों ने इसकी तरह-तरह की परिभाषाएँ दी हैं। हमारे विचार में इसका परिचय सबसे सरल रूप मे यों कहकर दिया जा सकता है कि शक्ति पदार्थ या द्रव्य को गति देने की एक प्रवृत्ति है। यह शक्ति द्रव्य में न सिर्फ गति की अवस्था ही मे बल्कि स्थिर अवस्था में भी मौजूद रहती है। शक्ति के इन दो रूपों का 'स्थितिज' और 'गतिज' शक्ति के नाम से हम ऊपर परिचय करा चुके हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सृष्टि में अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं और भिन्न-भिन्न रूप में वे अपने आपको अभिव्यक्त करती रहती हैं, किन्तु एक गुण उन सबमें पाया जाता है; वह यह कि द्रव्य में किसी-न-किसी प्रकार की गति उत्पन्न करने की उन सब में प्रवृत्ति होती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुंबकीय शक्ति, विद्युत् शक्ति आदि सभी शक्तियों में यह विशेषता हम पाते हैं।

शक्ति का नाप—गति-मात्रा या संवेग

अब प्रश्न यह है कि इस तरह की शक्ति का नाप क्या है ? अवश्य ही यदि उसका कोई नाप लिया जा सकता है, तो वह उस शक्ति द्वारा किसी नियत समय में उत्पन्न की हुई गति ही पर निर्भर होगा। इसके लिए हमें गतियुक्त पदार्थ के द्रव्यमान या संहति और उसकी रफ्तार या वेग (विलासिटी) इन दो बातों का नाप लेना होगा। इन दोनों के गुणा करने से उक्त पदार्थ में लग रही शक्ति का परिमाण हम जान सकते हैं। नियत समय में उत्पन्न गति की मात्रा को वैज्ञानिक भाषा में गति-मात्रा या 'मुमेण्टम' कहते हैं। यह गति-मात्रा पदार्थों की गति के वेग और द्रव्यमान के अनुपात में कम-ज्यादा होती है—उदाहरण के लिए ४० मील प्रति घंटे के वेग से चलनेवाली एक ऐसी रेलगाड़ी की गति-मात्रा, जिसमें ४० डिब्बे हों और दो इंजिन जुते हों, उस रेलगाड़ी से दुगुनी होगी, जो उसी वेग से चलती हो, परन्तु जिसमें केवल २० डिब्बे हों और एक ही इंजिन जुता हो। इसी तरह एक व्यक्ति की शक्ति नाव को घुमा सकती है, पर जहाज को टस से मस नहीं कर सकती; यद्यपि दोनों दशाओं में उत्पादित गति-मात्रा समान ही होगी।

"मुमेण्टम" की यह शक्ति अगाध हो सकती है। घाट पर पानी में पैर लटकाये यदि हम बैठे हों और एक मामूली तख्ता साधारण वेग से तैरता हुआ हमारे पैर से आकर टकराए तो हमें कोई विशेष आघात नहीं पहुँचेगा; किंतु यदि उसी वेग से तैरता हुआ एक बड़ा बजड़ा हमारे पैरों से आकर टकराए तो हमारी हड्डियाँ चकनाचूर हो जाएँगी! बिल्कुल धीमी चाल से तैरते हुए दो बर्फ के पहाड़ टकराने पर किसी भी बड़े-से-बड़े जहाज को उसी तरह चकनाचूर कर सकते हैं, जैसे कि हम अपनी चुटकी से मूँगफली के छिलके को तोड़ दें। इसी तरह जब तीव्र वेग से दौड़ती हुई दो रेलगाड़ियाँ टकराकर चूर-चूर हो जाती हैं, तब भी उनके विनाश का कारण उनकी गति-मात्रा ही होती है। यदि १०० टन वजन के दो रेल के इंजिन ६० मील प्रति घंटे की रफ्तार से दौड़ते हुए इस तरह टकराएँ कि एक सैकंड के शतांश भाग में ही उन दोनों की गति रुक जाय तो उनकी टक्कर की गति-मात्रा ५२,८०० टन के लगभग होगी।

वेग संबंधी कुछ तुलनात्मक उदाहरण	
आलोक-रश्मि	१,८६,००० मील प्रति सैकंड
उल्काएँ	१,१४,००० फीट प्रति सैकंड
बंदूक की गोली	१६,०० फीट प्रति सैकंड
बवंडर	१४६ फीट प्रति सैकंड
अबाबील पक्षी	१३४ फीट प्रति सैकंड
मेलट्रेन का इंजिन	१०२ फीट प्रति सैकंड
तीव्रगामी घोड़ा	८० फीट प्रति सैकंड
सायकिल	२४ फीट प्रति सैकंड
नदी की धारा	१३ फीट प्रति सैकंड
तेज चलता हुआ आदमी	६ फीट प्रति सैकंड

न सिर्फ जहाज, रेल आदि भारी चीजों बल्कि बहुत सूक्ष्म वस्तुओं में भी अति तीव्र वेग से गति करने पर प्रचण्ड गति-मात्रा उत्पन्न की जा सकती है। तूफान के समय आँधी की प्रचण्ड शक्ति इसका एक अच्छा उदाहरण है। प्रचण्ड वेग के कारण वायु के सूक्ष्म परमाणुओं में इतनी अधिक शक्ति पैदा हो जाती है कि वह बड़े-बड़े पुलों तक को उखाड़ फेंक सकती है। भाप या अन्य किसी गैस के बल से चलनेवाले इंजिन में भी हम इसी तथ्य की पुनरावृत्ति होते देखते हैं। दबाव के कारण भाप या गैस के अत्यन्त सूक्ष्म अणु-

परमाणुओं में इतनी अधिक गति-मात्रा का उत्पादन हो जाता है कि वह सिलिंडर के भारी पिस्टन को धकेलकर बाहर निकाल देती है, जिससे बड़े-बड़े जहाज या कलें चलने लगती हैं। गति-मात्रा पर विचार करते समय इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि यदि किसी भी पदार्थ की गति का वेग बदलता है, तो उसकी गति-मात्रा भी साथ-ही-साथ उसी अनुपात में घटती-बढ़ती है। हाँ, उस पदार्थ का द्रव्यमान निस्संदेह ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि द्रव्यमान से गति-मात्रा का कोई वास्ता नहीं है। वास्तव में, किसी भी गतिशील पदार्थ की गति-मात्रा उसके द्रव्यमान पर उतनी ही निर्भर है, जितने कि उसके वेग पर।

उत्तोलक और चरखी—यांत्रिक शक्ति की पहली सीढ़ी

पिछले प्रकरण में हम देख चुके हैं कि गति और शक्ति का घनिष्ट संबंध है। इस शक्ति का यांत्रिक गति उत्पन्न करने में जब प्रयोग किया जाता है तो एक विशेष सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है। यह 'लीवर' या उत्तोलक का सिद्धान्त है, जिसका उपयोग हमारे साधारण से काम से लेकर बड़े-बड़े यंत्रों के संचालन में होता है।

हम अपने रोजमर्रा के काम में यंत्रों का प्रयोग करते हैं। सभ्यता के आलोक के साथ मनुष्य ने तरह-तरह के औजारों और यंत्रों से काम लेना सीखा। किसान जमीन खोदने के लिए फावड़े का प्रयोग करता है और गोदाम में कपड़े की गाँठों को लोहे के डण्डे की मदद से एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाते हैं। फावड़ा और लोहे का डण्डा ये दोनों यंत्र ही हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में काम आनेवाली इन चीजों पर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। यंत्र शब्द का प्रयोग साधारणतः हम कारखानों के विशालकाय इंजिनों, खराद की कलों तथा भारी बोझा उठानेवाले क्रेन आदि के लिए ही करते हैं। किन्तु विज्ञान की भाषा में तो प्रत्येक शब्द के नियत अर्थ हुआ करते हैं। यंत्र शब्द से उन तमाम औजारों या मशीनों का बोध होता है, जिनकी सहायता से एक बिन्दु पर शक्ति लगाकर हम दूसरे बिन्दु पर उस शक्ति का असर पैदा कर सकें। यंत्र की यह परिभाषा कितनी व्यापक है, इसका अन्दाजा आपको इस बात से लग सकता है कि एक ओर बुद्धि को चकरा देनेवाली छापे की कलें यंत्र में शामिल हैं तो दूसरी ओर साधारण लाठी भी, जिसके एक सिरे पर गठरी लटकाकर उसे अपने कन्धे पर रखकर देहाती चलता है, एक प्रकार की मशीन या यंत्र ही है! मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों में अन्तर भी यही है कि मनुष्य ने अपने हाथ-पाँव के अतिरिक्त मशीनों से भी काम लेना सीखा। इस तरह उसने अपनी शक्ति बेहद बढ़ा ली, किन्तु पशुओं की कार्यक्षमता उनकी शारीरिक शक्ति तक ही सीमित रही।

संसार की सर्वप्रथम मशीन—लीवर

निस्सन्देह आज जिस ओर हम नजर डालते हैं, हमें तरह-तरह के यंत्र दिखाई देते हैं, किन्तु यंत्रों का विकास हजारों वर्ष की लम्बी अवधि में क्रमशः हुआ है। प्राचीन काल में जब लोगों ने पहले-पहल अपने लिए घर बनाना सीखा, तभी संसार की सर्वप्रथम मशीन का भी शायद जन्म हुआ। वह आदि मशीन थी लकड़ी का सीधा
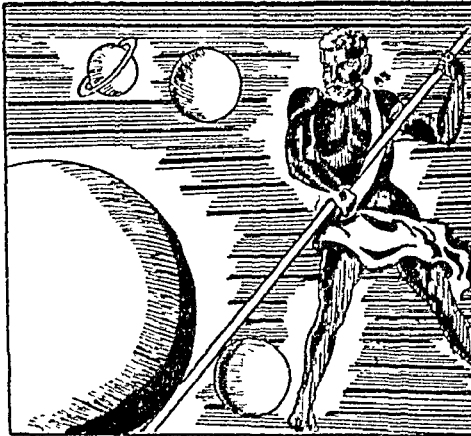
उत्तोलक की महान् शक्ति
(ऊपर) एक डण्डे द्वारा पृथ्वी को घुमा देने की यूनानी दार्शनिक आर्कमिदीज की कल्पना (दे० पृ० ४७१ का मैटर)। (दाहिनी ओर) मनुष्य द्वारा लीवर का सबसे प्रथम प्रयोग।
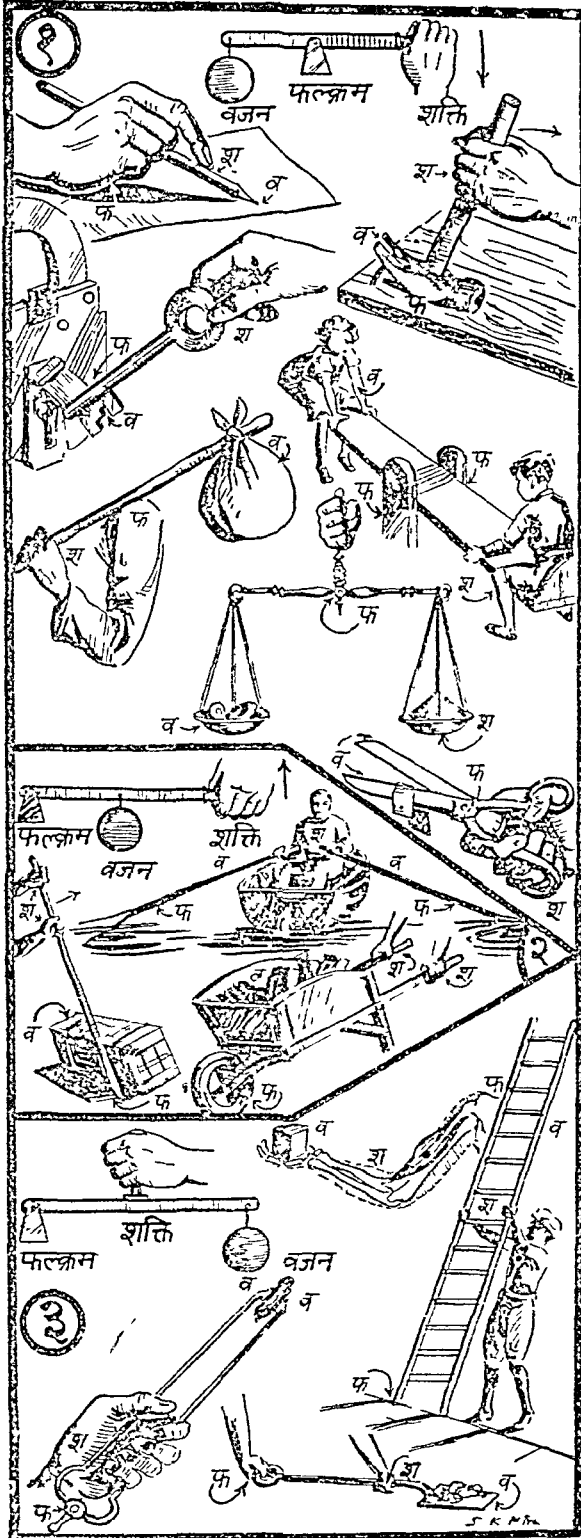
सा डण्डा। लकड़ी के भारी कुन्दे को एक स्थान से दूसरे स्थान को सरकाने के लिए इस डण्डे को जमीन पर टेक देते, और उससे कुन्दे को धकेलते। संसार की इस सर्वप्रथम मशीन को 'लीवर' या उत्तोलक के नाम से पुकारते है। लीवर मशीन का निम्न सिद्धांत है। लीवर को किसी सख्त चीज या टेक पर रखते हैं, फिर उसका अगला सिरा बोझ मे टिका देते हैं। अब खाली सिरे पर जोर लगाने से बोझ भी लीवर की मदद से उठ जाता है। अर्थात् लीवर की परिभाषा हम यों कर सकते हैं कि यह एक सख्त डण्डा है, जो किसी खास बिन्दु पर इस तरह टिका हुआ है कि वह उस बिन्दु के दोनों ओर घूम सकता है। इस बिन्दु को 'फल्क्रम' कहते हैं, और डण्डे के वे भाग, जो 'फल्क्रम' के दोनों ओर हैं, लीवर की 'भुजाएँ' कहलाती है।

प्रथम प्रकार का लीवर

लीवर के भिन्न-भिन्न रूप हमें देखने को मिलते है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि आपके ताले की कुंजी, कैंची, सरौता, कुदाल सभी लीवरों के ही परिष्कृत रूप हैं। इन औजारों के एक सिरे पर हम जोर लगाते हैं और दूसरी जगह पर उनका असर पहुँचता है। साधारण तराजू भी एक प्रकार का लीवर ही है। इसका फल्क्रम डण्डी के बीच में रहता है। डण्डी के दोनों सिरों पर जब बराबर वजन रहता है तो डण्डी किसी ओर नहीं झुकती। एक सिरे पर का वजन दूसरे सिरे पर के वजन को सँभालता है। किन्तु आदिम मनुष्य लीवर की एक और खूबी से भी परिचित थे। यही गुण लीवर की उपयोगिता का प्रधान कारण भी है। उन लोगों ने देखा कि यदि लीवर की भुजाएँ लम्बाई में छोटी-बड़ी रक्खी जाएँ तो लीवर का समतुलन कायम रखने के लिए हमें छोटी भुजा के सिरे पर अधिक शक्ति लगानी पड़ती है और बड़ी भुजा के सिरे पर कम शक्ति।

पार्क के अन्दर बच्चों के झूलने के लिए लकड़ी के झूले बने रहते हैं। इन झूलों में लकड़ी की शहतीर के बीच में एक कीली लगी रहती है। शहतीर इसी

तीनों प्रकार के लीवर के कुछ उदाहरण

१. प्रथम प्रकार (कमल, कुंजी, तराजू, कैंची, झूला, आदि); २. द्वितीय प्रकार (नाव के डाँड, ठेला-गाड़ी आदि); ३. तृतीय प्रकार (चिमटा, सीढ़ी, बेलचा, वजन उठाते समय हमारा हाथ)। चित्रों में **फ** फल्क्रम, **श** शक्ति और **व** वजन को सूचित करता है। हमारे दैनिक जीवन में लीवर के प्रयोग के ऐसे कितने ही उदाहरण पाये जा सकते हैं।

कीली पर नीचे-ऊपर भूलती है। एक ही उम्र के बच्चे शहतीर के दोनों ओर कीली से बराबर दूरी पर बैठकर भूला भूलते हैं। किन्तु यदि एक बच्चे का वजन दूसरे से अधिक हुआ तो बड़ा बच्चा शहतीर के फल्क्रम के समीप बैठता है और छोटा दूर। इस तरह वे दोनों भूले का संतुलन कायम रख सकते हैं।

लीवर का यह सिद्धांत बड़े महत्व का है। लीवर की एक भुजा को लम्बी और दूसरी को छोटी रखकर बहुत भारी वजन को भी थोड़ी-सी शक्ति लगाकर अपनी जगह से हटाया जा सकता है। भुजा जितनी लम्बी होगी, उतनी कम शक्ति हमें बोझा हटाने के लिए लगानी पड़ेगी। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अर्कमिदीज ने एक बार यहाँ तक कह डाला था कि मुझे खूब लम्बा लीवर दीजिए, और एक मजबूत टेक, जिस पर मैं लीवर को टेक सकूँ। बस, मैं पृथ्वी को इस लीवर से डिगा दूँगा (दे० पृ० ४६६ का चित्र)।

लीवर की भुजा और उस पर लगाने के लिए अपेक्षित शक्ति, इन दोनों के परस्पर का सम्बन्ध निम्नलिखित नियम के अधीन है। यदि फल्क्रम के एक ओर की शक्ति और उसकी फल्क्रम से नापी गई दूरी का गुणन फल दूसरी ओर की शक्ति और उसकी फल्क्रम से नापी गई दूरी के गुणनफल के बराबर है तो लीवर संतुलित रहेगा।

द्वितीय और तृतीय प्रकार का लीवर

साधारणतः लीवर का फल्क्रम बीच में रहता है और शक्ति तथा बोझ इस फल्क्रम के दोनों ओर रहते हैं। किन्तु फल्क्रम कभी-कभी लीवर के एकदम किनारे पर रहता है, और शक्ति तथा बोझ दोनों फल्क्रम के एक ही ओर रहते हैं। यह द्वितीय प्रकार का लीवर है। ऐसे लीवर में यदि बोझ फल्क्रम के नजदीक हुआ और शक्ति दूर, तो कम शक्ति से भी भारी बोझ उठाया जा सकता है। किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। कभी-कभी शक्ति फल्क्रम के नजदीक रहती है, और बोझ दूर। यह तीसरे प्रकार का लीवर है। ऐसी दशा में हमें थोड़ा बोझ उठाने के लिए अधिक जोर लगाना पड़ता

पुली के सिद्धान्त के प्रयोग के उदाहरण

कुएँ की साधारण गड़ारी से लेकर भारी से भारी वजन उठानेवाले क्रेन में प्रयुक्त पुली तक सभी प्रकार की चरखियों में परिष्कृत रूप से लीवर का ही सिद्धान्त काम करता है। इसका उदाहरण साइकिल का पैडिल है, जिस पर जितना जोर हम पैरों द्वारा डालते हैं, उससे अधिक जोर जंजीर पर पड़ता है।
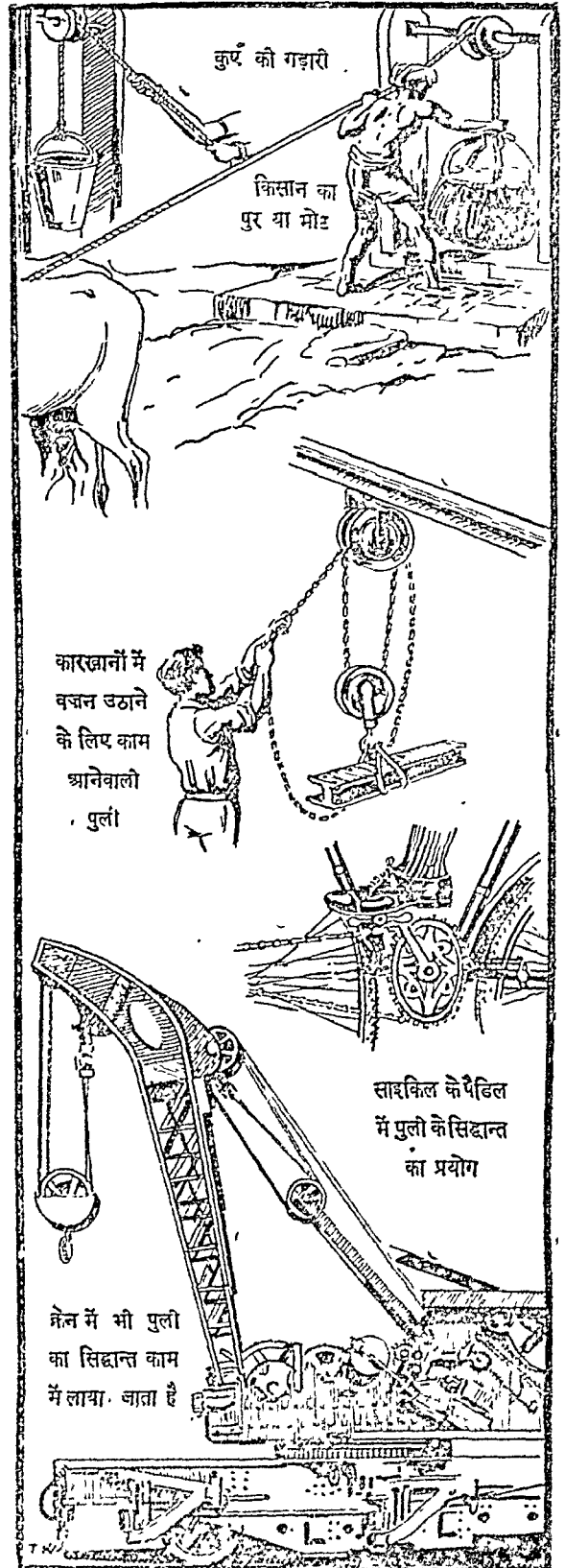
है। किन्तु हर दशा में लीवर पर लगाई गई शक्ति और उसके फल्क्रम की दूरी का गुणनफल बोझ और उसके फल्क्रम की दूरी के गुणनफल के बराबर होता है। लीवर की लम्बी भुजा के छोर पर नन्ही-सी भी शक्ति लगाने पर फल्क्रम के दूसरी ओर छोटी भुजा के छोर पर कई गुनी अधिक शक्ति उत्पन्न होती है।

जिस समय किश्ती पर आप डाँड़ चलाते हैं, आपका डाँड द्वितीय प्रकार के लीवर का काम देता है। डाँड़ का जो सिरा पानी में रहता है, वह उस लीवर का फल्क्रम है। नाव का बोझ डाँड़ के छल्ले पर है तथा आपका जोर डाँड की मुठिया पर पड़ता है। चूँकि आप जिस जगह अपना जोर लगाते हैं, वह फल्क्रम से छल्ले की अपेक्षा अधिक दूर है, अतः कम जोर लगाकर ही आप नौका के भारी बोझ को पानी की सतह पर खींच लेते हैं।

किसी बड़े फाटक को खोलने के लिए यदि आप उसके कब्जे के पास खड़े होकर फाटक मे धक्का दें, तो आपको बहुत जोर लगाना पड़ेगा। यह फाटक यहाँ तीसरे प्रकार के लीवर का काम दे रहा है। फाटक का गुरुत्व-केन्द्र, जहाँ उसका वजन काम कर रहा है, कब्जे (फल्क्रम) से ज्यादा दूर है और आप जहाँ जोर लगा रहे हैं, वह कम दूर।

गड़ारी—लीवर का ही परिष्कृत रूप

लीवर का ही परिष्कृत रूप पहियेवाली गड़ारी है। कुएँ से पानी खीचने के लिए इस गड़ारी का प्रयोग करते हैं। एक बेलन के ऊपर रस्सी लपटी रहती है और इस बेलन के एक सिरे पर एक बड़ा-सा पहिया रहता है, जिसमें दस्ता भी लगा रहता है। पहिये के घुमाने से वह बेलन भी घूमता है और ज्यो-ज्यो बेलन घूमता है, रस्सी इसमें लिपटती जाती और बाल्टी ऊपर को उठती है। इस मशीन में भी लीवर का ही सिद्धांत लागू है।

बाल्टी का वजन और बेलन के अर्द्धव्यास का गुणनफल आपकी शक्ति और पहिये के अर्द्धव्यास के गुणनफल के बराबर होता है। इस प्रकार यदि पहिये का अर्द्धव्यास बेलन के अर्द्धव्यास से ५ गुना अधिक हुआ, तो आप जितनी शक्ति हैन्डिल पर लगायेंगे, उससे ५ गुने भारी वजन को बेलन द्वारा ऊपर खींच सकेंगे। जाँच के लिए आप बड़े पहिये के किनारे पर एक सेर का वजन लटका दीजिये, और बेलन की रस्सी में ५ सेर का। ये दोनों वजन आपकी गड़ारी और बेलन को समतुलित रक्खेंगे।

हमारी सायकिल के पैडिल के पीछे भी यही गड़ारी-वाला सिद्धान्त काम करता है। पैडिल पर जितना जोर हम अपने पैरो द्वारा लगाते हैं, उससे अधिक जोर जंजीर पर पड़ता है, क्योंकि पैडिल की लम्बाई जंजीरवाले पहिये के अर्द्धव्यास से अधिक होती है। मवेशियों के लिए चारा काटने की मशीन मे भी हैन्डिलवाले पहिये का व्यास बहुत बड़ा होता है, ताकि हैन्डिल घुमाने पर उसकी धुरी के पास के भाग पर जोर अधिक पड़े। निस्संदेह गड़ारी और बेलनयुक्त मशीन की ईजाद के पीछे प्राचीनकाल के लोगो ने काफी दिमाग लगाया होगा, क्योंकि साधारण लीवर का काम तो एक मजबूत डण्डे से भी लिया जा सकता है, किन्तु गड़ारी और बेलन के लिए तो एक विशेष यंत्र का निर्माण करना पड़ता है।

पुली या चरखी

गड़ारी के सदृश ही एक दूसरी मशीन पुली है। पुली का प्रयोग अक्सर कारखानो के क्रेन नामक यंत्र में होता है। इसकी सहायता से सैकड़ों मन का बोझा एक बच्चा भी उठा सकता है। पुली का सबसे सादा रूप हमें देहातो के पुर में देखने को मिलता है। पुली के ऊपर से होकर रस्सी गुजरती है। सुविधानुसार आदमी या बैल रस्सी को खींचते हैं और पुली के ऊपर से होकर उनका जोर कुएँ में लटकते हुए डोल पर पड़ता है। इस एक स्थिर पुली की मशीन मे आपको बोझ के बराबर ही जोर लगाना पड़ता है, किन्तु इतना लाभ आपको अवश्य होता है कि आप मनमानी दिशा में अपना जोर लगा सकते हैं।

हम जानते हैं, यदि दो समानान्तर शक्तियाँ एक ही दिशा में काम करती हैं तो उनका असर उनके योग के बराबर होता है। यदि एक पुली के गले में रस्सी पहनाकर उसे हम लटका दें और उसकी धुरी में १० सेर का वजन लट-कायें तो पुली को सँभालनेवाली पुली के ऊपर की दोनो रस्सियों में प्रत्येक पर ५ सेर का बोझ पड़ेगा। इस तरह एक पुली की मदद से हम शक्ति से दूना बोझ सँभाल सकते हैं। यह पुली किसी खास जगह बँधी नहीं रहती, अतएव इसे गतिशील पुली कहते हैं। इस गतिशील पुली को सँभालनेवाली रस्सी का एक सिरा तो ऊपर किसी शहतीर में बँधा रहता है और दूसरा एक स्थिर पुली (जो उसी शहतीर मे जड़ी रहती है) के ऊपर से गुजरता है। गतिशील पुली भार को आधा कर देती है।

पुली हमारे लिए यह सुविधा प्रदान करती है कि बोझे को ऊपर खीचने के लिए हम अपना जोर बजाय ऊपर की दिशा मे लगाने के नीचे की दिशा में लगा सकते हैं।

गतिशील पुली की संख्या बढ़ाकर हम थोड़ी शक्ति से भारी-से-भारी बोझ भी उठा सकते हैं। दो-तीन आदमी आठ-दस पुलियो की सहायता से गर्डर और शहतीरो को

उठाकर ऊँची छतों तक पहुँचा सकते हैं। बड़े शहरों में प्राय: राजगीर वजन उठाने के लिए पुली को काम में लाते हैं। दो पुली का एक ब्लाक ऊपर शहतीर में लगा देते हैं और मजबूत तार द्वारा उसी तरह की दो पुली का ब्लाक नीचे लटकाते हैं। इस नीचेवाले ब्लाक की धुरी में बोझ को फँसा देते हैं। चूँकि नीचेवाली पुली में से होकर ऊपर को तार चार बार गया है, अत. बोझ का वजन भी इन चारों तार पर बराबर-बराबर बँट जायगा। अत: इस मशीन द्वारा मजदूर अपनी शक्ति से चौगुना भारी वजन उठा सकता है। किन्तु यहाँ एक और बात पर ध्यान देना है। यदि तार के आखिरी सिरे को आप अपनी ओर चार इंच खींचेंगे, तो चूँकि तार के चार हिस्से हैं, अत: प्रत्येक हिस्सा केवल एक ही इंच ऊपर को खिंचेगा। अर्थात् नीचेवाली पुली और उससे लटकता हुआ बोझ दोनों केवल १ इंच ऊपर को खिसकेंगे। यही कारण है कि हम देखते हैं कि मिस्त्री तार को खूब तेजी से खींच रहा है, किन्तु बोझा धीरे-धीरे चींटी की चाल से ऊपर को खिसकता है।

क्रेन, जो विशालकाय इंजिनों को भी उठा लेता है, बहुत-सी पुलियों को काम में लाता है। जिस समय क्रेन का इंजिन चालू होता है, पुली का तार बड़ी तेजी के साथ एक बेलन पर लिपटता जाता है, किन्तु नीचे लटकता हुआ बोझा बहुत ही धीरे-धीरे ऊपर को चढ़ता है।

द्रव पदार्थों का दबाव

द्रव पदार्थों का आचरण कई बातों में विशेषता रखता है। आइए, इस संबंध में जानकारी प्राप्त करें।

द्रव पदार्थ ठोस पदार्थों से कई बातों में भिन्न होते हैं। किसी समतल धरातल पर ठोस को रख दीजिए तो वह निश्चल उसी जगह पर टिका रहेगा, जब तक कि कोई अन्य शक्ति उसे हिलाए-डुलाए नहीं। किन्तु द्रव को किसी मेज या फर्श पर गिलास में से उँडेल दीजिए। आप देखेंगे कि फर्श पर चारों ओर वह द्रव फैल जाता है।

ठोस के कण आपस में एक दूसरे से गुँथे हुए रहते हैं, उनके अन्दर आपस की एक जबर्दस्त आकर्षण-शक्ति काम करती है, जो एक कण को दूसरे कण से बाँधे हुए रहती है। द्रव पदार्थों में यह बात नहीं पाई जाती। इनके कणों की आपस की आकर्षण-शक्ति उतनी प्रबल नहीं है, जितनी ठोस के कणों की। इसी कारण द्रव के कण अपने आप एक दूसरे से सटे हुए नहीं रह सकते। इन कणों को बटोर-कर एक साथ इकट्ठा बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि उस द्रव के अगल-बगल हर ओर से आड़ हो, जो इन कणों को निकल भागने से रोक सके। दूसरे शब्दों में, द्रव को टिकाने के लिए बंधन आवश्यक है।

यही कारण है कि दूध, पानी, तेल आदि द्रव पदार्थों को रखने के लिए ऊँची दीवाल वाले बर्तन काम में लाये जाते हैं, जबकि ठोस पदार्थों के लिए छिछली रकाबियाँ ही काम आती हैं। जिन बर्तनों में द्रव पदार्थ रखे जाते हैं, उनकी दीवालें उस द्रव के कणों को बाहर निकल भागने से रोकती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ऐसा करने में उन्हें द्रव के कणों का धक्का सहना पड़ता है। द्रव के कणों का जोर या दबाव बर्तन की दीवालों पर पड़ता है।

हर एक चीज का वजन नीचे की ओर जोर डालता है। मिश्री की एक बड़ी-सी डली हम एक प्याले के अन्दर रख दें, तो मिश्री के वजन
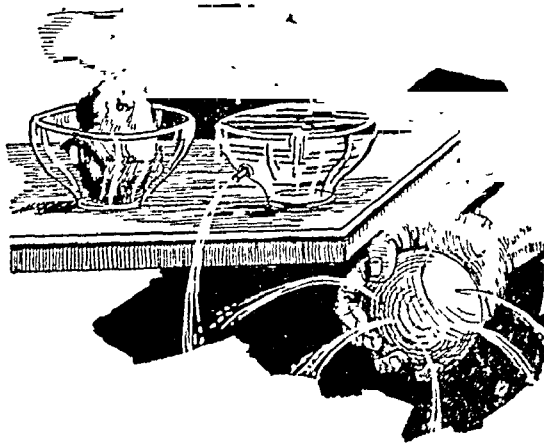
द्रव पदार्थों का अनूठा आचरण

ठोस के कण आपस में बंधे रहते हैं, अतएव वे बर्तन की दीवारों से ऊपर भी उठे रह सकते हैं। द्रव पदार्थों में ऐसी बात नहीं होती, उनके कण निकल भागने की कोशिश करते हैं। दूसरे, ठोस का दबाव केवल नीचे की ओर ही पड़ता है, पर द्रव का चारों ओर समान रूप से पड़ता है, जैसा कि ऊपर के चित्र में पानी से भरी सुराखदार रबर की गेंद को दबाने के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। जोर पड़ने पर पानी की धाराएँ चारों ओर वेग से निकल पड़ती हैं।

का जोर प्याले के पेंदे पर पड़ेगा, किन्तु प्याले की दीवालों पर किसी तरह का जोर न पड़ेगा। अब मिश्री को हटाकर उसी प्याले में दूध भर दीजिए। दूध के वजन का पूरा भार प्याले के पेंदे पर तो पड़ेगा ही, साथ ही उसकी दीवालों पर भी दूध के कणों का जोर पर्याप्त मात्रा में पड़ेगा। प्याले की दीवाल में एक सूराख कर दीजिए तो दूध की तेज धार इस सूराख के रास्ते से बाहर निकलती हुई नजर आएगी। द्रव के कणों की एक दूसरे से पृथक् होकर भागने की यह प्रवृत्ति ही बर्तन की दीवालों को धक्का पहुँचाती है। इस सूराख को गोंद लगे हुए कागज के टुकड़े से यदि बन्द करने का प्रयत्न आप करें तो देखेंगे कि दूध की धार के धक्के से बारंबार यह कागज का टुकड़ा अलग हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि ठोस पदार्थ का दबाव जहाँ केवल नीचे की ओर पड़ता है, वहाँ द्रव पदार्थों का दबाव नीचे तो पड़ता ही है, साथ ही अगल-बगल की ओर भी पड़ता है। इस संबंध में एक और दिलचस्प प्रयोग कीजिए। एक रबर की गेंद में सूराख करके पानी भर लीजिए। अब बारीक सुई से गेंद में चारों ओर पन्द्रह-बीस और सूराख कर डालिए। इस पानी भरी हुई गेंद को जोरों से दबाइए। आप देखेंगे कि ऊपर, नीचे, अगल-बगल के सभी सूराखों से पानी की तेज धाराएँ बाहर निकल रही हैं, और हर सूराख से निकलनेवाली धार का जोर एक-सा ही है। अतएव द्रव पदार्थों का जोर न केवल नीचे और अगल-बगल ही वरन् ऊपर को भी समान वेग से पड़ता है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)।
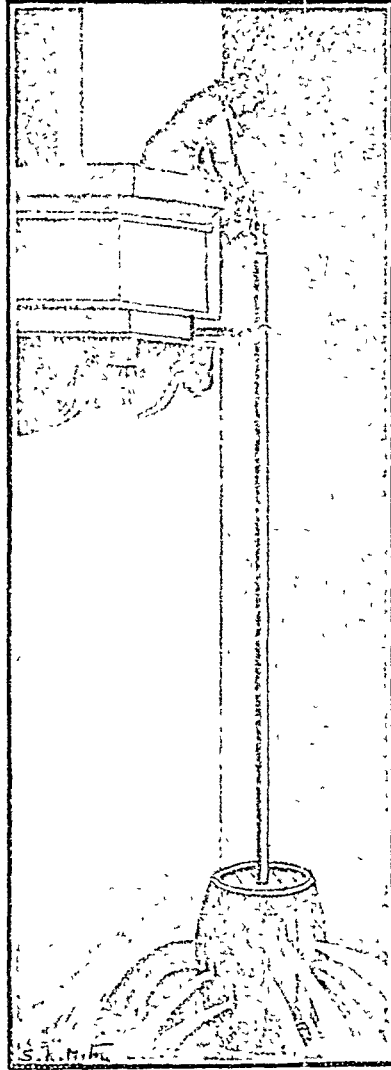
दबाव का अर्थ

किसी भी धरातल के इकाई क्षेत्रफल पर जो जोर पड़ता है, उसे भौतिक विज्ञान की भाषा में दबाव या 'प्रेशर' के नाम से पुकारते हैं। वैसे दबाव का अर्थ लोग किसी धरातल पर लग रहे पूरे भार या धक्के से ही लगाते हैं, किन्तु वैज्ञानिक जब दबाव की बात करेगा तो उसका एकमात्र अभिप्राय यह होगा कि एक वर्ग-सेन्टीमीटर पर कितना जोर पड़ रहा है।

पैस्कल का प्रयोग और द्रव-संबंधी उसके नियम की जाँच

(ऊपर) फ्रेंच दार्शनिक पैस्कल का एक प्रयोग, जिसके द्वारा उसने पानी से भरी हुई एक मजबूत बैरल को, उस पर लगी हुई एक लंबी पतली नली द्वारा पानी पहुँचाकर, फोड़ दिया था। (नीचे) पैस्कल के द्रव-संबंधी नियम की जाँच के लिए प्रयोग। (विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ४७५-४७६ का मैटर।)
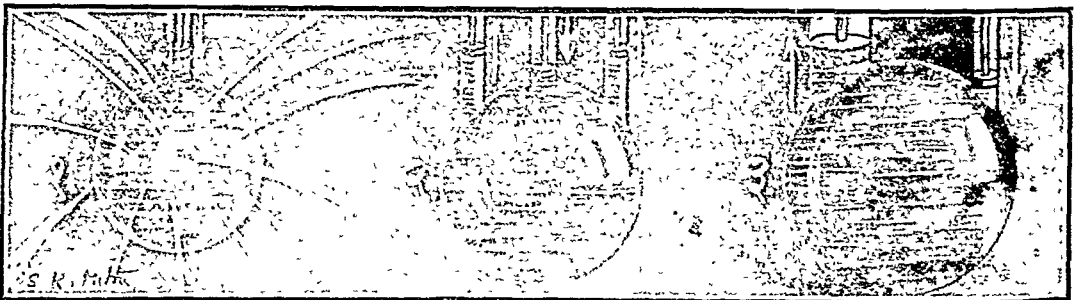
अतः दवाव और समूचे धरातल पर पड़नेवाले तमाम जोर में काफी अन्तर है। अपनी हथेली पर एक आलपिन को खड़ी कीजिए, और उसके सिरे पर एक सेर का बाँट रख दीजिए। फौरन् आलपिन की नोक आपकी हथेली के चमड़े को भेदकर अन्दर घुस जायगी। किन्तु खाली उसी बाँट को जब आप अपनी हथेली पर रख लेते है तो इस हालत मे आपकी हथेली का चमड़ा विंधता नही। यह क्यो ? हथेली के ऊपर दोनो ही हालत में समूचा जोर तो एकसा ही पड़ रहा है; किन्तु पहली दशा मे एक सेर का वजन हथेली के पिन की नोक के बरावर नन्हें-से धरातल पर पड़ रहा था। अतः प्रति वर्ग-इंच के हिसाव से हथेली पर दवाव इस वार ज्यादा था। परंतु दूसरी वार जव वाँट सीधा हथेली के ऊपर रख दिया गया, तो वही वजन एक चौड़े धरातल के ऊपर वँट गया और दवाव प्रति वर्ग-इंच पर पहले की अपेक्षा वहुत कम हो गया। इस कारण दूसरी वार हथेली का चमड़ा पिन से छिदा नही।

दलदल मे फँसे हुए हाथी को लिटाकर तथा उसके शरीर को रस्सी मे वाँधकर दलदल से वाहर खींच लाते है; क्योंकि उसको दलदल के ऊपर लिटा देने से उसके शरीर का सारा वजन एक चौड़े धरातल के ऊपर वँट जाता है। दलदल के ऊपर उसके शरीर का दवाव प्रति वर्ग-इंच कम पड़ता है, और दलदल के अन्दर उसके धँसने की सम्भावना इस प्रकार कम हो जाती है।

यदि किसी ठोस पदार्थ को हम ऊपर से दवायें, तो हमारे दवाने का सारा जोर उस धरातल पर पहुँचेगा, जिस पर वह ठोस टिका हुआ है। ठोस के कण एक दूसरे से घने गुँथे हुए हैं, अतः सवसे ऊपर की सतह के कण पर डाला गया दवाव पेंदे के कण के पास सीधा पहुँचता है। द्रवों के अन्दर ऐसी वात नहीं पाई जाती। द्रव के कण आसानी से हर दिशा में हरकत कर सकते है। अत. किसी भी द्रव की ऊपरी सतह पर यदि हम दवाव डाले तो उसके कण चारों ओर उतने ही दवाव के वेग से भागने का प्रयत्न करेंगे। फलस्वरूप जिस वर्तन में द्रव रखखा होगा उसके पेंदे तथा दीवालों मे, हर जगह उतना ही दवाव पड़ेगा, जितना ऊपरी हिस्से पर पड़ रहा है।

गहराई के साथ पानी के दवाव की वृद्धि

विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ४७६-४७८ का मैटर।

पैस्कल का नियम

प्रसिद्ध फ्रेञ्च विद्वान् पैस्कल ने पहली वार द्रव के इस अनूठे गुण का पता लगाया था कि एक द्रव-राशि के किसी भाग पर यदि दवाव डाला जाय तो यह दवाव उस द्रवराशि के प्रत्येक कोने-कोने में पहुँच जायगा तथा इस दवाव का जोर भी उतना ही होगा, जितना द्रवराशि के ऊपर हमने डाला है। दवाव हर दिशा में पहुँच जाता है, तथा द्रव के धरातल पर यह जोर लम्ववत् पड़ता है।

इस नियम की सचाई परखने के लिए एक गेंद की शक्ल का वर्तन लीजिए। इस वर्तन के मुँह पर एक नली फिट कीजिए, जिसमे पिचकारी की तरह गट्टेवाला एक पिस्टन भी फिट किया गया हो। वर्तन में पानी भरकर गट्टा नली में लगा दीजिए। पिस्टन के ऊपर एक सेर भर का

बाँट रखिये। अब गट्टा पानी को नीचे की ओर एक सेर के वजन से दबाएगा। यही दबाव इस बर्तन की दीवालों पर चारों ओर समान रूप से पड़ेगा। यदि बर्तन मे सूराख चारो ओर किये जाँय, तो उन सभी सूराखो में से पानी की धार समान वेग से निकलेगी। (पृष्ठ ४७४ के निचले चित्र में नं० १)।

ऐसे ही गोल बर्तन में दो गट्टेदार नलियाँ फिट कीजिए। दोनो नलियों का मुँह एक-सा चौड़ा हो। अब यदि एक नली के पिस्टन को सेर भर के वजन से दबायें तो दूसरी नली का पिस्टन अपने आप ऊपर को सेर भर के वजन के बराबर जोर मारेगा। यदि पाँच-छः और नलियाँ इसी प्रकार उस बर्तन मे फिट की जाय, तो प्रत्येक नली के अन्दर पानी सेर भर के वजन के बराबर जोर मारेगा (दे० उक्त चित्र मे नं० २)। यही तक नहीं, बल्कि यदि बर्तन में एक नली के मुँह का क्षेत्रफल १ वर्ग इंच और दूसरी का १० वर्ग इंच हो, तो इस हालत में भी पहली नली पर डाला गया १ सेर दबाव चौड़ी नली के मुँह पर १ सेर दबाव डालेगा (उक्त चित्र में नं० ३)। किन्तु यह दबाव हर एक वर्ग इंच पर है, और चौड़ी नली के मुँह का क्षेत्रफल १० वर्ग इंच है। इसलिए चौड़ी नली के पिस्टन पर कुल जोर १० सेर का पड़ेगा! और यदि चौड़ी नली के मुँह का क्षेत्रफल पतली नली के मुँह से १०० गुना ज्यादा हुआ तो चौड़ी नली के अन्दर १०० सेर का दबाव प्रतीत होगा। हम देख चुके है कि लीवर में भी हम तनिक-सी शक्ति लगाकर भारी बोझ को सँभाल सकते है।

पैस्कल के इस नियम का पूरा फायदा फैक्टरीवालों ने उठाया है। भारी बोझों को कारखानों में गोदाम से ऊपर की मंजिल तक पहुँचाने के लिए पानी के लिफ्ट काम में लाये जाते है, जो पैस्कल के नियम के आधार पर बने है। किन्तु ये लिफ्ट बहुत ही धीमी गति से ऊपर को चढ़ते है। चौड़े मुँह की नली के मुँह का क्षेत्रफल यदि सँकरी नली के मुँह से १०० गुना बड़ा हुआ तो सँकरी नली पर लगाया गया १ सेर का दबाव चौड़ी नली पर १०० सेर के दबाव को सँभाल सकेगा। किन्तु जितनी देर में पतली नली का पिस्टन १ फीट नीचे आयेगा, उतनी देर मे दूसरी नली का पिस्टन केवल $\frac{1}{100}$ फीट ही ऊँचा चढ़ पायेगा। इसीसे ये लिफ्ट कम काम में आते है। रुई की गाँठें दबाने के लिए भी ऐसी मशीनें बनाई गई है, जो केवल पानी के दबाव से ही परिचालित होती है। बड़े-बड़े कारखानों में लोहे की चादरें पीटने के लिए विशालकाय यंत्र भी जल की शक्ति द्वारा संचालित दबाव से ही चलाये जाते है (दे० पृष्ठ ४७८ का चित्र।)

गहराई के साथ दबाव की वृद्धि

द्रव के दबाव के बारे में दूसरी बात जो यहाँ जानना जरूरी है, वह यह है कि द्रव की सतह के नीचे जितनी अधिक गहराई पर हम जायँ, उतने ही ज्यादा ऊँचे द्रवस्तम्भ का भार उस बिन्दु पर स्थित द्रव को सँभालना पड़ता है। अतः द्रव की गहराई के साथ दबाव भी बढ़ता जाता है। यह दबाव केवल द्रव की गहराई पर निर्भर है। बर्तन की शक्ल मे इस दबाव का कोई वास्ता नही। बर्तन के अन्दर कुल कितना द्रव भरा हुआ है, इसका भी द्रव के अन्दर के किसी बिन्दु पर के दबाव पर असर नहीं पड़ता, बशर्ते कि द्रव की गहराई में कोई अन्तर न आये। प्रयोग के लिए, एक ऊँचे टिन के बर्तन मे पानी भर दीजिए, और विभिन्न गहराई पर उसमे कई सूराख समान आकार के बना लीजिए। आप देखेंगे कि पानी की धार सबसे नीचेवाले सूराख से तीव्रतम वेग के साथ और सबसे ऊपरवाले सूराख से बड़ी मंद गति से निकलती है।

दो फीट लम्बी नली में, जिसका मुँह १ वर्ग इंच चौड़ा हो, आप पानी भरिए। इसमे भरे हुए पानी के स्तम्भ का भार लगभग आधा सेर होगा। अतः हौज के अन्दर सतह से दो फीट नीचे प्रति वर्ग इंच के ऊपर आधा सेर का दबाव पड़ता है। ४ फीट की गहराई पर सेर भर और ८० फीट की गहराई पर पूरे मन भर पानी का दबाव पड़ेगा। यदि चौकोर शक्ल की शीशे की एक खाली बोतल मे कार्क लगाकर उसे ६० फीट गहरे पानी मे डाल दिया जाय तो बोतल बाहर के असीम दबाव के कारण ऐसी चूर-चूर हो जायगी, मानो किसी ने बोतल को मुट्ठी मे लेकर उसे निर्दयतापूर्वक मीज दिया हो। द्रव के अन्दर यह दबाव केवल ऊपर ही से नही पड़ता है, वरन् चारो ओर से। पर बोतल मे लगी हुई कार्क पिचककर चपटी नही हो जाती है। चूँकि इसके ऊपर चारो ओर से दबाव समान रूप से पड़ता है, अतः कार्क दबकर आकार मे पहले की अपेक्षा बहुत छोटी हो जाती है (दे० पृष्ठ ४७५ का चित्र)।

गहरे जल मे रहनेवाली मछलियो के शरीर की बनावट प्रकृति ने इस ढंग से गढ़ रक्खी है कि जल के अतिशय दबाव से उनकी हड्डी-पसली चूर-चूर नही हो जाती। उनके शरीर के अन्दर का प्रबल रक्त-प्रवाह बाहर के पानी के दबाव का समतुलन आसानी से कर लेना है। किन्तु ये ही मछलियाँ जब ऊपर पानी की सतह पर लाई जाती है
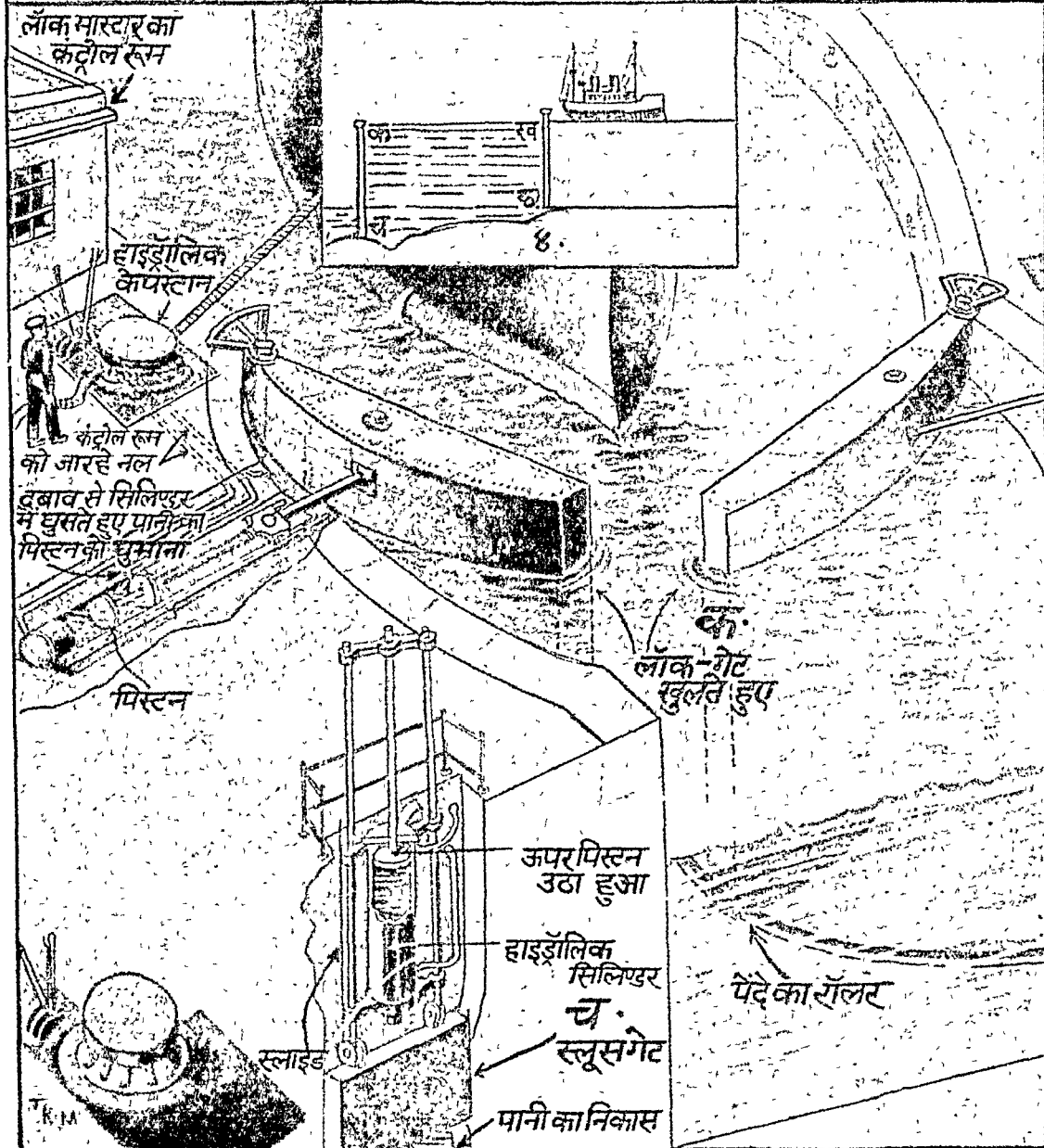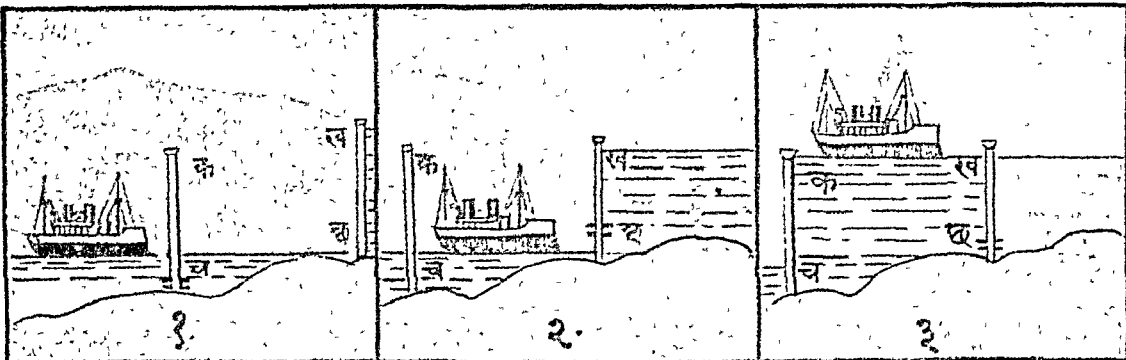
'जल अपना तल स्वयं ढूँढ़ लेता है' इस सिद्धान्त का नहरों में नीचे से ऊँचे तल पर जहाजों को ले जाने में प्रयोग। ऐसी जल-प्रणालियों के लाक-गेट आदि जल के दबाव की शक्ति से ही घुमाये जाते हैं (देखो पृष्ठ ४७८-४७९ का विवरण)

तो पानी के उस जबर्दस्त दबाव के हट जाने के कारण उनके शरीर का रक्त फूटकर बाहर निकल पड़ता है !

इसके प्रतिकूल मनुष्य का शरीर पानी का दबाव सहने का आदी नहीं है। अतः जब गोताखोर लोग गहरे पानी में डुबकी लगाने के लिए उतरते हैं, तो वे सिर पर पीतल का भारी हैट और शरीर पर एक खास प्रकार का खोल धारण कर लेते हैं। समुद्र की सतह पर से ट्यूब द्वारा बराबर उनकी पोशाक के अन्दर हवा धौंककर पहुँचाई जाती है, ताकि अन्दर की यह हवा पानी के बाहरी दबाव का समतुलन कर सके, और गोताखोर के शरीर पर उस दबाव का असर बिल्कुल न पड़े (दे० पृष्ठ ४७५ का चित्र)।

यदि समान क्षेत्रवाले पेंदे के भिन्न आकार के कई बर्तनों को लेकर उनमें एक-सी ही ऊँचाई तक द्रव भर दिया जाय, तो प्रत्येक बर्तन के पेंदे पर पानी का जोर एक-सा पड़ेगा, यद्यपि पानी की मात्रा सब बर्तनों में समान नहीं होगी। बर्तनों में द्रव की सतह भी आप कभी ऊँची-नीची नहीं पायेंगे। इसका भी मूल कारण द्रव का दबाव संबंधी नियम है। अधिक दबाव की ओर से पानी कम दबाव की ओर जायगा, जब तक कि दबाव पेंदे के प्रत्येक बिन्दु पर एक-सा न हो जाय। अतः जब कभी द्रव से भरे कई बर्तन नली द्वारा मिला दिये जाते हैं तो फौरन् द्रव अपना तल ढूंढ़ लेता है और सभी बर्तनों में द्रव की सतह एक हो जाती है।

'द्रव अपना तल ढूंढ़ लेता है,' इस नियम का प्रयोग इंजिनियरों ने नहर-विभाग के काम में प्रचुरता से किया है। पनामा की प्रसिद्ध नहर तो इसी की बदौलत बन पाई है, जिसमें गुजरते समय जहाज बराबर नीचे से ऊँचे स्थल के ऊपर से होकर आया-जाया करते हैं। इसके लिए प्रत्येक मंजिल पर नहर के पेटे में विशेष फाटक बने हुए हैं, जिन्हें स्लूसगेट कहते हैं। नहर के नीचे ही जल के पेटे के एक भाग को कन्क्रीट की पक्की दीवाल से दोनों ओर से बाँध देते हैं। दोनों ओर की दीवालों में 'क' और 'ख' दो बड़े फाटक लगे हुए हैं, और क्रम से इन्हीं के नीचे 'च' और 'छ' स्लूसगेट भी लगे हुए हैं (दे० पृ० ४७७ का चित्र)। चित्र में नं० १ में बड़ा फाटक 'क' बन्द है, किन्तु स्लूसगेट 'च' खुला हुआ है। 'ख' और 'छ' दोनों
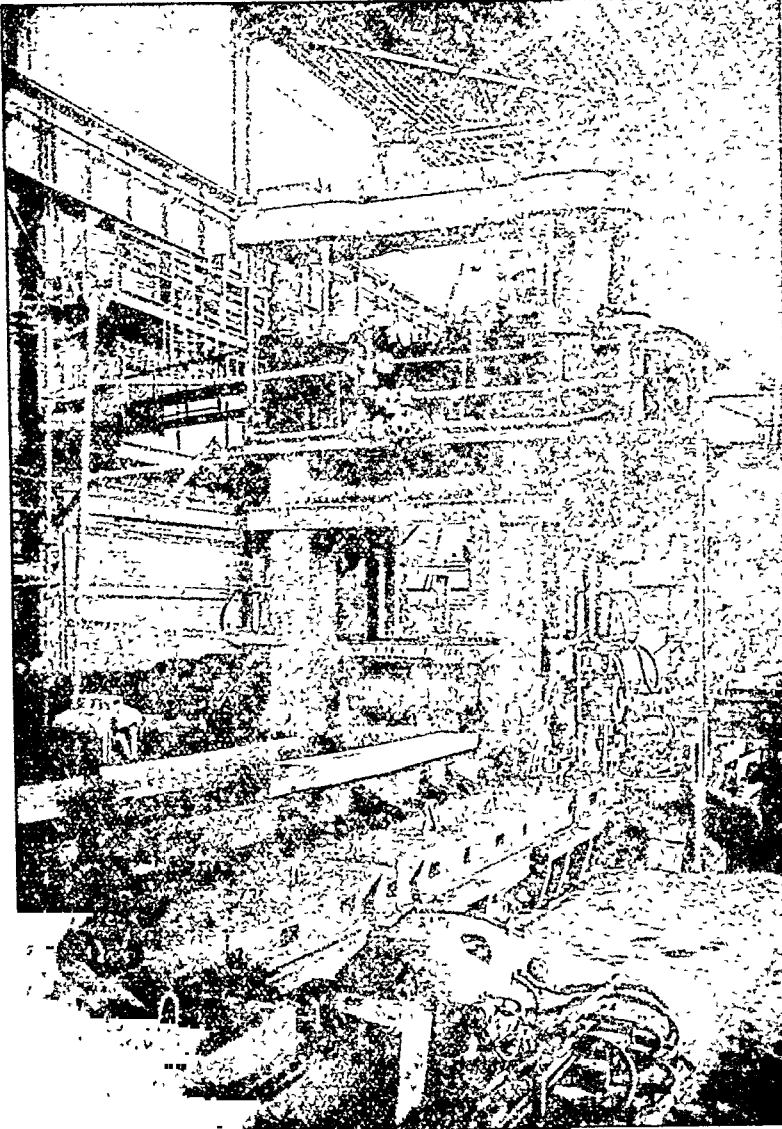
पैस्कल के नियम पर जल के दबाव की शक्ति का यांत्रिक प्रयोग

जमशेदपुर के लोहे के कारखाने में जल के दबाव की शक्ति से लोहे की चादरें पीटने का यंत्र।

बन्द है। ऐसी हालत में फाटक की बाईं ओर तथा अन्दर पानी की सतह एक हो जाती है। अब स्लूसगेट 'च' को बन्द करके 'क' को खोल देते हैं, जहाज आसानी से फाटक के भीतर चला आता है (दे० नं० २) फिर 'क' को बंद करके स्लूसगेट 'छ' को खोलते हैं। 'छ' के रास्ते से ऊँचे तल का पानी गेट के अन्दर आकर पानी की सतह को ऊँचा उठाता है। थोड़ी देर पश्चात् फाटक के अन्दर और दाहिनी ओर के पानी की सतह एक हो जाती है (दे० नं० ३)। अब फाटक 'ख' को खोलकर जहाज को दाहिनी ओर पहुँचा देते हैं (दे० नं० ४)। इस तरह नीची सतह से जहाज ऊँची सतह पर पहुँचा दिया जाता है। जैसा कि पृष्ठ ४७७ के चित्र में दिखाया गया है, इस तरह की नहरों के फाटक और स्लूसगेट आदि जल के दबाव की शक्ति के प्रयोग द्वारा ही खोले और बंद किये जाते हैं।

हवा का दबाव

पिछले अध्याय में हम द्रव पदार्थों के दबाव तथा उससे संबंधित विशेषताओं का अध्ययन कर चुके हैं, इस लेख में वायु के दबाव संबंधी नियमों पर प्रकाश डाला गया है।

हमारी पृथ्वी को हवा चारों ओर से घेरे हुए है। हमारे ऊपर बहुत दूर तक यह हवा फैली हुई है। ठीक-ठीक यह किसी को भी नहीं मालूम है कि हवा कितनी ऊँचाई तक फैली हुई है। हाँ, यह बात निश्चित रूप से साबित हो चुकी है कि ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों हवा तेजी के साथ हलकी होती जाती है। पृथ्वीतल पर हवा सबसे ज्यादा घनी है।

आकाश के ऊर्ध्वभाग की हवा के बारे में हमें काफी जानकारी गुब्बारों की मदद से प्राप्त हुई है। तरह-तरह के यंत्रों से सुसज्जित गुब्बारे आकाश में मीलों की ऊँचाई तक पहुँचाए गये हैं। इन यंत्रों द्वारा पता चलता है कि बहुत ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है, किन्तु यहाँ की हवा की अपेक्षा वहाँ की हवा बहुत ही हलकी है। बहुत ऊपर हवा इतनी पतली हो जाती है कि वह गुब्बारे के बोझ को सँभाल नहीं सकती। गुब्बारे बीस-बाईस मील से अधिक ऊँचाई तक नहीं चढ़ पाते।

इसलिए यह जानने के लिए कि इससे भी अधिक ऊँचाई पर हवा मौजूद है या नहीं, हमें अन्य उपायों की शरण लेनी पड़ती है। हम जानते हैं कि जब आकाश से उल्काएँ गिरती हैं तो पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करते ही वे वायुकणों के घर्षण से उत्तप्त हो जाती हैं और उनके अन्दर से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। यदि वाराणसी और लखनऊ से एक ही समय में किसी उल्का को हम दूरबीन से देखें तो इन दोनों स्थानों पर उस उल्का की कोणीय ऊँचाई हम नाप सकते हैं। वाराणसी और लखनऊ के बीच की दूरी हमें मालूम है, बस ज्यामिति के साधारण नियमों की सहायता से उस उल्का की तत्कालीन ऊँचाई निकाली जा सकती है।

अब तक सबसे ऊँची उल्काएँ पृथ्वीतल से २०० मील की ऊँचाई पर देखी गयी हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हवा पृथ्वी के चारों ओर कम-से-कम २०० मील की ऊँचाई तक अवश्य फैली हुई है। फिर उत्तरी प्रकाश या अरोरा बोरियालिस आकाश में लगभग ४०० मील की ऊँचाई पर देखा गया है। अतः हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ४०० मील की ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है; क्योंकि बाह्य जगत् से आकर विद्युत्कण जब हवा के कणों से टकराते हैं, तभी अरोरा बोरियालिस का प्रकाश उत्पन्न होता है।

हवा में भी वजन है

हम यह भी जानते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ को पृथ्वी अपनी ओर खींचती है। इसी आकर्षण-शक्ति के कारण हर एक पदार्थ के अन्दर हम वजन पाते हैं। हवा भी एक भौतिक पदार्थ है, अतएव इसमें भी वजन अवश्य होगा। हवा में वजन है, इस बात को साबित करने के लिए घर के अन्दर ही एक सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। काँच की एक मजबूत बोतल में थोड़ा पानी उबालिए। जब पानी खूब उबलने लगे और भाप जोरों के साथ बाहर निकल रही हो तो बोतल पर कसकर कार्क लगा दीजिए, और उसे आँच पर से उतार लीजिए। बोतल के अन्दर अब हवा नहीं है, केवल थोड़ा पानी और उसकी भाप उसमें मौजूद है। ठण्डी होने पर भाप पानी बन जायगी और बोतल के अन्दर वैकुअम (शून्य) हो जायगा। इसी दशा में बोतल को तौल लीजिए। फिर कार्क खोल दीजिए तो हवा बोतल के अन्दर तेजी के साथ प्रवेश कर जायगी। अब बोतल को कार्क-सहित फिर तौलिए। इस बार बोतल का वजन पहले की

अपेक्षा ज्यादा निकलेगा। निस्सदेह वजन बढने का कारण बाहर से आई हुई हवा ही है, जिसमें निज का भी वजन होता है।

फिर, धुएँ के कण हवा मे ऊपर मँडराते रहते हैं। इसलिए अवश्य हवा का घनत्व धुएँ के घनत्व से ज्यादा होगा। इस बात से भी हम यही नतीजा निकालते हैं कि हवा में वजन होता है।

अत: पृथ्वी के ऊपर ४०० मील की ऊँचाई तक जो हवा फैली हुई है, उसका बोझ जमीन की सभी चीजों पर पड़ता होगा। पृथ्वीतल की प्रत्येक वस्तु हवा के भार से दबी हुई है और इस तमाम हवा का वजन भी कुछ कम न होगा। एक साधारण कमरे के अन्दर, जिसकी ऊँचाई २० फीट तथा लम्बाई व चौड़ाई भी लगभग २० फीट ही हो, जितनी हवा होगी उसका वजन ३०० सेर या साढ़े सात मन के लगभग होता है! वायुमण्डल के ऊपरी स्तरों मे हवा बहुत ही पतली हो गई है। पर्वतारोहियो को इसी कारण पर्वत-शिखर पर साँस लेने में बड़ी कठिनाई होती है। वहाँ पर्याप्त मात्रा मे ऑक्सिजन ग्रहण करने के लिए उन्हें अपेक्षाकृत ज्यादा आयतन में हवा को फेफड़े के अन्दर ले जाना पड़ता है।

वास्तव में वजन के लिहाज से हम यह कह सकते हैं कि पृथ्वीतल से साढ़े तीन मील की ऊँचाई तक की हवा में समूचे वायुमण्डल का आधा भाग आ जाता है। ६ से ८ मील की ऊँचाई तक पहुँचने पर हम वजन के लिहाज से वायु-मण्डल के तीन-चौथाई भाग को तय कर लेते हैं। उसके ऊपर ४०० मील तक हवा अवश्य फैली हुई है, किन्तु उस सारी हवा का वजन समूचे वायुमण्डल के वजन का केवल एक-चौथाई ही रह जाता है।

हवा में वजन होने की बात हमें आज यथोचित जान पड़ती है, किन्तु आज से ३०० वर्ष पूर्व बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी इस बात की कल्पना नही कर पाये थे। एक जर्मन वैज्ञानिक आटो फॉन गेरिक ने १६५१ में पहली बार हवा के दबाव को प्रयोगों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया था।

गेरिक का प्रयोग

गेरिक ने लोहे के दो अर्द्ध-गोले लिये और उन्हें एक दूसरे पर ऐसा फिट किया कि उनके अन्दर से साँस न निकल सके। जब तक उनके बीच हवा मौजूद थी, तब तक वह बाहर की हवा के दबाव को रोकती थी, फलस्वरूप ये दोनों अर्द्ध-गोले आसानी के साथ अलग किए जा सकते थे। किन्तु गेरिक ने उन दोनों अर्द्ध-गोलो को एक दूसरे के ऊपर कसकर फिट करके उनके बीच की हवा निकाल ली। अब बाहर की हवा के दबाव का विरोध करने के लिए भीतर की हवा न रही। इस कारण दोनों ओर से दस-दस घोड़ों के खीचने पर भी ये अर्द्ध-गोले एक दूसरे से अलग न किए जा सके। चूँकि गोले के भीतर एक-दम हवा थी, ही नहीं, इसलिए बाहर के वायुमण्डल का समूचा जोर गोले के चारो ओर पड़ रहा था—मानों कोई दानव अपने दोनो हाथों से इस गोले को दबा रहा हो!

गेरिक का प्रयोग
दोनों ओर दस-दस घोड़ों ने जोर लगाया, फिर भी अर्ध-गोले अलग नही हुए।

समुद्रजल की सतह के बराबर ऊँचाई की जमीन के प्रति वर्ग इंच धरातल पर वायुमण्डल का भार ७॥ सेर के वजन के बराबर पड़ता है। इस हिसाब से हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार लगभग १२ टन वजन के बराबर होता है——मानों हम अपने कन्धों पर तीन विशाल-काय हाथियों का बोझ उठाए हुए हो! परन्तु तब तो इतने भारी बोझ के भार से दबकर हमारी हड्डियों को चूर-चूर हो जाना चाहिए था। फिर वास्तव में हमें हवा का बोझ जरा भी क्यों नहीं लगता? तो क्या हमारे शरीर पर हवा दबाव

नहीं डालती ? वास्तव में हमारे शरीर की रुधिर-नालियों में रक्तप्रवाह का वेग इतना प्रबल होता है कि हवा के दबाव को वह रोक लेता है, अतः स्वयं हमें बाहरी हवा के दबाव की प्रतीति करने का मौका नहीं मिलता। हाँ, यदि हम एकाएक किसी ऊँचे पहाड़ पर चले जायँ, जहाँ हवा का दबाव पृथ्वीतल पर के दबाव का आधा या एक-तिहाई हो, तो ऐसी हालत में, चूंकि हमारा रक्तप्रवाह पहले-जैसा ही प्रबल बना रहता है, किन्तु बाह्य हवा का दबाव पहले की अपेक्षा कम हो गया होता है, प्रायः हमारी रक्तधारा नाक तथा कान की कोमल त्वचा को फाड़कर बाहर निकल आती है ! इसी वजह से गुब्बारों पर सवार होकर आकाश में मीलों ऊँचा जाने के पहले उड़ाके एक विशेष ढंग की पोशाक पहन लेते हैं, जिसके अन्दर हवा का दबाव पृथ्वीतल के दबाव के बराबर ही हमेशा कायम रखा जाता है, अन्यथा ऊर्ध्वाकाश में पहुँचने पर उनके भी नाक-कान से रुधिर फूट-फूटकर निकलने लगेगा।

द्रवों की भाँति ही हवा का भी दबाव चारों ओर समान रूप से पड़ता है, मानों हम हवा के समुद्र की तह में बैठे हों। यदि हवा का दबाव काम न करता तो हमारे लिए साँस ले सकना भी सम्भव न होता। जब हम अपने फेफड़ों को फुलाते हैं, तो उनके अन्दर अब पहले की अपेक्षा ज्यादा जगह हो जाती है और इस खाली जगह में वायुमण्डल के दबाव के कारण ही बाहरी हवा प्रवेश करती है।

हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार १२ टन के बराबर पड़ता है
मानों हम हर घड़ी तीन हाथियों का बोझ उठाये रहते हों !

रिक्त स्थान में भरने की हवा की प्रवृत्ति का कारण उसका दबाव ही है

कुछ सदियों पहले तक लोग ठीक तौर पर इस बात को समझ नहीं पाये थे कि रिक्त स्थान में हवा या अन्य द्रव पदार्थ क्यों चले जाते हैं। तत्कालीन विद्वानों ने इसके लिए एक मनोरंजक कारण ढूंढ निकाला था। उनका कहना था कि प्रकृति किसी भी जगह को रिक्त या वैकुअम रहने देना गवारा नहीं कर सकती। कुएँ के अन्दर से पम्प द्वारा पानी खींचे जाने में भी यही सिद्धांत काम करता है, ऐसा उनका खयाल था। उनका कहना था कि पम्प के अन्दर की हवा जब निकाल ली जाती है तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार पम्प के भीतर के रिक्त स्थान या वैकुअम को भरने के लिए कुएँ का पानी फौरन् ऊपर को दौड़ता है, और इस तरह पम्प की टोंटी के रास्ते बाहर आ गिरता है !

परन्तु कुछ दिनों के उपरान्त पम्प लगानेवालों ने देखा कि यदि कुएँ की गहराई ३४ फीट से अधिक है तो पम्प द्वारा ऊपर तक पानी हरगिज नहीं चढ़ाया जा सकता। यह बात १७ वीं सदी की है। उस समय के सबसे बड़े वैज्ञानिक गैलीलियो से जब लोगों ने इसका कारण पूछा तो उसने सिर खुजलाकर उत्तर दिया कि मालूम पड़ता है कि रिक्त स्थान को प्रकृति एक हद तक ही नापसंद करती है ! रिक्त स्थान को भरने के लिए पानी ३४ फीट की ऊँचाई तक तो चढ सकता है, उससे आगे नहीं चढ़ पाता।

टारिसेली की सूझ

गैलीलियो के शिष्यों में टारिसेली की बुद्धि विशेष प्रखर थी। अतः अपने गुरुवर के उस उत्तर से वह सन्तुष्ट न हुआ। उसने उस सम्बन्ध में स्वयं प्रयोग करने शुरू किये। उसने कांच की एक गज लम्बी नली ली, जिसका एक सिरा बन्द था और दूसरा खुला हुआ। उस नली में उसने मुँहामुँह पारा भर दिया और खुले मुँह को उँगली से दबाकर, ताकि पारा बाहर गिरने न पाये, उसने नली पारे से भरे हुए एक प्याले के अन्दर उलटी खड़ी कर दी। यद्यपि नली का खुला हुआ मुँह नीचे पारे के अन्दर था, फिर भी नली के अन्दर का तमाम पारा नीचे प्याले में नहीं गिरा ! उस लम्बी नली में लगभग ३० इंच लम्बा पारे का स्तम्भ खड़ा रह गया ! नली में ऊपर ६ इंच लम्बी जगह अवश्य खाली हो गई—इस जगह में कुछ भी न था, यहाँ पूर्ण वैकुअम था; क्योंकि नली को टेढ़ी करने से पारा समूची नली को रम

लेता था। यदि ऊपर की जगह में हवा होती तो पारा हरगिज नली के ऊपरी सिरे तक न पहुँच पाता।

अब प्रश्न उठा कि इस रिक्त स्थान को भरने के लिए पारा ऊपर क्यों नहीं चढ़ता? टारिसेली ने पहली बार इस प्रयोग द्वारा दिखाया कि यह कहना गलत है कि प्रकृति किसी स्थान को रिक्त रहने देना गवारा नहीं कर सकती। उसने इसके सही कारण को पहचाना कि कांच की नली के अन्दर पारे का स्तम्भ वास्तव में बाहरी हवा के दबाव के सहारे खड़ा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि हवा का दबाव नली के अन्दर खड़े हुए ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के भार के बराबर है। इस प्रयोग मे यदि नली केवल २८ इंच लम्बी ली जाय, तो प्याले के अन्दर नली को उलटी खड़ी करने पर पारा नली मे से नीचे तनिक भी न गिरेगा, बल्कि पूरी नली में पारा ज्यों-का-त्यों खड़ा रहेगा।

और यदि नली ६० इंच लम्बी हुई तो उसके अन्दर भी पारा केवल ३० इंच ही चढ़ेगा तथा नली के ३० इंच लम्बे ऊपरी हिस्से मे वैकुअम बना रहेगा।

अब लोगों ने इस बात को भी समझा कि पम्प के भीतर पानी हवा के दबाव के कारण ही चढ़ता है। चूँकि पारे की अपेक्षा पानी १३·६ गुना हलका है, अतः ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के बराबर भार उत्पन्न करने के लिए पानी को पारे की अपेक्षा १३·६ गुना ज्यादा ऊँचा चढ़ना होगा। ३०×१३·६ इंच लगभग ३४ फीट के बराबर होता है। अतः पम्प मे पानी ज्यादा-से-ज्यादा ३४ फीट चढ़ सकता है।

बैरोमीटर

किसी कारण यदि हवा का दबाव कम हो जाय तो वह ३० इंच ऊँचे पारे के स्तम्भ को सँभाल न सकेगा। अब शायद पारा उस नली के अन्दर २९ इंच ही ऊँचा खड़ा होगा। इस प्रकार नली के अन्दर पारे की ऊँचाई नापकर हवा के दबाव का अन्दाज लगाया जा सकता है। हवा के इस दबाव को नापनेवाले यंत्र को बैरोमीटर के नाम से पुकारते हैं। चूँकि इस यंत्र में पारा काम में आता है, इसलिए इसे पारे का बैरोमीटर कहते हैं। संसार का सर्व-प्रथम बैरोमीटर बनाने का श्रेय टारिसेली को ही प्राप्त है। आजकल के बैरोमीटर टारिसेली के बनाये हुए बैरोमीटर के ही परिष्कृत रूप है। (दे० पृष्ठ ४८३ का चित्र)

ऊँचे स्थानों पर बैरोमीटर के अन्दर पारा कम ऊँचा चढ़ता है, क्योंकि समुद्र की सतह की अपेक्षा वहाँ हवा का दबाव कम हो जाता है। समुद्र की सतह से ९०० फीट की ऊँचाई पर जाने पर बैरोमीटर का पारा एक इंच नीचे गिरता है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं, हवा का घनत्व भी कम होता जाता है। अतएव ९०० और १८०० फीट के बीच की हवा का वजन उतना न होगा, जितना समुद्र की सतह और ९०० फीट की ऊँचाई के बीच की हवा का वजन। इसी कारण १८०० फीट की ऊँचाई पर बैरोमीटर का पारा पूरे २ इंच नहीं गिरेगा, बल्कि कम गिरेगा। ऊँचाई के बढ़ने के साथ बैरोमीटर का पारा गणित के एक विशेष नियम के अनुसार गिरता है। हवाई जहाज तथा गुब्बारे में लगे हुए बैरोमीटर मे हवा का दबाव देखकर इस नियम की सहायता से हम जान सकते है कि हवाई जहाज या गुब्बारा कितनी ऊँचाई पर उड़ रहा है। एवरेस्ट शिखर पर बैरोमीटर में पारा केवल ७॥ इंच चढ़ेगा।

हवा के दबाव में फेरबदल

किन्तु एक ही स्थान पर भी हवा का दबाव प्रतिदिन एक-सा नहीं रहता। गर्मी और बरसात में हवा का दबाव प्रायः कम हुआ करता है और जाड़े में ज्यादा। जब हवा मे पानी की भाप अधिक आ जाती है तो इस भाप को स्पंज की तरह हवा अपने में सोखती नहीं है, बल्कि पानी की भाप जितनी जगह घेरती है, उतनी जगह से हवा को वह भगा देती है। चूँकि भाप का घनत्व हवा के घनत्व से कम होता है, इसलिए नम हवा के भार का उसी ताप की सूखी हवा के भार से कम होना अनिवार्य है। किन्तु भरपूर नम हवा और सूखी हवा के दबाव में अधिक से अधिक आधे इंच का अन्तर पड़ सकता है, जबकि वास्तव में बैरोमीटर के पारे की ऊँचाई में प्रायः एक या दो इंच तक की कमी हो जाया करती है। अतएव हवा के दबाव में अन्तर डालनेवाला कोई अन्य कारण भी अवश्य होगा।

सूर्य की प्रखर किरणों से उत्तप्त होने पर हवा गर्म होकर हलकी हो जाती है, इस कारण उसका भार कम हो जाता है। यदि नीचे से ऊपर को हवा की धारा बहती हुई हो तो बैरोमीटर में पारे की ऊँचाई और भी कम हो जायगी और ऐसी दशा में अन्य प्रदेशों से, जहाँ पर हवा का दबाव ज्यादा है, उस स्थान पर हवा दौड़कर आएगी और तब अपने साथ वह आँधी और पानी ला सकती है। इसके प्रतिकूल यदि हवा का दबाव अधिक हुआ तो हम अच्छे ऋतु की आशा कर सकते हैं। उस समय आँधी या पानी की आशंका न रहेगी।

इस प्रकार बैरोमीटर के उतार-चढ़ाव को देखकर ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी की जा सकती है। किन्तु ऋतु-परिवर्तन एकमात्र हवा के दबाव पर ही निर्भर नहीं है।
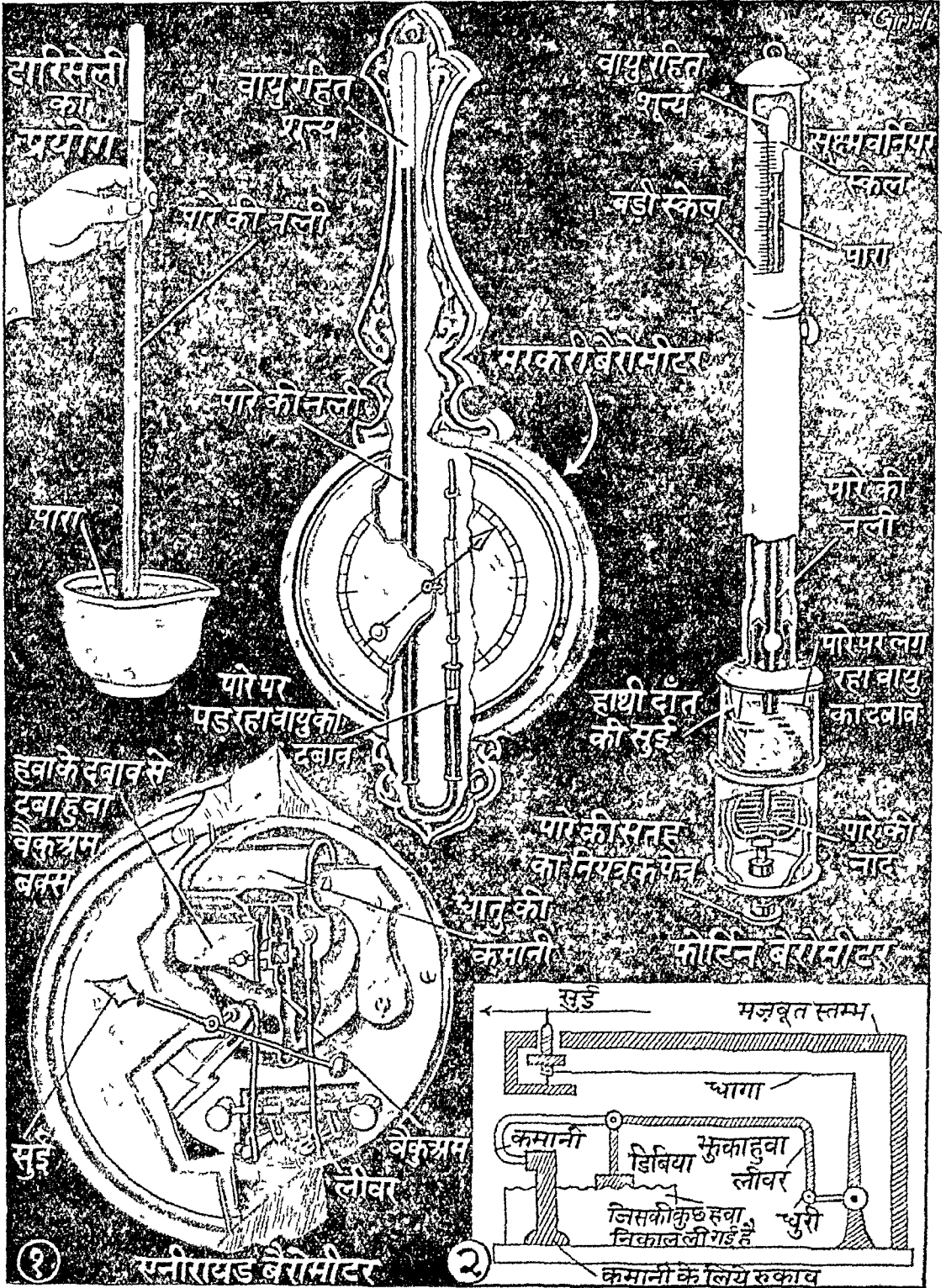
टारिसेली का प्रयोग और विभिन्न जाति के बैरोमीटर

अकेले वैरोमीटर के सहारे की गई भविष्यवाणी हमेशा सही नहीं उतरती। शीतोष्ण कटिवन्ध के देशों की अपेक्षा उष्ण कटिवन्ध के देशो में ऋतु-सम्वन्धी भविष्यवाणी के लिए वैरोमीटर अधिक उपयोगी है।

एनीरायड वैरोमीटर

पारेवाले वैरोमीटर को आसानी के साथ एक जगह से दूसरी जगह नही ले जा सकते। हवाई जहाज या गुब्वारे में पारेवाले वैरोमीटर का रखना वड़ी दिक्कत का काम होगा। ऐसे मौके पर काम में लाने के लिए एनीरायड वैरोमीटर वनाया गया है। उसमें पारा या अन्य कोई द्रव्य काम में नही आता। इस वैरोमीटर में धातु की पतली चद्दर की वनी एक डिविया होती है। इस डिविया के अन्दर की हवा निकाल निकाल ली गयी होती है, और इसके ढक्कन को एक मजवूत कमानी सँभाले रहती है, ताकि वाहर की हवा के दवाव से डिविया एकदम पिचक न जाय। इस ढक्कन का दो-तीन लीवरों के सहारे एक सुई से सम्वन्ध रहता है। ढक्कन पर हवा का दवाव जव कम-ज्यादा होता है तो वह वाहर या भीतर की ओर लच जाता है। फलस्वरूप सुई एक डायल पर घूमती है। डायल के ऊपर इंच के निशान वने होते है, जिससे दवाव का पता फौरन् लग जाता है। किन्तु डायल पर निशान लगाने के लिए पहले पारे के वैरोमीटर के साथ एनीरायड वैरोमीटर का मिलान करना पड़ता है।

हमारे नित प्रति के जीवन मे काम आनेवाली अनेक
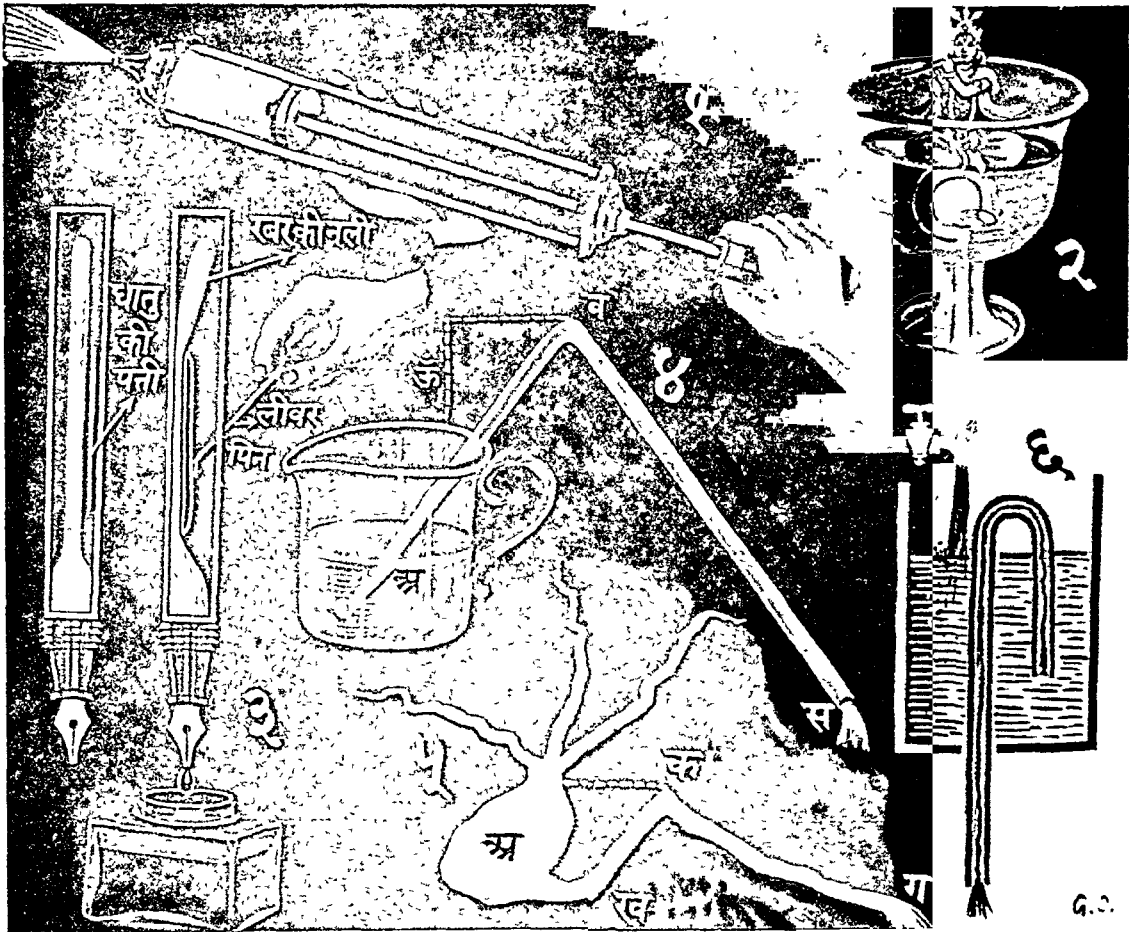
हवा के दवाव के वल पर काम करनेवाली हमारे नित प्रति के जीवन की कुछ चीजें

१. पिचकारी; २. वासुदेव का प्याला, जिसमें साइफन का सिद्धान्त काम करता है; ३. फाउंटेनपेन, जिसमें स्याही हवा के दवाव से ही भर जाती है; ४. साधारण साइफन; ५. पहाड़ी झरना; ६. फलश करने की टकी, जिसमें साइफन के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। (विशेष विवरण के लिए दे० पृष्ठ ४८५ का मैटर)।

वस्तुएँ हवा के दबाव के बल पर ही काम करती हैं। कमानी दवाते ही फाउन्टेनपेन के अन्दर स्याही हवा के दवाव के कारण भर जाती है। फाउन्टेनपेन के अन्दर एक रबर की नली होती है, जो कमानी का लीवर दवाने पर दबती है और फलतः उसके अन्दर की हवा वाहर निकल जाती है। जब स्याही की दावात के अन्दर निब को डालकर लीवर को छोड देते हैं तो हवा के दवाव के कारण स्याही रबर की नली में चढ जाती है (दे० पृ० ४८४ के चित्र में नं० ३)।

पिचकारी के अन्दर भी पानी हवा के दवाव के बल पर चढ़ता है। पिचकारी का गट्टा जब ऊपर को खीचा जाता है तो खोखली नली के अन्दर जगह खाली हो जाती है। वहाँ हवा का दवाव कम हो जाता है। अतः वाहर की हवा के दबाव से टोंटी के रास्ते पानी ऊपर चढ जाता है (दे० उक्त चित्र में नं० १)।

साइफन का सिद्धान्त

एक अनोखा किन्तु सीधा-सादा यंत्र साइफन है, जो हवा के दवाव के कारण ही काम करता है। एक शीशे की नली 'अ ब स' लीजिए जो 'ब' पर मुड़ी हो, और जिसकी भुजा 'ब स', 'अ ब' से लम्बी हो (देखो उक्त चित्र में नं० ४)। नली को उलटी करके पहले मुँहा-मुंह पानी भर लीजिये। फिर नली सीधी करने पर आप देखेंगे कि नली का तमाम पानी भुजा 'ब स' के रास्ते नीचे गिर गया और भुजा 'अ ब' के रास्ते एक बूंद भी नहीं गिरा।

यदि पानी से भरी हुई यह नली इस तरह रखी जाय कि सिरा 'अ' एक गिलास में रखे हुए पानी के अन्दर दूर तक डूबा हो, तो आप देखेंगे कि 'ब स' के रास्ते से गिलास का पानी निरन्तर गिरने लगता है। पानी का गिरना उस वक्त रुकता है, जब गिलास में पानी की सतह 'स' से नीचे चली जाती है। इस प्रयोग के सिलसिले में यह भी वात देखी गई है कि 'अ ब' की लम्बवत् ऊँचाई 'ऊँ' ३४ फीट से अधिक हुई तो फिर उस नली द्वारा गिलास का पानी नहीं उलीचा जा सकता। ऐसी दशा में 'ब अ' बाजू का पानी 'अ' के रास्ते गिर पड़ेगा और 'ब स' का पानी स के रास्ते।

इस प्रयोग की नली का ही नाम साइफन है। इस छोटे से यंत्र में प्रयुक्त सिद्धान्त को काम में लेकर बीच की ऊँची सतह को समतल किये बिना ही बंद नलों द्वारा पानी या किसी भी द्रव को यहाँ से वहाँ ले जाया जाता है। साइफन नली द्वारा पानी ले जाने के लिए आगे बताई गई तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है।

१. नली प्रारम्भ में भरी होनी चाहिए।
२. नली का सिरा 'स' गिलास में रखे हुए पानी की सतह से नीचे होना चाहिए।
३. 'अ ब' की लम्बवत् ऊँचाई ३४ फीट से कम होनी चाहिए।

साइफन के प्रयोग में गिलास में रक्खे हुए पानी के धरातल पर हवा का दवाव पड़ता है, जो पानी को बाजू 'अ ब' मे चढा देता है और यह पानी वाजू 'ब स' में जाता है। किन्तु लम्बी भुजा में भुजा 'अ ब' की अपेक्षा पानी का भार ज्यादा है। 'अ' और 'स' दोनों जगह वाहर की हवा का दवाव एक-सा है, अतएव जब तक नली की दोनों भुजाओं में पानी भरा रहेगा, पानी लम्बी भुजा के रास्ते ही नीचे गिरेगा। लम्बी भुजा का पानी जब नीचे सरकता है तो 'ब' पर खाली जगह भरने के लिए 'अ ब' से पानी आता है, और इस तरह नली द्वारा पानी निरन्तर प्रवाहित होने लगता है। गन्दी नालियों को खाली करने के लिए अक्सर साइफन का प्रयोग होता है। बड़े-बड़े स्टेशनों पर पेशावघरों में ऊपर छत पर हौज बने रहते हैं, जिनमें से साइफन-नली द्वारा पानी थोड़ी-थोड़ी देर पर नीचे को वेग के साथ गिरता रहता है (दे० उक्त चित्र में नं० ६)।

वासुदेव के प्याले का खिलौना भी इसी सिद्धांत पर बना होता है। प्याले के अन्दर धीरे-धीरे पानी भरते हैं। जिस वक्त पानी की सतह श्रीकृष्ण की मूर्ति के चरणों को छूती है, उस वक्त पेंदे में लगे हुए साइफन ट्यूब के अन्दर पूर्ण रूप से पानी भर जाता है और यह चालू हो जाता है। फलस्वरूप कुछ ही क्षणों में साइफन के रास्ते प्याले का पानी वाहर गिर जाता है। (दे० उक्त चित्र में नं० २)।

पहाड़ी मुल्कों में कुछ ऐसे भी झरने होते हैं, जो कुछ काल तक सुषुप्त रहते हैं, फिर जाग उठते हैं और पुनः वन्द हो जाते हैं। इस तरह थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त ये सोते पानी दिया करते हैं। ये भी प्राकृतिक साइफन के बल पर ही काम करते हैं।

ऐसे सोतों में पानी धीरे-धीरे 'अ' में इकट्ठा होता है (देखो उक्त चित्र में नं० ५)। जब इसकी सतह 'क' के बराबर ऊँची हो जाती है तो साइफन 'ख क ग' जारी हो जाता है, और 'अ' का सारा पानी सोते के रास्ते वाहर निकल जाता है। अब सोता सूख जाता है। पानी धीरे-धीरे 'अ' में फिर इकट्ठा होने लगता है और 'क' के बराबर पानी की सतह के पहुँचते ही सोता एक बार और जारी हो जाता है।
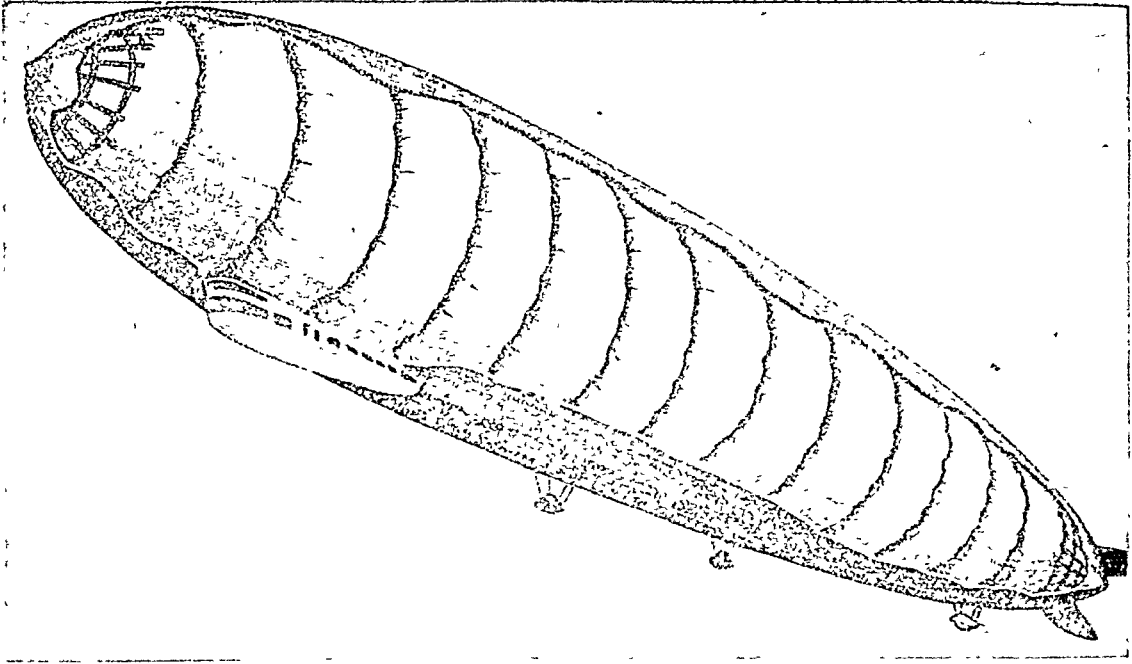
हाइड्रोजन के हल्केपन का मनुष्य द्वारा उपयोग

जैपलीन नामक बड़े-बड़े वायुपोत हाइड्रोजन ही से भरे जाते हैं। इन हवाई जहाजों का भार कई टन होने पर भी ये आकाश में ऊंचे उठकर उड़ते हैं। इस चित्र में प्रसिद्ध 'ग्राफ जैपलीन' के अन्दर के हाइड्रोजन से भरे थैले दिखाए गए हैं।
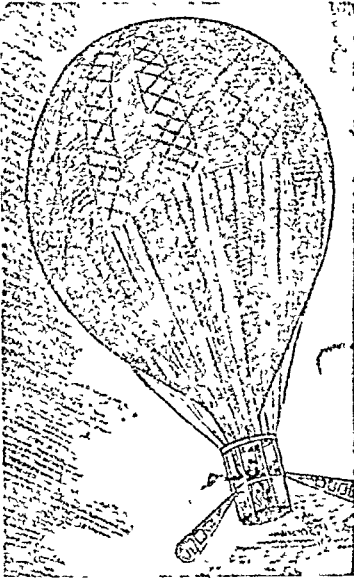
हाइड्रोजन से भरा गुब्बारा

गुब्बारों में भी प्रायः हाइड्रोजन गैस ही भरी रहती है। यह हवा में उसी प्रकार तैरते-उतराते रहते हैं, जैसे पानी में कार्क।

परन्तु हाइड्रोजन खतरनाक भी है

किन्तु प्रज्वलनशील होने के कारण हाइड्रोजन का उपयोग खतरनाक है। इस अभागे वायुपोत की यह दशा कभी न होती यदि हाइड्रोजन की जगह अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का उपयोग किया गया होता।

सृष्टि का सबसे हलका पदार्थ—हाइड्रोजन गैस

हम देख चुके हैं कि जितने भी पदार्थ हैं, वे दो समूहों में बांटे जा सकते हैं—मूल तत्त्व और यौगिक पदार्थ। सभी यौगिक पदार्थ मूल तत्त्वों ही के संयोग से बने हैं। हाइड्रोजन ऐसा ही एक मूल तत्त्व है, जो घनत्व और भार में सभी मूल तत्त्वों से हलका है। अतः सबसे पहले इसी से परिचय पाना उचित होगा।

हम बहुधा बाजार में ऐसे रबड़ के गुब्बारे बिकते हुए देखते हैं, जो छोड़ने पर ऊपर की ओर उठने लगते हैं और यदि उन्हें बिल्कुल छोड़ दिया जाय, तो वे इतने ऊपर उड़ जाते हैं कि दृष्टि से ओझल तक हो जाते हैं। इन गुब्बारों में जो गैस प्रायः भरी होती है, उसे 'हाइड्रोजन' कहते हैं। यही गैस संसार का सबसे हलका पदार्थ है। लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले तक मनुष्य इस गैस से बिलकुल अपरिचित था। तब सन् १७६६ ई० में हेनरी केवेण्डिश नामक एक अंग्रेज रासायनिक ने यह देखा कि जब कुछ धातुओं, जैसे जस्ता और लोहा, पर हलके गंधक के तेजाब की क्रिया होती है, तो एक जल उठनेवाली 'हवा' (गैस) पैदा होती है। इस गैस का उसने 'प्रज्वलनशील' हवा' नाम रखा और उसके घनत्व आदि कुछ अन्य गुण भी निर्धारित किए। लगभग पंद्रह वर्ष बाद, सन् १७८१ में, प्रीस्टली नामक एक दूसरे अंग्रेज रासायनिक ने यह देखा कि जब इस 'प्रज्वलनशील हवा' और साधारण हवा का मिश्रण शीशे के एक बंद बर्तन में रखा जाता है और उसमें बिजली की चिनगारियाँ गुजारी जाती हैं, तो वह मिश्रण विस्फुटित हो जाता है और बर्तन का भीतरी पृष्ठ एक तुहिन द्वारा आच्छादित हो जाता है। लेकिन इस प्रयोग को उसने अपने कुछ दार्शनिक मित्रों को तमाशे के रूप में ही दिखाया, इसका अर्थ वह न समझ सका। इसी तरह प्रीस्टली के इस प्रयोग ने केवेण्डिश का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित किया। केवेण्डिश ने इस प्रयोग को कई बार दोहराया और यह प्रमाणित किया कि इस क्रिया में जो तुहिन है, वह पानी के कणों का तुहिन बनना है। छः वर्ष बाद, सन् १७८७ में, लवॉयसियर नामक एक फ्रेन्च रसायनज्ञ ने स्पष्टतः यह दिखा दिया कि पानी 'प्रज्वलनशील हवा' और 'क्रियाशील हवा' के रासायनिक संयोग से बना है। इसी कारण लवॉयसियर ने इस 'प्रज्वलनशील हवा' का नाम 'हाइड्रोजन' रखा (हाइड्रो=पानी, और जन=जन्म देनेवाला, अर्थात् वह पदार्थ जो पानी का उत्पादन करता है)।

केवेण्डिश (१७३१-१८१०)
जिसने हाइड्रोजन गैस की खोज की।

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन का उत्पादन

पानी के भार के नौ भागों में एक भाग हाइड्रोजन गैस का रहता है। इसके अलावा सभी तेजाब और क्षार, खाने का सोडा, अमोनिया गैस, लकड़ी, मैदा, शक्कर, तेल, घी, आदि में यह मूल तत्त्व संयुक्त रूप में रहता है। स्वतन्त्र रूप में यह हवा में, विशेषतः हवा के ऊपरी तलों में, बहुत ही कम मात्रा में रहता है, किन्तु सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों में अधिक परिमाण में यह वर्तमान है।

अपने उपयोग के लिए हम हाइड्रोजन गैस को उसके किसी यौगिक में से पृथक् करके ही प्राप्त कर सकते हैं। स्कूल अथवा घरेलू प्रयोगशाला में हाइड्रोजन गैस कई

निकल न सके। तेजाव डालते ही तेजी से गैस के वुलवुलों का निकलना शुरू हो जाता है। निकास-नली द्वारा पहले हवा और फिर कुछ देर तक हवा मिश्रित गैस निकलती है, किन्तु यह मिश्रण विस्फोटक होने के कारण इकट्ठा नही किया जाता। गैस के वनते समय कोई जलती हुई वस्तु निकट न रखनी चाहिए, नही तो उपकरण-पात्रो के भीतर यदि वायुमिश्रित हाइड्रोजन हुई तो खतरनाक विस्फोट की संभावना रहती है।

कुछ देर में सारी हवा वुलवुलों के रूप में वाहर निकल जाती है और शुद्ध हाइड्रोजन गैस आने लगती है। यह गैस शेल्फ के ऊपर जल से भरा 'गैस-जार' नामक पात्र रख देने से इकट्ठा होने लगती है। पानी अधिक भारी होने के कारण नीचे उतर जाता है और कुछ ही देर मे जार भर जाता है। गैस से भरा हुआ जार पानी के अंदर ही चरवी अथवा वेसलीन लगे हुए घिसे शीशे की एक गोल प्लेट द्वारा वंद कर दिया जाता है और

रीतियो से तैयार की जा सकती है। सवसे सरल रीति में साधारण ग्रेनुलेटेड जस्ते पर हलके गंधकाम्ल की क्रिया का उपयोग किया जाता है। ग्रेनुलेटेड जस्ता पिघले हुए जस्ते को पानी में छोड़कर वनाया जाता है, जिससे वह टेढे-मेढ़े पत्तुरों के रूप का हो जाता है। ऐसा होने से उसका तल वढ जाता है और 'गंधकाम्ल की क्रिया' क्रिया-क्षेत्र वढ़ जाने के कारण, अधिक तीव्र हो जाती है। शुद्ध जस्ते पर अथवा ऐसे जस्ते पर जो ग्रेनुलेटेड न हो, गंधकाम्ल की क्रिया नही के वरावर होती है। कुछ ग्रेनुलेटेड जस्ता एक वुल्फ-वोतल मे रक्खा जाता है। वोतल के एक मुंह मे छेदवाले एक कार्क द्वारा थिसिल कीप लगा दी जाती है; दूसरे मे निकास-नली। दोनों कार्कों को दृढता से लगाना चाहिए, ताकि गैस निकल न सके। निकास-नली का दूसरा सिरा एक गोल नाँद में 'वी-हाइव शेल्फ' के नीचे डूवा रहता है। थिसिल कीप द्वारा तेजाव वुल्फ-वोतल मे डाला जाता है और थिसिल कीप को नीचे की ओर खिसकाकर उसका निचला सिरा तेजाव मे डुवो दिया जाता है, ताकि उससे होकर गैस

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन तैयार करने की रीतियाँ—(१) (ऊपर) ग्रेनुलेटेड जस्ते पर हलके गंधकाम्ल का प्रयोग; (वीच में) पानी का वैद्युत् विश्लेषण; (नीचे) सोडियम पर जल की प्रतिक्रिया

निकालकर वैसा ही उलटा रख दिया जाता है। जार को सीधा रखने से हलकी होने के कारण हाइड्रोजन के निकल जाने की अधिक संभावना रहती है। आवश्यकता के अनुसार इस प्रकार कई जार भरे जा सकते हैं।

हाइड्रोजन गैस का चाहे जिस समय उपयोग करने के लिए 'किप अपरेटस' नामक यंत्र सर्वोत्तम साधन है। इस शीशे के पात्र में तीन गोले होते हैं। बीच के गोले में ग्रेनुलेटेड जस्ता रखा जाता है। ऊपरवाले गोले की डाँडी बीचवाले गोले से होकर नीचेवाले गोले के पेंदे तक पहुँचती है। ऊपर के गोले से हलका गंधक का तेजाब छोड़ा जाता है, जो नीचे के गोले को बिलकुल भरकर कुछ बीचवाले गोले में भी पहुँचता है। यहाँ रासायनिक क्रिया शुरू हो जाती है और गैस निकलने लगती है। गैस की आवश्यकता न रहने पर टोंटी बन्द कर दी जाती है। ऐसा करने से बीचवाले गोले में गैस का दवाव बढ़ जाता है और तेजाब दबकर नीचे खिसक जाता है। इस प्रकार जितना तेजाब नीचे खिसकता है, उतना ही डाँडी द्वारा ऊपरवाले गोले में चढ़ जाता है। तेजाब के हटने से बीचवाले गोले में केवल जस्ता रह जाता है और क्रिया समाप्त हो जाती है। टोंटी खोलने से गैस फिर बाहर निकलने लगती है, जिससे दवाव कम हो जाता है और तेजाब फिर बीचवाले गोले में चढ़कर क्रिया को शुरू कर देता है।

प्रयोगशाला में हाइड्रोजन गैस तैयार करने की रीतियाँ—(२)

(ऊपर के चित्र में) किप अपरेटस द्वारा हाइड्रोजन तैयार करने की विधि। (नीचे के चित्र में) लोहे के गर्म बुरादे पर भाप प्रवाहित करके हाइड्रोजन का उत्पादन। [पृष्ठ ४८८ पर प्रदर्शित तीन रीतियों और इन दोनों चित्रों की रीतियों का विस्तृत विवरण लेख में देखिए। यहाँ हमने प्रयोगशालाओं में बहुत थोड़ी मात्रा में हाइड्रोजन तैयार करने की विधियों और यंत्रों के ही चित्र दिये हैं। कारखानों में अधिक मात्रा में इसके उत्पादन की अन्य विधियाँ भी हैं।]

प्रत्येक अम्ल में संयुक्त दशा में हाइड्रोजन अवश्य रहती है। अम्ल के तेजाबी गुण का कारण यही हाइड्रोजन है। गंधकाम्ल के एक अणु में हाइड्रोजन के दो परमाणु, गधक का एक परमाणु, और ऑक्सिजन के चार परमाणु सम्मिलित रहते हैं। वैज्ञानिक भाषा में हाइड्रोजन का प्रतीक H है, गधक का S और ऑक्सिजन का O। इसलिए गधकाम्ल का अणुसूत्र H_2SO_4 लिखा जाता है। जब इस तेजाब में जस्ता डाला जाता है, तो वह हाइड्रोजन को निकालकर बाहर कर देता है और स्वयं SO_4 (सल्फेट) अणु-भाग से संयुक्त होकर यशद सल्फेट मे परिवर्तित हो जाता है। यशद (जस्ता) का रासायनिक प्रतीक Zn है। इसलिए पूरी क्रिया निम्न रासायनिक समीकरण द्वारा स्पष्ट की जाती है—

$$Zn + H_2SO_4 = ZnSO_4 + H_2$$

Zn	+	H_2SO_4	=	$ZnSO_4$	+	H_2
यशद		गंधकाम्ल		यशद सल्फेट (पानी में घुल जाता है)		हाइड्रोजन (निकल जाती है)
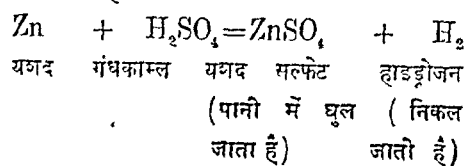
हाइड्रोजन गैस के बनाने की एक दूसरी रीति को 'पानी का वैद्युत् विश्लेषण' कहते है। प्रयोगशाला में पानी का वैद्युत् विश्लेषण निम्न रीति से किया जा सकता है। एक शीशे के पात्र में प्लैटिनम धातु के दो पत्र अलग-अलग लगे रहते है। पानी को बिजली का संचालक बनाने के लिए उसमे थोड़ा-सा गंधक का तेजाब मिला दिया जाता है और दोनो प्लैटिनम-पत्रो के ऊपर उसी तेजाबी पानी से भरी हुई दो परख-नलियाँ (अथवा गैस-जार) उलट दिये जाते है। प्लैटिनम इसलिए उपयुक्त होता है कि उस पर तेजाब आदि का असर नही पडता। प्लैटिनम-पत्रों को तारो द्वारा बैटरी के दोनों सिरो से संबंधित करने पर तुरत दोनों नलियों मे उन पर से बुलबुले उठने लगते हैं। थोड़ी ही देर में पर्याप्त गैस भर जाती है। ऋण-ध्रुव पर निकलनेवाली गैस का आयतन धनध्रुव पर निकलनेवाली गैस के आयतन से दुगुना होता है। परीक्षा करने पर अधिक आयतन-वाली गैस हाइड्रोजन पाई जाती है और कम आयतनवाली ऑक्सि-जन। हाइड्रोजन जलाने से जल उठती है और ऑक्सिजन एक सुलगती हुई तीली अथवा दिया-सलाई को भक से जला देती है। इस प्रयोग में जो मूल तत्त्व जिस आयतन-संबंधी अनुपात मे संयुक्त होकर पानी बनाते हैं, उसी अनुपात में वे निकल पड़ते है। जहाँ बिजली सस्ती होती है, वहाँ हाइड्रोजन को अधिक परिमाण मे तैयार करने के लिए यह एक सुगम रीति है, अत. यह काफी काम में आती है।

हाइड्रोजन-संबंधी दो प्रयोग

नं० १—हाइड्रोजन स्वयं जलती है, किंतु दूसरी वस्तुएं उसमें नहीं जलतीं (देखिए पृष्ठ ४९१ का मैटर)। नं० २—हाइड्रोजन-ऑक्सिजन के मिश्रण द्वारा विस्फोट (देखिए पृष्ठ ४९१ का मैटर)।

हाइड्रोजन बनाने की एक अन्य रीति में गर्म दहकते हुए लोहे के बुरादे के ऊपर से भाप प्रवाहित की जाती है। उस ताप पर लोहा पानी की ऑक्सिजन से मिलकर अपनी काली चुंबकीय ऑक्साइड मे परिवर्तित हो जाता है और बची हुई हाइड्रोजन स्वतंत्र मूल तत्त्व के रूप मे बाहर निकल जाती है। लोहे के सस्ता होने के कारण यह रीति बहुधा हाइड्रोजन को अधिक परिमाण में बनाने के लिए उपयुक्त होती है। केवल लोहा ही नहीं, मैग्नेसियम और जस्ता भी इन दशाओं में इसी प्रकार पानी से हाइड्रोजन को मुक्त कर देते है। सोडियम धातु तो ठंडे पानी को ही विच्छेदित कर देती है। यदि हम एक जालीदार बंद चमची मे सोडियम का एक छोटा-सा टुकड़ा ले और उसे जलपात्र मे पानी से भरे जार के नीचे डुबो दें, तो हाइड्रोजन बुल-बुलों के रूप मे निकलकर जार में इकट्ठा हो जाती है।

हाइड्रोजन के भौतिक और रासायनिक गुण

हाइड्रोजन एक रंगहीन, गंध-हीन, स्वादहीन, अदृश्य गैस होती है। यही संसार की सबसे हलकी वस्तु है। हवा से यह लगभग पंद्रह गुनी अधिक हलकी होती है। बहुत ही अधिक ठंढा करने पर और भारी दबाव में हाइड्रोजन द्रवीभूत हो जाती है तथा और भी अधिक ठंढा करने पर ठोस मे परिवर्तित हो जाती है। तरल हाइड्रोजन एक रंगहीन द्रव है, जिसका क्वथनांक -२५३°C और हिमांक -२५९°C है (देखो पृष्ठ ४९१ का चित्र)। हाइड्रोजन का एक अणु उसके दो परमाणुओ के संयोग से बनता है। इसीलिए हाइड्रोजन गैस का अणु-सूत्र H_2 लिखा जाता है।

अगर हम इस गैस से भरे एक जार को सीधा रखकर उसे खोलें और तुरंत जलती हुई चीज उसके मुँह पर ले जायँ तो यह गैस, यदि हवा से मिश्रित नहीं है, धीमी 'पप' की आवाज करके एक हलके आसमानी रंग की लौ के साथ जल उठेगी। किन्तु यदि गैस हवा या ऑक्सिजन से मिल गई है, तो वह जोर की आवाज के साथ जलेगी। यदि हाइ-ड्रोजन के दो आयतन ऑक्सिजन के एक आयतन से मिश्रित हो जायँ, तो इस मिश्रण के जलाने पर बहुत जोर का धड़ाका होगा; और यदि गैसपात्र कमजोर है, तो वह फूट जायगा और प्रयोग करनेवाले के लिए चोट का खतरा

रहेगा। यद्यपि यह विस्फोट एक विशेष मजबूत बोतल में किया जा सकता है, लेकिन तब भी सावधानी के लिए बोतल को एक तौलिये या कपड़े से लपेट लिया जाता है। (दे० पृष्ठ ४९० के चित्र में नं० २)। विस्फोट के बाद बोतल का भीतरी तल जलतुहिन से ढका हुआ पाया जाता है।

हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के सम्मिलन से पानी

जब हाइड्रोजन ऑक्सिजन में जलती है, तो ऑक्सिजन का प्रत्येक परमाणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओं से सम्मिलित होकर पानी के एक अणु में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिए पानी का अणु-सूत्र H_2O लिखा जाता है। यदि हम चाहें तो हाइड्रोजन की ज्वालशिखा को किसी ठंढे तल पर लगाकर इस प्रकार बने हुए जलवाष्प को घनीकरण द्वारा पानी के रूप में इकट्ठा भी कर सकते हैं। इस रासायनिक संयोग में बहुत अधिक गर्मी का उद्भव होता है और इसी कारण हाइड्रोजन की ज्वाला का ताप बहुत ऊँचा होता है।

द्रवीभूत हाइड्रोजन

बहुत अधिक ठंडा करने पर और भारी दबाव में हाइड्रोजन गैस द्रव का रूप ग्रहण कर लेती है। इस चित्र में एक थर्मस बोतल में से द्रवीभूत हाइड्रोजन प्याले में उँडेली जा रही है।

हाइड्रोजन में अन्य वस्तुएँ नहीं जलतीं

यदि हम गैस से भरा हुआ एक दूसरा जार उलटा लटकाएँ और उसे खोलकर शीघ्र ही उसमें एक टेढ़ी चमची द्वारा जलती हुई मोमबत्ती डालें, तो हम देखेंगे कि गैस तो जार के मुँह पर जलने लगती है, लेकिन मोमबत्ती बुझ जाती है (दे० पृष्ठ ४९० के चित्र में नं० १)। जैसे ही मोमबत्ती फिर बाहर निकाली जाती है, वैसे ही लौ में लगकर फिर जल उठती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि हाइड्रोजन स्वयं तो प्रज्वलनशील है, किंतु दूसरी वस्तुएँ उसमें नहीं जल सकतीं।

हाइड्रोजन की संयोगशक्ति केवल ऑक्सिजन तक ही परिमित नहीं है। वह विभिन्न दशाओं में अन्य बहुत-से मूल तत्त्वों, यथा क्लोरीन, ब्रोमीन, गंधक, नाइट्रोजन, सोडियम, कैल्शियम, आदि से संयुक्त होकर विभिन्न 'यौगिक' बनाती है। हाइड्रोजन की ऑक्सिजन से संयुक्त होने की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि जब वह गरम की हुई कुछ धातव ऑक्साइडों के ऊपर से प्रवाहित की जाती है, तो उनकी ऑक्सिजन से संयुक्त होकर स्वयं तो पानी में बदल जाती है और उन्हें धातुओं में परिवर्तित कर देती है। इसीलिए हाइड्रोजन को 'अल्पकारी पदार्थ' कहते हैं और इस क्रिया को 'अल्पीकरण' कहते हैं, कारण वह ऑक्साइडों को घटाकर धातुओं में बदल देती है। किंतु इस क्रिया में हाइड्रोजन स्वयं ऑक्सिजन से संयुक्त हो जाती है, जिससे पानी बन जाता है। ऑक्सिजन से संयुक्त होने की इस क्रिया को 'ऑक्सीकरण' कहते हैं।

हाइड्रोजन का हलकापन और उसका जलना कई मनोरंजक प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। रबर के गुब्बारे को गैस से भरकर उड़ाना उनमें से एक है। इस गुब्बारे को जलाने से वह भक से जल उठेगा। यह जलाने की क्रिया सावधानी से करना चाहिए और गुब्बारे को अपने से कुछ दूरी पर रखकर जलाना चाहिए। यदि इस गुब्बारे में एक जलनेवाली बत्ती को बाँधकर लटका दिया जाय और उसका एक सिरा एक सुलगती हुई वस्तु से सुलगाकर गुब्बारा उड़ा दिया जाय, तो थोड़ी देर में उड़ता हुआ गुब्बारा जल उठेगा और एक मनोरंजक दृश्य उपस्थित करेगा।

एक दूसरा मनोरंजक प्रयोग साबुन के बुलबुलों का

उड़ाना है। इसके लिए निम्न रीति से तैयार किया गया साबुन का घोल बहुत ही उपयुक्त पाया गया है। ४०० C.C. आसवित जल में १० ग्राम सोडियम ओलिएट (साबुन का एक अवयव) छोड़कर एक बंद बोतल में तब तक रखा रहने दीजिए जब तक कि वह घुल न जाय। इसमें १०० C.C. ग्लिसरीन छोड़कर किसी अँधेरी जगह में कुछ दिन के लिए छोड़ दीजिये, फिर ऊपर का साफ घोल निथारकर उसमें एक बूंद तेज अमोनिया छोड दीजिये। हवा में खुला न छोड़ने और अँधेरी जगह में रखने से यह घोल बरसों काम दे सकता है। साबुन के बुलबुलों को बनाने के लिए एक थिसल कीप के पतले सिरे को रबर की नली द्वारा किप अपरेटस अथवा किसी अन्य हाइड्रोजन अपरेटस से जोड़ दीजिए और कीप को उपर्युक्त साबुन के घोल में डुबा दीजिए। जैसे ही बुलबुला बनने लगे, वैसे ही कीप को ऊपर उठा देने से बुलबुला बन जायगा और अलग होकर उड़ जायगा। ये उड़ते हुए बुलबुले सावधानी से जलाने पर जल उठते हैं और मनोरंजक दृश्य प्रस्तुत करते हैं।

हाइड्रोजन और हवा के घनत्व में अत्यधिक विभिन्नता होने के कारण उनकी प्रकाश की आवर्त्तन सम्बन्धी क्षमता में भी बहुत अन्तर होता है। इसीलिये वायु में मिश्रित होती हुई हाइड्रोजन पारदर्शक होते हुए भी तीव्र प्रकाश में अपनी छाया डालती है। हाइड्रोजन उपकरण के मुंह में लगी हुई किसी पतली टोंटी को, जिससे हाइड्रोजन निकल रही हो, किसी श्वेत तल के समक्ष रखकर यदि सामने से कोई तीव्र प्रकाश डाला जाय, तो यह छाया देखी जा सकती है।

हाइड्रोजन, इतनी हलकी होने के कारण, गुब्बारों तथा वायुपोतों में भरने के लिए प्रयुक्त होती है। पृष्ठ ४८८ पर ऐसे एक गुब्बारे तथा वायुपोत के कुछ चित्र दिये गये हैं। इन गुब्बारों और वायुपोतों में हाइड्रोजन प्रसरणशील थैलों में भरी रहती है। लेकिन प्रज्वलनशील होने के कारण इसका उपयोग खतरनाक साबित हुआ है। इसलिए आजकल वायुपोतों में हाइड्रोजन की जगह पर इसके बाद वाली दूसरी सबसे हल्की गैस हीलियम का उपयोग होने लगा है। हीलियम में रासायनिक क्रियाशीलता होती ही नहीं, अतएव न वह जल ही सकती है और न उसमें और ही कोई रासायनिक परिवर्तन संभव है। परन्तु हाइड्रोजन की तुलना में हीलियम अधिक मँहगी पड़ती है।

ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा
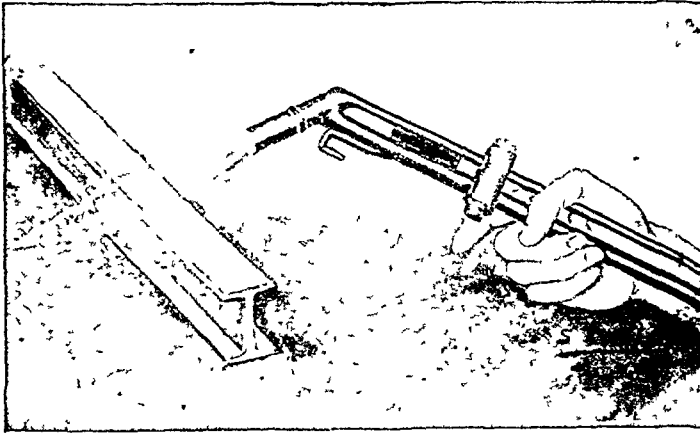
ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा

इस चित्र में ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा द्वारा लोहे की एक गर्डर को काटते हुए दिखाया गया है। यंत्र में दो नलिया है, जो मुँह पर मिलकर एक हो जाती है। एक नली से हाइड्रोजन और दूसरी से ऑक्सिजन गैस आती है। दोनों का मिश्रण टोंटी से निकलता है। जब वह सुलगा दिया जाता है, तब भीषण गरमीवाली लौ पैदा हो जाती है।

हाइड्रोजन का एक अन्य उपयोग 'ऑक्सी-हाइड्रोजन ज्वाल-शिखा' के उत्पादन में होता है। इस ज्वाल-शिखा का ताप लगभग २८००°C. होता है और यह इतनी गरम होती है कि अधिकतर धातु इससे जोड़ी, गलाई, अथवा छिद्रित की जा सकती है। इस कार्य के लिए जो यंत्र प्रयुक्त होता है, उसमें दो पतली नलियाँ समानान्तर होती हैं, जिनमें से एक में से हाइड्रोजन गैस आती है और दूसरी से ऑक्सिजन। अब चूंकि मुंह पर दोनों नलियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, अतः उनकी सम्मिलित टोंटी से दोनों गैसों का मिश्रण निकलता है। जब यह मिश्रण सुलगा दिया जाता है तो वह हाइड्रोजन की उपस्थिति के कारण फौरन् जल उठता है। परन्तु चूँकि उसमें आक्सिजन भी मिली रहती है, अतः हाइड्रोजन और भी तेजी से जलती है और उसमें भीषण ऊष्मा पैदा होती है। यह अत्यधिक ताप की लौ जब किसी भी धातु पर प्रसारित की जाती है तो वह तत्क्षण पिघल जाती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धातव ऑक्साइडों के अल्पीकरण की क्रिया में भी हाइड्रोजन का उपयोग होता है। हाइड्रोजन का एक अन्य आधुनिक उपयोग वनस्पति तेलों को तथाकथित वनस्पति घी में परिवर्तित करने का है। इसके लिए निकल धातु के महीन चूर्ण की उपस्थिति में जब हाइड्रोजन गैस वनस्पति तेलों में से गुजारी जाती है, तो तेल इससे संयुक्त होकर घी जैसे रूप म परिणत हो जाते हे। निकल-चूर्ण इस संयोग को केवल संभव कर देता है और इस क्रिया की गति को बढ़ाता है, किन्तु स्वयं परिवर्तित नहीं होता। ऐसे पदार्थों को उत्प्रेरक पदार्थ (कैटेलिस्ट) कहते हैं।

जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस

सृष्टि के एक सौ एक मूल तत्त्वों में ऑक्सिजन तत्त्व न केवल अत्यधिक व्यापक बल्कि सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है—यह इसलिए महत्वपूर्ण है कि वनस्पति और प्राणी सभी का जीवन मुख्यतः इसी पर निर्भर है। वास्तव में यदि हम इसे 'प्रकृति की प्राणवायु' कहकर अभिहित करें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

रासायनिक दृष्टि से हमारा और अन्य सभी प्राणियों का जीवन ऑक्सीकरण की एक अविरत क्रिया है। आप अपने मुंह और नाक को बंद कर लीजिए—कुछ ही सैकंडों अथवा एक ही आध मिनट में आप मृत्यु की-सी यातना से घबड़ा उठेंगे। ऐसा क्यों होता है ? इसीलिए कि आप हवा में मिश्रित जीवनप्रदायिनी ऑक्सिजन गैस से वंचित कर दिये गये। हवा में मुख्यतः दो गैसें—नाइट्रोजन और ऑक्सिजन—मिश्रित रहती हैं; वैसे तो कार्बन डाइ-आक्साइड, जलवाष्प, हीलियम आदि विरल गैसें तथा हाइड्रोजन, धूलिकण आदि कई अन्य पदार्थ भी कुछ-न-कुछ परिमाण में मिश्रित रहते हैं। हवा मे चार आयतनिक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते है, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। केवल हवा में ही नहीं, संसार में बहुत कम ऐसे प्राकृतिक पदार्थ है, जिनमें संयुक्त या असंयुक्त रूप में ऑक्सिजन तत्त्व न रहता हो। पानी के भार के नौ भागों में आठ भाग ऑक्सिजन के होते हैं। इसके अतिरिक्त सारे प्राणियो तथा पेड़-पौधो के कलेवर में, और मिट्टी, पत्थर, बालू आदि पदार्थों में ऑक्सिजन गैस बहुत बड़े परिमाण में रहती है। संसार के एक सौ एक मूल तत्त्वों में सबसे अधिक व्यापक ऑक्सिजन गैस ही है।

फ्लोजिस्टनवाद

इतना व्यापक होते हुए भी मनुष्य ने इस मूल तत्त्व को सन् १७७४ ई० तक न पहचाना। इस समय के पहले मानव जाति मे विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। स्वयं वैज्ञानिक तक हवा के अवयवों तथा उनके गुणों से नितान्त अनभिज्ञ थे। आज हम जानते हैं कि जब विभिन्न मूल तत्त्व हवा मे जलते है, तो ऑक्सिजन से संयुक्त होकर अपनी-अपनी ऑक्साइडें बनाते है, किंतु उन दिनों जलने की क्रिया को कोई समझता ही न था। पाश्चात्य वैज्ञानिकों का तो यह विचार था कि जलने पर वस्तुओ से लौ के रूप में एक वस्तु निकलने लगती है, और उस वस्तु का नाम उन लोगों ने 'फ्लोजिस्टन' (या जलनेवाला पदार्थ') रक्खा। उनका यह विश्वास था कि कोयला-जैसी वस्तुओं का भार जलने से इसलिए कम हो जाता है कि उनका फ्लोजिस्टन निकल जाता है। परंतु बाद में जब यह देखा गया कि सीमा सरीखी धातुएँ गरम करने पर भार में बढ़ जाती है, तो फ्लोजिस्टनवादी रसायनशास्त्रियों ने इसका अर्थ यों समझाया कि ऐसी धातुओं में रहनेवाले फ्लोजिस्टन का भार ऋण होता है; अत. धातु में ऋण फ्लोजिस्टन घटाने से बीज-गणित के सिद्धांत के अनुसार धन फ्लोजिस्टन हो जाता है, [यथा, धातु—(– फ्लोजिस्टन) = धातु + फ्लोजिस्टन = धातु की भस्म]; अतएव भार बढ़ेगा ही ! आधुनिक विज्ञान के दृष्टिबिन्दु से यह धारणा कितनी उपहासास्पद है; किन्तु उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में यह कितनी गंभीरतापूर्वक जड़ जमाये हुए थी !

सन् १७७४ में फ्रेंच रासायनिक लवॉयसियर ने उस कार्य का आरंभ किया, जिससे सैकड़ों वर्षों से अड्डा जमाये हुए 'फ्लोजिस्टन' के भूत का भंडाफोड संभव हो सका। लवॉयसियर ने जल या पारद से भरे हुए एक नांद में औंधाये हुए एक शीशे के बरतन के भीतर थोड़ा-सा सीसा और फिर एक दूसरे प्रयोग में रांगा रक्खा, और उन धातुओं को ३३ इंच व्यास के एक आतिशी शीशे से गरम किया। इन प्रयोगों में उसने देखा कि हवा का कुछ भाग या तो नष्ट हो जाता है, अथवा धातु उसे 'सोख' लेती है। इस शंका का समाधान करने के लिए उसने रांगा (टीन) को गर्म करके पहले भस्म में परिणत किया और

फिर उस भस्म को गरम करके हवा के उस गोपित भाग को निकालने का प्रयत्न किया। लेकिन वह सफल न हो सका। इसी वर्ष प्रीस्टली नामक एक अंग्रेज रासायनिक ने यह देखा कि पारे को गरम करने से जो लाल भस्म वनती है, यदि उसे आतिशी शीशे द्वारा एक बंद वरतन में गरम किया जाय, तो एक ऐसी 'हवा' निकलती है, जिसमें वस्तुएँ वड़ी शीघ्रता से जल उठती हैं। लेकिन प्रीस्टली अभी फ्लोजिस्टन के भूत से स्वतन्त्र नहीं हुआ था। वह समझा कि इस क्रिया में भस्म हवा की फ्लोजिस्टन से मिलकर फिर धातु मे परिवर्तित हो गई है। इसीलिए उसने पारे की भस्म से निकली हुई 'हवा' का नाम 'फ्लोजिस्टनरहित 'हवा' रक्खा। इसी वर्ष प्रीस्टली ने पेरिस में लवॉयसियर से भेंट की और अपना यह वैज्ञानिक सवाद कह सुनाया। लवॉयसियर ताड़ गया कि यह गैस वही हो सकती है, जिसे वह रांगे की भस्म से निकालना चाहता था। उसने अनेक प्रयोग किये और उनके द्वारा पूर्णतः सिद्ध कर दिया कि हवा में एक आयतनिक भाग 'क्रियाशील हवा' का और चार आयतनिक भाग 'क्रियाहीन हवा' के हैं और वस्तुएँ जलने में इसी क्रियाशील हवा से संयुक्त हो जाती हैं। लवॉयसियर ने यह भी प्रयोग कर दिखाया कि गंधक और फास्फोरस के जलने में भी यही वात होती है, लेकिन इनके जलने में जिन यौगिकों का उत्पादन होता है, वे पानी में घुल-कर अम्लों में परिणत हो जाते हैं। इस वात से लवॉयसियर को भ्रम हुआ कि 'क्रियाशील हवा' सारे अम्लों का एक आवश्यक अवयव है। इसलिए उसने इस हवा का नाम 'ऑक्सिजन' (ऑक्सी = अम्ल, जन = पैदा करने-वाला, अर्थात् अम्ल को जन्म देनेवाला) रक्खा। यद्यपि यह वात विलकुल ठीक न थी और कई अम्लों में ऑक्सिजन विलकुल नहीं होती, तथापि यही नाम
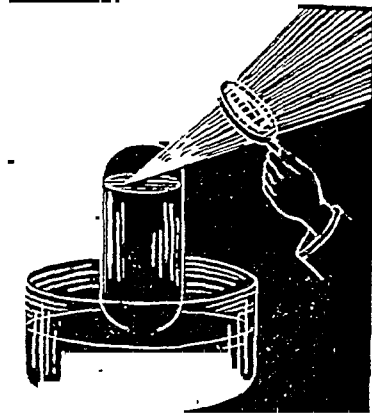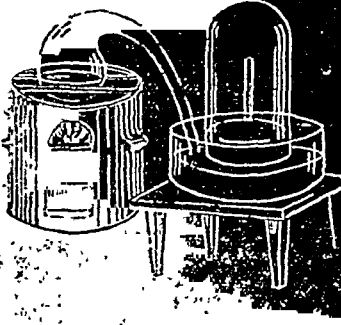
लवॉयसियर और प्रीस्टली के ऑक्सिजन-संबंधी प्रारंभिक प्रयोग

(दाहिनी ओर) पारदिक ऑक्साइड को आतिशी शीशे द्वारा गर्म करके प्रीस्टली ने पहले-पहल ऑक्सिजन तैयार की, लेकिन इस क्रिया को वह स्वयं समझ न सका। (वाईं ओर) लवॉयसियर एक अँगीठी में कई दिन तक पारा गर्म करता रहा। उसने यह दिखा दिया कि वह हवा के पाँचवें भाग (क्रियाशील हवा) से संयुक्त होकर भस्म में परिणत हो जाता है। प्रयोग के अंत में औंधे वरतन में हवा का आयतन पहले आयतन का रह गया। लवॉयसियर ने देखा कि वची हुई हवा में जलती हुई वस्तु डालने से वह तुरंत बुझ जाती है और चूहा उसमें मर जाता है।
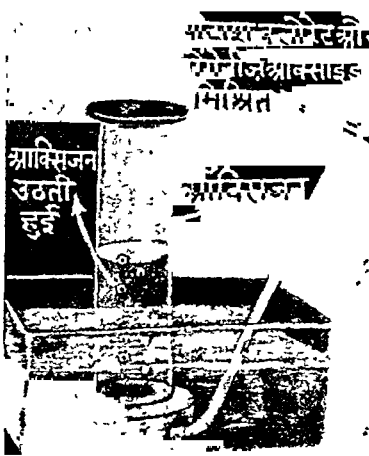
पोटैशियम क्लोरेट से ऑक्सिजन का उत्पादन

प्रयोगशाला में ऑक्सिजन सबसे सुविधापूर्वक पोटैशियम क्लोरेट को उसके तौल के चतुर्थांश मैंगनीज डाइ-आक्साइड के साथ मिलाकर धीमी आँच पर गरम करके तैयार की जाती है। ऑक्सिजन जार में इकट्ठी हो जाती और पोटैशियम क्लोराइड वच रहता है।

अब तक चला आ रहा है। लवॉयसियर और प्रीस्टली के लगभग साथ-ही-साथ स्वीडन में शील नामक एक वैज्ञानिक ने भी स्वतंत्र अनुसंधान द्वारा ऑक्सिजन की खोज की, लेकिन उसने अपने अनुसंधान को १७७७ ई० तक प्रकाशित नहीं किया, अत: इस खोज का श्रेय लवॉयसियर और प्रीस्टली को ही दिया जाता है। फ्रांस की राज्यक्रांति में लवॉयसियर का सिर गिलेटिन (प्राणदण्ड देने का एक यंत्र) द्वारा धड़ से उड़ा दिया गया। उस समय तो उसके महत्व को कोई समझता ही न था और उसके समर्थकों से अधिक उसके विरोधी थे। प्रीस्टली को स्वयं फ्लोजिस्टन सिद्धांत इतना प्रिय था कि वह लवॉयसियर के नये विचारों का अन्त तक विरोध करता रहा। लेकिन आखिर सत्य ही की विजय हुई। वुर्ट्ज नामक फ्रेन्च रासायनिक ने गर्व के साथ कहा है--"रसायन फ्रांस का विज्ञान है। इसका संस्थापक अमर शहीद लवॉयसियर है।" वास्तव में, वास्तविक रसायन विज्ञान का अध्ययन उसी क्षण से शुरू होता है, जब 'क्रियाशील हवा' का विचार महान् रासायनिक लवॉयसियर के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ।

ऑक्सिजन का उत्पादन

प्रयोगशाला में ऑक्सिजन गैस उन यौगिकों से बनाई जाती है, जिनमें यह मूल तत्त्व पर्याप्त परिमाण में रहता है और जो गरम करने पर विच्छिन्न होकर ऑक्सिजन गैस को निकालने लगते हैं। पारदिक ऑक्साइड, शोरा, सीसे की लाल भस्म तथा पोटैशियम क्लोरेट इस प्रकार के यौगिकों के कुछ उदाहरण हैं। इन सबमें पोटैशियम क्लोरेट से ऑक्सिजन तैयार करना सबसे अधिक सुविधामय है। जब पोटैशियम क्लोरेट अपनी तौल के चौथे हिस्से मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड से पीसकर मिला दिया जाता है तो इस मिश्रण को धीमी आँच द्वारा गरम करने से ऑक्सिजन गैस तीव्र गति से और अधिक सुगमता के साथ निकल आती है। पोटैशियम क्लोरेट के एक अणु में एक परमाणु पोटैशियम का, एक क्लोरीन का और तीन ऑक्सिजन के रहते हैं। इसलिए इसका अणुसूत्र ($KClO_3$) लिखा जाता है। पोटैशियम का प्रतीक K है, क्योंकि इसका लैटिन नाम कैलियम है। जब पोटैशियम क्लोरेट गरम किया जाता है, तो ऑक्सिजन निकल जाती है और पोटैशियम क्लोराइड (KCl) रह जाता है। क्रिया समाप्त होने पर मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड में कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं पाया जाता, अत: वह केवल उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) का ही काम करता है। पोटैशियम क्लोरेट और मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड के इस मिश्रण को 'ऑक्सिजन मिश्रण' कहते हैं। कभी-कभी मैंगनीज डाइ-ऑक्साइड में कुछ अंश कार्बन का मिश्रित रहता है, जिससे कार्बन के एकाएक जल उठने के कारण 'ऑक्सिजन-मिश्रण के विस्फुटित हो जाने का भय रहता है। इसलिए प्रयोग के पहले थोड़े से ऑक्सिजन-मिश्रण को परीक्षा-नली में गरम करके परख लेना चाहिए। गैस तैयार करने के लिए थोड़ा-सा ऑक्सिजन-मिश्रण कड़े शीशे की एक मजबूत फ्लास्क में गरम किया जाता है और ऑक्सिजन गैस को जारों में पानी नीचे हटाकर इकट्ठा कर लिया जाता है। गैस के बन चुकने पर पहले निकास-नली पानी से हटा ली जाती है, फिर ऑक्सिजन-मिश्रण को गरम करना बंद किया जाता है, नहीं तो फ्लास्क की हवा के सिकुड़ने के कारण पानी के चढ़ जाने और फलत: विस्फोट होने का भय रहता है। इस प्रकार भरे हुए गैस-जारों में जब दीप-चमचियों द्वारा जलती हुई मोमबत्ती अथवा जलते हुए कोयले, गंधक, फास्फोरस, मैग्नेशियम रिबन आदि के टुकड़े प्रविष्ट किये जाते हैं, तो ये वस्तुएँ और भी तेजी और उजाले के साथ जलने लगती हैं (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)।
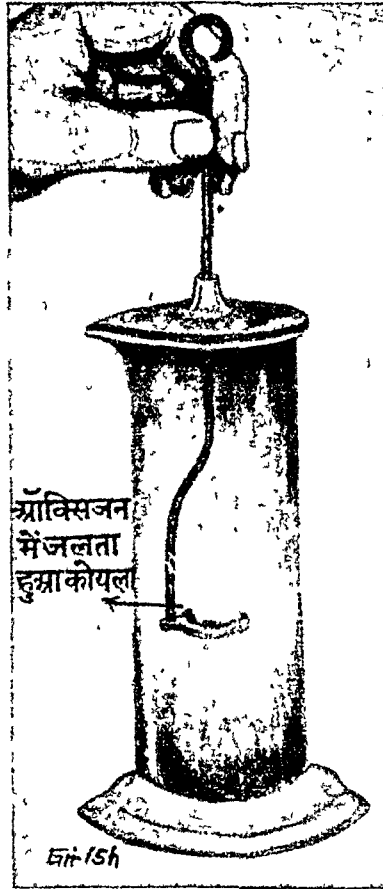
ऑक्सिजन में चीजें तेजी से जलती हैं

कोयला, गंधक, फास्फोरस आदि जलाकर ऑक्सिजन में भरे जार में डालने से और उजाले के साथ जलने लगते हैं।
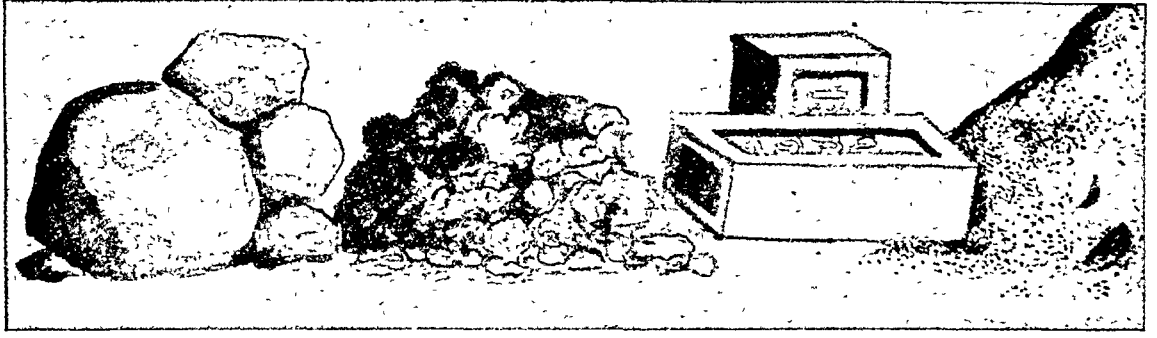
अज्वलनशील वस्तुएँ

ईंट, पत्थर, मिट्टी, आदि इसीलिए नहीं जल सकते कि ये दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बने हैं और इनमें जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी पहले ही हो चुकी है।

अधिक परिमाण में ऑक्सिजन का उत्पादन

ऑक्सिजन गैस पानी के वैद्युत् विश्लेपण द्वारा भी बनाई जा सकती है, लेकिन उसको अधिक परिमाण में तैयार करने के लिए सबसे सरल और सस्ती रीति यह है कि हवा को द्रवीभूत करके ऑक्सिजन उससे पृथक् कर ली जाय। हवा पर वायुमंडल के दवाव से लगभग २०० गुना दवाव डालकर वह एक सर्पिल नली से होकर ले जाई जाती है और फिर एक छोटे छिद्र द्वारा एक कोष्ठ में निकाल दी जाती है। ऐसा करने से उसका दवाव एकाएक घटता है और वह ठंढी हो जाती है। यह ठंढी हवा एक ऐसे चौड़े नल द्वारा ऊपर चढ़ती है, जिसके अन्दर-ही-अन्दर पहलेवाली पतली नली आती है और इस प्रकार पतली नली से आती हुई दवी हवा और भी अधिक ठंडी हो जाती है। ऐसा होते रहने से हवा अधिकाधिक ठंडी होती रहती है, यहाँ तक कि वह द्रवीभूत होकर कोष्ठ मे इकट्ठा होने लगती है। इस तरल वायु का ताप एक विशेष रीति द्वारा सावधानी से बढ़ाया जाता है, जिससे नाइट्रोजन गैस पृथक् हो जाती है और ऑक्सिजन द्रव रूप में शेष रह जाती है। कारण, तरल नाइट्रोजन का क्वथनांक -१९४°C है और तरल ऑक्सिजन का -१८२°C; अतएव नाइट्रोजन नीचे ताप पर उवलकर गैस में बदल जाती है और ऑक्सिजन द्रवरूप में शेष रह जाती है।

ऑक्सिजन के भौतिक और रासायनिक गुण

ऑक्सिजन एक अदृश्य, गंधहीन, स्वादहीन गैस है। यह कुछ हद तक पानी मे घुलती है। यदि पानी में ऑक्सिजन न घुले, तो अधिकतर जलचरो का जीवन ही असंभव हो जाय। ऑक्सिजन का अणुसूत्र O_2 है, अर्थात साधारणतया ऑक्सिजन का अस्तित्व ऐसे कणों या अणुओं में होता है, जिनमें प्रत्येक मे ऑक्सिजन के दो-दो परमाणु संयुक्त रहते हैं।

हवा में ऑक्सिजन के साथ नाइट्रोजन का मिला रहना परमावश्यक है। यह नाइट्रोजन बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य

ज्वलनशील वस्तुएँ

तेल, लकड़ी, मोमवत्ती, घास, रुई आदि वस्तुएँ हवा में इसीलिए जल सकती हैं कि ये ऑक्सिजन से संयुक्त हो सकती हैं।

करती है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन ही रह जाय, तो जरा-सी आँच दिखाते ही अधिकतर वस्तुएँ बड़े जोर से जल उठें, यहाँ तक कि धातुएँ भी जलकर भस्म हो जाएँ। यदि हवा में केवल ऑक्सिजन ही होती तो अँगीठी में केवल कोयला ही न जलता, वरन् स्वयं अँगीठी भी जलकर शीघ्र भस्म हो जाती। इस प्रकार सारे ससार में आग लगकर केवल उसका भस्मावशेष ही रह जाता। नाइट्रोजन अपने में दूसरी वस्तुओं को नही जलने देती और ऑक्सिजन को भी अत्याचार करने से रोकती रहती है। शुद्ध ऑक्सिजन हमारे फेफड़ों के लिये भी अति तीव्र प्रमाणित होती है। केवल ऑक्सिजन में हम देर तक साँस नहीं ले सकते।

कुछ को छोड़कर संसार के सारे मूल तत्त्व ऑक्सिजन से संयुक्त होकर ऐसे यौगिकों में परिणत हो जाते है, जिन्हें हम ऑक्साइड कहते है। लकड़ी, रुई, तेल, मोम आदि बहुत-से यौगिक भी ऑक्सिजन या हवा में जलते हैं। यह यौगिक प्रायः इसीलिए जलते है कि उनमे ज्वलनशील कार्बन और हाइड्रोजन की उपस्थिति रहती है। बहुत-से पदार्थ इसीलिए नही जलते कि वे दूसरी वस्तुओं के जलने से ही बने है और उनमे जितनी ऑक्सिजन संयुक्त हो सकती थी संयुक्त हो चुकी है। मिट्टी, बालू, ईंट, पत्थर आदि वस्तुएँ ऐसे पदार्थों के उदाहरण है। बहुधा वस्तुएँ तीव्र गति से जलती है और उनके जलने में ऊष्मा और ज्वाला दोनो की ही उत्पत्ति होती है। जलने की ऐसी क्रियाओं को 'तीव्र दहन' कहते है। लेकिन ऑक्सिजन से संयुक्त होने की अर्थात् ऑक्सीकरण की कुछ क्रियाएँ मद गति से भी हुआ करती है और उनमें ऊष्मा के धीरे-धीरे निकलने के कारण ज्वाल-शिखा का उद्भव नही होता। ऐसी क्रियाओं को 'मंद दहन' कहते है। धातुओं में मोर्चा लगना मंद दहन का एक उदाहरण है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यह दहन केवल ऑक्सिजन में ही नही, अन्य गैसों में भी हो सकता है, यथा मोमबत्ती, हाइड्रोजन आदि दहनशील पदार्थ क्लोरीन गैस मे भी जलते है।

यदि हवा में केवल ऑक्सिजन होती तो क्या होता?

हवा में मुख्यतः चार आयतनिक भाग नाइट्रोजन गैस के रहते है, तो एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। हवा में नाइट्रोजन का इस तरह मिला होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह नाइट्रोजन हटा ली जाय और केवल ऑक्सिजन हवा में शेष रह जाय, तो जरा-सी आँच लगते ही अधिकतर वस्तुएं जलकर भस्म हो जाएगी। यदि हवा में ऑक्सिजन के साथ अधिकांश भाग नाइट्रोजन का न होता तो, जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है, न केवल अँगीठी में कोयला ही जलता, वरन् स्वय अँगीठी भी जलकर भस्म हो जाती! इस तरह हम देखते हैं कि नाइट्रोजन ऑक्सिजन को अत्याचार करने से रोकती है।

जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व

प्राणियो के जीवन का रहस्य भी ऑक्सीकरण सबधी दहन में छिपा हुआ है। हमारे फेफड़ों में किस प्रकार ऑक्सीकरण होता है और हमें ऊष्मा और शक्ति किस प्रकार मिलती है, इसकी चर्चा हम इससे पहले ही कर चुके है। ताजी हवा हमारे लिए इसीलिए लाभदायक है कि इसमें ऑक्सिजन अधिक परिमाण में रहती है। कमरो में अधिक दरवाजे अथवा खिड़कियाँ इसीलिए चाहिये कि ऑक्सिजन की पूर्ति होती रहे। हमे नाक के ऊपर से ओढ़कर इसीलिए नही सोना चाहिए कि इससे हमें पर्याप्त ऑक्सिजन उपलब्ध नही होती। अत्यधिक भीड़ मे इसीलिए हम व्याकुल होने लगते है कि वहाँ की हवा में ऑक्सिजन की कमी हो जाती है। बहुधा लोग जाड़े के दिनों में कमरे के अंदर जलती हुई अँगीठी रख देते है और कमरे को बिल्कुल बंद करके सो जाते है। ऐसा करना तो आत्मघात करने का ही एक उपाय है। कारण, कोयले के जलने से कमरे की ऑक्सिजन गैस कार्बन डाइ-ऑक्साइड और कार्बन मोनॉक्साइड गैसों में परिणत हो जाती है। कार्बन मोनॉक्साइड ऐसी विषाक्त गैस है कि वह एक ओर तो प्राणी को निद्रित कर देती है और दूसरी ओर मृत्यु के

मुँह में ढकेल देती है ! फल यह होता है कि प्राणी न तो जग ही सकता है और न भाग ही सकता है। वहुधा पुराने पड़े हुए कुओं मे पैठने से मनुष्य मरते देखे गये हैं। यह इसीलिए होता है कि मंद ऑक्सीकरण द्वारा कुओं में ऑक्सिजन समाप्त हो जाती है और विषाक्त अथवा दूषित गैसें उसमें रह जाती है, जो कुएँ के अंदर हवा के प्रवाह के न होने के कारण निकल भी नही पाती। अतः ऐसे कुएँ में घुसने के पहले उसमें एक जलती हुई लालटेन लटकाना चाहिए, और यदि वह अंदर जाकर बुझ जाय, तो उसमें कदापि न पैठना चाहिए।

अस्पतालों में ऑक्सिजन ऐसे व्यक्तियो को दी जाती है, जिनका दम घुट रहा हो। वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा वहुत पतली होती है, इसलिए पर्वतों पर चढ़नेवाले तथा उड़ाकू लोग अपने साथ ऑक्सिजन के पीपे ले जाते है। समुद्र के अंदर गोता लगाने वाले पनडुब्बे भी पानी में साँस लेने के लिए ऑक्सिजन गैस का उपयोग करते है।

ऑक्सिजन का उपयोग

ऑक्सिजन हमारे जीवन के लिए एक अति आवश्यक तत्त्व है। आप अपने मुँह और नाक को बंद कर लीजिये—कुछ ही सेकंडों में आप घबड़ा उठेंगे। क्यों ? इसीलिए कि आप हवा में मिली हुई ऑक्सिजन से वंचित कर दिये गये। जीवन के लिए ऑक्सिजन की इस उपयोगिता के ही कारण आज के दिन हमारे दैनिक व्यवहार में ऑक्सिजन का अनेक प्रकार से उपयोग किया जाने लगा है। जहाँ भी साँस लेने के लिए हवा की कमी रहती है, वहाँ अब कृत्रिम रूप से साँस लेने के लिए ऑक्सिजन का प्रयोग किया जाता है।

बगल के चित्र में एक उड़ाका थैलों में भरी ऑक्सिजन द्वारा कृत्रिम रूप से साँस लेने का एक यंत्र लगाकर हवाई जहाज पर चढ़ रहा है। यह जानी हुई बात है कि वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा पतली रहती है, इससे वहाँ साँस लेने में दिक्कत होती है। ऑक्सिजन-यंत्र के कारण ऐसे वातावरण में साँस लेना अब सुगम हो गया है।

जीवन का महान् माध्यम—पानी

सृष्टि में जल या पानी का एक विशिष्ट स्थान है; क्योंकि प्रधानतया जल ही के द्वारा जीवन का विकास संभव हुआ है। आइए, इस अत्यंत महत्वपूर्ण तत्त्व के विषय में कुछ रासायनिक बातें इस लेख में बताएँ।

प्रकृति में पानी

ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिस समय पृथ्वी सौर महापिंड से पृथक् हुई, उस समय एक कल्पनातीत महाताप के कारण उसके सारे मूल तत्त्व गैसीय दशा में आकाश में फैले थे। इन मूल तत्त्वों मे हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के परमाणु इतने अधिक वेग से स्फुरित हो रहे थे कि उन्हें परस्पर रासायनिक सबंध जोड़ने का अवकाश ही न था। लाखों वर्षो तक धीरे-धीरे ठंडा होने के पश्चात् इन दो मूल तत्त्वों का संयोग सभव हो सका। हाइड्रोजन के दो-दो परमाणु ऑक्सिजन के एक-एक परमाणु से संयुक्त होकर भाप में परिणत हो गये। फिर लाखों वर्षो बाद यह भाप बादलों मे परिणत हो सकी। यह बादल जब पहले-पहल बरसे होंगे, तो इनकी बूंदें धधकती हुई पृथ्वी के तल तक पहुँचने के पहले ही वाष्पीभूत होकर उड़ गई होंगी ! करोड़ों-अरबों वर्षो तक ठंडा होने के बाद यह संभव हो सका होगा कि पानी भाप से जलरूप में घनीभूत होकर पृथ्वीतल के गड्ढो में जमा हो सके। जल से भरे हुए यही गड्ढे आजकल महासागर के नाम से पुकारे जाते है। इनकी अधिक-से-अधिक गहराई केवल पाँच-छ: मील है, लेकिन इनका पानी आज पृथ्वीतल के लगभग दो तिहाई भाग को ढके हुए है। जब पृथ्वी-पृष्ठ तथा उस पर फैले हुए पानी का ताप काफी नीचा हो गया, तभी जीवन की उत्पत्ति का आरंभ हुआ। इस जीवन का जन्म पानी में ही और उसी के द्वारा संभव हो सका, और तब से निरंतर वनस्पति और जैव दोनों ही प्रकार के जीवन के विकास में पानी ने ही प्रधान माध्यम का कार्य किया है। जिन रासायनिक क्रियाओं द्वारा जीवों

के कलेवर का निर्माण होता है, वे पानी की ही उपस्थिति में संभव हैं, अन्यथा नहीं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि जीवन के अस्तित्व के लिए पानी का महत्व कितना अधिक है। यदि हमें कई सप्ताह तक भोजन न मिले तो जीवित रहना संभव है, लेकिन पानी के बिना हम दो एक दिन से अधिक नहीं रह सकते। इसी प्रकार यदि कोई पेड़ अधिक समय के लिए पानी से बिलकुल ही वंचित कर दिया जाय, तो वह भी मुरझाकर निर्जीव हो जायगा। इस दृष्टि से पानी का दूसरा नाम 'जीवन' कितना सार्थक है !

पृथ्वी पर पानी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। उसके सबसे बड़े भांडार पृथ्वी के महासागर हैं। जिस समय पानी धरातल पर जमा होने लगा होगा, उसी समय जहाँ-जहाँ उसकी पहुँच हुई होगी, वहाँ के घुलनशील पदार्थ उसमें घुल गये होंगे। ये भाँति-भाँति के लवण थे। समुद्र-जल के खारी होने का यही कारण है। उसके भार के सौ भागों में प्रायः साढ़े तीन भाग घुले हुए लवणों के होते हैं। इन ३·५ भाग लवणों में भिन्न-भिन्न लवणों की मात्रा इस प्रकार पाई जाती है:—

हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से पानी बनाने की विधियाँ

विशेष विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ५०१ का मैटर।

सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक) ···	२·७०
मैग्नेशियम क्लोराइड ··· ··· ···	·३६
मैग्नेशियम सल्फेट ··· ··· ···	·२३
कैल्शियम सल्फेट ··· ··· ···	·१४
पोटैशियम क्लोराइड ··· ··· ···	·०७
मैग्नेशियम ब्रोमाइड, कैल्शियम बाइकार्बोनेट, आयोडाइड, आदि अन्य लवण ··· ···	सूक्ष्मांशों में

इन्हीं महासागरों के महान् भांडार से सारे धरातल पर निरंतर जल का वितरण हुआ करता है। जल-पृष्ठ से पानी सूर्य द्वारा गरम होकर वाष्पीभूत होता रहता है। जलवाष्प हवा से हलकी होती है और समुद्रतल के निकट की हवा भी गरम होकर हलकी हो जाती है; अतः वाष्पमय उष्ण वायु ऊपर उठती रहती है। जब यह वाष्प वातावरण के ठंडे स्तरों में पहुँचती है तो घनीभूत होकर बादलों में बदल जाती है। ये वाष्प और बादल वायुधाराओं द्वारा पृथ्वी के विभिन्न भागों के ऊपर पहुँचते हैं, और वहाँ वर्षा, तुषार अथवा हिम के रूप में भूमि पर उतर आते हैं। जो पानी इस प्रकार भूमि पर उतरता है, वह प्रकृति का सबसे शुद्ध जल होता है, क्योंकि वाष्पीकरण में केवल जल ही जल हवा में मिश्रित होता रहता है और उसके लवणादि जलाशय में ही रह जाते हैं। वर्षा का जल वास्तव में प्रकृति द्वारा आसवित किया हुआ जल होता है। फिर भी इस जल में वायु और वायुजन्य अथवा वायु में रहनेवाले पदार्थ घुले या मिले रहते हैं। इसी कारण वर्षाजल में सूक्ष्मांशों में ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, कार्बन डाइ-आक्साइड, अमोनिया, अमोनियम नाइट्रेट, धूलि-कण आदि अशुद्ध करनेवाली वस्तुएँ मिलती हैं। कुछ वृष्टि हो जाने के बाद जब वातावरण कुछ धुल जाता है तब वर्षाजल अधिक शुद्ध आने लगता है।

जल-वितरण का चक्र

इस प्रकार जल अथवा हिम-वर्षा द्वारा जो पानी भूमि पर उतरता है, वह या तो उसमें शोषित हो जाता है, अथवा ढाल की ओर बह जाता है, अथवा फिर वाष्पीभूत होकर आकाश में उड़ जाता है। शोषण होने पर जब जल भूमि के अंदर उतरता है तो उसमें मिले हुए जीव-पदार्थ छनकर पृथक् हो जाते हैं, परन्तु मार्ग में पड़नेवाले घुलनशील खनिज लवणों तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस को वह घोलता चला जाता है। इन लवणों में मुख्यतः सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक) तथा कैल्शियम और मैग्नेशियम के बाइकार्बोनेट, क्लोराइड और सल्फेट होते हैं। छिद्रमय भूमि से उतरकर यह पानी छिद्रहीन स्तरों पर इकट्ठा होता है और वहाँ से बहुधा ऊपर की ओर मार्ग मिल जाने के कारण धरातल

पर स्रोत-रूप में निकल पड़ता है। कभी-कभी स्रोत-जल में ऐसे पदार्थ घुल जाते है, जो उसे स्वास्थ्यकारी अथवा रोग-नाशक बना देते है। ऐसे जल को खनिज जल कहते है और वह औषधि की भाँति मनुष्य द्वारा प्रयुक्त होता है। दवाओं की दूकानों मे इस प्रकार के अनेक खनिज जल बिका करते है। स्रोतो और कुओ मे अतर यही होता है कि स्रोत नैसर्गिक होते है और कुएँ मनुष्य-निर्मित। यदि कुओ के पानी में लवण अत्यधिक मात्रा मे घुल जाते है तो वह पानी खारी और पीने के अयोग्य हो जाता है।

वर्फ के पिघलने से बना हुआ, सोतो से आया हुआ तथा वर्षा का पानी इकट्ठा होकर नदियो के रूप मे बहता है। नदियो के पानी मे भी लवण घुले रहते है। ये लवण या तो सोतो के पानी से आते है, अथवा जिन-जिन स्थानो में बहकर उसका पानी आता या जाता है, वहाँ के घुलनशील लवण उसमे घुलकर मिल जाते है। इसके अलावा नदियो के पानी मे जीव-पदार्थ, मिट्टी या बालू के कण और स्थान-स्थान मे गदे नालो द्वारा लाया हुआ मैल आदि भी मिला रहता है। ये नदियाँ बहुधा एक-दूसरे से मिलती हुई फिर महासागर मे मिल जाती है। ससार की सब नदियाँ प्रति-वर्ष सागर को ६,५२४ घन-मील पानी भेंट करती है। इस प्रकार महासागरो से आया हुआ पानी फिर महासागरो मे लौट जाता है। जल के वितरण का यह चक्र प्रकृति मे निरंतर चला करता है। इस वितरण द्वारा पानी पृथ्वी पर प्रत्येक स्थान मे वाष्प, जल अथवा हिम के रूप में व्याप्त रहता है।

केवल निर्जीव प्रकृति मे ही नही, सजीव जगत् में भी पानी प्रचुर परिमाण मे व्याप्त रहता है। मानव-शरीर में अवस्था के अनुसार ६० से ८० प्रतिशत तक पानी रहता है। वृद्धावस्था में जीवनोत्पादक रासायनिक क्रियाओं के शिथिल पड़ जाने के कारण पानी कम हो जाता है, लेकिन शिशु के बढते हुए शरीर में पानी अधिक (लगभग ८० प्रतिशत तक) होता है। जब वाष्पीकरण अथवा निष्का-सन के कारण हमारे शरीर मे पानी की कमी हो जाती है और उसमे होनेवाली रासायनिक क्रियाओं के स्वाभा-विक सचालन मे बाधा पड़ने लगती है तो हमे प्यास लगती है और हम पानी पीकर इस कमी को पूरा कर लेते हैं। हमारे शरीर में पानी का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि वह शरीर के विसर्जित पदार्थो को घोलकर या उनसे मिलकर स्वेद अथवा मल-मूत्र के रूप मे बाहर निकाल दे। इन विसर्जित पदार्थो के शरीर में बने रहने से नाना प्रकार के रोग पैदा हो सकते है।

वर्फ के सूक्ष्म कणों की कलापूर्ण रचना
सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर वर्फ के कण ऐसे ही विविध कलापूर्ण आकारों के दिखाई देते ह और प्रकृति की अद्भुत लीला की एक झाँकी हमें दिखाते हे। एक बात गौर करने की यह है कि ये सब षट्कोण ही होते है!

प्यास रहने पर भी पानी न पीना मानों जबरन रोग को निमंत्रण देना है। विभिन्न प्राणियो के शरीर में पानी प्रचुर किन्तु विभिन्न परिमाणों मे रहता है। वैल के शरीर में लगभग ४६ प्रति शत, भेड़ में ४३ प्रति शत, पक्षियो में ७५ प्रति शत और मछलियों मे ८० प्रति शत पानी होता है। वनस्पतियों के कलेवर मे पानी की मात्रा ६० से ६८ प्रति शत तक होती है। साधा-रण हरी पत्तियो मे वह ६० से ८० प्रति शत तक होती है। आलू, आदि कन्दमूल और प्रायः सभी ताजे फलो मे ८५ से ६५ प्रति शत और जल के पौधो मे ६८ प्रति शत तक पानी रहता है; यहाँ तक कि लकड़ी तक मे भी ५० प्रति शत पानी होता है!

संयुक्त रूप में पानी अनेक कार्वनिक यौगिको (जैसे आटा, मैदा, शकर आदि में) और कुछ लवणों मे (जैसे तूतिया, फिटकरी आदि के रवों मे) मौजूद रहता है। इन वस्तुओं को गरम करने से यह पानी निकल पड़ता है। आगे चलकर इस संबंध में अधिक बातें तुम जान सकोगे।

पानी का कृत्रिम उत्पादन

हमें पानी को रासायनिक रीति से तैयार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, कारण वह प्रचुर परिमाण में प्रकृति में उपलब्ध रहता है। फिर भी यह प्रदर्शित करने के लिए कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से बनता है, वैज्ञानिकों ने उसको मूल तत्त्वों से निर्मित करने की कई रासायनिक विधियाँ निकाली हैं। इनमें से दो रीतियाँ इस प्रकार हैं:—

पृ० ४९९ के निचले चित्र के अनुसार हाइड्रोजन-उत्पादक किप अपरेटस की निकास-नली को शुष्क कैल्शियम क्लोराइड से भरी एक यू-नली से रबर नली द्वारा संबंधित कर दीजिये। फिर यू-नली के दूसरी ओर से उसी प्रकार एक बिंदुपातक नली (जेट) जोड़ दीजिये। चूंकि कैल्शियम क्लोराइड जल-शोषक है, अतः वह हाइड्रोजन गैस को शुष्क कर देने का काम करता है। थोड़ी देर तक इन नलियों से होकर गैस को प्रवाहित होने दीजिये, जिससे शुद्ध वायुमुक्त गैस निकलने लगे। वायु-मिश्रित होने पर अपरेटस के अन्दर भयंकर विस्फोट हो सकता है और टूटे हुए शीशे के टुकड़ों द्वारा प्रयोगकर्त्ता को गहरी चोट लग सकती है। इस शुद्ध गैस को जेट पर जला दीजिए और उसकी शिखा को एक ऐसे पात्र के ठंडे तल पर फेंकिए, जिसमें से होकर ठंडा पानी निरंतर बह रहा हो। हाइड्रोजन जलने से हवा की ऑक्सिजन से संयुक्त हो जाती है और फलतः भाप में परिणत हो जाती है। यह भाप ठंडे तल पर घनीभूत हो जाती है, जिससे नीचे रखे हुए एक पात्र में इस प्रकार बना हुआ पानी टपकने लगता है।

दूसरे प्रयोग मे हाइड्रोजन गैस एक बल्ब-नली में तप्त कॉपर ऑक्साइड के ऊपर से प्रवाहित की जाती है। हाइड्रोजन कॉपर ऑक्साइड की ऑक्सिजन से संयुक्त होकर भाप में परिणत हो जाती है और ऑक्साइड का धातु-रूप ताम्र में अवकरण हो जाता है। इस प्रकार बनी हुई भाप, ठंडे पानी में डूबी हुई एक यू-नली में प्रविष्ट करने पर घनीभूत जलरूप में इकट्ठा हो जाती है (पृ० ४९९ का ऊपरी चित्र)।

अशुद्ध और शुद्ध जल

(दाहिनी ओर) अशुद्ध पानी के एक अंश का परिवर्द्धित फोटो। कोरी आंख से ऐसा पानी हमें साफ दिखाई देता है, पर वास्तव में उसकी एक ही बूंद में हजारों ऐसे कीटाणु रहते हैं जैसे इस फोटो में श्वेत धब्बों के रूप में दिखाई पड़ रहे हैं। (बाई ओर) आसवन द्वारा शुद्ध किया गया पानी, जिसमें कीटाणुओं का अभाव है।

शुद्ध और अशुद्ध पानी

मनुष्य अपने उपयोग के लिए पानी प्रायः कुओं, सोतों अथवा नदियों से लिया करता है। प्रत्येक सभ्य मनुष्य सामान्यतः एक दिन में ३५ गैलन पानी खर्च करता है। जिस पानी में लवण अत्यधिक परिमाण में घुले रहते हैं, उसे मनुष्य नहीं पी सकता। भाग्यवश प्रायः सभी स्थानों में मनुष्य को 'मीठा' पानी उपलब्ध रहता है। नदियों और अधिकतर सोतों, झरनों और कुओं का पानी मीठा होता है; लेकिन यह मीठा पानी भी तब तक निर्भय होकर नहीं पिया जा सकता, जब तक कि वह रोग-कीटाणुओं और सड़ते हुए जीव-पदार्थों से सर्वथा मुक्त न हो। पानी विषम ज्वर (टाइफॉयड), विसूचिका (कॉलरा), अतिसार (डायरिया), पेचिश आदि भयंकर रोगों के कीटाणुओं का वाहक होता है और ये कीटाणु उसमें उपस्थित जीव-पदार्थों पर ही बसर करते हैं। अतएव इन दोनों हानिकारक वस्तुओं से पीने के पानी का नितान्त मुक्त होना आवश्यक है। गहरे कुओं में पानी दूर तक बालू से छनकर पहुँचता है, अतः वह प्रायः निर्मल और पेय होता है। अधिक गहराई से निकलनेवाले सोतों का पानी भी इसी कारण शुद्ध होता है। लेकिन उथले अथवा उपयोगहीन कुओं का पानी अथवा उन कुओं का पानी, जिनके आस-पास कच्ची गंदी नालियाँ बहा करती

है, बहुधा जीव-पदार्थों से मिला रहता है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। बँधा हुआ पानी अथवा गदे नाले से मिला हुआ नदियों का पानी भी इस दृष्टि से दूषित होता है। इन अशुद्धताओं से पानी को मुक्त करने का एक सीधा-सादा उपाय यह है कि पानी छानकर उबाल लिया जाय। उबला पानी घुली हुई हवा तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड के निकल जाने के कारण स्वाद मे फीका हो जाता है, किंतु यदि उसे मिट्टी के घड़ो मे भरकर एक दिन तक रक्खा रहने दिया जाय, तो उसमे हवा फिर घुल जाती है और स्वाद लौट आता है। उबाले हुए पानी को ठडा करके एक पात्र से दूसरे पात्र में बार-बार उँडेलने से हवा कम समय मे ही घुल जाती है। यात्रा आदि मे, अथवा ऐसे स्थान मे जहाँ पानी को उबालने की सुविधा नही है, पानी का शोधन टिक्चर आयोडीन द्वारा बहुत सरलता से हो सकता है। यदि लोटे भर पानी में टिक्चर आयोडीन की कुछ बूंदे छोड़कर उसे १५-२० मिनट तक रख दिया जाय, तो सभी हानिकारक कीटाणु नष्ट हो जायँगे और पानी पीने योग्य हो जायगा। कुछ घरेलू यांत्रिक रीतियों द्वारा छानने से भी पानी शुद्ध हो जाता है। इसमें एक रीति यह है कि चार-पाँच मिट्टी के घडे ऊपर-नीचे रख लिए जाते हैं। सबसे नीचेवाले घड़े को छोड़कर और सभी घड़ो के पेदो में सूराख कर लिया जाता है। सबसे ऊपरवाले घडे से छननेवाला पानी टपकता है। दूसरे घड़े में कोयला, तीसरे मे बालू और चौथे में कंकड़ रहते हैं। इनसे छनकर पानी सबसे नीचेवाले घड़े मे इकट्ठा होता रहता है। इस रीति से भी अधिक वैज्ञानिक 'पैस्टर-चैम्बरलैंड' प्रणाली है, जिसके अनुसार पानी चीनी मिट्टी के खुरदरे सिलिंडरों में से होकर छनता है, जिससे उसके अशुद्ध पदार्थ तथा हानिकारक कीटाणु दूर हो जाते हैं। हैजे की महामारी के दिनों मे पोटैशियम परमैंगनेट नामक पदार्थ प्रायः कीटाणुओं को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है। आपने देखा होगा कि कुओं में बहुधा यह पदार्थ डाला जाता है। बड़े-बडे नगरो मे पानी प्रायः नल द्वारा मिलता है। यह पानी पंपो द्वारा नदियों या तालाबों से लिया जाता है और फिर वैज्ञानिक रीतियों से सावधानी के साथ शुद्ध करके नगर-निवासियों के लिए भेजा जाता है। इसे शुद्ध करने के लिए पहले उसमें अलुमीनियम के लवणों का कुछ घोल मिला दिया जाता है। इस घोल से मिलकर पानी एक ऐसे जलाशय मे पहुँचता है, जहाँ पर्दे लगे होने के कारण वह स्थिर हो जाता है। अलुमीनियम के लवण पानी मे मिले हुए मिट्टी के कणों को नीचे बैठा देते है और इनके साथ-साथ अधिकतर रोग-कीटाणु भी उससे पृथक् हो जाते हैं। फिर यह पानी एक ऐसे जलाशय मे ले जाया जाता है, जहाँ वह बालू तथा कंकड़ों के स्तरो में से छनकर नीचे पहुँचता है। यहाँ उसकी बची-खुची अशुद्धताएँ तथा कुछ और कीटाणु भी अलग हो जाते हैं। इस पर भी जो कीटाणु बचे रहते हैं, वे क्लोरीन अथवा ओजोन नामक गैसों की क्रिया अथवा 'अल्ट्रा-वायलेट' प्रकाश द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं। तब कहीं यह पानी नलो द्वारा घर-घर पहुँचाया जाता है (दे० पृष्ठ ५०३-५०४ के चित्र)।
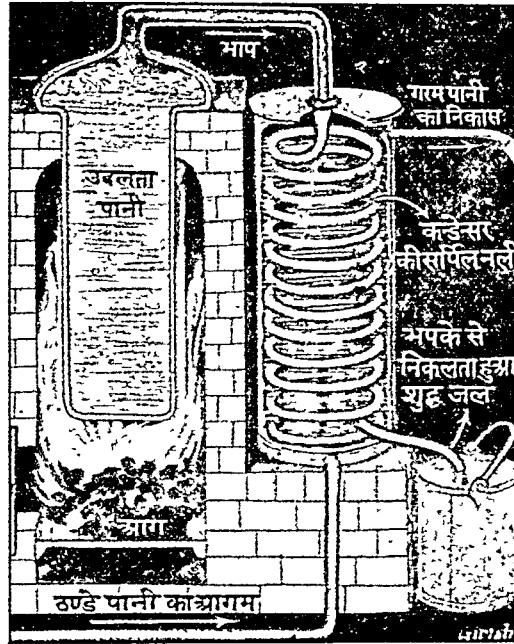
आसवन-यंत्र या पानी शुद्ध करने का भपका
चित्र में यंत्र के भीतरी भागों को दरसाकर उनका अंदर का दृश्य दिखाया गया है।

मनुष्य को बहुधा ऐसे जल की आवश्यकता पड़ती रहती है, जो बिलकुल ही शुद्ध हो अर्थात् जिसमें कोई भी वस्तु घुली अथवा मिली हुई न रहे। ऐसा जल पानी को आसवित करके या भभके से (दे० इसी पृष्ठ का चित्र) टपकाकर बनाया जाता है। इस जल का उपयोग प्रायः बिजली की बैटरियों में, दवाएँ बनाने में तथा रासायनिक प्रयोगशालाओं में होता है। आसवित जल तैयार करने के लिए पानी एक ताँबे के बर्त्तन में उबाला जाता है। इस प्रकार बनी हुई भाप एक सर्पिल नली में प्रवाहित की जाती है।

यह नली एक ऐसे पानी के बर्तन में डूबी रहती है, जिसमें निरन्तर ठंडा पानी आता रहता है और गरम जल बाहर निकलता रहता है। इस प्रकार सारी भाप घनीभूत हो जाती है और पात्रों में जलरूप में एकत्र हो जाती है। अल्प परिमाण में प्रयोगशालाओं में यह आसवन-क्रिया लीबिग के घनीकरण यंत्र 'कंडेंसर' द्वारा की जा सकती है। इसमें भाप एक ऐसी नली में प्रवाहित होती है, जिसके आस-पास एक अधिक चौड़ी शीशे की नली रहती है। इस चौड़ी नली में पानी रबर-नली द्वारा नल से आकर नीचे से चढ़ता है और ऊपर से निकलकर परनाली में चला जाता है। इस प्रकार भाप निरंतर ठंडी होती रहने से जलरूप में परिणत होती रहती है। द्रवों को आसवित करने की कुछ पुराने ढंग की रीतियाँ भी प्रायः इत्र के कारखानों में देखने में आती हैं। इनमें एक देगची में पानी उबालकर भाप सुतली से कसी हुई बाँस की पोंगियों द्वारा ठंडे पानी में डूबे हुए भपकों में ले जाई जाती है। यह ठंडा पानी थोड़ी ही देर में गरम हो जाता है, और उसे बार-बार उलीचकर ठंडा पानी भरने की मेहनत करनी पड़ती है। इनमें हवा की साँसें बंद करने का काम चिकनी मिट्टी से लिया जाता है। आसवन में शुद्ध पानी भाप के रूप में अलग हो जाता है, और लवण शेष रह जाते हैं।

'मृदु' और 'कठोर' जल

पानी में घुले हुए कैल्शियम और मैग्नेशियम के लवण हमारे दैनिक व्यवहार में अन्य प्रकार से भी बाधा डालते हैं। हम जब खारी पानी में नहाने अथवा कपड़ा धोने का प्रयत्न करते हैं तो देखते हैं कि साबुन बहुत ज्यादा खर्च हो जाता है। जब ऐसे पानी के साथ हम अपने बालों में साबुन लगाते हैं तो पहले वे एक चिपटे पदार्थ से बँध से
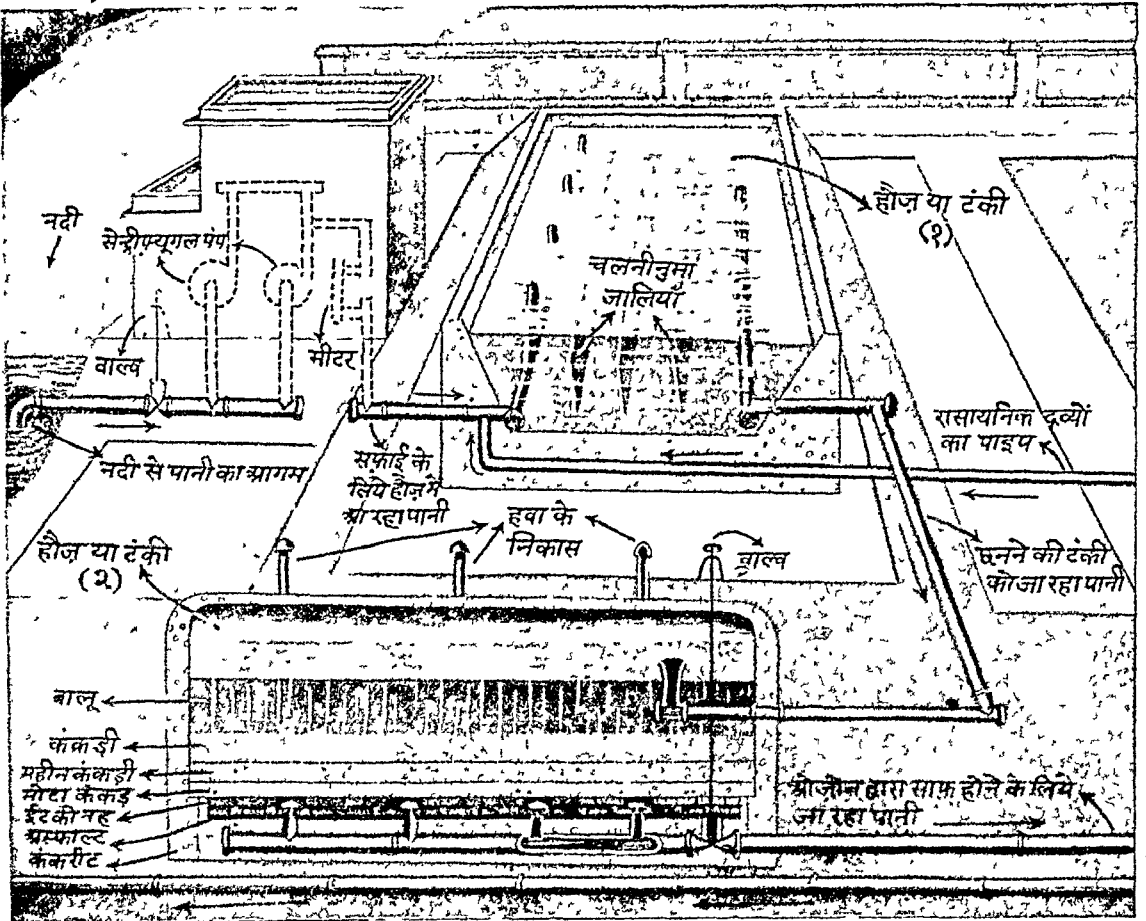
हमारे नगरों को पानी पहुँचानेवाली यंत्र-प्रणाली—(१)

आज के दिन हमारे सभी बड़े शहरों में पानी इसी तरह बल द्वारा जलाशयों से ऊँचा चढ़ाया जाकर नलों द्वारा घर-घर पहुँचाया जाता है।

जाते है, फिर अधिक साबुन लगाने पर कहीं साफ होते है। जब हम ऐसे पानी में साबुन को रगड़ते है तो पहले बहुत-सा साबुन एक दूसरे ही पदार्थ में बदलकर तलछट के रूप में नीचे बैठ जाता है, और फिर झाग उठना शुरू होता है। इस पानी को, जिसमे साबुन का इस प्रकार से अपव्यय होता है, 'कठोर' पानी कहते है। जिस पानी में साबुन का झाग शीघ्र ही उठ आता है, उसे 'मृदु' कहते है। साबुन से नहाने-धोने के लिए मृदु जल ही उपयुक्त है, कठोर नही। पानी में कैल्शियम और मैग्नेशियम के मुख्यत: बाइकार्बोनेट, क्लोराइड और सल्फेट नामक लवण घुले रहते है। साबुन प्रायः सोडियम स्टियरेट, सोडियम पामिटेट और सोडियम ओलिएट, इन तीन यौगिकों का मिश्रण होता है। जब इन यौगिको और कैल्शियम एवं मैग्नेशियम के लवणों का पानी मे संसर्ग होता है, तो अणु-भागो के विनिमय द्वारा कैल्शियम एवं मैग्नेशियम के स्टियरेट, पामिटेट तथा ओलिएट, और सोडियम के बाइकार्बोनेट, क्लोराइड तथा सल्फेट बन जाते है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए इनमे से एक उदाहरण समीकरण के रूप मे नीचे दिया जा रहा है।

सोडियम स्टियरेट
(साबुन का एक अंश)
\+
मैग्नेशियम क्लोराइड
(पानी में घुला एक लवण)

=

सोडियम क्लोराइड
(जो विलेय होने के कारण अध:क्षेपित नहीं होता)
\+
मैग्नेशियम स्टियरेट
(जो अविलेय होने के कारण तलछट के रूप में पृथक् हो जाता है)

कैल्शियम एवं मैग्नेशियम के स्टियरेट आदि, अविलेय
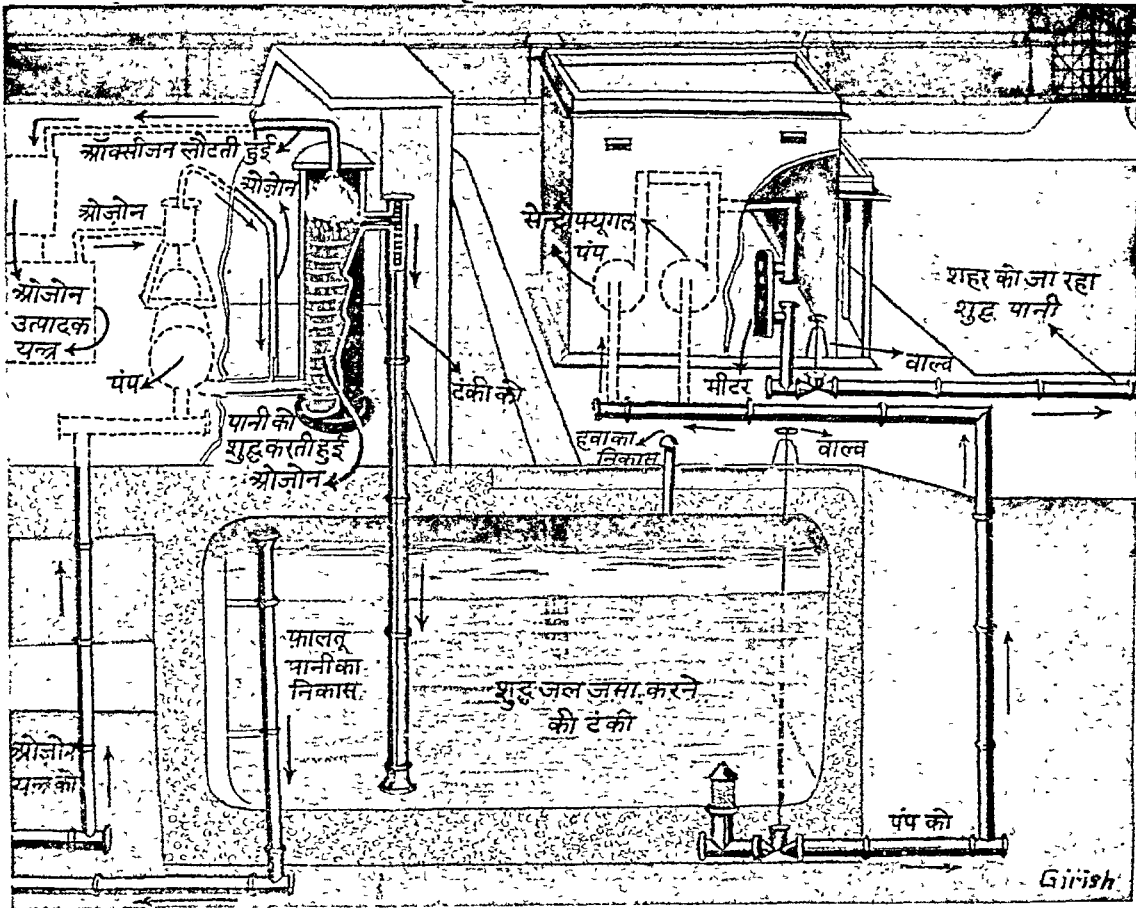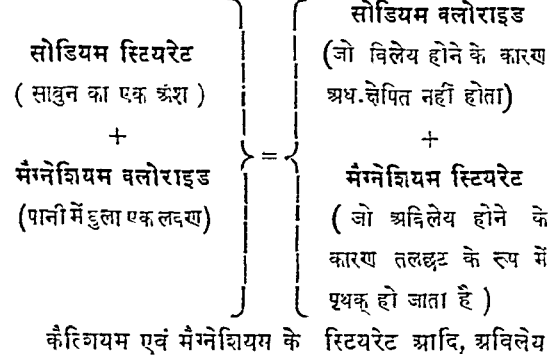
हमारे नगरों को पानी पहुँचानेवाली यंत्र-प्रणाली—(२)

यह चित्र पिछले पृष्ठ के चित्र का ही परिशिष्ट भाग है। दोनों चित्रों को मिलाकर देखिए। जल को शुद्ध बनाने की व्यवस्था पर ध्यान दीजिए।

होने के कारण, साबुन के झाग में परिणत नही हो सकते; अतएव साबुन का इस प्रकार काफी अपव्यय हो जाता है। कैल्शियम और मैग्नेशियम के इस प्रकार पृथक् हो जाने के बाद स्वयं साबुन ही पानी में घुलने लगता है और झाग उठने लगता है। सोडियम के लवणों की साबुन पर कोई रासायनिक क्रिया नही होती, अतएव वे झाग उठने में कोई विघ्न नही डालते। हां, जिस पानी मे साधारण नमक (सोडियम क्लोराइड) अत्यधिक परिमाण में घुला रहता है, उसमें साबुन घुल नही सकता।

कठोर जल मृदु कैसे बनाया जाय ?

जिन स्थानों में मृदु जल अप्राप्य रहता है, वहां कठोर जल से मृदु जल बना लेने की आवश्यकता पड़ती है। कठोरता का कुछ अंश, अर्थात् बाइकार्बोनेट लवण, पानी को केवल उबाल देने से ही विच्छेदित हो जाता है, और अविलेय कार्बोनेटों में बदलकर नीचे बैठ जाता है। जिस बर्तन में पानी उबाला गया हो, उसके पेंदे में बहुधा खड़िया जैसा एक श्वेत पदार्थ तलछट के रूप मे जमा हुआ पाया जाता है। यह अधिकतर कैल्शियम कार्बोनेट और कुछ मैग्नेशियम कार्बोनेट का मिश्रण होता है। जल की ऐसी कठोरता को, जो केवल उबाल देने से ही दूर हो जाती है, 'अस्थिर कठोरता' कहते है। पानी मे आवश्यक परिमाण में चूना मिला देने से भी इस प्रकार की कठोरता कार्बोनेट के रूप में निकल जाती है। लेकिन चूना आवश्यकता से अधिक मिला देने से पानी नहाने योग्य नहीं रहता और फिर कठोर हो जाता है, क्योंकि वह कैल्शियम का ही यौगिक होता है। पानी की उस कठोरता को, जो उबलने से नही दूर होती, 'स्थिर कठोरता' कहते हैं। यह कैल्शियम और मैग्नेशियम के क्लोराइडों और सल्फेटों के कारण होती है। पानी की दोनों प्रकारों की कठोरता को दूर करने का एक अत्यन्त सरल उपाय यह है कि पानी को पहले इतना गरम करे कि उसमें उबाल आ जाय, और फिर इस उबलते पानी में कुछ (आवश्यक परिमाण में) धोनेवाला सोडा छोड़कर एक-आध मिनट तक उसे उबलने देने के बाद उसे उतार ले और ठंडा होने दे। ऐसा करने से सारा कैल्शियम और मैग्नेशियम कार्बोनेटों के रूप में नीचे जम जायगा। अंत में इस पानी को निथार अथवा छानकर काम में लावें। दोनों प्रकार की कठोरताएँ सोडियम परमुटाइट नामक पदार्थ द्वारा भी दूर की जाती है। बाजारों में मिलनेवाले घरेलू 'वाटर-साफनर' (कठोरता-निवारक) यंत्रों में पानी इसी वस्तु से होकर टपकाया जाता है। इसके संसर्ग से विनिमयात्मक क्रिया द्वारा अविलेय कैल्शियम और मैग्नेशियम परमुटाइट बन जाते है और पानी मृदु हो जाता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पानी को आसवित करने से केवल कठोरता ही नही, अन्य अशुद्धताएँ भी उससे अलग हो जाती है, किन्तु इसमें ईंधन का बहुत खर्च हो जाने से वह महँगा पड़ता है। यदि पानी को मृदु बनाने के लिए अन्य सस्ते साधन उपलब्ध न हो तो एक मामूली साबुन को लेकर पानी में इतना रगड़े कि सारी कठोरता तलछट के रूप मे दूर हो जाय और झाग उठना शुरू हो जाय। इस पानी को थोड़ी देर तक रक्खा रहने देने से सारा तलछट नीचे बैठ जायगा। इसमें से ऊपर से स्वच्छ पानी को निथार ले और तब उससे सिर आदि धोवे।

कठोर जल ब्वॉयलर का शत्रु

कठोर जल ब्वॉयलर के लिए भी अनुपयोगी और हानिकारक होता है। ऐसा पानी उबालने से अंदर के पृष्ठ पर लवणों की एक कड़ी तह जम जाती है। यह तह ऊष्मा की बुरी चालक होती है, इसलिए पानी उबालने में अधिक ईंधन खर्च होने लगता है। इस तह के अधिक मोटे हो जाने पर उसे खुरच डालना आवश्यक हो जाता है। यह तह कितना विघ्न डालती है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि तह के चौथाई इंच मोटी हो जाने पर डचोढ़ा ईंधन खर्च होने लगता है। इसके अतिरिक्त इस तह के कारण ब्वॉयलर के पृष्ठ को भी क्षति पहुँचती है, और वह घिसने अथवा कटने लगता है। अत ब्वॉयलर में हमेशा मृदु जल ही प्रयुक्त किया जाता है।

पानी की कठोरता ठीक-ठीक नापने के लिए रासायनिक रीतियो से यह निकाला जाता है कि पानी के भार के एक लाख भागों में जितनी कठोरता है, वह रासायनिक दृष्टि से कैल्शियम कार्बोनेट के भार के कितने भागो के बराबर है। यदि पानी के एक लाख भागो मे कैल्शियम कार्बोनेट के लगभग ५ भाग या उससे कम हुए, तो पानी मृदु समझा जाता है और यदि यह भाग-संख्या १५ से अधिक हुई, तो वह कठोर समझा जाता है। इस भाग-संख्या को कठोरता का परिमाण कहते है। यदि कठोरता का परिमाण ५ और १५ के बीच में हुआ तो पानी साधारणतया मृदु या साधारणतया कठोर होता है।

पानी के भौतिक और रासायनिक गुण

पानी पतली तहों में रंगहीन किंतु गहरा होने पर नीलिमा लिये हुए दिखाई देता है। पानी में अनेकानेक वस्तुएँ सरलता से घुल जाती है। इसीलिए प्रकृति में सर्वथा शुद्ध

जल अप्राप्य रहता है। केवल ठोस और द्रव ही नही, बहुत-सी गैसें भी पानी मे विलेय होती है। संसार की कोई भी ज्ञात वस्तु पानी मे सर्वथा अविलेय तो होती ही नही। तुम्हे जानकर अचम्भा होगा कि पत्थर, शीशा, सोना आदि वस्तुएँ भी अति सूक्ष्म परिमाणो मे पानी मे घुलते है—ऐसे सूक्ष्म परिमाणो मे जिनका निर्धारण हम साधारण रीतियो से नही कर सकते।

जैसा हम बतला चुके है, हवा भी कुछ हद तक पानी मे घुलती है। जब हम पानी को गरम करते है तो पात्र के भीतरी तल पर लगे हुए अथवा उस पर उठते हुए पानी के छोटे-छोटे बुलबुले दिखाई देते है। इसका कारण यह है कि ताप बढने पर हवा पानी मे घुली नही रह सकती। वह बुलबुलो के रूप मे निकल पडती है। पानी मे घुली हुई इसी हवा की ऑक्सिजन मछलियों तथा अन्य जलचरो को जीवित रहने मे मदद देती है। यदि आसवित या उबालकर ठडे किये गए पानी मे, अर्थात् ऐसे पानी मे जिससे हवा निकाल दी गई हो, हम मछलियाँ डाल दें, तो उनका दम घुट जायगा और वे मर जायँगी।

जल की प्रक्रिया से बने पाषाण-स्तंभों का अद्भुत दृश्य

'स्टेलेक्टाइट' और 'स्टेलेग्माइट' नामक ये स्तभ गुफाओं में टपकनेवाले जल में घुले हुए बाइकार्बोनेटों के जमाव से निर्मित होते है।

ऊष्मा का प्रभाव

४°C पर पानी का घनत्व इकाई माना गया है, और सारे ठोस और द्रव पदार्थो के घनत्व की तुलना इसी से की जाती है। ४°C के ऊपर अथवा नीचे पानी का घनत्व कुछ-कुछ कम होने लगता है, यानी वह हलका होने लगता है। जब पानी बर्फ मे जमता है तो उसका घनत्व और भी कम (लगभग ०·९१७°) हो जाता है। यही कारण है कि बर्फ पानी पर तैरता है। पानी के घनत्व-सबधी परिवर्तनो के इस प्राकृतिक नियम ने जीवन के विकास मे महान् सहायता दी है। यदि बर्फ पानी से भारी होता तो आज के दिन सारे समुद्र नीचे से प्राय ऊपर तक जमे हुए होते और उसमे आज की तरह जलचरो का जीवन अथवा जलयानो का परिचालन असंभव होता।

पानी 0°C (३२°F) पर जमता और १००°C (२१२°F) पर उबलता है। जब हवा मे मिली हुई जल-वाष्प तुषार मे परिणत होती है तो इन तुषार-कणो को सूक्ष्मदर्शक-यत्र द्वारा देखने से विभिन्न प्रकार के षट्कोण-रूपी कण दिखाई देते है। ये अद्भुत आकार तुषार के स्फटिको के होते है और इतने सुन्दर होते है कि इन्हे देखकर आश्चर्य होता है (दे० पृष्ठ ५०० का चित्र)।

पानी केवल हाइड्रोजन को छोडकर अन्य सभी वस्तुओ से अधिक गर्मी लेता है। इस प्रकार पानी मे ऊष्मा को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्राय: सबसे अधिक होती है और वह अन्य पदार्थो से कही अधिक धीरे-धीरे गरम और ठडा होता है। यही कारण है कि महासागर ग्रीष्म मे धीरे-धीरे गरमी लेते है, और उसे जाडे मे धीरे-धीरे निकालते है। इसलिए महासागर वायुमडल के ताप मे अधिक विषमता नही होने देते। कोई देश जितना ही समुद्र के निकट होता है, उसका जलवायु उतना सम होता है। यदि पानी मे यह गुण न होता तो जलवायु की विषमता के कारण पृथ्वी पर जीवन बहुत कठिन हो जाता। पानी गरमी और बिजली का कुचालक है। लेकिन जब उसमे तेजाब, क्षार अथवा लवण घुल जाते है तो वह बिजली का चालक हो जाता है।

जैसा बतलाया जा चुका है, पानी का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओ और ऑक्सिजन के एक परमाणु के सयोग

से बना है। पानी का अणु-सूत्र इसीलिए H_2O लिखा जाता है। क्या आप इस बात का कुछ अनुमान लगा सकते है कि पानी का यह अणु आकार में कितना लघु होता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि दस सहस्र अरब-खरब (१०,००,००,००,००,००,००,००, ००, ००,००,०००) जलाणुओं के एकत्रित होने पर पानी का एक बूंद बनता है! प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड केल्विन का कथन है कि यदि पानी का एक बूंद फैलाकर पृथ्वी के आकार में अभिवर्द्धित कर दिया जाय तो उसके अणुओ का आकार एक खेलने की गोली या अधिक-से-अधिक क्रिकेट के गेंद के बराबर होगा! ये अणु बंदूक की गोली से भी अधिक वेग से--अर्थात् २० मील प्रति मिनट से भी अधिक गति से सदैव चलायमान रहते हैं और एक सेकंड मे करोड़ों बार अन्य अणुओं से टक्कर खा-कर अपनी गति की दिशा बदलते रहते है! इस स्फुरण में जो अणु जल-पृष्ठ से विलग होकर हवा की ओर चले जाते है, वे वाष्परूप में उड जाते है। वाष्पीकरण इसी प्रकार होता हैं। कुछ अणु हवा से जल में भी आ मिलते है, लेकिन इनकी संख्या पानी से निकलनेवाले अणुओं की संख्या से प्रायः कम होती है। हवा जितनी ही अधिक शुष्क होती है, पानी का वाष्पीकरण उतनी ही अधिक शीघ्रता से होता है। जब हवा जल-वाष्प से संपृक्त होती है तो जितने अणु पानी से हवा में जा मिलते है, उतने ही हवा से पानी में वापस चले आते हे और वाष्पीकरण प्रत्यक्षतः नहीं होता। वर्षा में वस्तुएँ इसीलिए जल्दी नहीं सूखतीं कि वायु जल-वाष्प से लदी रहती है। पानी को गरम करने पर अणुओं की चंच-लता और भी बढ़ जाती है, इसीलिए वे अधिक जगह घेर लेते है। फलतः पानी का आयतन बढ़ जाता है और वह हलका हो जाता है। साथ-ही-साथ गति बढ जाने से वाष्पीकरण की क्रिया भी अधिक शीघ्रता से होने लगती है। और ज्यादा गरम करने पर अणु इतनी अधिक जगह घेरते है कि द्रव उबलकर गैस-रूप मे परिणत हो जाता है। भाप का एक अणु जल के एक अणु से लगभग १६५० गुनी अधिक जगह घेरता है, अर्थात् जल का एक आयतन भाप के लगभग १६५० आयतनों में फैल जाता है। पानी के इन भौतिक गुणों से अन्य द्रवों के भौतिक गुणों का भी अनुमान हो सकता है।

रासायनिक प्रतिक्रियाएँ

पानी की अनेक वस्तुओं के साथ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होती है। इनमें से कुछ हम अपने दैनिक जीवन में भी देखा करते है। सीमेण्ट-प्लास्टर का कडा होना पानी के संयोग से ही सम्भव है। बहुधा जादूगर लोग पानी में आग लगाने का तमाशा दिखाया करते हैं और दर्शक पानी को जलता हुआ देखकर दाँतों तले उँगली लगाने लगते है। किन्तु बात यह होती है कि ये तथाकथित जादूगर एक पात्र में पानी लेकर उसमें कुछ पेट्रोल छोड़ देते हैं, जो हलका होने के कारण पानी के तल पर फैल जाता है। अब जादूगर किसी रीति से, जैसे पैसे में लगाकर, कुछ पोटेशियम धातु उस पानी में छोड़ देते है। पोटेशियम सोडियम से ही मिलती-जुलती एक धातु होती है, जिसकी पानी पर क्रिया सोडियम से भी अधिक तीव्र होती है, और उसमें इतनी ऊष्मा का उद्भव होता है कि निकलती हुई हाइड्रोजन जल उठती है। इसी-लिए इसे पानी में छोड़ते ही पानी में भक से आग लग जाती है, और बेचारे दर्शक आश्चर्य से तालियाँ पीटने लगते है! कुछ अन्य धातुओं पर पानी की क्रियाओं का वर्णन हम हाइड्रोजन संबंधी अध्याय में कर चुके है।

खाने अथवा पोतने का सूखा चूना (कैल्शियम ऑक्सा-इड) जब हम पानी में छोड़ते हैं, तो कैल्शियम ऑक्साइड से पानी संयुक्त हो जाता है, और बुझा हुआ चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड) बन जाता है। इस रासायनिक क्रिया में इतनी अधिक ऊष्मा का उत्पादन होता है कि मिश्रण उबलने तक लगता है। कुछ देर के बाद अघुलित कैल्शियम हाइ-ड्रॉक्साइड नीचे बैठ जाता है, और निर्मल चूने का पानी, अर्थात् कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड का विलयन ऊपर रह जाता है। इस चूने के पानी में क्षारीय गुण होते है। धातुओं की कई अन्य ऑक्साइडें भी पानी से संयुक्त होकर क्षारों (खारों) का उत्पादन करती है।

स्टेलेक्टाइट और स्टेलेग्माइट

अधातुओ (कार्बन, गंधक, नाइट्रोजन आदि) की कुछ ऑक्साइडें पानी में घुलकर और उससे संयुक्त होकर अम्लों का उत्पादन करती है, जैसे पानी में कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस कुछ हद तक घुलकर उसमें एक बहुत ही मंद अम्ल (कार्बोनिक अम्ल) उत्पन्न करती है। कार्बन डाइ-ऑक्साइड-युक्त पानी प्रकृति में बड़े-बड़े परिवर्तन किया करता है। जब यह पानी कैल्शियम तथा मैग्नेशियम कार्बोनेटों से युक्त भूपृष्ठ के स्तरो अथवा चट्टानों के संसर्ग मे आता है, तो ये पदार्थ उसमें धीरे-धीरे घुलने लगते है। इस प्रतिक्रिया में कार्बोनेट कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी से संयुक्त होकर विलेय बाईकार्बोनेटों में परिणत हो जाते हैं। जब इस प्रकार का बाइकार्बोनेटयुक्त पानी कभी-कभी गुफाओ की छतों से टपकता है तो वाष्पीकरण और विच्छेदन के कारण उसमे पानी और कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकल जाते है, और

जल अप्राप्य रहता है। केवल ठोस और द्रव ही नही, वहुत-सी गैसें भी पानी में विलेय होती हैं। संसार की कोई भी ज्ञात वस्तु पानी में सर्वथा अविलेय तो होती ही नही। तुम्हें जानकर अचम्भा होगा कि पत्थर, शीशा, सोना आदि वस्तुएँ भी अति सूक्ष्म परिमाणों मे पानी में घुलते हैं—ऐसे सूक्ष्म परिमाणो में जिनका निर्धारण हम साधारण रीतियो से नही कर सकते।

जैसा हम वतला चुके है, हवा भी कुछ हद तक पानी में घुलती है। जब हम पानी को गरम करते हैं तो पात्र के भीतरी तल पर लगे हुए अथवा उस पर उठते हुए पानी के छोटे-छोटे वुलवुले दिखाई देते है। इसका कारण यह है कि ताप वढने पर हवा पानी मे घुली नही रह सकती। वह वुलवुलो के रूप में निकल पड़ती हैं। पानी मे घुली हुई इसी हवा की ऑक्सिजन मछलियों तथा अन्य जलचरों को जीवित रहने में मदद देती है। यदि आसवित या उवालकर ठंडे किये गए पानी में, अर्थात् ऐसे पानी में जिससे हवा निकाल दी गई हो, हम मछलियाँ डाल दें, तो उनका दम घुट जायगा और वे मर जायँगी।

जल की प्रक्रिया से वने पाषाण-स्तंभों का अद्भुत दृश्य

'स्टेलेक्टाइट' और 'स्टेलेग्माइट' नामक ये स्तंभ गुफाओं में टपकनेवाले जल में घुले हुए वाइकार्वोनेटो के जमाव से निर्मित होते है।

ऊष्मा का प्रभाव

४°C पर पानी का घनत्व इकाई माना गया है, और सारे ठोस और द्रव पदार्थो के घनत्व की तुलना इसी से की जाती है। ४°C के ऊपर अथवा नीचे पानी का घनत्व कुछ-कुछ कम होने लगता है, यानी वह हलका होने लगता है। जव पानी वर्फ मे जमता है तो उसका घनत्व और भी कम (लगभग ०·९१७°) हो जाता है। यही कारण है कि वर्फ पानी पर तैरता है। पानी के घनत्व-संवंधी परिवर्तनो के इस प्राकृतिक नियम ने जीवन के विकास मे महान् सहायता दी है। यदि वर्फ पानी से भारी होता तो आज के दिन सारे समुद्र नीचे से प्रायः ऊपर तक जमे हुए होते और उसमे आज की तरह जलचरों का जीवन अथवा जलयानों का परिचालन असंभव होता।

पानी 0°C (३२°F) पर जमता और १००°C (२१२°F) पर उवलता है। जव हवा मे मिली हुई जलवाष्प तुषार में परिणत होती है तो इन तुषार-कणो को सूक्ष्मदर्शक-यंत्र द्वारा देखने से विभिन्न प्रकार के षट्कोण-रूपी कण दिखाई देते हैं। ये अद्भुत आकार तुषार के स्फटिकों के होते है और इतने सुन्दर होते है कि इन्हे देखकर आश्चर्य होता है (दे० पृष्ठ ५०० का चित्र)।

पानी केवल हाइड्रोजन को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओ से अधिक गर्मी लेता है। इस प्रकार पानी में ऊष्मा को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्रायः सवसे अधिक होती है और वह अन्य पदार्थो से कही अधिक धीरे - धीरे गरम और ठंडा होता है। यही कारण है कि महासागर ग्रीष्म मे धीरे-धीरे गरमी लेते है, और उसे जाड़े में धीरे-धीरे निकालते है। इसलिए महासागर वायुमंडल के ताप में अधिक विषमता नही होने देते। कोई देश जितना ही समुद्र के निकट होता है, उसका जलवायु उतना सम होता है। यदि पानी मे यह गुण न होता तो जलवायु की विषमता के कारण पृथ्वी पर जीवन वहुत कठिन हो जाता। पानी गरमी और विजली का कुचालक है। लेकिन जव उसमे तेजाव, खार अथवा लवण घुल जाते है तो वह विजली का चालक हो जाता है।

जैसा वतलाया जा चुका है, पानी का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणुओ और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग

से बना है । पानी का अणु-सूत्र इसीलिए H_2O लिखा जाता है । क्या आप इस बात का कुछ अनुमान लगा सकते हैं कि पानी का यह अणु आकार में कितना लघु होता है । आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि दस सहस्र अरब-खरब (१०,००,००,००,००,००,००,००, ००, ००, ००,०००) जलाणुओं के एकत्रित होने पर पानी का एक बूंद बनता है ! प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड केल्विन का कथन है कि यदि पानी का एक बूंद फैलाकर पृथ्वी के आकार में अभिवर्द्धित कर दिया जाय तो उसके अणुओं का आकार एक खेलने की गोली या अधिक-से-अधिक क्रिकेट के गेंद के बराबर होगा ! ये अणु बंदूक की गोली से भी अधिक वेग से——अर्थात् २० मील प्रति मिनट से भी अधिक गति से सदैव चलायमान रहते हैं और एक सेकंड में करोड़ों बार अन्य अणुओं से टक्कर खा-कर अपनी गति की दिशा बदलते रहते हैं ! इस स्फुरण में जो अणु जल-पृष्ठ से विलग होकर हवा की ओर चले जाते हैं, वे वाष्परूप में उड़ जाते हैं । वाष्पीकरण इसी प्रकार होता है । कुछ अणु हवा से जल में भी आ मिलते हैं, लेकिन इनकी संख्या पानी से निकलनेवाले अणुओं की संख्या से प्रायः कम होती है । हवा जितनी ही अधिक शुष्क होती है, पानी का वाष्पीकरण उतनी ही अधिक शीघ्रता से होता है । जब हवा जल-वाष्प से संपृक्त होती है तो जितने अणु पानी से हवा में जा मिलते हैं, उतने ही हवा से पानी में वापस चले आते हैं और वाष्पीकरण प्रत्यक्षत: नहीं होता । वर्षा में वस्तुएँ इसीलिए जल्दी नहीं सूखतीं कि वायु जल-वाष्प से लदी रहती है । पानी को गरम करने पर अणुओं की चंच-लता और भी बढ जाती है, इसीलिए वे अधिक जगह घेर लेते हैं। फलत: पानी का आयतन बढ़ जाता है और वह हलका हो जाता है । साथ-ही-साथ गति बढ़ जाने से वाष्पीकरण की क्रिया भी अधिक शीघ्रता से होने लगती है । और ज्यादा गरम करने पर अणु इतनी अधिक जगह घेरते हैं कि द्रव उबलकर गैस-रूप में परिणत हो जाता है । भाप का एक अणु जल के एक अणु से लगभग १६५० गुनी अधिक जगह घेरता है, अर्थात् जल का एक आयतन भाप के लगभग १६५० आयतनों में फैल जाता है। पानी के इन भौतिक गुणों से अन्य द्रवों के भौतिक गुणों का भी अनुमान हो सकता है।

रासायनिक प्रतिक्रियाएँ

पानी की अनेक वस्तुओं के साथ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं । इनमें से कुछ हम अपने दैनिक जीवन में भी देखा करते हैं। सीमेण्ट-प्लास्टर का कड़ा होना पानी के संयोग से ही संभव है । बहुधा जादूगर लोग पानी में आग लगाने का तमाशा दिखाया करते हैं और दर्शक पानी को जलता हुआ देखकर दाँतों तले उँगली लगाने लगते हैं। किन्तु बात यह होती है कि ये तथाकथित जादूगर एक पात्र में पानी लेकर उसमें कुछ पेट्रोल छोड़ देते हैं, जो हलका होने के कारण पानी के तल पर फैल जाता है । अब जादूगर किसी रीति से, जैसे पैसे में लगाकर, कुछ पोटैशियम धातु उस पानी में छोड़ देते हैं । पोटेशियम सोडियम से ही मिलती-जुलती एक धातु होती है, जिसकी पानी पर क्रिया सोडियम से भी अधिक तीव्र होती है, और उसमें इतनी ऊष्मा का उद्भव होता है कि निकलती हुई हाइड्रोजन जल उठती है । इसी-लिए इसे पानी में छोड़ते ही पानी में भक से आग लग जाती है, और बेचारे दर्शक आश्चर्य से तालियाँ पीटने लगते हैं ! कुछ अन्य धातुओं पर पानी की क्रियाओं का वर्णन हम हाइड्रोजन संबंधी अध्याय में कर चुके हैं ।

खाने अथवा पोतने का सूखा चूना (कैल्शियम ऑक्सा-इड) जब हम पानी में छोड़ते हैं, तो कैल्शियम ऑक्साइड से पानी संयुक्त हो जाता है, और बुझा हुआ चूना (कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड) बन जाता है। इस रासायनिक क्रिया में इतनी अधिक ऊष्मा का उत्पादन होता है कि मिश्रण उबलने तक लगता है । कुछ देर के बाद अघुलित कैल्शियम हाइ-ड्रॉक्साइड नीचे बैठ जाता है, और निर्मल चूने का पानी, अर्थात् कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड का विलयन ऊपर रह जाता है । इस चूने के पानी में क्षारीय गुण होते हैं । धातुओं की कई अन्य ऑक्साइडें भी पानी से संयुक्त होकर क्षारों (खारों) का उत्पादन करती हैं ।

स्टेलेक्टाइट और स्टेलेग्माइट

अधातुओं (कार्बन, गंधक, नाइट्रोजन आदि) की कुछ ऑक्साइडें पानी में घुलकर और उससे संयुक्त होकर अम्लों का उत्पादन करती हैं, जैसे पानी में कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस कुछ हद तक घुलकर उसमें एक बहुत ही मंद अम्ल (कार्बोनिक अम्ल) उत्पन्न करती है । कार्बन डाइ-ऑक्साइड-युक्त पानी प्रकृति में बड़े-बड़े परिवर्तन किया करता है। जब यह पानी कैल्शियम तथा मैग्नेशियम कार्बोनेटों से युक्त भूपृष्ठ के स्तरों अथवा चट्टानों के संसर्ग में आता है, तो ये पदार्थ उसमें धीरे-धीरे घुलने लगते हैं । इस प्रतिक्रिया में कार्बोनेट कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी से संयुक्त होकर विलेय बाईकार्बोनेटों में परिणत हो जाते हैं । जब इस प्रकार का बाइकार्बोनेटयुक्त पानी कभी-कभी गुफाओं की छतों से टपकता है तो वाष्पीकरण और विच्छेदन के कारण उससे पानी और कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकल जाते हैं, :।

ठोस कार्बोनेट छत पर या उस स्थान पर, जहां पानी टपककर गिरता है, धीरे-धीरे जमने लगते हैं। इस क्रिया के दीर्घकाल तक होते रहने से ये अनोखे पाषाण-स्तम्भों के रूप मे छत से लटकने और फर्श से ऊँचे उठने लगते हैं। लटकते हुए स्तम्भों को 'स्टेलेक्टाइट' और उठते हुओं को 'स्टेलेग्माइट' कहते हैं। ऐसी अनोखी रचनाओं से युक्त कंदराओं का दृश्य अत्यधिक प्रभावोत्पादक होता है। इस प्रकार की अनेक कंदराएँ अमेरिका, न्यूजीलैंड आदि देशों में हैं, जो दर्शकों और यात्रियों के लिए स्थायी आकर्षण की वस्तु हैं।

रंग और कीटाणुओं के दो रासायनिक शत्रु
ओजोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड

ओजोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड का आज के दिन हमारे जीवन में विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाता है। इसलिए इन रासायनिक द्रव्यों का अध्ययन न केवल मनोरंजक बल्कि उपयोगी भी है।

अनेक सभ्य देशो में व्याख्यानशालाओं, सिनेमा-भवनों, धरती के नीचे के रेलमार्गो, आदि की दूषित हवा को तथा जलकार्यालयों, तैरने के तालावों आदि के दूषित पानी को शुद्ध करने के लिए एक गैस का उपयोग होता है, जिसे ओजोन कहते हैं। हवा और पानी के शोधन के अलावा इस गैस का उपयोग तेल, मोम, आटा, स्टार्च, ऊन, रेशम, हाथीदांत आदि वस्तुओं का रंग उड़ाने के लिए तथा कुछ रासायनिक यौगिकों के बनाने में भी होता है। ओजोन एक मूल तत्त्व है, किन्तु कोई नया तत्त्व नही, ऑक्सिजन का ही एक दूसरा रूप ! ऑक्सिजन के ही रूपांतर से इसका निर्माण प्रकृति और मनुष्य द्वारा होता है। प्रकृति में ऑक्सिजन को ओजोन में परिवर्तित कर देने के लिए प्रायः दो शक्तियों का उपयोग होता है। ये हैं बिजली और सूर्य की अल्ट्रा-वायलेट रश्मियां। जब ये दो शक्तियां ऑक्सिजन के अणुओं पर अपना कार्य करती है, तो ऑक्सिजन के दो-दो परमाणुवाले अणु ओजोन के तीन-तीन परमाणुवाले अणुओं मे परिणत हो जाते हैं। ऑक्सिजन और ओजोन मे भेद यही है कि एक के प्रत्येक अणु में ऑक्सिजन मूल तत्त्व के दो परमाणु रहते हैं, तो दूसरे के प्रत्येक अणु मे तीन। इसीलिए ऑक्सिजन का अणुसूत्र O_2 लिखा जाता है और ओजोन का O_3। हां, ओजोन के अणुओं के बनने में विद्युत् अथवा प्रकाश की शक्तियों का शोषण अवश्य होता है, अतएव इस दृष्टि से हम इस परिवर्तन को निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं:—

ऑक्सिजन + शक्ति = ओजोन

जैसा कि इटली के वैज्ञानिक ऐवोगैड्रो का सिद्धांत है, किसी भी गैस का अणु समान दशाओ में उतनी ही जगह घेरता है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऑक्सिजन गैस के तीन आयतन ओजोन के दो आयतनो में परिवर्तित होंगे। अतएव, ओजोन ऑक्सिजन का एक घनतर रूप भी समझा जा सकता है।

ओजोन की खोज

पहले-पहल इस गैस का थोड़ा-सा परिचय वान मैरम नामक एक डच रासायनिक को १७८५ ई० मे हुआ था। एक चलती हुई बिजली की मशीन के पास उसने एक विशेष प्रकार के गंध का अनुभव किया, लेकिन वह यह न समझ सका कि उस गंध का कारण कौन-सी वस्तु है। १८३९ में स्कॉन बेन नामक वैज्ञानिक ने यह दिखलाया कि उस गंध का कारण एक नयी गैस है। ग्रीक भाषा में 'ओजो' का अर्थ 'मैं महकता हूँ' होता है, इसलिए उसने इस गैस का नाम 'ओजोन' रख दिया। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में वैज्ञानिकों ने यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया कि ऑक्सिजन और ओजोन की अणु-रचना में क्या अंतर है।

ओजोन बनाने की कृत्रिम विधियाँ

ओजोन के बनाने की प्रत्येक कृत्रिम विधि में बिजली का ही उपयोग होता है। सभी विधियो का सिद्धांत एक ही है, अर्थात् ऑक्सिजन के अणुओ को विद्युत्-शक्ति से प्रभावित करना। किसी भी अंतराल से बिजली दो प्रकार से प्रभावित की जा सकती है—चटचटाती हुई चिनगारियों के रूप में और मूक विसर्जन के रूप मे। चिनगारियाँ, ऊँचे ताप तथा धूलिकण आदि अपद्रव्यो की उपस्थिति में ओजोन विच्छिन्न हो जाती है। अतः ओजोन के बनाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि शुद्ध ठंडी ऑक्सिजन अथवा

हवा एक ऐसे ठंडे अंतराल से प्रवाहित की जाय, जिसमें बिजली का मूक विसर्जन हो रहा हो। प्रयोगशाला में ओजोन बनाने के लिए दो विधियों का उपयोग होता है। ब्रॉडी की विधि में एक चौड़ी नली के अंदर एक कम चौड़ी नली जड़ी होती है। अंदर की नली में ठंडा और हल्का गंधकाम्ल भर दिया जाता है और पूरा उपकरण ठंडे हल्के गंधकाम्ल से भरे हुए एक पात्र में डुबो दिया जाता है। भीतर और बाहर के अम्लों में प्लैटिनम के तार डूबे रहते हैं, जिनके द्वारा बिजली संचालित की जाती है। हल्का गंधकाम्ल बिजली का अच्छा संचालक है, अतः वलयाकार अंतराल में से होकर बिजली का मूक विसर्जन होने लगता है। इसी अंतराल में से ऑक्सिजन अथवा हवा प्रवाहित करने पर ऑक्सिजन का कुछ अंश ओजोन में परिणत हो जाता है। दूसरे प्रकार के और ब्रॉडी के उपकरण में अंतर यही है कि इसमें गंधकाम्ल के स्थान में बाहरी नली का बाहरी पृष्ठ और भीतरी नली का भीतरी पृष्ठ टीन के पत्र (वर्क) द्वारा ढका होता है, और इन्हीं धातव पृष्ठों से होकर वलयाकार अंतराल में बिजली का मूक विसर्जन होता है। इस प्रकार के मूक विसर्जन के लिए यह आवश्यक है कि बिजली की धारा का वोल्टेज काफी ऊँचा हो। इसके लिए 'इंडक्शन क्वॉइल' नामक भौतिक यंत्र का उपयोग होता है, जो विद्युत्-धारा को नीचे वोल्टेज से ऊँचे वोल्टेज में परिणत कर देता है। ऑक्सिजन अथवा हवा को अंतराल में प्रविष्ट करने के पहले कैल्शियम क्लोराइड युक्त नली में प्रवाहित करके सुखा लिया जाता है। विद्युत् के विसर्जन के समय अंतराल के पृष्ठों पर एक नीली-सी दीप्ति दिखाई देने लगती है और एक सनसनाती हुई ध्वनि भी सुनाई देती है। इन प्रयोगों को अत्यंत सावधानी से करने पर २५ प्रति शत ऑक्सिजन तक ओजोन में बदल सकती है, लेकिन साधारणतः लगभग सात या आठ प्रति शत ऑक्सिजन का ही परिवर्तन होता है। द्रवीकरण तथा आंशिक आसवन द्वारा शुद्ध ओजोन गैस ऑक्सिजन अथवा हवा से पृथक् की जा सकती है, लेकिन मनुष्य अपने कामों में मिश्रित ओजोन का ही उपयोग करता है। ओजोन को अधिक परिमाण में तैयार करने की विधियों में भी प्रायः सभी में ऐसी कई नलियों से होकर हवा प्रवाहित की जाती है, जिनमें लगभग १०,००० वोल्ट के उतार पर बिजली का मूक विसर्जन होता रहता है।

वायुमंडल में ओजोन

ऊपरी वायुमंडल में विद्युत् और सूर्य की अल्ट्रा-वायोलेट रश्मियों के प्रभाव से ऑक्सिजन के अणु ओजोन के अणुओं में परिणत हो जाते हैं।

भौतिक-रासायनिक गुण

जब ओजोन हवा अथवा ऑक्सिजन से मिली रहती है तो उसमें कोई रंग नहीं दिखाई देता, लेकिन शुद्ध गैस एक हलके नीले रंग की होती है। ओजोन में एक विशेष प्रकार की गंध होती है, जिसे सूँघकर कुछ लोगों को मछली की, कुछ को लहसुन की, कुछ को जलते गंधक की और औरों को हलकी क्लोरीन की गंध की याद आती है। अधिक ओजोन से मिली हुई हवा में साँस लेने से सिरदर्द होने लगता है, लेकिन अल्पांशों में वह थकान मिटानेवाली और चित्त को आनंदित करनेवाली होती है। पानी में ओजोन ऑक्सिजन की अपेक्षा कुछ अधिक घुलती है, लेकिन तारपीन और दारचीनी के तेल में वह सरलता से घुल जाती है।

ओजोन में प्रायः वे सभी रासायनिक गुण होते हैं, जो ऑक्सिजन में होते हैं, लेकिन ओजोन की विशेषता यह है कि वह ऑक्सिजन से अधिक क्रियाशील होती है, अर्थात् वह बहुत-सी वस्तुओं का ऑक्सीकरण अधिक सरलता और शीघ्रता से कर देती है। इसका कारण यह है कि ओजोन के अणु से एक ऑक्सिजन का परमाणु सरलतापूर्वक पृथक् हो जाता है और पृथक् होते ही बहुतेरी वस्तुओं से संयुक्त होकर उनका ऑक्सीकरण कर देता है। यह पृथक्करण निम्न समीकरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

$$O_3 = O_2 + O$$
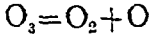
इस प्रकार की परमाणुरूप में निकलती हुई गैस को 'नवजात' गैस कहते हैं। बंधन तोड़कर भागते हुए कैदी की भाँति नवजात परमाणु अधिक क्रियाशील होता है, और जिस प्रकार ऐसा कैदी शीघ्र ही किसी स्थान में छिप रहता है, उसी प्रकार वह परमाणु भी किसी उपयुक्त अणुरूपी स्थान पाते ही उससे संयुक्त होकर अपने रूप का परिवर्तन कर लेता है। परमाणुरूप में अर्थात् अकेला होने के कारण वह इस प्रकार के संयोग के लिए अधिक व्यग्र रहता है। किसी कीटाणु के संसर्ग में आते ही वह उससे संयुक्त हो जाता है, लेकिन यह संयोग स्वयं कीटाणु के लिए घातक सिद्ध होता है। हवा और पानी के दुर्गन्धयुक्त पदार्थों से संयुक्त होकर वह उन्हें गंधहीन पदार्थों में परिणत कर देता है, और रंगदार पदार्थों से संबधित होकर वह उन्हें रंगहीन पदार्थों में बदल देता है।

धरती के नीचे चलनेवाली रेल की सुरंग में वायु की शुद्धि के लिए ओयोज का उपयोग

चित्र में सुरंग की दीवार में लगे एक पाइप द्वारा ओजोन निकलती दिखाई गई है।

लेकिन जब सम्बन्ध-योग्य अणुओं की अनुपस्थिति में ओजोन गरम की जाती है, अथवा धूलिकणों या कुछ धातव ऑक्साइडों के संसर्ग में लाई जाती है, तब भी उसका विच्छेदन हो जाता है। किन्तु इन दशाओं में उत्पादित परमाणु, सम्बन्ध-योग्य अणु अप्राप्य होने के कारण, परस्पर दो-दो संयुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार ऑक्सिजन ही ऑक्सिजन शेष रह जाती है—

$$2O_3 = 2O_2 + O_2 = 3O_2$$
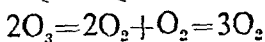
धूलिकणों अथवा ऑक्साइडों में ओजोन द्वारा कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता, वे ओजोन के विच्छेदन का केवल प्रवर्तन ही करते हैं। ओजोन एक अस्थाई गैस है, जो उपर्युक्त कारणों से अधिक समय तक टिक नहीं सकती।

उपयोगिता

हवा और पानी को शुद्ध करने के लिए ओजोन एक अत्युत्तम साधन है। इस बात में ओजोन की विशेषता यह है कि उसके कार्य के बाद ऑक्सिजन जैसी उपयोगी और हानिरहित वस्तु शेष बच रहती है। ओजोन द्वारा केवल हवा के कीटाणुओं और बदबू का ही नाश नहीं होता, वरन् उसमें ऑक्सिजन का परिमाण भी बढ़ जाता है और हवा प्रत्येक दृष्टि से स्वास्थ्यप्रद हो जाती है। इसी प्रकार, ओजोन पानी के कीटाणुओं, मैले रंग और दुर्गन्ध का ही नाश नहीं करती, किंतु पानी में अधिक ऑक्सिजन और कुछ स्वयं ओजोन के भी घुल जाने के कारण, उसका स्वाद भी बढ़ जाता है। जब ओजोन खाद्य तेलों में से प्रवाहित की जाती है, तो वे भी रंगहीन, निर्मल और स्वादयुक्त हो जाते हैं।

ओजोन के पात्र में यदि थोड़ा-सा पारा डाल दिया जाय तो वह तुरंत निस्तेज हो जाता है और पात्र के पृष्ठ से चिपकने लगता है। इसका कारण यह है कि पारा ओजोनजन्य ऑक्सिजन से संयुक्त होकर मरक्युरस ऑक्साइड में बदलने लगता है। यह ओजोन की उपस्थिति की एक बहुत अच्छी पहचान है।

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, वायुमंडल में ओजोन विद्युत् अथवा अल्ट्रा-वायोलेट किरणों द्वारा अल्प परिमाणों में बना करती है (दे० पृष्ठ ५०९ का चित्र)। लाखों भाग वायु में एक दो भाग ही ओजोन रहती है। ओजोन अधिकतर हवा के ऊपरी स्तरों में ही बनती है, अतएव उनमें ओजोन का अंश कुछ अधिक होता है। लेकिन नीचे उतरने पर ओजोन के अणु अपनी अतिरिक्त शक्ति धूलिकणों को देकर अथवा हवा के कुछ अपद्रव्यों का ऑक्सीकरण करके, साधारण ऑक्सिजन में बदल जाते हैं। नगरों के वातावरण

प्रयोगशाला में ओज़ोन तैयार करने की दो विधियाँ

प्रयोगशाला में ओज़ोन बनाने के लिए दो विधियों का प्रयोग होता है—१. ब्रॉडी की विधि, जिसमें एक चौड़ी नली के अंदर एक कम चौड़ी नली जड़ी होती है। अंदर की नली में ठंडा और हल्का गंधकाम्ल भर दिया जाता है और पूरा उपकरण ठंडे हल्के गंधकाम्ल से भरे हुए एक पात्र में डुबो दिया जाता है। भीतर और बाहर के अम्लों में प्लेटिनम के तार डूबे रहते हैं, जिनके द्वारा बिजली संचालित की जाती है! हल्का गंधकाम्ल बिजली का अच्छा संचालक होता है, अतः वलयाकार अंतराल में से होकर बिजली का मूक विसर्जन होने लगता है। इसी अंतराल में से ऑक्सिजन अथवा हवा प्रवाहित करने पर ऑक्सिजन का कुछ अंश ओज़ोन में परिणत हो जाता है। २. दूसरे प्रकार के और ब्रॉडी के उपकरण में अंतर यही है कि इसमें गंधकाम्ल के स्थान में बाहरी नली 'ख' का बाहरी पृष्ठ और भीतरी नली का भीतरी पृष्ठ टीन के पत्र (वर्क) द्वारा ढका होता है, और इन्हीं धातव पृष्ठों से होकर वलयाकार अंतराल में बिजली का मूक विसर्जन होता है। इस प्रकार के मूक विसर्जन के लिए यह आवश्यक है कि बिजली की धारा का वोल्टेज काफी ऊँचा हो। इसके लिए इंडक्शन काइल नामक भौतिक यंत्र का उपयोग होता है, जो विद्युत् धारा को नीचे वोल्टेज से ऊँचे वोल्टेज में परिणत कर देता है। पात्र 'क' में उपस्थित ऑक्सिजन अथवा हवा को अंतराल में प्रविष्ट कराने के पहले कैल्शियम-क्लोराइड युक्त नली 'ग' में प्रवाहित करके सुखा लिया जाता है।

में, जिसमें धूलिकण और अपद्रव्य अधिक परिमाण में रहते हैं, ओज़ोन नहीं के बराबर होती है, लेकिन देहात की खुली हुई हवा में वह कुछ अधिक रहती है। कुछ लोगों का मत है कि जल के वाष्पीकरण के समय भी जलपृष्ठ के निकट की कुछ ऑक्सिजन ओज़ोन में परिणत होती रहती है और इसीलिए समुद्र की-हवा-में ओज़ोन कुछ अधिक रहती है। लेकिन इस कथन में मतभेद है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड

ओज़ोन से रासायनिक गुणों में मिलता-जुलता एक दूसरा पदार्थ हाइड्रोजन परॉक्साइड है, जो हमारे दैनिक जीवन में दाँत अथवा घाव धोने के काम में बहुधा आया करता है। ओज़ोन एक गैसीय मूल तत्त्व है, जो ऑक्सिजन के एक अणु और उसी के एक परमाणु के संयोग से बनता है; हाइड्रोजन परॉक्साइड एक तरल यौगिक है, जो पानी

के एक अणु और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से बनता है। पानी का अणुसूत्र H_2O है, अतएव हाइड्रोजन परॉक्साइड का अणुसूत्र H_2O_2 लिखा जाता है। ओज़ोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड का भी यही गुण है कि उसके अणु से ऑक्सिजन का यह अतिरिक्त परमाणु सरलता से अलग हो सकता है और यही परमाणु कीटाणुओं का घातक और कार्बनिक रंगों का नाशक होता है—

$$H_2O_2 = H_2O + O$$

H_2O_2	H_2O	O
हाइड्रोजन परॉक्साइड	पानी	रंग और कीटाणुओं की नाशक 'नवजात' परिणामस्वरूप ऑक्सिजन
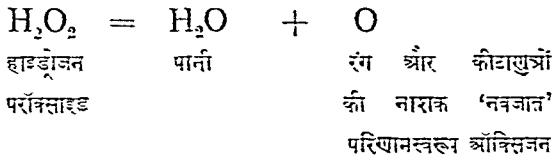
यदि इन परमाणुओं को सम्बन्ध-योग्य अणु उपलब्ध न हुए, तो वे परस्पर ही मिलकर दो परमाणुवाले ऑक्सिजन गैस के अणुओं में बदल जाते हैं।

थेनार्ड ने १८१८ ई० में पहले पहल हाइड्रोजन परॉक्साइड को बेरियम परॉक्साइड नामक यौगिक से बनाया था। उस समय वह ऑक्सिजनयुक्त जल कहलाया। आजकल भी हाइड्रोजन परॉक्साइड प्रायः बेरियम परॉक्साइड से ही बनाया जाता है। बेरियम परॉक्साइड का पानी में एक पतला पेप बनाकर बर्फ से ठंडे किये हुए हलके गंधकाम्ल (अथवा फास्फरिकाम्ल) में छोड़ा जाता है, जिससे अणु-भागों के विनिमय द्वारा बेरियम सल्फेट (अथवा बेरियम फास्फेट) बनकर विलेय होने के कारण अवक्षेपित हो जाता है और हाइड्रोजन परॉक्साइड पानी में घुला हुआ रह जाता है—

$$BaO_2 + H_2SO_4 = BaSO_4 + H_2O_2$$

BaO_2	H_2SO_4	$BaSO_4$	H_2O_2
बेरियम परॉक्साइड	गंधकाम्ल	बेरियम सल्फेट	हाइड्रोजन परॉक्साइड
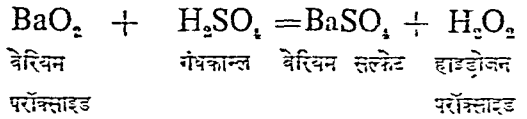
थोड़े से बचे हुए अम्ल का बेरियम कार्बोनेट द्वारा निराकरण करके, कुछ देर बाद स्वच्छ हाइड्रोजन परॉक्साइड के घोल को निथार लिया जाता है। हवा के कम दबाव में आसवित करने पर पानी पहले आसवित होकर अलग हो जाता है और शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड बच रहता है।

घोल अथवा पतले स्तरों में हाइड्रोजन परॉक्साइड रंगहीन होता है, किन्तु अधिक परिमाण में शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड नीलिमा लिये हुए एक गाढ़ा-सा द्रव होता है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड का उपयोग

वह कीटाणुओं एवं कार्बनिक रंगों का नाशक है।
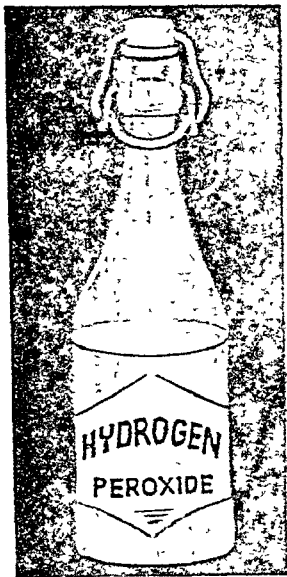
ओजोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड भी एक अस्थायी पदार्थ है। गर्मी, प्रकाश, शीशे के खुरदुरे पृष्ठों, कई धातव चूर्णों तथा ऑक्साइडों, क्षारों, जीवजन्य पदार्थों आदि के संसर्ग मे आने से इसका विच्छेदन होता रहता है। खुरदुरा शीशा तथा धातव चूर्ण और कुछ ऑक्साइडें हाइड्रोजन परॉक्साइड के विच्छेदन को केवल उत्प्रेरित करती हैं, एवं स्वयं उनमे कोई रासायनिक परिवर्तन नही होता।

हाइड्रोजन परॉक्साइड एक विशेष प्रकार की बोतल में इसलिए रक्खा जाता है कि उसका विच्छेदन कम-से-कम हो सके। एक ऐसी बोतल में, जिसका भीतरी पृष्ठ सम हो, स्वच्छ हाइड्रोजन परॉक्साइड भरकर उसके मुंह को एक विशेष प्रकार की डाट द्वारा रवर की गद्दी से कस दिया जाता है, जिससे बोतल से कोई गैस बाहर न निकल सके। कुछ दिन रखने पर जब प्रकाश आदि द्वारा हाइड्रोजन परॉक्साइड का विच्छेदन होता है तो बोतल में ऑक्सिजन गैस के निकलने के कारण दबाव बढ़ जाता है और यह दबाव अधिक विच्छेदन को रोके रहता है। बहुत दिन से बंद रक्खी हुई हाइड्रोजन परॉक्साइड की बोतल को खोलने से यही ऑक्सिजन गैस जोर से निकल पड़ती है। अगर हाइड्रोजन परॉक्साइड को बहुत दिन तक रखना है तो उसमें कोई मैल अथवा कूड़ा-करकट मिलने न दो और उसे किसी ठंडे अँधेरे स्थान में मुँह को रवर की गद्दी से कसकर रक्खो। असावधानी रखने पर हाइड्रोजन परॉक्साइड का विच्छेदन शीघ्रता से हो जाता है, और कुछ दिनो में प्रायः पानी-ही-पानी रह जाता है।

जो हाइड्रोजन परॉक्साइड हमें बाजार में मिलता है, वह शुद्ध जल में उसका घोल होता है। इस घोल में प्रायः लगभग तीन प्रतिशत हाइड्रोजन परॉक्साइड रहता है। घोल की प्रबलता शीशियों पर ऑक्सिजन के आयतनों के अंक में सूचित रहती है। यदि शीशी पर '१२ आयतन' लिखा है तो इसका अर्थ यह है कि एक आयतन घोल का विच्छेदन करने पर १२ आयतन ऑक्सिजन के निकलेंगे। हमारे व्यवहार के लिए शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड अथवा उसका अधिक प्रबल घोल अति तीव्र प्रमाणित होता है। शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड तो इतना तीव्र होता है कि उसे खाल में लगाने से फफोले तक पड़ आते हैं।

उपयोग

हाइड्रोजन परॉक्साइड जब दूसरी वस्तुओं का आक्सीकरण अथवा विरंजन करता है, तो केवल पानी ही शेष रह जाता है। अतएव ओजोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड भी अपने कार्य के पश्चात् कोई हानिकारक पदार्थ नही छोड़ता। क्लोरीन और सल्फर डाइ-ऑक्साइड नामक गैसें भी रंग उडाने के काम में लाई जाती है, लेकिन इनकी क्रिया के द्वारा क्रमशः हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और गंधकाम्ल घोल में बनकर शेष रह जाते है और ये अम्ल सुकुमार वस्तुओं के लिए हानिकारक सिद्ध होते है। अतः सुकुमार वस्तुओं का रंग उड़ाने के लिए ओजोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड, प्रायः यही दो पदार्थ काम में लाये जाते हैं। हाइड्रोजन परॉक्साइड बाल, दाँत, ऊन, रेशम, तिनको, परो, हाथीदाँत आदि के रंग को उड़ाने के लिए उपयुक्त होता है। रंग उडाने के लिए हाइड्रोजन परॉक्साइड मे थोड़ी-सी अमोनिया मिला ली जाती है, जिससे उसके विच्छेदन की गति कुछ बढ जाती है, और रंगीन पदार्थ नवजात ऑक्सिजन द्वारा ऑक्सीकृत होकर विरंजित हो जाता है। आवश्यक परिमाण में हाइड्रोजन परॉक्साइड को काले बालों मे लगाने से बाल सुनहले हो जाते हैं, इसलिये कुछ लोग विशेषतः गोरे मनुष्य जो काले बालों को असौंदर्य का चिन्ह मानते है, हाइड्रोजन परॉक्साइड को खिजाब की भाँति लगाया करते है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड से जब घाव अथवा मुंह धोया जाता है, तो वह ऑक्सिजन के निकलने के कारण बुदबुदाने लगता है। यह विच्छेदन की क्रिया घाव की टूटी हुई कोशिकाओं अथवा अन्य जीवपदार्थों द्वारा उत्प्रेरित होती है और इससे न केवल कीटाणुओं का ही नाश होता है, बल्कि सारा मैल भी छूटकर दूर हो जाता है। दाँत भी हाइड्रोजन परॉक्साइड द्वारा विरंजित होकर उजले हो जाते है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड काले पड़ गये पुराने तैल-चित्रों को धोने के काम में भी लाया जाता है। पुराने तैल-चित्र प्रायः सीसे के सफेदे में मिश्रित रंगो से ही बने होते है। जब इन चित्रों पर शहर की हाइड्रोजन सल्फाइडयुक्त हवा की क्रिया होती है, तो लेड सल्फाइड नामक एक काला पदार्थ बन जाता है और चित्र के रंग इसके काले रंग मे छिप जाते है। किंतु हाइड्रोजन सल्फाइड से धोने पर लेड सल्फाइड का प्रत्येक अणु ऑक्सिजन के चार नवजात परमाणुओं से संयुक्त होकर एक श्वेत स्थायी पदार्थ लेड सल्फेट में बदल जाता है; और छिपे हुए रंग फिर दिखाई देने लगते है।
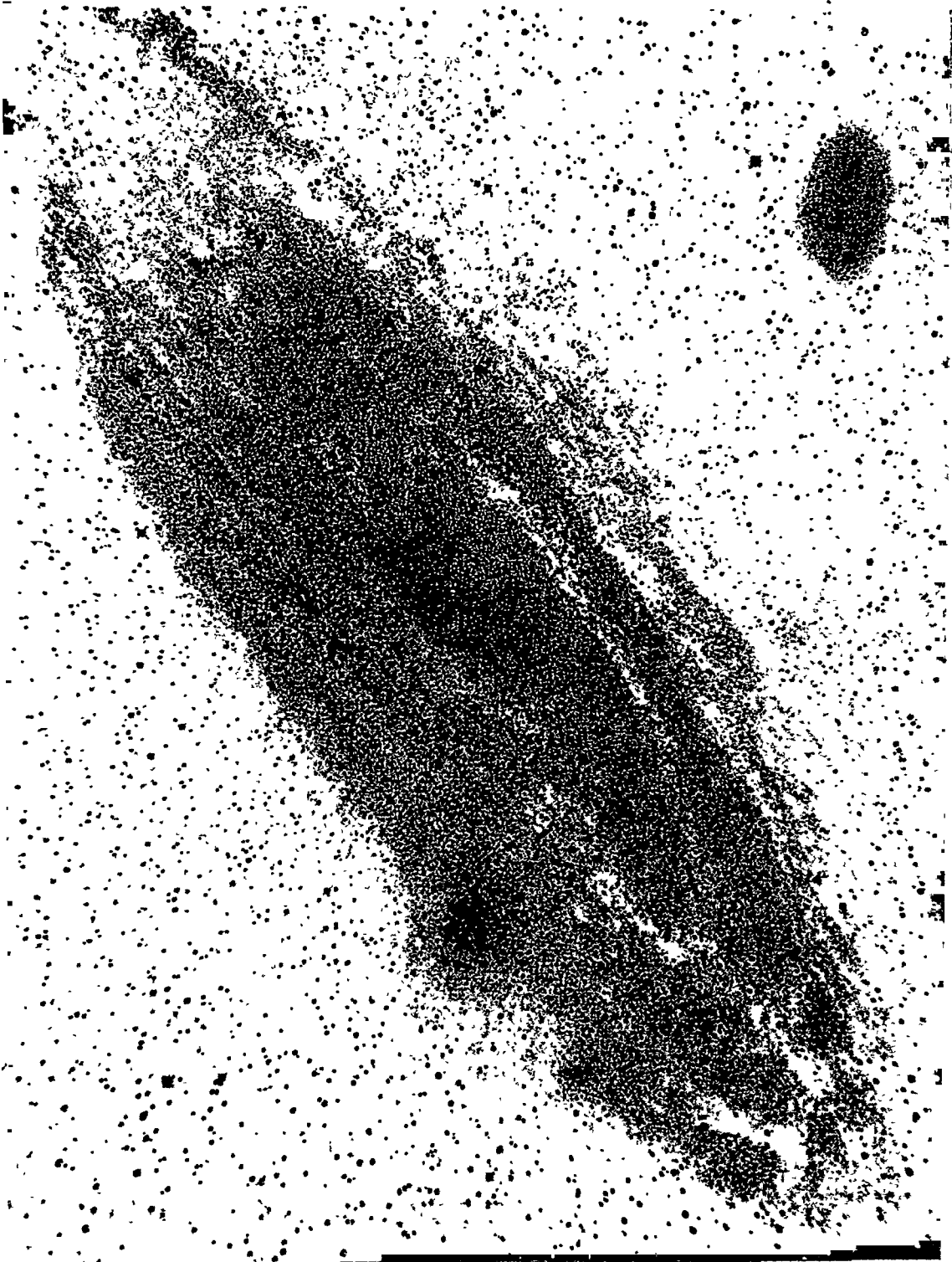
विश्व के विराट् आँगन में बिखरे हुए कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों में से एक––देवयानी तारा-समूह की महान् नीहारिका

यह आकाशगंगा की नक्षत्र-मेखला से परिवेष्टित हमारे ब्रह्माण्ड से परे आठ लाख प्रकाश-वर्ष की दूरी पर स्थित अन्य एक ब्रह्माण्ड है।
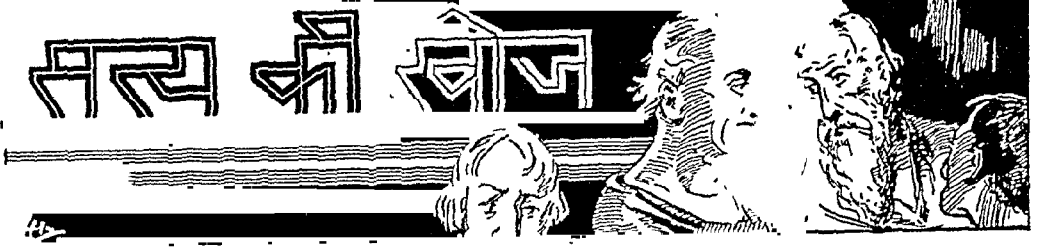
अनन्त

अंतिम रहस्यात्मक तत्त्व को जानने के प्रयास में ज्यों-ज्यों हम अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों नई-नई पहेलियां सामने आकर हमें चुनौती देने लगती हैं—'तुम उसे नहीं जान सकते, नहीं जान सकते।' अपनी सीमित बुद्धि की डोर से हम उस असीम को नापने चले हैं—गज, मील, वर्ष, युग की इयत्ता में उसे बांधने ! किन्तु पहले ही साक्षात्कार में अपने अनन्तत्व की एक झलक दिखाकर वह मानों हमारी लघुता पर खिलखिला उठता है ! वास्तव में, यदि मनुष्य बलपूर्वक उस अनंत को अपनी बुद्धि के शिकंजे में कसने का आग्रह करे तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा ?

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये

उस सहस्र रूपोंवाले अनन्त पुरुष को हमारा प्रणाम हो, इन शब्दों में भारतवर्षीय विद्वानों ने अनन्त के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए ऋषियों को जिस अनुभव ने सबसे अधिक आश्चर्यचकित किया, वह भगवान् का अनन्त रूप था। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त सहस्रशीर्षा पुरुष की महिमा का वर्णन करता है। वेदों की परिभाषा में 'सहस्र' शब्द अनन्त या अपरिमित का ही पर्यायवाची है। सहस्रशीर्षा विराट् पुरुष इस अनन्त ब्रह्माण्ड को सब ओर से व्याप्त करके स्थित हैं। यह विश्व उसके एक अंश से निर्मित हुआ है। वह अनन्त ईश्वर इस जगत् के बाहर भी है। सृष्टि के निर्माण में ब्रह्म का समस्त अंश परिच्छिन्न नहीं हो सका। सृष्टि के बाहर ब्रह्म का जो भाग बच गया, वह सृष्टि में प्रयुक्त होनेवाले भाग से कहीं अधिक है। यही उसकी महिमा है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए वेद में कहा है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

[पुरुषसूक्त]

अर्थात् यह जितना दृश्यमान जगत् है, सब उस पुरुष की महिमा है। पुरुष अपनी इस महिमा से भी अधिक महान् है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके चौथाई भाग में है। पुरुष का तीन चौथाई भाग द्युलोक में अमृत अंश है। यहाँ पर एक-चौथाई और तीन चौथाई शब्द सापेक्षिक और निदर्शनमात्र है। शब्दातीत तत्त्व को वाणी के द्वारा प्रकट करने के लिए यह एक कल्पना है; अन्यथा अनन्त वस्तु में इस प्रकार के योग-विभाग का स्थान ही कहाँ है ! एक दूसरे स्थान पर अनन्त पुरुष को और सृष्टि में व्याप्त उसके अंश को आधा-आधा कहा गया है:—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान ।
यो अस्यार्धः कतमः स केतुः ।

अर्थात् पुरुष के अर्ध भाग से सब भुवनों का निर्माण हुआ है; उसका जो दूसरा अर्धांश है, उसका निशान क्या है ?

मर्त्य और अमृत—सान्त और अनन्त

आधे भाग का प्रतीक तो जगत् के रूप में हमारे सामने है, परन्तु दूसरा जो अमृत अंश है, उसका प्रतीक किसी को ढूंढ़ने से भी नहीं मिल रहा है। एक दूसरी दृष्टि से उसी के दो भागों को मर्त्य और अमृत कहा गया है। जो भाग सृष्टि में समाया हुआ है, वह काल के वशीभूत हो जाने के कारण मर्त्य बन गया है। और जो उससे बाहर है, वह देश और काल से परे है, इसलिए अमृत है। मर्त्य भाग को अन्न भी कहा जाता है, क्योंकि वह काल के द्वारा खाया जाता है। परन्तु अमृत भाग पर काल का कोई प्रभाव नहीं होता, वह स्वयं अन्नाद (अन्न को खानेवाला) है। मर्त्य और अमृत अथवा अन्न और अन्नाद की संधि ही सान्त और अनन्त की ग्रन्थि है।

जो देश से परिच्छिन्न है और काल से मर्यादित है, वही

सान्त है। जगत् केवल इसी दृष्टि से सान्त कहा जा सकता है, अन्यथा क्या परमाणु और क्या विराट् दोनों दिशाओं मे विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूँढनेवाले वैज्ञानिको को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-विन्दु नही मिल सका है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि वस अव इससे आगे कुछ नही है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रो के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट पालोमर पर जो २०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक यंत्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव वुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोद में छोड़ देता है। गीता के शब्दो में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमतावाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें साक्षात् होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने वीसियों लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् विस्तृत है। ये विश्व इतनी दूर है कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलनेवाला प्रकाश वहाँ से करोड़ों वर्षो में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र-जगत् में अरवों नक्षत्र है, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परन्तु हमारे दूर-दर्शक यंत्र की फोटोग्राहिणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड मे शखानुशंख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव वुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है ? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एक-मात्र हमारा अवलम्व नही रह जाती ? मेटरलिक के शब्दो में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य है।

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँचकर ही 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः' का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस सृष्टिकर्त्ता की इतनी विशाल महिमा है ! ज्ञान-सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्‌गार हमारे सामने आते हैं--

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्त्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की है। यदि मनुष्य की वुद्धि वलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे में कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के वहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरित होकर गार्गी ने इस विश्व के सम्वन्ध मे 'अति-प्रश्न' पूछे, उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी देते हुए कहा--'हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत पूछो, कही तुम्हारी वुद्धि का आधार यह मस्तिष्क ही अपने स्थान से न हट जाय।' वस्तुतः मानव मस्तिष्क भी पालोमर पर्वत की चोटी के दो सौ इंची दूरवीक्षण-यंत्र की भाँति एक यंत्र ही तो है। अनन्त आकाश के कुछ आवरणो को पार करके वीसियों लाख नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के वाद उस दो सौ इंची यंत्र की शक्ति थक जाती है, उसका 'मूर्धाविपतन' होने लगता है। क्या पालोमर पर्वत के इस दो सौ इंची वैज्ञानिक 'जटायु' की असमर्थता में और राम के उदर में 'अनेक अंडकटाहों' का दर्शन करके थक जानेवाले तुलसीदास के कागभुशुंडि में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर है ? दोनों अपना अन्तिम अनुभव एक ही प्रकार से हमारे सामने रखते हैं--

उदर माँझ सुनु अंडजराया।
देखेहुँ वहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक-एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि विधि मैं देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक॥

[रामचरितमानस]

वैज्ञानिकों के सुपरिचित 'कोटि-कोटि नक्षत्र' और पुराणों के शतकोटि ब्रह्माण्ड-निकाय अन्ततोगत्वा एक ही है। अनादि और अनन्त संसाररूपी अश्वत्थ की इयत्ता का अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षतावादी वैज्ञानिकों के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त विश्व का व्यास १४० करोड़ प्रकाशवर्ष वताया जाता है ! इसी से इसकी परिधि*की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में प्रत्येक प्रकाश की एक रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश पोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि इस विश्व का पोला

---

* व्यास से परिधि लगभग तिगुनी होती है। १ अरव ४० करोड़ व्यास की परिधि ४ अरव ४० करोड़ हुई। प्रकाशवर्ष को छोड़कर यह संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी भारतीय गणना के अनुसार एक कल्प की आयु अर्थात् ४ अरव ३२ करोड़।

उदर नक्षत्र और नीहारिकाओं की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्यप्रति बढ़ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाशवर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दों में 'नभ शत कोटि अमित अवकाशा' जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के सम्बन्ध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकतीं। यदि एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है, तो विराट् आकाश को गणित के अकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल हैं।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों के भार से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिए शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओतप्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योग-निद्रा में निमग्न रहते हैं, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन है और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरंजन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त हो गया है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णुसंज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्वरूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणों में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनन्त शेष की शय्या पर सोते हैं, यह एक काव्यमय कल्पना है।

विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व अनन्त के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित हैं। विष्णु से व्यतिरिक्त शेष सहस्रसंज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नहीं हो सकती, उसके लिए कुण्डलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणों की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख हैं, उन फणों के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्माण्ड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा रजकण—

स्फारे यत्कणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है। दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानो 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकताकर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इऑस' या 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान के व्यापक पहलू' नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथ्वी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महासागर में भरे हुए असंख्य बालू के कणों की तुलना में एक बालुका-कण का। अवश्य ही अनन्त के आँगन में विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते हैं।

विराट् और वामन

अर्थात् विश्व के विशाल व्यापक महत् रूप तथा सूक्ष्म अणु रूप का विवेचन।

सूक्ष्मतया देखने पर यह विश्व हमें दो तरह का दिखाई पड़ता है, एक महत् रूप में, दूसरा अणु रूप में। जो अलख निरंजन तत्त्व है, वह महत् और अणु दोनों से परे है, इसीलिए उसे 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' ये दोनों विशेषण दिये जाते हैं। परन्तु जिस संसार के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय है, उसमें एक ओर तो विशाल व्यापक या विराट् रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म अणु रूप के दर्शन होते हैं। अनन्त के वर्णन में विश्व के विराट् रूप को लक्ष्य करके यह बताया गया है कि विज्ञान के अर्वाचीन साधन विराट् की थाह लेने में असमर्थ हैं। दो सौ इंची दूरवीक्षण यंत्र से जो रहस्य-भरा चमत्कार हमें दिखाई पड़ा है, उससे हम आश्चर्य से स्तब्ध रह जाते हैं। पर यह अनुमान किया जाता है कि बीसियों लाख नीहारिकाओं को दर्शन-पथ में खींच लानेवाले इस 'वैज्ञानिक चक्षु' से जितना आकाश-प्रदेश हमें दिखाई देता है, समूचे विश्व का निखिल आकाश

सान्त है। जगत् केवल इसी दृष्टि से सान्त कहा जा सकता है, अन्यथा क्या परमाणु और क्या विराट् दोनों दिशाओं में विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूंढनेवाले वैज्ञानिकों को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-बिन्दु नहीं मिल सका है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि बस अब इससे आगे कुछ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रों के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट पालोमर पर जो २०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक यंत्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव बुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोद में छोड़ देता है। गीता के शब्दों में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमतावाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें साक्षात् होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने बीसियों लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् विस्तृत है। ये विश्व इतनी दूर है कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलनेवाला प्रकाश वहाँ से करोड़ों वर्षों में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र-जगत् में अरबों नक्षत्र हैं, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परन्तु हमारे दूरदर्शक यंत्र की फोटोग्राहिणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शंखानुशंख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव बुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एकमात्र हमारा अवलम्ब नहीं रह जाती? मेटरलिंक के शब्दों में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य है।

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँचकर ही 'एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः' का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस सृष्टिकर्त्ता की इतनी विशाल महिमा है! ज्ञान-सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्गार हमारे सामने आते हैं—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्त्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की हैं। यदि मनुष्य की बुद्धि बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे में कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरि होकर गार्गी ने इस विश्व के सम्बन्ध में 'अति-प्रश्न' उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी देते हुए 'हे गार्गि! अतिप्रश्न मत पूछो, कहीं तुम्हारी आधार यह मस्तिष्क ही अपने स्थान से न हट
मानव मस्तिष्क भी पालोमर पर्वत की
इंची दूरवीक्षण-यंत्र की भांति एक यंत्र
आकाश के कुछ आवरणों को पा
नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के
की शक्ति थक जाती है, उसका
है। क्या पालोमर पर्वत के इ
की असमर्थता में और रास
का दर्शन करके थक जा
में तत्त्व की दृष्टि से क
अनुभव एक ही प्रका

उदर

देखे

एक-एक

यहि विधि

वैज्ञानिकों के सुपरि
पुराणों के शतकोटि ब्रह्माण्ड-नि
है। अनादि और अनन्त संसाररूपी अ
अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षत
निकों के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त
का व्यास १४० करोड़ प्रकाशवर्ष बताया जाता है! इस
से इसकी परिधि*की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में प्रत्येक प्रकाश की एक रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश पोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि इस विश्व का पोला

* व्यास से परिधि लगभग तिगुनी होती है। १ अरब ४० करोड़ व्यास की परिधि ४ अरब ४० करोड़ हुई। प्रकाशवर्ष को छोड़कर यह संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी भारतीय गणना के अनुसार एक कल्प की आयु अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़।

उदर नक्षत्र और नीहारिकाओ की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्यप्रति बढ़ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाशवर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दो में 'नभ शत कोटि अमित अवकाशा' जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के सम्बन्ध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकती। यदि एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है, तो विराट् आकाश को गणित के अकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल है।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों के भार से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिए शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओतप्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योग-निद्रा में निमग्न रहते है, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन है और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरंजन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त हो गया है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णुसंज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्वरूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणो में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनन्त शेष की शय्या पर सोते हैं, यह एक काव्यमय कल्पना है।

विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व अनन्त के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित है। विष्णु से व्यतिरिक्त शेष सहस्रसंज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नही हो सकती, उसके लिए कुंडलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणों की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख है; उन फणो के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्माण्ड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा रजकण—

स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है। दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानों 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकताकर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इओस' या 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान के व्यापक पहलू' नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथ्वी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महासागर में भरे हुए असख्य बालू के कणो की तुलना मे एक बालुकाकण का। अवश्य ही अनन्त के आँगन मे विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते है।

विराट् और वामन

अर्थात् विश्व के विशाल व्यापक महत् रूप तथा सूक्ष्म अणु रूप का विवेचन।

सूक्ष्मतया देखने पर यह विश्व हमे दो तरह का दिखाई पड़ता है, एक महत् रूप में, दूसरा अणु रूप में। जो अलख निरंजन तत्त्व है, वह महत् और अणु दोनो से परे है, इसीलिए उसे 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' ये दोनो विशेषण दिये जाते है। परन्तु जिस संसार के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय है, उसमें एक ओर तो विशाल व्यापक या विराट् रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म अणु रूप के दर्शन होते है। अनन्त के वर्णन में विश्व के विराट् रूप को लक्ष्य करके यह बताया गया है कि विज्ञान के अर्वाचीन साधन विराट् की थाह लेने में असमर्थ है। दो सौ इंची दूरवीक्षण यंत्र से जो रहस्य-भरा चमत्कार हमें दिखाई पड़ा है, उससे हम आश्चर्य से स्तब्ध रह जाते है। पर यह अनुमान किया जाता है कि बीसियों लाख नीहारिकाओं को दर्शन-पथ में खींच लानेवाले इस 'वैज्ञानिक चक्षु' से जितना आकाश-प्रदेश हमें दिखाई देता है, समूचे विश्व का निखिल आकाश

सान्त है। जगत् केवल इसी दृष्टि से सान्त कहा जा सकता है, अन्यथा क्या परमाणु और क्या विराट् दोनों दिशाओं में विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूँढ़नेवाले वैज्ञानिकों को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-विन्दु नहीं मिल सका है, जहाँ पहुँचकर यह कहा जा सके कि बस अब इससे आगे कुछ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रों के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट पालोमर पर जो २०० इंच व्यास के शीशेवाला दूरदर्शक यंत्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव बुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोद में छोड़ देता है। गीता के शब्दों में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमतावाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें साक्षात् होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने बीसियों लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् विस्तृत है। ये विश्व इतनी दूर हैं कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलनेवाला प्रकाश वहाँ से करोड़ों वर्षों में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्र-जगत् में अरबों नक्षत्र हैं, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परन्तु हमारे दूर-दर्शक यंत्र की फोटोग्राहिणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शखानुशख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव बुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एक-मात्र हमारा अवलम्ब नहीं रह जाती? मेटरलिंक के शब्दों में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य है।

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँचकर ही 'एतावा-नस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुष.' का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस सृष्टिकर्ता की इतनी विशाल महिमा है! ज्ञान-सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्‌गार हमारे सामने आते हैं—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्

[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की है। यदि मनुष्य की बुद्धि बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे में कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के बहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरित होकर गार्गी ने इस विश्व के सम्बन्ध में 'अति-प्रश्न' पूछे, उस समय याज्ञवल्क्य ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—'हे गार्गि! अतिप्रश्न मत पूछो, कहीं तुम्हारी बुद्धि का आधार यह मस्तिष्क ही अपने स्थान से न हट जाय।' वस्तुतः मानव मस्तिष्क भी पालोमर पर्वत की चोटी के दो सौ इंची दूरवीक्षण-यंत्र की भाँति एक यंत्र ही तो है। अनन्त आकाश के कुछ आवरणों को पार करके बीसियों लाख नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के बाद उस दो सौ इंची यंत्र की शक्ति थक जाती है, उसका 'मूर्धविपतन' होने लगता है। क्या पालोमर पर्वत के इस दो सौ इंची वैज्ञानिक 'जटायु' की असमर्थता में और राम के उदर में 'अनेक अंडकटाहों' का दर्शन करके थक जानेवाले तुलसीदास के कागभुशुंडि में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर है? दोनों अपना अन्तिम अनुभव एक ही प्रकार से हमारे सामने रखते हैं—

उदर माँझ सुनु अंडजराया।
देखेहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक-एक ब्रह्माण्ड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि विधि मे देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक॥

[रामचरितमानस]

वैज्ञानिकों के सुपरिचित 'कोटि-कोटि नक्षत्र' और पुराणों के शतकोटि ब्रह्माण्ड-निकाय अन्ततोगत्वा एक ही है। अनादि और अनन्त संसाररूपी अश्वत्थ की इयत्ता का अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षतावादी वैज्ञा-निकों के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त विश्व का व्यास १४० करोड़ प्रकाशवर्ष बताया जाता है! इसी से इसकी परिधि* की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में प्रत्येक प्रकाश की एक रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश गोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगटन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादित किया है कि इस विश्व का पोला

---

* व्यास से परिधि लगभग तिगुनी होती है। १ अरब ४० करोड़ व्यास की परिधि ४ अरब ४० करोड़ हुई। प्रकाशवर्ष को छोड़कर यह संख्या लगभग उतनी ही है, जितनी भारतीय गणना के अनुसार एक कल्प की आयु अर्थात् ४ अरब ३२ करोड़।

उदर नक्षत्र और नीहारिकाओं की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्यप्रति बढ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाशवर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दों में 'नभ शत कोटि अमित अवकाशा' जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के सम्बन्ध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिलमात्र भी परिवर्तन नही कर सकती। यदि एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है, तो विराट् आकाश को गणित के अंकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल है।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों के भार से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिए शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओतप्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योग-निद्रा में निमग्न रहते है, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन है और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरंजन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त हो गया है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णुसंज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्वरूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणो में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनन्त शेष की शय्या पर सोते है, यह एक काव्यमय कल्पना है।

विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व अनन्त के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित है। विष्णु से व्यतिरिक्त शेष सहस्रसंज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नही हो सकती, उसके लिए कुडलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणो की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख है; उन फड़ो के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्माण्ड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा रजकण—

स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है। दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानो 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकताकर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इओंस' या 'ब्रह्माण्ड-विज्ञान के व्यापक पहलू' नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथ्वी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महासागर में भरे हुए असंख्य बालू के कणो की तुलना में एक बालुकाकण का। अवश्य ही अनन्त के आँगन मे विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए प्रतीत होते है।

विराट् और वामन

अर्थात् विश्व के विशाल व्यापक महत् रूप तथा सूक्ष्म अणु रूप का विवेचन।

सूक्ष्मतया देखने पर यह विश्व हमें दो तरह का दिखाई पड़ता है, एक महत् रूप में, दूसरा अणु रूप में। जो अलख निरंजन तत्त्व है, वह महत् और अणु दोनो से परे है, इसीलिए उसे 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' ये दोनों विशेषण दिये जाते है। परन्तु जिस संसार के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय है, उसमें एक ओर तो विशाल व्यापक या विराट् रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म अणु रूप के दर्शन होते है। अनन्त के वर्णन में विश्व के विराट् रूप को लक्ष्य करके यह बताया गया है कि विज्ञान के अर्वाचीन साधन विराट् की थाह लेने में असमर्थ है। दो सौ इंची दूरवीक्षण यंत्र से जो रहस्य-भरा चमत्कार हमें दिखाई पड़ा है, उससे हम आश्चर्य से स्तब्ध रह जाते है। पर यह अनुमान किया जाता है कि बीसियों लाख नीहारिकाओं को दर्शन-पथ मे खींच लानेवाले इस 'वैज्ञानिक चक्षु' से जितना आकाश-प्रदेश हमें दिखाई देता है, समूचे विश्व का निखिल आकाश

वह हमारे कवियों का आदि शिक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी परम्परा में दीक्षित होकर लिखा था——

दिस्वरूप रघुवंसमनि, करहु वचन विश्वासु।
लोककल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

पद पाताल, सीस अजधामा ;
अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा।
भृकुटि-विलास भयंकर काला ;
नयन दिवाकर, कच घन-माला।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा ;
निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस वेद बखानी ;
मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ, जम दसन कराला ;
माया हास, बाहु दिगपाला।
आनन अनल, अंबुपति जीहा ;
उतपति पालन प्रलय समीहा।
रोमराजि अष्टादस भारा ;
अस्थि सैल, सरिता नस-जारा ,
उदर- उदधि, अधर्गोजातना ;
जगमय प्रभु, का वहु कलपना।

अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मस्तक, पाताल पैर, काल भौं, सूर्य नेत्र, मेघमाला केशकलाप, अहोरात्र असंख्य निमेष, दिशाएँ श्रोत्र, वायु श्वास, वेद वाणी, मृत्यु कराल डाढ़ें, माया हँसी, अग्नि मुख, पर्वत अस्थियाँ, और सरिताएँ नाड़ी-जाल हैं, ऐसा प्रभु विश्व में सर्वत्र रमा हुआ है। उसके विषय में बहुत कल्पना क्या की जाय, क्योंकि कल्पनाएँ वाणी का विकार या विलासमात्र हैं। परन्तु क्रान्तदर्शी साहित्यिकों ने जान-बूझकर जो इस प्रकार विराट् के वर्णन का प्रयास किया है, इसे उनका स्वभाव ही समझना चाहिए——

विदुषन प्रभु विराटमय दीसा ;
बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा ।

विराट् दर्शन का फल

सत्य की खोज करते हुए मनुष्य के लिये विराट् रूप का दर्शन अत्यन्त आवश्यक है, और इस दृष्टिकोण के विकसित हो जाने का निश्चित फल उसके जीवन पर पड़ता है। अपने हृदय की क्षुद्रता पर विजय पाने के लिए हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनना चाहिए। प्रत्येक वस्तु या कर्म को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति से मानवी अहंकार, शंका [illegible] है। समस्त पदार्थों मे [illegible] के अर्थ को समझने लगता है। उसके लिए सृष्टि एक उन्मत्त नृत्य की भाँति न रहकर नियमित प्रक्रिया के रूप में उपस्थित होती है। उस प्रक्रिया का प्रत्येक अंग चेतन ज्ञानमय शक्ति से नियंत्रित प्रतीत होता है। मनुष्य सृष्टि के भार से स्वयं कातर नही होता, वह उसे सत्य से धारण की हुई देखता है। विश्व और विश्व-नियन्ता के सम्बन्ध का साक्षात्कार विराट् का दर्शन है। विराट् दर्शन 'कृत्स्न' का दर्शन है। भारतीय ऋषियो ने इस दृष्टिकोण को मानवी जीवन के सान्निध्य में लाने का यत्न किया है। आयु के अन्तिम दो आश्रम इसी दृष्टिकोण के विकास का फल हैं। वनस्थ तपस्वी और संन्यासी के लिए स्वार्थमय क्षुद्रता का लोप हो जाता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा मे देखता है। वह मानव मात्र को अपने परिवार का अंग समझने का अभ्यास बढाता है, और अन्त मे प्राणिमात्र को, पशु-पक्षी और लता-वनस्पति आदि को भी, एक ही चैतन्य से ओत-प्रोत देखता है। विश्व का कल्याण ही उसका अभीष्ट रह जाता है।

भारतीय वाङ्मय के रचयिताओं के मन पर विराट् दर्शन की छाप पड़ी थी। वे किसी एक शास्त्र को औरों से व्यपेत या पृथक् नही देखते। सब शास्त्र मनुष्य-जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतएव सब का आदि मूल एक ज्ञानमय वेद है और सबका फल मोक्ष है। हमारे इतिहास युद्ध के वर्णन न रहकर मोक्ष-धर्म-निरूपण के शास्त्र बन गये हैं; हमारे उत्तम काव्यों का फल भी आलंकारिकों के शब्दो में 'सद्यः परनिर्वृत्ति' (तुरन्त परमानन्द की प्राप्ति) निर्धारित हुआ है। एतद्देशीय शास्त्रों और विद्याओं के वर्गीकरण में भी यही एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है। 'विश्व की रूपरेखा' के लेखक क्राउथर ने यह विचार प्रकट किया है कि 'पिछले चार सौ वर्षो में व्यापक दृष्टि को छोड़कर लोग विशेष की ओर बढते रहे, अतएव सार्वलौकिक दर्शन उनके लिए दुर्लभ बन गया। अब हमें पुनः विश्व या 'सर्वलोक' को देखने की आदत सीखनी होगी।' तभी हमारे विचारों में प्रौढ़ स्थिरता उत्पन्न होगी। नैमिषारण्य के सूत मानों सभी शास्त्रों का मानव-जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे। उनके दर्शन का मूलमंत्र यह था——

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

[महाभारत, शान्ति-पर्व २९९।२०]

अर्थात् 'यह रहस्य-ज्ञान तुम्हे बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहाँ कुछ भी नही है'।

देहेन्द्रियों के पोषक रसों के कण शरीर में बसने लगते हैं, इसी से यह समय आयु का वसन्तकाल है। यौवन ग्रीष्म ऋतु है। ग्रीष्म ताप के द्वारा रसकणों को विशेष आग्रह के साथ ग्रहण करता है या अपने में खींचता है। यही प्रवृत्ति यौवन की है। शरद्काल में रस शुष्क या शीर्ण होता है। आयु के तृतीय सवन में मनुष्य-देह भी परिहाणि की ओर अग्रसर होता है। सृष्टि के यच्चयावत्पदार्थ आदि-मध्य-अन्त के इन्हीं तीन चरणों में परिच्छिन्न है, कुछ भी इस विष्णु के त्रिविक्रम से बाहर नहीं है।

विष्णु प्रारम्भ में वामन बनकर आता है। वामन-रूपी शिशु में भावी विष्णुत्व के बीज छिपे रहते हैं। मानवी अभिलाषाएँ वामन से विराट् रूप धारण कर लेती हैं। वासनाएँ छोटे अंकुर के रूप में मनुष्य के मन में जन्म लेती हैं, हम उनके वशीभूत हो जाते हैं, पीछे उनका विराट् रूप प्रकट होता है। यद्यपि मनुष्य की भोगशक्ति वामन या परिमित ही बनी रहती है, परन्तु वासनाओं का विराट् रूप वश में नहीं आता। वासनाओं के द्वारा हम त्रिलोकी को अपने विषय-सुख की परिधि में बाँध लेना चाहते हैं। सहस्र संवत्सर तक विषयों का उपभोग करने के बाद ययाति ने जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, वह मनुष्य की विराट् वासनाओं को लक्ष्य करके ही घटित होता है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥

वामन-रूपी वैश्वानराग्नि शीघ्र ही तृप्त हो सकती है, पर विराट् वासना अक्षय उपभोग चाहती है। यही वामन और विष्णु का सम्बन्ध है। शरीर से हम सब वामन हैं, पर मन से विष्णु बने हुए हैं। काल-रूपी विष्णु का वामन रूप एक क्षण है। आदि-मध्य-अन्त ये उसके तीन चरण हैं। गीता में कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अर्थात् भूतों का आदि अव्यक्त है, उनका अंत भी अव्यक्त है। केवल मध्य भाग ही व्यक्त या दृष्टिगोचर है। यही इस सृष्टि का नियम है। इसके आदि अन्त का साक्षी कोई नहीं है, देवता भी इसके बाद जन्मे हैं—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन
[नासदीय सूक्त]

इसका जो मध्य भाग है, वही हमारे दृष्टिपथ में आता है, वही ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में विष्णु के बीच के चरण के लिए कहा है—

समूढ़मस्य पांसुरे

अर्थात् यह चरण ऐसे व्यक्त है, जैसे धूलि में छपा हो। इसी व्यक्त भाग में सब-कुछ निपतित है।

भारतीय साहित्य में विराट् की कल्पना

विष्णु के विराट् रूप की कल्पना आर्य गाथाशास्त्र की एक अपूर्व विशेषता है। पुरुषसूक्त में उसका उपक्रम है—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
सजातो अत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथो पुरः॥५॥

× × ×

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥१४
[ऋ० १०।९०]

अर्थात् समस्त विश्व एक ही पुरुष के यज्ञांगों से निर्मित हुआ है। इस विराट् विश्व के भीतर वह पुरुष ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य-वायु-अग्नि-अन्तरिक्ष-द्यौ-पृथ्वी-दिशाये और अन्य लोक, सब पुरुष के अंगों के उपादान से रचे गये हैं।

पुरुष-शरीर के अनादि-अनन्त यज्ञ के द्वारा सृष्टि-विकास की कल्पना आर्यों की अन्य शाखाओं में भी मिलती है। स्कैंडिनेविया प्रदेश की उत्तराखंडवर्ती आर्य जातियों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि अग्नि और जल के पारस्परिक संघर्ष से जो देव उत्पन्न हुआ, उसी के विविध अंगों से पृथ्वी, आकाश, समुद्र आदि की रचना हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कारलाइल ने संक्षेप में उसका वर्णन यों किया है—

"सृष्टि की उत्पत्ति-संबंधी उनकी आदिम पौराणिक गाथाओं ही पर विचार कीजिए। जब देवगण 'तप्त वायु' एवं तुषार तथा अग्नि के संघर्ष से उपजी हुई अव्यवस्था से उत्पन्न दैत्य यमेर को मार चुके तो उन्होंने उसके अवशेषों से एक नई दुनिया की रचना करने का निश्चय किया। उसके रक्त से सागर का निर्माण हुआ; मांस से भूमि बनी और अस्थियों से पर्वतों की शिलाएँ बनाई गईं; उसके भौंहों से देवताओं के निवासस्थान 'असगार्ड' की रचना हुई; उसकी खोपड़ी ही अनन्तव्यापी नीलाकाश बन गया, तथा बादलों की रचना उसके मस्तिष्क के द्रव्य से की गई। कैसा विराट् अति दानवीय कृत्य रहा होगा वह !' आदि-आदि।

आर्य परम्पराओं का गोप्ता भारतीय साहित्य विराट् सम्बन्धी ऐसे उद्दाम वर्णनों से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में विराज गौ या प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, सचमुच

उससे भी एक अरब गुना बड़ा है ! यदि हमें कोई ऐसा दिव्य चक्षु मिल सके, जिसके द्वारा हमे इस महाकाश के दर्शन भी होने लगें तो नीहारिका और नक्षत्रों की संख्या लाखो से अरबो गुना अधिक पहुँचेगी ।

महत् से दृष्टि हटाकर जब हम अणु की शरण मे जाते हैं, तब और भी आश्चर्यजनक रहस्य सामने आता है । विज्ञान हमें बताता है कि जगत् १०१ मूलभूत पदार्थो से बना हुआ है । प्रत्येक पदार्थ की सूक्ष्म रचना का आधार परमाणु है । अथवा यो कहे कि परमाणु की ईंटो को जोडकर पदार्थ का विशाल भवन निष्पन्न होता है । परमाणु की आन्तरिक रचना कुछ-कुछ सौरमण्डल से मिलती-जुलती है । परमाणु के मध्य मे एक धनविद्युत् का बिन्दु है, जिसे केन्द्र कहते है । इसका व्यास एक इंच के दस लाखवें भाग का भी दस लाखवां भाग बताया जाता है । परमाणु के जीवन का सार इसी केन्द्र या हृदय-भाग में बसता है । इस केन्द्र के चारों ओर अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्युत्कण चक्कर काटते रहते हैं, जिन्हें ऋणविद्युत्प्रधान होने के कारण 'इलैक्ट्रान' कहा जाता है । ऋणात्मक विद्युत्कण परमाणु का बुभुक्षित भाग है । ये केन्द्र से मिलने के लिए उत्कंठित रहते हैं । वैज्ञानिको का अनुमान है कि केन्द्र के भीतर भी और कई प्रकार के विद्युत्कण संगृहीत हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप की जाँच-पड़ताल अभी तक जारी है । इन सबके समाहार का एकत्र स्वरूप हमारा परमाणु है ।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

विराट् और अणु दोनों के अध्ययन से एक फल वैज्ञानिको के हाथ लगा है । वह यह है कि विराट् सृष्टि में जो नियम कार्य करते हैं, वे ही नियम अणु-परिमाणात्मक तत्त्वों के मूल मे भी निहित हैं ।

क्या विश्वविजयी विज्ञान का यह सत्य भारतीय दार्शनिको के 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस कथन से मिलता हुआ नही है ? विज्ञान की आँख से 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' के भीतर छिपी हुई एकता को हम पहचानने में समर्थ हो सके है । भारतीय दर्शनकारों ने भी तत्त्वदर्शन के उषःकाल मे ही 'पिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' की एकविधता को ढूँढ़ निकाला था । इसी सत्य की मूल भित्ति पर यहाँ के ज्ञान का विशाल भवन निर्मित हुआ है । जिस अतिमानवी सरलता से उन्होने इस प्रचण्ड सत्य को शब्दो में पिरो दिया है, वह आज तक विश्वसाहित्य में अद्वितीय है । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सूत्र को भारतीय दर्शन की बारहखड़ी ही कहना चाहिए । सृष्टि-स्थिति-विनाश के जो नियम पिण्ड में दृष्टिगोचर होते हैं, उन्ही का साम्राज्य ब्रह्माण्ड में है । हमारे सामने के सुवासित पुष्प में अथवा बुँदकीदार परोंवाली नन्ही-सी तितली में जरा, जन्म और मृत्यु के जो पाश फैले है, उन्हीं के ताने-बाने में क्या सारा संसार समाया हुआ नही है ? पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता नितान्त अखंड है । जो इसे देख लेता है, उसी का देखना सच्चा है, वही ज्ञानी है ।

वामन और विष्णु

वैदिक परिभाषा मे पिण्ड और ब्रह्मांड की एकता को वामन और विष्णु की कल्पना के द्वारा प्रकट किया गया है । शतपथ ब्राह्मण मे कहा है—

वामनो ह विष्णुरास । [श० १।२।५।५]

अथवा

स हि वैष्णवो यद्वामनः । [श० ५।२।५।४]

अर्थात् जो विष्णु है, वही वामन है । जो पहले देखने मे वामन या बौना जान पड़ता था, वही पीछे से वैष्णव या विराट् रूप मे प्रकट हुआ । वामन और विष्णु दोनों एक ही केन्द्र मे गुँथे हुए है । वही केन्द्र अणिमा है, वही विस्तार पाकर भूमा बन जाता है । केन्द्र और उसकी परिधि में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है । केन्द्र अनिर्वचनीय रहता है । उसमे कोई परिमाण नहीं है, परिमाण के विस्तार से केन्द्र ही भूमा या परिधि बनता जाता है । परिधि रूप से केन्द्र के फैलाव की कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती । वामन ही 'शरीर' के विस्तार से विष्णु बनता है । पुराणों के मनीषी लेखको ने अपनी काव्यमय कल्पना के द्वारा वामन-वैष्णव के वैज्ञानिक संबंध को प्रकट करने के लिए वामन-वेषधारी विष्णु के त्रिविक्रम अवतार का उपाख्यान-रूप से वर्णन किया है । जिस मूर्ति को पहले सबने वामन या अल्प समझा था, उसने ही देश में देह का विस्तार करके विष्णु-रूप मे तीन पैरो से त्रिलोकी को नाप लिया ! ऋग्वेद में इस वैज्ञानिक नियम की ओर सकेत किया गया है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे । [ऋ० १।२२।१७]

सब-कुछ विष्णु के तीन चरणों मे नाप लिया गया है । मानवी जीवन भी इन्ही तीन चरणों की नाप मे समाया हुआ है । बाल्य, यौवन और जरा ये ही मनुष्य-रूपी विष्णु के तीन पैर है । यज्ञ कीपरिभाषा में आयु के इन विभागों को प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन कहा जाता है । मनुष्य का जीवन सवत्सर की प्रतिमा है । उसकी आयु के तीन भाग वसंत, ग्रीष्म और शरद् ऋतु के समान है । वसन्त ऋतु प्रथम काल है, यही ब्रह्मचर्यकाल है । इसमें

देहेन्द्रियों के पोषक रसों के कण शरीर में बसने लगते हैं, इसी से यह समय आयु का वसन्तकाल है। यौवन ग्रीष्म ऋतु है। ग्रीष्म ताप के द्वारा रसकणों को विशेष आग्रह के साथ ग्रहण करता है या अपने में खींचता है। यही प्रवृत्ति यौवन की है। शरद्काल में रस शुष्क या शीर्ण होता है। आयु के तृतीय सवन में मनुष्य-देह भी परिहाणि की ओर अग्रसर होता है। सृष्टि के यच्चयावत्पदार्थ आदि-मध्य-अन्त के इन्हीं तीन चरणों में परिच्छिन्न है, कुछ भी इस विष्णु के त्रिविक्रम से बाहर नहीं है।

विष्णु प्रारम्भ में वामन बनकर आता है। वामन-रूपी शिशु में भावी विष्णुत्व के बीज छिपे रहते हैं। मानवी अभिलाषाएँ वामन से विराट् रूप धारण कर लेती हैं। वासनाएँ छोटे अंकुर के रूप में मनुष्य के मन में जन्म लेती हैं, हम उनके वशीभूत हो जाते हैं, पीछे उनका विराट् रूप प्रकट होता है। यद्यपि मनुष्य की भोगशक्ति वामन या परिमित ही बनी रहती है, परन्तु वासनाओं का विराट् रूप वश में नहीं आता। वासनाओं के द्वारा हम त्रिलोकी को अपने विषय-सुख की परिधि में बाँध लेना चाहते हैं। सहस्र संवत्सर तक विषयों का उपभोग करने के बाद ययाति ने जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, वह मनुष्य की विराट् वासनाओं को लक्ष्य करके ही घटित होता है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥

वामन-रूपी वैश्वानराग्नि शीघ्र ही तृप्त हो सकती है, पर विराट् वासना अक्षय उपभोग चाहती है। यही वामन और विष्णु का सम्बन्ध है। शरीर से हम सब वामन हैं, पर मन से विष्णु बने हुए हैं। काल-रूपी विष्णु का वामन रूप एक क्षण है। आदि-मध्य-अन्त ये उसके तीन चरण हैं। गीता में कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अर्थात् भूतों का आदि अव्यक्त है, उनका अंत भी अव्यक्त है। केवल मध्य भाग ही व्यक्त या दृष्टिगोचर है। यही इस सृष्टि का नियम है। इसके आदि अन्त का साक्षी कोई नहीं है, देवता भी इसके बाद जन्मे हैं—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन
[नासदीय सूक्त]

इसका जो मध्य भाग है, वही हमारे दृष्टिपथ में आता है, वही ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में विष्णु के बीच के चरण के लिए कहा है—

समूढ़मस्य पांसुरे

अर्थात् यह चरण ऐसे व्यक्त है, जैसे धूलि में छपा हो। इसी व्यक्त भाग में सब-कुछ निपतित है।

भारतीय साहित्य में विराट् की कल्पना

विष्णु के विराट् रूप की कल्पना आर्य गाथाशास्त्र की एक अपूर्व विशेषता है। पुरुषसूक्त में उसका उपक्रम है—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
सजातो अत्यरिच्यतपश्चाद्भू मिमथो पुरः॥५॥

× × ×

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षँ शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥१४
[ऋ० १०।९०]

अर्थात् समस्त विश्व एक ही पुरुष के यज्ञांगो से निर्मित हुआ है। इस विराट् विश्व के भीतर वह पुरुष ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य-वायु-अग्नि-अन्तरिक्ष-द्यौ-पृथ्वी-दिशायें और अन्य लोक, सब पुरुष के अंगो के उपादान से रचे गये हैं।

पुरुष-शरीर के अनादि-अनन्त यज्ञ के द्वारा सृष्टि-विकास की कल्पना आर्यों की अन्य शाखाओं में भी मिलती है। स्कैंडिनेविया प्रदेश की उत्तराखंडवर्ती आर्य जातियो में भी यह विश्वास प्रचलित था कि अग्नि और जल के पारस्परिक संघर्ष से जो देव उत्पन्न हुआ, उसी के विविध अंगों से पृथ्वी, आकाश, समुद्र आदि की रचना हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कारलाइल ने संक्षेप में उसका वर्णन यों किया है—

"सृष्टि की उत्पत्ति-संबंधी उनकी आदिम पौराणिक गाथाओं ही पर विचार कीजिए। जब देवगण 'तप्त वायु' एवं तुषार तथा अग्नि के संघर्ष से उपजी हुई अव्यवस्था से उत्पन्न दैत्य यमेर को मार चुके तो उन्होंने उसके अवशेषों से एक नई दुनिया की रचना करने का निश्चय किया। उसके रक्त से सागर का निर्माण हुआ; मांस से भूमि बनी और अस्थियो से पर्वतों की शिलाएँ बनाई गईं, उसके भौंहों से देवताओं के निवासस्थान 'असगार्ड' की रचना हुई; उसकी खोपड़ी ही अनन्तव्यापी नीलाकाश बन गया, तथा बादलों की रचना उसके मस्तिष्क के द्रव्य से की गई। कैसा विराट् अति दानवीय कृत्य रहा होगा वह !' आदि-आदि।

आर्य परम्पराओं का गोप्ता भारतीय साहित्य विराट् सम्बन्धी ऐसे उद्दाम वर्णनो से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में विराज गौ या प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, सचमुच

वह हमारे कवियों का आदि शिक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी परम्परा में दीक्षित होकर लिखा था—

दिस्वरूप रघुवंसमनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोककल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥
पद पाताल, सीस अजधामा;
अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा।
भ्रुकुटि-बिलास भयंकर काला;
नयन दिवाकर, कच घन-माला।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा;
निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस वेद बखानी;
मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ, जम दसन कराला;
माया हास, बाहु दिगपाला।
आनन अनल, अंबुपति जीहा;
उतपति पालन प्रलय समीहा।
रोमराजि अष्टादस भारा;
अस्थि सैल, सरिता नस-जारा,
उदर- उदधि, अधगोजातना;
जगमय प्रभु, का बहु कलपना।

अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मस्तक, पाताल पैर, काल भौं, सूर्य नेत्र, मेघमाला केशकलाप, अहोरात्र असंख्य निमेष, दिशाएँ श्रोत्र, वायु श्वास, वेद वाणी, मृत्यु कराल डाढ़ें, माया हँसी, अग्नि मुख, पर्वत अस्थियाँ, और सरिताएँ नाड़ी-जाल हैं, ऐसा प्रभु विश्व मे सर्वत्र रमा हुआ है। उसके विषय में बहुत कल्पना क्या की जाय, क्योंकि कल्पनाएँ वाणी का विकार या विलासमात्र हैं। परन्तु क्रान्तदर्शी साहित्यिको ने जान-बूझकर जो इस प्रकार विराट् के वर्णन का प्रयास किया है, इसे उनका स्वभाव ही समझना चाहिए—

बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा;
बहु-मुख-कर-पग-लोचन-सीसा।

विराट् दर्शन का फल

सत्य की खोज करते हुए मनुष्य के लिये विराट् रूप का दर्शन अत्यन्त आवश्यक है, और इस दृष्टिकोण के विकसित हो जाने का निश्चित फल उसके जीवन पर पड़ता है। अपने हृदय की क्षुद्रता पर विजय पाने के लिए हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनना चाहिए। प्रत्येक वस्तु या कर्म को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति से मानवी अहंकार, शंका और अश्रद्धा का जन्म होता है। समस्त पदार्थों में व्यापक नियमों को देखकर मनुष्य विश्व की पहेली के अर्थ को समझने लगता है। उसके लिए सृष्टि एक उन्मत्त नृत्य की भाँति न रहकर नियमित प्रक्रिया के रूप में उपस्थित होती है। उस प्रक्रिया का प्रत्येक अंग चेतन ज्ञानमय शक्ति से नियंत्रित प्रतीत होता है। मनुष्य सृष्टि के भार से स्वयं कातर नहीं होता, वह उसे सत्य से धारण की हुई देखता है। विश्व और विश्व-नियन्ता के सम्बन्ध का साक्षात्कार विराट् का दर्शन है। विराट् दर्शन 'कृत्स्न' का दर्शन है। भारतीय ऋषियों ने इस दृष्टिकोण को मानवी जीवन के सान्निध्य में लाने का यत्न किया है। आयु के अन्तिम दो आश्रम इसी दृष्टिकोण के विकास का फल हैं। वनस्थ तपस्वी और संन्यासी के लिए स्वार्थमय क्षुद्रता का लोप हो जाता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह मानव मात्र को अपने परिवार का अंग समझने का अभ्यास बढ़ाता है, और अन्त में प्राणिमात्र को, पशु-पक्षी और लता-वनस्पति आदि को भी, एक ही चेतन्य से ओत-प्रोत देखता है। विश्व का कल्याण ही उसका अभीष्ट रह जाता है।

भारतीय वाङ्मय के रचयिताओं के मन पर विराट् दर्शन की छाप पड़ी थी। वे किसी एक शास्त्र को औरों से व्यपेत या पृथक् नहीं देखते। सब शास्त्र मनुष्य-जीवन के साथ सम्बन्ध रखते हैं, अतएव सब का आदि मूल एक ज्ञानमय वेद है और सबका फल मोक्ष है। हमारे इतिहास युद्ध के वर्णन न रहकर मोक्ष-धर्म-निरूपण के शास्त्र बन गये हैं; हमारे उत्तम काव्यो का फल भी आलंकारिकों के शब्दों में 'सद्यः परनिर्वृत्ति' (तुरन्त परमानन्द की प्राप्ति) निर्धारित हुआ है। एतद्देशीय शास्त्रों और विद्याओ के वर्गीकरण में भी यही एकसूत्रता दृष्टिगोचर होती है। 'विश्व की रूपरेखा' के लेखक क्राउथर ने यह विचार प्रकट किया है कि 'पिछले चार सौ वर्षों में व्यापक दृष्टि को छोड़कर लोग विशेष की ओर बढ़ते रहे, अतएव सार्वलौकिक दर्शन उनके लिए दुर्लभ बन गया। अब हमें पुनः विश्व या 'सर्वलोक' को देखने की आदत सीखनी होगी।' तभी हमारे विचारों में प्रौढ़ स्थिरता उत्पन्न होगी। नैमिषारण्य के सूत मानों सभी शास्त्रो का मानव-जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे। उनके दर्शन का मूलमंत्र यह था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

[महाभारत, शान्ति-पर्व २९९।२०]

अर्थात् 'यह रहस्य-ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहाँ कुछ भी नहीं है'।

पृथ्वी
की कहानी

पृथ्वी की अद्भुत आत्मकथा के पन्नों पर अंकित जीवन के विकास की कहानी

दाहिनी ओर भिन्न-भिन्न युगों की चट्टानों की तहों में दबे जीवों के अवशेष और बाईं ओर इन्हीं अवशेषों के आधार पर कल्पित रूप दिखाए गए हैं। सबसे ऊपर की पर्त्त (नं० १) में प्रस्तर-युग के मानव और उसके समकालीन बारहसिंघे, मेस्टाडॉन आदि दिखाए गए हैं। उनके नीचे क्रमशः आदिम स्तनपोषी, और स्थलचर, जलचर तथा उड़नेवाले उरंगम हैं। नीचे लुप्त स्थल-जलचर और आदिम मछलियाँ हैं। इनसे भी नीचे आरंभिक पृष्ठवंशी और वनस्पति हैं, जिनके बाद जीव-रहित चट्टानें हैं।

भूपृष्ठ पर होनेवाली घटनाएँ और उनका प्रभाव

पृथ्वी का इतिहास उसके स्वरूप में होनेवाले अनवरत परिवर्तनों का इतिहास है। ये परिवर्तन क्या है, आइए इस प्रकरण में देखें।

पृथ्वी जन्म से लेकर आज तक इतनी अधिक बदल चुकी है कि वर्तमानकालीन मनुष्य पृथ्वी के आरम्भिक रूप की कल्पना करने के लिए सहज ही तैयार नहीं होंगे। वास्तव में पृथ्वी का परिवर्तन इतना शनैः-शनैः हुआ करता है कि मनुष्य अपने जीवनकाल में इसका बोध नहीं कर पाता, इसका बोध तो युगों के पश्चात् हो पाता है। परन्तु हमारी दृष्टि के सामने ही नित्य कुछ ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं, जिनसे पृथ्वी की रचना में उलट-फेर होता रहता है। हम इन घटनाओं को निरन्तर देखते हैं, परन्तु देखते-देखते उनके ऐसे आदी हो गये हैं कि हम उनके महत्व को समझने की चेष्टा नहीं करते। यदि हम इन निरन्तर होनेवाली घटनाओं के प्रभाव का गूढ अध्ययन करें, तो हम आश्चर्य के साथ यह देखेंगे कि इन सब घटनाओं के कारण ही पृथ्वी का रूप निरन्तर बदलता रहता है।

परिवर्तनकारी घटनाओं के तीन प्रकार

पृथ्वी की रचना पर प्रभाव डालनेवाली घटनाओं को हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम तो वे साधारण-सी घटनाएँ, जो नित्य घटित होती रहती हैं। इनका प्रभाव अदृष्टिगोचर होने पर भी इतना महत्वपूर्ण है कि पृथ्वी की रचना में परिवर्तन लाने का अधिकांश श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। रात और दिन का होना, ऋतुओं का परिवर्तन, दिन में गरमी और रात में सर्दी का पड़ना, वर्षा का होना, नदी-नालों का बहना, झीलों और झरनों का बनना, बर्फ का गिरना, ग्लेशियरों का बहना, आँधियों का चलना, नदियों का समुद्र में गिरना, नदियों में बाढ़ आना, पृथ्वी में पानी का सोखा जाना, वनस्पतियों की उत्पत्ति, सागर का विस्तार, जीवों की उत्पत्ति और विनाश, मूँगे आदि का जन्म, टापुओं का बनना, आदि-आदि हजारों घटनाएँ ऐसी हैं, जो हमारे लिए यद्यपि साधारण हैं तथापि इनका प्रभाव अत्यन्त गम्भीर है।

पृथ्वी पर होनेवाली दूसरे प्रकार की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'आकस्मिक घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे घटनाएँ आती हैं, जो पृथ्वी पर कभी-कभी घटित होती हैं, और अपना गहरा प्रभाव सदैव के लिए छोड़ जाती हैं। भूकम्प, ज्वालामुखी का विस्फोट, भीषण तूफानों और आँधियों का आना, आदि इसी श्रेणी की घटनाओं में सम्मिलित हैं।

तीसरी श्रेणी की घटनाएँ वे हैं, जिन्हें हम 'गुप्त घटनाओं' के नाम से पुकार सकते हैं। ये घटनाएँ अधिकतर पृथ्वी और समुद्र के गर्भ में घटित होती हैं, और इसीलिए हम इन्हें प्रत्यक्षतः देख सकने में असमर्थ हैं। परन्तु इनका प्रभाव इतना भीषण होता है कि उससे पृथ्वी के चिप्पड़ का रूप ही बदल जाता है। इन घटनाओं के प्रभाव से पृथ्वी पर समुद्र के स्थान में आकाशचुम्बी पर्वतों का उठ खड़ा होना और सूखी भूमि के स्थान पर गहरे जल-गर्त बन जाना साधारण-सी बात है।

इन तीनों प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन कई रूप में होते हैं। प्रथम प्रकार की घटनाओं का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव है, 'पृथ्वी के चिप्पड़ का घिसना'। जल इसका प्रमुख कार्यकर्त्ता है। जल के विभिन्न रूपों द्वारा पृथ्वी निरन्तर घिसती जाती है। वर्षा के रूप में जल पृथ्वी पर आता है, और फिर नदी-नालों, झीलों, झरनों, सोतों, गरम पानी के प्राकृतिक फव्वारों, आदि के रूप में अथवा बर्फ, ओस, पाला, आदि के रूप में परिवर्तित होकर अपनी लीला आरम्भ करता है। जल की लीला का पूरा दिग्दर्शन

पृथ्वी के गर्भ-प्रदेश में स्थित प्रकृति के कारखाने की एक चिमनी

यह एक जाग्रत ज्वालामुखी का फोटो है। ये ज्वालामुखी गरम लावा धुआँ और गैसें उगलकर पृथ्वी के अतरतल में होनेवाली 'गुप्त क्रिया' का संकेत दिया करते हैं।

जल की भाँति ही प्रथम श्रेणी की अन्य घटनाओं का भी प्रभाव पृथ्वी की रचना पर दो प्रकार का पड़ता है—प्रथम तो वर्तमान चिप्पड़ का विनाश और दूसरा चिप्पड़ के नये अवयवो का निर्माण। विनाश और निर्माण की क्रिया निरन्तर साथ-साथ चलती रहती है। जव हम इन घटनाओं के विनाशकारी प्रभाव का अध्ययन करते है, तव उनके निर्माणकारी प्रभाव का भी ध्यान रखना पड़ता है।

दूसरी श्रेणी की घटनाएँ, जिन्हे हम 'आकस्मिक घटनाओ' के नाम से पुकार चुके है, वास्तव में तीसरी श्रेणी की घटनाओं अर्थात् 'गुप्त घटनाओ' के प्रत्यक्ष रूप है। गुप्त घटनाएँ पृथ्वी और समुद्रों के गर्भ में होती है, परन्तु आकस्मिक घटनाएँ पृथ्वी के ऊपर दिखाई पड़ती है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता, जिस दिन पृथ्वी के किसी न किसी भाग में भूकम्प का धक्का न लगता हो! भूकम्प कैसे और क्यों आते हैं, इसका वर्णन हम आगे विस्तारपूर्वक करेगे। भूकम्प और ज्वालामुखी द्वारा पृथ्वी पर कैसे-कैसे अनर्थ हम आगे के प्रकरणो में विस्तारपूर्वक करायेंगे, यहाँ तो हम केवल उसके प्रभाव का आभास-मात्र दे रहे है। अपने प्रत्येक रूप मे जल पृथ्वी पर दो कार्य करता दिखाई देता है। एक तो वह पृथ्वी को घिसता है और फिर उस छीलन को ले जाकर समुद्र मे जमा करता है। इसके फलस्वरूप वड़े-वड़े पर्वत कट-कटकर समुद्र में जमा होते जाते हैं, और समुद्र की तह में इस छीलन द्वारा नई शिलाओं का निर्माण होता है। जल के द्वारा पृथ्वी पर जो परिवर्तन होते है, उनमें नदियो की उत्पत्ति, घाटियों का निर्माण, पर्वतो का छिन्न-भिन्न होना, वनस्पति की उत्पत्ति और चट्टानों का विध्वस, आदि सम्मिलित है।

होते है, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है। इन घटनाओ के फलस्वरूप पृथ्वी की रचना में भी महान् परिवर्तन हो जाते है। नदियों का मार्ग वदल जाना, भूमि का नीचा-ऊँचा हो जाना, समुद्र के स्थान पर सूखा देश और पहाड़ों के स्थान पर सागर का हो जाना, आदि परिवर्तन इन्ही घटनाओं के फलस्वरूप होते है।

गुप्त रूप से होनेवाली घटनाएँ पृथ्वी की रचना में क्रान्ति उत्पन्न करती है। ये घटनाएँ अदृश्य है, परन्तु इनका प्रभाव महान् है। इनमें भी हम तीन श्रेणी वना सकते है। एक तो वे जिनके फलस्वरूप ज्वालामुखी भड़कते है, भूचाल आते है और पृथ्वी के गर्भ से आग्नेय शिलाखण्डों की उत्पत्ति होती

है। पृथ्वी के गर्भ से निकलनेवाली खनिज सम्पत्ति इन्हीं के फलस्वरूप जन्म लेती है।

गुप्त घटनाओं की दूसरी श्रेणी वह है, जो पृथ्वी की रचना में भूमि और सागरतल को नीचा-ऊँचा या दायें-बायें उठाती-बैठाती और हटाती रहती है। इस क्रिया का नाम डायस्ट्राफिज्म है। इस क्रिया का परिणाम हमें पृथ्वी की रचना के इतिहास में कई स्थलों पर दिखाई पड़ता है। पृथ्वी की रचना का इतिहास बताता है कि लगभग सभी महाद्वीप (भूमिखण्ड) एक न एक समय सागर के भीतर डुबकी लगा चुके हैं। सागर में डूबना और डूबकर फिर भूमिखण्ड के रूप में निकल आना अधिकतर भूमिखण्ड के दबने और उठने के परिणामस्वरूप हुआ है, समुद्र की सतह के घटने-बढ़ने से नहीं। भूमि का यह उठना और दबना आज भी निरन्तर होता रहता है। ये घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका प्रभाव महाक्रान्तिकारी है तथापि इनको हम देख नहीं सकते।

डायस्ट्राफिज्म

डायस्ट्राफिज्म अर्थात् भूखण्डों का असमतल उठना और बैठना तथा इधर-उधर खिसकना दो प्रकार का होता है। एक तो पर्वत-निर्माणकारी और दूसरा भूखण्ड-निर्माणकारी। प्रथम में प्रस्तरशिलाएँ दबाव पड़ने से टूट या मुड़ जाती है और ऊपर बैठ जाती है। इस दबाव का प्रभाव शिलाओं के पतले पर्तों पर अधिक पड़ता है। दूसरी भूखण्ड-निर्माणकारी प्रक्रिया का अर्थ है, पृथ्वी के भूखण्डों का सागर के जल में विलुप्त हो जाना अथवा सागर से निकलकर नये भूखण्डों के रूप में प्रकट होना। बड़े-बड़े भूखण्डों का कई भूखण्ड में विभाजित होना और छोटे भूखण्डों का मिलकर एक विशाल भूखण्ड बन जाना भी इसी प्रकार की घटना के अन्तर्गत आता है। पर्वत - निर्माणकारी घटनाओं के फलस्वरूप पृथ्वी में न केवल नये पर्वत बनते हैं, वरन् पुराने पर्वतों की शिलाओं की श्रेणियां भी विशृंखल हो जाती हैं, टूट फूट जाती हैं, मरोड़ खा जाती हैं अथवा लचक जाती हैं। भूखण्ड-निर्माणकारी घटनाओं के फलस्वरूप न केवल भूखण्ड ही स्थिर है, वरन् समुद्रतल अथवा समुद्र की सीमा भी स्थिर-सी रहती है। एक विशेष बात इन घटनाओं के सम्बन्ध में भी यही है कि इनका परिणाम अथवा प्रभाव वर्ष दो वर्ष के भीतर तनिक भी नहीं ज्ञात हो सकता। युग बीत जाते हैं और इन घटनाओं के प्रभाव को लोग समझ नहीं पाते। जब पृथ्वी की रचना में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है, तभी हमारा ध्यान उसके कारण की ओर जाता है।

पृथ्वी की रचना में डायस्ट्राफिज्म का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ता है कि पृथ्वी की सतह सदैव अनियमित बनी रहती है तथा भूखण्ड पृथ्वी से नष्ट नहीं हो पाते। अन्यथा भूखण्डों को सागर का जल आज तक कभी का रगड़-रगड़कर मिटा चुका होता और पृथ्वी के ऊपर आज एक सर्वव्यापक असीमित सागर फैला होता।

आइसोस्टेसी

पृथ्वी की रचना पर प्रभाव डालनेवाली गुप्त घटनाओं में एक महत्वपूर्ण क्रिया वह है, जिसे 'आइसोस्टेसी' अथवा 'समतुलन' के सिद्धान्त द्वारा समझाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वीतल के असमतल भाग, अर्थात्

भूकंप द्वारा होनेवाले परिवर्तन की एक झांकी

यह मुजफ्फरपुर के जिलाधीश के बंगले का हाता है, जो पिछले बिहार-भूकंप में ७ फीट नीचे धंस गया था।

भूपृष्ठ के परिवर्तन में समुद्र का क्रान्तिकारी प्रभाव

समुद्र लहरों के द्वारा लगातार तट की भूमि को काट-काटकर अपना विस्तार बढ़ाने में प्रयत्नशील रहता है। इस चित्र में प्रदर्शित पानी के बीच के भूखण्ड समुद्र की इसी क्रिया के फलस्वरूप मुख्य भूभाग से अलग हो गए है।

उठना तथा सागर के स्थान में पर्वतों का निकलना हमारी समझ में बड़ी सरलता से आ जाता है। पृथ्वी का जो भाग घिस-घिस कर हलका हो जाएगा, वह ऊपर उठता जाएगा और जहाँ पर सदैव पृथ्वी के चिप्पड़ की छीलन जमा होगी, वह भारी होकर नीचे बैठ जायगा। यही कारण है कि समुद्र मे ठोस पदार्थो का करोड़ों मन बोझा महीन छीलन के रूप के जाकर नित्य जमा होता है, तथापि वह भरने नहीं पाता। जो पदार्थ उसकी तलहटी में जमा होते है, वे अपने भार से तलहटी को नीचे दबाते जाते है। इसी सिद्धान्त के बल पर वैज्ञानिको का कथन है कि हिमालय पर्वत आज भी ऊपर उठ रहा है।

बड़े-बड़े भूखण्ड, आदि अनियमित और स्वतंत्र क्रियाओं के फलस्वरूप नही बन गये है, वरन् नियमानुकूल सिद्धान्तों के अनुसार बने है और इसी के कारण टिके है। पृथ्वी के ये असमतल भाग उसके चिप्पड़ के साथ जुड़े हुए नहीं है और न उसके कारण ये टिके हैं। वरन् ये भाग पृथ्वी के चिप्पड़ के नीचे के पदार्थ पर उसी प्रकार तैरते है, जैसे शहद में मक्खी। चिप्पड़ के नीचे का पदार्थ इस्पात की भाँति कठोर है तथापि भूगर्भ की क्रियाओं के फलस्वरूप उसको भी विचलित होना पड़ता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार पर्वतों के नीचे का पदार्थ समुद्र-तल के नीचे के पदार्थ की अपेक्षा हलका है। भूतल के नीचे ४० मील की गहराई के ऊपर वाले समान क्षेत्रफल के भूखण्डों का भार बराबर है, चाहे ऊँचाई-निचाई में उनमें सहस्रों मील का अन्तर हो। पृथ्वी पर भूखण्ड के दो पड़ोसी टुकड़ों में एक पर विशाल पर्वत खड़ा हो और दूसरे मे गहरी खाई हो, पर यदि दोनों बराबर क्षेत्रफल के टुकड़ों पर बने हैं तो उनका भार समान होगा, यही आईसोस्टेसी का सिद्धान्त है।

'समतुलन' के सिद्धान्त से भूखण्डों का नीचे ऊपर बैठना-

भूपृष्ठ के रूप-परिवर्तन के अनुष्ठान में जल, वायु, सूर्य-ताप आदि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के अतिरिक्त वनस्पति, जीव-जन्तु एवं स्वयं मनुष्य भी न्यूनाधिक रूप में सहायक है। उदाहरण के लिए, एक ओर यदि भूपृष्ठ के निर्माण में वनस्पतियों के योगदान के रूप में कोयले के स्तरो का हम उल्लेख कर सकते है, जो पुराकाल के महान् वन-कानन के धरती के भीतर दब जानेवाले वृक्षों के ही अवशेष हैं तो दूसरी ओर खड़िया (चाक मिट्टी) की चट्टानों अथवा मूँगे की द्वीप-शृंखलाओं की मिसाल पेश की जा सकती है, जो जीव-जन्तुओं द्वारा रची गई है। और मनुष्य की करतूतों का तो कहना ही क्या है! वह तो क्या भूमि पर हल चलाकर, और क्या नहरों, सड़कों, खनिजो आदि के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों को धराशायी करके भूपृष्ठ का दिन प्रतिदिन रूप बदलता चला जा रहा है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि ऊपर उल्लखित प्रत्येक क्रिया हमारी पृथ्वी के प्रत्येक भाग में

धरातल के रूप - परिवर्तन में वायु का हाथ

इस चित्र में रेगिस्तान का एक दृश्य है, जहाँ आँधी के कारण बालू एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ती रहती है और इसके कारण बड़े-बड़े टीले बन जाते हैं।
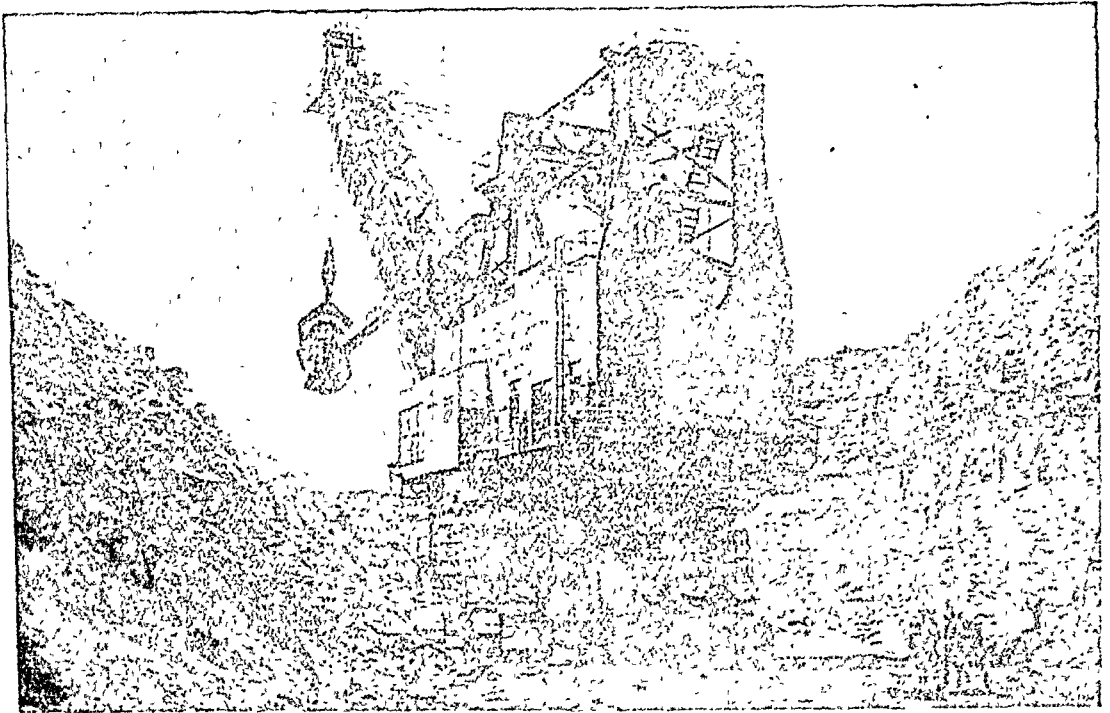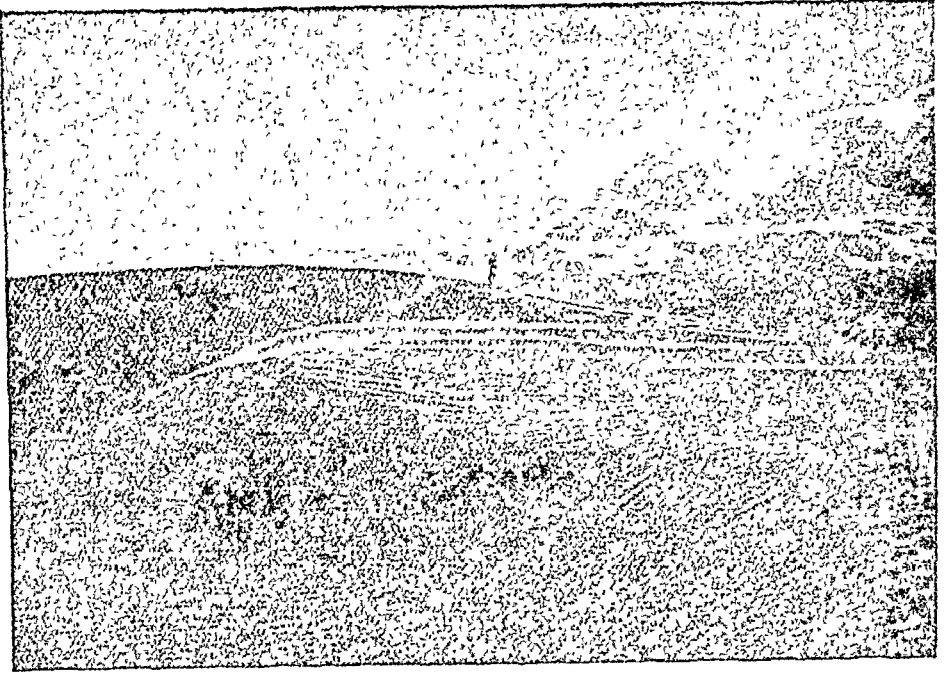
धरातल के परिवर्तन में मनुष्य का हाथ

कृषि-कार्य, खानों की खुदाई, नहरों की रचना, सड़कों के निर्माण आदि द्वारा मनुष्य भी भूपृष्ठ के मुखमंडल की झाँकी को निरंतर बदलता रहता है। अपने इस कार्य में मदद देने के लिए उसने भाँति-भाँति के अचरजभरे यन्त्रों का आविष्कार किया है, जो कि दानवों का-सा काम कर दिखाते हैं। बात की बात में टनों वजन की चट्टानों को तोड़ फोड़ कर वे कंकड़-पत्थर के ढेर में परिणत कर देते हैं और तब अपने दैत्याकार हाथों से उस मलबे को समेटकर तथा उठाकर यहाँ से वहाँ रख देते हैं।
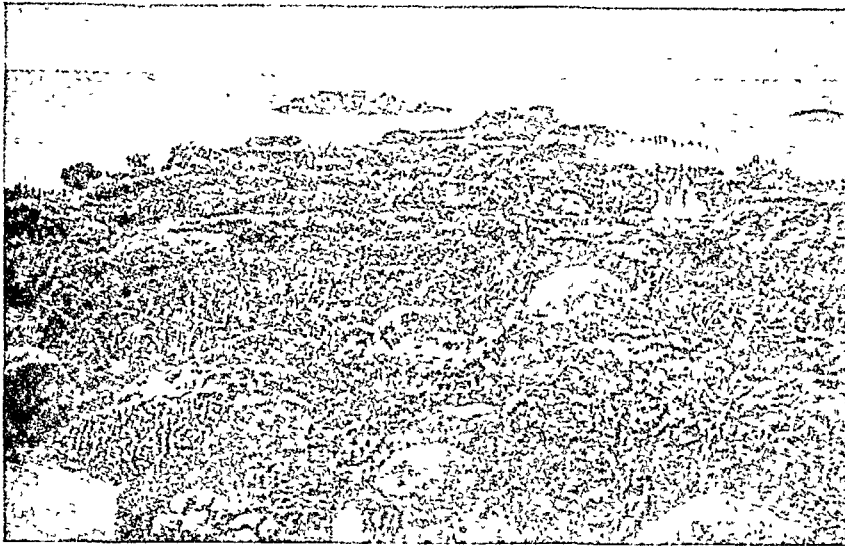
धरातल के परिवर्तन में जीव-जंतुओं का हाथ

पृथ्वी के चिप्पड़ के उलट-फेर में न केवल जड प्रकृति प्रत्युत चेतन जीव-जतुओं का भी हाथ है। मूँगे नामक जंतु ही को लीजिए। इस सूक्ष्म जल-जतु की करामात से समुद्र में कई नवीन टापू वन गये हैं। इस चित्र में ऑस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के समानांतर फैले हुए द्वीपों की हजारों मील लम्बी शृंखला का एक भाग दिखाया गया है।

हिमानी या ग्लेशियर भी भूपृष्ठ के रूप-परिवर्तन में महत्वपूर्ण भाग लेता है

वर्फीली शिलाओं का यह भीषण नद, पर्वत-शिखरों से धीरे-धीरे खिसकता हुआ नीचे की ओर वढता जाता है और राह की कठोर शिलाओं को चकनाचूर करता या वहाता हुआ आसपास की सारी झांकी वदल देता है।

एक ही-सा प्रभाव नहीं उत्पन्न करती। इसका कारण पृथ्वी के चिप्पड़ के विभिन्न भागों की बनावट की विभिन्नता है। इसलिए विभिन्न क्रियाओं के प्रभाव को समझने के लिए आवश्यक है कि पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट को हम समझ लें। अगले प्रकरण में पृथ्वी के चिप्पड़ की बनावट का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है। इसके बाद आगे के खण्डों में विस्तारपूर्वक क्रमशः जल, वायु, सूर्यताप आदि शक्तियों द्वारा भूपृष्ठ के रूप-परिवर्तन की कहानी सुनाई गई है।

भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का चिप्पड़ और उसकी रचना

पिछले पृष्ठों में हम कह चुके हैं कि पृथ्वी के अध्ययन की पहली सीढ़ी उसके ऊपरी पृष्ठ अथवा चिप्पड़ का अध्ययन है। यह भूपृष्ठ जिस पदार्थ से बना है, भूविज्ञान की भाषा में उसे 'चट्टान' कहकर पुकारा जाता है। इस अध्याय में इसी चिप्पड़ और उसको बनानेवाली चट्टानों का वर्णन आरंभ किया जा रहा है।

पृथ्वी के पृष्ठ को, जिस पर हम सब रहते हैं, भूपृष्ठ अथवा पृथ्वी का 'चिप्पड़' कहते हैं। ८००० मील व्यासवाली पृथ्वी के चिप्पड़ की गहराई ५० मील से अधिक नहीं है। पृथ्वी का चिप्पड़ पृथ्वी के शेष भाग पर नारंगी के छिलके के समान चढ़ा हुआ है और इसीलिए 'चिप्पड़' कहलाता है। भूपृष्ठ के भीतर क्या है, वह हम आगे के पृष्ठों में बताएँगे, परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भीतर के पदार्थ की अपेक्षा चिप्पड़ का घनत्व हल्का है। वह सम्पूर्ण पृथ्वी के घनत्व की अपेक्षा आधे के लगभग है।

शिला या चट्टान

चिप्पड़ जिस पदार्थ का बना है, उसे 'शिला' या 'चट्टान' कहते हैं। साधारणतः चट्टान पत्थर-जैसे कड़े या कठोर प्राकृतिक पदार्थ को कहते हैं, परन्तु भूविज्ञान की भाषा में मिट्टी और बालू की तहों को भी चट्टान कहते हैं। चट्टान जिस पदार्थ से निर्मित हो, उसे 'खनिज' के नाम से पुकारते हैं। एक या अनेक खनिजों के सम्मिश्रण से ही चट्टान की रचना होती है। अधिकतर चट्टानों में एक से अधिक खनिज सम्मिश्रित रहते हैं, परन्तु कभी-कभी केवल एक ही खनिज भी चट्टान का अवयव होता है, जैसे 'चूने का पत्थर'। चट्टानों की रासायनिक रचना विशेषतया निश्चित नहीं होती। खनिजों के किसी भी अनुपात के मिश्रण से चट्टान बन जाती है। एक ही चट्टान के विभिन्न भागों में खनिजों के अनुपात में विभिन्नता पाई जाती है। विभिन्न खनिजों के विभिन्न अनुपातों के मिश्रण से बनी लगभग समान गुणवाली चट्टानें भी पाई जाती हैं। चट्टानों के गुण उनमें मिश्रित खनिजों के अनुपात पर निर्भर रहते हैं। खनिजों की रासायनिक रचना, आकृति और गुण सभी निश्चित रहते हैं। चट्टानों की रचना में जिन विशेष खनिजों की अधिकता पाई जाती है, उन्हें 'शिलानिर्माणकारी' खनिज कहते हैं।

आग्नेय चट्टानें

चित्र में दिखाई दे रही चट्टानें पृथ्वी के भीतर के पिघले हुए तप्त पदार्थ के जम जाने से बनी हैं! आरंभ में ये चट्टानें पृथ्वी के चिप्पड़ में ही दबी थीं, किन्तु बाद में संतुलन या अन्य भौगर्भिक क्रिया के फलस्वरूप पर्वतों के रूप में बाहर निकल आई हैं।

तीन प्रकार की चट्टानें

चिप्पड़ की रचना में जो चट्टानें पाई जाती हैं, वे तीन श्रेणियों में विभक्त की गई हैं। चट्टानों का यह विभाजन उनकी उत्पत्ति के अनुसार किया गया है। इसका कारण यह है कि उनके गुण उत्पत्ति के ढंग पर निर्भर हैं। चट्टानों के ये तीन भेद 'आग्नेय', 'प्रस्तरीभूत' और 'रूपान्तरित' नाम से प्रसिद्ध हैं।

ठंडी होकर जमी हुई लावा

आजकल भी ज्वालामुखियों द्वारा पृथ्वी के गर्भ का जो तप्त पिघला पदार्थ लावा के रूप में बाहर निकलकर जम जाता है, वह कठोर होने पर आग्नेय चट्टानों के सदृश्य गुणवाला ही पाया गया है। प्रस्तुत चित्र में ज्वालामुखी से निकली हुई लावा के जमने से बने हुए एक टीले का दृश्य है।

परतीली चट्टानें

इस चित्र में दिखाई दे रही चट्टानें खड़िया की चट्टानें है, जो किसी सुदूर अतीत में जलाशय की तलहटी में जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणों की तलछट तथा अति सूक्ष्म क्षारीय जलचरों के प्रस्तर-विकल्पों के मिश्रण से बनी हैं। समुद्र की सतह के ऊंचे-नीचे हो जाने के कारण कालान्तर में ये चट्टानें पर्वतरूप में ऊपर उठ आई है, जैसी कि चित्र में दिखाई दे रही है।

आग्नेय चट्टानें

आग्नेय चट्टाने वे है, जो पृथ्वी के भीतर से तप्त द्रवित रूप में निकलकर एव जमकर ठंडी और कठोर हो गई है। पृथ्वी के बचपन के दिनो मे जब चिप्पड धीरे-धीरे बनना आरम्भ हुआ था और जमकर कठोर हो रहा था, उन दिनो यदि चिप्पड़ मे कही भी किसी कारण से कोई रास्ता मिल जाता था, तो पृथ्वी के भीतर का द्रवित पदार्थ (जो अभी ठडा होकर कठोर नहीं हो पाया था) बाहर की ओर फट पड़ता था और वह निकलता था। आजकल भी पृथ्वी के भीतर से जो तप्त द्रवित पदार्थ ज्वालामुखी के मुख से निकलता है, वह जमकर कठोर होने पर आग्नेय चट्टानो के सदृश्य गुणवाला ही पाया गया है।

आग्नेय चट्टाने तहो या परतो के रूप मे नही पाई जाती, वरन् अव्यवस्थित ढूहो अथवा पिण्डो के रूप में मिलती है। इन चट्टानो के बनते समय जो पदार्थ पृथ्वी के बाहर बह निकला, वह इतनी शीघ्रता से ठडा हुआ कि उसके खनिज स्फटिक रूप धारण न कर पाये। परन्तु जो द्रवित पदार्थ पृथ्वी के बाहर न निकल पाया, वरन् चिप्पड़ के भीतर ही रुक गया (और आजकल चिप्पड़ के घिस जाने से बाहर निकल आया है), वह धीरे-धीरे और देर में ठडा हुआ। इस प्रकार की चट्टानो के अवयव खनिज-पूर्ण स्फटिक रूप मे विकसित हो सके। इसीलिए ये चट्टाने अधिक कडी है। बिल्लौरी पत्थर की चट्टाने पृथ्वी के भीतर ठडी हुई है और गंधकादि की चट्टाने, जो मुलायम है, भूपृष्ठ के ऊपर। इसमे सदेह नही कि पृथ्वी पर सबसे पहले आग्नेय चट्टाने बनी। इसीलिए ये 'आदि चट्टाने' भी कहलाती है। आगे हम देखेगे कि शेष दोनो प्रकार की चट्टानें भी आग्नेय चट्टानो के ही पदार्थो से बनी है। चिप्पड़ की तह मे सदैव आग्नेय चट्टाने ही मिलती है, ऊपर चाहे जैसी चट्टाने हो। पुराने पहाड़ो पर आग्नेय चट्टाने ही पाई जाती है।

परतीली चट्टानें

परतीली चट्टाने वे है, जो तह के ऊपर तह के रूप मे जमकर बनी दिखाई देती है। ये चट्टाने जलाशय की तलहटी मे जल के द्वारा लाई हुई बालू, मिट्टी, पत्थर आदि के कणो के जमने से बनी है। इन चट्टानो के बनने मे लाखो वर्ष लगे होगे। जिस स्थान मे ये जमी होगी, वह किसी आन्तरिक घटना अथवा पृथ्वी के भीतर की सतुलन-क्रिया के कारण बाहर निकलकर पर्वत के आकार मे दिखाई देने लगा है। पानी के नीचे जमनेवाली इनकी तहे दबाव एवं ताप के फलस्वरूप कठोर हो गई है।

प्रस्तरीभूत चट्टानों के टुकड़ों की यदि बहुत निकट से अथवा अभिवर्द्धक ताल द्वारा परीक्षा की जाय, तो मालूम होगा कि ये चट्टानें बालू, मिट्टी अथवा चूने के पत्थर के कणों से बनी हैं। इन चट्टानों के कण या तो बहुत ही सूक्ष्म और गोल-मटोल होंगे या कुछ-कुछ बड़े और टेढ़े-मेढ़े आकार के होंगे। इन शिलाओं का प्रस्तरित होना और छोटे-छोटे कणों से बनना, ये दोनों ही बातें इस बात की द्योतक हैं कि इनकी उत्पत्ति किसी जलाशय की तह में हुई है। इनमें जिन खनिजों के कण पाये जाते हैं, वे वही हैं जो आग्नेय शिलाओं की रचना में पाये जाते हैं।

पुरानी आग्नेय शिलाओं को ही काट-काटकर नदियों और नालों ने अपना मार्ग बनाया है। जल के वेग से शिलाओं की यह छीलन उसके साथ बहती, घिसती और रगड़ती हुई सागर-तल तक पहुँचती है। वहाँ पहुचते-पहुँचते शिलाओं के बड़े-बड़े ढोके महीन बालू और मिट्टी के रूप में बदल जाते हैं। सागर में जमा होनेवाली ये तहें कालान्तर में कठोर बनकर शिला बन जाती हैं।

यों तो परतीली शिलाएँ सीधी-सीधी तहों में पाई जाती हैं, परन्तु कभी-कभी पृथ्वी पर होनेवाली अदृश्य घटनाओं के फलस्वरूप इन शिलाओं पर दबाव पड़ता है और ये मुड़ जाती हैं अथवा लहरदार बन जाती हैं। ऐसी तहों को 'पुटीकृत' चट्टानें कहते हैं। यदि हम चिप्पड़ की खड़ी काट करें, तो हमें चट्टानों की विभिन्न तहें दिखाई पड़ेंगी। रेल की पटरी के किनारे की कटी हुई चट्टानों की दीवार में हमें कभी-कभी पुटीकृत तहें दिखाई पड़ती हैं।

चिप्पड़ की रचना में कहीं-कहीं परतीली चट्टानों के ऊपर या बीच में आग्नेय चट्टानें पाई जाती हैं। परतीली चट्टानों के बीच में या ऊपर पाई जानेवाली ये आग्नेय चट्टानें अन्य आग्नेय चट्टानों की भाँति आदि चट्टानें नहीं हैं, वरन् ये प्रस्तरीभूत परतीली चट्टानों के बन चुकने पर पृथ्वी के भीतर से द्रवित रूप में निकलकर जम गई हैं।

प्रस्तरित होने के अतिरिक्त परतीली चट्टानों की एक और विशेषता यह है कि स्थान-स्थान पर इन शिलाओं में क्षारीय जलचरों तथा वनस्पतियों के अगणित प्रस्तर-विकल्प या प्राचीन जीवों के शिलीभूत अवशेष मिलते हैं। ये अवशेष भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रस्तरित परतीली चट्टानों का जन्म जलाशय में हुआ है।

कुछ प्रस्तरित चट्टानें, जैसे एक प्रकार के चूने के पत्थर अथवा मूँगे की चट्टानें, बिलकुल सूक्ष्म जीवसमूहों के प्राणि-अवशेषों का ही सिकुड़ा हुआ पदार्थ है।

परतीली चट्टानों की झाँकी

देखिये, किस प्रकार शिलाओं की परतें एक के ऊपर एक तह की तरह जमी हुई हैं। इस प्रकार के शिला-पत्त पुराकाल में आग्नेय चट्टानों के छीलन से प्राप्त खनिज द्रव्य के अभाव एवं जल की प्रक्रिया से उनके प्रस्तरित हो जाने से बन गये हैं।

रूपान्तरित चट्टानें

तीसरे प्रकार की चट्टानें, जिन्हें 'रूपान्तरित चट्टानें' कहते हैं, आग्नेय और परतीली चट्टानों का ही परिवर्तित रूप है। स्थानान्तरित हुए बिना ही पृथ्वी की आन्तरिक गरमी, दबाव अथवा अन्य उथल-पुथल के कारण, आग्नेय या प्रस्तरीभूत चट्टानों के रूप, गुण और आकृति में परिवर्तन होने से जो चट्टानें बनती हैं, वे पहले की चट्टानों से एकदम भिन्न होने के कारण 'रूपान्तरित' चट्टानें कहलाती हैं। प्रारम्भिक चट्टानों की अपेक्षा इन चट्टानों की कठोरता बहुत अधिक बढ़ जाती है। इन चट्टानों की कठोरता ही नहीं वरन् अवयव भी बदल जाते हैं, यहाँ तक कि परतीली

चट्टानों की रूपान्तरित रचना में पाये जानेवाले खनिज आग्नेय चट्टानों के खनिजो से अधिक भिन्न नही होते। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि चट्टानो के रूपान्तरित होने का प्रधान कारण ऊष्मा या गरमी है।

चिप्पड़ का ७५ प्रतिशत भाग प्रस्तरीभूत परतीली चट्टानो से ढका हुआ है। शेप २५ प्रतिशत मे आग्नेय और रूपान्तरित चट्टाने है। यद्यपि स्थल पर ७५ प्रतिशत प्रस्तरीभूत चट्टाने है तथापि इनकी गहराई एक मील से अधिक नही है। इनके नीचे फिर आग्नेय चट्टाने ही मिलेगी, क्योकि ये ही आदि चट्टाने है, जिन पर पृथ्वी का चिप्पड़ बना है।

उपरोक्त चट्टानो के अतिरिक्त पृथ्वी के चिप्पड पर 'भूमि' नामक एक प्रकार का आवरण-सा है, जो नीचे की चट्टानो पर चढा है। यह भूमि-आवरण कही तो दो-चार इंच मोटा है और कही हजारों फीट। यह भूमि कही-कही तो कंकड, पत्थर और बालू के कणो से मिलकर बनी है और कही चिकनी मिट्टी, धूल और रेती से। इसकी रचना चट्टानो की अपेक्षा नरम या कम कठोर है। भूगर्भ-शास्त्र की दृष्टि से यद्यपि भूमि का महत्व बहुत कम है तथापि हमारे जीवन में जितना महत्व इस तह का है, उतना और किसी चट्टान का नही, कारण इसी मिट्टी की तह से हमारे खाद्य पदार्थो की उत्पत्ति होती है। चट्टानो के ही विभिन्न अशो से भूमि की रचना होती है। आगे के अध्यायो मे हम देखेगे कि पृथ्वी के चिप्पड़ के घिसने मे कौन-कौन सी शक्तियाँ कार्यान्वित है और किस प्रकार भूमि का जन्म होता है।

यहाँ पर हम इतना और बता देना चाहते है कि वैज्ञानिको की गणना के अनुसार पृथ्वी के चिप्पड की रासायनिक रचना मे जिन तत्वो का समावेश है, उनका प्रति शत अनुपात निम्न तालिका के अनुसार है :—

ऑक्सिजन	४६.८५	सिलिकन	२६ ०३
अल्युमिनियम	७ २८	लोहा	४.१२
कैल्शियम	३.१८	सोडियम	२ ३३
पोटेशियम	२ ३३	मैग्नेशियम	२.११

शेप मे १ ५५ प्रतिशत भाग मे टिटैनियम, फास्फोरस, कार्बन, हाइड्रोजन, मैंगनीज, गन्धक, क्लोरीन और बेरीयम नामक तत्त्व है। अवशेप ०.०९ प्रतिशत भाग सोना, चाँदी, जस्ता, ताँबा आदि तत्त्वो से मिलकर बना है। उपरोक्त सभी तत्त्व चिप्पड मे रासायनिक यौगिको के रूप में है, मूल तत्त्वों के रूप में नही।
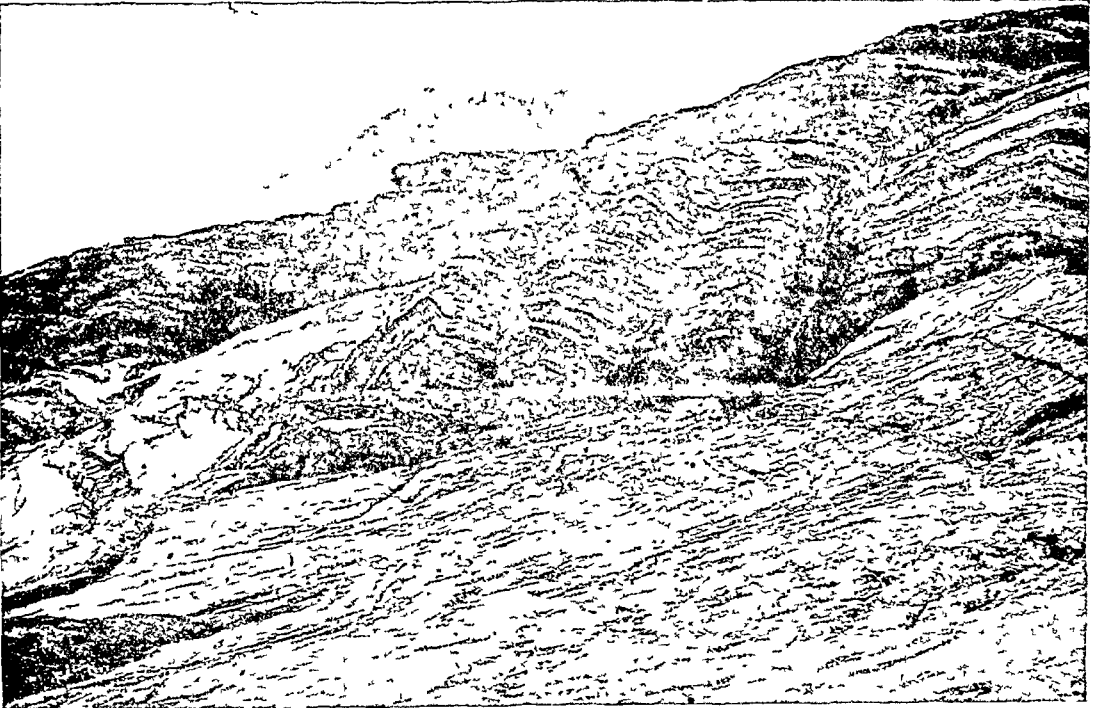
पुटीकृत शिलाओं का एक नमूना

नीचे आग्नेय चट्टानें दिखाई दे रही है। चट्टानों की परतों के इस प्रकार मुड़कर लहरदार बन जाने का कारण अदृश्य घटनाओं के फलस्वरूप उन शिलाओ पर पड़नेवाला दबाव आदि होना है।

भौगोलिक स्थिति-सूचक रेखाएँ—'अक्षांश' और 'देशान्तर'

धरातल के विभिन्न भागों की स्थिति का निर्णय करने के लिए ऐसे किसी साधन का होना आवश्यक है, जिसका हवाला देकर हम यह बता सकें कि अमुक स्थान अमुक जगह पर है। आइए, देखें इस संबंध में भूगोल के पंडितों ने क्या युक्ति निकाली है।

भूगोल के अध्ययन के लिए हमें यह जान लेना चाहिए कि विभिन्न देश कहाँ स्थित हैं। धरातल पर कोई ऐसा स्थान होना आवश्यक है, जिसका हवाला देकर हम यह बता सकें कि अमुक देश उस स्थान से इतनी दूर उत्तर या दक्षिण और इतनी दूर पूरब या पश्चिम है। हमारी पृथ्वी गोल है; इस कारण इसका कोई किनारा नहीं है, जिससे हम दूरी की नाप बता सकें। इसलिए हमें धरातल पर किसी ऐसे स्थान को खोजना पड़ता है, जो सदैव स्थिर रहे। पृथ्वी एक कल्पित धुरी पर निरन्तर घूमती रहती है, इस धुरी के दोनों छोर जहाँ पृथ्वी को छूते हैं, वे स्थान धरातल के अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक स्थिर प्रतीत होते हैं। भाग्य से इन दोनों स्थानों में से उत्तरवाला प्रदेश आकाश में चमकने-वाले ध्रुवतारे के ठीक नीचे रहता है। ध्रुव तारे की यह स्थिति सदैव एक-सी रहती है। इसलिए इस प्रदेश का नाम 'उत्तरी ध्रुव-प्रदेश' रख लिया गया है। दक्षिणवाले स्थान का नाम भी इसी के अनुसार 'दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश' रक्खा गया है। दक्षिणी ध्रुव पर 'सदर्न क्रास' नामक तारा-समूह सदैव ठीक सिर पर चमकता है।

भूमध्य रेखा

इस प्रकार ध्रुव-प्रदेशों की स्थिति स्थिर-सी हो जाती है। इन दोनों ध्रुवों के बीच में पृथ्वी पर एक ऐसी रेखा मान ली गई है, जो सारे धरातल को दो बराबर भागों में बाँटती है। इसे 'भूमध्य रेखा' या 'विपुवत् रेखा' कहते हैं यह रेखा भी कल्पित है। यह पृथ्वी को जिन दो खण्डों मे विभाजित करती है, उन्हें उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध के नाम से पुकारा जाता है। विपुवत् रेखा पृथ्वी के बीचों-बीच उसके चारों ओर जाती है। इस प्रकार यह रेखा पृथ्वी की परिधि की नाप का एक पूर्ण वृत्त बनाती है। इस वृत्त की लंबाई करीब २५००० मील है।

अक्षांश और देशान्तर

विपुवत् रेखा की सहायता से किसी स्थान की भौगोलिक स्थिति का पता लगाया जाता है। इसलिए इस रेखा को 'शून्य रेखा' माना गया है। उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव इस रेखा के किसी बिन्दु से पृथ्वी के केन्द्र पर ९०° का कोण बनाते हैं। यदि प्रत्येक अंश के कोण पर विपुवत् रेखा के समानान्तर रेखाएँ खींची जांय तो उत्तर और दक्षिण ध्रुव तक प्रत्येक गोलार्द्ध में ९० रेखाएँ होंगी। इन रेखाओं को 'अक्षांश' के नाम से पुकारा जाता है। अक्षांश रेखा की सहायता से किसी स्थान की विपुवत् रेखा के उत्तर या दक्षिण की स्थिति मालूम हो जाती है। यदि कोई स्थान विपुवत् रेखा के उत्तर में २५ वीं रेखा पर है, तो उसके अक्षांश को २५° उत्तरी अक्षांश कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण गोलार्द्ध में स्थित ऐसे ही स्थान के लिए २५° दक्षिण अक्षांश का उल्लेख किया जाता है। प्रत्येक दो अक्षांश के बीच के भाग को ६० बराबर भागों में विभाजित कर लिया जाता है और प्रत्येक भाग को 'पल' या 'मिनट' कहते हैं। पल को भी ६० भागों में बाँटा जाता है और प्रत्येक भाग को 'विपल' अथवा 'सैकंड' कहते हैं। इस प्रकार उत्तर-दक्षिणी दोनों गोलार्द्धों में कुल १८० अक्षांश माने गये हैं। ध्रुव-प्रदेशों में ९०° सूचक अन्तिम अक्षांश रेखाएँ शून्य बिन्दु को सूचित करती हैं।

विपुवत् रेखा को यदि ३६० बराबर भागों में विभाजित किया जाय, तो प्रत्येक भाग पृथ्वी के केन्द्र पर एक-

एक अंश का कोण वनायेगा। विपुवत् रेखा के इन विन्दुओं को यदि ९० अंश उत्तरी और दक्षिणी अक्षाशवाले विन्दुओं अर्थात् ध्रुव-प्रदेशों से रेखाओं द्वारा मिलाया जाय, तो धरातल पर ३६० रेखाएँ उत्तर-दक्षिणी ध्रुवों को मिलाती हुई खिच जायँगी। ये रेखाएँ उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवो पर तो एक विन्दु में मिल जाती है, परन्तु विपुवत् रेखा पर सवसे अधिक अन्तर पर होती है। इन रेखाओं को 'देशान्तर रेखाएँ' कहते है। इन पर भी अंक डाल दिये गये हैं और किसी एक को शून्य मानकर उसी के क्रम से अन्य रेखाओं के अंक पढ़े जाते है।

जिस तरह अक्षाश रेखा विपुवत् रेखा से उत्तर-दक्षिण की स्थिति वताती है, उसी प्रकार देशान्तर रेखाएँ विपुवत् रेखा के किसी भी विन्दु से किसी स्थान की पूर्वीय अथवा पश्चिमी स्थिति वताती है। अक्षाश रेखाएँ धरातल पर पूर्ण वृत्त वनाती हैं। परन्तु अक्षाश रेखाओं के वृत्त, जैसे-जैसे विपुवत् रेखा से उत्तर या दक्षिण को हम चले, छोटे होते जाते हैं। ये वृत्त समानान्तर होते हैं। देशान्तर रेखाएँ सव वरावर होती है तथा वे अर्द्ध-वृत्त वनाती है। सव देशान्तर रेखाएँ लम्वाई में वरावर होती हैं, परन्तु वे समानान्तर नही होती। भूमध्य अथवा विपुवत् रेखा के पास उनके वीच सवसे वड़ा अन्तर होता है। उत्तर या दक्षिण की ओर यह अन्तर घटता जाता है। ध्रुवों के पास ये सव रेखाएँ एक विन्दु में मिल जाती है। देशान्तर रेखाओं की सख्या ३६० है, परन्तु पृथ्वी के पूर्वीय तथा पश्चिमीय गोलार्द्धो मे विभक्त होने के कारण प्रत्येक गोलार्द्ध मे केवल १८० देशान्तर रेखाएँ होती हैं।

इन रेखाओं की उपयोगिता

अक्षाश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से किसी भी स्थान का पता ठीक-ठीक लगाया जा सकता है। किसी स्थान की केवल अक्षाश या केवल देशान्तर रेखा से उसका पता लगाना असम्भव होगा। यदि यह कहा जाय कि अमुक स्थान २५° उत्तरी अक्षांश पर है, तो उस स्थान का पता लगाना असम्भव है; क्योंकि २५° उत्तरी अक्षांश रेखा भूमध्य रेखा से २५° उत्तर की ओर पृथ्वी के चारों ओर फैली है। परन्तु यदि यह कहा जाय कि वह स्थान २५° उत्तरी अक्षाश और ८०° पश्चिमी देशान्तर पर है, तो उस स्थान को ढूँढ़ने मे तनिक भी कठिनाई न होगी। ये दोनों रेखाएँ जहाँ एक दूसरे को काटती है, वही अभीप्ट स्थान होगा।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं का महत्व सवसे अधिक समुद्र-यात्रा करनेवाले जलयानो के लिए है। अपार जलराशि पर यात्रा करते हुए नाविक अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से यह पता लगा लेते हैं कि वे कहाँ पर हैं। इन रेखाओं की सहायता से वे किसी भी देश का सवसे सुगम और कम लम्वा मार्ग भी जान सकते हैं। किसी अज्ञात स्थान पर पहुँचने पर उसकी स्थिति अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की सहायता से मालूम की जा सकती है; परंतु ऐसे स्थान की अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ कैसे मालूम हो सकती है? आइए, इसकी भी युक्ति हम आपको वताएँ।

अक्षांश का पता कैसे लगाया जा सकता है

किसी स्थान का अक्षांश निश्चित करने के लिए उत्तरी गोलार्द्ध अथवा विपुवत् रेखा के उत्तरी प्रदेशों में ध्रुवतारे से वड़ी सहायता मिलती है। उत्तरी ध्रुव पर यह तारा क्षितिज रेखा से समकोण वनाता हुआ ठीक सिर के ऊपर दिखाई देता है। भूमध्य रेखा पर यह तारा क्षितिज पर दिखाई देता है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे यह तारा अदृश्य हो जाता है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध में किसी स्थान पर ध्रुवतारा क्षितिज के साथ जितने अंश का कोण वनाता है, वही उस स्थान का अक्षांश होता है। ध्रुवतारे की स्थिति नापने के लिए ऊँचाई तथा कोण नापने के 'सेक्सटेन्ट' नामक यन्त्र की सहायता ली जाती है। यन्त्र के अभाव में कुछ अनुमान से भी काम लिया जा सकता है। जो स्थिति उत्तरी ध्रुव पर ध्रुवतारे की है, वही स्थिति दक्षिणी ध्रुव पर सदर्न क्रास नामक तारा-समूह की है। इसलिए दक्षिणी गोलार्द्ध में सदर्न क्रास की सहायता से अक्षांश का पता लगाया जा सकता है।

अक्षांश का पता सूर्य की सहायता से भी लगाया जा सकता है। २१ मार्च और २३ सितम्वर को दोपहर के समय सूर्य विपुवत् रेखा के ठीक ऊपर होता है, और ध्रुवों पर क्षितिज को छूता है। इसलिए इन दिनो सूर्य की ऊँचाई के कोण को ९० से घटाने से किसी भी स्थान का ठीक अक्षांश निकल सकता है। २१ जून को सूर्य की स्थिति दोपहर के समय २३·५° उत्तरी अक्षाश पर ठीक सिर के ऊपर होती है। इसलिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई में २३·५° जोड़कर ९० से घटाने पर उत्तरी गोलार्द्ध के किसी स्थान का अक्षांश निकालने के लिए इस दिन सूर्य की ऊँचाई के अंश में से पहले २३·५° घटाकर शेष को ९० से घटाना चाहिए। २२ दिसम्बर के दोपहर को सूर्य २३·५° दक्षिण अक्षाश पर ठीक सिर पर चमकता है, इसलिए इस दिन अक्षाश निकालने के लिए विपरीत क्रम
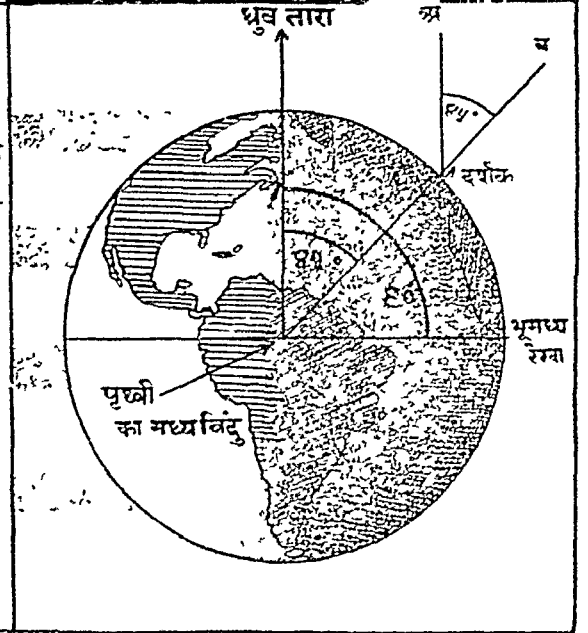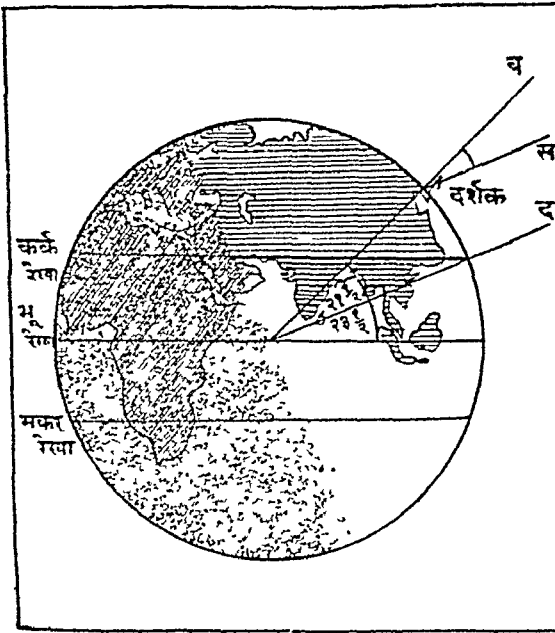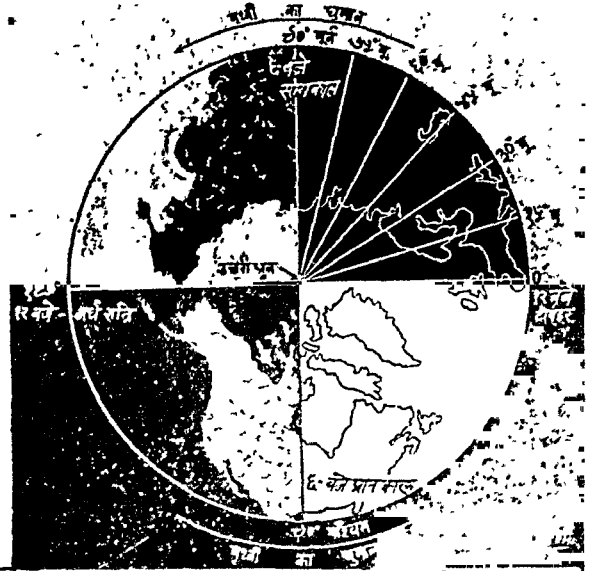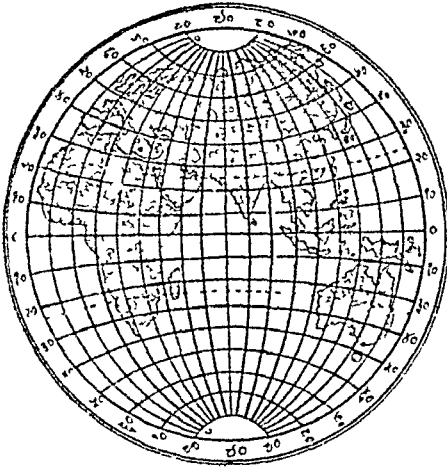
अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ कैसे जानी जाती हैं

(**ऊपर बाईं ओर**)--समानान्तर आड़ी रेखाएं 'अक्षांश' और असमानान्तर खड़ी रेखाएं 'देशान्तर' हैं। **दाहिनी ओर**--पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, अतएव ०° देशान्तर के स्थानों में जब दिन के १२ बजेंगे, उस समय ९०° पूर्वीय देशान्तर पर शाम के ६, ९०° पश्चिमी देशान्तर पर सुबह के ६, और १८०° देशान्तर पर रात के १२ बज रहे होंगे। (**बाईं ओर**) द दोपहर को कर्करेखा पर सूर्य के ठीक सिर पर होने की वास्तविक स्थिति और स दर्शक को अपनी जगह से दिखाई दे रही सूर्य की स्थिति है। सेक्स्टेन्ट द्वारा दर्शक की शिरोबिन्दु-रेखा व और सूर्य की स्थिति रेखा का कोण २१½° निकलता है। इसमें विषुवत् रेखा और कर्क रेखा के कोण का अंश २३½° जोड़ने से दर्शक को अपने स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है। (**दाहिनी ओर**) रात को सूर्य के बदले ध्रुव तारे (या सदर्न क्रास) की स्थिति द्वारा अक्षांश जाना जा सकता है। अ दर्शक को अपने स्थान से दिखाई दे रही ध्रुव की स्थिति और ब उसका शिरोबिन्दु है। अ और ब के बीच का कोण ४५° है। इसको विषुवत् रेखा और ध्रुव के बीच के कोण ९०° में से घटाने पर दर्शक के स्थान का ठीक अक्षांश ४५° मिल जाता है।

रहता है। जहाजी पंचांगों में ऐसी सारिणी दी जाती है, जिनसे पता लगाया जा सकता है कि किस तिथि को सूर्य किस अक्षांश पर ठीक सिर पर रहता है। उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्ध के अनुसार उस अक्षांश के अंशों को अज्ञात स्थान के सूर्य की ऊँचाई के अंशों में जोड़ या घटाकर फल को ९० में से घटा देने पर उस स्थान का अक्षांश ज्ञात हो जायगा।

देशान्तर निश्चित करने की विधि

देशान्तर रेखाओं का पता लगाने के लिए सूर्य की स्थिति से सहायता ली जाती है। देशान्तर रेखा को 'मध्याह्न रेखा' भी कहते हैं, क्योंकि इस रेखा पर स्थित सभी स्थानों पर एक ही समय पर दोपहर होता है। पृथ्वी के घूमते रहने के कारण प्रत्येक देशान्तर रेखा बारी-बारी से सूर्य के ठीक सामने आ जाती है। परन्तु विभिन्न देशान्तर रेखाएँ भिन्न-भिन्न समय पर सूर्य के सामने आती हैं। इसलिए उन पर सूर्योदय और दोपहर भिन्न-भिन्न समय पर होंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशान्तर पर प्रातः और मध्याह्न का समय भिन्न हुआ। घड़ी का आविष्कार होने पर इस बात की आवश्यकता हुई कि किसी एक देशान्तर रेखा के समय के अनुसार सारे संसार की घड़ियों का समय रक्खा जाया करे। ऐसी मध्याह्न रेखा को 'आदि मध्याह्न रेखा' कहते हैं। प्रायः सारे संसार में लन्दन के ग्रीनिच नामक स्थान से गुजरनेवाली रेखा ही 'आदि मध्याह्न रेखा' मान ली गई है। और इसी के अनुसार सारे संसार भर की घड़ियों का समय मिलाया जाता है। इस रेखा को 'ग्रीनिच देशान्तर रेखा' कहते हैं। इसका नाम ग्रीनिच की वेधशाला से पड़ा है। यह वेधशाला लन्दन के बाहरी भाग में बनी है।

पृथ्वी पर ३६० देशान्तर रेखाएँ खींची गई हैं। पृथ्वी अपना पूरा चक्कर २४ घंटे में लगा लेती है, इसलिए प्रत्येक देशान्तर रेखा को सूर्य के सामने आने मे ४ मिनट लगते है। चूँकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है, इसलिए पहले सूर्य पूर्व की ओर के स्थानों मे निकलता है। अर्थात् किसी पूर्वस्थित मध्याह्न रेखा पर उससे पश्चिम-स्थित रेखा की अपेक्षा चार मिनट पहले सूर्य निकलेगा, और ४ मिनट पहले दोपहर तथा सूर्यास्त होगा। इसी प्रकार प्रत्येक १५° देशान्तर रेखाओं के पश्चात् उनके पूर्व या पश्चिमस्थित होने के अनुसार सूर्योदय, मध्याह्न तथा सूर्यास्त १ घंटा पहले या पीछे होगा। किसी नये स्थान का देशान्तर जानने के लिए ग्रीनिच के समय की आवश्यकता होती है। बहुत-से जहाज ग्रीनिच का समय बतानेवाली घड़ी (क्रोनोमीटर) रखते हैं। सूर्य की सहायता से प्रत्येक स्थान का मध्याह्न जाना जा सकता है। स्थानीय मध्याह्न और ग्रीनिच के समय मे जितने घंटे या मिनट का अन्तर हो, उन सबके मिनट बनाकर, एवं मिनटों की संख्या को ४ से भाग देने पर देशान्तर निकल आयगा। यदि ग्रीनिच का समय पीछे है अर्थात् वहाँ अभी दिन के १२ नहीं बजे हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर ग्रीनिच के पूर्व में होगा। यदि ग्रीनिच का समय आगे है, अर्थात् वहाँ की घड़ी में दिन के बारह बज चुके हैं, तो निकाला हुआ देशान्तर पश्चिम में होगा।

प्रामाणिक समय

प्रत्येक देशान्तर का भिन्न समय होने से किसी देश में जितने ही देशान्तर होंगे, उतने समय होंगे। पर यदि भिन्न-भिन्न नगर अपने-अपने स्थानीय समय को ही प्रामाणिक मानने लगें, तब तो रेल आदि का कोई सार्वजनिक काम ही न हो सके। इसलिए देश की किसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा का समय प्रामाणिक मान लिया जाता है। रेल, आदि सभी सार्वजनिक विभागों में इसी मध्यवर्त्ती मध्याह्न रेखा के समय से काम लिया जाता है। भारत में मद्रास के समय को ही प्रामाणिक मानते हैं। सभी रेलवे-स्टेशनों और नगरों की घड़ियों में मद्रास का समय रक्खा जाता है। केवल कलकत्ते में इस प्रामाणिक समय के साथ-साथ स्थानीय समय का भी प्रयोग होता है। पर कनाडा आदि कुछ देशों का पूर्वी-पश्चिमी विस्तार इतना अधिक है कि उनके पूर्वी और पश्चिमी तट के स्थानीय समय में प्रायः ५ घंटे का अन्तर रहता है। ऐसे देशों मे प्रामाणिक समय के कई कटिबन्ध मान लिये जाते है, जिससे स्थानीय समय और प्रामाणिक समय में कही भी आधे घंटे से अधिक अन्तर नहीं रहता है। एक महाशय ने सुविधा के लिए संसार को २४ भागों में बाँटा है। इनके अनुसार दो पासवाले भागों में ठीक एक घंटे का अन्तर रहेगा। यदि सारे संसार में यही समय-विभाग मान लिया जाय, तो भिन्न-भिन्न भागों का समय जानने में बड़ी आसानी होगी।

तिथि-रेखा

जिस प्रकार किसी देश मे स्थानीय समयों की गड़बड़ी मिटाने के लिए प्रामाणिक समय मानने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में तिथि-सम्बन्धी गड़बड़ी को दूर करने के लिए 'तिथि-रेखा' का निश्चित करना भी आवश्यक है। प्रति १५° देशान्तर की यात्रा में १ घंटे का अन्तर पड़ते-पड़ते ३६० अंश की परिक्रमा

में २४ घंटे का अन्तर हो जाता है। ग्रीनिच से पश्चिम की ओर जानेवाला जहाज प्रति १५° देशान्तर की यात्रा के बाद १ घंटा घटाता जाता है। इसलिए पूरी परिक्रमा (३६० अंश) में उसका १ दिन घट जाता है। पूर्व की ओर जानेवाला जहाज प्रति १५° देशान्तर की यात्रा में १ घंटा बढ़ा लेता है। इसलिए पूरी परिक्रमा (३६० अंश) में उसका १ दिन बढ़ जायगा। इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए प्रायः १८०° देशान्तर रेखा अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा मान ली गई है। पश्चिम की ओर जानेवाले जहाज इसी रेखा तक अपना समय प्रति १५° देशान्तर में एक घंटा घटाते हैं। इस रेखा को पार करने पर वे एक तिथि बढ़ा लेते हैं। मान लो, उन्होंने २६ जून रविवार को यह रेखा पार की, तो इस रेखा की दूसरी ओर पहुँचते ही वे २७ जून सोमवार कर लेंगे। इसके विपरीत पूर्व की ओर आनेवाले जहाज १८०° देशान्तर को पार करते समय एक दिन घटा लेते हैं। अगर १८०° रेखा के पश्चिम से उन्होंने २७ जून सोमवार को प्रस्थान किया तो इस रेखा के पूर्व में वे २६ जून रविवार को पहुँचेंगे, मार्ग में उनको चाहे एक मिनट भी न लगा हो। इस रेखा को एक दिन में कई बार पार करनेवाले जहाज एक ही दिन में कई बार अपनी तारीख बदलते हैं। इस प्रकार बीच में तिथि बदल लेने से घर पहुँचने पर यात्रियों को वही तिथि मिलती है, जो उनके जहाज पर रहती है। पर उत्तर में एल्यूशियन द्वीप के लोग राजनीतिक कारणों से वही तिथि रखना पसन्द करते हैं, जो एलास्का में रहती है। इसी प्रकार दक्षिण में फिजी और चैथम द्वीप भी न्यूजीलैंड का ही दिन रखना पसन्द करते हैं। इसलिए उत्तर और दक्षिण में अन्तर्राष्ट्रीय तिथि-रेखा कुछ टेढ़ी हो गई है, और १८०° देशान्तर से दूर भी हो गई है।

इस प्रकार अक्षांश और देशांतर की सहायता से यात्री महासागरों और निर्जन वनों में भी अपनी ठीक-ठीक स्थिति निश्चित कर लेता है। स्थिति निश्चित करने का यह उपाय इतना सुगम सिद्ध हुआ कि जिन प्रदेशों में पैमायश न हो सकी, वहाँ अक्षांश और देशान्तर रेखाओं से राजनीतिक सीमा का भी काम लिया गया है। उदाहरण के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और कनाडा के बीच में ४९वीं उत्तरी अक्षांश बहुत दूर तक राजनीतिक सीमा बनाती है।

देशान्तर के बीच का अन्तर समान नहीं है

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अक्षांश रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। अतएव प्रति डिग्री अक्षांश के बीच का अन्तर हर जगह लगभग ६९ मील है। हाँ, चूँकि पृथ्वी बिलकुल गोल नहीं है और ध्रुवों पर कुछ-कुछ चपटी है, इसलिए कहीं-कहीं इस नाप में थोड़ा-बहुत फर्क भी है। इसके विपरीत, देशान्तर रेखाएँ असमानान्तर रेखाएँ हैं, अतएव उनके बीच का अन्तर एकसा नहीं है। विषुवत् रेखा पर, जहाँ पर आकर देशान्तर रेखाओं के बीच का अंतर सबसे ज्यादा हो गया है, इस अंतर की लंबाई प्रति डिग्री लगभग ६९ मील है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ें त्यों-त्यों यह अंतर कम होता जाता है। ध्रुवों पर जाकर, जहाँ सब देशान्तर रेखाएँ मिलती हैं, वह अन्तर कुछ भी नहीं रह जाता। देशान्तर रेखाओं के बीच के इस अंतर के साथ ज्यों-ज्यों हम उत्तर-दक्षिण में ध्रुव-प्रदेशों की ओर जाएँ त्यों-त्यों दिन और रात के परिमाण में भी अन्तर पड़ता जाता है। ध्रुवों और भूमध्य रेखा के बीच देशान्तर का प्रति डिग्री का अन्तर प्रति १० अक्षांश पर क्रमशः कितना कम होता जाता है, तथा उन-उन अक्षांशों का सबसे बड़ा तथा सबसे छोटा दिनमान क्या है, वह नीचे की तालिका में दिया जा रहा है.—

अक्षांश	देशान्तर का अंतर	सबसे बड़ा दिन		सबसे छोटा दिन	
डिग्री	मील	घं०	मि०	घं०	मि०
०	६९.२	१२	६	१२	६
१०	६८.१	१२	३८	११	३०
२०	६५.०	१३	१८	१०	५२
३०	६०.०	१४	०	१०	१०
४०	५३.१	१४	५८	९	१६
५०	४४.६	१६	१८	८	०
६०	३४.७	१८	४४	५	४४
७०	२३.७	२४	०	०	०
८०	१२.५	२४	०	०	०
९०	०	२४	०	०	०

यहाँ यह भी बता देना असंगत न होगा कि विषुवत् रेखा पर अक्षांश का एक अंश ६८.७ मील और ध्रुव-प्रदेशों में ६९.४ मील है। इसका कारण पृथ्वी का ध्रुवों पर चिपटा होना ही है।

अक्षांश और देशान्तर रेखाओं की यह योजना वास्तव में बड़ी चतुराई की योजना है। पृथ्वी के कई स्थानों का एक ही अक्षांश भले ही हो, और इसी तरह एक ही देशान्तर पर स्थित कई स्थान भी हमें मिल सकते हैं, किन्तु ऐसे

संसार के प्रमुख नगरों के अक्षांश और देशान्तर

नगर	अक्षांश	देशान्तर	नगर	अक्षांश	देशान्तर
लन्दन	५१.३० उ.	०.५ पू.	दिल्ली	२८·३८ उ.	७७·१२ पू.
न्यूयार्क	४०·४३ उ.	७९·२ प.	मार्सेइ	४२·२० उ.	३·३० पू.
टोकियो	३५·४० उ.	१३८·४५ पू.	ब्रूसेल्स	५० ५२ उ.	४·२२ पू.
वर्लिन	५२·३२ उ.	१३·२५ पू.	क्लीवलैंड	४१·२८ उ.	८१·४० प.
मॉस्को	५५·४५ उ.	३७·३७ पू.	नेपल्स	४०·५१ उ.	१४·२६ पू.
शंघाई	३४·१५ उ.	१२१·२९ पू.	कैंटन	२३·११ उ.	११३·१४ पू.
शिकागो	४२·० उ.	८७·४० प.	कोपनहेगन	५५·४० उ.	१२·३० पू.
श्रोसाका	३४·३९ उ.	१३५·२७ पू.	लीवरपूल	५३·२४ उ.	२·५८ प.
पेरिस	४८·५० उ.	२·२० पू.	सैंट ल्युई	३८·३९ उ.	९०·१३ प.
लेनिनग्राड	५९·५७ उ.	३०·२० पू.	मांट्रियल	४५·३१ उ.	७३·३४ प.
व्यूनस श्रायर्स	३४·३५ द.	५८·२० प.	वाल्टीमोर	३९·१८ उ.	७६·३७ प.
फिलेडेलफिया	३९·५७ उ.	७५·१० प.	एम्स्टर्डम	५२·२२ उ.	४·५३ पू.
वियना	४८·१२ उ.	१६·२२ पू.	वोस्टन	४२·२२ उ.	७१·२ प.
मैलवोर्न	३७·५० द.	१४४·५६ पू.	यॉकोहामा	३५·२५ उ.	१३९·३६ पू.
रायो द जैनिरो	२२·५५ द.	४३·१२ प.	इस्तम्ववूल	४१·० उ.	२९·० पू.
डेट्रायट	४२·२१ उ.	८३·३ प.	मैनचैस्टर	५३·२८ उ.	२·१२ प.
पेकीग	३९·५५ उ.	११६·२४ पू.	म्यूनिख	४८·८ उ.	११·३५ पू.
कलकत्ता	२२·३४ उ.	८८·२४ पू.	लाइपजिग	५१·२० उ.	१२·२३ पू.
कैरो	३०·२ उ.	३१·१५ पू.	सिंगापुर	१·१७ उ.	१०३·५१ पू.
सिडनी	३३·५२ द.	१५१·१२ पू.	वाकू	४०·२२ उ.	४९·५० पू.
वॉरसा	५२·१२ उ.	२१·० पू.	सियोल	३७·३१ उ.	१२७·६ पू.
लॉस एंजिल्स	३४·३ उ.	११८·१७ प.	सांटियागो	३३·२४ द.	७०·४५ प.
हाम्वर्ग	५३·३५ उ.	१०·० पू.	श्रलैक्जांड्रिया	३६·३९ उ.	३६·१० पू.
वम्वई	१८·५५ उ.	७२·५४ पू.	मद्रास	१३·४ उ.	८०·१७ पू.
क्योटो	३५·१ उ.	१३५·४५ पू.	वुखारेस्ट	४४·२५ उ.	२६·७ पू.
रोम	४१·५५ उ.	१२·२८ पू.	चुंगकिंग	२९·३२ उ.	१०६·५० पू.
वार्सीलोना	४१·२२ उ.	२·१० पू.	जिनेवा	४६·१३ उ.	६·७ पू.
ग्लासगो	५५·५२ उ.	४·१५ प.	सेनफ्रांसिस्को	३७·४८ उ.	१२२·२५ प.
साँ पॉलो	२३·३८ द.	४६·३७ प.	टोरंटो	४३·३९ उ.	७९·२० प.
मिलान	४५·२७ उ.	९·१० पू.	लिस्वन	३८·४४ उ.	९·९ प.
वुडापैस्ट	४७·२९ उ.	१९·३ पू.	स्टॉकहॉम	५९·२० उ.	१८·० पू.
मैड्रिड	४०·२४ उ.	३·४२ प.	हेग	५२·६ उ.	४·२० पू.
वर्मिंघम	५२·२८ उ.	१·५५ प.	वॉशिंगटन	३८·५५ उ.	७७·४ प.
मैक्सिको	३४·४१ उ.	१३५·१२ पू.	एडिनवर्ग	५५·५६ उ.	३·१२ प.
रगून	१६·४५ उ.	९६·१३ पू.	डब्लिन	५३·२१ उ.	६·१६ प.
प्रॉग	५०·५ उ.	१४·२५ पू.	हैदरावाद	१७·२० उ.	७८·३० पू.
वंकॉक	१३·४२ उ.	१००·३० पू.	कोलंबो	६·५६ उ.	७९·५६ पू.

भारत के प्रमुख नगरों के अक्षांश और देशांतर

नगर	अक्षांश	देशान्तर	नगर	अक्षांश	देशांतर
वम्बई	१८·५५ उ.	७२·५४ पू.	देहरादून	३०·२८ उ.	७८·४ पू.
कलकत्ता	२२·३४ उ.	८८ २४ पू.	अलीगढ़	२७·५४ उ	७८·६ पू.
दिल्ली	२८·३७ उ.	७७·१२ पू.	भावनगर	२१·४६ उ.	७२ ११ पू.
नई दिल्ली	२८ ३८ उ.	७७·१२ पू.	कोल्हापुर	१६ ४२ उ.	७४·१६ पू.
मद्रास	१३·४ उ.	८०·१७ पू.	भाटपाड़ा	२२·५४ उ.	८८·२५ पू.
हैदराबाद	१७·२० उ.	७८·३० पू.	रामपुर	२८·४८ उ.	७९·५ पू.
अहमदाबाद	२३·२ उ.	७२·३८ पू.	गया	२४·४८ उ.	८५·१ पू.
बंगलोर	१२·५८ उ.	७७·३८ पू.	वारंगल	१७ ५८ उ	७९·४० पू.
कानपुर	२४ २८ उ.	८०·२४ पू.	गोरखपुर	२६·४५ उ.	८३·२४ पू.
लखनऊ	२६·५५ उ.	८०·५९ पू.	राजकोट	२२·१८ उ	७०·५१ पू.
पूना	१८·१३ उ.	७३·५५ पू.	उज्जैन	२३·९ उ.	७५·४३ पू.
नागपुर	२१·९ उ.	७९·९ पू.	हुबली	१५·२० उ.	७५·१२ पू.
हावड़ा	२२·३५ उ.	८८·२३ पू.	झाँसी	२५·२७ उ.	७९·३७ पू.
आगरा	२७·१० उ.	७८·५ पू.	गुंटूर	१६·१८ उ.	८०·२९ पू.
मदुरा	९·५८ उ.	७८ १० पू.	बीकानेर	२८·१ उ.	७३·२२ पू.
वाराणसी	५० २० उ.	८३·० पू.	मंगलोर	१२ ५२ उ.	७४·५३ पू.
इलाहाबाद	२५·२८ उ.	८१·५४ पू.	अलेप्पि	९·३० उ.	७६·२३ पू.
अमृतसर	३१ ३७ उ.	७४·५५ पू.	भागलपुर	२५·१५ उ.	८७·२ पू.
इंदौर	२२ ४४ उ.	७५·५० पू.	विशाखापट्टम	१७·४२ उ.	८३·२० पू.
जयपुर	२६·५५ उ.	९२·२६ पू.	राँची	२३·२३ उ.	८५·२३ पू.
पटना	२५·३७ उ.	८५·१३ पू.	मथुरा	२७·२८ उ.	७७ ४१ पू.
शोलापुर	१७·४० उ.	७५·५६ पू.	शाहजहाँपुर	२७·५४ उ.	७९·५७ पू.
जबलपुर	२३·१० उ.	७९·५९ पू.	भोपाल	२३·१६ उ.	७७·३६ पू.
मैसूर	१२·१८ उ·	७६·४२ पू.	मंसूरी	७०·२३ उ.	७८ ६ पू.
ग्वालियर	२६·१४ उ.	७८·१० पू.	नैनीताल	२९·२६ उ.	७६·३० पू.
सूरत	२१·१२ उ.	७२·५२ पू.	शिमला	३१·६ उ.	७७·२३ पू.
तिरुचिरापल्ली	१०·५० उ.	७५·४६ पू.	उटकमंड	११·२४ उ.	७६·४४ पू.
जमशेदपुर	२२·५० उ.	८६·१० पू.	रामेश्वरम्	९·१७ उ.	७९·२२ पू.
बड़ौदा	२२·० उ.	७३ १६ पू.	मुंगेर	२५·२३ उ.	८६·३० पू.
बरेली	२८·२२ उ.	७९·२७ पू.	शिलाँग	२५·३४ उ.	९१·५६ पू.
सेलम	११·३९ उ.	७८·१२ पू.	रानीखेत	२९·४० उ.	७९·३२ पू.
कोयंबटूर	११·० उ.	७७·० पू.	हरिद्वार	२९·५८ उ.	७८·१३ पू.
अजमेर	२६·२७ उ.	७४·४२ पू.	श्रीनगर	३४·६ उ.	७४·५१ पू.
जोधपुर	२६·१८ उ.	७३·४ पू.	दार्जिलिंग	२७·३ उ.	८८·१८ पू.
कोचीन	९·५८ उ.	७६·१७ पू.	जैसलमेर	२६·५५ उ.	७०·५७ पू.
कालीकट	११·१५ उ.	७५·४९ पू.	जालंधर	३१·१९ उ.	७५·१८ पू.
सहारनपुर	२९·५८ उ.	७७·२३ पू.	जम्मू	३२·४४ उ.	७४ ५४ पू.

दो स्थान आपको पृथ्वी पर कहीं भी नहीं मिल सकते जिनकी देशान्तर और अक्षांश दोनों एक हों। ऐसा स्थान जो भी होगा केवल एक ही होगा। अतएव पृथ्वी के किसी भी स्थान विशेष का ठीक अक्षांश और देशान्तर जान लेने पर निश्चित रूप से उस स्थान की स्थिति का निर्णय करने में किसी भी प्रकार की गलती होने की संभावना नही है। इस तरह हम देखते है कि भौगोलिक अध्ययन के लिए ये रेखाएँ कितनी अधिक महत्वपूर्ण है!

नक्शे द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन

घर बैठे भूगोल का अध्ययन करने के लिए सर्वोत्तम साधन पृथ्वी के विभिन्न भागों के विभिन्न प्रकार के नक्शे है। ये नक्शे क्या और कैसे होते है, तथा किस तरह बनाये जाते है, इनका ब्योरा इस प्रकरण में दिया जा रहा है।

धरातल के किसी भाग का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है उस प्रदेश की यात्रा करना और उसके ऊँचे-नीचे प्रदेशो, नदियो और घाटियो, झीलों और समुद्र-तटो, आदि का स्वयं अपनी आँखो से निरीक्षण करना। उस प्रदेश में जाकर उसके, जंगलों और मैदानों मे घूमकर, नगरो और देहातों तथा कारखानो और खानों में काम करनेवालों को देखकर, यह पता लगाया जा सकता है कि देश कैसा है, उसमे कैसे लोग बसते है, तथा उनकी रहन-सहन कैसी है। यात्रा करने के लिए आज हमारे पास अनेकों साधन है। पैरों चलकर अथवा गाड़ी, बाइसिकिल, मोटर, रेल आदि सवारियो में बैठकर या वायुयानों द्वारा उड़कर भी यात्रा की जा सकती है। इन्हीं साधनों की सहायता से मनुष्य ने धरातल के विषय मे बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। इन साधनो के होते हुए भी वह जिन प्रदेशों में पहुँचने मे असमर्थ रहा है, वहाँ पहुँचने के लिए भी नित्य प्रयत्न किया करता है। इस प्रकार यात्रा करनेवाले जिन-जिन प्रदेशों मे जाते है, उनके सम्बन्ध में अपने निजी अनुभव तथा वहाँ के निवासियों की प्रकृति, रहन-सहन आदि का वर्णन प्रकाशित करते है। मनुष्य चूँकि हर यात्रा करने में समर्थ नही है, इसलिए बहुतेरे लोग धरातल का भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए इन यात्रियो के अनुभव और उनकी ज्ञानपूर्ण बातो को पुस्तकों में पढ़कर ही संतोष कर लेते है।

पृथ्वी का गोला या ग्लोब
जो पाठशालाओं में प्रयुक्त होता है।

नक्शे या मानचित्र और उनकी उपयोगिता

भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन मानचित्र या नकशों द्वारा भी किया जा सकता है। नकशा धरातल के किसी भाग का ऐसा चित्र है, जिसमें उस भाग सम्बन्धी सभी भौगोलिक बातों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। नकशों में प्रत्येक स्थान के सम्बन्ध में संकेतों द्वारा पर्याप्त बातों का निदर्शन होता है। अतएव यह जानना जरूरी है कि ये संकेत क्या है तथा ये भौगोलिक मानचित्र या नक्शे कैसे बनाये जाते है।

नकशे में सभी भौगोलिक बातें संकेत और चिह्नों द्वारा अंकित रहती है। प्रायः नकशे के एक किनारे एक तालिका आपने देखी होगी। इस तालिका में प्रत्येक चिह्न या संकेत के अर्थ दिये जाते है। परन्तु नकशे मे बहुत-सी बाते ऐसी होती है, जिनको साधारणतः बिना चिह्नों या संकेतो के समझा जा सकता है। जल और स्थल, पर्वत, नदियाँ, झीलें आदि का पता नकशों मे साधारणतः बिना चिह्न के भी लग जाता है, क्योंकि उनके लिए अलग रंग प्रयुक्त होते है। कुछ नकशों मे स्थल की नीचाई-ऊँचाई दिखाने के लिए उन्हें एक

ही प्रकार के रंग से हलका और गहरा रंग देते हैं। पृथ्वी के इस प्रकार के नकशों से हम बड़ी आसानी से पता लगा सकते हैं कि धरातल पर कहाँ ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं, कहाँ समतल मैदान हैं, और कहाँ पर पठार हैं। इस प्रकार के नक्शों से यह भी पता चलता है कि समुद्र कहाँ पर कितना गहरा है। प्रत्येक भिन्न गहराई के लिए एक प्रकार के रंग की विभिन्न गहराई का प्रयोग नकशे में किया जाता है। समुद्र की विभिन्न गहराइयों को दिखानेवाले नकशों को "चार्ट" कहते हैं। चार्ट में गहराई के साथ-ही-साथ समुद्र की लहरों का रुख भी दर्शाया जाता है। इनमें बन्दरगाहों, टापुओं तथा प्रकाशस्तम्भों आदि की स्थिति का भी ज्ञान कराया जाता है। इन चार्टों की सहायता से जहाज चलानेवाले सदैव अपने मार्ग में आनेवाली बाधाओं से सचेत रहते हैं और दुर्घटनाओं से बचते हैं।

भाँति-भाँति के मानचित्र

हमारी पृथ्वी गोल है, इसलिए इसका सच्चा नकशा गोले के रूप में ही बनाया जा सकता है। ऐसे गोले को, जिस पर पृथ्वी के धरातल का नकशा बनाया जाता है, ग्लोब कहते हैं (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)। इस गोले के धरातल पर सब भौगोलिक परिस्थितियाँ उसी प्रकार अंकित की जाती हैं, जैसी वे पृथ्वी के धरातल पर हैं।

कुछ नकशे ऐसे होते हैं, जिन पर प्रदेशों की ऊँचाई-नीचाई का ज्ञान इस प्रकार अंकित किया जाता है कि हम अपने हाथ से छूकर साथ ही आँखों से देखकर भी यह बता सकते हैं कि कहाँ पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, कहाँ गहरी घाटियाँ हैं, कहाँ-कहाँ नदियाँ बहती हैं और कहाँ मैदान हैं। इस प्रकार के नकशे 'रिलीफ' कहलाते हैं। रिलीफ नकशे अधिकतर मिट्टी या गोंद से चिपकाये कागजों से बनाये जाते हैं।

कुछ नकशे ऐसे होते हैं, जिनमें विभिन्न देशों का विस्तार और उनकी सीमाएँ बनी होती हैं। ऐसे नकशों को 'राजनीतिक' नक्शे कहते हैं, क्योंकि इनमें राष्ट्रों की राजनीतिक रूपरेखा दिग्दर्शित होती है। विभिन्न प्रकार के नकशों में विभिन्न प्रकार की बातें दर्शाई जाती हैं। किसी नकशे में वर्षा का वर्णन होता है, अर्थात् कहाँ पर कम और कहाँ पर अधिक वर्षा होती है। किसी में धरातल के ठण्डे और गरम प्रदेशों का विस्तार दिखाया जाता है, और किसी में हवाओं के वेग आदि का वर्णन होता है।

कुछ नकशों में धरातल पर होनेवाली वनस्पतियों का हाल रहता है, जैसा कि कहाँ पर घने वन हैं; कहाँ पर उपजाऊ देश और कहाँ पर वीरान प्रदेश हैं; कहाँ पर गेहूँ उत्पन्न होता है; कहाँ पर चावल, और कहाँ पर कपास या तिलहन की पैदावार होती है, आदि आदि। अन्य नकशे बनाये जाते हैं, जिनमें धरातल के विभिन्न स्थलों की आबादी का हाल अंकित होता है। इनमें दिखाया जाता है कि किस स्थल में कौन जाति के मनुष्य बसते हैं और किस प्रदेश की आबादी सबसे घनी तथा किस की सबसे कम है। कुछ नकशों में खनिज पदार्थों ही की उपज का हाल अंकित रहता है। इन नकशों से यह मालूम होता है कि किस प्रदेश में कौन-सा खनिज निकलता है; जैसे कहाँ से लोहा निकलता है, और कहाँ से कोयला। इस प्रकार नकशों के अध्ययन से एक ही निगाह में हम इतनी अधिक बातें ज्ञात कर लेते हैं, जिन्हें हम या तो अनेकों पुस्तकें पढ़कर या लम्बी-लम्बी यात्राओं के पश्चात् जान पाते।

इनके अलावा एक प्रकार के नकशे और भी होते हैं, जिन में किसी प्रदेश की आकार-रेखायें खिंची होती हैं। आकार-रेखाएँ वे रेखाएँ हैं, जो एक प्रदेश के समान ऊँचाईवाले स्थानों को जोड़ती हुई मानी जाती हैं। ऊँचाई का आधार समुद्रतल माना जाता है। समान ऊँचाईवाली रेखाओं द्वारा पृथ्वी की ऊँचाई दिखलाना बड़ा सुगम है। आकार-रेखाओं के नकशे को देखने से किसी स्थल की पहाड़ियों, घाटियों, ढालू पठारों आदि का बोध हो जाता है।

पैमाना

नकशे के द्वारा पृथ्वी के बड़े भाग को छोटे से स्थान में दिखाया जाता है। किसी वस्तु अथवा प्रदेश के असली आकार और नकशे में दिखाये गये आकार में जो अनुपात होता है, वह पैमाना कहलाता है। यदि किसी नकशे में पाँच मील की लम्बाई पाँच इंच से दिखाई गई है, तो उस नकशे का पैमाना १ इंच प्रति मील हुआ। नकशे में दिए हुए प्रदेश का वास्तविक आकार जानने के लिए हमें सबसे पहले नकशे का पैमाना देखना चाहिए। नगर, प्रांत आदि पृथ्वी के छोटे भागों के नकशे बड़े पैमानों पर बनाये जाते हैं, पर महाद्वीप आदि बड़े भागों के नकशे छोटे पैमानों पर ही बनाना सुगम होता है।

भारतवर्ष का सबसे बड़ा नकशा प्रति मील एक इंच के पैमाने पर बना है। सैनिक विभाग के कुछ विशेष नकशे प्रति मील तीन इंच के पैमाने पर भी बनाये गये हैं। छोटे पैमानों के नकशों में केवल मुख्य-मुख्य बातें ही दिखाई जाती हैं। परन्तु बड़े पैमाने के नकशों में छोटे-छोटे स्थान जैसे कुआँ, बाग आदि भी दिखाये जा सकते हैं।

किसी देश की लम्बाई-चौड़ाई दिखलानेवाला पैमाना

क्षितिज के समानान्तर होता है। उसे हम धरातलीय पैमाना भी कह सकते है। परन्तु पहाड़ आदि की ऊँचाई दिखाने के लिए धरातलीय पैमाने से पता नही चल सकता। पहाड़ों की ऊँचाई दिखाने का सबसे सुगम उपाय आकार-रेखाओंवाला नकशा है। भिन्न-भिन्न ऊँचाई दिखाने के लिए भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग करने से धरातलीय पैमाने पर बनाये गये नकशों में भी ऊँचाई का ज्ञान हो सकता है। कुछ धरातलीय पैमाने के नकशो में भिन्न-भिन्न स्थानों की ऊँचाई उनके सामने ही लिख दी जाती है। पर आकार-रेखाओं द्वारा ऊँचाई-निचाई प्रदर्शित करना सर्वोत्तम माना जाता है। इन आकार-रेखाओं को 'समुच्चय रेखाएँ' भी कहते है।

समुच्च रेखाएँ जितनी दूरी के बाद स्थित होती है, उसे धरांश कहते है। जहाँ ढाल सपाट होता है, वहाँ ये रेखाएँ पास-पास होती है। पर क्रमशः रेखाओं से न केवल ठीक-ठीक ढाल का ज्ञान होता है, वरन् उनसे पहाडी, घाटी आदि की स्थिति का भी ठीक-ठीक पता चल जाता है। दो समुच्च रेखाओंके बीच में जो अन्तर हो, उसको ढाल के क्रम से भाग देने से ढाल का अंश निकल आता है।

थियोडोलाइट यंत्र
जिसके द्वारा किसी एक जगह से दूर-दूर तक की नाप की जा सकती है।

दिशा-ज्ञान और धरातल की नाप

नकशा बनाने में दिशा का ज्ञान होना बहुत ही आवश्यक है। एक स्थान से दूसरा स्थान किस दिशा में है, यह बात नकशे में ठीक उसी प्रकार अंकित होना चाहिए जैसी वास्तव में है। इसलिए दिशा का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। दिशाएँ जानने के लिए सूर्य की सहायता ली जाती है। रात में ध्रुवतारे की सहायता से दिशाओं का ज्ञान किया जाता है। दिक्सूचक यंत्र की सहायता से भी दिशा जानी जाती है।

पृथ्वी के विभिन्न भागों का नकशा बनाने के लिए धरातल की नाप करनी पड़ती है। इस नाप-जोख के लिए यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक क्षेत्र में जाकर हाथ से नाप-जोख की जाय। इसके लिए थियोडोलाइट नामक यंत्र की सहायता ली जाती है। इस यंत्र के द्वारा किसी एक ही स्थान से दूर-दूर तक नाप की जा सकती है। पहले किसी ऊँचे स्थान को चुन लिया जाता है और वहाँ से इस यंत्र के द्वारा जितने स्थान दिखाई देते है, उनके कोण नाप लिये जाते है। इन कोणों के द्वारा बहुत बड़े भूभागों की नाप कर ली जाती है। इस रीति को ट्रेन्गुलेशन कहते हैं।

प्रोजेक्शन या प्रक्षेप

हम ऊपर कह आये हैं कि पृथ्वी गोलाकार है। इसलिए इसका सच्चा चित्र ग्लोब ही है। पर जब चौकोर कागज पर पृथ्वी का मानचित्र खीचा जाता है, तो गोले का सच्चा चित्र बन ही नहीं सकता। फिर भी काम चलाने के लिए किसी न किसी प्रकार पृथ्वी के गोले का आकार चौकोर कागज पर बनाया ही जाता है।

कागज पर पृथ्वी का नकशा बनाते समय सबसे पहले अक्षांश-देशान्तर रेखाओं का जाल इस प्रकार से बनाया जाता है कि वह ग्लोब पर बने हुए अक्षांश और देशान्तर रेखाओं के जाल से मिलता-जुलता रहे। इस जाल के बनाने के ढंग को प्रोजेक्शन अथवा फैलाव कहते हैं। प्रोजेक्शन के द्वारा गोलाकार ग्लोब चपटे कागज पर फैलाया जाता है। ग्लोब पर बने हुए अक्षांश और देशान्तर रेखाओं के जाल के देखने से मालूम होता है कि अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ एक दूसरे से नियत दूरी पर खिची हुई है और वे एक दूसरे को समकोण बनाती हुई काटती है। सब देशान्तर रेखाएँ ध्रुवबिन्दु पर मिल जाती है। कोई भी प्रोजेक्शन ऐसा नही है, जिसके द्वारा चपटे कागज पर बनाये हुए जाल में उल्लिखित ग्लोब की सभी बातें आ जायँ। इनमें से प्रत्येक बात दिखाने के लिए अलग-अलग प्रोजेक्शन है। अब तक लगभग ३० प्रकार के प्रोजेक्शन बन चुके है। प्रोजेक्शन द्वारा गोले को नकशे में प्रदर्शित करने के लिए जितने ढंग है, उनमे से कुछ का वर्णन हम आगे करेंगे।

पृथ्वी के मानचित्रों के विविध प्रक्षेप

अगर हम रबड़ की गेंद या नारंगी के छिलकों को बिना तोड़े एक चपटे धरातल पर रखने का प्रयत्न करें तो हम देखेंगे कि उनके किनारे और सिरे ऊपर उठ आते है। केवल बीच का कुछ भाग धरातल पर स्थित हो पाता है। यदि हम किनारो को दबाकर चपटा करने का प्रयत्न करें तो या तो किनारे फट जाते है या तन जाते है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गोले के धरातल को चपटे धरातल

प्रक्षेप का सिद्धान्त तथा पृथ्वी के मानचित्र के कुछ प्रसिद्ध प्रक्षेप

(ऊपर) भिन्न-भिन्न प्रक्षेपों में होनेवाला आकृति-भेद। इस चित्र में यह समझाया गया है कि यदि चित्र के मध्य में दी गई मनुष्याकृति को विभिन्न प्रक्षेपों द्वारा सपाट कागज पर उतारा जाय तो उसका हर प्रक्षेप में कैसा रूप होगा। यही बात पृथ्वी के मानचित्र के संबंध में भी लागू होती है। (नीचे) पृथ्वी के मानचित्र के कुछ प्रसिद्ध प्रक्षेप।

पर इस प्रकार फैलाना कि प्रत्येक स्थान की स्थिति ठीक रहे, असम्भव है। भूमण्डल के मानचित्र का प्रक्षेप करने के जितने भी प्रयत्न किये जाते हैं और जितनी भी विधियाँ हैं, उन सबमें किसी-न-किसी तरह का दोष अवश्य रहता है। किसी में देशो का आकार बदल जाता है, किसी मे क्षेत्रफल अशुद्ध हो जाता है और किसी में दूरी ठीक नही रहती। धरातल के छोटे-छोटे अंशों जैसे लंका, इंगलैंड अथवा न्यूजीलैण्ड का मानचित्र चपटे धरातल पर बनाना कठिन नही है और न इसमें अधिक अशुद्धियाँ होने की आशंका है। परन्तु सम्पूर्ण भूमण्डल के धरातल का चपटे कागज पर शुद्ध रूप से प्रक्षेप करना अति कठिन है।

शुद्ध मानचित्र में आकार, क्षेत्रफल और स्थिति का ठीक-ठीक होना आवश्यक है। परन्तु चपटे नकशे में तीनो बातों का एक साथ शुद्ध होना असम्भव है। इसीलिए इनमें से एक-न-एक का त्याग किये बिना शेष दोनों का शुद्ध होना सम्भव नही है। इनमे से किसका त्याग करके किसको ग्रहण किया जाता है, यह बात मानचित्र जिस उपयोग के लिए बनाया जाता है उस पर निर्भर है। यदि हम ऐसा नकशा चाहते है, जिसमें केवल क्षेत्रफल की शुद्धता का महत्व है तो हमे आकार शुद्ध होने की विशेष चिन्ता नहीं होनी चाहिए। इसलिए ऐसे मानचित्रों में, जिनमें भूमण्डल का शुद्ध क्षेत्रफल दिखाया गया है, यदि देशो के आकार विचित्र देख पड़ें तो आश्चर्य नहीं।

इसी प्रकार यदि हम किसी मानचित्र में भूमण्डल के देशों के आकारों की शुद्धता चाहते है तो हमें नकशों के विभिन्न भागों में विभिन्न पैमानों का उपयोग करना पड़ेगा, क्योंकि एक ही पैमाने पर गोले के विभिन्न भागों का आकार शुद्ध रूप से कागज पर बनाया नही जा सकता। देशों का शुद्ध आकार दिखानेवाले नक्शों का रूप ग्लोब पर दिखाये गये रूप से सर्वथा भिन्न होता है।

नकशा बनाते समय किस प्रणाली का प्रयोग किया जाय इसके लिए यह सदैव ध्यान रहे कि नकशा किस काम के लिए बनाया जाता है। हम यदि नकशे के प्रत्येक भाग का क्षेत्रफल शुद्ध चाहते है तो हमें देशों के आकार की शुद्धता को भूलना होगा। यदि हम प्रत्येक स्थल के छोटे-छोटे अंशों के आकार की शुद्धता चाहते हैं तो हमें नक्शों के विभिन्न भागो की लम्बाई-चौड़ाई में विभिन्नता लानी पड़ेगी और बड़े स्थलों के आकार की शुद्धता त्यागनी पड़ेगी। हम ऐसा भी कर सकते है कि कुछ अंशों में देशों के आकार और क्षेत्रफल दोनो ही शुद्ध रहे।

वायुयानों और जलयानों के चलानेवालों के लिए जिन नकशों की आवश्यकता होती है, उनमें दिशाओं की शुद्धता आवश्यक है। इस प्रकार के नकशे के केन्द्र से अन्य स्थानो की दिशा का ज्ञान ठीक-ठीक होना चाहिए। यहाँ पर हम कुछ उन प्रमुख प्रणालियों का उल्लेख करेंगे, जिनके द्वारा पृथ्वी के मानचित्रो के प्रक्षेप बनाये जाते हैं।

ढोल-प्रणाली

इस प्रणाली में ग्लोब पर कागज का एक ढोल इस प्रकार चढा दिया जाता है कि सब-की-सब भूमध्य रेखा ढोल को छूती रहती है। गोले के शेष भागों को इतना फैलाया जाता है कि वे सब ढोल को छूने लगते है। फिर ढोल को खोल देते है। इस ढोल पर अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ समकोण बनाती हुई समानान्तर रहती हैं। ध्रुव को एक बिन्दु द्वारा न दिखाकर एक सीधी रेखा द्वारा दिखाया जाता है। इससे किन्हीं दो देशान्तर रेखाओं के बीच का क्षेत्रफल वास्तविक से अधिक दिखाई देता है। इस प्रणाली में दो प्रकार के प्रक्षेप मुख्य है—(१) मर्केटर (२) मोलवीड।

१—मर्केटर-प्रोजेक्शन—इसका सिद्धान्त काफमैन नामक एक जर्मन ने निकाला था। इस प्रणाली से बने नकशों के उत्तरी भाग अपने वास्तविक विस्तार से कहीं अधिक बढ़ जाते है, जैसे ग्रीनलैंड देखने में अफ्रीका के बराबर और भारत से आठ गुना बड़ा लगता है। परन्तु वास्तव में भारत का क्षेत्रफल १७,६६,६५० वर्गमील, ग्रीनलैण्ड का केवल ८,५०,००० वर्गमील तथा अफ्रीका का १,१५-००,००० वर्गमील अर्थात् ग्रीनलैण्ड से लगभग १४ गुना अधिक है।

इस तरह के प्रक्षेप में ज्यों-ज्यों अक्षांश ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों पूर्व-पश्चिम की दूरी यथार्थ दूरी से कहीं अधिक होती जाती है। ८०° अक्षांश के आगे के भाग ऐसे प्रक्षेप में इतने अधिक असत्य प्रतीत होते है कि वे इस नकशे में दिखाये ही नहीं जाते। परन्तु भूमध्य रेखा के पासवाले प्रदेशों के आकार में अधिक अन्तर नही पड़ता है। इसमें एक विशेष बात यह है कि किन्ही दो स्थानों के बीच में एक सीधी रेखा खीच दी जाय तो वह सभी देशा-न्तर रेखाओ को एक ही कोण पर काटेगी। इस प्रकार यदि जहाज का कप्तान इस कोण को नाप ले और उसी के अनुसार अपना रास्ता पकड़े, तो उसे अपनी दिशा के बदलने की आवश्यकता न पड़ेगी। दो स्थानों को जोड़ने-वाली इस रेखा को 'दिशासूचक' रेखा कहते है। इस प्रकार स्थल-भागों के नकशों के बनाने के लिए यह फैलाव उपयुक्त

नहीं है, क्योंकि इससे स्थल-भागों के आकार बिगड़ जाते हैं और क्षेत्रफल तथा पूर्व-पश्चिम की दूरी का ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रोजेक्शन का उपयोग प्रायः जहाज़ों का मार्ग, समुद्र-धारा तथा हवा का मार्ग दिखाने के लिए ही होता है।

२—मोलवीड-प्रणाली—यह मर्केटर-प्रोजेक्शन प्रणाली से बिलकुल उल्टी है। इसमे यद्यपि भिन्न-भिन्न भागो के क्षेत्रफल ठीक दिखाई पड़ते हैं, तथापि उनके आकार बिगड़ जाते हैं। इसमें पृथ्वी को अंडाकार नक्शे से दिखाया जाता है। अक्षांश रेखायें सब सीधी रहती हैं। मध्यवर्ती देशान्तर रेखा भी सीधी रहती है। शेष सब देशान्तर रेखायें दीर्घ वृत्ताकार होती हैं और भूमध्य रेखा को समान भागों में विभाजित करती हैं। केवल ९०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखायें एक पूरा वृत्त बनाती हैं। १८०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखायें विशाल दीर्घ वृत्त बनाती हैं। इस प्रक्षेप में गोला उत्तर-दक्षिण की दिशा में जितना दब गया होता है, उतना ही वह पूर्व-पश्चिम की दिशा में बढ़ गया होता है। इस प्रकार सब प्रदेशों का क्षेत्रफल समान रहता है। ग्रीनलैंड और अफ्रीका का क्षेत्रफल भी वास्तविक दिखाई देता है। खनिज, वनस्पति, जाति, राज्य, आदि के दिग्दर्शन में देशों का असली क्षेत्रफल दिखाया जाना बड़ा आवश्यक होता है। इसलिए इस प्रकार के नक्शों में यह समक्षेत्र-फलदर्शक अंडाकार
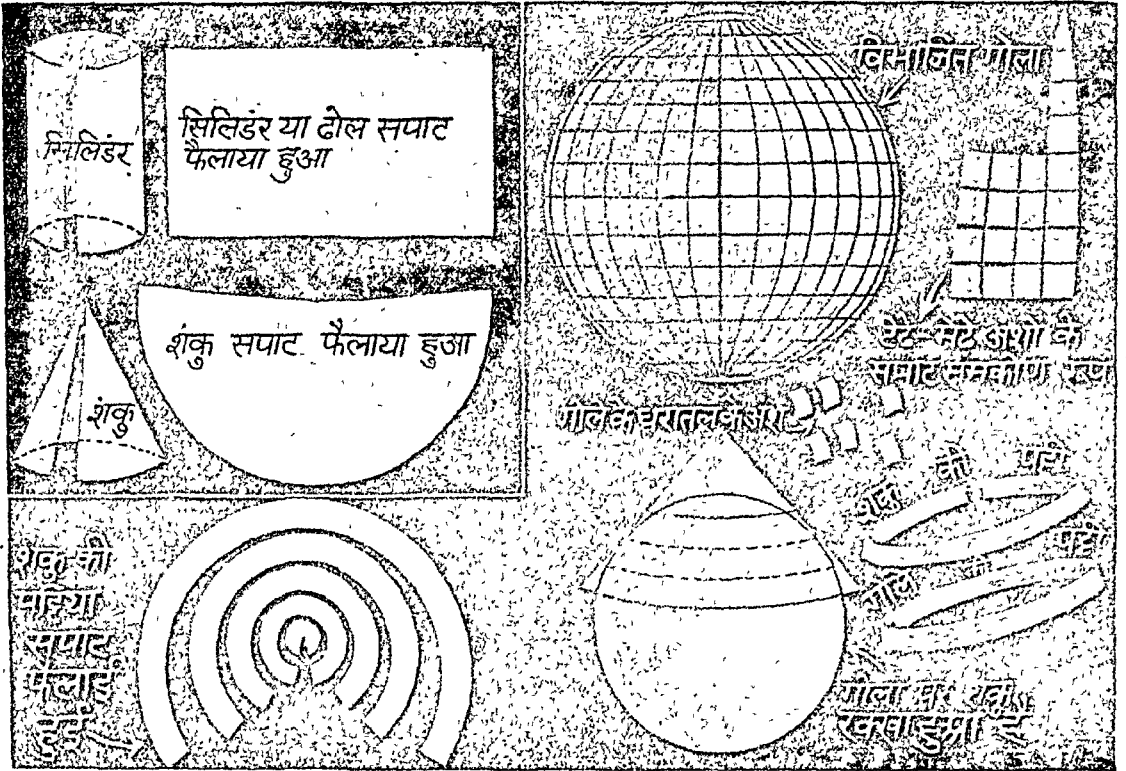
शंकु-प्रक्षेप का सिद्धान्त

गोलाकार पृथ्वी के धरातल को सपाट कागज पर चित्रित करने में कठिनाई होने के कारण पृथ्वी शंकु (कोन) या फिर सिलिंडर (ढोल) की भीतरी सतह पर फैली हुई कल्पित की जाती है। शंकु अथवा सिलिंडर को सपाट फैलाने पर जो रूप मिलेगा, वह ऊपर दिखाया गया है। यदि गोले को छोटे-छोटे समान आकार के चतुर्भुजों में विभाजित किया जाय तो वे टुकड़े सपाट फैलाये जा सकेंगे। किंतु यदि ऐसे ही सपाट चतुर्भुज टुकड़े जोड़े जायं तो उनसे गोला नहीं बन पायगा। इसी तरह शंकु से काटी गई पट्टियाँ गोले से काटी गई पट्टियों जैसी तो होंगी, पर शंकु की पट्टियाँ जहाँ सपाट फैलाई जा सकती हैं, वहाँ गोले की नहीं; और न शंकु की पट्टियां जोड़कर गोला ही बनाया जा सकता है। प्रस्तुत चित्र में शंकु और सिलिंडर दोनों के आधार पर पृथ्वी के मानचित्र के प्रक्षेप का सिद्धान्त समझाया गया है।
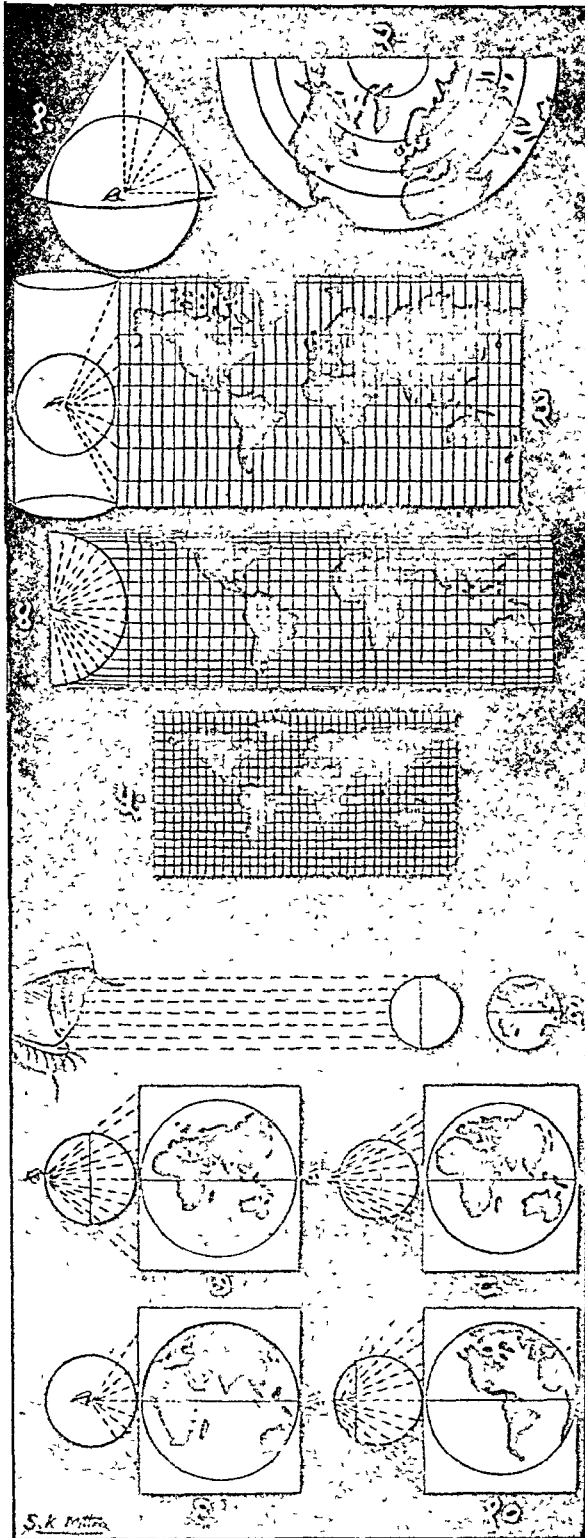
प्रक्षेप बड़ा उपयोगी है। इससे दूरी और दिशा में भी बहुत अन्तर आ जाता है।

शंकु-प्रक्षेप

पृथ्वी के नकशे बनाने का दूसरा प्रमुख साधन शंकु-प्रक्षेप है। इसमें कागज की एक कोनेवाली टोपी ग्लोब को पहना दी जाती है, जो उसे ४५° अक्षांश पर चारों ओर छूती है। इसी टोपी पर नकशे का जाल फैलाया जाता है। इस प्रणाली में यह विशेषता है कि जिस अक्षांश को यह टोपी छूती है, वह तथा उसके आस-पास के स्थान इस पर ठीक-ठीक दिखाये जा सकते हैं। इस प्रणाली में देशान्तर रेखायें सीधी रहती हैं, जो ऊपर या नीचे बढ़ाने से एक बिन्दु पर मिल जाती हैं और अक्षांश रेखायें वृत्त के भाग होती हैं, जो उस बिन्दु को केन्द्र मानकर खींचे जाते हैं। इस प्रणाली में भी दो प्रकार के प्रक्षेप मुख्य हैं—(१) साधारण शंकु-प्रणाली; और (२) बोनकृत परिष्कृत शंकु-प्रणाली।

साधारण शंकु-प्रणाली पृथ्वी के छोटे-छोटे भागों के नकशों के बनाने के काम में अधिक आती है। किन्तु बहुत बड़े-बड़े भागों के नकशों के बनाने में इससे सहायता नहीं ली जाती। इस प्रोजेक्शन में ध्रुव के निकटवर्ती ऊँचे अक्षांशों का ठीक नकशा नहीं बनता, क्योंकि इसमें ध्रुव को बिन्दु के रूप में नहीं दिखलाया जा सकता। उसे वृत्त के एक भाग के रूप में दिखाया जाता है।

बोनकृत परिष्कृत शंकु-प्रोजेक्शन में देशान्तर रेखायें सीधी न खींची जाकर गोलाई लिये हुए खींची जाती हैं, जिससे न केवल अक्षांश ही ठीक-ठीक दिखाये जाते हैं, बल्कि देशान्तर भी। साधारण त्रिकोण की अपेक्षा इसमें अधिक दूर तक शुद्धता होती है। जिस प्रकार ढोल-प्रक्षेप में भूमध्य-रेखा के आस-पास के भाग का नकशा शुद्ध बनता है, उसी प्रकार इस प्रक्षेप में उन भागों का नकशा शुद्ध बनता है, जो शंकु को ग्लोब पर पहनाने से छूते हैं। इस प्रक्षेप की सहायता से नकशे बड़ी सरलता से बनते हैं। किसी एक महाद्वीप या देश का नकशा बहुधा इसी की सहायता से बनाया जाता है। नकशा बनाने की इस प्रणाली में ध्रुव की ओर तथा किनारों की देशान्तर रेखाओं

पृथ्वी के मानचित्रों में प्रयुक्त कुछ प्रसिद्ध प्रक्षेप और उनके सिद्धान्त

१—२. शंकु प्रक्षेप या कोनीकल प्रोजेक्शन; ३. ढोलनुमा मर्केटर प्रोजेक्शन; ४. सम-क्षेत्रफलवाला प्रोजेक्शन; ५. समानांतर प्रोजेक्शन; ६. आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन; ७. स्टीरिओग्राफिक प्रोजेक्शन; ८. ग्लोब्यूलर प्रोजेक्शन; ९. केन्द्रीय प्रोजेक्शन; १०. दो-तिहाई प्रक्षेप।

के निकट त्रुटियाँ आ जाती हैं। इसलिए यह ध्रुव-प्रान्त तथा बहुत अधिक दूर की देशान्तर रेखाओंवाले भागों के नकशों के बनाने के लिए उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार इस प्रणाली का उपयोग लम्बे आकार के देशों के नकशे बनाने में तो अधिक किया जाता है, परन्तु चौड़े देशों के नक्शे बनाने में कम।

इस प्रोजेक्शन की मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें ध्रुव की ओर तो पृथ्वी के भाग एक दूसरे के बहुत निकट हो जाते हैं और भूमध्य रेखा की ओर एक दूसरे से बहुत दूर।

आरथोग्राफिक प्रक्षेप

एक तीसरी प्रणाली आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन कहलाती है। यदि हम पृथ्वी के गोले को बहुत दूर से देखें और यह समझें कि हमारे नेत्रों से ज्योति की रेखायें तिरछी न पड़कर गोलार्द्ध पर सीधी पड़ती हैं तो एक विशिष्ट प्रकार का प्रक्षेप बनेगा। उसे 'सीध खींचा हुआ' अथवा 'आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन' कहते हैं।

इस प्रक्षेप पर बने नकशों में जो भाग नेत्रों के सामने पड़ता है, वह आकार और विस्तार में लगभग शुद्ध बनता है, परन्तु जो भाग ऊपर-नीचे अथवा इधर-उधर पड़ता है, वह त्रुटिपूर्ण रहता है और वहाँ का दिखाया हुआ क्षेत्रफल यथार्थ क्षेत्रफल से छोटा होता है। ध्रुव-प्रदेशों के नकशे बनाने के लिए यह सर्वोत्तम प्रक्षेप है। इस प्रक्षेप से ऐसा मालूम होता है जैसे कि किसी बड़ी दूरबीन की सहायता से बड़ी दूर से पृथ्वी के गोलार्द्ध का फोटो खींचा गया हो।

अजिम्युथल प्रक्षेप

आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन से कुछ विभिन्नता लिये हुए एक प्रोजेक्शन है, जो 'अजिम्युथल प्रोजेक्शन' कहलाता है। इस प्रक्षेप में ध्रुव को केन्द्र मानकर अक्षांशों के वृत्त समान दूरी पर खींचे जाते हैं और समान दूरी पर ही देशान्तर रेखायें भी इस प्रकार से खींची जाती हैं कि वे सब ध्रुव पर मिलती हैं और बाहर की ओर समान दूरी पर फैली रहती हैं।

स्टीरिओग्राफिक प्रक्षेप

आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन में केवल नकशों का मध्य भाग ही लगभग यथार्थ बनता है और किनारे के भाग बहुत घने हो जाते हैं, इसलिए एक नई प्रणाली का आविष्कार हुआ। इस प्रणाली को 'स्टीरिओग्राफिक प्रोजेक्शन' कहते हैं। इसका भी प्रयोग गोलार्द्धों के नकशे बनाने के काम में होता है। पहले इसका व्यवहार एटलस में देशों के नकशे बनाने में अधिक होता था, किन्तु अब ऐसा नहीं होता। इस प्रोजेक्शन में अक्षांश और देशान्तर रेखायें तथा उनके कोण ठीक-ठीक बनते हैं, जिससे नकशे की रूपरेखायें भी इससे ठीक बन सकती हैं। किन्तु छोटे-छोटे पैमाने के ही नकशे इसमें बन सकते हैं। इससे बड़े पैमानों के नकशों का बनाना कठिन है, क्योंकि उस दशा में अक्षांशों और उनके कोणों के शुद्ध बनने के कारण बहुत बड़े कागज की आवश्यकता पड़ेगी। इसमें किनारे की ओर का क्षेत्रफल यथार्थ क्षेत्रफल से अधिक बढ़ जाता है।

इस लेख के साथ के मानचित्रों में और भी अनेकों प्रकार के प्रक्षेपों का वर्णन किया गया है। विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के प्रक्षेपों का आविष्कार किया है। ऊपर के वर्णन से यह बात तय हो जाती है कि इनमें से एक भी प्रक्षेप ऐसा नहीं है, जिसमें ग्लोब का नकशा यथार्थतः सही दिखाया गया हो। किसी में आकार में त्रुटि पड़ जाती है तो किसी में क्षेत्रफल में। परन्तु किसी एक बात की पूर्ति किसी एक विशेष प्रक्षेप से हो ही जाती है। इस प्रकार विविध आवश्यकताओं के लिए विभिन्न प्रक्षेपों का उपयोग करना पड़ता है। इसी लिए इतने प्रकार के प्रक्षेपों की आवश्यकता पड़ी और उनका आविष्कार किया गया।

वायुयान द्वारा भूक्षेत्रों का सर्वेक्षण

नकशे बनाने के काम में पिछले दिनों एक बिल्कुल नये और अत्यधिक उपयोगी साधन का प्रयोग होने लगा है, जिसकी बदौलत विशाल और दुर्गम क्षेत्रों के मानचित्र आश्चर्यजनक कम समय में बनाना संभव हो गया है। यह साधन है वायुयान द्वारा धरातल का सर्वेक्षण, जो फोटोग्राफी की मदद से किया जाता है। इस कार्य के लिए अभीष्ट क्षेत्र को सुविधानुकूल पट्टियों में विभाजित करके, विशेष प्रकार के स्वयंक्रिय कैमरा (फोटो लेने के यंत्र) से सुसज्जित वायुयान को ऊपर से उड़ाया जाता है और ऊपर आसमान से उस क्षेत्र के फोटो-चित्र ले लिये जाते हैं। पूरे क्षेत्र के सर्वेक्षण के लिए कई उड़ानें भरनी पड़ती हैं, कारण एक ही उड़ान में समूचे क्षेत्र का फोटो नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार जब कई फोटो सिलसिलेवार ले लिये जाते हैं, तब उन्हें जोड़कर विधिवत् उक्त क्षेत्र की एक सम्पूर्ण झाँकी प्राप्त कर ली जाती है। इन्हीं फोटो-चित्रों के आधार पर सामान्य विधि से क्षेत्र के अभीष्ट पैमाने के मानचित्र बना लिये जाते हैं। ये फोटो दो प्रकार के उतारे जा सकते हैं—एक तिरछा और एक सीधा। प्रथम प्रकार के फोटो बड़े पैमाने के नकशे बनाने के लिए और दूसरी तरह के छोटे पैमाने के नकशे बनाने के लिए उपयोगी होते हैं।
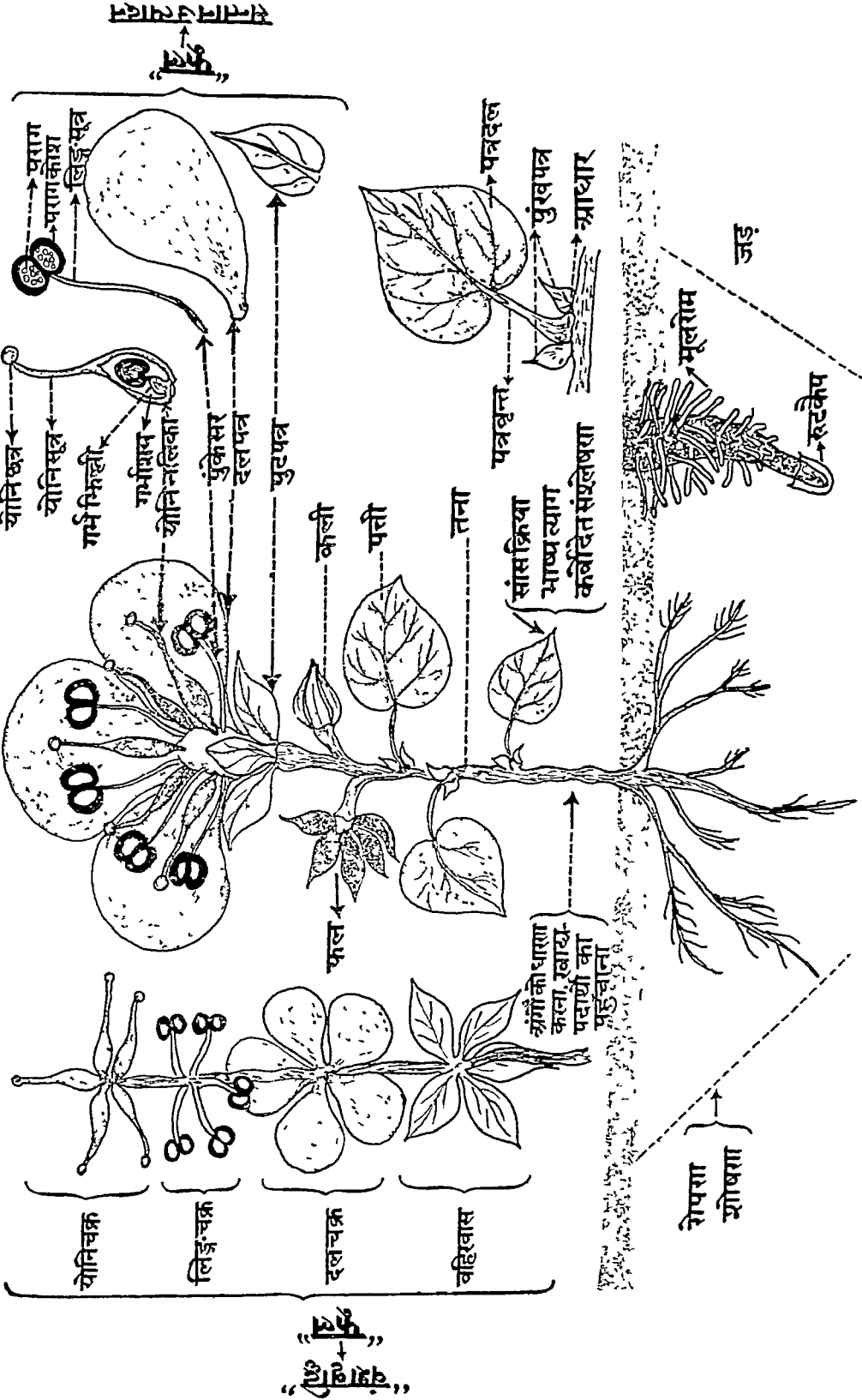
पौधे का अंग-विधान

प्रस्तुत मानचित्र में एक कल्पित उदाहरण लेकर पौधे के अलग-अलग अंगों की रचना समझाई गई है। [चित्र — लेखक द्वारा]
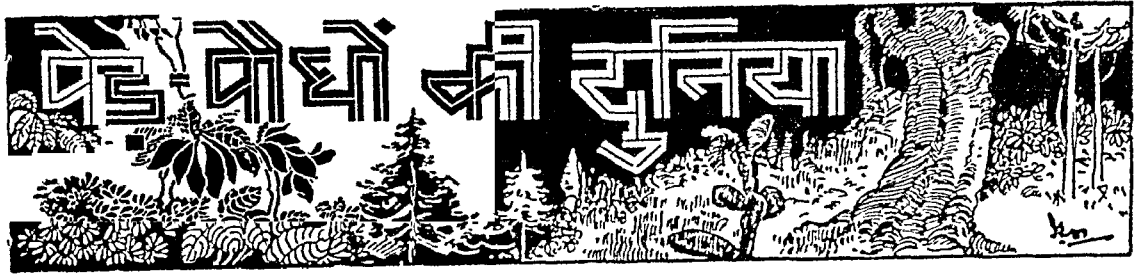
पौधे का अंग-विधान

इस स्तंभ के अंतर्गत पिछले प्रकरण में हम वनस्पति-जगत् के विस्तार और उसके प्रधान अंगों का संक्षेप में पर्यालोचन कर चुके हैं। इस लेख मे पौधों की रचना और उनके अंगों का दिग्दर्शन कराया गया है।

आपको विदित हो चुका है कि दुनिया में अनेक भाँति के उद्भिज हैं। इनकी बनावट और रहन-सहन की अनेक बातें जानने के लिए कदाचित् आप उत्सुक होंगे। इनके खान-पान और जीवन-मरण संबंधी कितने ही प्रश्न आपके हृदय में उठ रहे होंगे। फफूंदी में भी जीव है, यह सुनकर कौन विस्मित न होगा! अमरबेल और तुंबिलता के आचरण पर किसे घृणा न उत्पन्न हो रही होगी! परोपजीवी पक्सिनिया और बैक्टीरिया के प्रकोप की सम्भावना पर किसका चित्त अधीर हो विचार-सागर में गोते न लगा रहा होगा! सारांश यह कि पेड़-पौधो के विषय की कितनी ही बातें जानने के लिए आप उत्सुक होंगे। परन्तु इनकी चर्चा तभी की जा सकती है, जब हम पौधो की रचना और आकृति से भली भाँति परिचित हों। इसलिए सबसे पहले हमें इसी की जाँच करनी चाहिए।

पौधे के अंग

हमारे हर काम के लिए शरीर में अलग-अलग अंग है। चलने-फिरने को पाँव, काम-काज के लिए हाथ, खाने-पीने के लिए मुँह और साँस लेने के लिए फेफड़े हैं। गाय-बैल, मोर-पपीहा, मेढक-मछली आदि के भी अलग-अलग अंग होते हैं; लेकिन आप देख ते हैं कि कुछ जन्तु ऐसे भी हैं कि जिनमें अंग स्पष्ट नहीं होते। केंचुए को सभी ने देखा होगा। देखने में इसके नाक-कान और हाथ-पैर नही होते, लेकिन फिर भी इसके किसी भी काम मे रुकावट नही होती। ऐसे ही और भी बहुत-से छोटे-छोटे जन्तु हैं, जिनमें अलग-अलग अंग दिखाई नही देते। पेड़-पौधों की भी ठीक यही दशा है। ऊँचे दरजे के पेड़ो में, जैसा कि आप देख चुके है, हर एक काम के लिए हमारे-आपके जैसे अंग है। इन्हें पृथ्वी में अंकुरित करके उसके बूँद-बूँद जल और कण-कण नमकों से आहार इकट्ठा करने को एक अंग है, तो इन अकार्बनिक वस्तुओं को हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस के कार्बन से मिलाकर सूर्य की किरणो की सहायता से माड़ी और शक्कर में बदलकर अपने ही लिए नही, वरन् सारी दुनिया के लिए आहार तैयार करने के लिए दूसरा। इसी तरह इनकी जाति को चिरस्थाई बनाकर दूर-दूर देशों में फैलाने के लिए तीसरा अंग है। सारांश यह कि इनमें जड़, तना, पत्ती, फूल, फल और बीज होते है, जिनके अलग-अलग काम है (दे० पृष्ठ ५४८ का चित्र)। क्षुद्र जाति के जीवो की भाँति नीची कोटि के पेड़ों में भी प्रकट अंग नही होते। बैक्टीरिया तथा क्लैमाइडोमोनस की भाँति के एककोष्ठी जीवों मे तो आहार-विहार की सारी क्रियायें अति सूक्ष्म जीवद्रव्य के बिन्दु के अन्दर ही होती है।
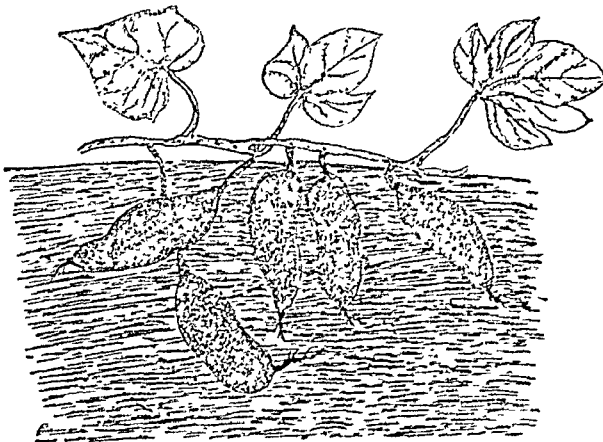
शकरकन्द
जिसकी जड़ गोदाम का काम देती है। [चित्र—लेखक द्वारा]

पौधे का पृथ्वी के अन्दर का भाग—'जड़' और उसके कर्त्तव्य

प्राय. सभी साधारण पौधों मे कुछ भाग जमीन के अन्दर और कुछ ऊपर रहता है। जमीन के नीचे के भाग को 'जड़' कहते हैं। यह अन्दर-अन्दर दूर तक फैली रहती है (पृ० ५४८ का चित्र)। जड़ों के अंतिम भाग पर 'मूल रोम' होते है (दे० उक्त पृष्ठ का चित्र)। ये आसानी से दिखाई नहीं देते, सूक्ष्मदर्शक से ही देखे जा सकते है। जड़ों के सिरे पर दरजी की अँगूठी-जैसी एक ढकनी होती है, जिसे 'रूट कैप' या 'मूलछद' कहते है। यह जड़ के कोमल भाग की रक्षा करती है। मूल रोमो द्वारा जड़ें जमीन के अन्दर जल मे घुले नमको से आहार खीचती है। पौधे को जमीन में रोपना और उसके लिए खाद्य पदार्थो का संग्रह करना ही जड़ का मुख्य काम है। कभी-कभी जड़ें दूसरे काम भी करती हैं। इसीलिए इनमें परिवर्तन भी पाये जाते हैं। कोई-कोई जडे पेड़ों मे गोदाम का काम देती हैं। मूली, शकरकन्द (दे० पृष्ठ ५४९ का चित्र) और शतावर की जड़ें इसी भाँति की हैं। जड़ो के और भी अनेक रूप-रूपान्तर है। जब हम जड़ों के संबंध में अन्य बातों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे तो इस ओर भी ध्यान देंगे।
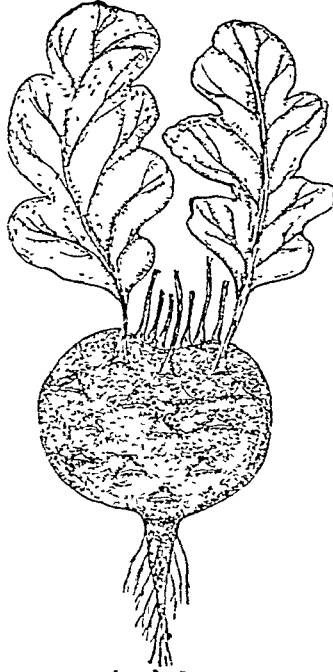
गाँठ गोभी
जिसमें तना खाद्य-भांडार का काम देता है।
[चित्र—लेखक द्वारा]

पौधे के पृथ्वी के ऊपर के भाग—तना, पत्ती, फूल, फल और बीज

पौधे के जमीन के ऊपर के भाग में तीन मुख्य अंग होते हैं—तना और शाखें, जो कठीली और ऊपर उठी रहती ह; पत्तियाँ, जो पतली और चपटी होती है; और फूल, जो रंग-बिरंगे होते है। वास्तव में फूल भी पत्तियों का रूपान्तर है। तना और शाखें पत्तियों को धारण करती हैं और जड़ों द्वारा संचित घोलों को इनमे पहुँचाती हैं। यही इनका मुख्य काम है। इसके अलावा तने कभी-कभी अन्य काम भी करते हैं। गाँठ गोभी (इसी पृ० का चित्र) अदरक और जिमीकन्द के तने खाद्य पदार्थों के लिए भांडार का काम देते हैं। जड़ की भाँति तने के भी अनेक भेद और रूप है। आगे चलकर जब हम तने के सम्बन्ध में विचार करेंगे, तब हमें बहुत-सी बातों का पता लगेगा।

पत्तियाँ क्या करती हैं?

पत्तियाँ पौधों में अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं। ये पर्णहरिम
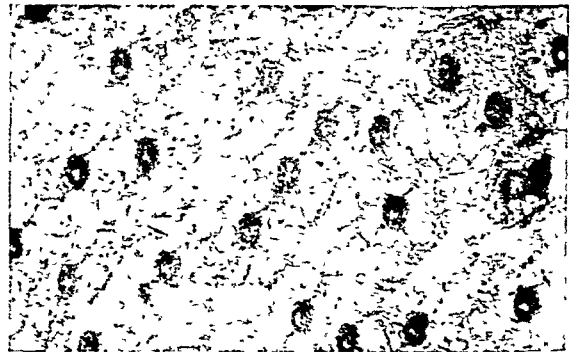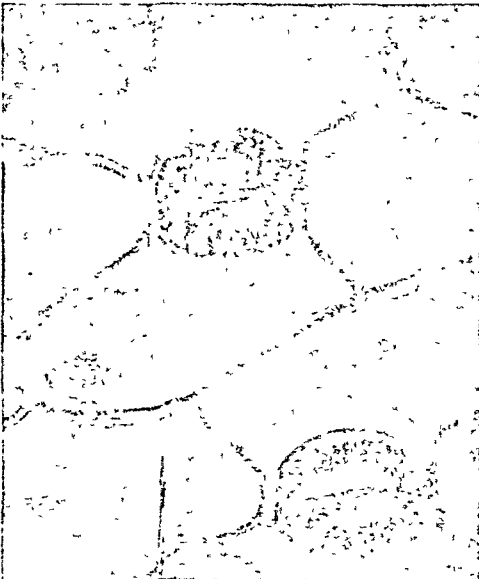
पत्तियों के रन्ध्र या स्टोमाटा
(दाहिनी ओर) सुदर्शन की पत्ती के ऊपरी पर्त का सूक्ष्मदर्शक से लिया गया फोटो। काले निशान स्टोमाटा हैं। (बाईं ओर) इसी पर्त्त के भाग का अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक से खींचा गया फोटो।
[फोटो—वि० शर्मा]

के द्वारा हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस के कार्बन और पृथ्वी के जल से शक्कर और माड़ी बनाती है। पौधे के कलेवर की रचना और बाढ़ के लिए कार्बो-हाइड्रेट के साथ-साथ दूसरी चीजो की भी जरूरत होती है। ये दूसरी वस्तुएँ कहाँ से आती है? हम सभी यह जानते है कि पौधों को खाद की आवश्यकता होती है। खेत बोने के पहले किसान खेत पाँसते है। माली भी समय-समय पर फुलवाड़ी के पौधों में खाद डालता रहता है। खाद मे तरह-तरह के नमक रहते है। इन्ही नमकों और कार्बो-हाइड्रेटों से पेड़ प्रोटीन तैयार करते हैं, जिनसे न केवल उनके शरीर ही की वृद्धि होती है, वरन् समस्त संसार के लिए ननों सामान तैयार होता है। कैसी अनोखी बात है! मिट्टी में तो नमक बड़ी सूक्ष्म मात्रा में होते है—इतने कम कि शायद हम लोग मामूली तरीके से उनका पता भी न लगा सकें, केवल रासायनिक विश्लेपण से ही उनका पता चलता है। तब भला पौधे करोड़ों मन सामान—गेहूँ-चना, फल आदि—के लिए उपयुक्त प्रोटीन कैसे संचित कर पाते है? इस काम के लिए पौधों को अपने कलेवर में से होकर घड़ों पानी बाहर फेंकना पड़ता है, तब कही जाकर उन्हे यथेष्ट मात्रा मे नमक मिलते है। विद्वानों ने अनुसन्धान द्वारा पता लगाया है कि एक एकड़ गेहूँ के खेत से फसल भर में लगभग ७४२० मन पानी पौधो द्वारा हवा में जाता है। इसी प्रकार एक एल्म का पेड़, जिसमें अनुमानतः सत्तर लाख पत्तियाँ थीं और जिसकी ऊपरी-निचली सतह का क्षेत्र-फल लगभग ५ एकड़ था, चमकते सूरज के प्रकाश में १२ घटे में २०० मन पानी त्यागता था। पानी को बाहर निकालने का काम पत्तियों द्वारा ही होता है और इसी कारण से ये इतनी पतली होती है। पौधोमें इतनी पत्तियाँ होने का यही कारण है। पत्तियो में नन्हे-नन्हे अनेक छेद ('स्टोमाटा' या 'रन्ध्र') होते है। इन्हें हम सूक्ष्मदर्शक से देख सकते है (पृ० ५५० के निचले चित्र)। इन्ही के द्वारा पत्तियों में हवा पहुँचती है और जल बाहर निकलता रहता है।
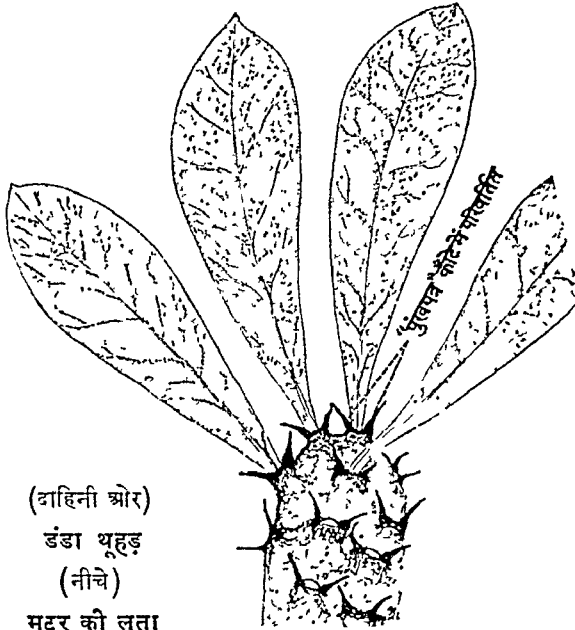
(दाहिनी ओर) डंडा थूहड़ (नीचे) मटर की लता [चित्र—लेखक द्वारा]

पत्ती के मुख्य भाग

सम्पूर्ण पत्ती के तीन भाग होते है—पत्रदल (ब्लेड), पत्र-वृन्त (स्टाक) और आधार (बेस) (पृ० ५४८ का चित्र)। पत्तियाँ तरह-तरह की होती है। इनकी बनावट, अग्रक या शिखर (एपेक्स), सतह, किनारे और नाड़ीक्रम आदि के अनेक भेद हैं। किसी-किसी पत्ती में आधार के पास एक अंग होता है जिसे पुखपत्र (स्टिप्यूल) कहते है (इसी पृष्ठ के ऊपरी चित्र)। ये दो होते हैं और आधार के अगल-बगल रहते है। इनके भी तरह-तरह के रूपातर है। बबूल और डंडा थूहड़ के काँटे इन्ही के रूपान्तर हैं। मटर के पुखपत्र पत्तियों का काम करते है (दे० इसी पृष्ठ के ऊपरी चित्र)।

आहार संचित करने के अलावा पत्तियाँ कभी-कभी अन्य काम भी करती हैं। नेपेथिस की तूँबी, जिसके संबंध में आप पढ़ चुके है, पत्ती ही का रूपान्तर हैं। प्याज में पत्ती का निचला भाग भांडार

प्याज

'अ' पत्ती का निचला भाग जो गोदाम का काम देता है

का काम देता है। प्याज का वह भाग जो खाने के काम मे आता है, पत्तियाँ ही है (दे० पृ० ५५१ का निचला चित्र)।

फूल

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फूल भी एक प्रकार से पत्ती ही का रूपान्तर है। फूलो के अनेक भेद है। आपने तरह - तरह के फूल देखे होगे—लाल, पीले, नीले, गुलावी, सफेद, रगविरगे! कोई सवृन्त है तो कोई अवृन्त। कोई छोटे, तो कोई वडे। किसी की पँखुडियाँ आपस मे मिली है तो किसी की अलग-अलग है। कोई घटिकाकार है तो कोई तुरही-जैसे। कोई क्षण्डाकार, कोई तितली जैसे। कोई एकान्तवामी है, तो कोई झुड-के-झुड एक ही अक्ष पर भाँति-भाँति के व्यूह की रचना मे। कोई सरस है तो कोई नीरस। कोई इतने सुगधित है कि एक ही फूल फुलवाडी को महका दे, तो कोई ऐसे कि जिनमे गध छू तक नही गई है—करोड़ो फूलो से लदे हुए सैकड़ो पौधे होने पर भी इनकी वास हमारे पास तक नही पहुँचती। लेकिन अनेक भेद होने पर भी इनका ध्येय एक ही है। प्रकृति ने इनकी सृष्टि एक ही अभिप्राय से की है। फूल पौधो की सुन्दरता का ही सार नही, वरन् उनका एक परम आवश्यक अग है। वनस्पति-ससार में निस्सदेह सबसे रोचक कहानी इसी की है। फूल वह नाट्यशाला है, जहाँ पौधो की अत्यन्त गोपनीय लीलाओ का अभिनय होता रहता है। इस रगमच पर कितने ही नट-नटी रूप-यौवन मे मदमाते, मकरंद की उमग मे मदान्ध हो मर्यादा छोड़ नाचते और किलोले करते है। फूलो में दूसरों को आकर्षित करने का सामर्थ्य है। वसत-ऋतु मे मद-मद सुगध से परिपूरित वाटिका की समीर किसके चित्त को चचल नही करती? फूल के अनुपम रूप-रंग पर कौन मोहित नही हो जाता? कमल, गुलाब, चम्पा, चमेली की कौन कहे, साधारण फूलो पर भी मनुष्य ही नही कीट-विहग तक उन्मत्त हो उनके पीछे लगे रहते है। कोई कोई तो यहाँ तक आसक्त हो जाते है कि अनेक कष्ट पाने पर भी इन्हे घेरे रहते है। "भँवर न छोड़े केवकी, तीखे कटक जान।" कभी-कभी तो ये अपनी जान तक की परवाह नही करते। वतख-वेल (एरिस्टो-लोकिया) (दे० इसी पृष्ठ का चित्र) के फूल मे जाकर तो पतिंगे ऐसे फँस जाते है कि एक वार फूल के अन्दर प्रवेश करते ही वे घण्टो तक के लिए कैदी वन जाते है और फिर चाहे जितनी उछल-कूद वे करे और मचले, कई पहर तक वहाँ से निकल ही नही पाते। लेकिन फिर भी इस अजीव आचरण से वे वाज नही आते! क्योकि एक फूल से निकलते ही पुन दूसरे मे जा घुमते है। मक्खी, तितली, भुनगे आदि को भी आपने फूलो को घेरे देखा होगा। कहाँ तक कहे, इन फूलो मे ऐसा जादू है कि घोघे तक इनके पीछे घोघे वने फिरते है! आप समझते होगे कि हमारी भाँति शायद अन्य जीव भी यहाँ सैर करने आते होगे और विवश होकर फूलो के रूप-रग मे यो ही फँस जाते होगे। परन्तु ऐसा नही है। वास्तव मे इन वेचारो को इतनी फुरसत कहाँ, जो फूलो पर खेलने आएँ? ये तो दिन-भर काम करनेवाले परिश्रमी जीव है। ये फूलो के पास जी वहलाने नही आते, वल्कि इस-लिए कि इनको यहाँ भोजन मिलता है। यह मधु और मकरद ही का लोभ है कि जिसके पीछे ये यहाँ आकर मँडराते है।
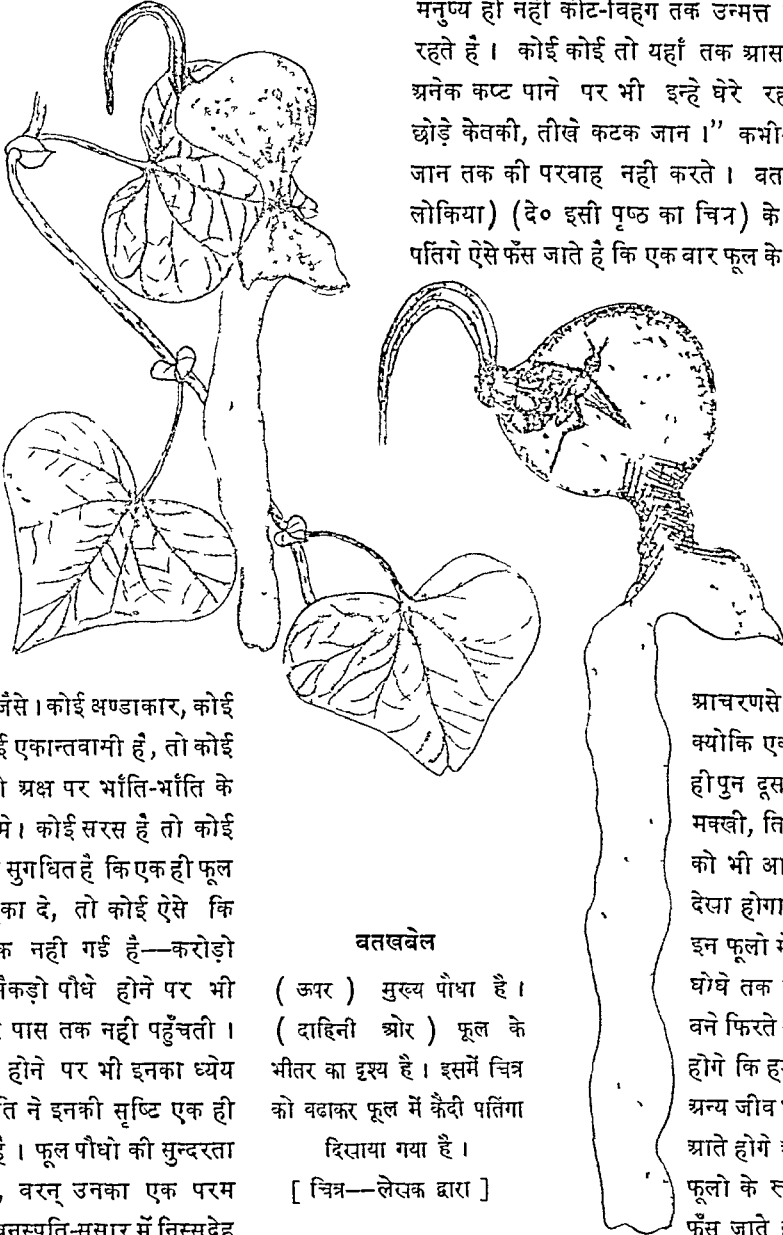
वतखबेल

(ऊपर) मुख्य पौधा है। (दाहिनी ओर) फूल के भीतर का दृश्य है। इसमें चित्र को वढाकर फूल में कैदी पतिंगा दिखाया गया है।

[चित्र—लेखक द्वारा]
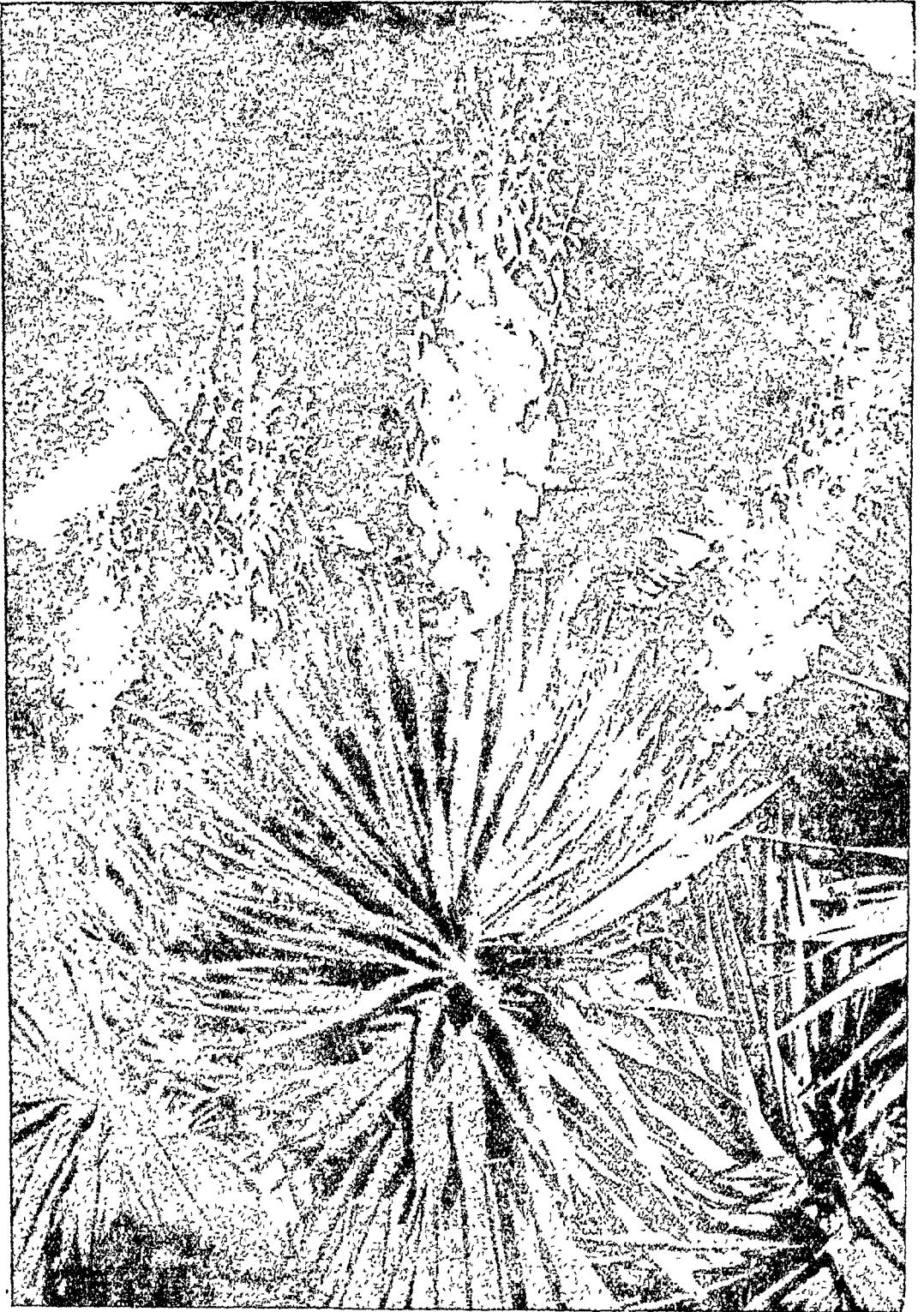
यक्का नामक पुष्पित पौधा

जो अपने गर्भाधान की क्रिया एक विशेष जाति के पतिंगे की सहायता से करता है। [फोटो--श्री० रा० व० सिठोले]

अब आपके सामने दूसरा ही प्रश्न उपस्थित हो गया। आप और भी भ्रम में पड़े होंगे। माना कि कीड़े-मकोड़े फूलों पर इसलिए आते हैं कि यहाँ इनको भोजन मिलता है, परन्तु पौधे को इससे क्या लाभ ? यह मधु और मकरंद की वर्षा किसलिए ? क्या सात पर्त के अन्दर ग्रन्थियों में सुरक्षित यह मधु निष्प्रयोजन चोर और लुटेरों के मजा उड़ाने के लिए ही है ? हम या आप कोई भी इस राय से सहमत न होंगे। जिस पौधे की जड़ें धरती के रत्ती-रत्ती नमक और पाताल के बूंद-बूंद जल से खाद्य पदार्थों को इकट्ठा करने में इतनी कुशल हों; जिसकी पत्तियाँ वायुमंडल की विषैली कार्बन डाइ-आक्साइड से शक्कर और निशास्ता या माड़ी जैसी अमूल्य वस्तुएँ बनाती हों; उसी पौधे के लिए यह धारणा करना कि इसमे मधु और मकरंद केवल इसीलिए है कि दूसरे निकम्मे जीव मौज उड़ाएँ और पौधे को इनसे कोई लाभ न हो, निस्संदेह असंभव है। इसमें हो-न-हो कोई-न-कोई रहस्य है। इसमें अवश्य ही पौधों का कोई-न-कोई बड़ा भारी स्वार्थ होगा। यथार्थ में बात भी यही है और फूलों का रूप, रंग, मधु, पराग, आदि सारा माया-जाल इसी स्वार्थ-साधन के हेतु है। फूलों में पौधों की जननेन्द्रियाँ रहती हैं। इनमें भी नर और मादा होते हैं और जब तक इनका मेल नहीं होता, बीज पैदा नहीं हो सकते। ये जननेन्द्रियाँ अपना कर्त्तव्य दूसरों की सहायता के बिना नहीं कर सकती। इसीलिए इन्हें औरों को रिझा-फुसलाकर तथा किसी-न-किसी तरह फँसाकर अपना काम निकालना पड़ता है। चेतन साधनों की कौन कहे, इस काम को वे जल और पवन जैसे जड़ पदार्थों से भी करा लेते हैं।

फूल और पतिंगों का एक पारस्परिक व्यवहार है। फूलों से पतिंगों को मधु और पराग मिलते हैं और इसके बदले में पतिंगे इनके नर को मादा से मिलाते हैं। कोई-कोई पौधे तो पतिंगों के यहाँ तक अधीन हो गये हैं कि उनमें बिना विशेष जाति के पतिंगे के गर्भाधान ही नहीं हो सकता। जहाँ इस विशेष जाति के पतिंगे नहीं होते, वहाँ ऐसे पौधों में बीज ही नहीं उत्पन्न हो सकते।

यक्का इसी प्रकार का एक अनूठा पौधा है। इसमें सैकड़ों मनोहर रुपहले अण्डाकार पुष्प होते हैं (पृ० ५५३ का चित्र)। परन्तु ये सब सुंदर पुष्प किस काम के ? जब तक यक्का-मॉथ नामक पतिंगा इनमें परागण या सेचन (पालिनेशन) करने को न हो, ये सारे-के-सारे मुरझाकर गिर जाते हैं। इनका सारा-का-सारा पराग धूल की भाँति झड़कर नष्ट हो जाता है। पास ही उपस्थित स्त्रीकेसर या योनिनलिका (कार्पेल) तक उसका एक कण भी नहीं पहुँच पाता। इसीलिए इसके सब-के-सब फूल सूखकर बिना बीज उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाते हैं। कैसी विचित्र लीला है ! आगे चलकर जब इस विषय पर हम विचार करेंगे तब आपको और भी कितनी ही रहस्यमय बातों का पता लगेगा।

(२)

(५) (४) (३) (१)

गुलमोहर का पुष्प

(१) बहिरवास से सुरक्षित पुष्प। (२) पूर्णतया खिला फूल—दलचक्र में ५ दल हैं। (३) बहिरवास और दलचक्र निकाल दिए गए हैं। पुर्ष्येंद्रिय में १० पुंकेसर है। (४) योनिनलिका। (५) फल। [फोटो—वि० शर्मा।]

फूल के मुख्य भाग

साधारण फूल में चार भाग होते हैं। गुलमोहर (दे० इसी पृष्ठ का चित्र), कोकाबेली (चित्र पृ० ५५५), अलामंडा (चित्र पृ० ५५६), गुलाब, या अन्य किसी पूर्ण फूल को लेकर हम इसकी जाँच कर सकते हैं। ऐसे फूल में सबसे बाहर बहिरवास या ब्रह्मदल (केलिक्स) होता है (चित्र पृ० ५४८)। इसमें कई 'पुटपत्र' (सिपेल) होते हैं, जो अलग-अलग (चित्र पृ० ५५५) या एक में जुड़े (चित्र पृ० ५५६) होते हैं। इनकी अनुहार पत्तियों से बहुत मिलती-जुलती होती है। पत्तियों की तरह इनका रंग भी प्रायः हरा ही होता है, परन्तु आकार में 'पुटपत्र' पत्तियों से छोटे होते हैं। जब फूल कलिका के रूप में होता है, तब यही 'पुटपत्र' फूल के भीतरी कोमल अंगों की रक्षा करते हैं। बहिरवास के अन्दर 'दलचक्र' (कोरोला) होता है (दे० इसी पृष्ठ का चित्र तथा पृ० ५४८)। इसमें भी बहिरवास की भाँति 'दल' या पँखुड़ी होती हैं, जो अलग-अलग (पृ० ५५४-५५५ के चित्र) या आपस में जुड़ी (चित्र पृ० ५५६) होती है। दलपत्र पुटपत्र से बड़े और कोमल होते हैं। फूल का रूप, रंग, बनावट

आदि इन्हीं पर निर्भर है। साधारण लोग दलचक्र को ही फूल समझते हैं। दल-चक्र के अन्दर और उससे कुछ ऊपर 'पुष्पेन्द्रिय' (एण्ड्रीशियम) होती है (चित्र पृ० ५४८ एवं ५५४)। इसमें कई पुकेसर (स्टेमेंस) होते हैं। पुंकेसर में लिंगसूत्र (फाइलामेंट) और परागकोश (ऐंथर) ये दो भाग होते हैं (चित्र पृ० ५४८ एवं ५५४)। कोश के अन्दर एक धूल-सी वस्तु होती है, जिसे पराग (पोलेन) कहते हैं। यही पुष्प का नर-अंश है। फूल के बीचोबीच फूल का मादा भाग होता है। इसे 'गर्भकेसर' (पिस्टिल) कहते हैं। इसमें एक या कई 'योनिनलिकाएँ' (कार्पेल) होती हैं। योनिनलिका के तीन हिस्से होते हैं—सबसे नीचे 'गर्भाशय' (ओवरी), इसके ऊपर एक महीन सूत-सी पोली डंडी 'गर्भसूत्र' (स्टाइल), और सबसे ऊपर कुछ उभरा हुआ भाग 'योनि-छत्र' (स्टिग्मा) (दे० चित्र पृ० ५४८ तथा ५५४)। गर्भाशय में नन्हें-नन्हें कण या 'रजोबिन्दु' (ओव्यूल) होते हैं। रजोबिन्दु गर्भाशय में 'गर्भ-झिल्ली' (प्लेसेंटा) पर होते हैं।

सम्पूर्ण फूल की रचना पर विचार करने से हमें भली भाँति ज्ञात हो गया कि उसमें नर और मादा दोनों ही के अंग हैं। किसी-किसी फूल में नर और मादा के अंग पृथक्-पृथक् फूलों में होते हैं और कभी-कभी तो ये पृथक्-पृथक् पौधों में भी होते हैं। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, नर और मादा अंशों के मेल से ही बीज उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। एक ओर परागकोश के अन्दर हजारों नन्हे-नन्हें परागकण हैं और दूसरी ओर गर्भाशय में सुरक्षित गर्भ-झिल्ली पर अनेक रजोबिन्दु (दे० पृ० ५४८ का चित्र)। बीज-उत्पत्ति के लिए इन दोनों का संयोग होना आवश्यक है। इसीलिए परागकणों को योनिछत्र तक पहुँचना चाहिए। इस क्रिया को परागण या सेचन (पोलिनेशन) कहते हैं और पानी, हवा, पतिंगे अथवा अन्य जीव इसके मुख्य साधन हैं। इसीलिए फूलों को पतिंगों को आकर्षित करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से फूल पतिंगों को मधु और कभी-कभी पराग तक देते हैं।
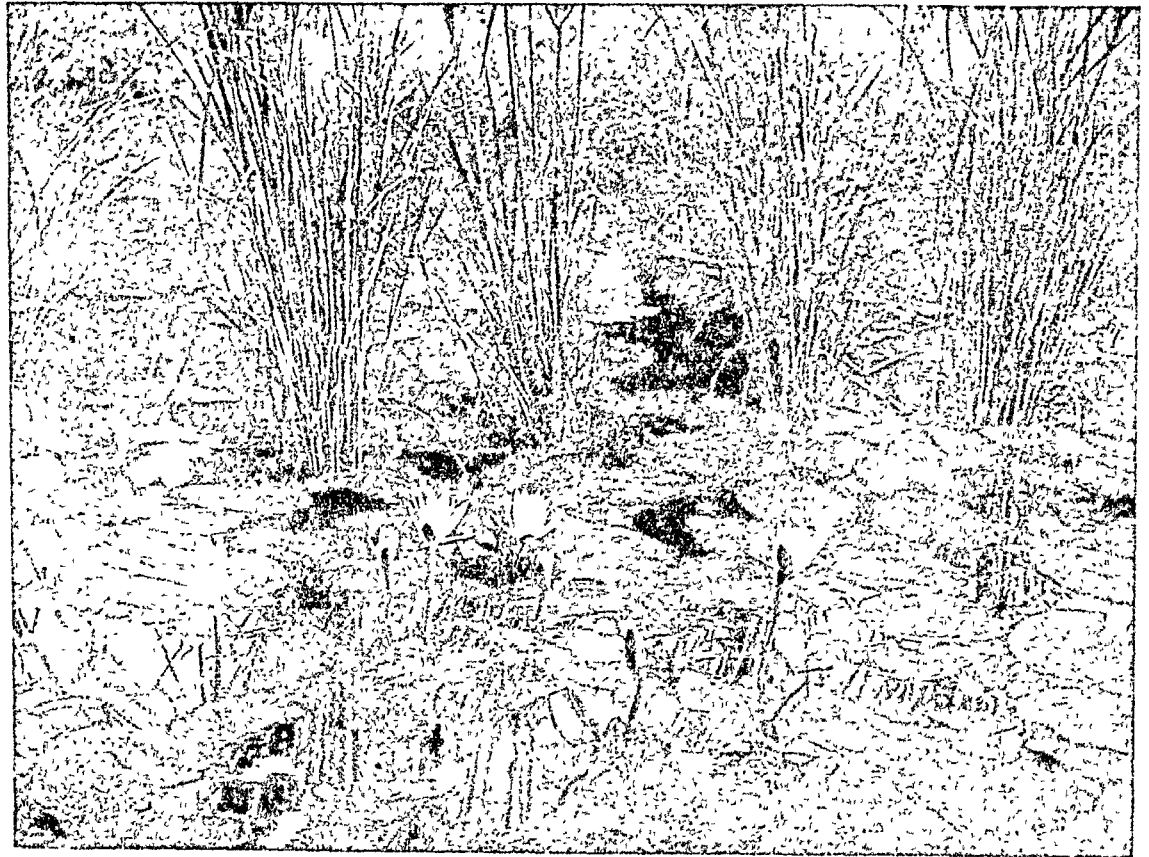
कोकाबेली

तालाबों और पोखरों में अपनी छटा निखराये रहनेवाले इस पौधे के फूल के पुटपत्र अलग-अलग होते हैं। [फोटो—श्री वि० शर्मा।

अलामंडा

इसमें पंखुड़ियाँ आपस में जुड़ी हुई होती हैं। [फ़ोटो—श्री० रा० व० सिठोले।]

खजूर पर लगा हुआ वरगद

सम्भवतः किसी चिड़िया द्वारा इस खजूर पर जो बीज कभी रोपा गया था, वही आज विशाल वरगद का रूप ग्रहण कर इस वेचारे को दवोचे हुए है। [फोटो—श्री० हरिपद चौधरी।]

फल, वीज और प्रसारण

योनिछत्र पर पहुँचने पर परागकण में परिवर्तन होने लगते हैं और अन्त में नर व मादा अंगों का मेल हो जाता है, जिसे गर्भाधान (फर्टिलाइजेशन) कहते हैं। तदनंतर गर्भपिण्ड की रचना होती है। यही समय पाकर वीज हो जाता है। अव गर्भाशय कुछ वढकर मोटा हो जाता है। यही पकने पर फल वन जाता है। फूल में केवल वीज ही नहीं होता, वरन् वीज को दूर-दूर देशों में फैलाने का साधन भी। आप लोगों ने कभी-कभी वरगद या पीपल को आम, जामुन, खजूर (दे० इसी पृष्ठ का निचला चित्र) या अन्य पेड़ पर अथवा मकान की छतों व दीवालो पर उगा हुआ देखा होगा। इनके वीज यहाँ कैसे पहुँचे ? अगर आप विचार करें, तो पता लग जायगा कि ये वीज यहाँ चिड़ियों द्वारा पहुँचे। इन पेड़ों के पके फलों को चिड़ियाँ वड़े चाव से खाती हैं, परन्तु इनके वीज को हजम नहीं कर पाती। इसलिए इनकी वीट के साथ वीज जैसे-के-तैसे वाहर निकल आते हैं, और जहाँ कहीं इनका यह वीट पहुँचता है, उसमें इन पेड़ों के सैकड़ो वीज सम्मिलित रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति पाकर उग आते हैं। इसी पृष्ठ के चित्र में आप जो वरगद का पेड़ देखते हैं, वह आज से कई वर्ष पहले संभवतः इन्हीं चिड़ियों द्वारा खजूर के पेड़ पर वीजरूप में आया था। अव इसने वढ़कर विशाल रूप धारण कर लिया है, और वेचारे खजूर को, जो इसका आश्रयदाता है, यह आज मौत के घाट उतारने पर तत्पर है।

चिड़ियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी पृथ्वी पर फल और वीजों का प्रसारण होता है। कितने ही फल लोग खाने को एक से दूसरी जगह ले जाते है और इस प्रकार उनके वीजों को दूर-दूर देशों में पहुँचाते है। कितने ही फल और वीज हवा में उड़ते रहते है। आपने फागुन और चैत में सेमल के वीज, जिन पर रुई-से रोयें होते हैं, हवा में हजारों की संख्या में उड़ते देखे होंगे। ये इसी प्रकार मीलों चले जाते हैं। कितने ही फल नदियों और समुद्रों में तैरते-तैरते कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचते हैं। कितने जानवरों के शरीर और हमारे कपड़ों में चिपटकर दूर-दूर तक पहुँच जाते हैं।

पौधों की अंग-रचना पर विचार करने से हमे पता लगता है कि इनके भिन्न-भिन्न अंग अलग-अलग काम करते हैं, परन्तु सवका एक ही लक्ष्य है। इन सवका एक ही अभिप्राय एक ही ध्येय है। अपने जीवन-संग्राम में पौधे की सफलता उसके आकार और सौन्दर्य पर निर्भर नहीं, वरन् उसकी सन्तानोत्पादन की शक्ति और प्रसारण की

योग्यता पर ही निर्भर है। इसी लक्ष्य-साधन की पूर्ति में पौधे के सभी अंग हाथ बटाते हैं—जड़ पौधे का पृथ्वी में रोपण करके और पाताल के जल और खाद्य पदार्थों का संग्रह करके तथा पौधे के अन्य अंगों को धारण करके, पत्तियाँ जड़ों द्वारा संचित घोलों और वायुमंडल की कार्बन से शक्कर और निशास्ता की रचना करके; फूल बीज उत्पन्न करके; और फल उनका दूर-दूर देशों में प्रसारण करके। परन्तु पौधे के ये प्रत्येक अंग अपने-अपने कर्त्तव्यों का किस प्रकार पालन करते हैं? जड़ें पृथ्वी के जर्रे-जर्रे से आहार और जल की योजना कैसे करती है? इनके मुकोमल सूत्रवत् रोयें चट्टानों और पत्थरो तक से खाद्य रसो को किस तरह खींचते है? तने में से होकर जड़ों द्वारा संगृहीत पदार्थ पत्तियों तक किस प्रकार पहुँच जाते है? सैंकड़ो फीट नीचे की पृथ्वी के गर्भ की वस्तुएँ गगनचुंबी पेड़ो की चोटी तक पत्ती-पत्ती में क्योंकर पहुँच पाती है? वह कौन-सा यंत्र है, जिसके द्वारा यह क्रिया होती है? वह कौन-सी शक्ति है, जो इसे चलाती है? पत्तियाँ किस प्रकार वायु की कार्बन का उपभोग करती है? वे स्टार्च और शक्कर जैसे अमूल्य पदार्थों की रचना किस प्रकार करती है? वे कौन-सी रासायनिक क्रियाएँ है, जिनसे इन वस्तुओं का संश्लेषण होता है? वे कौन-से कारखाने है, जहाँ ये वस्तुएँ बनती है? इत्यादि-इत्यादि, अनेक प्रश्न हैं, जिनको समझने के लिए हमें पौधों की आन्तरिक रचना पर विचार करना पड़ेगा। केवल इनकी अंग-व्यवस्था जान लेने से ही हम सारी बातों के रहस्य का यथेष्ट ज्ञान नही प्राप्त कर सकते।

पेड़ की टहनी

(दाहिनी ओर) वही बीच से दो फाँक करके दिखायी गयी है। काली लकीरें नसें हैं। [चित्र—लेखक द्वारा]
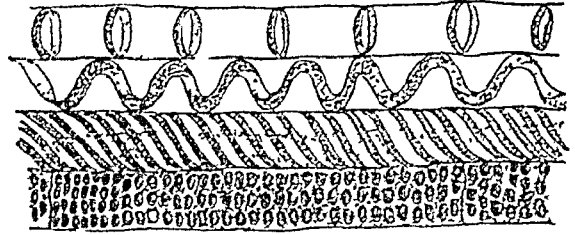
एक नस के अंदर की चित्रकारी

जिसे हम सूक्ष्मदर्शक से देख सकते हैं। [चित्र—लेखक द्वारा]

स्पायरोगायरः की अद्भुत झांकी

सूक्ष्मदर्शक से लिया गया चित्र। [फोटो—नि० शर्मा]

यदि हम अपने किसी भी अंग को ध्यान से देखें, तो हमें तुरन्त पता लग जायगा कि वह बाहर-भीतर एक-सा नही है। उसमें कई पर्तें है, जिनकी आकृति में बड़ा अन्तर है। अपने हाथ ही को ध्यान देकर देखिए। सबसे ऊपर घास की तरह सहस्रों रोयें हैं; फिर खाल है, जिसमें कई पर्तें है; इसके नीचे मांस, रुधिर, नाड़ी, मज्जा, हड्डी आदि है। यही बात आपके अन्य अंगों के सम्बन्ध में भी है। इसी प्रकार पौधे के अंगों की रचना भी है। मिट्टी या पत्थर के ढेले की भांति ये भीतर-बाहर एक-से नहीं होते। इनकी रचना में बड़ा अन्तर होता है। इनमें भी कई पर्तें होते है। इसका आपको भली भांति अनुभव होगा। इसकी जांच भी बडी सुगमता से की जा सकती है। किसी पौधे की टहनी को ले लीजिए। आप इसमें स्पष्ट देख सकते है कि सबसे ऊपर छाल, फिर अंतर-छाल, उसके अन्दर गूदा और गूदे के बीच-बीच में कई नसें हैं
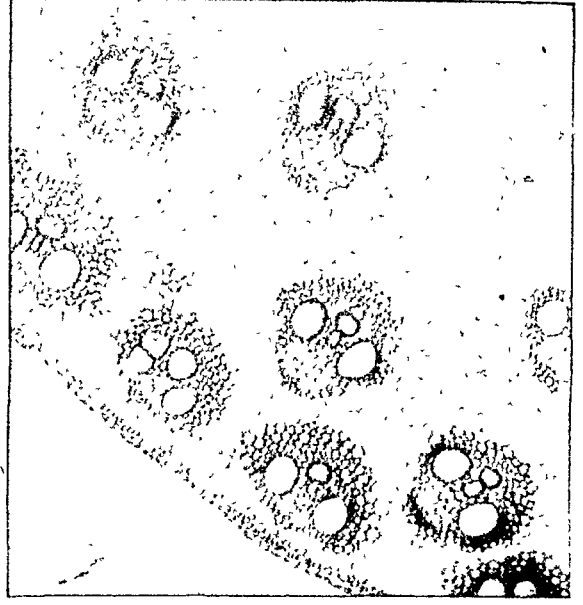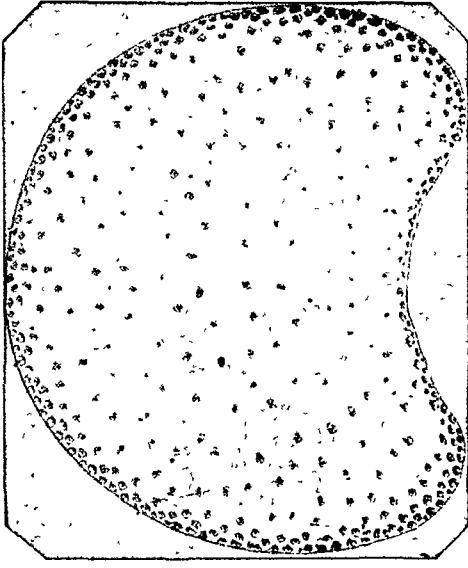
सूक्ष्मदर्शक में मक्का की शाख की नसों की झाँकी

(बाईं ओर) मक्का की शाख के आड़े कत्तल का पाँच गुना बड़ा फोटो। काले निशान नसें हैं। (दाहिनी ओर) उसी के एक भाग का परिवर्द्धित फोटो। नसों की कोशिकाएं दिखाई दे रही हैं।

(दे० पृष्ठ ५५७ का ऊपरी चित्र तथा इस पृष्ठ के चित्र)। परन्तु क्या इतना ही जानकर आप सन्तोष कर लेंगे? अभी पिछले अध्याय मे आपने देखा है कि रेशम के तागे से भी महीन स्पायरोगायरा जब सूक्ष्मदर्शक से देखा जाता है तो अपूर्व छटा दिखाता है। इस बाल से भी महीन नली के अन्दर वह चित्रकारी है, जिसकी समानता करने का साहस संसार का निपुण से निपुण चित्रकार भी नही कर सकता (दे० पृष्ठ ५५७ का बीच का चित्र)। स्पायरोगायरा की रचना के विषय मे सूक्ष्मदर्शक द्वारा ऐसी बातों का पता लगता है, जिनकी हम स्वप्न में भी कल्पना नही कर सकते थे। वास्तव में सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता के बिना हमारी आँखें पौधे के प्रत्येक अंग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं। हमें पौधे की जीवनी और रहस्य, उसकी अनेक क्रियाये, उसके अंग-अंग के कर्त्तव्य, इन अंगो का एक-दूसरे से एवं बाह्य जगत् से संबंध तथा उसका उद्भव, नाश, विकास आदि समझने के लिए उसके अंग-अंग की रचना का हाल जानना आवश्यक है। इसलिए हमे पौधे के रेशे-रेशे की जाँच सूक्ष्मदर्शक से करनी होगी।
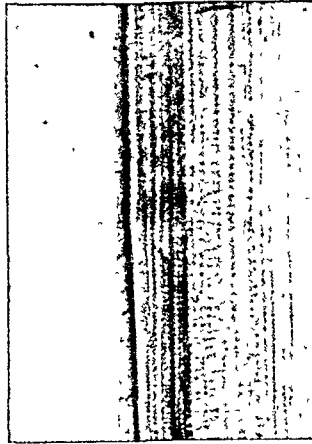
मक्का की नस के तंतु

यह मक्का की शाख की एक लम्बान की कत्तल का सूक्ष्मदर्शक से लिया गया फोटो है। - [फोटो—वि० शर्मा।]

यहाँ हम आपको यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि जिस प्रकार ज्योतिष-विज्ञान की तरक्की और ग्रह-नक्षत्रो के सम्बन्ध मे हमारी आज की अद्भुत वैज्ञानिक जानकारी का अधिकाश श्रेय दूरदर्शक यंत्र को है, उसी प्रकार वनस्पति तथा जीव-जन्तुओं के सम्बन्ध में हमारी ज्ञान-वृद्धि के अनुष्ठान में उस छोटे-से किन्तु जादुई चमत्कारपूर्ण यंत्र 'सूक्ष्मदर्शक' (माइक्रो-स्कोप) ने अमूल्य योग दिया है। यह इसी चमत्कारिक यंत्र का प्रसाद है कि वैज्ञानिक सजीव सृष्टि के अंतस्तल के सूक्ष्म लोक में इस गहराई तक पैठ पाये है और निरन्तर आगे बढते चले जा रहे हैं। भला, आज के वैज्ञानिक के पास यदि यह अद्भुत उपकरण न होता तो क्या वह स्वप्न में भी कभी यह कल्पना कर सकता था कि

जीवन की इकाई—कोशिका—अथवा उसके आधार भूत तत्व—जीव-द्रव्य—का स्वरूप क्या है ? प्रकृति के अज्ञात अदृष्ट परदों को उघाड़ने में सूक्ष्मदर्शक के साथ-साथ आधुनिक युग में फोटोग्राफी के क्षेत्र में होनेवाली महान् प्रगति से भी अनमोल सहायता मिली है, कारण यदि यह फोटोग्राफी का साधन उपलब्ध न होता तो जो कुछ सूक्ष्मदर्शक से हमें ज्ञात होता, उसका कोई लेखा-जोखा रखना हमारे लिए कदापि संभव न होता। यह आधुनिक फोटोग्राफी का ही चमत्कार है कि पौधों की नस-नस के भीतर की झाँकी अब चित्रित की जा सकती है, जैसी कि पिछले पृष्ठ के फोटो-चित्रों से आप देखते हैं।

जीवन का मौलिक रूप अथवा जीवद्रव्य

पिछले अध्याय में पौधों की अंग-रचना का अध्ययन करते समय यह समस्या हमारे सामने आ खड़ी हुई थी कि केवल पौधों की ऊपरी रचना की जाँच करने ही से हम उनका पूरा रहस्य नहीं जान सकते। इसके लिए हमें सूक्ष्मदर्शक की सहायता लेकर और भी गहरे पैठना होगा। आइए, देखें सूक्ष्मदर्शक इस संबंध में क्या-क्या अद्भुत रहस्य हमारे सामने प्रकट करता है !

पिछले परिच्छेदों में उल्लेख किया जा चुका है कि सजीव सृष्टि की सारी लीलाओं का केंद्र जीवद्रव्य ही है। प्रसिद्ध तत्वज्ञानी हक्सले का कथन है कि जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) ही जीवन का भौतिक आधार है।

यह बात यथार्थ है। विचार करने से पता लगता है कि जीवद्रव्य ही में सजीवता के सारे गुण हैं। जीवद्रव्य ही में जीवधारियों की सारी प्रधानता है। इसी में उनकी सारी लीलाओं का रहस्य है। यही वह पदार्थ है, जो घटता-बढ़ता है। यही वह वस्तु है, जो उत्तेजित होती है। यही धरती के बूँद-बूँद जल और कण-कण नमको से खाद्यरसों का शोषण करता है। यह उनको परिपक्व कर बरतने योग्य बनानेवाला तथा पचानेवाला और पचे भोजन से अंगों की रचना करनेवाला है। इसी से श्वास चलता है। इसी से वृद्धि और उत्पत्ति होती है। सारांश यह कि जीवन-संबंधी सारी विशेषताएँ इसी विलक्षण वस्तु के कारण है।

जीवद्रव्य ही जीवन का भौतिक आधार है

इस चित्र में दिखाई दे रहा गुलचीनी वृक्ष, उसके नीचे उगी हुई दूब और समीप ही पढ़ने में व्यस्त बालक आदि सभी की रचना जीवद्रव्य द्वारा हुई है।

[फोटो—श्री० राजेन्द्र वर्मा सिठोले।]

जीवद्रव्य और जीवन अभिन्न हैं। यह जीवद्रव्य सारी सजीव सृष्टि में अति सूक्ष्म अणुवीक्षणीय एककोष्ठी बैक्टीरिया, क्लैमाइडोमोनस तथा अमीबा से लेकर अति विशाल आम, जामुन अथवा हाथी, ह्वेल तथा स्वयं मनुष्य में एक ही रूप से विद्यमान है (इसी पृष्ठ का चित्र)। यही कारण है कि जीवों में अनेक विभिन्नता होते हुए भी सारे प्रधान गुण एक हैं। यही उनकी एकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। यह जीवद्रव्य क्या है, इस अध्याय में हम इसी की जाँच करेंगे।

जीवद्रव्य के भौतिक और रासायनिक गुण

जीवद्रव्य की जाँच के लिए हमें सूक्ष्मदर्शक (चि०पृ०५६०) की शरण लेनी पड़ती है। उस यंत्र से हम छोटी वस्तुएँ बढ़ाकर देख सकते हैं। हम अपने शरीर के बालों को लट्ठे-जैसे, रेत के कणों को क्रिकेट की गेंद या कैथे-सरीखे या इससे भी घटा-बढ़ाकर देख सकते हैं। इस यंत्र से हमें जीवद्रव्य के बारे में बहुतेरी अचरजभरी बातें ज्ञात होती हैं।

सूक्ष्मदर्शक यंत्र

जिसके आविष्कार से विज्ञान को दिव्य दृष्टि मिल गई है और अति सूक्ष्म जीव-सृष्टि का भी प्रत्यक्ष दर्शन करना संभव हो गया है। [फोटो— श्री० वि० शर्मा।]

जीवद्रव्य में प्रायः प्रति शत ६० भाग पानी होता है और शेष प्रोटीन आदि। जीवन-क्रियाओं के लिए पानी बड़ी जरूरी चीज है।

स्वाभाविक दशा में जीवद्रव्य रंगहीन, पारदर्शी, अर्धद्रव, चिपचिपा और लसलसा होता है। इसमें ग्लिसेरीन का-सा गाढ़ापन है। अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शक से देखने पर यह दरदरा जान पड़ता है। इसमें संकोचन, संसवित, लचकीलापन और तनाव होता है। इसका आसानी से थक्का हो जाता है। यह प्रतिक्रियाशील पदार्थ है, जो आम तौर पर २° श० से लेकर ३५° श० तक के ताप में सजीव रहता है। कभी-कभी यह इससे अधिक ताप में भी जिंदा रहता है। किसी-किसी स्थान में गंधक के चश्मो के पानी का ताप ३५° श० से भी अधिक होता है, लेकिन फिर भी उसमें अनेक कीटाणु रहते हैं।

विश्लेपण से पता चलता है कि जीवद्रव्य में कार्वन, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन, गंधक और प्रायः फास्फोरस होता है। ऑक्सिजन-हाइड्रोजन इसमें उसी मात्रा में होते हैं, जिसमें वे पानी में होते हैं।

संभवतः जीवद्रव्य एक कलोदक्रम (कोलाइडल सिस्टम) है। कलोदावस्था की वस्तुओं के यथार्थ महत्व को समझने के लिए वास्तविक विलयन और कलोद-वितरण (कोलाइडल डिस्पर्शन) के भेद का जानना आवश्यक है।

यदि हम पानी में थोड़ी-सी शक्कर या नमक डालकर हिला दें, तो ये चीजें पानी में मिल जायँगी और इनका घोल तैयार हो जायगा। नमक और शक्कर के कण अत्यन्त छोटे होते हैं और पानी में डालने से वे घुल-मिल जाते हैं। यह यथार्थ घोल है। अगर हम शक्कर या नमक के वजाय शुद्ध वालू या रेत लें और उसे पानी में डालकर घोलना चाहें, तो सफल नहीं होंगे। वालू के कण पानी मे घुलेंगे नहीं; हाँ, ये कुछ देर तक पानी में अवलम्वित रहेंगे। यदि हम इस गँदले पानी को थोड़ी देर के लिए एक ओर रख दें, तो वालू नीचे वैठ जायगी और पानी साफ हो जायगा। अव अगर हम रेत के वजाय अत्यन्त महीन पिसी चिकनी मिट्टी ले लें और उसको पानी मे डालकर घोल तैयार करें, तो पानी वरावर गंदला रहेगा और उसमें

प्याज की जड़ के आड़े कत्तल का फोटो

यह फोटो सूक्ष्मदर्शक द्वारा परिवर्द्धित करके खींचा गया है। इसमें जो अनेक नन्हें भाग दिखाई देते हैं, वही कोशिकाएँ हैं। [फोटो—श्री० वि० शर्मा।]

चिकनी मिट्टी के कुछ-न-कुछ कण बराबर अवलम्बित रहेंगे। यह कलोद-वितरण है। वास्तव में न रेत ही पानी में घुलनशील है और न चिकनी मिट्टी ही, परन्तु रेत के कण बड़े होते हैं, इसलिए वे पानी में थोड़ी ही देर तक अवलम्बित रहते हैं, और चिकनी मिट्टी के कण छोटे, इसलिए वे बराबर अवलम्बित रह सकते हैं। अन्य वस्तुओं के भी ऐसे अवलम्ब-घोल बन सकते हैं। कलोदावस्था को प्राप्त वस्तुओं के कण बहुत छोटे होते हैं, परन्तु फिर भी वे इतने छोटे नहीं होते, जितने कि यथार्थ घुलनशील वस्तुओं के।

कणों के छोटा होने के कारण कलोदावस्था में वितरित वस्तुओं की मात्रा थोड़ी होने पर भी जिस वस्तु में वे अवलम्बित रहते हैं, उससे प्रतिक्रियाओं के लिए बहुत बड़ा पृष्ठ-तल मिल जाता है। इसलिए शोषण (एब्सार्पशन) तथा अधिशोषण (एड्सार्पशन) जैसी क्रियाओं के लिए सुगमता हो जाती है। कलोदों के अनेक उदाहरण हैं। लुवाब, अंडे की सफेदी और लेई ऐसी ही वस्तुएँ हैं।

ठोस, द्रव और गैस तीनों ही प्रकार की वस्तुएँ कलोदावस्था में हो सकती हैं। धुआँ एक प्रकार का कलोद है, जिसमें एक ठोस पदार्थ (कार्बन) दूसरे गैस पदार्थ (वायु) में अवलम्बित है। बादल एक दूसरी भाँति का कलोद है, जिसमें द्रव पदार्थ (पानी) गैस (वायु) में अवलम्बित है। रूबी ग्लास एक अन्य भाँति का कलोद है, जिसमें एक ठोस पदार्थ दूसरे ठोस-पदार्थ में अवलम्बित है। यह सब एक विशेष प्रकार के कलोद हैं, जिन्हें अवलम्ब-घोल (सस्पेंसाइड) कहते हैं। इनकी विशेष प्रधानता यह है कि इस अवस्था को प्राप्त वस्तुओं के कण विद्युत्-संचारित रहते हैं।

अगर हम पानी में नारियल या रेंडी का तेल मिलाकर फेंट दें, तो एक प्रकार का कलोद बन जायगा। इसे पायसोद (इमलसाइड) कहते हैं। इस दशा में एक द्रव पदार्थ दूसरे में अवलम्बित रहता है। पायसोद के कणों में विद्युत्संचार बहुत ही कम रहता है। कलोदों के विषय में आपको विशेष बातों का पता रसायन विज्ञान से चलेगा; यहाँ पर केवल प्रसंगवश कुछ साधारण बातों का उल्लेख
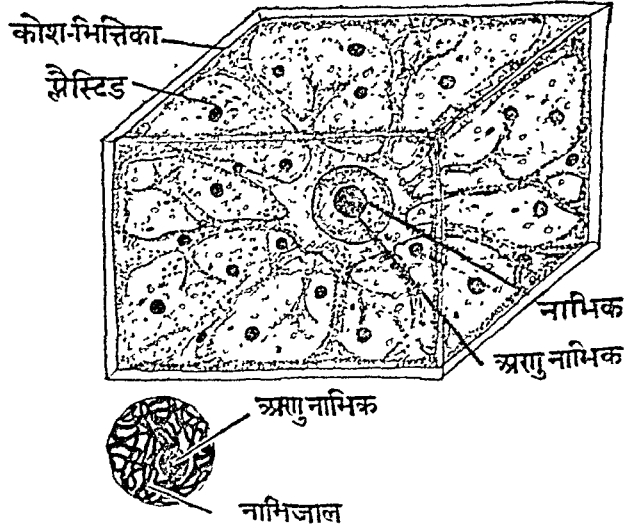
जीवन की इकाई या आदर्श कोशिका

इस चित्र में कोशिका की रचना समझाई गई है। प्रत्येक कोशिका इसी तरह की वर्गाकार संदूक-सरीखी होती है। नीचे 'नाभिक' का एक परिवर्द्धित चित्र दिया गया है। जिसमें अणुनाभिक और नाभिजाल दिखाये गये हैं। [चित्र—लेखक द्वारा।]
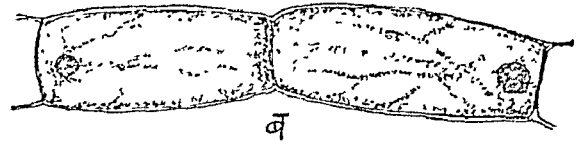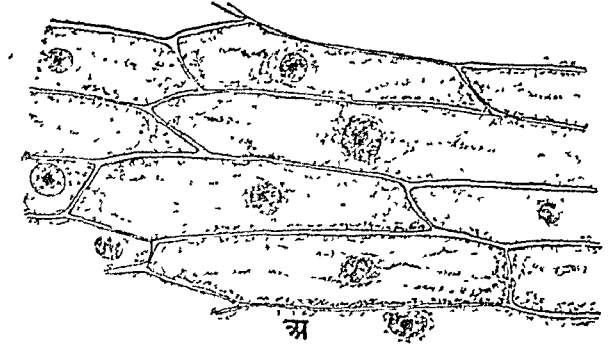
सूक्ष्मदर्शक द्वारा कोशिकाओं की झाँकी

अ—प्याज के भीतरी पर्त के महीन छिलके की कोशिकाएँ; ब—ट्रेडिशकैन्शिया के लिंगसूत्र की कोशिकाएँ; स—क्लासटीडियम नामक एक हरी जाति का एककोषी शैवाल [चित्र—लेखक द्वारा।]
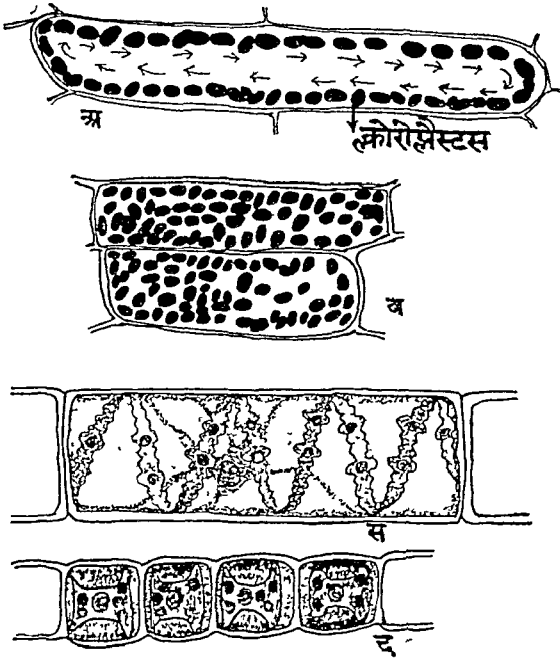
क्लोरोप्लैस्ट

अ—हट्टिला की कोशिका में फिरते हुए क्लोरोप्लैस्ट्स। तीर के चिन्हों द्वारा एक क्लोरोप्लैस्ट के घूमने की दिशा समझाई गई है। ब—हट्टिला में भरे हुए क्लोरोप्लैस्ट्स। स द—स्पायरोगायरा और यूलोथ्रिक्स में लहरदार क्लोरोप्लैस्ट्स होते है। यूलोथ्रिक्स के क्लोरोप्लैस्ट्स घोडे की काठी की शक्ल के होते हैं (दे० द)।

किया गया है। कलोदो की प्रतिक्रिया से अनुमान होता है कि जीवद्रव्य की अनेक क्रियाये कदाचित् उसकी इसी अवस्था के कारण हैं; परन्तु जीवद्रव्य किस भाँति का कलोद है, हमे यथार्थ मे पता नहीं।

कोशिका, नाभिक, अणुनाभिक और कोशिकामूल

प्राणियो के शरीर में जीवद्रव्य बहुत छोटी छोटी अणुवीक्षणीय कोठरियो में बँटा रहता है (पृ० ५६० का निचला चित्र) सूक्ष्मदर्शक से देखने से ये शहद की मक्खी या बर्र के छत्ते के समान दिखाई देती है। इसलिए इनको कोशिका (सेल) कहते है। वास्तव में कोशिका वर्गाकार संदूक-सरीखी होती है, जिनमे ऊपर-नीचे और चारो ओर घेरे होते है (पृ० ५६१ का ऊपरी चित्र)। सजीव जीवद्रव्य को हम प्याज के भीतरी पर्त के महीन छिल्के की कोशिकाओ मे या किसी-किसी पानी में उगनेवाले पौधे की कोशिकाओं में, अथवा साइनोटिस या ट्रैडिशकैन्शिया के लिंगसूत्रों के रोमकोशों मे (पृ० ५६१ का निचला चित्र) शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक से देख सकते हैं। परन्तु जीवद्रव्य में इतनी पारदर्शिता होती है कि उसका आसानी से दिखाई देना कठिन है। इसलिए इसकी कोशभित्तियों तथा कोशिका के अन्दर की दूसरी वस्तुओं को स्पष्ट करने के लिए घोलों को काम मे लाते है। टिंक्चर आयोडीन-में डुबोने से यह भूरे रंग का हो जाता है, इसलिए सरलता से दिखाई देता है।

ध्यान से देखने से हमे कोशिका के बीचो-बीच जीवद्रव्य मे एक गोल-गोल गाढ़ी वस्तु दिखाई देती है (पृ० ५६१ के चित्र) इसे नाभिक (न्यूक्लिअस) कहते हैं। नाभिक भी जीवद्रव्य ही है, लेकिन इसमें फास्फोरस का अंश होता है। नाभिक में अधिकाश भाग नाभिक-रस का होता है। इस रस में एक गाढ़ी वस्तु का जाल होता है (पृ० ५६१ के निचले चित्र मे अ)।

प्राय. सभी नाभिको मे एक अणुनाभिक (न्यूक्लिओलस) भी होता है (पृ० ५६१ का ऊपरी चित्र); यह अत्यन्त छोटा और नाभिक से भी गाढ़ा होता है। नाभिक कोशिका का मुखिया है। कोशिका की सारी क्रियाएँ इसी के आज्ञानुसार होती है। कोशिका के साधारण जीवद्रव्य को कोशिकामूल (साइटोप्लाज्म) कहते है।

कोशिकाओं मे जीवद्रव्य स्थिर नही रहता, वरन् वह बराबर बहता रहता है। अक्सर हम इस घटना को देख नही पाते; परन्तु किसी-किसी पौधे के विशेष अंगो (जैसे ट्रैडिशकैन्शिया के लिंगसूत्र) मे (पृ० ५६१ के निचले चित्र में ब) हम इस क्रिया को अत्यन्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक से देख सकते हैं। कभी-कभी जीवद्रव्य के साथ कोशिका की अन्य वस्तुएं भी घूमती रहती है। इस दशा मे हम इस घटना को आसानी से देख सकते है (इसी पृष्ठ के चित्र मे अ)।

प्लैस्टिड्स

जीवद्रव्य और नाभिक के अलावा कोशिका मे और भी अनेक वस्तुएँ होती है। इनमें प्लैस्टिड्स मुख्य है। ये भी एक प्रकार से जीवद्रव्य ही है। इनकी रचना पूर्ववर्ती प्लैस्टिड्स से होती है। प्लैस्टिड्स के कई भेद है। ये भेद इनके रंग के अनुसार माने गये है। सबसे अधिक महत्त्व के हरे रंग के प्लैस्टिड्स या क्लोरोप्लैस्ट्स है (चित्र पृ० ५६२)। ये पत्तियो और पेड़ के दूसरे हरे अंगो में होते है। इनमें पर्णहरिम होता है, जिसके प्रभाव से कार्बोहाइड्रेट-संश्लेषण होता है।

कोशिकामूल, नाभिक और प्लैस्टिड्स सभी सजीव होते है। ये जीवद्रव्य के भिन्न-भिन्न रूप है।

जीवद्रव्य की उत्पत्ति

यह अलौकिक पदार्थ जीवद्रव्य या प्रोटोप्लाज्म कहाँ से आया, जीवन विद्या का यही सबसे प्रथम प्रश्न है। यही हमारी सबसे कठिन समस्या है। परन्तु इस संबंध में निश्चित रूप

से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि **जीवद्रव्य पूर्ववर्त्ती जीवद्रव्य से ही उत्पन्न होता है--सजीव वस्तुओं की उत्पत्ति सजीव वस्तुओं से ही होती है।**

किसी समय में इस बात पर बड़ा वाद-विवाद था। किसी-किसी का मत था कि अनुकूल परिस्थिति में जीवों की उत्पत्ति यों ही हो जाती है। इसके प्रमाण में वे कहते थे कि यदि मांस का टुकड़ा या और कोई ऐसी चीज हवा में खुली रक्खी रहे' तो उसमें तमाम कीड़े अपने आप पैदा हो जाते हैं। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञान में तरक्की हुई, लोगों का ऐसी बातों से विश्वास जाता रहा। उन्नीसवी शताब्दी के मध्यकाल में कीटाणु-विद्या के जन्मदाता लुई पास्च्यर ने सिद्ध कर दिया कि जीवों की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थों से नहीं होती। उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि मांस या दूसरी वस्तुओं को, जिनमें साधारणतया वायु में खुला रखने पर सैकड़ों कीड़े पैदा हो जाते हैं, उबालकर और कीड़े नष्ट करके हवा एवं दूसरी बाहरी वस्तुओं से रक्षित रक्खी जायँ, तो फिर इनमें कीड़े नहीं पड़ते। पहले लोगों ने इस पर विश्वास नहीं किया और उन्होंने इसके विरुद्ध अनेक दलीलें पेश की, लेकिन अन्त मे मानना पड़ा कि **जीवधारियों की उत्पत्ति जीवधारियों से ही होती है।** इस संबंध में विशेष बातें 'जानवरों की दुनिया' शीर्षक के अंतर्गत बताई जा चुकी है।

कोशिका में पाये जानेवाले प्रोटीन, वसा, माड़ी आदि

अ--रेंडी की गूदी की कोशिका में प्रोटीन और तेल। ब--गेहूँ की कोशिका में प्रोटीन और माड़ी। स--आलू की कोशिकाओं में माड़ी के दाने। द--गेहूँ की कोशिका में माड़ी के दाने। फ--कनेर की पत्ती की कोशिका में रवे। ज--प्याज की गांठ के छिलके की कोशिका में रवे।

(चित्र--लेखक द्वारा)

अब लोगों का ध्यान जीवन-संबंधी अनेक प्रश्नों की जाँच के लिए जीवद्रव्य की ओर आकर्षित हुआ। धीरे-धीरे यह साबित हो गया कि जीवद्रव्य में ही जीवन-मरण की सारी समस्याएँ केन्द्रित हैं। परन्तु फिर भी हमारी कठिनाई का अन्त नहीं हुआ। मूल प्रश्न हमारे सामने बराबर बना रहा। हमें यह पता न लगा कि सबसे पहले जीवद्रव्य कहाँ से और कैसे आया, अथवा उसकी उत्पत्ति कैसे हुई!

संभव है, आज से करोड़ो वर्ष पूर्व आदिकाल मे पृथ्वी की परिस्थिति जीवद्रव्य का संश्लेषण करने के अनुकूल रही हो! संभव है, प्रथम जीवाणु सृष्टि के आदि में किसी अन्य ग्रह से प्रकाश की किरणों के साथ अथवा अन्य किसी भाँति आये हो! कुछ भी हो, वर्तमान स्थिति में हम जहाँ तक निश्चित कर सकते हैं, **जीवों की उत्पत्ति जीवों से ही होती है। जीवद्रव्य ही जीवद्रव्य को बनाता है।** यह जीवद्रव्य निर्जीव वस्तुओं को परिवर्तित कर अपने समान सजीव बनाता है। यह जल, वायु, नमक जैसे पार्थिव पदार्थों से जीते-जागते जीवद्रव्य का संश्लेषण करता है। परन्तु हम स्वयं इसका संश्लेषण नहीं कर सकते।
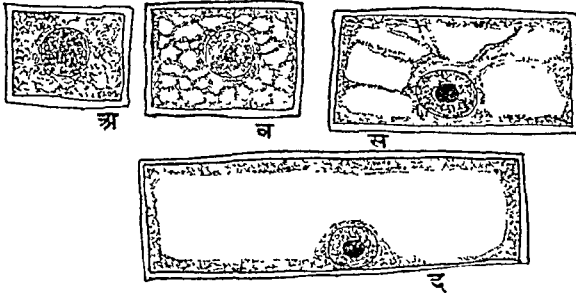
कुंड की उत्पत्ति

प्रारंभ में कोशिका जीवद्रव्य से भरी रहती है (चित्र में अ)। क्रमश. उसमें नन्हें-नन्हे अनेक कुंड वन जाते है (चित्र में ब), जिनके बढने और आपस में मिल जाने से (चित्र में स) एक कुंड बन जाता है (चित्र में द) । [चित्र-लेखक द्वारा ।]

कोशिका के अन्दर की अन्य वस्तुएँ--माड़ी, प्रोटीन, तेल और रवे आदि

जीवद्रव्य, नाभिक, प्लैस्टिड्स के अलावा कोशिका मे और भी अनेक वस्तुएँ होती है । इनमें प्रोटीन, माड़ी (स्टार्च), वसा और भाँति-भाँति के तेल मुख्य है । इनसे पेड़ों के अंग बढ़ते हैं । यही उनकी खूराक हैं । इन्ही को वे आपद्काल के लिए भी संग्रह कर रखते हैं ।

इसमें सन्देह नही कि प्रोटीन अत्यन्त प्रयोजनीय खाद्य पदार्थ है—हमारे लिए ही नही, वरन् सभी जीवधारियों के लिए । इसी से उनके अंग बनते है । इससे उन्हें सामर्थ्य भी प्राप्त होता है । मास, अंडा, दूध और दालो में इसकी मात्रा अधिक होती हैं । यह गेहूँ तथा मक्का आदि में भी होता है । पौधो की कोशिकाओं मे यह वस्तु दानों के रूप मे दिखाई देती है (पृ० ५६३ के चित्र में अ-ब) इसका संश्लेषण और उपभोग पेड़ो में किस प्रकार होता है, हम आगे वर्णन करेंगे ।

प्रोटीन की भाँति माड़ी भी अत्यंत आवश्यक वस्तु है । जीवों के भोजन मे इसका होना जरूरी है । इसी से उनको शक्ति मिलती है । यह शरीर में इंजिन के कोयले का काम करती है ।

माड़ी का संश्लेषण पेड़ों मे क्लोरोप्लैस्ट्स करते है । माड़ी पेड़ो के अंगों में दानो के रूप में होती है (पृ० ५६३ के चित्र मे स) । माड़ी के दाने प्रायः सभी पौधों में और उनके प्रत्येक अंग मे होते हैं; परन्तु पत्ती, जड़, आलू जैसे तनो और फल व वीज में ये अधिकता से होते हैं । आलू मे १००मन मे लगभग २७ मन माड़ी होती है और गेहूँ-ज्वार में इससे भी अधिक । कभी-कभी १०० मन गेहूँ या मक्का मे ८५ मन तक माड़ी का भाग होता हैं । माड़ी के दानो के आकार और बनावट में वड़ा भेद होता हैं । आयोडीन के घोल में माड़ी के दाने बैंजनी या नीले हो जाते हैं । आप इसकी परीक्षा आलू, चावल और गेहूँ वगैरह से कर सकते है ।

तेल और वसा भी परम प्रयोजनीय वस्तुएँ हैं । आर्थिक विचार से भी ये वड़े मतलब के द्रव्य है । ये भी खाद्य पदार्थो में से हैं । पौधों में ये प्रायः वीजों और फलो में होते है । सरसो, मूँगफली, तिल्ली, नारियल, पोस्ता, अलसी, गुल्लू आदि के तेलों को हम बराबर काम में लाते हैं । पौधों की कोशिकाओ मे तेल और चर्वी के भाग गोल-गोल बूँद-सरीखे दिखाई देते हैं (पृ० ५६२ के चित्र में अ) । कोशिकाओं में और भी अनेक वस्तुएँ होती है, जिनमें बहुत-सी कोशिका-द्रव्य मे होती हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ वर्णन करेंगे ।

पपीता

इसमें पेपैन नामक एनजाइम होता है, जो प्रोटीन को पचाता है। [फोटो श्री वि० स० शर्मा]

कुंड और कोशिका-द्रव्य

पौधोंकी नवल कोशिकाएँ (इसी पृ० के ऊपरी चित्रमे अ) और जंतुओंकी कोशिकाएँ जीवद्रव्य से लगभग भरी रहती है, लेकिन पौधों की पूर्ण विकसित सजीव

कोशिकाओं में आम तौर पर एक कुंड होता है (उक्त चित्र में द), जिसमें रस भरा रहता है। यह कुंड प्राय. अत्यन्त छोटे-छोटे कुंडो के एक मे मिल जाने से बनता है (उक्त चित्र में व द)। कुंड के चारों ओर एक अत्यन्त पतली निस्सारक झिल्ली होती है, जिसे 'कुंडझिल्ली' कहते हैं। इसी प्रकार की एक जीवद्रव्य की झिल्ली दीवालो के अन्दर से कोशिका को परिवेष्टित किये रहती है। इसे 'कोशिकाझिल्ली' कहते है। यह भित्तिकाओं से सटी अन्दर की ओर होती है। पौधो मे कोशिकाझिल्ली और कुंडझिल्ली दोनो ही बड़े महत्त्व की होती हैं। कोशिका के अन्दर आनेवाली सभी वस्तुएँ 'रसाकर्षण' (ओस्मासिस) मे ही आती हैं और उनको कोशिकाझिल्ली और कुडझिल्ली मे से होकर गुजरना पड़ता है। इसलिए कोशिका में वस्तुओं का आना-जाना इन रसाकर्षक झिल्लियों के ही अधीन है। सबसे विचित्र बात यह है कि ये किसी-किसी वस्तु के लिए प्रवेशनीय और किसी-किसी के लिए अप्रवेशनीय होती हैं। कोशिकाओं के अन्दर आनेवाले द्रव्यो की मात्रा कुंडरस के समाहरण (कासेंट्रेशन) पर निर्भर है। इसी पर कोशिकाओं का रस से भरकर फूलना या उसके निकल जाने से खाली हो मुरझाकर पिचक जाना निर्भर है। कोशिकाद्रव्य में अनेक वस्तुएँ घुली रहती हैं। इनमें भाँति-भाँति की शर्कराएँ और कार्बनिक अम्ल है। बहुधा कोशिकाद्रव्य पौधो मे जड़ो द्वारा आता है। यह खट्टा, मीठा, तीखा, साफ या गँदला, बेरंग या रंगदार, पौष्टिक या अपौष्टिक होता है। आर्थिक दृष्टि से यह बड़ी प्रयोजनीय वस्तु है। नीबू, मतरा, अनार, आम और अंगूर-जैसे फलो का खट्टा-मीठा रस कोशिकाद्रव्य ही है। जब तक ये फल कच्चे होते है, कोशिकाद्रव्य का स्वाद बेमजे रहता है, परन्तु जब फल पक जाते है, यह स्वादिष्ट हो जाता है। अब अनेक पक्षी और दूसरे जीव, जो कच्चे फलो के पास भी नही आते थे, उनको बड़े चाव से खाते हैं। इससे पौधो को बड़ा लाभ होता है। उनके बीजों का प्रसारण होता है और इस तरह पौधे दूर-दूर देशों में फैल जाते है।

चुकन्दर की जड के बैंजनी रस का मीठा स्वाद उसमें घुली शक्कर के कारण होता है। इससे सैकड़ो मन शक्कर तैयार होती है।

अनेक पौधो का दूध (लैटेक्स) भी कोशिकाद्रव्य ही है। यह द्रव्य जब तक पौधों में रहता है, साफ और पतला रहता है, परन्तु पौधे से बाहर निकलते ही गँदला और गाढ़ा हो जाता है। इस द्रव्य का रंग अक्सर दूधिया होता है, लेकिन कभी-कभी पीला, लाल या नीला भी होता है। द्रव्य का रंग और गुण उसमे अनेक छोटे-छोटे अवलम्बित कणो के कारण होता है। रबर और अफीम भी इन्ही दूधिया द्रव्यो में से है। ऐसे द्रव्यो की विषैली अवस्था बहुधा इनमें अवलम्बित वस्तुओं के ही कारण होती है।

पौधो में इस प्रकार के द्रव्य उनके बड़े काम के होते हैं। रबर के पेड में ये द्रव्य इसलिए नही होते कि लोग

टमाटर

इसमें अनेक विटामिन होते हैं। [फोटो—वि० सा० शर्मा]
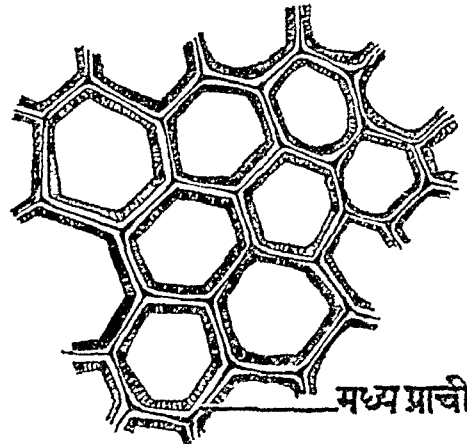
कोशिकाएँ

रेखा-चिह्न द्वारा 'मध्य प्राचीर' दिग्दर्शित है। [चित्र—लेखक द्वारा]

इनके ट्यूब-टायर बनाये या जूते और बरसाती पहनकर घूमे। वास्तव में ये द्रव्य उन पेड़ो के बड़े प्रयोजन के है। ये लकड़ी काटनेवाले कीड़ो से उनकी रक्षा करते है और घावो को भरते है। लकड़ी काटनेवाले कीड़े जिस समय ऐसे पेड़ो मे छेद करते है, तब पेड़ से तेजी के साथ दूध बह निकलता है। बाहर आने पर यह दूध जम जाता है और अक्सर कीड़े इसमे फँसकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठते है! दूधवाले ये पेड़ बहुधा भूमध्य रेखा के निकटवर्त्ती देशो में अधिक होते है। किसी-किसी पेड़ का दूध बड़ा पौष्टिक होता है, परन्तु अधिकतर यह विषैला होता है। लंका मे जिम्निमा लैक्टीफेरम नाम का वृक्ष है, जिसके दूध को वहाँ के निवासी गाय-भैस के दूध के समान बरतते है। अमेरिका में इसी भाँति का ग्लैक्टोडेड्रन यूटिले नामक एक वृक्ष है, जिसका दूध भी इसी तरह काम मे आता है। इस पेड़ को दुग्धवृक्ष कहते है।

कितने मजे की बात होती, अगर सभी दूधवाले पेडो के रस स्वादिष्ट दूध-जैसे होते! थके-माँदे मुसाफिरो के लिए कितना सुभीता हो जाता! जहाँ पहुँचते, दूध तैयार मिलता। परन्तु ऐसा नही है। इस प्रकार के पेड़ो का रस जैसा हम ऊपर कह चुके है, अक्सर जहरीला ही होता है। कितने ही पेड़ो के दूधरस प्राणघातक विष है। अफीम, जो पोस्ते के फल से निकलता है, इन्ही मे से है। कितने ही पेड़ो के रस के बदन मे लगते ही फफोले पड़ जाते है। थूहड़ का रस यदि आँख मे पड जाय, तो बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है।

रवे या केलास

पौधों में अनेक प्रकार के रवे या केलास भी होते है। ये प्राय. काष्ठिकाम्ल और कार्बोनिक एसिड के रवे होते है। कनेर की पत्ती और कोशिकाओ मे (पृ० ५६३ के चित्र में फ) ये सरलता से दिखाई देते है। नागफनी की जाति के किसी-किसी पौधे मे प्रायः काष्ठिकाम्ल की मात्रा इतनी अधिक होती है कि यदि कही यह अम्ल कोशिका मे घुला रहता तो पेड़ जीवित न रह सकता। परन्तु ऐसा नही होता। पोटैशियम या कैल्शियम से मिलकर इस अम्ल के नमक बन जाते है, जो घुलनशील नही होते, इसलिए पौधों को हानि नही पहुँचाते।

कपास की एक टहनी
इसके बिनौले पर उगी रुई के रेशे एककोष्ठी है।
[फोटो—श्री वि० शर्मा]
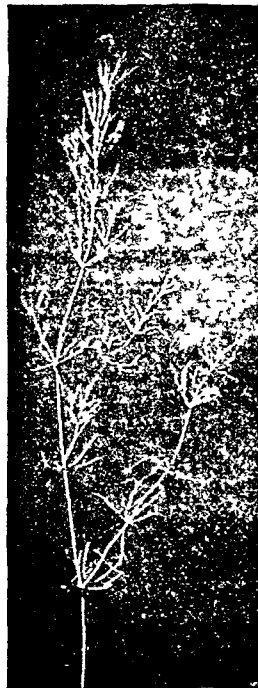
नाइटेला
शैवाल जैसा एक जल का पौधा, जिसका प्रत्येक पोर लम्बान में एक कोशिका होता है।

रवो से मिलती-जुलती दूसरी अनेक उपोत्पादित वस्तुएँ है। वंशलोचन और रूह की भाँति की अनेक वस्तुएँ इनमें है। गुलाब और केवड़े-जैसे इत्र ऐसी ही वस्तुओ से, जो इन पौधो मे होती है, बनाये जाते है। लौग और इलायची के तेल और कपूर भी इसी जाति के है। टैनिन, गोद, मोम और राल भी उपोत्पादित वस्तुएँ है। राल चीड़ के पेड से प्राप्त होती है। पेडो मे यह विशेषतर घाव भरने का काम देती है।

विटामिन, एनजाइम और हार्मोन

इन वस्तुओ के अतिरिक्त और भी कई तरह की चीजे पौधो मे होती है। इनमे से कुछ तो ऐसी है कि यद्यपि ये बहुत कम मात्रा में होती है, फिर भी जीवो के रहन-सहन पर इनका बड़ा प्रभाव पडता है। वास्तव में उनकी अनेक क्रियाएँ इनके अधीन है। ये वस्तुएँ एनजाइम, हार्मोन और विटामिन है। पपीता (चि० पृष्ठ ५६४) मे पेपैन नाम का एनजाइम होता है। यह प्रोटीन को हज्म करता है। इसलिए मांस को गलाने के लिए पपीते के फल के कुछ टुकड़े कभी-कभी डालकर पकाते है। यही

कारण है कि पपीता पाचन के लिए इतना लाभकर है। विटामिन के विचार से टमाटर (चि० पृष्ठ ५६५) बड़ा उपयोगी है। इसमें कई विटामिन होते है, जो तन्दुरुस्ती के लिए बड़े जरूरी है।

ऊपर हमने कोशिका के विविध अवयवो का संक्षिप्त वर्णन किया है। ये वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—सजीव और निर्जीव। सजीव वस्तुओं में जीवद्रव्य, नाभिक और प्लैस्टिड्स हैं। निर्जीव वस्तुओं के तीन भेद हैं। पहली वे जिन्हें हम जीवद्रव्य की मुख्य उपज कह सकते है। प्रोटीन, माड़ी, छिद्रोज या अन्य कार्बोहाइड्रेट, तेल और चर्बी आदि ऐसी वस्तुएँ हैं। दूसरी वे चीजें है, जो उपोत्पादन से प्राप्त होती है, जैसे रुह, अम्ल, रवे, मोम आदि। तीसरी वे है, जो अन्य वस्तुओं के विदारण से बनी है, जैसे गोंद।

आश्चर्य की बात है कि इन नन्हीं-नन्ही अदृश्य कोठरियों के अन्दर कैसे-कैसे द्रव्य सचित रहते है! जीवद्रव्य के इन अति सूक्ष्म भागो मे कैसी-कैसी लीलाएँ होती रहती है! किसी विद्वान् ने सच कहा है कि प्रत्येक कोशिका एक कीमिया-घर है, जिसमें विश्लेषण से कही अधिक संश्लेषण होता है।

कोशिका-भित्ति

जैसा हम ऊपर कह चुके है, पौधों की कोशिका घेरे के अन्दर होती है। ये घेरे प्रारम्भ में छिद्रोज के बने होते है, जो एक प्रकार का कार्बोहाइड्रेट है और इस जाति की अन्य वस्तुओ की भाँति कार्बन, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन से बनता है। भित्तिकाएँ ही कोशिका का अवलम्ब है। यही पौधों का ढाँचा बनाती है, इसीलिए प्रायः ये बड़ी मजबूत और मोटी होती है। शीशम, सागौन, नीम तथा अन्य पेड़ों की लकड़ी; छुहारे, बेर अथवा खजूर की गुठली; अखरोट और बादाम के छिलके तथा नारियल के खोपड़े, जो इतने कठीले होते हैं, यथार्थ में कोशिका-भित्ति ही है। प्रारम्भ मे ये भी कोमल थे और इनकी कोशिका जीवद्रव्य से भरी थीं। यह जीवद्रव्य कोशिकाओं की बाढ़-वृद्धि में चुक गया है और इन की भित्तिकाएं परिवर्तित हो कठीली हो गई है।

भित्तिकाओ का वह भाग, जिसे जीवद्रव्य प्रारम्भ में बनाता है, मध्य प्राचीर कहलाता है (पृ० ५६५ का निचला चित्र)। यही कोशिकाओं को आपस में जोड़े रहता है।

बीज से जामुन की उत्पत्ति

देखिए, इस समय यह नवांकुरित पौधा कितना अधिक कोमल और छोटा है!

कोशिकाओं के भेद और आकार

कोशिकाएँ अनेक प्रकार की होती है। कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई गोल, चौकोर या अन्य भाँति की (चि० पृष्ठ ५६०)। आप देख चुके है कि क्लैमाइडोमोनस में ये नाशपाती जैसी, प्याज के छिलके में बहुकोण, और ट्रेडिस्कैन्शिया के लिंग-सूत्रों के रोमों में गोल, तिकोनी या आयताकार होती है। इनके और भी अनेक रूप है, जिनसे आप आगे चलकर परिचित होगे। आम तौर पर सभी कोशिकाएँ अत्यन्त छोटी और अणुवीक्षणीय होती है। एक साधारण पत्ती मे करोड़ो कोशिकाएँ होती है। आम तथा जामुन जैसे वृक्ष में कितनी कोशिकाएँ होंगी, यह अनुमान लगाना असम्भव है।

ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् पृथ्वी से सूर्य तथा अन्य अनेक ग्रहो की दूरी के विषय में ऐसी संख्याएँ बताते है कि उनकी कल्पना करना कठिन है। इस ग्रथ के 'आकाश की बाते' नामक स्तम्भ में आपने पढा है कि यदि हम साठ मील प्रति घण्टे की गति से चलनेवाली रेलगाड़ी में बैठकर सूर्य तक बिना कही रुके लगातार यात्रा करे, तो हमको १७५ वर्ष से कम समय न लगेगा। इस समय में हम सवा नौ करोड़ मील की यात्रा कर चुकेगे। आपको इस पर आश्चर्य अवश्य होता होगा। आश्चर्य की बात भी है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य आपको होगा, यदि आप किसी साधारण पेड़—आम, जामुन, सेब आदि—की कोशिकाओ की सख्या का अनुमान करना चाहे। इस सम्बन्ध मे हम केवल इतना ही कह देना चाहते है कि यदि सूर्य तक यात्रा करने-वाला दीर्घजीवी साहसी पुरुष सेब-जैसे एक पेड़ की कोशिकाओ की गणना करने के अभिप्राय से उसे अपने साथ लेता जाय और यदि वह एक मिनट में एक कोशिका भी अलग करके फेंक सके, तो पूर्व इसके कि वह ऐसे पेड़ की दो पत्ती की भी कोशिका अलग करके बिखेर सकेगा, उसकी दुर्गम यात्रा का अन्तिम दिन आ पहुँचेगा!

किसी-किसी पौधे की कोशिकाएँ इतनी बड़ी होती है कि बिना सूक्ष्मदर्शक की सहायता के भी देखी जा सकती है। एक प्रकार के सेवालादि की भाँति के पौधे नाइटेला (चि० पृ० ५६६) की कोशिकाएँ लगभग २ इंच लम्बी और इंच का पचीसवां भाग मोटी होती है! कपास

बढ़ने पर जामुन का वृक्ष

पिछले पृष्ठ पर चित्रित छोटा-सा कोमल पौधा ही बढ़कर अब विशाल वृक्ष बन गया है। यह कैसे हुआ ? यह सब जीवद्रव्य ही की करामात है।

(चि० पृ० ५६७)! तब तनिक धक्का लगने से उसकी जीवन-लीला का अन्त हो सकता है। हल्के-से हल्के प्रहार से उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। आप चाहे तो उसे चुटकी से मसल दें। कोई भी जीव-जन्तु या कीड़ा-मकोड़ा बिना प्रयास ही उसका सर्वनाश कर सकता है। परन्तु यही अंकुर समय पाकर जब विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है (इसी पृष्ठ का चित्र) तो अनेक आँधी, तूफान, आदि का भी उस पर कुछ असर नहीं पड़ता। कितने ही जीव-जन्तु उसकी शाखों पर विहार करते और उछलते-कूदते है, लेकिन उसकी टहनी भी टेढ़ी नहीं होती। कितने ही बलिष्ठ पशु--हाथी, घोड़े, ऊँट अपनी सारी ताकत क्यों न लगायें, फिर भी उसके तने को टस-से-मस नहीं कर पाते। अब पेड़ का तना डंठल नहीं रहा। अब वह सैकड़ों फीट ऊँचा होकर गगनचुम्बी अट्टालिकाओं से होड़ ले रहा है। अब वह छत्रकदंड के समान कोमल नहीं है, वरन् लोहे और पत्थर के समान दृढ हो गया है। परन्तु यह सब कैसे हुआ ? इन मृदुल कोशिकाओं से इतने बड़े और सुदृढ वृक्ष कैसे बने ? विचार करने की बात है। लेकिन फिर भी हमें अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जीवद्रव्य की ओर झुकने से ही इस बात का सारा भेद खुल जायगा। यह जीवद्रव्य स्वयं अपने रहने के लिए गृह

या रुई के रेशे भी एककोष्ठीय रोम हैं (चि० पृ० ५६६)। विचार करने की बात तो यह है कि बड़े-से-बड़े और दृढ़-से-दृढ वृक्ष तथा बलिष्ठ-से-बलिष्ठ पशु अथवा स्वयं मनुष्य भी कोशिकाओं ही के समूह हैं ! सभी का जीवनारम्भ एक अणुवीक्षणीय मृदुल कोशिका से होता है। इसी से समय पाकर उनके विशाल कलेवर बनते हैं--इसी से उनके सारे अंगों का विकास होता है। इसी एक कोशिका से बढ़-कर आम-जामुन जैसे दीर्घकाय वृक्ष हो जाते हैं। जिस समय इनका बीज प्रगाढ निद्रा छोड़कर अंकुर-रूप में प्रकाश में प्रथम बार बाहर निकलता है, वह कितना मुलायम होता है

का निर्माण करता है। इसी से प्रत्येक अंग की रचना होती है। इसी से अंगों के भाग-भाग में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते हैं।

आप देख चुके हैं कि जीवद्रव्य कोशिका-भित्ति से परि-वेष्टित रहता है। इन भित्तियों का जीवद्रव्य द्वारा ही निर्माण होता है। प्रारम्भ में ये भित्तियाँ मुलायम छिद्रोज झिल्ली की बनी होती हैं। इनको दृढ करने के लिए जीव-द्रव्य इन पर भाँति-भाँति की वस्तुओं की तह जमाता है। आगे जब हम कोशिका-परिवर्तन पर विचार करेंगे तो हमें इस विषय की कई बातों का पता लगेगा।

कोशिका-सिद्धान्त

जीवों की सारी क्रियाएँ कोशिका के अन्दर होती हैं। कोशिका ही जीवन की इकाई है। परन्तु आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व हमें इसका पता नहीं था। यथार्थ में जीवों की रचना के सम्बन्ध में 'सेल' (कोशिका) शब्द का व्यवहार भी बहुत पुराना नहीं है। सन् १६६५ ई० में रावर्ट हुक ने सर्वप्रथम 'सेल' शब्द का प्रयोग कार्क के सम्बन्ध में किया था। कार्क की रचना का वर्णन करते हुए श्री० हुक कहते है कि यह छोटे-छोटे बक्सो का बना है, जिनमें वायु भरी है। परन्तु वह कोशिकाओं के यथार्थ महत्व को नही समझे। इनका रहस्य बहुत समय तक किसी की समझ में नहीं आया। गत शताब्दी के मध्यकाल के लगभग कही जाकर कोशिका के यथार्थ रूप का निर्णय हुआ। सन् १८३८ ई० में जर्मनी के वनस्पतिशास्त्र के उस समय के विख्यात विद्वान् श्लाइदेन और जन्तुविद्या के धुरंधर आचार्य श्वान को अपने-अपने अनुसन्धानों की तुलना से पता लगा कि जन्तुओं और पौधों दोनों ही की सूक्ष्म रचना सदैव कोशिकाओं से होती है। इन्होंने ही कोशिका-सिद्धान्त का प्रकाशन किया। इस सिद्धात के अनुसार प्रत्येक प्राणी कोशिकाओ का बना है और जीवों की बाढ़-वृद्धि इन्ही की बाढ़-वृद्धि से होती है। इन्ही से क्रमश: उनके सारे अंग बन जाते है। जीवन-विद्या का यही मूल मंत्र है और जीवों की यही प्रधान विचित्रता है।

कोशिका-वृद्धि, कोशिका-परिवर्तन तथा तन्तु-रचना

जैसा कि आप देख चुके है, संसार के सभी जीव कोशिकाओं और उनके द्वारा उपार्जित वस्तुओ के बने है। इनके सारे काम-काज इन्ही कोशिकाओं में होते है। एककोष्ठी कीटाणु (बैक्टीरिया) और क्लैमाइडोमोनस (चित्र पृ० ५७०) से लेकर उच्च से उच्च कोटि के जीव तथा स्वयं मनुष्य तक की सारी जीवन-लीलाएँ इन्हीं अणुवीक्षणीय कोशिकाओं की क्रियाएँ है। हमारा खान-पान, रहन-सहन, बाढ़-वृद्धि सारी बातें इन्ही की करामात हैं। एककोष्ठी जीवों में ये सारे रहस्य एक ही कोशिका द्वारा होते हैं। हम ऐसे जीवों की तुलना सभ्यता के विकास के पूर्व के मनुष्यो से कर सकते है, जो आज से हजारों वर्ष पहले जंगलो में विचरते थे और सभी काम स्वयं अपने हाथों करते थे। उस समय न कोई हाट थी न बाजार, न काश्तकार था न बनिये, जहाँ से उन्हें गेहूँ, चना, चावल अथवा अन्य चीजें मोल मिलती। उन्हें उदर-पूर्ति के लिए सारी वस्तुएँ इधर-उधर से इकट्ठा करना पड़ती थी। अंग ढकने का भी प्रवन्ध उन्हे स्वयं ही करना पड़ता था। न जुलाहे थे न बजाज, न मिलें थी न कारखाने, जहाँ से उनको कपड़े मोल मिल जाते। उन लोगों को अपने परिधान या कपड़े के लिए भी स्वयं ही इंतजाम करना पड़ता था। यही नही, उन्हे अपने रहने के लिए घर भी स्वयं बनाने पड़ते थे। उस समय कोई ठेकेदार या कारीगर थोड़े ही थे, जो आज्ञा पाते ही लोगों के इच्छानुसार कोठी या महल बनाकर खड़े कर देते! उन्हे खुद ही कंकड़-पत्थर, लकड़ी-बाँस, घास-फूस, आदि सामान जुटाना पड़ता था और अपने हाथों ही झोपडी तैयार करनी पडती थी, तब कहीं जाकर रहने का ठिकाना लगता था। परन्तु फिर भी बेचारे चैन से नही सो पाते थे, क्योंकि उनकी जान-माल की हिफाजत के लिए कोई चौकीदार, तिलंगे या सिपाही नहीं थे। इसका भी प्रबंध उन्हे खुद ही करना पड़ता था। समय पड़ते ही उन्हे कमर बाँधकर बरछी, भाले अथवा तीर-कमान ले चोर, लुटेरो और दुश्मनो से अपनी रक्षा करनी पडती थी। कैसी कठिनाई का समय
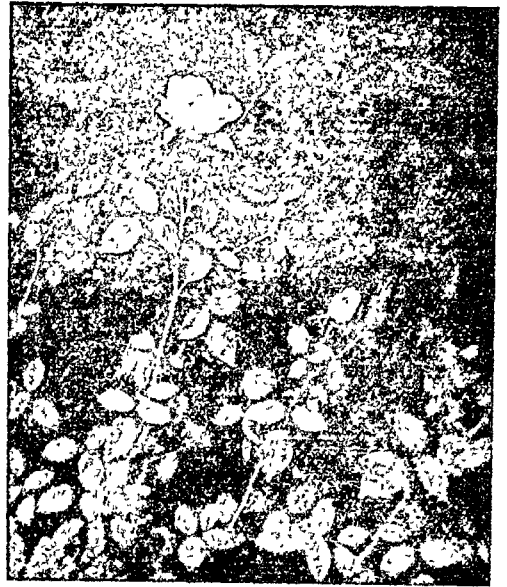
गुलाब का पौधा

इस पौधे के सुरम्य पुष्पों की कोमल पखुड़ियाँ, कोमल महीन पत्तियाँ, तीक्ष्ण काँटे और कठोर तने सभी कोशिकाओं ही के बने है। इस तरह हम देखते है कि कोशिका ही जीवन की इकाई है। चाहे पेड़-पौधे हों, चाहे जानवर, सभी जीवधारियों के कलेवर-रूपी भवन की रचना इन्हीं कोशिका-रूपी ईंटों से होती है। वास्तव में जीव-सृष्टि में इनकी लीला सबसे अधिक आश्चर्यजनक है।

(फोटो—श्री० वि० शर्मा)

रहा होगा ! इस प्रकार सारे काम अपने आप करने में बड़ी ही अड़चन पड़ती रही होगी। यदि आज कहीं हमें इस प्रकार का काम करना पड़े, तो कैसीमु सीवत आयेगी !

परन्तु हमारे सभ्य समाज में आज ऐसा नही होता। हमारे प्रत्येक काम के लिए आज अलग-अलग प्रवन्ध है। एक ओर किसान हैं, जो रात-दिन खेतों मे जुटे रहते है और भाँति-भाँति के अनाज, शाक-भाजी, फूल-फल तैयार करते हैं,जिन्हे इनसे मोल लेकर दुकानदार और वनिये औरों के हाथ वेचते हैं। हमें ये चीजे सुभीते से वाजार मे मिल जाती है। कपडे के लिए जुलाहे और मिलें है। भाँति-भाँति का कपडा तैयार होता है, जो हमे सुगमता से अपने इच्छानुसार मिल जाता है। इसी प्रकार सैकड़ो राज और कारीगर हैं, जो हुक्म पाते ही हमारे इच्छानुसार महल और इमारतें वनाकर खड़ी कर देते हैं। उनमे हम मौज के साथ निर्भय रहते है, क्योंकि हमारी रक्षा के लिए पुलिस और पल्टन है। इस तरह हमारे प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग प्रवन्ध है। इसी से अनेक प्रकार के व्यापार और धन्धे चल पड़े है। इस तरह अलग-अलग प्रवन्ध होने के कारण ही भाँति-भाँति के औजार और जुदा-जुदा सामान की भी जरूरत हुई। थवई को एक प्रकार के औजार चाहिए, तो वढ़ई और लोहार को दूसरी भाँति के। शकर की मिलो में एक प्रकार की वस्तुओं की माँग है, तो तेल और इत्र के कारखानो में दूसरी चीजों की खपत है। पल्टन और पुलिस के लिए अस्त्र-शस्त्र चलाने मे निपुण सिपाही होने चाहिए, तो मिलों और कारखानों में होशियार इंजीनियर और चतुर कारीगर। सारांश यह कि पेशे या व्यवसाय के अनुसार भाँति-भाँति के औजारों और वस्तुओं की उपज हुई और साथ-ही-साथ लोगों के रहन-सहन और चाल-ढाल में भी अनेक परिवर्तन हो गए।

क्लैमाइडोमोनस

कोशिका - विभाजन द्वारा इस एककोष्ठी शैवाल में भी एक से अनेक कोशिकाएँ उत्पन्न होती है; परन्तु ये सव स्वतत्र रहती हैं।

हमारे सभ्य समाज की भाँति ऊँचे दरजे के पेड़-पौधों में भी, जैसा कि आप "पौधे के अंग-विधान" परिच्छेद में देख चुके है, अलग अलग काम के लिए अलग-अलग प्रवंध है। इनके प्रत्येक काम के लिए विशेष अंग हैं। परन्तु जिस तरह भिन्न-भिन्न व्यवसाय में तरह-तरह के औजार और अनेक प्रकार के सामान चाहिए, उसी तरह पौधों में भी काम-काज के अनुसार भाँति-भाँति के प्रवंध है। सारे काम-काज एक ही कोशिका अथवा एक ही प्रकार की अनेक कोशिकाओं से मनमाने नही हो सकते। अतः पौधो में दो प्रधान गुणो का होना आवश्यक है। प्रथम, एक से अनेक कोशिकाओं का उत्पन्न होना, जिससे प्रत्येक काम के लिए अलग-अलग कोशिकाएँ हो जायँ; और दूसरे, कोशिकाओं में परिवर्तन होना, ताकि अनेक प्रकार की कोशिकाएँ वन जायँ, जिससे प्रत्येक काम के लिए आवश्यकतानुसार सुभीता हो जाय। पौधों में ये दोनो ही क्रियाएँ वड़े महत्व की है और हम इस अध्याय में इन्हीं का विचार करेंगे।

एक कोशिका से अनेक कोशिकाओं की रचना—कोशिका-विभाजन

प्रत्येक जीव की रामकहानी एक ही कोशिका से आरम्भ होती है। वूटे-झाड़, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी जितने भी प्राणी है, वे सव प्रारम्भ में एक कोष्ठी ही होते हैं। इसी एक कोशिका से समय पाकर अनेक कोशिकाएँ हो जाती है, जिनमें परिवर्तन से उनके

स्पाइरोगायरा

प्रारम्भ में यह भी एककोष्ठी होता है। क्रमशः विभाजन द्वारा इसमें एक से अनेक कोशिकाएँ उत्पन्न होती है, परन्तु ये सव एक ही भाँति की होती हैं। इस वाल जैसे महीन शैवाल में शाखा-प्रशाखाएं नहीं होतीं।

अनेक अंग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक अणुवीक्षणीय वस्तु से बढ़कर विशाल से विशाल वृक्ष बन जाते हैं। किसी पौधे की बाढ़ केवल उसकी पूर्ववर्ती कोशिकाओं के बड़ा हो जाने से ही नहीं होती, वरन् उनकी संख्या के अधिक हो जाने से। जिस समय आम, जामुन या अन्य पेड़ बढ़ते हैं, उनकी कोशिकाएँ विभाजित होने लगती हैं। एक कोशिका से दो, दो से चार, चार से आठ और आठ से अनेक हो जाती हैं और इस प्रकार एक नन्हे-से अंकुर से बढ़कर बड़े-बड़े वृक्ष हो जाते हैं। एककोष्ठी जीवों में भी विभाजन द्वारा एक से अनेक कोशिकाएँ हो जाती हैं, परन्तु अन्तर केवल इतना है कि इनमें प्रत्येक अलग होकर स्वतंत्र जीव हो जाती है (चित्र पृ० ५७०)। इसका पित्र पिण्ड से कोई लगाव नहीं रहता। वह अलग होकर अपनी जीवनलीला आरम्भ करती है।

क्लैडोफोरा

यह स्पाइरोगायरा जैसा एक शैवाल है। इसकी भी सब कोशिकाएँ एक ही प्रकार की होती हैं; परंतु इसमें अनेक शाखाएँ होती हैं। (फोटो—वि० शर्मा)

स्पाइरोगायरा (चित्र पृ० ५७०), क्लैडोफोरा (इसी पृष्ठ का चित्र), यूलोथ्रिक्स अथवा और भी बहुत-से बूटे हैं, जिनमें यद्यपि पौधे की कोशिकाएँ विभाजित हो अनेक हो जाती हैं, फिर भी ये सारी की सारी एक ही प्रकार की रहती हैं और इसलिए उनमें अनेक कोशिकाएँ होने पर भी ऐसे पौधों में अलग-अलग काम-काज के लिए अलग-अलग कोशिकाएँ होने का उपयुक्त सुभीता नहीं होता।

जीवधारियों में कोशिका-विभाजन-क्रिया बड़े गुरुत्व की है। इसके चार प्रधान भेद हैं। इनमें से परोक्ष कोशिका-विभाजन मुख्य है। पहले हम इसी पर विचार करेंगे। इसी क्रिया द्वारा स्पाइरोगायरा-जैसे पौधे में एक से अनेक कोशिकाएँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार यूलोथ्रिक्स की कोशिकाओं की वृद्धि होती है। वास्तव में पेड़ों में प्रायः सभी अंग इसी भाँति पैदा होते और बढ़ते हैं।

कोशिका-विभाजन-क्रिया को भली प्रकार समझने के लिए हमें कोशिका के सजीव अवयवों को अच्छी तरह जानना चाहिए। आप देख चुके हैं कि प्राय. सभी कोशिकाएँ अणुवीक्षणीय होती हैं। जिस अंग की कोशिकाएँ विभाजित हो रही हों, उसके माइक्रोटोम नामक मशीन द्वारा सिलसिलेवार अत्यन्त महीन कत्तल हमें तैयार करने पड़ते हैं (बगल का चित्र) और इनकी अत्यंत शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक से जाँच करनी पड़ती है। जैसा कि आप पहले भी देख चुके हैं, प्रत्येक सजीव कोशिका में भित्तियों से परिवेष्टित कोशिका-द्रव्य होता है, जिसके बीचोबीच नाभिक रहता है (पृ० ५७२ के बाएँ चि० में)। शुरू में नाभिक में ही

माइक्रोटोम

यह महीन कत्तल काटने की एक मशीन है। (फोटो—वि० शर्मा)
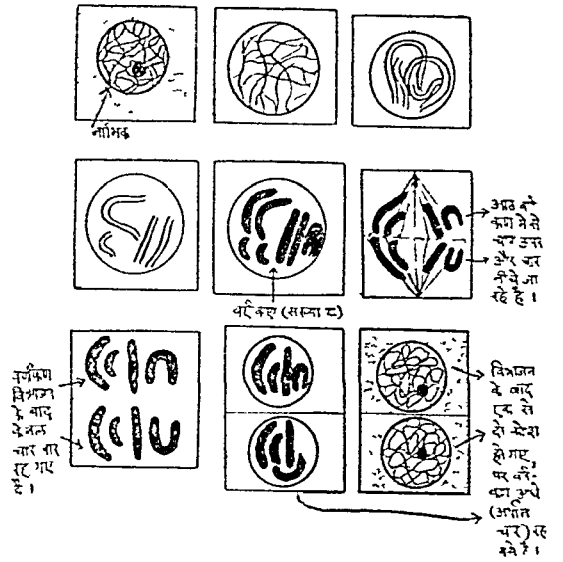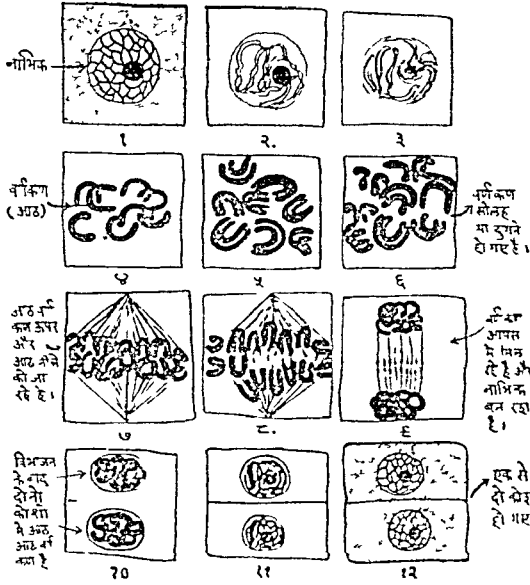
परोक्ष कोशिका-विभाजन

प्रस्तुत चित्रों में १ से १२ तक क्रमशः यह दिखाया गया है कि किस प्रकार एक कोशिका के विभाजन से दो कोशिकाएँ बनने पर उनमें गुण-धर्मों का भी समान रूप से बँटवारा हो जाता है।

प्रत्यक्ष कोशिका-विभाजन

इसकी प्रधान विशेषता यह है कि जो कोशिकाएँ इस प्रकार उत्पन्न होती हैं, उनमें वर्ण-कणों की संख्या आधी रह जाती है। देखिए, एक से दो कोशिकाएँ बन गईं, फिर भी वर्णकण चार-चार ही रहे।

परिवर्त्तन आरम्भ होते हैं। यही अंग कोशिका का अगुवा होता है। क्रमश. नाभिक कुछ बड़ा होने लगता है और नाभिक-जाल कुछ मोटा हो लिपट-लिपटाकर और भी पेंचदार हो जाता है (उपर्युक्त चित्र में २)। इस समय नाभिक-जाल रंगों से सरलता से रँगा भी जा सकता है। अब अणुनाभिक विलीन हो जाता है। अन्त में नाभिकजाल के अलग-अलग कई टुकड़े हो जाते हैं। इन टुकड़ों को वर्ण-कण या 'क्रोमोसोम' कहते हैं (उपर्युक्त चित्र मे ४)। प्रत्येक जीव में इनकी संख्या निश्चित होती है। वाकला की प्रत्येक कोशिका में १२ वर्णकण होते हैं। इसकी पत्ती, जड़, कली आदि सभी अंगों की कोशिकाओं मे इनकी यही संख्या होती है। इनकी आकृति और रचना भी निश्चित होती है। जिस भाँति के ये एक कोशिका में होते हैं, उसी भाँति के दूसरी मे। इनका जो रूप और बनावट वाकले की पत्ती की कोशिकाओं में होता है, वही उसकी गाँठ और पंखुड़ी की कोशिकाओं मे भी होता है।

सभी जीवो में वर्ण-कण की संख्या निश्चित है। कोशिका-विभाजन के समय नाभिक-जाल टूटकर इसी संख्या में बँट जाता है। यह बात बड़े महत्व की है। लोगों का विश्वास है कि इन्ही वर्ण-कणों द्वारा माता-पिता के गुण संतानों में पहुँचते हैं। क्रमशः नाभिकजाल के टुकड़े और भी मोटे, परन्तु छोटे होने लगते हैं। अन्त में ये U या V की शक्ल के हो जाते हैं। अब ये कोशिका के बीचोबीच आ डटते हैं और धीरे-धीरे इनकी आड़ी-आड़ी दो फाँकें हो जाती हैं (उपर्युक्त चित्र में ५-६) इस प्रकार वर्ण-कण की संख्या दुगुनी हो जाती है। इस समय तक नाभिक-झिल्ली भी गायब हो जाती है। इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ण-कण का अर्द्धभाग, जो अब सभी बातों में पूर्व वर्ण-कण के समान होता है, कोशिका के एक सिरे की ओर, और उसका दूसरा भाग दूसरे सिरे की ओर खिसकने लगता है (उपर्युक्त चित्र में ७-८)। इस समय कोशिका में अत्यन्त महीन डोरे दिखाई देते है और ऐसा प्रतीत होता है कि वर्ण-कण इन्ही डोरो के सहारे जा रहे हों। अन्त में वर्ण-कण कोशिका के दोनो ध्रुवों पर पहुँच जाते हैं (उपर्युक्त चित्र में ६)।

इसी बीच में कोशिका के मध्य मे जीवद्रव्य के कुछ अत्यन्त छोटे-छोटे कण-से इकट्ठे होने लगते हैं (उपर्युक्त चित्र में ६-१०) धीरे-धीरे ये और भी स्पष्ट हो जाते हैं और अन्त में इसी स्थान पर बहुत पतली आदि-भित्तिका बन जाती है (उपर्युक्त चित्र में ६-११)। अब वर्ण-कण आपस में फिर लिपट-लिपटा जाते हैं और इस प्रकार नाभिक बन जाता है, जिसके इर्द-गिर्द नाभिक-झिल्ली होती है। नाभिक में अब अणु-नाभिक भी बन जाता है और इस प्रकार कोशिका के दो सिरों पर दो नाभिक हो जाते हैं। आदि-भित्तिका के स्थान पर अब छिद्रोज-भित्तिका हो जाती है और इस प्रकार एक कोशिका

से दो कोशिकाएँ हो जाती है (पृ० ५७२ के चित्र में १२)। अब ये दोनों ही प्रत्येक बात में पूर्ण विकसित कोशिका हो जाती है। दोनो ही में जीवद्रव्य होता है। दोनों ही में नाभिक, कोशिका-रस और कोशिका की अन्य वस्तुएँ होती है। इस भाँति एक कोशिका से दो, दो से चार, चार से आठ और अन्त में असंख्य कोशिकाएँ पैदा हो जाती है।

स्मरण रखने की बात है कि यद्यपि एक कोशिका से अनेक कोशिकाएँ हो गईं, फिर भी इनके रूप और आकार प्रारंभ में वही रहते है, जो उस कोशिका के थे, जिससे ये उत्पन्न हुई। इनमें वर्ण-कणों का भी रूप और आकार वही है, जो इनकी जन्मदात्री कोशिका में था। इनमें नाभिक, अणुनाभिक अथवा कोशिका की अन्य वस्तुएँ भी वही है, जो उस कोशिका में थी, जिसके विभाजन से ये उत्पन्न हुई। यथार्थ में इन कोशिकाओं के गुण और कर्त्तव्य उत्पन्न होने के समय वही होते है, जो उस कोशिका के थे, जिससे इनका जन्म हुआ।

कोशिका-विभाजन की दूसरी रीति प्रत्यक्ष कोशिका-विभाजन है। परोक्ष कोशिका-विभाजन की भाँति यह भी विचित्र क्रिया है। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि जो कोशिकाएँ इस भाँति उत्पन्न होती हैं, उनमें वर्ण-कण की संख्या आधी रह जाती है (पृ०५७२ का दाहिना चित्र)। इस रीति से पौधों की केवल जननेंद्रियों में ही विभाजन होता है। इस क्रिया द्वारा पेडों के रजोविन्दु और परागकण बनते है। इसी प्रकार पर्णांग और उनके भाई-बन्धुओं तथा ब्रायोफाइटा के रेणु उत्पन्न होते है।

वर्ण-कण का इस प्रकार बँटकर आधा रह जाना भी महत्वहीन नही है। आप आगे चलकर देखेंगे कि जब गर्भाधान होता है तो नर और मादा अंशो का संमिलन होता है। इस क्रिया में दोनो पैतृक नाभिकों का मिलन होता है और इस प्रकार माता और पिता के वर्ण-कण के संमिलन से सन्तान के नाभिक की रचना होती है। इसलिए यदि वर्ण-कण संमिलन के पहले आधे न रह गये होते, तो वे अब दूने हो जाते और इस भाँति सन्तान में अब इनकी संख्या दूनी हो जाती। आगे चलकर जब इन सन्तानों के फिर बीज उत्पन्न होते तो उनमें वर्ण-कण की संख्या चौगुनी हो जाती। इस प्रकार ज्यों-ज्यों नस्ल पुरानी होती जाती, वर्ण-कण की संख्या बढ़ती ही चली जाती। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष कोशिका-विभाजन द्वारा वर्ण-कण की संख्या सदैव समान बनी रहती है। कोशिका-विभाजन के और भी कुछ भेद है, जिनसे आप आगे चलकर परिचित होंगे।

ऊपर जो दोनों क्रियाएँ वर्णन की गई है, इनके द्वारा जीवों में कोशिकाओं की संख्या बढ़ती है। कभी-कभी कुछ कोशिकाएँ आपस में सम्मिलित होकर नलिकाएँ बनाती हैं। इस प्रकार पेड़ों की 'काष्ठ' और 'दुग्ध' नलिकाएँ बनती है। इन दोनों का हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे।

कोशिकाओं में परिवर्तन--एक से अनेक प्रकार की कोशिकाएँ कैसे बनती हैं?

जैसा आप देख चुके है, विभाजन द्वारा एक से अनेक कोशिकाएँ हो जाती है और इस प्रकार क्लैमाइडोमोनस-जैसे निम्न कोटि के जीवो में जो क्रियाएँ एक कोशिका द्वारा होती हैं, उनके लिए अब अनेक कोशिकाएँ हो जाती है। परन्तु यदि ये सारी कोशिकाएँ एक-सी रहें, जैसी कि क्लैडोफोरा (चि० पृ० ५७१) या स्पाइरोगायरा (चि० पृ० ५७०) जैसे पौधों में होता है, तो पेड़ों के सारे प्रश्न हल नहीं हो सकेंगे और उच्च कोटि के पौधों में भाँति-भाँति के काम-काज के लिए अलग-अलग सुभीता नही हो सकेगा। जैसे हमारे सभ्य
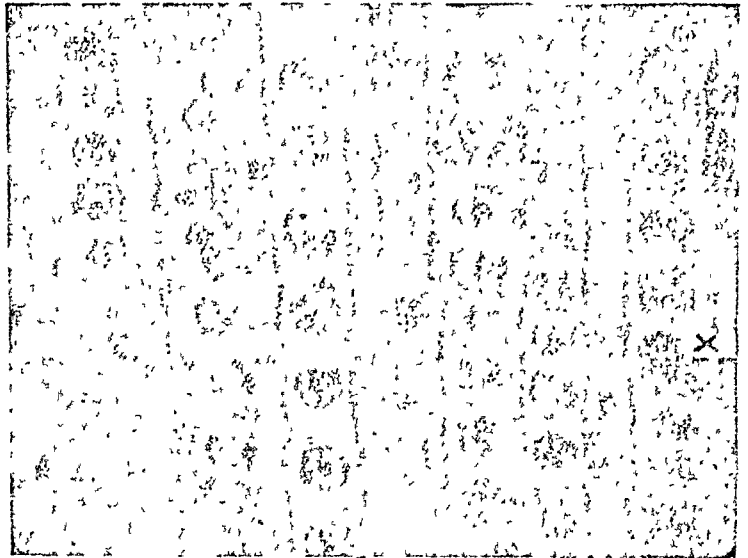
सूत से भी महीन प्याज की कत्तल का सूक्ष्मदर्शक से लिया गया फोटो
चित्र में दाहिनी बाजू में किनारे पर जहाँ × चिह्न अंकित है, वहाँ कोशिका विभाजित हो रही है। (फोटो—श्री० वि० मा० शर्मा)
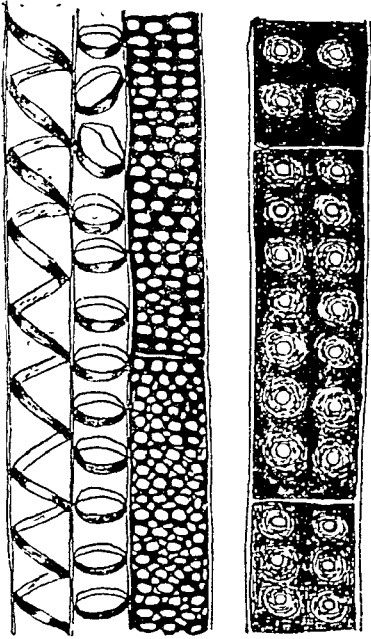
काष्ठकर

सबसे पहले काष्ठकर चूड़ियों या छल्लों के रूप में जमता है। क्रमशः ज्यों-ज्यों कोशिका पुरानी होती जाती है, ये चूड़ियाँ निकटवर्ती होती जाती है।
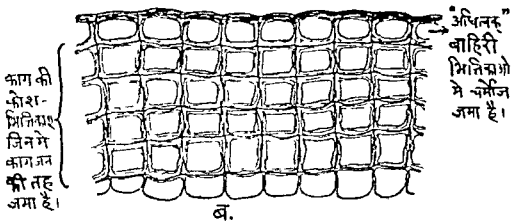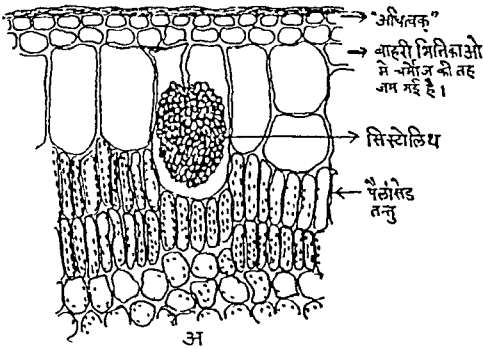
अधित्वक्, चर्मोज, पैलीसेड तंतु आदि

अ बरगद की पत्ती के आड़े कत्तल का चित्र है; ब में काग की कोशिका-भित्तियाँ दिखाई गई है।

समाज में व्यवसाय और पेशे के अनुसार रहन-सहन आदि में अन्तर पड़ता है--तरह-तरह की चीजें बनाने के लिए जुदा-जुदा सामान हमें चाहिए--उसी प्रकार पौधों में भी भाँति-भाँति के काम-काज अलग-अलग करने के लिए इनकी कोशिकाओ मे परिवर्तन होना आवश्यक है।

आप देख चुके है कि प्रारम्भ में सारी कोशिकाएँ एक समान होती है। इनकी बनावट और आकृति एक ही भाँति की होती है। (चि० पृ० ५७०)। उच्च कोटि के पेड़ों में अंकुर के बाहर निकलते ही पेड़ के सामने अनेक समस्याएँ उपस्थित हो जाती है। उसे तरह-तरह के कामो के लिए अलग-अलग व्यवस्था करनी होती है। उसकी पत्तियों को भोजन तैयार करना पडता है, इसलिए उनकी कोशिकाओं में इस काम के लिए कोई-न-कोई विशेषता होनी चाहिए। इन्हें आँधी और तूफान भी सहन करने पड़ते है, इसलिए इसका भी प्रबन्ध होना चाहिए। पेड़ के तने को शाखों और दूसरे अंगों को धारण करना पड़ता है और कभी-कभी उसे हजारों मन का बोझ उठाना पड़ता है। कितने ही आँधी और तूफान आएँ, फिर भी उसे इस बोझ को बराबर धारण किये रहना होता है। इसलिए तने में इसकी सामर्थ्य होना चाहिए। जड़ों को खाद्य पदार्थो के संग्रह के साथ-साथ पेड़ का रोपण भी करना होता है; कितनी ही प्रचंड वायु चले अथवा प्रबल धाराओं का सामना हो, उन्हे बराबर पेड़ को स्थान पर कायम रखना पड़ता है। जड़ों को इन दुर्घटनाओं को सहन करने का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। इसलिए पेड़ के आवश्यकतानुसार कोशिकाओं में भाँति-भाँति के परिवर्तन होकर नाना प्रकार के तन्तुओं की रचना हुई, जिनके संयोग से उनके अंग बने।

कोशिका-भित्ति में परिवर्तन

जैसे-जैसे कोशिका पुरानी होकर बढ़ती है, उसकी सूरत-शक्ल मे अनेक परिवर्तन हो जाते है। जैसा आप देख चुके हैं, ज्यों-ज्यो कोशिका पुरानी होती है, जीवद्रव्य सारी कोशिका को भर नही सकता और इस प्रकार उसमें नन्हे-नन्हें अनेक कुंड पड़ जाते है, जिनके सम्मेलन से मुख्य कुंड बन जाता है। कोशिका की बाढ के कारण कोशिका-भित्ति पर खिचाव पडता है और जैसे-जैसे ये बढ़ती है, वैसे ही यदि इनमें दूसरी वस्तुओं की तह जमकर दृढ न हो जाती, तो तनी हुई रबर की झिल्ली की भाँति ये पतली हो जातीं। परंतु साधारण कोशिकाओं में दृढ करनेवाली वस्तुएँ इतनी शीघ्रता से दीवालो मे जमती है कि उनकी बाढ के साथ भित्तियाँ और भी मजबूत तथा मोटी होती जाती है।

काष्ठकर

कोशिका-भित्तियों को दृढ़ करनेवाली वस्तुओं में सबसे प्रथम स्थान काष्ठकर (लिग्निन) का है। पेड़ों की लकड़ी का कठीलापन और मजबूती इसी वस्तु के कारण है। आम, नीम, बबूल, शीशम, सागौन, देवदार, आबनूस आदि की लकड़ी की दृढ़ता इसी काष्ठकर की बदौलत है। कोशिका में काष्ठकर का निर्माण जीवद्रव्य द्वारा होता है। जिस समय यह वस्तु बनने लगती है, इसकी तह सारी भित्ति पर समान रूप से नहीं जम जाती, बल्कि किसी स्थान पर वह रहती है और किसी पर नहीं रहती। सबसे पहले काष्ठकर चूड़ियों या छल्लों के रूप में भित्तियों पर जमता है। क्रमशः ज्यों-ज्यों कोशिका पुरानी होती है, ये चूड़ियाँ निकटवर्त्ती होती जाती है और इस प्रकार काष्ठकर की तह जालीदार हो जाती है। अन्त में जाली इतनी घनी हो जाती है कि कुछ अत्यन्त नन्हें-नन्हें स्थानों को छोड़कर सारी कोशिका-भित्ति पर काष्ठकर की तह जम जाती है और भित्तियाँ गर्तमय हो जाती है (पृ० ५७४ का ऊपरी चित्र)। वे स्थान, जिस पर काष्ठकर नहीं जमता, गड्ढे सरीखे दिखाई देते है। पास-पास की भित्तियों में ये गड्ढे आमने-सामने होते है और इसलिए ऐसे स्थानों में होकर रस एक कोशिका से दूसरी कोशिका में सुगमता से आ-जा सकता है। प्रायः इन गड्ढों के बीच में अत्यन्त महीन छेद भी होते है, जिनमें होकर जीवद्रव्य के रेशे एक कोशिका से होकर दूसरी कोशिका में पहुँचते है और इस प्रकार सारी कोशिकाओं का जीवद्रव्य आपस में मिला रहता है। इसी अनोखी क्रिया द्वारा कोशिका-भित्ति के मोटे और दृढ़ हो जाने पर भी कोशिका के अन्दर वस्तुओं का आना-जाना बंद नहीं होता।
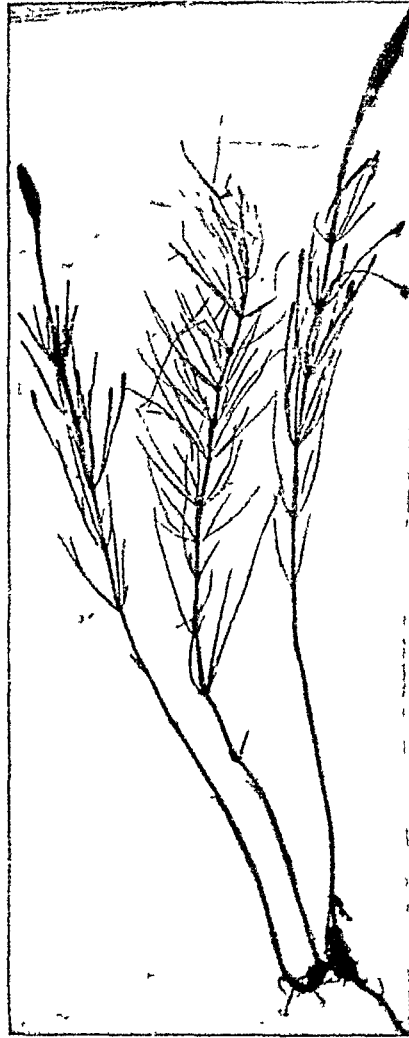
हरजुरी

इस पौधे की भित्तियों में सिलिका होती है। इसलिए यह दृढ़ और खुरदरा होता है।

[फोटो — वि० सा० शर्मा।]

कागजन

दूसरी रासायनिक वस्तु, जिसकी तह प्रायः कोशिका-भित्ति में जमा हो जाती है, कागकर या कागजन (सूबरिन) है (पृ० ५७४ के निचले चित्र में ब)। इसके जम जाने से भी कोशिकाभित्ति के गुणों में परिवर्तन हो जाते है। ऐसी कोशिकाएँ यद्यपि कठीली नहीं होती, परन्तु वे दृढ़ और चिमड़ी होती हैं।

कागजन में होकर जल प्रवेश नहीं कर सकता। अतः इस वस्तु की यह विशेषता पेड़ों के लिए परम उपयोगी है, क्योंकि जिन अंगों से जल-त्याग का भय रहता है, वहाँ पर इसके जम जाने से फिर हानि होने की सम्भावना नहीं रहती। जिस समय पेड़ों में गौण वृद्धि होने लगती है, तने और शाखों की छाल तनाव के कारण फट जाती है। इस प्रकार जल-त्याग से पेड़ को हानि पहुँचने का भय रहता है, परन्तु काग के निर्माण से यह भय जाता रहता है। साधारण काग एक प्रकार के शाहबलूत के पेड़ से उत्पन्न होती है।

चर्मोज

तीसरी वस्तु जिसके जमा होने से कोशिका भित्तियों के गुण में परिवर्तन हो जाते है, चर्मोज (क्यूटिन) है (पृ० ५७४ का निचला चित्र)। यह वस्तु प्रायः अधित्वक् की कोशिकाओं की सबसे बाहरी पर्त्त में जमा होती है। यह भी काग की भाँति जल के लिए अप्रवेशनीय है और इसलिए जल-त्याग को रोकती है। यह कोशिकाओं को जल से गीला होने से भी बचाती है। अधिकतर यह पदार्थ पत्तियों की बाहरी तह में जमा होता है।

इन वस्तुओं के अलावा और भी ऐसी अनेक वस्तुएँ है, जिनसे कोशिका-भित्ति के रासायनिक और भौतिक गुणों में परिवर्तन होते है। सिलिका इसी प्रकार की वस्तु है। इस वस्तु की तह अधिकतर घास और बेंत की कोशिका-भित्ति में
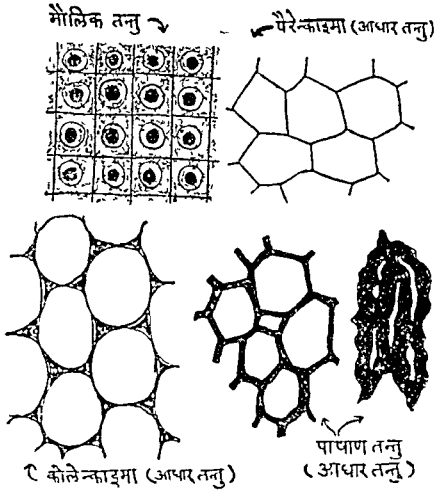
विविध प्रकार के तंतु-संस्थान

कोशिकाओं की वृद्धि और उनके परिवर्तन के फलस्वरूप अनेक प्रकार की कोशिकाएँ बन जाती है, जिनके अपने-अपने विविध कार्यों के अनुसार विविध कोशिका-समूह या तंतु-संस्थान बन जाते है।
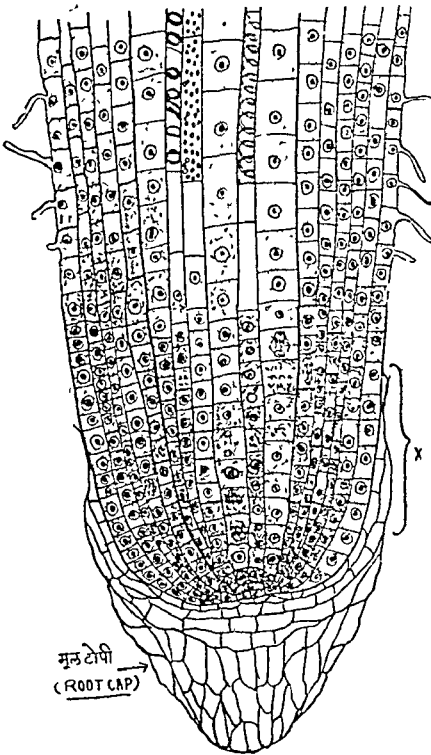
जड़ की एक कत्तल

X चिह्न द्वारा विभाजित होनेवाली कोशिकाएँ दिखाई गई है। ये क्रमशः ज्यों-ज्यों पुरानी होती है, इनमें परिवर्तन होकर विविध भाँति के तन्तु बन जाते हैं।

जमा होती है। हरजुरी (एववीजीटम) (पृ० ५७५ का चित्र) में भी यह वाहरी कोशिकाओ की वाहरी दीवालों में जमा होती है। सिलिका पौधो को मजवूत करती है। कभी-कभी रवे भी कोशिका-भित्ति में जमा हो जाते है। सिस्टोलिथ एक प्रकार के रवो का समूह है, जो वरगद-जाति के वृक्षो की पत्तियो के वाहरी पर्त्तो पर जमा होता है (पृ० ५७४ का निचला चित्र)। सूक्ष्मदर्शक से देखने पर यह अंगूर के गुच्छे-सरीखा दिखाई देता है। इस गुच्छे मे डंठल काष्ठोज का होता है और अगूर-सरीखे दाने खनिज रवे है।

कोशिकाओ की वाढ-वृद्धि और उनके भाँति-भाँति के परिवर्तन से अनेक प्रकार की कोशिकाएँ वन जाती है। इनके कार्यक्रम अनेक भाँति के हो जाते है और इस प्रकार अनेक कोशिका-समूह या तन्तु (टिश्यू) हो जाते है, जिनके मेल-जोल से विविध भाँति के तन्तु-संस्थान वन जाते है। इस प्रकार पौधो के प्रत्येक अंग मे कई पर्त्त हो जाते है, जिनकी रचना भाँति-भाँति की होती है (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र तथा पृ० ५७८ का चित्र)। इसकी परीक्षा हम गन्ना, कद्दू की वेल या अन्य किसी साधारण पौधे की जाँच से कर सकते है। इनमे अनेक प्रकार के तन्तु मिलेगे। इनके रेशे-रेशे में भाँति-भाँति की चित्रकारी दिखाई देती है, लेकिन प्रत्येक तन्तु की कोशिकाएँ एक तरह की होती है। इनकी आकृति समान होती है और इनके कार्य और कर्तव्य भी एक से होते है।

साधारण प्रकार से तन्तु-संस्थान के चार मुख्य भेद है—मौलिक (मेरिस्टेमैटिक); आधार (फंडामेंटल), रक्षक (प्रोटेक्टिव) और प्रवाहक (कंडक्टिव) तन्तु-संस्थान।

मौलिक तन्तु-संस्थान

इस तन्तु की कोशिकाएँ सदैव प्रारम्भिक अवस्था में रहती है। इनमें विभाजन-सामर्थ्य भी वरावर वना रहता है (पृ० ५७३ तथा इसी पृ० का ऊपरी चित्र)। ये पेड़ के वढ़नेवाले भागों में होते है और इन्ही से कोशिकाओं की संख्या वढ़ती रहती है। मौलिक तन्तु की कोशिकाएँ छोटी होती है। उनकी भित्तिकाएँ कोमल और छिद्रोज की होती है और उनमे जीव-द्रव्य और कोशिकाओ की अपेक्षा अधिक होता है। उनमें कुंड भी प्राय. नही होते और यदि होते है, तो अत्यन्त छोटे होते है। इन कोशिकाओं का नाभिक भी वड़ा होता है। यथार्थ मे ऐसे ही तन्तुओ में परिवर्त्तन से अन्य तन्तु वनते हैं (इसी पृष्ठ का निचला चित्र)।

आधार-तन्तु

पौधो के अगो के कोमल भाग प्रायः इन्ही तन्तुओं से वनते है। शाखो और जड़ो के वल्क (कॉर्टेक्स) और हीर

(पिथ), पत्तियों के अधित्वक् (एपिडर्मिस) और नसों के अतिरिक्त अन्य भाग, और फलों के अधिकांश भाग ऐसे ही तन्तुओं के बने होते हैं। बहुधा इस प्रकार के तन्तुओं की कोशिका-भित्ति कोमल होती है और इन कोशिकाओं में कुछ भी बड़े होते हैं। ऐसी कोशिकाओं में जीवद्रव्य जैसी वस्तुएँ बहुत समय तक सजीव रहती हैं। इन तन्तुओं के कई भेद हैं और इनके कर्त्तव्य भी अनेक हैं (पृ० ५७६ का ऊपरी चित्र)। पत्तियों में इन्हीं में से एक भाँति का तन्तु होता है, जिसे पैलीसेड तन्तु कहते हैं (चि० पृष्ठ ५७४)। इसकी कोशिकाओं में क्लोरोप्लैस्ट्स होते हैं, जिनके द्वारा कार्बोहाइड्रेट-संश्लेषण होता है। तनों और शाखों में एक प्रकार का तन्तु होता है, जिसे पाषाणतन्तु (स्क्लेरेन्कायमा) कहते हैं (चि० पृ० ५७६)। इसकी कोशिकाएँ काष्ठकर की तह जम जाने के कारण अत्यन्त दृढ़ होती हैं और इस प्रकार यह तन्तु पेड़ों को मजबूत करता है। वृक्षों के दुग्ध-तन्तु भी इसी समूह के हैं। दुग्ध-तन्तु खास-खास जाति के ही वृक्षों में होते हैं। इन तन्तुओं में विशेष भाँति की नलिकाएँ होती हैं, जिनमें दूधिया रस भरा रहता है। दुग्ध-नलिकाओं के दो मुख्य भेद हैं। एक प्रकार की नलिकाएँ कोशिकाओं के आपस में संमिलन से बनती हैं (इसी पृ० का ऊपरी चित्र)। वे कोशिकाएँ, जिनसे ये नलिकाएँ बनती हैं, कोई विशेष तरतीब में नहीं होतीं और न इनकी तरतीबवार शाखा-प्रशाखाएँ ही होती हैं। ये नलिकाएँ प्रायः आपस में मिल-जुल जाती हैं और इस प्रकार एक जाल-सा बन जाता है। दुग्ध-नलिकाओं के बनने की दूसरी रीति यह है कि वे कोशिकाएँ, जिनमें ऐसी नलिकाएँ बनती हैं, विभाजन द्वारा बढ़ती रहती हैं, परन्तु उनमें आड़ी कोशिका-भित्ति नहीं बनती और इस प्रकार एक लम्बी संयुक्त कोशिका (कोइनोसाइट) बन जाती है।

दोनों ही प्रकार की दुग्ध-नलिकाओं की कोशिका-भित्तियाँ कुछ मोटी होती हैं, परन्तु वे छिद्रोज ही की होती हैं। जीवद्रव्य और नाभिक भी इनमें सजीवावस्था में होते हैं। इस जाति के कुछ वृक्षों के सम्बन्ध में आप पिछले परिच्छेद में पढ़ चुके हैं। आप देख चुके हैं कि किसी पेड़ का दूध गहरा दूधिया, किसी का पीला, किसी का गुलाबी और किसी का पानी-सरीखा होता है। इस रस में कुछ वस्तुएँ घुली और कुछ अवलम्बित रहती हैं। ये प्रायः मलोत्सर्जित वस्तुएँ होती हैं। अफीम, गटापार्चा, रबर, गालिम, लोबान और अनेक भाँति के गोंद इसी तरह उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी ऐसी नलिकाओं में पौष्टिक पदार्थ भी होते हैं, जो नाइट्रोजनीय या अनाइट्रोजनीय होते हैं। थूहड़
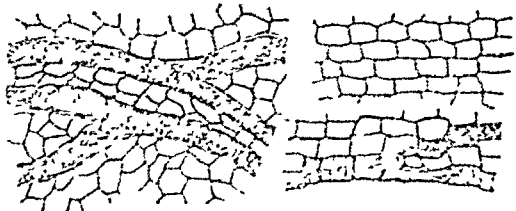
दुग्ध-नलिकाएँ
ये कोशिकाओं के पारस्परिक संमिलन से बनती हैं

एक तरह का थूहड़
इसके दुग्ध में माँड़ी के दाने होते हैं। (फो०—श्री वि० शर्मा)
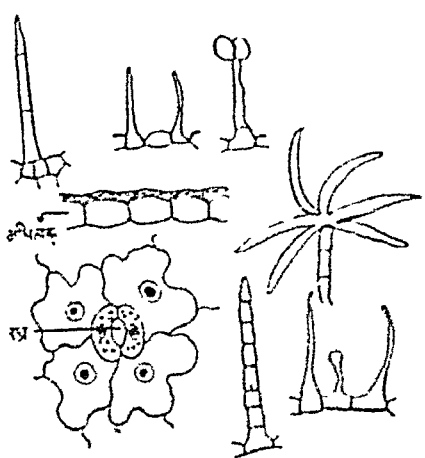
रंध्र और अधित्वक्
रंध्र और अनेक प्रकार के रोम अधित्वक् में ही परिवर्तन से उत्पन्न होते हैं।
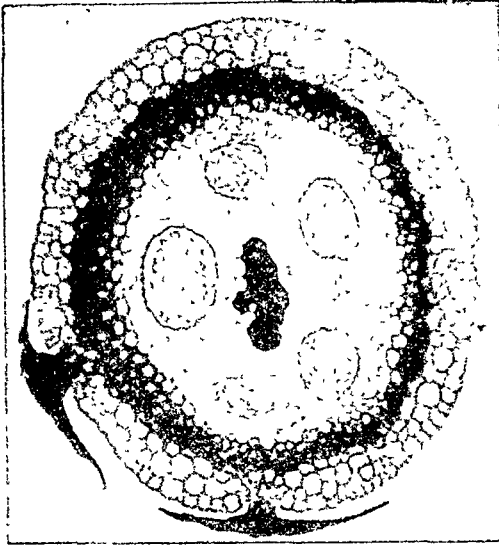
निफोबोलस नामक पर्णाङ्ग के मूलस्कंध की परिवर्द्धित झाँकी
वाहरी परिधि पर वाईं ओर तथा ऊपर दो स्केल दिखाई दे रही है।

(पृष्ठ ५७७ का चित्र) के दूध मे माड़ी के दाने भी होते हैं। इससे स्पष्ट है कि दुग्ध-नलिकाएँ किसी सीमा तक खाद्य पदार्थो के संचालन और उनके भांडार का भी काम देती है।

रक्षक तन्तु

पौधे के सभी कोमल अंगों में वाहर की ओर रक्षक तन्तु की एक पर्त होती है, जिसे अधित्वक् (एपीडर्मिस) कहते है (चित्र पृ० ५७४-५७७)। अधित्वक् की वाहरी भित्तियों में चर्मोज होता है, जिससे जल-त्याग की आशंका नही होती। वहुधा पौधों में अधित्वक् इकहरी होती है और इसकी कोशिकाएँ सजीव होती है। इनमें जीव-द्रव्य और नाभिक भी रहता है। कभी-कभी इन कोशिकाओं मे परिवर्तन भी होते है। जड़ों के सिरे की मूल टोपी, जो जड़ के कोमल अंग की रक्षा करती है, अधित्वक् से ही वनती है (पृ० ५७६ का निचला चित्र)। वरगद (५७४ के निचले चित्र मे) और रवर के जैसे पेड़ों में अधित्वक् के कई पर्त्त होते है। पत्तियों तथा पेड़ के अन्य वायुवर्त्ती अंगों मे अनेक सूक्ष्म छिद्र होते है, जिन्हें 'रंध्र' (स्टोमाटा) कहते है। प्रत्येक रंध्र में दो रक्षक कोशिकाएँ होती है (चित्र पृ० ५७७)। रंध्र का खुलना या वन्द होना इन्हीं कोशिकाओ के अधीन रहता है। परिस्थिति के अनुसार ये आपस में जुट जाती है या अलग-अलग हो जाती हैं और इस प्रकार रंध्र खुलते-मुँदते रहते हैं। अधित्वक् की कोशिकाओं में परिवर्तन से कभी-कभी अनेक भाँति के रोम वन जाते है (पृ० ५७७ का निचला चित्र)। वहुधा पत्तियों पर वर्तमान रोम इसी भाँति के होते है। गुलाव, वैंगन, भटकटैया आदि के काँटे भी इन्ही में से हैं। पहाड़ों पर उगनेवाली विच्छू-वूटी (अर्टिका) के काँटे भी इसी प्रकार के है। पर्णाङ्ग की पत्तियों पर उगे हुए घने रोम और उनके मूल स्कंध (ह्राइजोम) पर ढाल जैसी स्केल (इसी पृष्ठ का ऊपरी चित्र) भी अधित्वक् से ही उत्पन्न होती है। ये सभी रक्षक तन्तु में है। जड़ों और शाखों के पुराने अंगों में अधित्वक् के स्थान पर कार्क उत्पन्न हो जाता है। इसके कई पर्त्त होते है और इनमें कागकर की तह जमा हो जाती है।

झाँझर-नलिका और सहायक कोशिकाएँ
अ—फ्लोयम तंतु आड़े कत्तल के रूप में।
ब—वेड़े कत्तल के रूप में।

प्रवाहक तन्तु

पौधों में खाद्य रसों के संचार का काम ऐसी कोशिकाओं द्वारा होता है, जो वहाव के सिधान में वहुत लम्वी होती है और जिनकी आकृति भी असाधारण होती है। इस तन्तु-समूह में काष्ठ या जाइलेम (चित्र पृ० ५७४) और फ्लोयम (इसी पृष्ठ का निचला चित्र) हैं। इन दोनों ही के आकार, आकृति तथा कर्त्तव्य मे वड़ा अन्तर है, परन्तु अन्य तन्तुओ की भाँति ये भी मौलिक तन्तु से उत्पन्न होते है। काष्ठ के प्रधान अंग काष्ठ-कोशिका और काष्ठ-नलिका है (चित्र पृ० ५७४)। इन दोनों ही की कोशिका-भित्ति मोटी और कठीली होती है और दोनों का जीवद्रव्य भी वाढ़ समाप्त होने के पश्चात् ही समाप्त हो जाता है। दोनो ही में काष्ठकर की पर्त्त दृढ़ होने की क्रिया में छल्लेदार, चूड़ीदार अथवा गर्त्तमय या अन्य भाँति की हो जाती है (चि० पृ० ५७४)। इनमें अन्तर केवल यही है कि काष्ठ-कोशिका एककोष्ठी होती है, और वह एक कोशिका में परिवर्तन से ही वनती
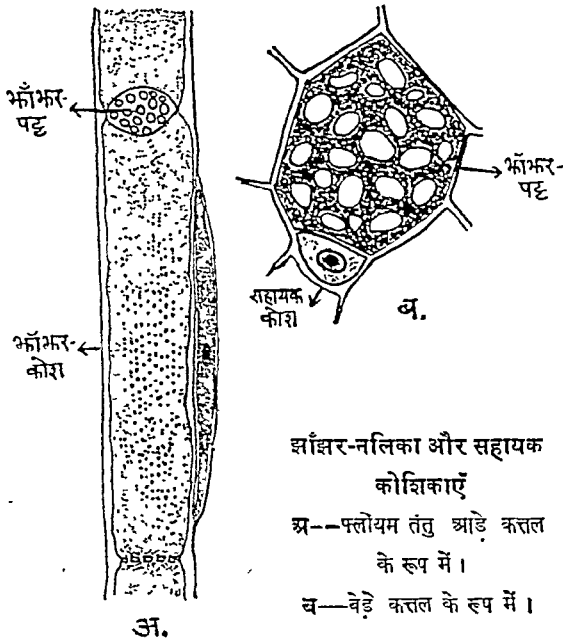
है, परन्तु काष्ठ-नलिका एक सिधान की अनेक कोशिकाओं के सम्मेलन से बनती है। इन कोशिकाओं की आड़ी भित्तियाँ क्षीण होकर गल जाती हैं और इस प्रकार इंच-दो इंच से लेकर कई गज तक लम्बी नलियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार की नलिकाएँ केवल गुप्तबीजी पौधों में ही होती हैं, शेष नलिकायुक्त पौधों में केवल काष्ठ-कोशिका ही होती है। काष्ठ-कोशिका और काष्ठ-नलिकाओं में ही होकर जड़ द्वारा संचित रस पत्तियों में पहुँचते हैं और इसलिए पौधे का सारा नलिकाक्रम आपस में मिला रहता है। जड़ के सिरे से, जहाँ से नलिकाएँ शुरू होती हैं, चोटी की ऊँची से ऊँची पत्ती तक की नलिकाओं का आपस में सम्बन्ध रहता है। भित्तियों के काष्ठ द्वारा दृढ़ और मोटा होने के कारण पेड़ के अंग मजबूत भी हो जाते हैं और इस प्रकार ये तन्तु जड़ों द्वारा संचित रसों को पेड़ के अन्य अंगों में पहुँचाने के साथ-साथ उन्हें सुदृढ़ भी बनाते हैं।

फ्लोयम में होकर संयोजित खाद्य पदार्थों का संचार होता है। इस तन्तु में दो प्रकार की रचना होती है—झाँझर-नलिका और सहायक कोशिका। झाँझर-नलिकाएँ एक सिधान की एक कतार में वर्तमान कोशिकाओं से बनती हैं। इन कोशिकाओं की आड़ी दीवालें विशेष प्रकार से मोटी और परिवर्तित हो जाती हैं। इनमें अत्यन्त महीन गड्ढे होते हैं, इसलिए इन्हें झाँझर-पट्ट कहते हैं (चि० पृ० ५७८) कभी-कभी ऐसे गड्ढे पार्श्विक भित्तियों में भी होते हैं। गड्ढों के कारण निकटवर्ती झाँझर-नलिकाओं का आपस में संसर्ग रहता है। झाँझर-नलिकाओं की कोशिकाएँ नाजुक और लम्बी होती हैं। इनमें कोशिकाद्रव्य होता है, परन्तु नाभिक जज्ब हो जाता है। जीवद्रव्य के अतिरिक्त इनमें अंडसित की भाँति की एक और भी वस्तु रहती है। इनमें नन्हे-नन्हे माड़ी के दाने भी रहते हैं। झाँझर-नलिकाओं के साथ-साथ गुप्तबीज पौधों में सहायक कोशिका भी होती हैं। सहायक कोशिका की भित्तिकाएँ कोमल होती हैं और इनमें जीवद्रव्य और नाभिक दोनों ही होते हैं। काष्ठ-नलिका और झाँझर-नलिका आदर्श रूप से गुप्तबीज पौधों में ही होती हैं।

इस परिच्छेद में हमने पौधे की आन्तरिक अवस्था पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। ऐसा तन्तु-विधान जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, केवल ऊँची कोटि के पौधों में ही होता है। शैवालादि, छत्राक, लाइकेन अथवा लिवरवर्ट् (इसी पृष्ठ का चित्र), आदि निम्न श्रेणी के पौधों की रचना अत्यन्त सरल होती है। इन पौधों में तन्तु-विभेद बहुत कम होता है। इनकी कोशिकाएँ भी सारी एक सरीखी होती हैं। इन पौधों की कोशिकाओं की भित्तियाँ भी पतली ही होती हैं (चि० पृ०५७०-५७१)।
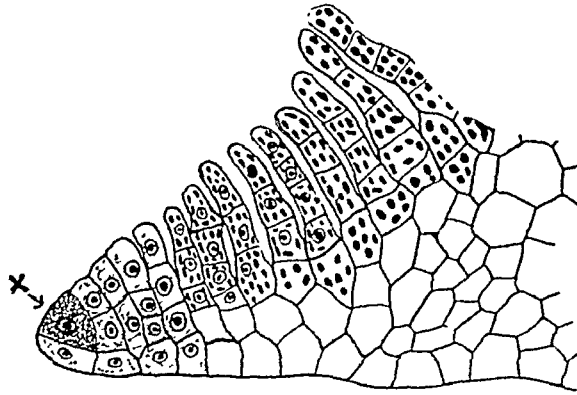
एक साधारण लिवरवर्ट 'रिक्सिया'

इस चित्र से इस जाति के पौधों की आन्तरिक रचना का पता चलता है। सारी कोशिकाएं × चिह्नवाली कोशिकाओं के विभाजन से उत्पन्न होती हैं। ये कोशिकाएं यद्यपि अनेक होती हैं, पर उनकी रचना अत्यंत सरल होती है, उनमें तन्तु-विभेद नहीं होता।

उच्च कोटि के पौधों की रचना और उनके कार्य-क्रम के प्रबन्ध पर विचार करने से अब आपको विश्वास हो गया होगा कि ये अद्भुत और असाधारण जीव हैं। इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं कि इनकी बनावट तथा कार्य-प्रणाली की कितनी ही बातें हैं, जिनमें ये मनुष्य को छोड़ किसी भी अन्य जीव से कम नहीं। प्रत्येक पौधे की तुलना हम एक सुन्दर जीते-जागते नगर से कर सकते हैं, जिसमें प्रतिक्षण कितनी ही नई इमारतें बनती और पुरानी गिरती रहती हैं; जिसमें कितनी ही लम्बी-चौड़ी सड़कें, तंग रास्ते और गली-कूचे हैं; जहाँ अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग प्रबन्ध है। एक ओर अनेक कारखाने हैं, जहाँ मनों निशास्ता बन रहा है। दूसरी तरफ कितनी ही डेरियाँ हैं, जहाँ घड़ों दूध जमा है। किसी ओर सैकड़ों शक्कर के कारखाने हैं, जहाँ गुड़, मिश्री आदि तैयार हो रहे हैं। कहीं पर रसायनशालाएँ हैं, जहाँ अनेक प्रकार के रवे बन रहे हैं। कहीं पर इत्र और तेल के कारखानें हैं, जहाँ भाँति-भाँति के सुगंधित द्रव्य बनाये जा रहे हैं। किसी ओर रँगरेजों और रंगसाजों की दूकानें हैं, जहाँ कितने ही प्रकार के रंग और वार्निश तैयार हो रहे हैं। कितने ही चितेरे और

चित्रकार एक ओर बैठे अपने काम में व्यस्त हैं। कितने ही चरखे और करघे चल रहे हैं। हम इन नन्हें-नन्हें कारीगरों को काम में निरंतर संलग्न पाते है। सभी अपनी-अपनी धुन में मग्न है। कितनी ही क्रियाएँ है, जिन्हें हम सूक्ष्मदर्शक से देख भी सकते है, यद्यपि यह कोई नही समझ पाता कि उनके विचित्र परिणाम किस प्रकार होते है। ऐसी स्थिति में हमारा वैज्ञानिक गर्व चूर्ण हो जाता है। हम एक ऐसी अनोखी दुनिया में जा पहुँचते है, जहाँ की परिस्थिति का हमे अधूरा ज्ञान है।

हम शक्तिशाली से शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक उठाते है और इसके सहारे रात-दिन परिश्रम कर पता लगाने का प्रयत्न करते है, परन्तु फिर भी रहस्य गुप्त ही बना रहता है। जो वस्तुएँ तैयार हो रही है, वे हमसे छिपी नही है। हमारे सामने उनके ढेर-के-ढेर लग रहे है। हम इन्ही आँखो से उन्हे बनते देखते है। यही नही, हम कितनी ही घटनाओं के कारणों का भी पता लगा लेते है; परन्तु फिर भी इन सबकी ओट में वह रहस्य है, जिसे 'जीवन' कहते है, जिसके भेद का हमें कुछ भी पता नही। इसका रहस्य हमसे परे है। यही पर हमको हताश हो हार माननी पड़ती है। ज्यो-ज्यों हम इन सूक्ष्म, सजीव, पारदर्शी, आकृतिहीन जीवद्रव्य के कणों को गतिवान् देखते है—उन्हे अपने नाजुक रेशे बढाते या मद-मद गति से कोशिकाओं में हिलते-डुलते देखते हैं—हम विस्मयपूर्वक प्रश्न करते है कि आखिर यह कैसे होता है? परन्तु हमारे इस प्रश्न का कोई उत्तर नही मिलता। सूक्ष्म कोशिकाएँ अपने काम की धुन मे मस्त है। हमारा प्रश्न ज्यो-का-त्यों रहस्य पूर्ण बना रह जाता है। हमे निराश होकर स्वीकार करना पडता है कि प्रकृति की कुछ लीलाओं का रहस्य आज भी, जब कि मनुष्य को अपनी वैज्ञानिक उन्नति का इतना गर्व है, हम से परे की वस्तु है। सम्भव है, वह सदा ही हमसे छिपा रहे!

इस विशाल वृक्ष की तुलना एक आधुनिक महानगरी से की जा सकती है

सैकड़ों जटाओं से युक्त बरगद का यह विशाल विटप कहने को एक वृक्ष है, परन्तु वस्तुतः यदि इसके कार्य-कलाप का संपूर्ण विवरण दिया जाय तो इसकी तुलना एक आधुनिक महानगर से हमें करनी होगी, जिसमें कितनी ही इमारतें, कितनी ही सड़कें और तग गली-कूचे, कितने ही कारखाने और रसायनशालाएं आदि होती है, जिनका अपना-अपना सुनिश्चित कार्य होता है।

जीवधारियों का पृथ्वी पर क्रमानुसार प्रवेश

इस स्तंभ के पिछले लेख में पृथ्वी की उस विचित्र आत्मकथा या डायरी का हमने उल्लेख किया था, जिसके पन्नों पर उसने स्वयं अपना इतिहास लिख रक्खा है। आइए, इस लेख में उस अद्भुत आत्मकथा को उलट-पलटकर देखें कि पृथ्वी पर जीवन का विकास किस क्रम से हुआ।

भूतकाल के प्राणियों का पता कैसे चलता है?

पिछले एक लेख में आप पढ़ चुके हैं कि पृथ्वी पर पहले-पहल जीव का उदय कब और कैसे हुआ। उस लेख में अथवा "भूपृष्ठ पर होनेवाली घटनाएँ और उनका प्रभाव" शीर्षकवाले इसी खंड के अन्य एक लेख में बतलाया जा चुका है कि पृथ्वी का रूप निरन्तर घटित घटनाओं द्वारा किस प्रकार बदलता रहा है। पृथ्वी पर जब आदि वनस्पति अथवा जीव का जन्म हुआ, उस समय भी उसके धरातल का घिसना और कटना जारी था तथा उपर्युक्त लेख मे वर्णित घटनाएँ उस पर घटित होने लग गई थी। करोड़ों वर्ष पूर्व वर्षा, आंधी, भूकम्प, नदी के बहाव तथा अन्य घटनाओ का प्रभाव पृथ्वी की रचना पर पड़ने लगा था। इसके फलस्वरूप पृथ्वी के तत्कालीन चिप्पड़ का विनाश और उसके स्थान पर नई तहों का निर्माण होने लगा था। जल तथा वायु द्वारा बड़े-बड़े गगनचुम्बी पर्वत कट-कटकर महासागरो की तहों में जमा होने लगे थे, जिससे समुद्र की तह मे नई शिलाओं का निर्माण होने लगा था। तत्कालीन आदि जीव मरते तो रहे ही होंगे। उनमें से कुछ ऐसे जीव, जिनकी खाल या अंग कड़े थे, मरने के बाद इन क्रमश: बननेवाली नई चट्टानों की तहो मे दब-दबकर सुरक्षित होते गये। उनमें से बहुतेरे तो पत्थरो के दबाव से नष्ट हो गये, परन्तु कुछ के शव प्रस्तर-विकल्प (फॉसिल) बनकर अभी तक विद्यमान है। इस तरह समय-समय पर बनने-वाली शिलाओं की पर्तो में उस समय के जीवो के जो प्रस्तर-विकल्प बनते गये, उन्ही से पृथ्वी की वह अद्भुत डायरी तैयार हो गई, जिसके अध्ययन के द्वारा हम भूत-काल के जानवरों का पता लगाने में समर्थ हो सके है। इस नोट-बुक के पृष्ठों का विस्तृत विवरण तथा प्रस्तर-विकल्पो की खोज का मनोरंजक इतिहास तो हम आगे चलकर पढ़ेंगे। यहाँ केवल इस नोट-बुक के अनुसार वर्तमान काल के विविध पशु-समूहों के विकास-क्रम का संक्षेप में उल्लेख करेंगे कि इन समूहों में से कौन किसके बाद अवतीर्ण हुआ।
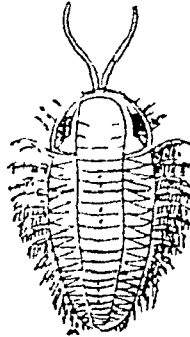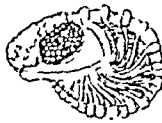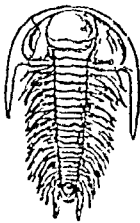
झींगा तथा बिच्छू जैसे आदि त्रिखंडी जीवों के अवशेष

अपने शरीर के प्रत्येक जोड़ में तीन खंड होने के कारण ये त्रिखंडी कहे जाते हैं। (बाईं ओर) कैम्ब्रियन काल के ऐसे एक जीव का चित्र। उस समय इनके नेत्र नहीं होते थे। (मध्य में) सिलूरियन काल में इनके नेत्र थे और अपनी रक्षा के लिए ये लपटकर दोहरे हो जाते थे। (दाहिनी ओर) डेवोनियन काल का एक त्रिखंडी जीव। इसमें नेत्र और टाँगें इत्यादि हैं।

आदि जीव कैसे थे?

जीवन की उत्पत्ति के विषय में तो जो कुछ भी कहा जा सकता है, उसे पहले ही हम लिख चुके है, किन्तु हम यह निश्चित रूप से न तो जानते ही है और न शायद कभी जान ही सकेंगे कि आदि जीव कौन थे। उनके बारे मे जो कुछ उचित रूप से कहा जा सकता है, वह यही है कि वे

बहुत ही सूक्ष्म अदृष्ट बैक्टीरिया तथा सड़ानेवाले कीटाणुओं की भाँति के अत्यंत सूक्ष्म जीव रहे होंगे। यदि हम जीवन के उस उदयकाल में किसी निरीक्षक के अस्तित्व की कल्पना कर सकें तो हमारी ही तरह उस कल्पित व्यक्ति के लिए भी बैक्टीरिया-जैसे उन नन्हें आदि प्राणियों को बिना यंत्रों की सहायता के देख सकना असंभव ही होगा।

सर आर्थर टामसन के अनुसार यह भी निश्चित ही है कि आदिम जीव न तो निश्चित रूप से वनस्पति कहे जा सकते थे, न जानवर ही। उनमें दोनों ही के सूक्ष्म लक्षण रहे होंगे। वे जीवन की इन दोनों पंक्तियों के बीच डाँवाडोल हो रहे थे। वे पानी तथा उसमें घुले हुए नमको और कार्बन डाइ-आक्साइड को ही भोजन के रूप में ग्रहण करके, अत्यन्त साधारण रीति से जीवन-निर्वाह करते हुए, अपने ऐन्द्रिक पदार्थों को इन साधारण वस्तुओं से ही बना लेते थे। अतः वे जानवरों की अपेक्षा वनस्पतिवर्ग के ही अधिक समीप रहे होंगे। ऐसे ही जीवों से, जिन्हे हम न वनस्पति कह सकते है और न जानवर ही, एक बढ़ते हुए अंकुर की दो शाखाओं की तरह दो प्रकार के जीव निकले—एक वास्तविक जीव-जन्तु और दूसरे वास्तविक पेड़-पौधे। अथवा यों कहिये कि वनस्पति और प्राणियों की दो अलग-अलग प्रवाहित होने-वाली धाराएँ अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक ही झील या नदी से निकली। यही कारण है कि अब भी सबसे नीची श्रेणी के जानवरो और पौधों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उनमें से कुछ ऐसे है, जिन्हें वनस्पति-शास्त्री पौधे मानते है; किन्तु जन्तु-शास्त्रवेत्ता उनकी गणना जान-वरों में करते हैं।

यह निश्चय है कि जन्तुओं और पौधों दोनों ही के आरम्भिक रूप एक ही कोशिका के बने थे। बहुकोष्ठी शरीरवाले जीव बाद में जनमे होंगे। ये एककोष्ठी जीव अपने वर्तमान प्रतिनिधियों के समान स्वाभाविक मृत्यु से अवश्य मुक्त रहे होंगे, क्योकि जब एककोष्ठी जीवाणु बढ़कर अपने निश्चित आकार को प्राप्त कर लेता है तो विभाजित होकर वह दो छोटे-छोटे जीवाणुओं में बदल जाता है। ये दोनों बढ़कर जब पूरे डील पर पहुँचते हैं तो वे भी उसी प्रकार दो से चार व्यक्ति बन जाते है। इसी तरह उनकी नई-नई सन्तानें उत्पन्न होती जाती है और उनकी नस्ल कायम रहती है। उनकी मृत्यु तभी होती है, जब कि उन्हें अन्य कोई जीव खा डाले, या जिसमे वे रहते है वह पानी ही सूख जाय।

जब जीवधारी एककोष्ठी से बहुकोष्ठी हो गये तो उनमें कुछ विशेषताएँ भी आ गई। धीरे-धीरे उनके शरीर बड़े होने लग। उनकी कोशिकाएँ अलग-अलग समूहो में बँट गई और प्रत्येक समूह के अलग-अलग कार्य भी निश्चित हो गये। सबसे निकृष्ट श्रेणी के जन्तुओ के विवरण में आगे चलकर आप देखेंगे कि कुछ एककोष्ठी जीव ऐसे भी है, जिनमें विभाजन होने पर जो नई कोशिकाएँ बनती है वे एक दूसरे से बिल्कुल अलग न होकर चार, आठ या इससे भी अधिक संख्या मे समूहों मे एकत्र होकर एक दूसरे से मिली रहती है। साथ ही आप यह भी देखेंगे कि कुछ जीव ऐसे भी होते है, जिनमें ये विभाजित कोशिकाएँ केवल सटी हुई ही नहीं होती वरन् उनमें आपस मे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध भी हो जाता है। यह बात हम आजकल भी तालाबों में मिलनेवाले वौलवौक्स नामक गोलाकार जीव में देखते है, जो वनस्पति और प्राणी दोनों ही में गिना जा सकता है। सरसों के दाने के बराबर खोखले रबड़ की गेद-जैसे आकार के इस जन्तु में कई सौ कोशि-काएँ होती है। यह जीव अब भी पौधों और जानवरों की दुनिया के बीच एक विवाद का विषय है। इनमें से अधिकांश तो एक जैसे ही होते है और एक लाक्षणिक एककोष्ठी जीव की भाँति खाते, बढ़ते और विभाजित होकर एक से क्रमशः दो हो जाते है, किन्तु दो-चार उनसे छोटे और भिन्न भी होते है, तथा नया वौलवौक्स या दूसरा वौलवौक्स इन्हीं के द्वारा बन सकता है। बड़ी कोशिकाएँ खाना प्राप्त करती है, तथा कम संख्या मे पायी जानेवाली छोटी कोशिकाएँ सन्तानोत्पा-दन करके अपनी नई बस्तियाँ बसाती हैं, जो पुनः बढ़कर पहले-जैसे सहस्र-कोष्ठी गोलाकार जीव का रूप ग्रहण कर लेती है। इस जीव की कोशिकाओ में इन दोनो कार्यो के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही बँटा है।

साधारण जीवों में तन्तु और अंग कैसे बने?

इससे ऊँची श्रेणी के जीव वे है, जिन्हें हम स्पंज (समुद्र-सोख) कहते है। ये बहुत तरह के होते है, परन्तु इनका सबसे परिचित उदाहरण वह है, जो बाजारों में साफ करके स्पंज के नाम से बेचा जाता है। यह एक नरम और सूराखों से भरा हुआ रुई का-सा पदार्थ होता है। पानी में रखने से यह अपने सूराखों द्वारा पानी खींचकर फूल जाता है और निचो-ड़ने से इसमें से पानी पुनः निकल जाता है। कदाचित् इसी कारण उसको समुद्रसोख कहते है। यह स्पंज एक जीवाव-शेष है। यह बालकों की स्लेटे पोंछने के लिए, शरीर को धोने के लिए एवं अस्पतालों या निरीक्षणशालाओं में घावों से खून को सुखाने के काम में आता है। इस प्रकार के जीवों में शरीर के ऊपरी पर्त्त में एक प्रकार की कोशिकाएँ होती है और वे एक ही प्रकार का कार्य भी करती हैं, किन्तु

पृथ्वी पर जीवधारियों के क्रमानुसार प्रवेश का कालचक्र

१—आदि सूक्ष्म जीव, जिनसे दो शाखाएँ फूटीं—एक ओर वौलवौक्स जैसे जीव और दूसरी ओर एक स्थान में टिककर रहनेवाले एक-कोष्ठी और बहुछिद्री जीव; २—आदिम त्रिखंडी, घोंघे, आदि; ३—बड़े झींगे जैसे समुद्री बिच्छू और केकड़े आदि; ४—आदिम आवरणयुक्त मछलियाँ, जिनमें प्रथम रीढ़ का आविर्भाव हुआ; ५—प्रथम जलस्थलचर जंतु, जिनमें पहले-पहल हाथ-पैर निकले; ६—जलचर और स्थलचर उरगम, जिनके आने पर जीव जल से स्थल पर आया; ७-८—भीमकाय दैत्याकार आदि उरगम तथा उड़नेवाले जंतु; ९—स्तनपोषित जीव; वानर, हाथी आदि का प्रवेश; १०—आदिम और वर्तमान मानव। चक्र की कोर पर पृथ्वी के इतिहास के उन विविध युगों या महाकल्पों के नाम दिये गये हैं, जिनमें जीवन के ये विविध रूप क्रमशः प्रकट हुए।

भीतरी तहों की कोशिकाएँ दूसरी तरह की होती हैं और उनके कर्त्तव्य भी भिन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त कोशिकाओं के अन्य समूह भी होते हैं, जिनमें से कुछ नरम शरीरों को सहारा देने की वस्तुएँ बनाते हैं, और कुछ सन्तानोत्पादन का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। इसलिए इनमें वौलवौक्स की कोशिकाओं की अपेक्षा कार्यों का विभाजन अधिक बढ़ा-चढ़ा

है, यद्यपि इनके शरीर में अभी कोशिकाएँ अलग-अलग अगो मे नही बँट् पाई है। यह बात इनसे उच्च श्रेणी के जीवों के समूहो मे पाई जाती है, जिन्हे कोलेन्टरेट्स या चुभनेवाले जीव का नाम दिया गया है। ये सब नरम शरीरवाले, छोटे या बड़े आकार के होते है तथा अधिकतर सागरो में ही निवास करते है। परन्तु कुछ नदी और तालावो में भी दिखलाई पड़ते है, जैसे हाइड्रा, जो हमारे देश की सभी वड़ी झीलो या नदियो के पौधो पर पाये जाते है। जीवो के इतिहास में सबसे पहले इसी समूह के प्राणियो मे हम यह बात देखते है कि नाना प्रकार के समूहो के विविध कोशिका-तन्तु बन गये है, और यही तन्तु अलग-अलग साधारण अंगों के रूप मे एकत्रित है। इसमें सन्देह नही है कि ये तन्तु और अंग बहुत ही साधारण है, इसलिए इनके कर्त्तव्य भी उतने पेचीदा नही है जितने ऊँची श्रेणी के जीवों के होते है। उनमें पाचन-क्रिया के तन्तु, अंगरक्षा करने के तन्तु, इन्द्रिय-ज्ञान तथा वोध के तन्तु और उत्पादन-तन्तु अलग-अलग पाये जाते है। किन्तु इन चुभनेवाले पानी के जीवों के शरीर ऐसे सरल है कि उनके दाहिने-बायें या आगे-पीछे (सिर-पूंछ) में कोई स्पष्ट भेद नहीं जान पड़ता। उनमें भोजन करने और मल-मूत्र त्यागने के लिए एक ही मार्ग होता है। उनमें हमारी तरह न तो मस्तिष्क है, न हृदय, न कान; फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वे अपना जीवन हमसे कही घटिया तरह से बिताते है।

इनसे भी आगे चलकर और भी ऊँची श्रेणी के जीवो मे ज्यो-ज्यो कोशिकाओं की सख्या वढ़ती गई, त्यों-त्यों नियुक्त कर्त्तव्यों को करने के लिए उनमें अलग-अलग कोशिकाएँ विभाजित होती गई, तथा ज्यो-ज्यों ये तन्तु और अंग सरल से मिश्रित होते गये, त्यों-त्यों उन जानवरों के शरीर अधिक जटिल होते चले गये। यही कारण है कि आज हम पृथ्वी पर सहस्रों प्रकार के भिन्न-भिन्न रूप के साधारण से साधारण तथा जटिल से जटिल जीव देखते है।

जीवधारियों में मृत्यु और सन्तानोत्पादन

आपको कदाचित् यह बात सुनकर महान् अचम्भा होगा कि इन एककोष्ठी जीवो मे मृत्यु कभी होती ही नही ! परन्तु वास्तविक बात यही है कि स्वाभाविक रूप से उनका शरीर कभी भी विनष्ट नही होता। केवल जब कभी उन पर कोई आपत्ति आ जाती है तभी वे मरते है। आप कहेगे कि जब ये जीव हमारी ही तरह भोजन करते और बढ़ते है, साथ ही मरते भी नही है, तो फिर इतने छोटे ही क्यो बने रहते हैं कि हमें आँख से दिखलाई तक नही देते ? इसका कारण यह है कि जब ये एककोष्ठी जीव खा-पीकर छोटे से बड़े होते है तो उनके शरीर लगातार बढ़ते नही चले जाते, वरन् जब वे अपनी जाति के निश्चित डील पर पहुँच जाते है तो उनका सारा शरीर विभाजित होकर एक जीव से दो संतानों के रूप मे बँट जाता है। जीवधारियो का मृत्यु से तब सामना पड़ा, जब उनके शरीर एककोष्ठी से बहुकोष्ठी और बनावट मे पेचीदा होने लगे। इससे उनके शरीर में थकान और घिसाव आने लगा और इन अवगुणो से छुटकारा पाने का जब कोई भी उपाय न रहा तब वे वृद्ध होने लगे। अंत में जब उनके मार्मिक अग आगे कार्य करने मे असमर्थ हो गये तो वे मरने लगे। यही बात हम अपनी बनाई हुई हर प्रकार की कलो मे भी देखते है। उनकी रचना जितनी ही साधारण होती है उतने ही अधिक समय तक वे काम देती है, और बिगड़ जाने पर उतनी ही सरलता से ठीक हो जाती है; पर वे जितनी ही पेचीदा होती है, उतनी ही जल्दी बिगड़ जाती है, और उनका बनाना भी उतना ही कठिन हो जाता है। बहुत ही पेचीदा कले तो प्राय: बिगड़ जाने पर फिर कभी बन ही नही पातीं।

जब जीवधारियों ने पेचीदा शरीर धारण किये और उनकी स्वाभाविक तौर पर मृत्यु होने लगी, तब उनके लिए विकास की दूसरी सीढ़ी पर चढ़ना आवश्यक हो गया, अर्थात् उनमें कुछ कोशिकाएँ सन्तानोत्पादन के लिए ही नियुक्त हो गई। इसमे सदेह नही कि साधारण रीति से सारे शरीर के विभक्त होकर एक से दो सन्तान बनने या एक शरीर से दो-चार कलियाँ फूटकर उतनी ही संतान पैदा होने से कही अधिक अल्पव्ययी रीति एक जीव से बहुत-से बच्चे पैदा करना है। ऐसा प्रतीत होता है कि सन्तानोत्पादन की यही रीति शायद सभी बहुकोष्ठी जीवो ने ग्रहण की। इसमें और भी लाभ थे। उदाहरणार्थ, माँ-बाप के शरीर पर साधारण जोखम आ जाने से उनकी भावी संतान पर उसका कोई भी प्रभाव इस रीति मे नही पड़ता था। इस तरह अन्त मे बीज-कोशिकाओ में भी भिन्नता आ गई। वे दो प्रकार की हो गई, जिससे स्त्री और पुरुष के रूप बने और नये जीव के बनने के लिए इन दोनों प्रकार की बीज-कोशिकाओं का एक दूसरे से मिलना आवश्यक हो गया। इसलिए प्रत्येक सन्तान की उत्पत्ति दो प्राणियों--माता और पिता--के ऊपर निर्भर हो गई। हम आगे चलकर देखेगे कि उनके उन्नति के मार्ग में यह एक बहुत ही विशेष बात हुई, जिसने कि उन्हे प्रगतिशील, परिवर्तनशील और अधिक जटिल रचनाएँ पैदा करने के योग्य बना दिया। इसी प्रकार जीवो के सरल से जटिल बनने
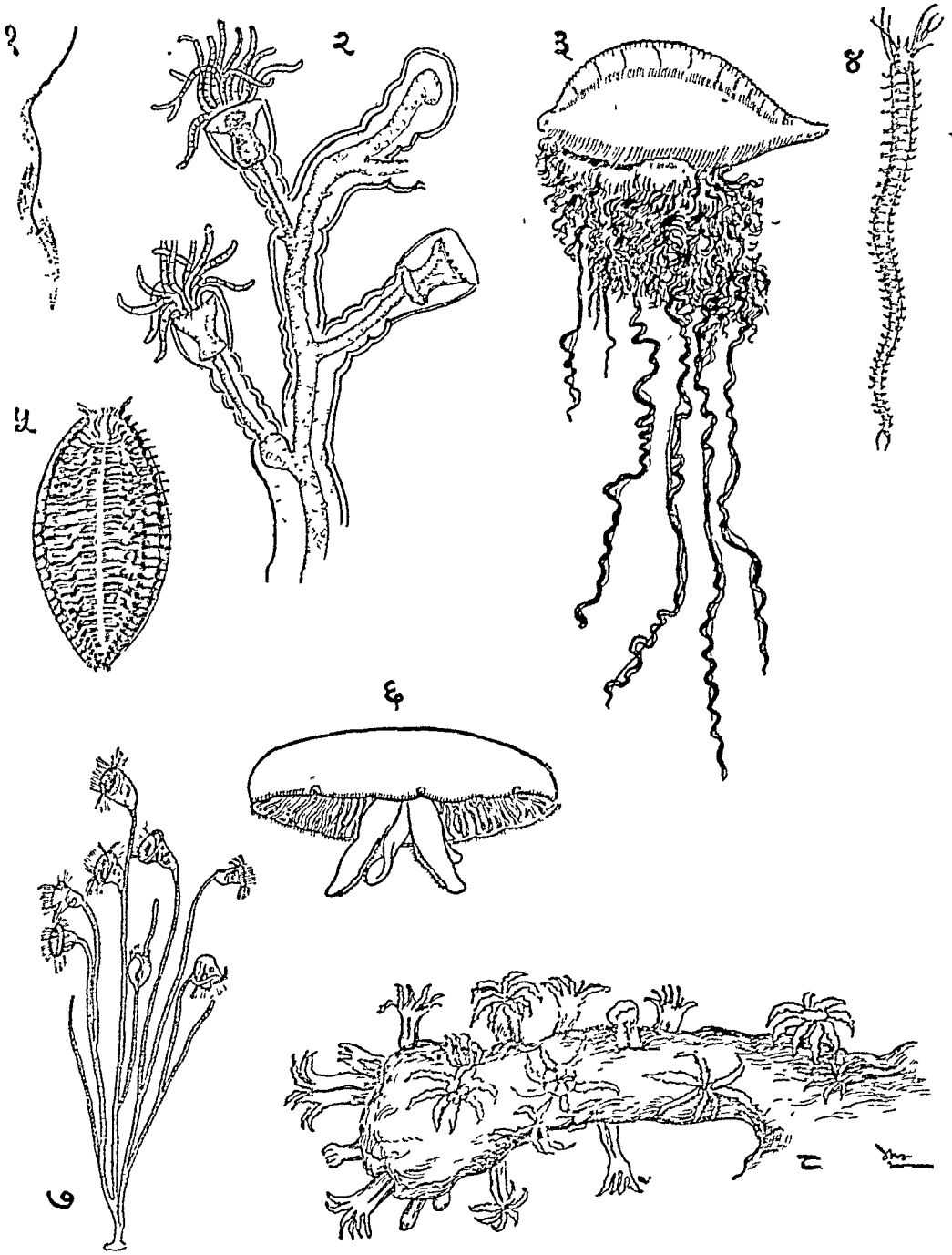
नीची श्रेणी के कुछ सामान्य अपृष्ठवंशी

१—तंद्राज्वर उत्पन्न करनेवाला एककोष्ठी कृमि ट्राइपैनोसोम। २—मूँगा-वंश का एक समुद्री जीव 'ओबीलिया', जो पौधे जैसी शाखाएं फैलाकर बढ़ता और समुद्री पदार्थों में लगा रहता है। इसमें और सं० ८ के चित्र में फूल की पँखुड़ियों-जैसे अंग इन जीवों के मुख के चारों ओर की मूँड़ें हैं। ३—मूँगा-वंश का एक तैरनेवाला समुद्री जीव, जिसे 'पुर्तगीज रणपोत' कहते हैं। ४—केंचुए-जैसा एक जीव 'नीरिस', जो समुद्र में तैरता और बालू में जीवन व्यतीत करता है। ५—नीरिस की जाति का एक अन्य जीव, जिसे 'समुद्री चूहा' कहते हैं। इस पर कड़े रोएँ होते हैं, जिनमें से अँधेरे में रंगबिरंगी रोशनी निकलती है। ६—'जेली-फिश', जिसका शरीर बहुत नरम होता है और जो समुद्र की ऊपरी सतह पर तैरा करती है। इसमें चार भुजाएं होती हैं और छाते की डंडी की तरह बीच में मुँह होता है। ७—एक प्रकार के एककोष्ठी समुद्री जीव, जो एक स्थान विशेष में उपनिवेश बसाकर रहते हैं। ८—मूँगा। इसी का लाल ठठल काटकर और पालिश करके मूँगे के नाम से बाजारों में बिकता है।

की कहानी आगे बढ़ती चली गई। इस छोटे-से लेख में एककोष्ठी जीवों से हाथी और ह्वेल-जैसे विशालकाय एवं जटिल तथा मनुष्य-जैसे विकसित जीवों के क्रम का विस्तार-पूर्वक वर्णन करना संभव नही है। इसलिए यहाँ पृथ्वी पर एक के बाद दूसरे जीव के प्रवेश का सिर्फ खाका मात्र खीचकर हमें संतोष करना होगा।

एक के बाद दूसरे अपृष्ठवंशियों का आगमन

सबसे पहले के प्राणियों में पीठ या रीढ़ की हड्डी न थी, अर्थात् वे प्राणिवर्ग के अपृष्ठवंशी (बिना रीढ़वाले) समूह के जीव थे। एककोष्ठी आदि प्राणी 'प्रोटोजोआ' के बाद साधारण बहुछिद्रान्वेषी जल सोखनेवाले स्पंजों या 'पोरि-फेरा' का आगमन हुआ। तदुपरान्त हाइड्रा-जैसे खोखले शरीरवाले जीव, जेलीफिश जैसी नाजुक लसलसी मछलियाँ, फूलरूपी समुद्री एनीमोन, समुद्री सनोवर और मूंगेवाले कीड़े आदि जीव आये, जिनका एक विशेष लक्षण यह है कि वे कुछ-कुछ सितारों की-सी शक्ल के होते है। इन सब जीवों के बहुतेरे नमूने प्राथमिक युग के सर्वप्रथम अर्थात् कैम्ब्रियन काल की चट्टानो मे पाये गये है। इनके साथ ही एक और प्रकार के जीवों के भी बहुत-से चिन्ह मिले हैं, जिनकी रचना उन सबसे भिन्न है। ये विचित्र रूप-वाले त्रिखंडी जीव अब नही मिलते हैं, किन्तु उनके प्रस्तर-विकल्पों से विदित होता है कि वे काफी उन्नति-प्राप्त प्राणी थे। जन्तुशास्त्रज्ञों का विचार है कि ये त्रिखंडी प्राणी उसी झुंड के है, जिसमें केकडे और झीगे सम्मिलित है। कुछ लोग उन्हें बिच्छूवाले समूह में गिनते है। इनके शरीर का अगला भाग ढाल की तरह के ऐसे कड़े गिलाफ से ढका रहता था, जिसमे लम्बे सींग निकले रहते थे। इनके शरीर में बहुत-से वृत्त या फांके होती थी, जो एक-दूसरे से जुटी हुई होती थी। इन जोड़दार जीवधारियो मे मुँह या पेटवाले धरातल पर कई टाँगें होती थी, जिनसे कि वे समुद्र की बालुकामय भूमि पर स्वतंत्रता से चल-फिर सकते थे। इनमे से कोई-कोई तो बहुत बड़े (करीब १ फुट लम्बे) होते थे और बहुत-से काफी छोटे होते थे। इनमें के कुछ लाक्षणिक जीवों के चित्र इसी लेख के साथ दिये गये है। सहस्रों वर्ष तक यह त्रिखंडी-वंश जीवित रहा, परन्तु बाद में कुछ दोष आ जाने से वे सभी मर गये और आजकल उनका एक भी प्रतिनिधि बाकी नही है।

इसके बाद केंचुए-जैसे गंडेदार शरीरवाले कृमियों का जन्म हुआ। इनके उपरान्त कंटक-चर्मी अथवा काँटेदार खालवाले जीवधारियो की उत्पत्ति हुई, जिनके शरीर पर शूल-जैसी नोकें निकली होती है। इन जीवों में से मुख्य ये है—सितारा मछली, समुद्री खीरे, तथा क्रीनौइड या प्रस्तर कमल, जिनकी सागर की तरंगों पर लहराते हुए फूलों की-सी मनमोहक डंडीदार शाखाये बहुत ही सुन्दर लगती है। अन्य प्राणियों में एक और समूह के जन्तुओं की चर्चा करना हम आवश्यक समझते है, जिसमें घोंघे, सीपी, शंख आदि की गणना की जाती है। इनमें से कुछ जीव तो नौटी-लस की तरह बहुत ही सुकुमार होते थे। कुछ नरम शरीर-वाले, गुदगुदे थे। पर कुछ हमारे सुपरिचित शंखों और घोंघो की तरह पेचदार, लम्बे छिलकों में सुरक्षित रहते थे। इन्ही में एक दूसरे प्रकार के जीव भी थे, जिनकी लचीली भुजाओं पर अपने शिकार को पकड़ने के लिए चिपटनेवाले कुंडल होते थे। ये सब कैम्ब्रियन के बाद आनेवाले सिलूरियन नामक युग की चट्टानों की तहों में बहुतायत से पाये जाते है।

नेत्र का आविर्भाव

इन दोनों कालो में पाये जानेवाले त्रिखंडी जीवों में बहुत ही मनोरंजक भेद है। कैम्ब्रियन कालवाले त्रिखंडियो में आँखों के कोई चिन्ह नही जान पड़ते। इससे जान पड़ता है कि वे नेत्रहीन ही रहे होंगे। सिलूरियन काल में मिलनेवाले नमूनों मे नेत्र स्पष्ट है। इसका क्या कारण है? कहा जाता है कि शायद पहले काल में त्रिखंडी जीव गहरे अँधेरे पानी में ही रहते रहे होगे। इस बात की भी सम्भावना है कि उस समय पृथ्वी के घनघोर भाप से घिरी हुई होने के कारण सूर्य का प्रकाश समुद्र की सतह तक बहुत कम पहुँच पाता होगा। इसलिए पानी की ऊपरी तहों में भी काफी अँधेरा रहा होगा। इसीलिए इन जीवो को नेत्रों की आवश्यकता न रही होगी। किन्तु सिलूरियन काल में वायुमंडल में भाप की कमी हो जाने से धरती पर अधिक प्रकाश पहुँचने लगा होगा। इसलिए अब इन जीवों में नेत्रों की आवश्यकता हुई होगी।

एक और मनोरंजक बात इन्हीं प्राणियो के विषय में यह है कि सिलूरियन काल के त्रिखंडी अपने शरीर को लपेट लेते थे, जिससे उनके नीचे के नरम भाग पीठ के कड़े तथा दृढ़ गिलाफ से ढक जाते और रक्षित रहते थे। यह स्वभाव कैम्ब्रियन के त्रिखंडियों में न था। यह नई आदत शायद इस कारण पड़ी होगी कि उन्हें उन बड़ी भुजावाले घोघा-वंश के शत्रुओं से, जो सिलूरियन काल मे ही उत्पन्न हुए, अपने को बचाना पड़ता था। इससे ज्ञात होता है कि उनका शान्ति-मय जीवन सिलूरियन युग मे समाप्त हो गया था और उस प्रारंभिक काल मे ही भोजन और जीवन के लिए आपस
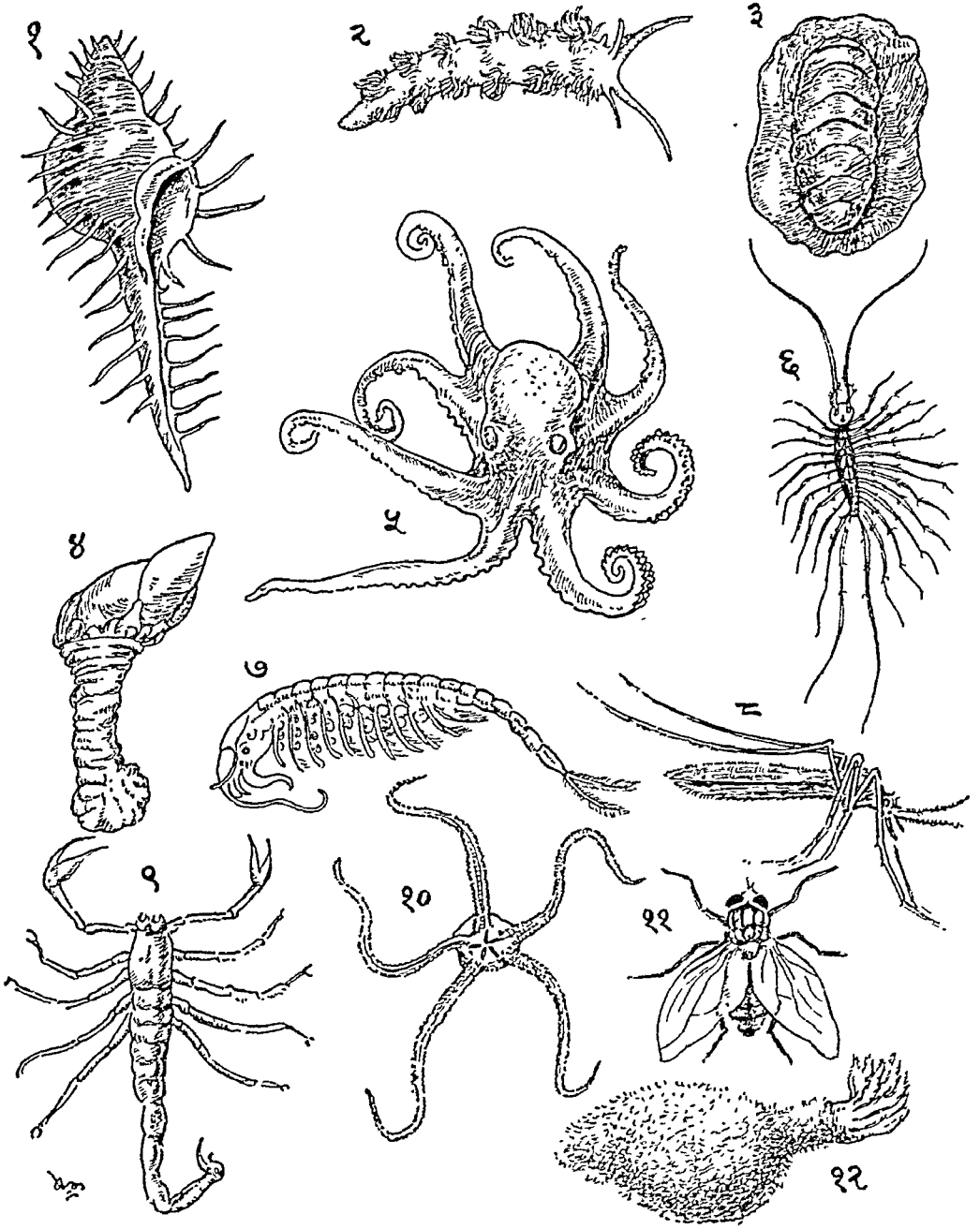
उच्च श्रेणी के कुछ सामान्य अपृष्ठवंशी

१—शंख (यह ऊपर का आवरण है। इसके भीतर जानवर का मांसल भाग रहता है।); २—समुद्री घोंघा या 'स्लग'; ३—'काइ-टन', घोंघावंश का एक जीव, जो चट्टानों पर चिपका रहता है; ४—'बेलेनस' नामक जीव, जो अपने डंठल द्वारा जहाजों के पेंदों, चट्टानों तथा अन्य समुद्री वस्तुओं से चिपका रहता है; ५—'आक्टोपस' या अष्टपाद, जो अपनी दृढ भुजाओं द्वारा सीपी आदि को खोलकर उनके भीतर के जानवरों को खा जाता है (यह जीव बहुत बडा होता है, इस चित्र में बहुत छोटे आकार में दिखाया गया है। इसके चगुल में फँसकर आदमी की भी जान नहीं बच सकती); ६—कनखजूरा; ७—छोटा झींगा; ८—मच्छर; ९—बिच्छू; १०—एक तरह की सितारा मछली; ११—घरेलू मक्खी; १२—'समुद्री खीरा' नामक जलजीव।

में घोर संग्राम शुरू हो गया था। इसका यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि आरंभिक सिलूरियन काल में त्रिखंडी प्राणी केवल सागरों के ही निवासी थे, किन्तु आगे चलकर वे खारी पानी के अन्य जलाशयों में भी रहने लगे। और भी कुछ समय बाद मीठे पानी में भी जीवित रह सकने के वे आदी हो गये। इनके बाद जोड़दार टाँगोंवाले जीव, जैसे बिच्छू, भींगे, मकड़ी आदि विकसित हुए।

जीवधारियों का जल से थल पर विकसित होना

सिलूरियन काल की चट्टानों में ही सर्वप्रथम रीढ की हड्डीवाले जानवरों के कुछ चिह्न मिले हैं। परन्तु उनके अधिक प्रस्तर-विकल्प बाद के डेवोनियन काल में पाये गये हैं। ये सबसे पुराने पृष्ठवंशी मछलियों जैसे एक अनोखे जीव थे, जिनके शरीर कठोर और भारी कवचों से मढ़े हुए थे। वे आज की मछलियों की तरह लचीले न थे, और न इनकी तरह के हिलने-डुलनेवाले डैने ही उनमें थे। वे समुद्र की तह में सुस्ती से पड़े रहनेवाले जीव रहे होंगे। यद्यपि वे कुरूप थे, किन्तु उनमें बड़ी-बड़ी सम्भावनाएँ निहित थीं। समय आने पर उनसे अनेकों प्रकार की जातियाँ और उपजातियाँ बनीं, जो एक दूसरे से डील, आकार और स्वभाव में बहुत भिन्न थीं। ये सब प्रारम्भिक युग में पृथ्वी पर विद्यमान थीं।

अब तक जीव-विकास की ये सब घटनाएँ पानी में ही हो रही थीं, क्योंकि उस समय जीवधारियों का घर सागर ही था। आज भी सागरों में अत्यन्त प्राचीन जानवरों के नमूने विद्यमान हैं। वास्तव में आज यदि कोई समुद्र-तट पर खड़ा होकर यह सोचे कि वह वहाँ पृथ्वी की शैशवावस्था की ही हवा खा रहा है तो उसका यह विचार अनुचित न होगा, क्योंकि उसको वहाँ वही महान् शक्तियाँ क्रियाशील दिखलाई देंगी, जो अनेक युग बीत जाने पर भी बाह्य रूप में आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। तटों की ओर दौड़ती हुई तरंगें, दूर को उसाँसें लेता हुआ गम्भीर सागर, असीम नीलाकाश तथा उमड़ते-घुमड़ते बादल सब वैसे ही हैं, जैसे कि सृष्टि के आदि में थे, और उस समय से अब तक प्रायः वैसे ही रहे हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में भी सारी पृथ्वी जलमग्न न थी। उस पर आज जैसे सागर-तट मौजूद थे, जो क्रमशः उस समय के जीवों के लिए उचित निवास-स्थान बन गये। ये जीव अवश्य ही तट की बालू और निकटवर्ती चट्टानों या पत्थरों की शरण लेते रहे होंगे।

परन्तु उस दूर के युग में समुद्री किनारों के स्थल की अवस्था आज से बहुत भिन्न रही होगी। उन दिनों सारे स्थल पर एक भी वृक्ष या पौधा नजर न आता था, न कोई कीट-पतिंगा ही वहाँ भिनभिनाता था। वहाँ की निर्जनता को अपने सुरीले गान से भंग करनेवाली कलकंठी चिड़ियाँ तो उस समय कहीं भी न थीं। न कोई ऐसे पशु ही थे, जो जल में दौड़कर घुस जाते या किनारों पर घूम-घूमकर चरते हुए नजर आते। उस समय की वनस्पति कदाचित् काई की तरह शिलाओं और किनारों पर चिपकी रहती होंगी। समय बीतने पर सिलूरियन और डेवोनियन कालों में ज्यों-ज्यों वनस्पतियों को तेजी से उगाने के लिए आवश्यक खनिज पदार्थों से भरी हुई पृथ्वी सूखती गई, त्यों-त्यों ये आरम्भिक वनस्पतियाँ भी शीघ्रता से पृथ्वी पर फैलने लगीं। जब आगे का युग आया तो पेड़ों ने पृथ्वी के विस्तृत प्रदेशों को ढाँप लिया। ज्यों-ज्यों ये भारी-भरकम पेड़ सूखते गये, वे उन्हीं दलदलों में गिरते रहे, जहाँ वे उगे हुए थे। धीरे-धीरे उनके ऊपर पत्तों के ढेर और बही हुई मिट्टी की तहें जमती गई। इस प्रकार पृथ्वी के नीचे जंगल के जंगल दब जाने के कारण वह उपयोगी चमकदार वस्तु बन गई, जिसे हम 'पत्थर का कोयला' कहते हैं। इसी से वह काल कार्बोनीफेरस काल कहलाता है। इस काल के पाषाणों की तहों में उन्नत दशा को पहुँचे हुए पेड़ों के चिह्न पाये जाते हैं। इन पेड़ों में अधिकतर नाना प्रकार के ताड़, खजूर और ऊँचे-ऊँचे फर्न थे।

इस तरह जब पृथ्वी पर दलदलों में घने जंगल उग आये तो जलवासी जीवों के बहुत-से दलों ने पहले दलदलों में और फिर सूखी धरती और पानी के किनारों पर रहने की कोशिश की। पृष्ठवंशी और अपृष्ठवंशी दोनों प्रकार ही के इन प्रयत्नशील जीवों की शारीरिक रचना कालान्तर में ऐसी परिवर्तित हो गई, जिसके कारण वे और उनकी सन्तान जल के बाहर सूखी भूमि पर रह सकने के योग्य हो गये। बहुतेरे, जो अपने को परिवर्तित करने में निष्फल रहे, मरकर नष्ट हो गये। इस तरह ये जीव-जन्तु अपने असली घर सागर को तजकर झीलों और तालाबों में रहने लगे। फिर ज्यों-ज्यों वे तालाब भी सूखते गये, वे दलदलों या नम किनारों पर बसने लगे। अन्त में उन्होंने स्थल पर विजय पा ली। इस कार्बोनीफेरस काल के वनों में कीट-पतिंगों की भयंकर वृद्धि हुई। नाना प्रकार के पतिंगे तथा अन्य कीड़े-मकोड़े, जैसे बिच्छू, मकड़ी, कनखजूरा, गिजाई (लिल्ली घोड़ी) आदि, उन दिनों घने और ऊँचे वृक्षों में छिपे रहते थे। बड़ी-बड़ी भमीरियाँ, जो पर फैलाने पर ३० इंच तक लम्बी हो जाती थीं, हवा में उड़ती-फिरती थीं। झाड़ियों में दैत्याकार तिलचट्टे, बड़े-बड़े बिच्छू और कातरें रेंगते फिरते थे। कैसा भयावना दृश्य रहा होगा वह!

उभयचर मंडूक और आदि पृष्ठवंशी

ऐसी ही दशा में दलदलों में रहनेवाली कुछ मछलियों में सम्भवतः गलफड़ों की जगह हवा में सांस लेने के लिए फेफड़े बन गये, जैसा कि हम वर्तमान फेफड़ेवाली मछलियों में देखते हैं, जो सिर्फ दक्षिणी अमेरिका की अमेजन नदी, अफ्रीका की नील नदी तथा ऑस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैण्ड प्रदेश की कुछ नदियों में ही पाई जाती हैं। इन्हीं में से किसी से मेढक-जैसे उभयचर या मंडूक-समुदाय के जीव बने होंगे। ये विचित्र रेंगनेवाले जन्तु आजकल के समन्दर या न्यूट की तरह पहले-पहल पानी के बाहर अधिक देर तक जीवित न रह पाते होंगे, किन्तु बाद में वे थल पर रहने में सफल हो गये होंगे। अपनी कोमल चिकनी खाल के कारण उनके लिए पानी से बहुत दूर रहना तब भी वैसा ही असम्भव रहा होगा, जैसा कि आज के दिन है। इन सब बाधाओं के होते हुए भी इन प्रारम्भिक मंडूकों से ही कई प्रकार के भारी डील-डौल-वाले दैत्याकार जंतु उत्पन्न हुए, जो प्राथमिक और ट्रायेसिक काल में खूब फले-फूले और उनमें से बहुत-से कदाचित् अपने भारी शरीर के ही कारण नष्ट हो गये। मंडूक-समुदाय के ये जीव स्टैगोसिफेलन या लैबिरिन्थोडौन कहलाते हैं। उनके जबड़े भारी थे, किन्तु उनकी टांगें और पैर अपेक्षाकृत बहुत निर्बल थे। वे मांसाहारी प्राणी थे। उनमें से कोई-कोई ६ अथवा ८ फीट तक लम्बे होते थे। उनमें से एक मैस्टोडानसॉरस नामक जीव की खोपड़ी एक गज से भी अधिक लंबी होती थी। ये बहुत ही आलसी रहे होंगे।
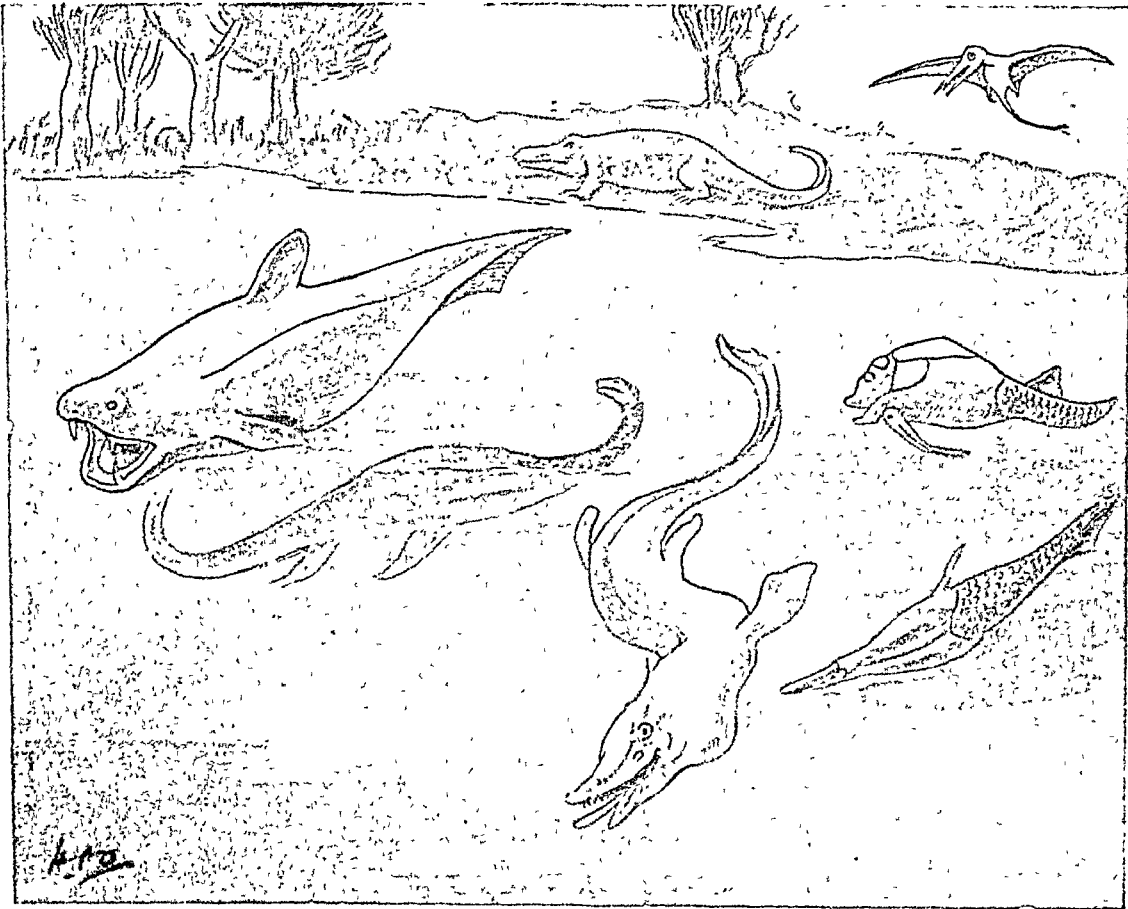
जलचर, उभयचर और उरंगम-पक्षी जाति के कुछ लुप्त जीवों के कल्पित चित्र

(दाहिनी ओर पानी में) दो प्रकार की आदिम मछलियाँ, जिनके आगे के हिस्से में पीठ पर कड़ी ढालनुमा हड्डी का आवरण होता था। (बीच में) क्रिटेशियस युग का एक समुद्री मगर; (बाईं ओर पानी में) नीचे — सायोसॉरस नामक उरंगम; ऊपर — शार्क-जैसी प्राचीन मछली। (किनारे पर) एक भीमकाय उभयचर; (उड़ता हुआ) टेरौसॉरस नामक उरंगम-पक्षी।

आदि उरंगम

छिपकली, मगर तथा सर्प-जैसे पेट के बल रेंगनेवाले उरंगम श्रेणी के जीव अभी तक देखने में नही आये थे। वास्तविक उरंगम श्रेणी के जीवों के प्रस्तर-विकल्प पहले-पहल हमें प्राथमिक युग के अन्तिम चरण परमियन काल में मिलते है। आगे के माध्यमिक युग के तीनों काल—ट्रायेसिक, जूरेसिक, क्रिटेशियस—में उरंगमों की खूब वढती हुई। परमियन युग में ये जीव वहुत नाटे थे; वे अधिक वड़े आकार के न होते थे। विशेपतर उनकी दो कक्षाओ का पता चला है। इनमें से एक से छिपकली और मगर की तरह के जन्तुओ का विकास हुआ। यह वहुत दिलचस्प वात है कि इन पुराने रेंगनेवालों की एक उपजाति सहस्रों वर्ष की अवधि की विपत्तियो का सामना करने के वाद भी अभी तक जीवित है और आजकल भी न्यूजीलैंड के द्वीपो में पाई जाती है। यह स्फैनोडान या टूआटारा छिपकली के नाम से पुकारी जाती है। इसमें अभी तक पाया जाने-वाला एक पुराना लक्षण यह है कि इसके एक तीसरा नेत्र भी होता है।

प्लायोसॉरस और इकथियोसॉरस

स्पष्ट है कि जव पेट के वल रेंगनेवाले उन उरंगम प्राणियों ने एक वार पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया, तो वे रूप की विचित्रता और शरीर की रचना के ढंग में सभी जीवों से आगे वढ़ गये। फलत: वड़े-वड़े अद्भुत् रूप के उरंगम, (जैसे लम्वी गर्दनवाले प्लायोसॉरस) कछुए-जैसे चपटे शरीर तथा भारी भरकम अंगोवाले एवं सूंस की शक्ल के इकथियोसॉरस के साथ सागरो में विचरने लगे। ये निराले जीव ४० फीट तक लम्वे होते थे। उनके हाथ-पैरों में वहुत-से जोड़ और हड्डियाँ होती थी, जिनसे कि वे तैरने में डाँड़ का काम लेते थे। उनकी पूँछों पर मछलियों की तरह कटे हुए डैने और पीठ पर भी पीछे को उठा हुआ एक पंख होता था। इससे आप समझ सकेंगे कि वे समुद्र में जीवन-निर्वाह करने के लिए कितने योग्य थे। इन दोनों प्रकार के विशाल उरंगमो के दाँतो से पता चलता है कि वे वड़े ही जवरदस्त पेटू शिकारी थे। इनकी मादाओं के प्रस्तर-विकल्पों से ज्ञात होता है कि इकथियोसॉरस अपने अन्य समुदायवालों की तरह अंडे नही देते थे, वल्कि उनके वच्चे पैदा होते थे। इनके अतिरिक्त उन्हीं की तरह के और भी वहुत-सी किस्मो के जानवर सागर और नदियो के तटों पर रहते थे। मगर-जैसी शक्ल के तथा भिन्न-भिन्न डील-डौल के तीक्ष्ण दाँतोंवाले ये भीमकाय जंतु अपने दृढ़ जवड़ो को खोले हुए तेजी से जव मछलियों के पीछे झपटते रहे होंगे तो कितने डरावने प्रतीत होते होंगे।

भीमकाय डायनोसॉरों का युग

जव सागर, नदियो एव झीलो में ऊपर वतलाये हुए तथा उसी तरह के और भी अनेक उरंगम भरे पड़े थे, तभी थल पर भी भाँति-भाँति के उनके रूप विकसित हो रहे थे। उनमे से कुछ हवा मे उड़ने भी लगे थे। इन थलचर जीवो मे सवसे विख्यात वे भयंकर डायनोसॉर है, जिनमे से कुछ ने वहुत वड़े-वड़े आकारों को प्राप्त किया था। इनमें एटलान्टोसॉरस और व्रान्टोसॉरस ६० फीट से भी अधिक लंवे और १५ फीट ऊँचे हुआ करते थे और अफ्रीका में पाया गया जाइजैन्टोसॉरस तो करीव-करीव सौ फीट लम्वा था! ये वडे शरीरवाले तो जरूर थे, लेकिन वहुत ही काहिल तथा अपेक्षाकृत निरापद और शाकाहारी जीव थे (जैसा कि उनके दाँतो से प्रकट होता है)। उनकी खोपड़ी और मस्तिष्क उनके शेप शरीर की अपेक्षा अधिक छोटे थे, अत: अवश्य ही वे वुद्धिहीन रहे होंगे। वे गरम देशों के उथले समुद्रों और दलदली जगहों मे विचरते तथा उन स्थानों में कसरत से पैदा होनेवाले नरम और रसीले पौधे खाकर जीवन-निर्वाह करते थे।

टेरोडेक्टाइल नामक उरंगम-पक्षी

सवसे पहले वायु पर विजय पानेवाले उरंगमों में प्रमुख टेरोडेक्टाइल थे। ये गौरैया चिड़िया से लेकर चील या उससे भी अधिक वड़े आकार के होते थे। उनकी हड्डियाँ खोखली और चिड़ियों की हड्डियो की तरह हवा से भरी होती थीं, लेकिन उनके डैने वर्तमान पक्षियो से विल्कुल निराले थे। उनमें पर नहीं होते थे। हाथ की सवसे वाहरी उँगली उनमें वहुत लम्वी थी और उससे एक झिल्ली हाथ और शरीर तक वैसे ही फैली हुई थी, जैसे कि चमगादड़ के डैने होते है। पिछले पैरों में भी कुछ उँगलियों के वीच मे झिल्लियाँ होती थी। ये क्रूर जंतु उन आदि वनो के वृक्षों पर उड़ते रहते थे अथवा अपने चंगुलों द्वारा चट्टानों या पेड़ों के धड़ो पर चिपटे रहते थे! अवश्य ही वे डरावने प्रतीत होते रहे होंगे।

पक्षियों का आदि पुरखा—आरकियोप्टैरिक्स

लाखो वर्ष तक ये डायनोसॉर जीवित रहे, किन्तु एक दिन ये भद्दे दैत्य विल्कुल ही गायव हो गये। शायद परिवर्तनशील जलवायु और भोजन देनेवाले दलदलों का सूखते जाना ही उनके नष्ट होने का कारण हुआ। उनकी जगह अन्य जीवो ने ले ली, जिनमे अधिक गरम रक्त प्रवाहित होता था, और जिनके शरीर रोओं या पर आदि से ढके थे।
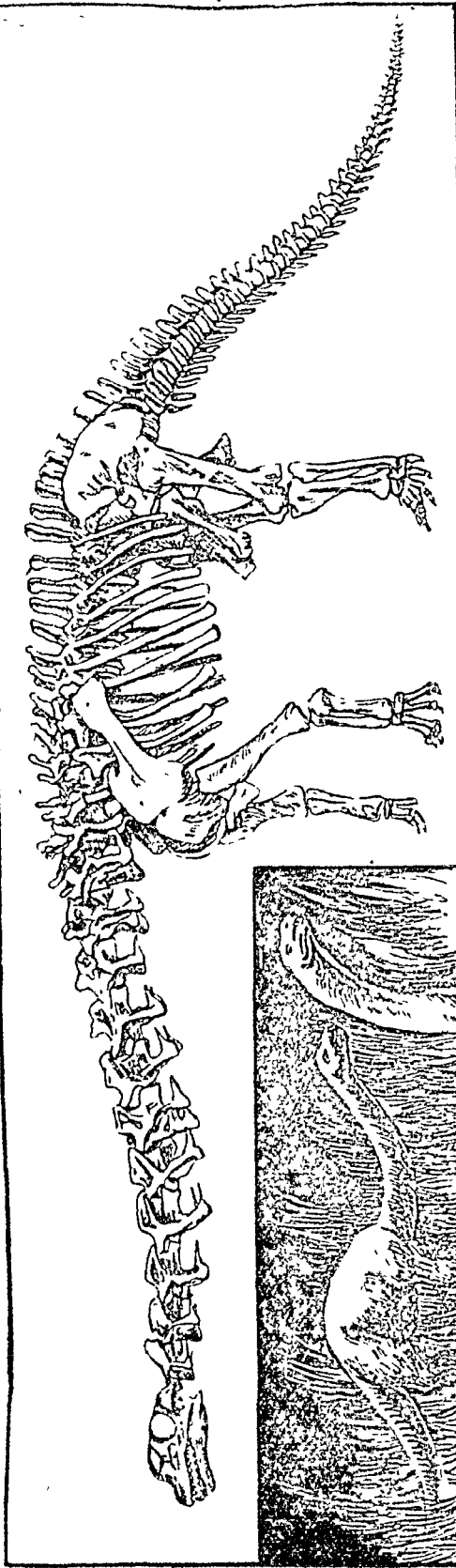
प्राचीनकाल का एक भीमकाय उरंगम—ब्रान्टोसॉरस

यह विशालकाय प्राणी लगभग ६० या ६५ फीट तक लंबा होता था। पर अपने इस भयानक स्वरूप के बावजूद यह खतरनाक नहीं था। यह शाकाहारी था और पानी के भीतर होनेवाली वनस्पतियों पर अपना निर्वाह करता था। ऊपर इसकी एक सुरक्षित ठठरी का चित्र प्रदर्शित है। ऐसी बहुत-सी ठठरियाँ मिली है। बाएँ ओर, उसका एक काल्पनिक जीवन-चित्र दिया गया है। डायनोसॉर-युग के उन उरंगमों के और भी कई भाई-बन्धु थे, जो आकार में इनसे भी बाजी मार ले जाने का दावा कर सकते थे। उदाहरणार्थ, एक प्राणी था डिप्लोडोकस, जो अस्सी-पचासी फीट तक लम्बा होता था। दूसरा जाइजेन्टोसॉरस तो सौ फीट लंबे बदन का था!

उड़नेवाले उरंगमों के साथ पाये गये जूरेसिक काल के सबसे मनोरंजक प्रस्तर-विकल्प एक अनोखी प्रारंभिक चिड़िया आरकियौप्टैरिक्स के हैं। यही अब तक जानी गई पहली चिड़िया है। यह प्रस्तरीभूत चिड़िया आकार मे करीब-करीब कबूतर के बराबर है और इसमें उरंगमों तथा पक्षियों दोनों के लक्षणों का अनोखा मिश्रण है। यह न तो बिल्कुल चिड़िया ही कही जा सकती है, न लाक्षणिक उरंगम ही, बल्कि यह इन दोनों के बीच की कड़ी या पुल है। अगर यह खोज न हुई होती तो शायद किसी को भी मालूम न हो पाता कि चिड़ियों और उरंगमों में इतना निकट का सम्बन्ध है। यदि आप इसके चित्र को ध्यानपूर्वक देखेंगे तो स्वयं ही जान लेंगे कि यह जीव इतना प्रसिद्ध क्यों हो गया है। इसकी लम्बी पूँछ गंडेदार और छिपकली की तरह है, वह *वर्तमान चिड़ियो की दुम जैसी नहीं है। साथ ही* इसके डैनो पर लम्बे पर भी है, जो उरंगमों में नहीं होते। हँसली की हड्डी का इसमें अभाव है, जो और चिड़ियों में होती है। इससे विदित होता है कि यह एक मामूली उड़नेवाला पक्षी था। पर उड़ने के अतिरिक्त यह चिड़िया रेंग भी सकती थी।

क्रिटेशियस काल के बाद पक्षियों की संख्या में असीम वृद्धि हुई, और स्तनपोपितो के साथ-साथ वे भी जन्तु-जगत् में अपना आवश्यक भाग लेने लगे।

पक्षी तथा उरंगम के बीच के आरकियौप्टैरिक्स-जैसे और भी प्राणियों के प्रस्तर-विकल्प मिले हैं। इन्हीं-जैसे जन्तुओं से धीरे-धीरे बदलकर असली पक्षी बने, जो आगे चलकर अनेकों प्रकार की वर्तमान चिड़ियों के समूह बन गये।

स्तनपोपितों का आविर्भाव

उरंगमों में से कुछ जीव जब चिड़ियों के-से लक्षण और रूप धारण कर रहे थे, उसी समय एक और समूह के उरंगम शेष से अलग होकर एक दूसरे ही प्रकार के जीव बनने की चेष्टा करने लगे। इन नये जीवों का मुख्य लक्षण उनके शरीर पर नरम रोएँदार या बालवाली खाल का होना है। यही स्तनपोपितों के पूर्वज हुए। पहले-पहल ये छोटे थे, जैसा कि उनके जबड़ों और दाँतों से प्रकट होता है। ये ट्रायेसिक काल की चट्टानो की तहो मे मिले हैं। पर आगे आनेवाले युगों में इनकी भी वृद्धि हुई और अपने पर-दार साथियों के साथ-साथ ये सारे जन्तु-जगत् के नेता अथवा अगुवा बन गये। इनके विषय में हम विस्तारपूर्वक हाल आगे चलकर बताएँगे; यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि पृष्ठवंशियों के ऊपर उल्लिखित ये दोनों समूह, अर्थात् पक्षी और स्तनपोपित, अन्य जीवों से अधिक गरम रक्तवाले जीवधारी हैं। इसलिए शेष सब पृष्ठवंशी ठंडे रक्तवाले और ये गरम रक्तवाले कहे जाते हैं।

पक्षी और स्तनपोपित दोनों ही इओमीन काल में तो साथ-साथ फूले-फले, किन्तु आगे चलकर स्तनपोपित वर्ग के जीव पक्षियों से कहीं आगे निकल गये। उनकी सैकड़ों उपजातियों के प्रस्तर-विकल्प संसार भर में बिखरे मिले हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि आगे चलकर उनके अनगिनत नमूने बन गये। ये नमूने आकार-प्रकार, डील-डौल और स्वभाव में एक-दूसरे से काफी भिन्न थे।

प्रारंभिक स्तनपोपित ऑस्ट्रेलिया में पाये जानेवाले वर्तमान एकछिद्री जीवों की भाँति छोटे थे, और उनके बच्चे *अंडों से उत्पन्न होते थे। इन एकछिद्री जीवों की* रचना एक रहस्यपूर्ण समस्या है। ये प्राणी स्तनपोपित समुदाय में सबसे नीची श्रेणी के जीव हैं। इनमें अभी तक उरंगमों और पक्षियों के कुछ जातीय लक्षण मिलते हैं। युग पर युग व्यतीत हो गये, और न जाने कितने उरंगम पक्षी बन गये एवं कितने ही लुप्त हो गये तथा कितने ही ऊँची श्रेणी के स्तनपोपित हो गये; किन्तु ये एकछिद्री जीव निरंतर लकीर के फ़कीर ही बने रहे! इनके उपरान्त थैलीवाले जन्तु अथवा 'मारसूपियल' बने, जिन्होंने विकास के मार्ग पर एकछिद्री जीवों से अधिक उन्नति की। आजकल थैलीवाले जीव विशेषतया ऑस्ट्रेलिया और उसके निकटवर्त्ती द्वीपों तथा दक्षिणी अमेरिका ही में पाये जाते है, किन्तु पहले के युगों में वे सभी महाद्वीपों में विद्यमान थे। यह बात उनके प्रस्तर-विकल्पों से प्रकट होती है। वे अंडे तो नहीं देते, किन्तु उनके बच्चे क्षुद्र और अपूर्ण अवस्था मे जन्म लेते हैं, और अपनी माता के पेट पर की थैली में (या जिनके थैली नहीं होती, उनमें पेट के बालों में छिपे स्तनों से) लटकते रहते हैं। जब उनके अंगों की पूरी वृद्धि हो जाती है, तब माता की थैली या स्तनों को छोड़कर वे पृथ्वी पर कूद-फाँद करने लगते हैं।

मनुष्य का प्रादुर्भाव

इनसे आगे बढ़ने पर अन्य स्तनपोपित समुदाय के प्राणियों का विकास हुआ। इनमें कुछ तो शेर और बिल्ली की भाँति मांसभक्षी बने और अन्य भेड़-बकरी जैसे शाक-पात चरनेवाले बने। कुछ गाय, बैल और घोड़े की तरह घास खानेवाले हो गये; और कुछ वानर आदि की तरह फलों पर निर्वाह करने लगे। अन्त में कुछ ही लाख वर्ष पूर्व असंख्य रूपधारी इन पशुओ के झुंड मे सबसे पहला वन-मानुप प्रकट हुआ, जो

थल के साथ-साथ वायु पर भी उरंगमों द्वारा विजय-प्राप्ति

(बाईं ओर नीचे) शुतुर्मुर्ग की तरह तेज दौड़नेवाले दो डायनोसॉर; (बीच में नीचे की ओर उड़ते हुए) आदिम पक्षी आरकियॉप्टेरिक्स; (ऊपर आकाश में उड़ते हुए तथा वृक्षों पर लटकते हुए) प्राचीन उरगम-पक्षी टेरोडेक्टाइल। जल से बाहर निकलकर प्राणियों ने जहाँ उरंगमों का रूप लेकर एक ओर दैत्याकार डायनोसॉरों का वंश पृथ्वीतल पर फैलाया, वहाँ दूसरी ओर साथ ही साथ थल से क्रमशः नभ की ओर अग्रसर होकर टेरोडेक्टाइल एवं आरकियॉप्टेरिक्स जैसे आदिम उरगम-पक्षियों की झाँकी प्रस्तुत की, जो हवा में उड़नेवाले जीवधारियों के अग्रदूत थे। टेरोडेक्टाइलों के पक्षियों जैसे पर नहीं थे—उनके चमगादड़ों जैसे डैने ही उन्हें उड़ने में मदद देते थे। ये डैने उनके हाथ की सबसे बाहरी उँगली से जुड़ी हुई एक विस्तृत झिल्ली से बने थे। इसके विपरीत आरकियॉप्टेरिक्स पक्षियों के कहीं अधिक निकट था, क्योंकि उसके डैनों पर पंख भी थे। यह उरगम और पक्षी का अद्भुत सम्मिश्रण-सा था।

हमारी तरह थोड़ा-बहुत दो पैरों पर खड़ा हो सकता था तथा जिसे अन्य सब जन्तुओ से अधिक उत्तम बुद्धि प्राप्त थी। इसी के कारण उसने बड़ी उन्नति की। एक मजिल और आगे चलकर चौथे युग के आदि तथा तृतीय युग के अंत मे वास्तविक मनुष्य का आदि पुरखा जनमा। उससे ही विकसित होकर २५-३० हजार वर्ष के हेर-फेर से वर्तमान मनुष्य ने इस धरती पर पदार्पण किया, जो सारे जन्तुओं को वश में करके पृथ्वी का राजा बन गया।

जन्तु-जगत् की संक्षिप्त झाँकी

विभिन्न रंग-रूप और आकार-प्रकार के अनगिनत प्राणियों से युक्त प्रकृति की जिस अद्भुत जन्तुशाला का उल्लेख हमने इसी स्तंभ के आरंभिक लेख में किया था, आइए, अब उसी की संक्षेप में आपको यहाँ सैर करादें।

एलेक्जैन्डर वॉन हम्बोल्ट नामक एक महान् भ्रमणकारी प्रकृतिवादी विद्वान् ने एक शताब्दी से भी पहले कहा था कि प्रकृतिवादी जिस ओर अपनी आँख उठाता है, उस ओर उसे अपने सामने नाना प्रकार के जीव बिखरे दिखलाई देते है। पृथ्वी का कोई भी कोना जीवविहीन नही है। पर्वत, मैदान, सागर, नदियाँ, झीलें, तालाब, कन्दराएँ, सभी स्थान जानवरों ने अपना लिये है। क्या निरंतर हिमाच्छादित रहनेवाले उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव-प्रदेशों और क्या गरमी से तपनेवाले उष्ण कटिबन्ध के देशों में सब कहीं सहस्रों प्रकार के जीव-जन्तु अपना जीवन सुख से बिताते हैं। इस लेख में इन्ही असंख्य जन्तुओ का दिग्दर्शन हम आपको कराने जा रहे हैं। समझा जाता है कि समस्त जन्तु-जगत् मे दस लाख से लेकर एक करोड़ जातियों तक के जीव सम्मिलित हैं। यदि आप अपने नगर अथवा ग्राम के आस-पास के जानवरों का ही ध्यान करे तो शायद आपको उनकी विचित्रता और अत्यन्त बड़ी संख्या का कुछ अंदाज हो जायगा। जब आपके नगर का ही यह हाल है तो फिर पूरी दुनिया का तो कहना ही क्या है! तो फिर उन सबका वर्णन इन सीमित पृष्ठों में करना किस प्रकार संभव है? अत. यहाँ हम मुख्य-मुख्य समूहो के कुछ प्राणियों का ही हाल साधारण रूप से बतलाने की चेष्टा करेगे।

हम पहले ही कह आये है कि नाना प्रकार के जिन जीवो की आश्चर्यजनक विचित्रता को देखकर हम दंग रह जाते है, वे सभी जीवद्रव्य के उन्ही साधारण अंशों से बने है, जिनका कि आविर्भाव पृथ्वी की बाल्यावस्था में अब से लाखों वर्ष पहले हुआ था। इसी आदिम अनिश्चित आकारवाले लसलसे पदार्थ जीवद्रव्य मे इतनी प्रबल शक्ति थी कि जिससे अमीबा जैसे साधारण प्राणी से लेकर आधुनिक मनुष्य की तरह के ये सब जटिल जीव बन गये। जॉन फौर्स्टर, एलेक्जैन्डर वॉन हम्बोल्ट, चार्ल्स डार्विन, रसेल वालेस आदि की देश-देशान्तरो की यात्रा और खोज के द्वारा १९वी शताब्दी की समाप्ति तक दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में फैले हुए जानवरों को एकत्रित करने, उन्हें अजायबघरों में रखने और उनके लक्षणो का वर्गीकरण करने का काम बहुत-कुछ पूरा हो चुका था। इस तरह दुनिया भर में जो अजायबघर स्थापित हुए, उनमे भारतवर्ष के कलकत्ता, लखनऊ, जयपुर, मद्रास, बम्बई-जैसे कई बड़े-बड़े शहरों में प्रस्थापित अजायबघर और जन्तुशालाएँ भी हैं। परन्तु इतने वर्षो की खोज के उपरान्त भी अभी तक बराबर नये और अपरिचित जीव, (विशेषकर समशीतोष्ण कटिबन्ध और महासागरों से) मिलते चले जाते है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि दुनिया के खास-खास प्राणियो का पता लग गया है और वे जाने जा चुके है फिर भी बहुतो के विषय में अभी भी इस बात का ठीक ज्ञान नहीं है कि वे अपना जीवन कैसे व्यतीत करते है और अपने आसपास के वातावरण से, जिस पर उनकी जनसंख्या, विस्तार और विकास निर्भर है, उनका क्या सम्बन्ध है।

संसार के सभी जीव-जन्तुओ की जानकारी प्राप्त करना न तो किसी एक व्यक्ति के बस की बात है, और न दस-बीस आदमी ही मिलकर यह काम पूरा सकते है, जब तक कि उनका वर्गीकरण न कर लिया जाय; अर्थात् एक-जैसे जीवो को एक समूह में और दूसरों को दूसरे समूहों में विभाजित न कर दिया जाय। यही कारण है कि आरंभिक जन्तुशास्त्रवेत्ताओं ने जीवधारियो को दो समूहो में विभक्त कर दिया था—१. वानर, हाथी, घोडे, पक्षी तथा मछली की तरह के प्राणी, जिनमें उन्हे कई जोड़ों या कशेरुकाओं की बनी हुई रीढ़ की हड्डी मिली; इनका नाम उन्होने 'पृष्ठवंशी' रक्खा; २. घोघा, कॉतर, बिच्छू, मक्खी, टिड्डे, केंचुवा आदि जैसे जीव, जिनमें उन्होंने रीढ़ की हड्डी नही पाई; इन्हें दूसरे समूह मे रक्खा

गया और इस समूह का नाम उन्होंने 'अपृष्ठवंशी' रक्खा। १७वीं शताब्दी में सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा जब एक और प्रकार के जीव जाने गये, जो बहुत ही नन्हें होने के कारण पहले न देखे जा सके थे, तो पता लगा कि इन सूक्ष्म एक-कोष्ठी जीवों की दुनिया सारे पृष्ठवंशियों और अपृष्ठ-वंशियों से कहीं निराली है। इसलिए इन्हें 'आदि जन्तु' कहा गया और शेष सब को 'अन्तिम जन्तु'। हाल के कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि अन्तिम जन्तु-समूह के सबसे निकृष्ट बहुछिद्री जीवों को, जिनमें कुछ लक्षण उनके और आदि जन्तुओं के बीच के-से पाये जाते हैं, है। इनमें से कई ऐसे हैं, जिनका अन्य जानवरों के शरीरों में ही पालन-पोषण होता है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनसे हमें कुछ हानि नहीं होती, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं, जो भयंकर रोगों के उत्पादक होते हैं। दूसरे प्राणियों के शरीरों में रहनेवाले ऐसे जीवों को 'परोपजीवी' कहते है। इनके अति-रिक्त बहुतेरे आदि जीव ऐसे भी हैं, जो झील, नदी, तालाब या समुद्रों के जल में अथवा गीली मिट्टी में अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत करते हैं। भूमंडल के जला-शयों में इन आदि जीवों के अनगिनत झुंड भरे पड़े हैं और बहुतेरे जलचरों का इन्हीं पर आधार है। ऐसे लगभग
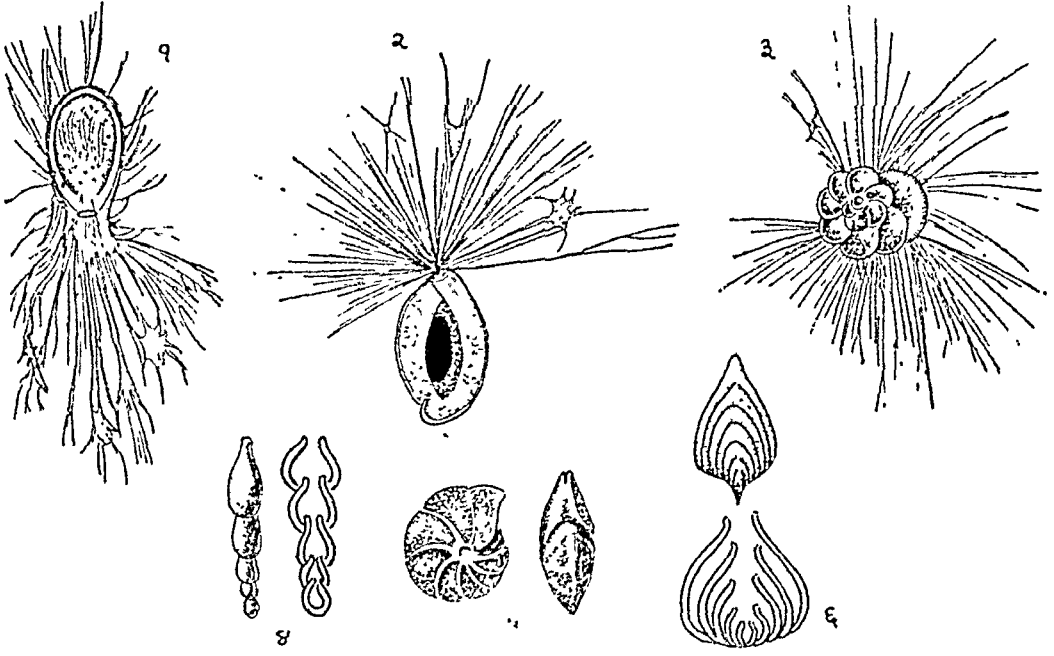
आदि प्राणियों के कुछ नमूने

(सं० १-३) तीन प्रकार के एककोष्ठी समुद्री जीव, जो हजारों की संख्या में हर घड़ी मरते रहते हैं। (स० ४-६) चूने के पत्थर की बनी इन्हीं जीवों की तीन प्रकार की ठठरियाँ, जो समुद्र की तहों में इकट्ठी होकर खड़िया मिट्टी की चट्टानें बनाती हैं।

उनसे अलग एक तीसरे समूह में अथवा मध्यम जन्तु-समूह में रखना चाहिए। अतः यदि हम जन्तु-जगत् का बँटवारा करें तो उसके आदि जन्तु, मध्यम जन्तु और अंतिम जन्तु ये तीन उपवर्ग होंगे। बहुत-से प्राणिशास्त्रवेत्ता मध्यम जन्तुओं का अलग उपवर्ग नहीं मानते, बल्कि इस उपवर्ग के जीवों की गणना अन्तिम जन्तुओं के उपवर्ग में ही करते हैं।

आदि जीवों का उपवर्ग

आदि जन्तुओं के उपवर्ग में वे छोटे-छोटे प्राणी संमिलित हैं, जिन्हें हम कोरी आँख से नहीं देख पाते। इसीलिए इन प्राणियों से अधिकतर साधारण जनता बिलकुल अनजान १० हजार जाति के आदि जीव अभी तक जाने जा चुके हैं। ये आदि जीव जंतु-जगत् के सबसे साधारण प्राणी समझे जाते हैं। इनके शरीर में एक ही कोशिका होती है। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें एक-जैसी कई कोशिकाएँ एक साथ ही चिपटी हुई तैरती रहती हैं। ये डंठलों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए दूसरी किसी वस्तु पर चिपटे रहते हैं। इनका शरीर प्रकृति की कारीगरी का अद्भुत नमूना है। हमारी सभी आवश्यक क्रियाओं को ये भली भाँति करते हैं। भिन्न-भिन्न अंगों के बिना ही वे खाते-पीते, आहार पचाते, साँस लेते, मल-मूत्र-त्याग करते, चलते-फिरते और संतानोत्पादन करते हैं।

इनकी इन रोचक क्रियाओं और विभिन्न रचनाओं का विस्तार-पूर्वक हाल हम आपको आगे चलकर वतलायेंगे। ये बड़े खतरनाक जीव है। मलेरिया, पेचिश और निद्राज्वर जैसे रोग इन्ही एक-कोष्ठी जीवो के हमारे शरीर में प्रवेश करने से होते है। मलेरिया के अदृश्य जीवाणु हमारे रक्तकणों मे घुस जाते है और उन्हे नष्ट कर डालते है। जब ऐसे असख्य कृमि रक्त मे वन जाते है, तब हमे जूड़ी ज्वर आने लगता है। इस प्रकार नित ही रक्त-कणों के नष्ट होने के कारण शरीर निर्बल होने लगता है। ये अदृश्य सूक्ष्म जीव हमारे लिए कितने हानिकारक है, इसका अनुमान शायद आप इससे कर सकेंगे कि भारतवर्ष में प्रति वर्ष १० लाख मनुष्य इसी बीमारी के कारण मरते है। गणना करने से विदित हुआ है कि संसार भर में तमाम रोगो के कारण होने-वाली मृत्युओ में से आधे का उत्तरदायित्व इसी मलेरिया ज्वर के प्लैसमोडियम नामक आदि जीव पर ही है। तो फिर मानव-जाति का इससे बढ़कर भयंकर शत्रु दूसरा क्या होगा ?
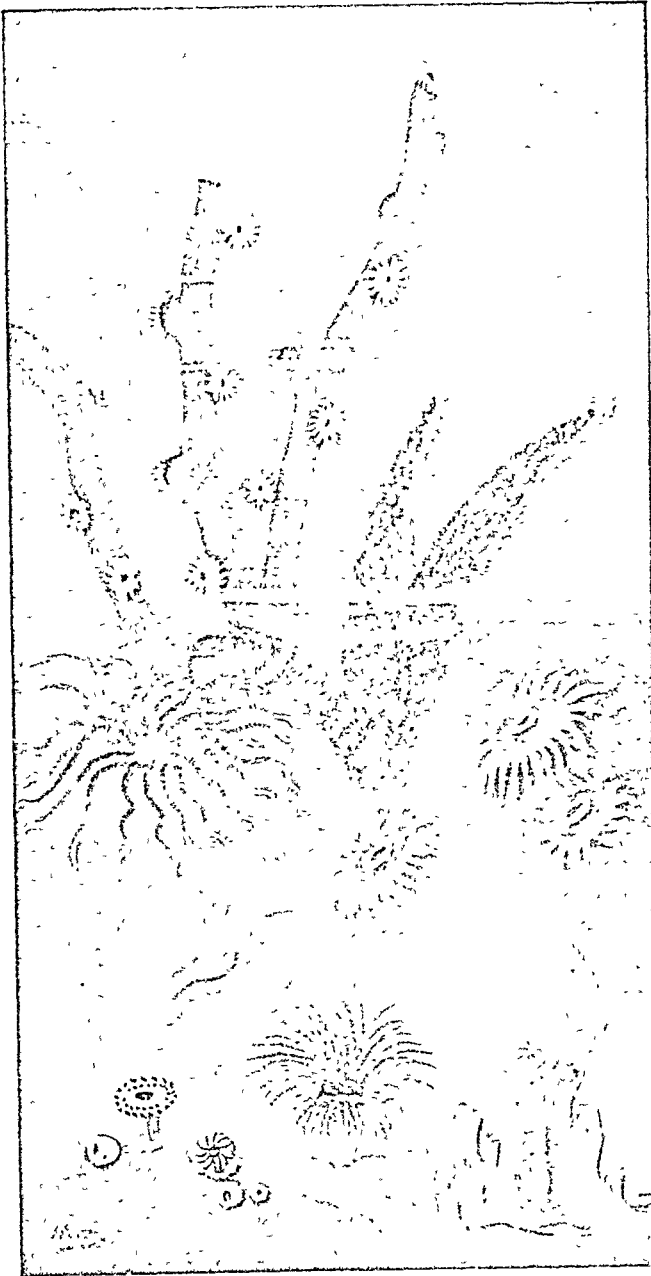
अरब-सागर में द्वारका के निकट पाये गये कुछ समुद्री जीव

ये देखने में फूल और पौधों-जैसे जान पड़ते है, पर वास्तव में ये जन्तु ही हैं। इनमें वहुछिद्री (स्पज), मूँगा-वंशज और समुद्री फूल (एनीमोन) सभी दिग्दर्शित हैं। ये सब वहुकोष्ठी जीव है और इस दृष्टि से आदि वर्ग के एककोष्ठी प्राणियों से अधिक उन्नत है।

परन्तु कुछ आदि जीव हमारे लिए लाभ-दायक भी है, जैसे कि रेडियोलेरिया, फौरैमिनीफेरा, आदि जो अपने शरीर पर सुन्दर चकमक पत्थर जैसी कड़े चूनेवाली पत्थर की ठठरी या खोल वनाते है। ये ठठरियाँ उनके मरने पर हर घड़ी करोड़ों की संख्या मे सागर की तहों में दवते रहकर पत्थर या खड़िया मिट्टी वन जाती है, जिसे निकालकर हम अपने काम में लाते है। इन जीवों के तीन नमूने पृष्ठ ५९५ के चित्र मे दिखाये गये है, और कुछ पृष्ठ ६०३ के चित्र मे भी सवसे नीचे की पंक्ति में वने हुए है।

मध्यम जीवों का उपवर्ग

इस उपवर्ग के कुछ उदाहरण इसी पृष्ठ के चित्रमें तथा पृष्ठ ६०३ के चित्र में द्वितीय पंक्ति में दिखलाये गये है। इन्हें देखकर आप आसानी से समझ लेंगे कि इनका मुख्य लक्षण यह है कि इनके शरीर में बहुत-से छिद्र होते है, जिनके द्वारा उनके शरीर की साधारण या टेढ़ी-मेढ़ी नलियों में से जल प्रवाहित होता रहता है। इसलिए उनको बहुत-से लोग 'समुद्रसोख' के नाम से पुकारते है। हममें से वहुतेरे लोग

इस उपवर्ग के जीवों के एक प्रकार के मुखाये हुए रूप से सुपरिचित हैं, जो 'स्पंज' के नाम से बाजारों में बिकता है। ये बाजारू स्पंज इस वर्ग के जीवित प्राणी की साफ की हुई ठठरियाँ या जीवावशेष मात्र हैं।

अब तक लगभग २५०० प्रकार के विभिन्न स्पंज पाये गये हैं। उनमें से करीब-करीब सभी समुद्री जीव हैं। केवल एक ही दो वंश ऐसे हैं, जो मीठे पानी (नदी, झील आदि) में पाये जाते हैं। इनके शरीरों में एक से अधिक कोशिकाएँ तो अवश्य होती हैं, परन्तु ये जीव तीसरे उपवर्ग अर्थात् जीवों के अन्तिम वर्ग या असली बहुकोष्ठी प्राणियों से बिल्कुल ही निराले हैं। यदि इनके बहुकोष्ठी होने का ही लक्षण ध्यान में रक्खा जाय तब तो वे भी बाकी सब बहुकोष्ठियों के साथ एक ही उपवर्ग में गिने जा सकते हैं और यही कारण है कि बहुत-से जन्तु-शास्त्रवेत्ता उनका एक अलग उपवर्ग नहीं बनाते। किन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि इनकी शारीरिक रचना अन्य बहुकोष्ठियों की बनावट से कहीं अधिक सरल है, अर्थात् इनमें कोशिकाओं के एकत्र होने से कोई अंग नहीं बनते, और भोजन की सामग्री पानी की धारा द्वारा सहस्रों मुखों (छिद्रों) द्वारा इनके भीतर जाती है, तो यही उचित जान पड़ता है कि हम इन्हें शेष सब बहुकोष्ठियों से अलग मध्य जीवों के उपवर्ग में गिनें, क्योंकि इनके लक्षण प्रारंभिक और अन्तिम जीव-समूहों के बीच के हैं। इस उपवर्ग के सब प्राणी एक ही समूह के हैं, जिसका नाम बहुछिद्री वर्ग है। इनमें से सभी जीव उपनिवेश बनाकर रहने वाले होते हैं। ये समुद्र या अन्य जलाशयों के पौधों और चट्टानों आदि के साथ संलग्न रहते हैं। इनमें अपने नरम गुदगुदे शरीर को कायम रखने के लिए कड़े नोकीले काँटे या शूल होते हैं, जो कड़े चूने अथवा पाषाण जैसे पदार्थ के बने होते हैं। नहाने के काम आनेवाले साधारण स्पंजों में एक चीमड़ रेशेदार पदार्थ होता है, जो स्पंजिन कहलाता है। यह स्पंजों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। स्पंजों का एक विशेष गुण यह भी है कि यदि उन्हें काट दिया जाय तो भी अन्य जीवों की तरह वे मर नहीं जाते। यदि एक स्पंज के दो, चार या आठ भाग हो जायँ और वे समुद्र में ही बने रहें तो प्रत्येक भाग फिर बढ़कर अपने पूरे डील पर पहुँच जाता है! इन गुणों में ये वृक्षों के लक्षणों की ओर झुकते हुए दिखलाई देते हैं। किसी-किसी स्पंज में वृक्षों की तरह शाखाएँ भी फूटती हैं। हिन्द-महासागर में मिलनेवाले स्पंज समुद्र के तले से यंत्रों द्वारा काटकर ऊपर निकाले जाते हैं और साफ करके बाजारों में बेचे जाते हैं। इनसे कई लाख रुपये साल का व्यापार किया जाता है। जिस प्रकार काश्तकारों को खेत उठा दिये जाते हैं, उसी प्रकार कहीं-कहीं समुद्र भी स्पंजों के लिए ठेके पर उठा दिये जाते हैं। इन समुद्रों के ठेकेदार दूसरे-तीसरे साल अपनी स्पंज की खेती काटते हैं, और उनके खेत स्पंज से बिल्कुल खाली न हो जायँ, इसलिए फसल काटकर निकाले गए स्पंजों में से कुछ को वे फिर से सागर में डाल देते हैं, जो समुद्र के तले में जाकर पुनः चिपक जाते हैं और बढ़कर फिर दूसरी फसल तैयार कर देते हैं।

मत्स्य-समुदाय के कुछ प्रतिनिधि

इनके कैसे अनोखे रूप हैं! निराले रूप-आकार की ये मछलियाँ गहरे सागरों में पाई जाती हैं। चौथे नम्बरवाली का मुँह घोड़े जैसा है, इसी से इसे 'समुद्री घोड़ा' कहा जाता है।

लस-मछली और उसके सम्बन्धी

सागर-तट के निवासी प्रायः बहुत-से ऐसे समुद्री जीवों से परिचित रहते हैं, जिन्हें हम नहीं जानते।

उरंगम-वर्ग के दो भयावने प्रतिनिधि

भारतवर्ष के इन दो सुपरिचित उरगमों में एक घड़ियाल या मगर है, जो नदियों में रहता है और मौका पाने पर नहानेवाले मनुष्यों को जल में खींच ले जाता है। दूसरा काला नाग है, जिसके द्वारा डसा गया मनुष्य शायद ही कभी बचता हो।

इनमें एक ही समूह के कई प्रकार के ऐसे पारदर्शक जीव भी है, जो जल की ऊपरी तहों में तैरते रहते है। ये लहरो के द्वारा बहुधा किनारे की बालू पर आ टिकते है। जगन्नाथ-पुरी जैसे स्थानों पर, जहाँ समुद्र-तट दूर तक सपाट और रेतीला है, या बम्बई और द्वारका के आस-पास के तटों पर ज्वार के उतरने पर ये जीव प्रायः दिखाई देते है। बहुधा ये मछली पकड़नेवालो के जाल में भी फँस जाया करते है। इनमे से एक प्रकार के प्राणी, जिन्हे अंग्रेजी में 'जेली-फिश' कहते है, हमारे देश के सभी सागरों में मिलते है। उनके शरीर एक नरम लसदार पदार्थ के बने होते है और दबाने से वे पिचक जाते है। समुद्र-तट के निवासी तथा मछुए यह समझते है कि इनके शरीर पानी के बने होते है। पर यदि इन्हें कोई हाथ से छू ले तो हाथ खुजलाने या जलने लगते है, क्योंकि इनमें एक प्रकार के डंक मारनेवाले महीन सूत होते है, जो छोटे-छोटे कोषो में बन्द होते है। इन डक मारनेवाले कोषो का होना इनका एक विशेष लक्षण है। इसीलिए कही-कही इन्हें समुद्री बिच्छू भी कहते है। हम इन्हें लस-मछली कहकर पुकारे तो अधिक उपयुक्त होगा।

मूँगे से तो आप अवश्य ही परिचित होंगे, क्योंकि इसकी मालाएँ प्रायः हमारे देश में पहनी जाती है। ये एक प्रकार के लस-मछलीवाले समूह के ही प्राणियो के कंकाल है। मूँगेवाले कीड़ों में पेड़ो की-सी डालियाँ होती है, जो पत्थर की तरह कठोर होती है। इनके ऊपर छोटे-छोटे सूराख होते है, जिनमें से नरम कीड़े अपनी पंखड़ियाँ बाहर फैलाये रहते है। जीवित दशा में देखने पर ये प्राणी बहुत ही सुहावने लगते है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो वृक्षो की लाल-लाल डंडियों मे सफेद फूल खिले हुए हों! छिछले समुद्रो मे कही-कही तो मूँगे की तरह के जीवों ने अपनी इतनी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसा दी है कि वहाँ पर मिट्टी आदि के जम जाने से समूचे द्वीप बन गये है! ऑस्ट्रेलिया के पास कोसों तक फैली हुई दुनिया की प्रसिद्ध मूँगे की चट्टाने है। इनकी रोचक कहानी आगे चलकर आप सुनेगे। इस समूह के कुछ जीव मीठे पानी में भी दिखलाई पड़ते है, किन्तु अपने समुद्री नातेदारों के मुकाबले में वे बहुत छोटे और अदृष्ट होते है। हाइड्रा, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, इन्ही में से एक जीवधारी है।

कृमि तथा अन्य गंडेदार जीव

बहुत-से जीव (जो वास्तव में तो एक दूसरे से बहुत भिन्न है और अलग-अलग समूहो मे माने जाते हैं) एक लक्षण में एक दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं। वह लक्षण यह है कि उनमे से अधिकाश के शरीर लम्बे, गडेदार या जोडदार कोमल चमडे से मढे हुए होते है। यही कारण है कि प्राचीन प्राणिशास्त्रियो ने इन सबको एक ही सा जानकर एक ही समूह मे रक्खा था। इन कृमियो में से बहुतेरे पानी या गीली मिट्टी मे जीवन व्यतीत करते हैं; जैसे, केंचुवा या गेंमा, जिसे वर्षा ऋतु मे खेतो या अन्य स्थानो मे आपने रेंगते देखा होगा। केचुवे की ही तरह के बहुत-से जीव समुद्रो में भी पाये जाते है। किन्तु उनमे शरीर के हर एक जोड़ या हिस्से में, बाहर को दोनो ओर निकले हुए, तैरने के लिए चपटे-से अग होते है।

बहुत-से कृमि ऐसे भी है, जो मनुष्य या अन्य जानवरों के शरीरो मे ही फूलते-फलते हैं। ये तीन समूह के होते हैं। एक तो वे जिनके शरीर फीते की तरह लम्बे और चपटे होते हैं। इन्हे आम तौर से हम फीता, कृमि या कद्दूदाना के नाम से पुकारते है। इनका प्रत्येक जोड शक्ल मे लौकी के बीज के समान होता है और इनमें से कोई-कोई, जो मनुष्य की आंत मे पाये जाते हैं, कई फीट तक लम्बे होते हैं। दूसरे वे हैं, जिनके शरीर फीता कृमि की तरह चपटे तो होते है, परन्तु उनके जैसे वे न तो लम्बे ही होते है और न उनमें जोड ही होते है, अथवा यो कहिए कि उनके शरीर में एक ही जोड होता है। तीसरे प्रकार के कृमि वे हैं, जो धरती मे रहनेवाले केचुवे जैसे लम्बे तथा दोनो छोर पर नोकीले होते हैं। किन्तु उसकी तरह उनके शरीर में गडे स्पष्ट नही होते। दो प्रकार के ऐसे कृमियों से साधारण लोग काफी परिचित हैं। एक तो वे है, जो आंत के नीचे के भाग अर्थात् गुदा के पास

पक्षी-समुदाय का एक सलोना प्रतिनिधि

सुन्दर दुमवाला यह आस्ट्रेलिया-निवासी पखेरू मोर की तरह रंगीन परवाला न होते हुए भी पक्षियों में बडा रूपवान माना जाता है। इसकी दुम पाश्चात्य वीणा 'लायर' की शक्ल की होती है। इसीसे इसका नाम 'लायर-पक्षी' रक्खा गया है। यह अब बहुत कम रह गया है। मोर की तरह इस पक्षी के भी नर की दुम ही इस सुंदर आकृति की होती है, मादा की नहीं। चित्र में नर-मादा का एक जोड़ा दिखाया गया है।

उरंगम-वर्ग के दो भयावने प्रतिनिधि

भारतवर्ष के इन दो सुपरिचित उरगमों में एक घड़ियाल या मगर है, जो नदियों में रहता है और मौ
जल में खींच ले जाता है। दूसरा काला नाग है, जिसके द्वारा डसा गया मनुष्य शा

इनमें एक ही समूह के कई प्रकार के ऐसे पारदर्शक जीव भी हैं, जो जल की ऊपरी तहों में तैरते रहते हैं। ये लहरों के द्वारा बहुधा किनारे की बालू पर आ टिकते हैं। जगन्नाथ-पुरी जैसे स्थानों पर, जहाँ समुद्र-तट दूर तक सपाट और रेतीला है, या बम्बई और द्वारका के आस-पास के तटों पर ज्वार के उतरने पर ये जीव प्रायः दिखाई देते हैं। वह ये मछली पकड़नेवालों के जाल में भी फँस जाया कर इनमें से एक प्रकार के प्राणी, जिन्हें अंग्रेजी में 'जे कहते हैं, हमारे देश के सभी सागरों में मिलते हैं। उन शरीर एक नरम लसदार पदार्थ के बने होते हैं और दबाने से वे पिचक जाते हैं। समुद्र-तट के निवासी तथा मछुए यह समझते हैं कि इनके शरीर पानी के बने होते हैं। पर यदि इन्हें कोई हाथ से छू ले तो हाथ खुजलाने या जलने लगते हैं, क्योंकि इनमें एक प्रकार के डंक मारनेवाले महीन सूत होते हैं, जो छोटे-छोटे कोषों में बन्द होते हैं। इन डंक मारनेवाले कोषों का होना इनका एक विशेष लक्षण है। इसीलिए कहीं-कहीं इन्हें समुद्री विच्छू भी कहते हैं। हम इन्हें लस-मछली कहकर पुकारें तो अधिक उपयुक्त होगा।

मूँगे से तो आ
मालाएँ प्राय
के लग
मूँगे

कृमि तथा अन्य गंडेदार जीव

बहुत-से जीव (जो वास्तव में तो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और अलग-अलग समूहों में माने जाते हैं) एक लक्षण में एक दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं। वह लक्षण यह है कि उनमें से अधिकांश के शरीर लम्बे, गंडेदार या जोड़दार कोमल चमड़े से मढ़े हुए होते हैं। यही कारण है कि प्राचीन प्राणिशास्त्रियों ने इन सबको एक ही सा जानकर एक ही समूह में रक्खा था। इन कृमियों में से बहुतेरे पानी या गीली मिट्टी में जीवन व्यतीत करते है; जैसे, केंचुवा या गेंसा, जिसे वर्षा ऋतु मे खेतों या अन्य स्थानों में आपने रेंगते देखा होगा। केंचुवे की ही तरह के बहुत-से जीव समुद्रों मे भी पाये जाते हैं। किन्तु उनमें शरीर के हर एक जोड़ या हिस्से में, बाहर को दोनों ओर निकले हुए, तैरने के लिए चपटे-से अंग होते है।

बहुत-से कृमि ऐसे भी हैं, जो मनुष्य या अन्य जानवरों के शरीरों में ही फूलते-फलते हैं। ये तीन समूह के होते हैं। एक तो वे जिनके शरीर फीते की तरह लम्बे और चपटे होते हैं। इन्हे आम तौर से हम फीता, कृमि या कद्दूदाना के नाम से पुकारते है। इनका प्रत्येक जोड़ शक्ल में लौकी के बीज के समान होता है और इनमें से कोई-कोई, जो मनुष्य की आँत में पाये जाते हैं, कई फीट तक लम्बे होते हैं। दूसरे वे हैं, जिनके शरीर फीता कृमि की तरह चपटे तो होते हैं, परन्तु उनके जैसे वे न तो लम्बे ही होते हैं और न उनमे जोड़ ही होते हैं, अथवा यों कहिए कि उनके शरीर में एक ही जोड़ होता है। तीसरे प्रकार के कृमि वे हैं, जो धरती में रहनेवाले केंचुवे जैसे लम्बे तथा दोनों छोर पर नोकीले होते हैं। किन्तु उसकी तरह उनके शरीर में गंडे स्पष्ट नहीं होते। दो प्रकार के ऐसे कृमियों से साधारण लोग काफी परिचित हैं। एक तो वे हैं, जो आँत के नीचे के भाग अर्थात् गुदा के पास

पक्षी-समुदाय का एक सलोना प्रतिनिधि

सुन्दर दुमवाला यह आस्ट्रेलिया-निवासी पखेरू मोर की तरह रंगीन परवाला न होते हुए भी पक्षियों में बड़ा रूपवान माना जाता है। इसकी दुम पाश्चात्य वीणा 'लायर' की शक्ल की होती है। इसीसे इसका नाम 'लायर-पक्षी' रक्खा गया है। यह अब बहुत कम रह गया है। ... की तरह इस पक्षी के भी नर की दुम ही इस सुंदर आकृति की होती है, मादा की ... चित्र में नर-मादा का एक जोड़ा दिखाया गया है।

उरंगम-वर्ग के दो भयावने प्रतिनिधि

भारतवर्ष के इन दो सुपरिचित उरगमों में एक घड़ियाल या मगर है, जो नदियों में रहता है और मौका पाने पर नहानेवाले मनुष्यों को जल में खींच ले जाता है। दूसरा काला नाग है, जिसके द्वारा डसा गया मनुष्य शायद ही कभी बचता हो।

इनमे एक ही समूह के कई प्रकार के ऐसे पारदर्शक जीव भी है, जो जल की ऊपरी तहो मे तैरते रहते है। ये लहरो के द्वारा बहुधा किनारे की बालू पर आ टिकते है। जगन्नाथ-पुरी जैसे स्थानो पर, जहाँ समुद्र-तट दूर तक सपाट और रेतीला है, या बम्बई और द्वारका के आस-पास के तटो पर ज्वार के उतरने पर ये जीव प्राय. दिखाई देते है। बहुधा ये मछली पकडनेवालो के जाल मे भी फँस जाया करते है। इनमे से एक प्रकार के प्राणी, जिन्हे अग्रेजी में 'जेली-फिश' कहते है, हमारे देश के सभी सागरो मे मिलते है। उनके शरीर एक नरम लसदार पदार्थ के बने होते है और दबाने से वे पिचक जाते है। समुद्र-तट के निवासी तथा मछुए यह समझते है कि इनके शरीर पानी के बने होते है। पर यदि इन्हें कोई हाथ से छू ले तो हाथ खुजलाने या जलने लगते है, क्योकि इनमे एक प्रकार के डक मारनेवाले महीन सूत होते है, जो छोटे-छोटे कोषो में बन्द होते है। इन डक मारनेवाले कोषो का होना इनका एक विशेष लक्षण है। इसीलिए कही-कही इन्हे समुद्री विच्छू भी कहते है। हम इन्हे लस-मछली कहकर पुकारें तो अधिक उपयुक्त होगा।

मूँगे से तो आप अवश्य ही परिचित होगे, क्योकि इनकी मालाएँ प्राय· हमारे देश मे पहनी जाती है। ये एक प्रकार के लस-मछलीवाले समूह के ही प्राणियो के ककाल है। मूँगेवाले कीडो मे पेडो की-सी डालियाँ होती है, जो पत्थर की तरह कठोर होती है। इनके ऊपर छोटे-छोटे सूराख होते है, जिनमें से नरम कीड़े अपनी पंखडियाँ बाहर फैलाये रहते है। जीवित दशा में देखने पर ये प्राणी बहुत ही सुहावने लगते है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो वृक्षो की लाल-लाल डडियो मे सफेद फूल खिले हुए हो! छिछले समुद्रो में कही-कही तो मूँगे की तरह के जीवो ने अपनी इतनी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसा दी है कि वहाँ पर मिट्टी आदि के जम जाने से समूचे द्वीप बन गये है! ऑस्ट्रेलिया के पास कोसों तक फैली हुई दुनिया की प्रसिद्ध मूँगे की चट्टाने है। इनकी रोचक कहानी आगे चलकर आप सुनेंगे। इस समूह के कुछ जीव मीठे पानी में भी दिखलाई पड़ते है, किन्तु अपने समुद्री नातेदारो के मुकाबले में वे बहुत छोटे और अदृष्ट होते है। हाइड्रा, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके है, इन्हीं में से एक जीवधारी है।

कृमि तथा अन्य गंडेदार जीव

बहुत-से जीव (जो वास्तव में तो एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और अलग-अलग समूहों मे माने जाते है) एक लक्षण में एक दूसरे से काफी मिलते-जुलते हैं। वह लक्षण यह है कि उनमें से अधिकांश के शरीर लम्बे, गंडेदार या जोड़दार कोमल चमड़े से मढ़े हुए होते हैं। यही कारण है कि प्राचीन प्राणिशास्त्रियो ने इन सबको एक ही सा जानकर एक ही समूह में रक्खा था। इन कृमियों में से बहुतेरे पानी या गीली मिट्टी मे जीवन व्यतीत करते है; जैसे, केंचुवा या गेंसा, जिसे वर्षा ऋतु में खेतों या अन्य स्थानो मे आपने रेंगते देखा होगा। केंचुवे की ही तरह के बहुत-से जीव समुद्रों में भी पाये जाते है। किन्तु उनमे शरीर के हर एक जोड़ या हिस्से में, बाहर को दोनों ओर निकले हुए, तैरने के लिए चपटे-से अंग होते है।

बहुत-से कृमि ऐसे भी हैं, जो मनुष्य या अन्य जानवरों के शरीरों में ही फूलते-फलते है। ये तीन समूह के होते है। एक तो वे जिनके शरीर फीते की तरह लम्बे और चपटे होते है। इन्हें आम तौर से हम फीता, कृमि या कद्दूदाना के नाम से पुकारते है। इनका प्रत्येक जोड़ शक्ल में लौकी के बीज के समान होता है और इनमें से कोई-कोई, जो मनुष्य की आँत मे पाये जाते है, कई फीट तक लम्बे होते हैं। दूसरे वे है, जिनके शरीर फीता कृमि की तरह चपटे तो होते है, परन्तु उनके जैसे वे न तो लम्बे ही होते है और न उनमें जोड़ ही होते है, अथवा यों कहिए कि उनके शरीर में एक ही जोड़ होता है। तीसरे प्रकार के कृमि वे है, जो धरती में रहनेवाले केचुवे जैसे लम्बे तथा दोनों छोर पर नोकीले होते हैं। किन्तु उसकी तरह उनके शरीर में गंडे स्पष्ट नहीं होते। दो प्रकार के ऐसे कृमियों से साधारण लोग काफी परिचित है। एक तो वे है, जो आँत के नीचे के भाग अर्थात् गुदा के पास

पक्षी-समुदाय का एक सलोना प्रतिनिधि

सुन्दर दुमवाला यह आस्ट्रेलिया-निवासी पखेरू मोर की तरह रंगीन परवाला न होते हुए भी पक्षियों में बड़ा रूपवान माना जाता है। इसकी दुम पाश्चात्य वीणा 'लायर' की शक्ल की होती है। इसीसे इसका नाम 'लायर-पक्षी' रक्खा गया है। यह अब बहुत कम रह गया है। मोर की तरह इस पक्षी के भी नर की दुम ही इस सुंदर आकृति की होती है, मादा की नहीं। चित्र में नर-मादा का एक जोड़ा दिखाया गया है।

स्तनपोषी वर्ग के दो चित्र-विचित्र पशु

(बाईं ओर) भारतवर्ष और अफ्रीका में मिलनेवाला गैंडा, जो अपनी नासिका के स्थान पर एक मजबूत सींग सा उगाये रहता है। इसका चमड़ा बहुत मोटा और कड़ा होता है, इसलिए वह ढाल बनाने के काम में आता है। (दाहिनी ओर ऊपर) अफ्रीका के मैदानों का निवासी, सुन्दर धारीदार खालवाला, घोड़े से मिलता जुलता पशु जेब्रा।

बहुतेरे मनुष्यो मे पैदा हो जाते और चुन्ने कहलाते है। ये अक्सर रात के समय काटते ओर तकलीफ देते है। ये महीन डोरे जैसे सफेद और करीब आधा इच लम्बे होते है। दूसरे वे है. जो इनसे बहुत बड़े, ६ से ६ इच तक लम्बे होते है और कभी-कभी मनुष्यो के मल के साथ बाहर निकलते देखे जाते है। इन्हे भी हम केचुवा ही कहते है। पृष्ठ ६०३ पर दिये गये जन्तु-जगत् संबंधी चित्र में ये कृमि और गंडेदार जीव नीचे से ऊपर की ओर चौथी पंक्ति मे दिखाये गये है।

सितारा-मछली और इसके नातेदार

इनसे ऊपर की ओर बढने पर पाँचवी और छठी पंक्ति मे दो प्रकार के जलवासी दिग्दर्शित है। जो प्राणी छठी पंक्ति मे है, वे समुद्री जीव है और लगभग तीन हजार प्रकार के होते है। इनमे सबसे परिचित सितारा-मछली है, जिसमें बीच के गोल शरीर से पाँच भुजाएँ बाहर की ओर फैली रहती है। इसके शरीर पर छोटे-छोटे गोल या पहलदार पत्तर मढे होते है। सूख जाने पर यह प्राणी बडा सुन्दर दीखाई पडता है। 'समुद्री खीरे' और 'काँटेदार गोले' नामक प्राणी भी इसी समुदाय मे गिने जाते है। इन सभी में पाया जाने-वाला एक लक्षण यह है कि इनकी त्वचा कँटीली होती है। इसीलिए इन्हे कटक-चर्मी कहते है।

घोंघा एवं सीप के-से जीव

पाँचवी पंक्ति में घोघा, सीप इत्यादि जीव दरसाये गये है। इनमे से अधिकाश के सीप और घोघा जैसे कड़े छिलके होते है। यही उनके बाह्य शरीर की रक्षा करते है। कुछ ऐसे भी है, जिनका कड़ा छिलका शरीर के भीतर ही होता है। कुछ में घोघे की तरह चक्रदार छिलका होता है, कुछ मे सीप की तरह दोहरा छिलका होता है। चूंकि इन जीवो को भी लोगो ने पहले-पहल मछलियो के साथ पानी मे देखा था, इसलिए उन्हे भी वे छिलकेवाली मछली के नाम से पुकारने लगे। परन्तु वास्तव मे सितारा-मछली और ये दोनो

ही असली मछलियों से बिल्कुल भिन्न वर्ग के प्राणी हैं। कौड़ी इसी समूह के एक प्रकार के समुद्री कीड़े का आवरण या छिलका है। समुद्र के तट की रेत में कौड़ी और शंख-जैसे तरह-तरह के छोटे-बड़े महस्रों रंग-बिरंगे सुन्दर छिलके बिखरे रहते हैं। इस वर्ग के जीव अनगिनत संख्या वाले विशाल समूहों में रहते है, अतएव जन्तु-जगत् के समूहों में कीड़े-मकोड़ों के बाद जन-संख्या में इन्ही की गिनती है। इनकी ५० हजार से भी अधिक जातियां अब तक खोजी गई है। इनके नरम और गूदेदार शरीर के कारण बहुतेरे जीव इन्हें अपने भोजन की सामग्री बनाते हैं। मनुष्य भी कई तरह के घोंघों और सीपियो को रुचिपूर्वक खाते हैं।

जोड़दार पैरवाले प्राणी

अब हम जीवो के एक और समूह की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इनके बहुत-से उदाहरणों से आप परिचित होंगे। भला कौन-सा भारतवासी ऐसा है, जो मच्छर, मक्खी, कांतर, बिच्छू, मकड़ी, तितली, चींटी और बर्रे को नही जानता? इनके अलावा और भी बहुत-से जीवधारी है, जिन्हें हम सब नित्य ही देखा करते है, जैसे अँखफोड़ा, झींगुर, खटमल और पानी में रहनेवाले झींगे, केकडे इत्यादि। इस प्रकार के असंख्य प्राणी प्रकृति में है, जिन सबमें एक सामान्य लक्षण पाया जाता है। वह सामान्य लक्षण यह है कि इन सभी जीवों की टाँगें जोडदार होती हैं और ये जोड़ हमारी उँगलियों की भांति एक दूसरे के ऊपर मुड़ सकते हैं। इसी लक्षण के कारण इस समूह का नाम 'जोड़दार पैर-वाले प्राणी' रक्खा गया है। जन्तु-जगत् का यह सबसे विस्तृत समूह है। इस वर्ग के लगभग ५ लाख प्रकार के जीवो की तो सूची बन चुकी है और उनका अध्ययन भी किया जा चुका है, परंतु अभी कितने ऐसे जीव बाकी है, यह ठीक से कहना असम्भव है। अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि जितने ऐसे जीव जाने गये है, उनके दुगने अभी और जानने को बाकी हैं। यदि तराजू के एक पलड़े में संसार के अन्य सभी जीव रख दिये जाएँ, और दूसरे पलड़े में अकेले जोड़दार पैरवाले प्राणी रक्खे जाएँ, तो भी इनका पलडा उनसे पांच गुना भारी ही होगा! इनकी केवल जातियाँ ही असंख्य नही है, बल्कि एक-एक जाति के जीवों की संख्या भी अगणित है। भला दीमक, चींटी, टिड्डी, पतिंगों के दलों की संख्या कौन कभी गिन पाया होगा? टिड्डी का दल तो जब निकलता है, तब खेत-के-खेत तहस-नहस हो जाते हैं। उधर वर्षा-ऋतु में पतिंगों के कारण रात्रि के समय प्रकाश में काम करना हमारे लिए कठिन हो जाता है। हम मिठाई को कितनी ही छिपाकर, बचाकर और चींटियों की पहुँच से परे रखने की कोशिश करें, लेकिन फिर भी वे वहां तक पहुँच ही जाती है, क्योंकि उनमें सूंघने की शक्ति बहुत ही उन्नत है। अपृष्ठ-वंशियों में सर्वश्रेष्ठ समुदाय इन कीट-पतिंगों का ही है। इनमें से कुछ—जैसे कि चींटी, दीमक, बर्रे और शहद की मक्खी—अपनी बुद्धि और सामाजिक जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं।

पृष्ठवंशी या रीढ़दार प्राणी

अब उस सुप्रसिद्ध समूह के जीवो का हाल सुनिए, जिनकी पीठ में रीढ की हड्डी होती है और इसीलिए जो 'पृष्ठवंशी' कहलाते है। समस्त पृष्ठवंशी जीव एक ही समूह में गिने जाते है; अपृष्ठवंशियों की भांति इनके भिन्न-भिन्न समूह नही

स्तनपोषी समुदाय के वानर-वंश का एक प्रतिनिधि—मैन्ड्रिल नामक वानर

अफ्रीका के जंगलों में पाये जानेवाले इस विचित्रवेशधारी वानर का चेहरा नाक के दोनों ओर तेज लाल रंग का होता है, जिसमें नीली धारियाँ पड़ी रहती है।

है। सबसे अधिक हम ऐसे जीवों से ही परिचित है। परन्तु इनमे भी कुछ छोटे जीव ऐसे है, जिनमें औरो की तरह रीढ की हड्डी न होते हुए भी अन्य गुण पृष्ठवंशियों के से है, या यों कहिए कि ये जीव असली पृष्ठवंशियों और अपृष्ठवंशियों के बीच के प्राणी है। सबसे नीची श्रेणी के इन पृष्ठवंशियों में से कुछ के चित्र पृष्ठ ६०३ के चित्र में 'उप-पृष्ठवंशी' शीर्षक के सामने दिये गये है। इनमें का बैलेनोग्लौसस नामक एक प्राणी कृमि के-से शरीरवाला है और उष्ण कटिवन्ध के कुछ देशो में पाया जाता है। यह लगभग ४-६ इंच तक लम्बा होता है और इसमें अन्नमार्ग से बाहर की ओर कई छिद्र होते है, जिन्हे हम 'गलफड़ेवाले छिद्र' कहते हैं। इन छिद्रो का होना पृष्ठवंशियों का दूसरा विशेष लक्षण है, जो किसी भी अपृष्ठवंशी मे नही होता। एक अन्य जीव एम्फीऑक्सस कहलाता है। यह चपटा और दो-तीन इंच लम्बा होता है तथा समुद्र में रहता है। इसके भी कुछ अन्य लक्षण पृष्ठवंशियो से मिलते है। इन नीची जाति के अपरिचित पृष्ठवंशियों से शेष सब पृष्ठवंशी एक विशेष गुण द्वारा अलग किये जाते है। यह गुण इनमें खोपड़ी का अभाव है। अर्थात् इन निम्न कोटि के पृष्ठवंशियो में रीढ़ की हड्डी तो होती है, परन्तु उन्नत पृष्ठवंशियो की भांति इनमें खोपड़ी नही होती। खोपड़ीवाले पृष्ठवंशियों को तो हम नित्य ही देखते-भालते है; जैसे मछली, मेंढ़क, छिपकली, पक्षी और पशु। इन रीढदार प्राणियों में मनुष्य भी सम्मिलित है, जिसने अपनी खोपड़ी मे अवस्थित मस्तिष्क के विकास द्वारा अन्य सभी जीवों को पीछे ठेलकर पृथ्वी पर अपना एकक्ष साम्राज्य स्थापित कर लिया है। आइये, अब पृष्ठवंशियों के इस महत्त्वपूर्ण वर्ग के भिन्न-भिन्न समुदायों से आपका अलग-अलग परिचय कराएँ।

मत्स्य-समुदाय

इस समुदाय मे १२ हजार से भी अधिक उपजातियाँ है। सभी प्रकार की मछलियाँ पानी मे ही रहती है, जिनमे से अधिकांश समुद्र में, कुछ नदियों में और कुछ तालाबों में रहती है। वे अपने गलफड़ों द्वारा पानी मे भी साँस ले सकती है। इसी कारण साधारण मछलियाँ पानी के बाहर निकलते ही तड़फड़ाकर प्राण-त्याग कर देती हैं। परन्तु कोई-कोई ऐसी जाति की मछलियाँ भी है, जो पानी के बाहर भी जी सकती हैं। उनमें गलफड़ों के अलावा अन्य सहायक श्वासेन्द्रियाँ भी होती है। ये इन्द्रियाँ उन्हें हवा में साँस लेने में सहायता देती है। हमारे देश में ऐसी कई प्रकार की मछलियाँ मिलती हैं—जैसे सौरी, या बंगाल की कोयमाछ—जो अपने काँटो की सहायता से किनारे के पेड़ों पर चढ़ जाती है। यह तो सभी जानते है कि मछलियों के शरीर कड़े सिन्नों से आच्छादित होते है। परन्तु कुछ के सिन्ने नही भी होते। हाथ-पैर के बदले उनके शरीर में तैरने के लिए जगह-जगह डैने होते है।

मंडूक-समुदाय

मंडूक अथवा उभयचर प्राणियों का समुदाय पृष्ठवंशियों का सबसे छोटा समुदाय है। फिर भी इसमें लगभग दो हजार प्रकार के प्राणी है। इनकी खाल पर मछली या उरंगमो की भाँति सिन्ने नही होते। इनके चार टाँगे होती हैं, जिनमें छोटी-छोटी उँगलियाँ भी रहती है। साधारणता ये अपने अंडे पानी में ही देते है। जन्म के बाद इनके बच्चे मछली की तरह कुछ दिनों तक पानी मे तैरते फिरते है और गलफड़ो से साँस लेते है। बाद को धीरे-धीरे उनके शरीर में परिवर्तन हो जाता है और हवा मे साँस लेने के लिए अंग निकल आते है। धीरे-धीरे दुम और गलफड़े गायब हो जाते हैं। अब ये जल को छोड़कर स्थल के वासी हो जाते है। इनके अध्ययन से हमें पता चलता है कि प्राचीन काल में प्राणी जलचर से थलचर किस प्रकार हुए होंगे। मेंढक इसी वर्ग के जीव हैं। इनसे और इनके नातेदारों से लोग प्राय: डरते और घृणा करते है। मछलियोंकी तरह इन्हें सब देशों में नही खाया जाता। केवल फ्रांस, बरमा, जापान आदि देशों में ही लोग बड़ी रुचि से इन्हें खाते हैं।

उरंगम-समुदाय

कछुआ, मगर, छिपकली और सर्प से सभी भारतवासी परिचित है। इनकी लगभग ५ हजार उपजातियाँ पृथ्वी पर मौजूद है। इन सबके चर्म में छोटे-छोटे सिन्ने या पत्तर होते हैं, पर ये मछलियो के सिन्नों के समान नही होते और उनसे आसानी से अलग किये जा सकते है। इनमें से कोई भी जीव मनुष्य के लिए उपयोगी नही है, बल्कि बहुत-से विषैले और हानिकारक है, जैसे साँप और विसखपड़ा। काला नाग, करैत, आदि तो ऐसे विषैले सर्प है कि जिनके काटने पर मनुष्य सहज ही में नही बच सकता। मगर और घड़ियाल भी अवसर पाने पर नहानेवालो को खीचकर हड़पने में नहीं चूकते। सौभाग्य की बात है कि इस वर्ग के ऐसे-ऐसे विशालकाय और भीषण स्वरूपवाले कई जीव, जिनके शरीर ५०-६० फीट तक लम्बे होते थे, और जो किसी समय पृथ्वी के अधिपति बनकर स्वतंत्रता से विचरते थे, अब नहीं रहे। पिछले अध्याय में उनका उल्लेख हो चुका है।

स्मरण रहे कि ऊपर उल्लिखित तीनों समुदायों के जन्तु
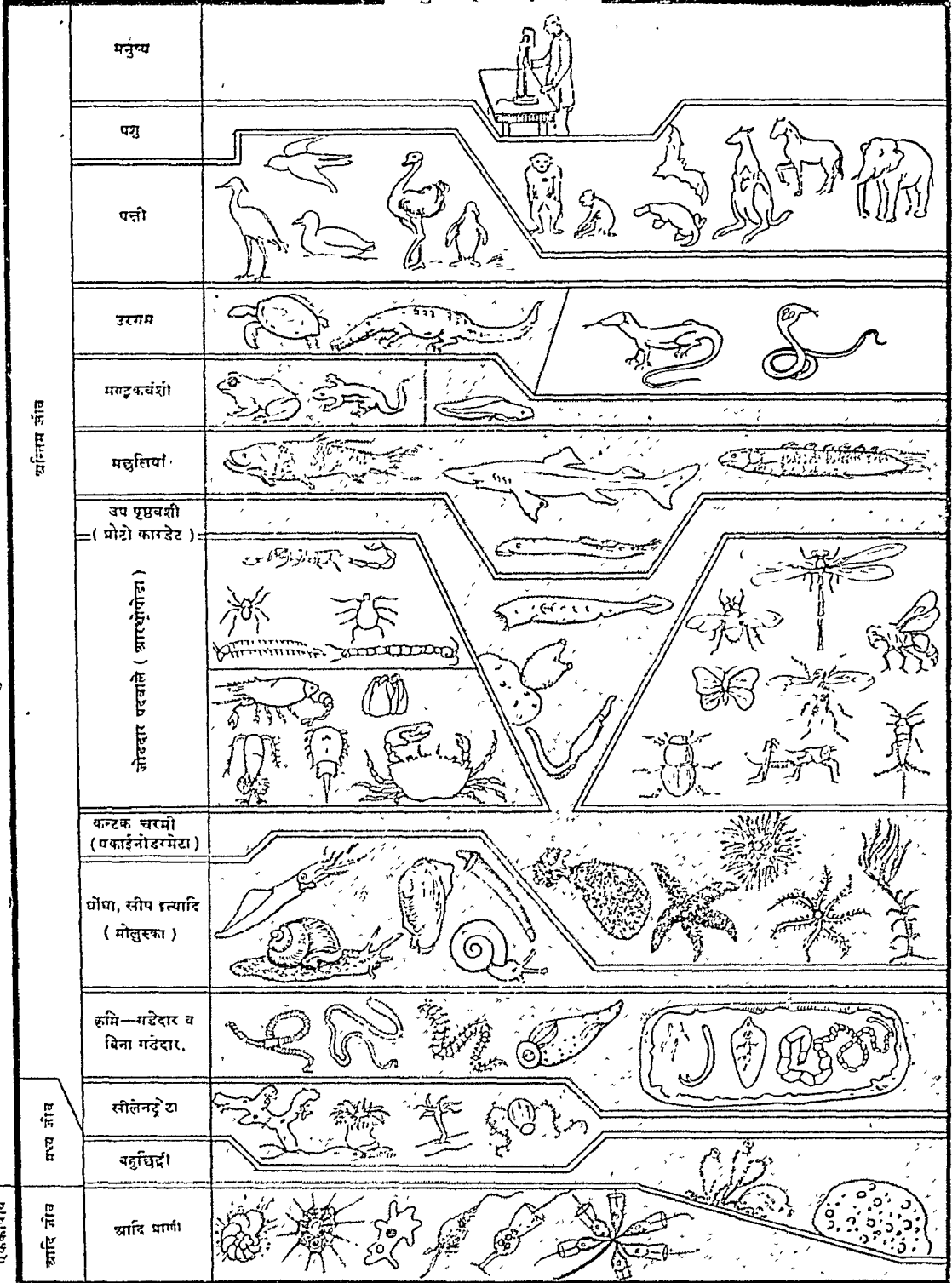
इस चित्र में जन्तु-जगत् के सभी मुख्य समूहों के जल, थल और वायु में विचरनेवाले वर्तमान जीवों के कुछ नमूने सिलसिलेवार दिखाये गए हैं। सबसे निम्न कोटि के सरल जीवों को सबसे नीचे दिया गया है और तब ऊपर की ओर बढ़ते हुए उत्तरोत्तर उन्नत समूह दरसाये गए हैं। बाईं ओर विभिन्न समूहों तथा समुदायों का वर्गीकरण निर्देशित है।

ठंडे रक्तवाले प्राणी है। बाकी दोनों समुदायो के जन्तु गरम रक्तवाले हैं। मत्स्य, मंडूक और उरंगम समुदाय के प्राणी अपने ठंडे रक्त के ही कारण सदा पानी मे आराम से रह सकते है। इनके अतिरिक्त जो गरम रक्तवाले स्तनपोषी जन्तु जल में जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हे गरम रखने का उपाय प्रकृति ने कर दिया है। बहुधा उनके शरीर मे चर्बी की मोटी पर्त्त होती है, जिससे जल की शीतलता के प्रभाव से उनके शरीर सुरक्षित बने रहते है।

पक्षी-समुदाय

जन्तु-जगत् में सबसे अच्छी तरह जाना बूझा और सर्व-विख्यात समुदाय पक्षियों का है। उनके चटकीले रंग, आकर्षक स्वरूप और सुन्दर हाव-भाव के कारण मनुष्य ने उनके विषय में सदा ही अधिक ध्यान दिया है। उनकी मधुर वाणी, घोसला बनाने की उनकी प्रवृत्ति और हमारी बोली का अनुकरण करने की उनकी असाधारण क्षमता के कारण वे हमें बहुत प्रिय लगते है।

कहा जाता है कि दुनिया के सब भागो में कुल मिलकर करीब २० हजार जाति के पक्षी पाये जाते हैं। ये करीब-करीब सभी हवा में उड़नेवाले है, फलतः इनके शरीर प्रायः एक ही ढंग पर रचे गये है। इनमे उरंगमों की तरह विभिन्न रूप और आकार नही है। इनका शरीर परों से ढका रहता है और उड़ने के लिए इन सबमें दो परदार डैने रहते है। सभी वर्तमान चिड़ियां बिना दांतवाली होती है, किन्तु भोजन कुतरने के लिए उनमें तीक्ष्ण चोंच होती है। उनके शरीर की सारी रचना उन्हें हल्का और उड़ने के योग्य बनाने के लिए उपयुक्त है। उनकी हड्डियाँ खोखली होती है और हवा से भरी रहती है तथा उनके फेफड़ों से हवा की थैलियाँ सारे शरीर मे फैली रहती है। इस कारण उनके शरीर मे ऑक्सीकरण की क्रिया बहुत तीव्रता से होती है। इसी से वे दिन भर उड़ा करती है तथा उनकी साँस फूलती नही। हमारे शरीर में ऐसा कोई प्रबन्ध न होने के कारण थोड़ा-सा दौड़ते ही हम थक जाते है और हमारी साँस फूलने लगती है।

स्तनपोषी-समुदाय

अन्त में हम जन्तु-जगत् के सर्वोच्च समुदाय के प्राणियो का हाल बतलाना चाहते है, जिनमें से बहुतों को हम पशु कहते है। यह नाम बड़े शरीरवालों के लिए तो ठीक है, लेकिन चूहे-जैसे प्राणी को पशु कहना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव मे कोई ऐसा एक नाम नही है, जो इन सब प्रकार के जीवो पर समान रूप से लागू हो। इनकी मुख्य विशेषता, जिसके द्वारा ये अन्य समुदायो के प्राणियों से अलग किये जा सकते हैं, यह है कि इन सबकी मादाओं के स्तन होते हैं, जिनसे वे अपने बच्चों को दूध पिलाकर उनका पालन करती हैं। इनके अलावा अन्य किसी समुदाय के प्राणियो का पोषण स्तनों से नही होता। इसीलिए इस समुदाय को स्तनपोषी-समुदाय कहते है। मनुष्य के बहुतेरे घरेलू पालतू जानवर—गाय, बैल, ऊँट, घोड़ा, बकरी, कुत्ता, आदि—इसी समुदाय के सदस्य है। उन्ही से भोजन के लिए हमें दूध, मांस आदि प्राप्त होता है; वस्त्रों के लिए ऊन, बाल और चमड़ा मिलता है, जिनसे हम बहुतेरी उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते है। इस वर्ग के जीवों मे घोड़ा, हाथी और ऊँट हमारे लिए सवारी का काम देते है, तथा बैल हमें खेती में सहायता देते और गदहे बोझ लादने का काम करते है। परंतु इनके अतिरिक्त शेर और चीते-जैसे फाड़ खानेवाले, ह्वेल-जैसे दैत्याकार तथा वानरों जैसे चंचल प्राणी भी इसी समुदाय के अन्तर्गत है। और तो और, स्वयं मनुष्य भी इसी समुदाय का प्राणी है। वस्तुतः अपने शरीर की रचना और इन्द्रियों की शक्तियों के कारण वह सब स्तनपोषियों मे शिरोमणि है।

इस समुदाय के सभी जन्तुओं के शरीर पर थोड़े-बहुत बाल होते है, जो उनकी सबसे अच्छी पहचान है। किन्तु कुछ स्तनपोषी लोमहीन भी होते है, जैसे ह्वेल (तिमि)। पर बचपन मे उसके भी बाल होते हैं, जो बड़े होने पर गिर पड़ते है। मनुष्य और कुछ समुद्री जीवों को छोड़कर सभी स्तनपोषी चौपाये हैं एवं इस वर्ग के करीब-करीब सभी प्राणियों में बच्चा अपनी माता के गर्भ में नियुक्त समय तक बढ़ता रहता है और काफी बड़ा हो जाने के बाद वह जन्म लेता है। दूसरे शब्दों में, इस समुदाय के सभी जीव जरायुज है। जन्म हो जाने पर कुछ समय तक बच्चा केवल माता के दूध पर ही निर्भर रहता है। स्तनपोषियों की ७ हजार से अधिक उपजातियाँ हमे ज्ञात है। उनमें से कई मनुष्य के लिए अति उपयोगी भी है।

जैसा कि इस अध्याय के आरंभ ही मे हम कह चुके हैं, जंतु-जगत् का विस्तार इतना लंबा-चौड़ा है कि कुछ पृष्ठों में उसकी पूरी झाँकी उतारना नितान्त असंभव है। यहाँ हमने सरसरी तौर से जंतु-संसार के मुख्य-मुख्य वर्गो पर एक नजर भर दौड़ा ली है। उन वर्गो के विशेष लक्षणों का भी केवल संक्षेप में हमने यहाँ उल्लेख भर किया है। इस स्तंभ के अंतर्गत आगे के लेखो में हम जीव-जगत् की विभिन्न श्रेणियों के मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियो मे से कुछ की कहानी विस्तारपूर्वक आपको सुनाएँगे।
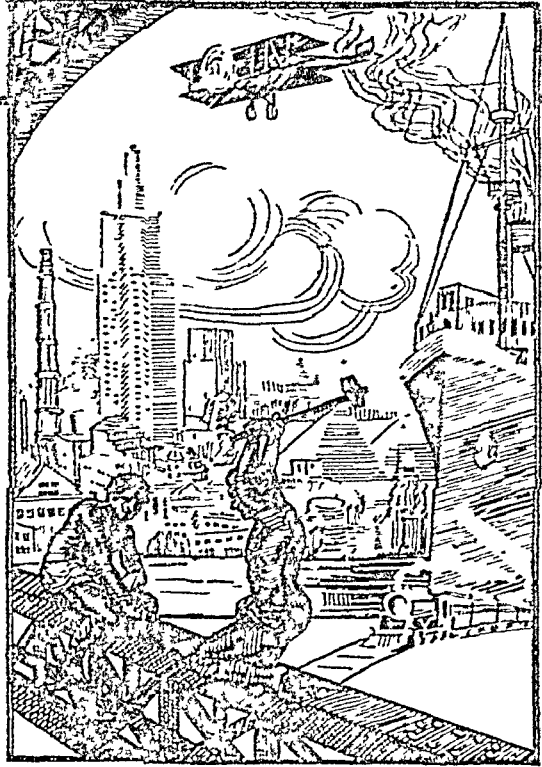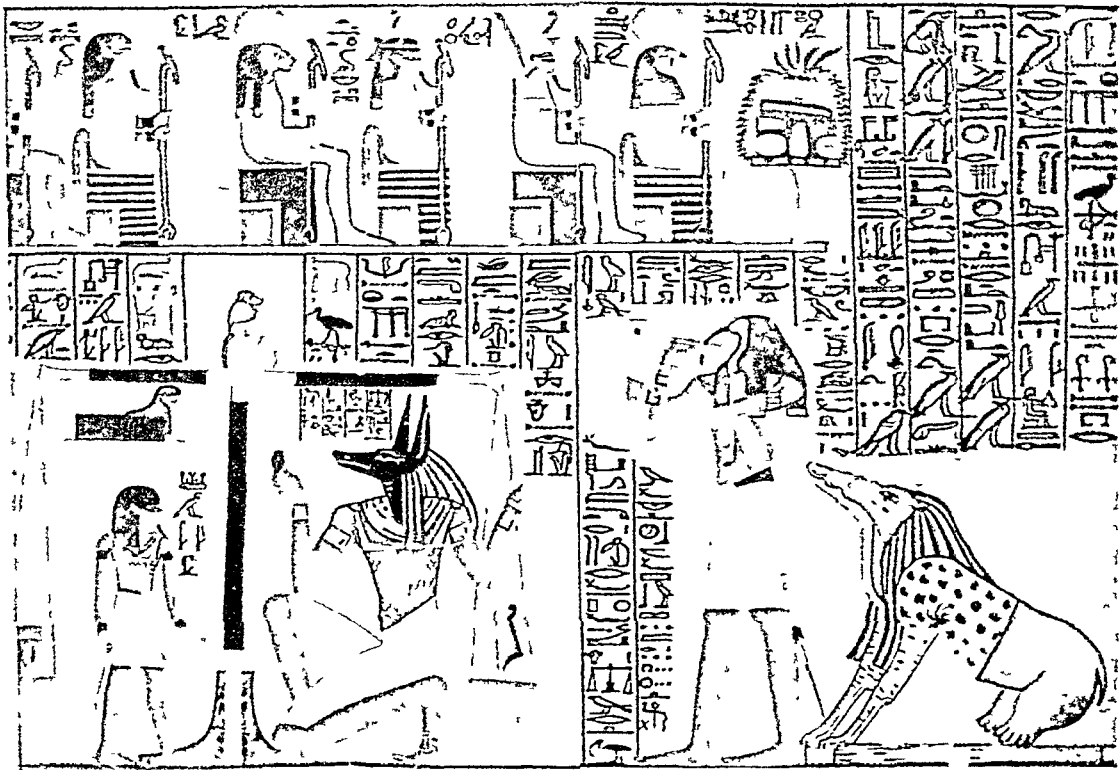
मनुष्य
की कहानी
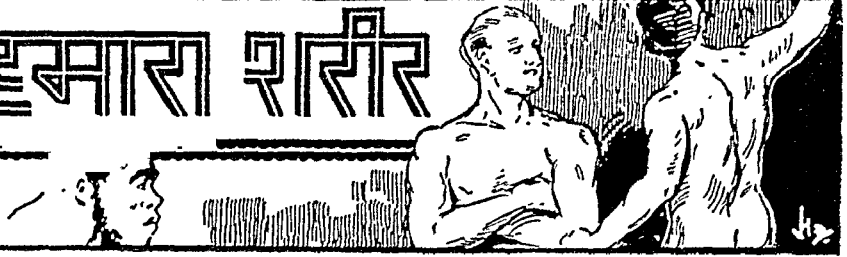
हमारा अनोखा शरीर-यंत्र
उसके प्रमुख संस्थान और ऊपरी आवरण

बीसवीं शताब्दी यन्त्रों और कलों का युग कहा जाता है। साइकिल, मोटर, रेल, तार, टेलीफोन, सिनेमा-यंत्र, वायुयान, रेडियो आदि भाँति-भाँति की कलें प्रति दिन ही हम देखते रहते हैं। कदाचित् ही आज कोई समझदार व्यक्ति ऐसा हो, जो थोड़ा-बहुत यह न जानता हो कि ये कलें कैसे बनाई जाती हैं और किस प्रकार अपना काम करती हैं। किन्तु एक ऐसी मशीन भी संसार में विद्यमान है, जो इन सब मशीनों से अद्भुत है और जिसके बारे में साधारण जन बहुत कम या कुछ भी नहीं जानते, यद्यपि यह मशीन ऐसी है, जिसे हम सब सुबह-शाम, रात-दिन, सालों-साल, जीवन-यात्रा के अन्त तक चलाते रहते हैं। यह मशीन मनुष्य का शरीर है। जब हमें अपने शरीर के भिन्न-भिन्न भागों तथा उनके कर्त्तव्यों का यथार्थ ज्ञान होगा तभी हमें सरलता से यह समझ में आ पाएगा कि हम किस प्रकार उसे ठीक अथवा स्वस्थ रख सकते हैं। बड़ी सच्ची और पुरानी कहावत है कि स्वास्थ्य और सुख साथ-साथ ही रहते हैं। अतः अपने सुख के ही लिए हमारे लिए यह नितान्त जरूरी है कि हम अपने इस देह-यंत्र को ठीक बनाये रक्खें। इसके लिए यह जरूरी है कि हम इसकी यथार्थ जानकारी प्राप्त करें। इसमें तथा आगे के लेखों में हम इस मानव-शरीररूपी मशीन, उसकी आश्चर्यजनक क्रियाओं और उसको स्वस्थ रखने के उपायों का वर्णन करेंगे। यदि आप स्वस्थ और सुखी रहना चाहते हैं तो इस स्तंभ को ध्यान से पढ़ते चलिए।

दुनिया में सबसे विचित्र वस्तु क्या है? क्या वह भाप का इंजिन है, जो डाकगाड़ी को ६० मील प्रति घंटे की गति से दौड़ा ले जाता है? क्या वह बिजली का डायनमो है, जिसकी शक्ति से हमें दूर से घर बैठे पानी गरम करने, खाना पकाने रेडियो, आदि चलाने और प्रकाश करने के लिए बिजली मिलती है? क्या वह दुनिया का सबसे बड़ा दूरदर्शक है, जो हमें सूर्य और तारों के रहस्य बतलाता है? क्या वह वायुयान है, जो सबसे तेज उड़नेवाली चिड़िया से भी कई गुनी तीव्र गति से उड़ता हुआ हमें देश-देशान्तर की सैर कराता है? क्या वह बिना तार का रेडियो यंत्र है, जो हमारी आवाज को पलक मारने भर में दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा देता है? नहीं। वह चीज इन सबसे कहीं आपके निकट है—उसी में आप रहते हैं तथा उसकी आप नित्य ही रक्षा करते हैं। वह है आपका अपना शरीर। वह खाल, जो उसको ढके रहती है; वे पुट्ठे जो उसे चलने-फिरने में सहायता देते हैं, वे हड्डियाँ जो पुट्ठों को अपनी जगह पर स्थिर रखती हैं, वह रक्त, जिसके द्वारा उन्हें बल मिलता है, वह नाड़ी-जाल जो उन्हें राह बतलाता है तथा जिसके द्वारा वे मुख्य अधिकारी स्थान मस्तिष्क तक भांति-भाँति की सूचना देते हैं, यही जगत् की सबसे अनोखी वस्तुएँ हैं। इस स्तंभ के अंतर्गत आप इसी पेचीदा मकान का—जिसमें आप रहते हैं—तथा उसके इन अद्भुत कल-पुर्जों का हाल पढ़ेंगे।

शरीर के नौ संस्थान

इस शरीररूपी मशीन के काम करने के ढंग को भली भाँति समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि हमारा शरीर एक बहुत ही पेचीदा यंत्र है। इस यंत्र में कई छोटी-छोटी कलें हैं और इनमें से प्रत्येक कल अपना-अपना निश्चित काम करते हुए एक-दूसरे से ऐसी सम्बन्धित है कि उन सबके ठीक रहे बिना शारीरिक यंत्र अच्छी हालत में नहीं रह सकता। इस प्रकार की नौ कलों अथवा संस्थानों का वर्णन हम इस और आगे के अध्यायों में करेंगे। इन संस्थानों में से एक तो वह ठठरी या ढाँचा है; जिस पर सारा शरीर सधा हुआ है। इसके बाद वे पुट्ठे या पेशियाँ हैं,

जो ठठरी की हड्डियों से लगी होती है। उन्हीं के सहारे हम अपने शरीर और अंगों को घुमाते-फिराते हैं। तीसरे सस्थान मे ज्ञानेन्द्रियाँ है, जैसे—आँख, कान और नाक। चौथा पोषण-संस्थान है, जो भोजनरूपी ईधन द्वारा उस अग्नि को पैदा करता है, जिससे हमारी शरीररूपी कल चलती है। इसके बाद पाँचवाँ श्वासोच्छ्वास-संस्थान है, जो फेफडो द्वारा इस मशीन को हवा या ऑक्सिजन देता है, जिसके विना उसका चलना नितान्त असंभव है। छठा संस्थान हृदय है, जो पम्प के समान काम करता हुआ आँतों मे पचे हुए भोज्य पदार्थो से प्राप्त रक्त द्वारा शरीर के सारे भागों को ईधन और उनके बनने की सामग्री पहुँचाता है। सातवाँ नाड़ी-संस्थान और मस्तिष्क है, जो एक ऐसा अद्भुत संस्थान है, जो सारे शरीर मे फैले हुए नाडी-रूपी सूक्ष्म तारों के द्वारा इस कल अथवा मशीन का नियत्रण करता है और प्रत्येक भाग को वतलाता है कि उसे क्या करना चाहिए। इसके उपरान्त आठवाँ उत्पादक-संस्थान है, जिसका मुख्य कर्त्तव्य जननबीज अर्थात् रज और वीर्य का निर्माण और जाति को स्थायी रखने के लिए सन्तान पैदा करना है। अन्तिम या नवाँ सस्थान मलोत्सर्जक-संस्थान है, जो हमारे शरीर से दूषित पदार्थो को दूर करके उसे साफ रखता है—ठीक वैसे ही जैसे कि मेहतर नित्य हमारे घरों की नालियों आदि को धोता और साफ करता है।

"जीवधारियो की मौलिक रचना या जीव-द्रव्य" नामक एक पिछले लेख मे हम आपको वतला चुके है कि अन्य जानवरो के समान मनुष्य का शरीर भी सहस्रों कोशिकाओं का वना हुआ है और उसमें भी वही जीव-द्रव्य पाया जाता है, जो अन्य जीवधारियो मे मिलता है। हममें भी अन्य जानवरो की तरह एक प्रकार की कोशिकाओ के एकत्र होने से तन्तु वनते है, जैसे पेशी-तन्तु, नाडी-तन्तु आदि। इन तन्तुओ के समूहो से ही हमारे अंग—हृदय, यकृत और मस्तिष्क आदि—वने हुए है और ये ही अंग अपने सहायक भागों की सहायता से उन भिन्न-भिन्न संस्थानो को (जिन्हे हम ऊपर वतला आए है) वनाते तथा चलाते हैं।

मनुष्य केवल थोड़े से ही तत्त्वों का खिलौना है

हमारे शरीर की कोशिकाएँ कैसी जटिल है, इसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि जहाँ पानी के एक अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु ऑक्सिजन का होता है; वहाँ जीव-द्रव्य के एक अणु में कई हजार परमाणु होते है। हमारे यकृत में सहस्रों अणुवीक्षणीय कोशिकाएँ है और प्रत्येक कोशिका मे लगभग ३०,००,००,००,००,००,००० परमाणु होते है, जो ६४,००,००,००,००० अणुओं में संगृहीत हैं। गणना की गई है कि एक डिम्ब-कोशिका में, जो 'अं' की बिन्दु से भी छोटी होती है, ८६,४०,००,००,००,००,००,००,००० परमाणु और १,७२,८०,००,००,००,००,००० अणु मिलते है। इन कोशिकाओं में कौन-कौन से तत्त्व है और वे किस-किस मात्रा में उनमे मिलते है, यह भी हम पहले वतला चुके है। लीविग और वर्जेलियस ने कहा है कि कुछ गैलन पानी, कुछ पाउंड कार्वन और चूना, कुछ घनफीट हवा, एक या दो आउस फास्फोरस, कुछ ड्राम लोहा, मात्रा भर नमक, चुटकी भर गंधक और अन्य कई पदार्थो के (जो वहुत आवश्यक नही है) दो एक रवों से ही आदमी वना है। सृष्टि के आरम्भ से अव तक जितने भी प्रतिभाशाली से प्रतिभाशाली और वीर से वीर नर-नारी—गौतम वुद्ध, शंकर, नेपोलियन, शिवाजी, गांधी या आइन्स्टाइन आदि—हुए है, वे सभी मुश्किल से इन्ही वीस तत्त्वो के हेर-फेर के खिलौने थे!

सामान्य रीति से यही वात इस प्रकार कही जा सकती है कि औसत कद की एक स्त्री के शरीर में ९ गैलन नाप के एक पीपे को भरने के लिए काफी पानी होता है, उतने ही बड़े ८०० पीपे भरने के लिए ऑक्सिजन होती है, ९००० पेन्सिलें वनाने भर के लिए कार्वन, ४० दियासलाई की डिबियाँ तैयार करने के लिए पर्याप्त फास्फोरस, उसको ३५०० फीट ऊँचे पहाड़ की चोटी तक उड़ा ले जानेवाले गुब्बारे में भरने के लिए यथेष्ट हाइड्रोजन, दो इंच लंबी कील वनाने भर के लिए लोहा, २ छटाँक नमक और चार या पाँच पाउंड नाइट्रोजन होती है। पृष्ठ ६०६ के चित्र मे चित्रकार ने यही दिखलाया है।

अगर पृथ्वी के ऊपरी पर्त्त में कार्वन, चूना, लोहा या हाइड्रोजन अथवा फॉस्फोरस आदि न होते तो आज पृथ्वी पर न कोई कीटाणु दिखलाई देते, न कोई कीड़ा-मकोड़ा ही नजर आता और न विल्ली, चूहा या मनुष्य ही होते। इसी प्रकार हमारा यह अद्भुत और जटिल शरीर वना हुआ है।

हमारे शरीर का गिलाफ

अपने इस देह-यंत्र का विधिवत् अध्ययन आरंभ करते हुए सबसे पहले इस अनोखी मशीन को ढँकनेवाले गिलाफ अथवा खाल या त्वचा का हाल हम आपके सम्मुख उपस्थित करेंगे, क्योंकि सबसे पहले इसी पर हमारी निगाह पड़ती है। साधारणतया लोगो का विचार रहता है कि हमारे शरीर के ऊपर का आवरण कोई आवश्यक और विशेष भाग नहीं है। परन्तु हमारी यह धारणा गलत है। शरीर के अन्य
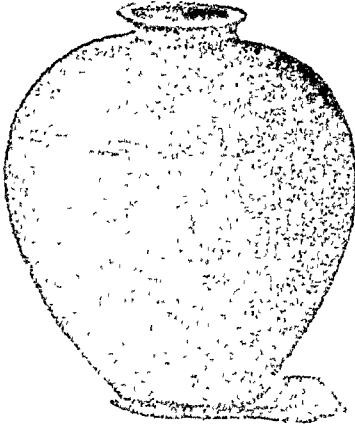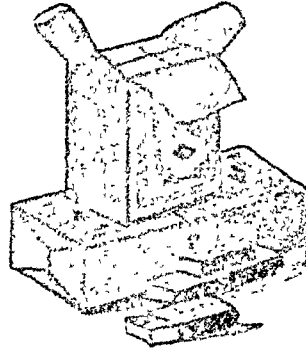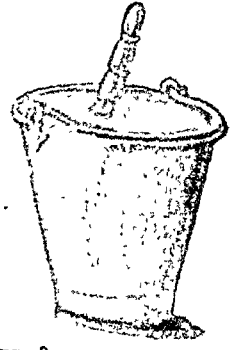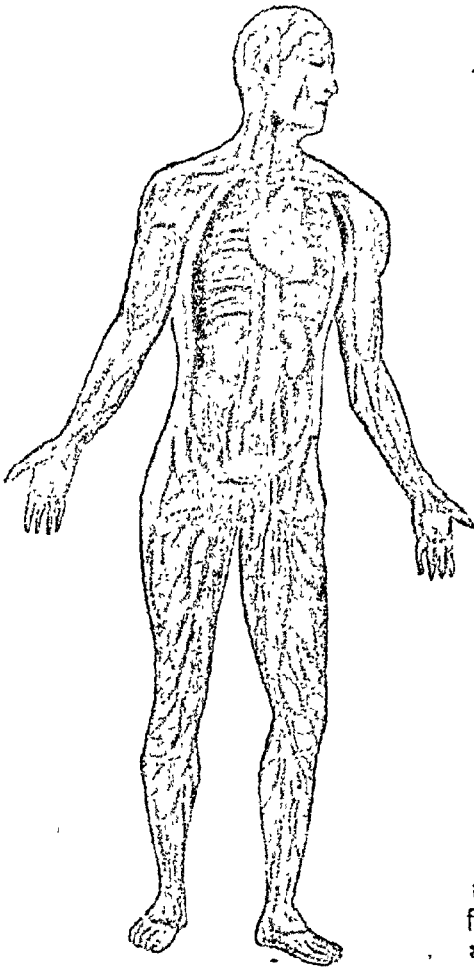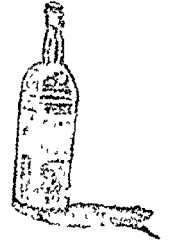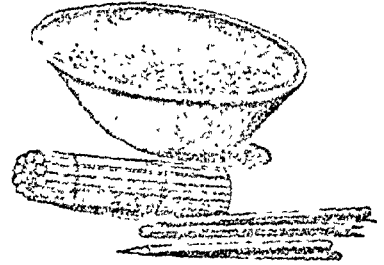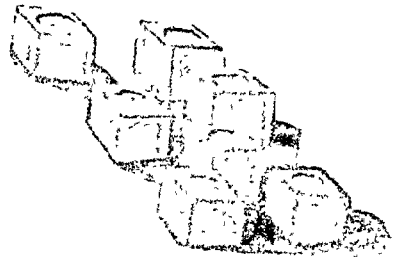
हमारे शरीर-यंत्र का निर्माण करनेवाले प्रधान रासायनिक तत्त्व

मनुष्य का शरीर कई तत्त्वों से बना है। यदि हम डेढ़ मन वजनवाले आदमी से उसके तत्त्व निकाल लें तो उनसे प्राप्त पानी, चूना, अमोनिया, फास्फोरस आदि पदार्थ उतनी ही मात्रा में मिलेंगे जितने कि इस चित्र में प्रदर्शित हैं।

जरूरी अंगों के समान त्वचा में भी जीवन है, वह भी बढ़ती है तथा अपना विशेष काम करती है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे शरीर-रूपी यंत्र का वह भी एक बहुत आवश्यक पुर्जा है। त्वचा हमारे शरीर की केवल रक्षा ही नहीं करती बल्कि और भी कई प्रकार के काम करती रहती है। इसलिए यह समझ लेना आवश्यक है कि वह भी हमारे देह का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसकी हमें सदैव देखभाल करना चाहिए। हमें उसे स्वस्थ रखना चाहिए, तभी अपना काम सुचारू रूप से वह कर सकती है। देखने में हमारी त्वचा केवल कागज, कपड़ा, रबड़ या रेशम की-सी जान पड़ती है, किन्तु वस्तुतः वह इन सबसे कहीं ज्यादा अनोखी वस्तु है। इसका सबसे मुख्य प्रमाण यह है कि वह ऐसी झिल्ली है, जिसमें जल नहीं भिद सकता। पर यह उसके एक ही ओर से होता है। उदाहरणार्थ, जब हम तेज भागते हैं या हमें गरमी लगती है तो हमारी त्वचा से पसीना निकलता है। किन्तु वह ऐसी बनी हुई है कि उसके भीतर से पसीना निकल सकता है और वह रक्त में से खींचकर पानी को बाहर निकाल सकती है, किन्तु बाहर से उसमें से होकर एक बूंद भर भी पानी हमारे शरीर में नहीं जा सकता। क्या आप दूसरा कोई ऐसा पदार्थ बतला सकते हैं, जो एक ओर से तो अपने भीतर का पानी निकल जाने दे, लेकिन दूसरी ओर से पानी के लिए बिल्कुल ही अभेद्य हो?

त्वचा का दूसरा लक्षण यह है कि उसमें अनूठी लचक होती है। जब हम अपने हाथ-पैर या अंगों को इधर-उधर मोड़ते हैं तो उनके ऊपर की खाल खिंच जाती है। पर समेटने पर वह फिर सिकुड़कर अपने स्थान पर आ जाती है। आपको विश्वास न हो तो अपने हाथ के ऊपरी हिस्से की खाल को दो उँगलियों से सिकोड़िए और तुरंत उसे छोड़ दीजिए। देखिए, छोड़ने पर उसकी सिकुड़न गायब हो जाती है या नहीं। कभी-कभी किसी रोग अथवा अन्य किसी कारण से त्वचा की यह लचक यदि जाती रहती है तो हमारे लिए हाथ-पैर या शरीर का अन्य भाग हिलाना-डुलाना असंभव हो जाता है।

बुढ़ापे में चेहरे पर झुर्रियाँ क्यों पड़ जाती हैं?

ज्यों ज्यों हम बूढ़े होते जाते हैं, हमारे चेहरे की त्वचा में झुर्रियाँ दिखाई देने लगती हैं। इसका कारण यही है कि ज्यों-ज्यों हम बूढ़े होते जाते हैं, हमारी खाल की लचक कम होती जाती है। जिनका जीवन हँसी-खुशी में बीतता है, उनके चेहरे पर बहुत कम झुर्रियाँ पड़ती हैं। वे केवल अधिक उम्र हो जाने पर ही दिखाई पड़ती हैं। परंतु जिनका जीवन दुःख और कष्ट से कटता है, उनके चेहरे पर जल्दी ही झुर्रियाँ दिखाई देने लगती हैं। यह भी देखा गया है कि अत्यन्त बूढ़े हो जाने पर चेहरे की खाल नरम और चिकनी हो जाती है और पड़ी हुई झुर्रियाँ गायब हो जाती हैं। मानव-शरीर में त्वचा ही एक ऐसा भाग है, जो उम्र ढलने के साथ भी कड़ा नहीं होता।

यदि त्वचा या खाल नरम या लचीली न होती तो हम अपने हाथ-पैर आजादी से कदापि न चला सकते। यदि उसमें लचक के साथ चीमड़पन न होता तो वह हिलाने-डुलाने पर फौरन् फट जाती या चटक जाती। यदि वह पानी के लिए अभेद्य न होती तो हर बार जब भी हम नहाते या मेह में भीगते तो पानी भर जाने से वह मशक की तरह फूल जाती। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही प्रकृति ने हमारी त्वचा को ऐसा बनाया है कि वह अपने नीचे के नरम तन्तुओं अथवा कोशिकाओं के लिए एक प्रकार का नरम, लचीला, चीमड़ और जल के लिए अभेद्य विचित्र वस्त्र-सा है, जो उन्हें भली भाँति ढँके रहता है और उनकी रक्षा भी करता है।

हमारी त्वचा रेशम के सदृश नरम और कोमल होते हुए भी प्रायः अत्यधिक रगड़-खसोट से भी घिसती नहीं। हमारे हाथों के दस्ताने और पैरों के मोजे ही नहीं बल्कि चमड़े के मजबूत जूते भी जल्दी घिस जाते हैं, लेकिन हमारी जिन्दा खाल हमें सदा वैसी की वैसी ही दिखाई देती है, साधारण परिस्थिति में उसका यथार्थतः जरा भी क्षय नहीं होता। यही नहीं, बल्कि जिन भागों में उस पर अधिक रगड़ पड़ती है, वहाँ वह उलटे और भी मोटी हो जाती है। पैरों के तलवे और हाथों की हथेलियों में उसकी मोटाई कभी-कभी एक इंच से भी अधिक हो जाती है। खाल की ऊपरी सतह कैसे इतनी टिकाऊ होती है, यह बात हम तभी समझ सकते हैं जब कि उसकी अनोखी बनावट को हम जान लें। इसलिए तत्संबंधी अन्य रोचक बातों की ओर ध्यान देने से पहले, आइए, देखें कि विधाता ने हमारे शरीर के इस आवरण को किस प्रकार रचा है।

त्वचा की रचना

यदि हम अपनी त्वचा का एक पतला खड़ा वर्क-सा काट लें और उसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखें तो वह बहुत-कुछ ऐसी ही दिखलाई पड़ेगी जैसी कि पृ० ६०७ के सामने के चित्र में प्रदर्शित है। इस चित्र को देखने से साफ पता चलता है कि त्वचा में दो पृथक्-पृथक् हिस्से हैं---एक ऊपरी और दूसरा भीतरी। जब हमारे छाला पड़ता है तो ये दोनों भाग बीच में पानी भर जाने के कारण एक-दूसरे से अलग

हो जाते हैं। शायद आपको यह अनुभव होगा कि छाले की ऊपरी झिल्ली काटने पर जरा भी दर्द नही होता, परन्तु उसकी भीतरी पर्त पर यदि जरा भी कोई छू ले तो वह बुरी तरह दर्द करने लगती है। इसका कारण यह है कि एक

त्वचा द्वारा हमें वस्तुओं के आकार, तौल, सख्या, खुरदरापन, चिकनापन आदि का ज्ञान होता है

बाईं ओर, हाथ पर जो दबाव पड रहा है, केवल उसी से यह पता चल रहा है कि कौन बाट भारी है और कौन हलका। दाहिनी ओर, यह प्रदर्शित है कि अँधेरे में भी किसी चीज को टटोलकर किस प्रकार यह ज्ञात किया जा सकता है कि अमुक वस्तु की शक्ल क्या है और वह चिकनी है या खुरदरी।

पर्त सुन्न और बेजान होती है और दूसरी अति सचेतन और जानदार। इन दोनों भागों के नीचे वसा की एक तह होती है और उसके बाद मांस आदि होते है। ऊपरी भाग एक विशेष प्रकार की कोशिकाओं का बना होता है। इस ऊपरी पर्त को उपचर्म कहा जाता है। नीचेवाले भाग को, जो असली खाल है, चर्म कहते है।

उपचर्म एक अद्भुत मरता-जीता वस्त्र है

उपचर्म बहुत पतला और करीब-करीब पारदर्शक होता है। ढके हुए भागो में वह केवल $\frac{1}{२५०}$ इंच मोटा होता है, किन्तु उन भागों में जहाँ रगड़ अधिक लगती रहती है, उसकी मोटाई दस गुनी हो जाती है। इस पर्त की भीतरी कोशिकाएँ शरीर के और भागों जैसी ही होती है, परन्तु सबसे ऊपर की कोशिकाएँ बिलकुल पतले सूखे छिलके जैसी महीन होते हुए भी सीग की तरह चीमड़ होती हैं। वे एक-दूसरे में ऐसी फँसी होती है, जैसे छप्पर के खपड़ैल। यही कारण है कि ऊपरी पर्त में पानी नही भिद सकता। उपचर्म की भीतरी कोशिकाएँ सदा बढ़ती और विभाजित होती रहती है। इस निरंतर वृद्धि के कारण वे ऊपर या बाहर की ओर को सरकती रहती और सिकुड़कर चपटी होती जाती है। सबसे ऊपर की सतह पर आते-आते वे बिलकुल चपटी, बेजान और पारदर्शक हो जाती है और रगड़ खाकर या बिना रगड़ खाये भी भूसी की भाँति बराबर झड़ती रहती है। यही मरी हुई ऊपरी तह चेचक या अन्य कुछ रोगो में अथवा कभी-कभी बिना किसी रोग के भी गरमी के दिनो मे खाल से छूटते हुए दिखाई देती है। इसी ऊपरी खाल से हमारे बाल व नाखून बनते है, जिनका हाल हम आगे लिखेंगे। जानवरों के नाना प्रकार के सीग और खुर भी बहुत-कुछ इसी सामग्री से बने होते हैं। जब कभी हमारी उँगली में काँटा चुभ जाता है और हम उसे सुई से करोदकर निकालने की चेष्टा करते है तो जब तक कि सुई उपचर्म के नीचे नही पहुँचती, तब तक हमें न पीड़ा होती है और न खून ही निकलता है। कारण, उपचर्म तक खून की महीन रगें नही पहुँचती, वह तो निर्जीव और करीब-करीब सुन्न होता है। उपचर्म, नाखून और सीग एक ही समान बेजान माने गये है। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि उपचर्म या उसकी कोशिकाएँ बराबर बिगड़ती और नई बनती रहती है। हम
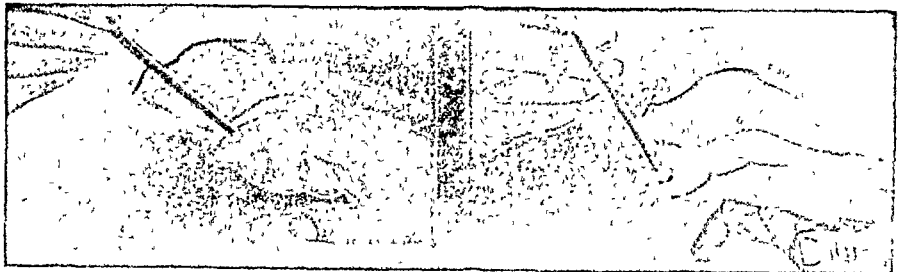
परन्तु कभी-कभी हम भ्रम में भी पड़ जाते है

उदाहरणार्थ, यदि हम पेंसिल को इस प्रकार सीधी उंगलियों के बीच में थामें जैसे कि बाईं ओर दिखाया गया है, तो वह एक वस्तु मालूम होगी, परन्तु दाहिनी ओर दिग्दर्शित रीति से उंगलियों को एक पर एक चढ़ाकर पेंसिल को उनके बीच रखें तो हमें एक के बजाय दो पेंसिलों का बोध होगा।

यह भी जानते है कि नाखून और सींग बराबर बढा करते है। **तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक चीज जो बढ़ती रहती है, उसमें जान न हो ?** परन्तु यही तो इसकी रचना की खूबी है। सबसे ऊपरी पर्त की कोशिकाएँ खुद नही बढ़ती और न नाखून की जडवाली खाल अपने आप बढ सकती है; वह तो नीचे के असली चर्म मे नई कोशिकाओं के बनकर ऊपर सरकने के कारण आगे को ढकिलती जाती है। जान पड़ता है कि उपचर्म की कोशिकाओ का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि वे बनें, बढ़े, भीतर से बाहर को आएँ और अन्त में अपनी बलि देकर अपने मृत वस्त्र द्वारा शरीर की भीतरी कोशिकाओ और पुट्ठो की रक्षा करे।

त्वचा का दूसरा भाग या असली चर्म ऐठन वाले रेशेदार तागो की-सी गहरी तह है। यह स्थितिस्थापक तथा बन्धक तन्तुओ का एक गुँथा हुआ जाल है। स्थितिस्थापक या लचकीले तन्तुओं के रेशो के कारण ही हमारी खाल खिच या बढ सकती है। इसी असली चर्म में (जैसा कि रंगीन चित्र से विदित होता है) रक्त की छोटी-छोटी रगें या कोशिकाएँ, नाड़ी-तन्तुओं के सूचना देनेवाले छोर, बालो की जड़े और पसीना बनानेवाली ग्रंथियाँ होती है। इसमें किसी भी प्रकार की चोट लगने से पीड़ा होती है और रक्त भी बहने लगता है। इस पर्त मे भी कई भाग होते है, परन्तु यहाँ उसका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नही जान पड़ती। सबसे नीचे उसमे चर्बी की कोशिकाओं के समूह होते है। हमारे शरीर के ताप मे यह चर्बी पिघल जाती है और इसीलिए इन कोशिकाओ में वह नन्ही-नन्ही बूँदों के रूप मे भरी रहती है। चर्बी की कोशिकाएँ उन रेशेदार तन्तुओ के जालो मे भरी रहती है, जो खाल को नीचे के तन्तुओ से मिलाते है। इस प्रकार बनी हुई चर्बी की तह कई काम आती है। अपने गुदगुदेपन के कारण कोमल नाड़ियो, पेशियों और खून की रगो (जो उसके नीचे रहती है) के बीच मे वह गद्दियो का काम देती है। सरदी से बचने का भी वह एक अच्छा साधन है। कहा जाता है कि मोटे आदमियों को इसीलिए सरदी कम सताती है, क्योकि उनमे चर्बी अधिक होती है। यही कारण है कि अत्यन्त शीत प्रदेशों या ठंडे पानी मे रहनेवाले जीव अच्छी तरह चर्बी से ढँके रहते है, जैसे कि ह्वेल मछली। अन्त में, चर्बी की तह उस खाद्य-राशि के लिए, जिसे हमारा शरीर जरूरत के लिए बचा पाता है, भाडार का काम देती है। इसी भांडार के सहारे गोह और मगर जैसे जीव महीनों तक बिना खाये जीवित रहते है।

एक व्यक्ति के अँगूठे का निशान दूसरे व्यक्ति के अँगूठे के निशान से नहीं मिलता

चर्म का ऊपरी भाग, जो उपचर्म से मिला रहता है, नीचा-ऊँचा पनालेदार होता है। इन उभरे हुए भागो में ही कोशिकाओं की गुत्थियाँ और नाड़ियों के छोर की गुत्थियाँ होती है, जिनके द्वारा हमें गरमी, सरदी, पीड़ा आदि का ज्ञान होता है। इन्हीं छोटे-छोटे नाड़ी के तार-यंत्रों द्वारा ही हमें सरदी, गरमी, पीड़ा तथा खाल से स्पर्श करनेवाली वस्तुओ की शक्ल-सूरत आदि का ज्ञान हो जाता है। यह कहना अनुचित न होगा कि चर्म उन आवश्यक अंगो मे से एक है, जिनसे हम बाहरी दुनिया की घटनाओं को समझ सकते है। हमारी खाल के वे छोटे-छोटे उभरे हुए चैतन्य भाग, जिनके नीचे स्पर्श-यन्त्र होते है, उन भागो मे सबसे अधिक संख्या में होते है, जिनकी स्पर्श-शक्ति बहुत तेज है। हमारी हथेली या उँगलियाँ इसका उदाहरण है। हम देखते है कि हमारी हथेली, तलवे और उँगलियो पर जो असंख्य उभरी और दबी हुई रेखाये दिखलाई पड़ती है, वे प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न नमूने की होती हैं और जीवन भर लगभग एक-सी ही बनी रहती है।

यह बड़ी मनोरंजक बात है कि इन्ही उभरी रेखाओं की विभिन्नताओं के कारण दो व्यक्तियों के अँगूठे के निशान कभी नही मिलते। अतः अशिक्षित मनुष्यो से हस्ताक्षर के स्थान पर अँगूठे की छाप लगवा ली जाती है। अँगूठे और हाथ-पैर के निशानो के द्वारा ही पुलिस को अपराधियों के पहचानने मे सुविधा होती है।

यदि हमारे शरीर में स्वेद-ग्रंथियों का काम बन्द हो जाय तो हम जीवित नहीं रह सकते

ऊपर कहे हुए भागो के अलावा हमारे चर्म मे दो प्रकार की ग्रंथियाँ भी पायी जाती है। एक तो वे जो विशेषतया उन भागों में होती हैं, जहाँ बाल अधिक होते है। ये एक प्रकार का चिकना द्रव पदार्थ बनाती है, जो उनसे निकली हुई नलिकाओं में होकर बालों की जड़ या त्वचा की सतह पर आकर उसे नरम और चिकना रखता है और ऊपरी पर्तो को हवा के असर से सूखने से बचाये रहता है। दूसरी प्रकार की ग्रंथियाँ वे है, जिनमें पसीना बनता है। ये ग्रथियाँ जगह-जगह असली चर्म के नीचे चर्बीवाले भाग में होती है (रंगीन चित्र में देखिए) और प्रत्येक ग्रंथि से एक पतली-सी नली चर्म और उपचर्म में होती हुई त्वचा की ऊपरी सतह पर खुलती है। ये स्वेद-ग्रंथियाँ शरीर की सारी सतह पर होती है, लेकिन जहाँ बाल नहीं होते

(जैसे कि हथेली और तलवों में), वहाँ वे बहुत ज्यादा होती है। इन स्थानों में इनकी संख्या १ वर्गइंच में ३५०० तक होती है, लेकिन पीठ की खाल की उतनी ही जगह में केवल ४०० ही होती है। गणना की गई है कि हमारे सारे शरीर में उनकी संख्या लगभग २३,८०,००० है। वयस्क मनुष्य की खाल में ३०,००,००० के करीब छिद्र होते है। इनमें से यदि एक तिहाई भी नष्ट हो जायँ तो मृत्यु हो जाती है। इस बात के कई बार प्रत्यक्ष प्रमाण मिल चुके है। पिछले दिनों अखबारों में छपा था कि ईरान की एक नर्तकी, जिसने अपने शरीर को सोने के पानी से पोत लिया था, कुछ ही घंटों में सूराखों के बन्द हो जाने से परलोकगामी हो गई! पसीना एक रंगहीन, खारी द्रव है, जिसमें ९९% पानी और १% नमक तथा अन्य दूषित पदार्थ होते है, जिन्हे ग्रंथियाँ रक्त से खीचकर निकाल लेती है, जो उनमें पहुँचता रहता है। इससे समझ लेना चाहिए कि पसीना निकलना कोई बेकार क्रिया नही है, वह हमारे शरीर से हानिकारक वस्तुओं को निकाल फेंकने के अतिरिक्त हमारे ताप को भी स्थिर रखने में सहायक अति महत्वपूर्ण एक क्रिया है। अनुमान किया जाता है कि जब हमें पसीना निकलता नही मालूम होता तब भी दिन भर में करीब २०-२५ आउन्स या डेढ़ अद्धे भर पसीना हमारे शरीर से निकल जाता है। वैसे तो ये स्वेद-ग्रंथियाँ दिन-रात काम करती रहती है, किन्तु जब वे बहुत तेजी से काम करती है, तभी हमें अपने शरीर से पसीने की बूँदें निकलती जान पड़ती है। गरमी की ऋतु में या तेज कसरत करते समय हमारे शरीर का ताप बढ़ जाता है। उस समय खून का बहाव खाल की ओर अधिक हो जाता है और इस विशेष खून को स्वच्छ करने के लिए स्वेद-ग्रंथियाँ भी तेजी से काम करने लगती है। इसीलिए बूंदो में हमारी खाल के ऊपर पसीना इकट्ठा हो जाता है। जब यह भाप बनकर उड़ता है तो हमारे शरीर को फिर ठंडा बना देता है। कभी-कभी भय या और किसी आवेग के कारण भी हमें ठंडा पसीना आ जाता है। यह भी स्वेद-ग्रंथियों से अधिक पसीना बनने के कारण ही होता है।

हमारी उँगलियों के निशान

ऊपर दो चक्र-से बने हुए है और नीचे दो शंख के-से चिह्न है। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि किसी भी एक व्यक्ति के उँगलियों के निशान दूसरे व्यक्ति से नही मिलते।

गोरे या काले होने का रहस्य

उपचर्म की सबसे भीतरी तह (जो उसको असली खाल से मिलाती है) की कोशिकाएँ गोल होती है और उनमें से प्रत्येक मे काले रंग के थोड़े-बहुत छोटे-छोटे दाने होते है। जब ये काले दाने बहुत अधिक होते है तो त्वचा का रंग काला दिखाई देता है, परन्तु जब ये दाने बिलकुल नही होते तो चमड़ी एक अनोखे सफेद या गुलाबी रग की-सी होती है। इस रग के व्यक्ति को हमारे यहाँ 'सूरजमुखी' कहते है। ठंडे देशो के रहनेवाले लोग गोरे रग के होते है, जैसे कि अग्रेज। चीनी और जापानी पीले वर्णवाले कहलाते है। अमेरिका के 'रेड इडियन' लोगों का वर्ण भूरा-कत्थई सा होता है तथा अफ्रीका या अत्यन्त गरम देशो के निवासी बिलकुल काले होते है। यह क्यों? इन सब जातियों में उपर्युक्त दानों की संख्या या उनके रंग की भिन्नता के कारण ही यह रग-भेद दिखलाई पड़ता है। प्रत्येक देश और प्रत्येक जाति मे एक-आध ऐसे मनुष्य भी नजर आते है, जिनकी खाल धब्बेदार या चितकबरी होती है, क्योकि कही-कही उनकी खाल में रगवाले दाने नही होते। कभी-कभी यह भी स्थिति होती है कि रंग बिल्कुल ही गायब हो जाता है। उस समय खाल का रंग दूधिया, बाल हल्के भूरे या सफेद, पुतलियाँ लाल और कोये गुलाबी अथवा नीले हो जाते है। आँखों में काला रंग न होने के कारण रोशनी अधिक समा जाती है। अतः ऐसे लोगों की दृष्टि क्षीण होती है—विशेषकर तेज रोशनी में। तेज धूप में उनके लिए आँखें खोलना असम्भव-सा हो जाता है। इन्ही लोगों को हमारी भाषा में सूरजमुखी तथा अंग्रेजी में 'एलबिनो' कहते है। यह उल्लेखनीय है कि बालों के रंग की गहराई या हल्काई भी इन्ही दानो पर निर्भर है।

यह तो सभी जानते हैं कि सूर्य के प्रकाश में रोग-कीटाणुओं को मारने की शक्ति होती है, किन्तु यह बात सब भली भांति नहीं जानते कि सूर्य की किरणों की अधिकता से जीव-द्रव्य को पर्याप्त हानि भी पहुँचती है। करीब-करीब सभी जीवों में तेज धूप से अपने आपको बचाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यही नही, प्रकृति ने बहुत-से जीवों मे इस बात का भी प्रबंध किया है कि उनकी खाल मे प्रकाश न घुस सके। इस संबंध में मनुष्य को तेज रोशनी से बचानेवाले साधन यही काले रंग के दाने हैं। खाल मे इन रंग के दानों के होने से दो लाभ हैं। एक तो यह कि वे भीतरी तन्तुओं को हानिकारक किरणों से बचाते हैं तथा दूसरा लाभ यह है कि वे गरमी और रोशनी को सोख लेते हैं, जिसके कारण स्वेद-ग्रंथियां तुरन्त ही नमी की एक पतली-सी तह बना देती हैं, जिससे खाल ठंडी पड़ जाती है। इसीलिए गरम कटिबन्ध-निवासी काले होते हैं। वे गोरे जो गरम देशों में रहकर काले होने लगते हैं, अन्य गोरों की अपेक्षा धूप अधिक सह सकते हैं।

इस बात में कुछ पशुओं के चर्म हमारी त्वचा से भी कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण होते हैं। वे समय-समय पर आवश्यकतानुसार अपने रंग बदल सकते हैं। इस विषय मे गिरगिट तो प्रसिद्ध है ही, साथ ही कुछ छिपकलियाँ और मेढक ऐसे भी हैं, जिनमे तेज प्रकाश होने पर खाल की ऊपरी सतह पर भीतर से काला रंग आ जाता और रोशनी हल्की होते ही फिर पूर्ववत् वह अन्दर चला जाता है। फलस्वरूप ये कभी काले तो कभी हरे दिखलाई पड़ते हैं!

मस्तिष्क-द्वारा स्वेद-ग्रंथियों का नियंत्रण

पीड़ा, भय आदि आवेगों से प्रभावित होकर मस्तिष्क सुषुम्ना से संबद्ध नाड़ियों द्वारा स्वेद ग्रंथियों को वश में रखता है और पसीना निकालने लगता है।

त्वचा के कर्त्तव्य

त्वचा की रचना का वर्णन करते समय उसके कर्त्तव्यों का भी थोड़ा-बहुत जिक्र आ चुका है। फिर भी यहां हम उसके कर्त्तव्यों के विषय मे कुछ और मनोरंजक बातें बतलाना चाहते हैं। त्वचा के कार्यों का एक मानचित्र पृष्ठ ६१६ पर दिया गया है। उससे आप जान सकते हैं कि त्वचा का सबसे पहला काम शरीर की रक्षा है। उपचर्म की मरी हुई ऊपरी चीमड़ पर्त हवा, धूल और गर्द में रहने-वाले सूक्ष्म जीवाणुओं की फौजों से हमें सुरक्षित रखती है। हमारी चर्म की यह निराली दीवाल जब तक नहीं टूटती, तब तक ये शत्रु हमारे शरीर-रूपी किले के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते और हमें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकते। पर किसी कारण से जब यह ऊपरी पर्त क्षत-विक्षत हो जाती है तो इन नन्हे शत्रुओं को शरीर में घुसने का अवसर मिल जाता है। यदि टिटैनस जैसे रोग के कोई कीटाणु घाव में घुस जायँ तो जल्दी ही हमे मौत के पंजों मे फँसना पड़ता है। मवाद के कृमि भी पहुँच जायँ तो घाव विषैला हो जाता है और फिर उसका अच्छा होना असंभव हो जाता है। पर इन शत्रुओं के भीतर घुस जाने पर भी हमारा शरीर उन्हे बाहर निकालने का प्रयत्न करता है। हमारे शरीर की रक्षक कोशिकाओं से इन कीटाणुओं का घोर युद्ध होता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ इस युद्ध का रोचक वर्णन करने में हम असमर्थ हैं।

शरीर ग्रीष्म में ठंडा और जाड़े में गरम कैसे रहता है?

त्वचा का दूसरा कर्त्तव्य हमारे शरीर के ताप को ठीक बनाये रखना है। हमारे लिए यह बहुत आवश्यक है कि शरीर का ताप संतुलित रहे। इस बात की सबसे अधिक आवश्यकता मस्तिष्क को है। पेशियाँ तो बहुत-कुछ ठंडी हो जाने पर भी अपना काम कर लेती हैं। यही हाल गुरदे-जैसे ग्रंथिवाले अंगों का भी है; लेकिन मस्तिष्क की गरमी कुछ ही डिग्री बढ़ जाने से हम बेसुध हो जाते हैं। इसी से तेज बुखार आने पर हमें सन्निपात हो जाता है। इसके विरुद्ध थोड़ी ही गरमी कम हो जाने पर भी हम बेहोश हो जाते हैं और जीवन संकट में पड़ जाता है। ९८.४° फा० से जब हमारा ताप बढ़ता है तो कहा जाता है कि बुखार है। किसी-किसी व्यक्ति का मस्तिष्क तो १०४° या १०५° फा० तक पहुँचने से पहले ही विकृत होने लगता है। दूसरी ओर ताप ९५° फा० से नीचे गिरते ही जान आफत में आ जाती है। इसलिए शरीर का ताप ९८° फा० के लगभग रहना बहुत ही जरूरी है। इस काम को साधनेवाले अंगों में त्वचा सबसे मुख्य है। वह इस कार्य को बड़ी खूबी के

साथ—कुछ तो मोटर के 'रेडिएटर' की भाँति हमारे खून को ठंडा करके और कुछ पसीने के द्वारा—पूरा करती है। हमारी पेशियों और अंगों में सदैव ऊष्मा बनती रहती है और खाल से वह बाहर निकलती रहती है। यह ऊष्मा खून की रगों द्वारा हमारी खाल में पहुँचती है और वहाँ से उपचर्म के नीचे फैली रहनेवाली छोटी केशिकाओं में पहुँचकर जब बाहर निकल जाती है, तब रक्त ठंडा हो जाता है। जब ऊष्मा अधिक बनती है या हवा हद से ज्यादा गरम हो जाती है तो खाल से गरमी का बाहर निकलना भी उसी हिसाब से बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में मस्तिष्क नाड़ियो के तारों द्वारा आदेश देता है, जिससे त्वचा में आनेवाली रक्तनलियाँ फैल जाती हैं, ताकि बहुत-सा खून वहाँ आकर ठंडा हो सके। पसीना भी तेजी से निकलने लगता है और भाफ बनकर उड़ते हुए वह शरीर की सतह को ठंडा कर देता है। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार से होती है जैसे कि गरमी के दिनों में सुराही में रक्खे हुए पानी के भाप बनकर ठंडा होने में होती है। हमारी त्वचा के नीचे अधिक खून दौड़ने के ही कारण तेज धूप में चलने या तेजी से दौड़ते समय हमारा चेहरा लाल हो जाया करता है।
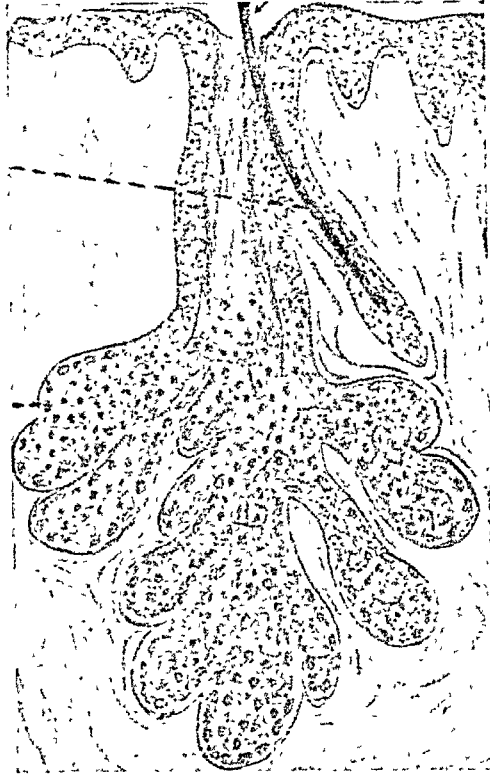
बाल की जड़ और उसे चिकना बनानेवाली ग्रंथियाँ

यह सूक्ष्मदर्शक में दिखाई देनेवाली त्वचा के एक अंश की परिवर्द्धित झाँकी है। चित्र में एक केश की जड़ और आसपास की वे वसा-ग्रंथियाँ दिग्दर्शित हैं, जो तैलीय पदार्थ प्रदान कर केशराशि को चिकना बनाए रखती हैं।

इसके विरुद्ध शरीर में ऊष्मा बनने की गति जब धीमी हो जाती है, और ठंडक अधिक पड़ने लगती है, तब शरीर मे गरमी का निकलना रोकने के लिए हमारी खाल सिकुड़ जाती है। तेज सरदी में हाथ-पैर ठिठुरने लगते है, खाल पीली पड़ जाती है, रक्त-नलिकाएँ सिकुड़ जाती है और खाल में आनेवाले खून की मात्रा कम हो जाती है। पसीना निकलना भी बन्द हो जाता है और खाल की सतह खुश्क रहती है। यही कारण है कि शीतकाल में हमारी त्वचा मुर्झा-सी हो जाती है, और हाथ-पैर-मुँह फटने लगते है। इसी को रोकने के लिए हम वैसलीन, क्रीम आदि भाँति-भाँति की वस्तुओं का उपयोग करते है। नहरो या नदियों में पानी को रोकने के लिए लगाये गए फाटक जिस प्रकार धारा का नियंत्रण करते हैं, उसी प्रकार हमारे शरीर से निकलनेवाली गरमी की धारा की गति को खाल-रूपी फाटक वश में रखता है।

त्वचा ही की बदौलत हम भीषण गरमी या सरदी सह पाते हैं

प्राय: लोग ठंडे बदन से भयभीत हो उठते है। पर त्वचा का ठंडा पड़ जाना खतरनाक है, यह विचार गलत है। खाल के ठंडे पड़ जाने का यही अर्थ है कि रक्त सरदी के कारण भीतर की ओर हट गया है ताकि शरीर का ताप स्थिर बना रहे। डर तो उस समय होता है, जब सरदी होते हुए भी त्वचा गरम खून से भर जाय। शीत का सामना करने के उद्देश्य से मदिरा पी लेने से कभी-कभी इस भयंकर अवस्था का सामना करना पड़ता है। मदिरा से त्वचा की रक्तवाहिनी रगें प्राय: फूल जाती हैं और उन्हें सिकुड़ने से रोकती है। इसका फल यह होता है कि रक्त ठंडा होकर भीतर के अंगों में पहुँचने लगता है। इस क्रिया से ताप रुकने के बदले शरीर से निकल जाता है! ज्वर की अवस्था में कभी-कभी जब पसीना नहीं निकलता तब शरीर की गरमी अधिक बढ़ जाती है। उस समय उसे कम करने के लिए पसीना लाने की औषधियो का प्रयोग किया जाता है या ताप घटाने के लिए रोगी को नहलाया भी जाता है। वाष्पीकरण से हमें ठंडक पहुँचती है, यह एक बड़ी ही विचित्र बात है। इसी की बदौलत बहुत ऊँचे ताप में भी

शरीर की गरमी अधिक नही बढ़ने पाती। गरम भट्ठियो पर काम करनेवाले कई लोग २५०° फा० के ताप में भी काम करते रहते है, फिर भी उनके शरीर का ताप मुश्किल से थोड़ा-बहुत बढ़ता है। शैवर्ट नामक प्रसिद्ध लौह-इंजीनियर ४००°-६००° फा० तक की गरमी मे भट्ठी में घुस जाया करता था। वास्तव मे हमारी खाल ही हमे बहुधा जिन्दा भुन जाने से बचाती है!

त्वचा के द्वारा सरदी-गरमी, पीड़ा, आदि का ज्ञान हमें होता है

हम पहले ही बतला चुके है कि सारी त्वचा मे छोटे-छोटे सांवेदनिक कण होते है, जो नाडियो के महीन तार द्वारा मस्तिष्क एव सुपुम्ना से सम्बन्धित रहते है। जब हमारी त्वचा से कोई चीज छूती है तो इन्ही कणो द्वारा हमे उसकी रूपरेखा का अनुमान हो जाता है और यह भी पता चल जाता है कि वह गरम है या ठंडी। इन्ही कणो से दबाव और पीड़ा का भी ज्ञान हमे होता है। आम तौर से यह समझा जाता है कि सारी खाल पर सरदी-गरमी, पीड़ा आदि का अनुभव एक-सा ही होना है; परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। इन सब सवेदनाओ का पता लगाने के लिए भिन्न-भिन्न सावेदनिक कण हुआ करते है। किसी जगह एक प्रकार के बिन्दु अधिक रहते है और किसी जगह दूसरी प्रकार के। अनुभवी लोग कपड़ों पर लोहा करने के लिए जब लोहे को गरम करते है तो उसे गालो के पास लाकर उसकी गरमी का अन्दाज लगा लेते है; क्योकि गरमी का ज्ञान करानेवाले बिन्दु गालो में ही सबसे अधिक है। परन्तु कपडे की अच्छाई-बुराई को हम उँगलियो के छोर से ही जाँचते है, क्योकि अनुभव से हम जानते है कि उँगलियों के सिरों मे ही सबसे अधिक स्पर्श-शक्ति है। हाथ की उँगलियो के पीछे का भाग कम सवेदनशील है, कारण शरीर के अगले भाग से पिछला भाग कम सवेदनशील होता है। शरीर भर में सबसे सूक्ष्म पता लगानेवाले सांवेदनिक बिन्दु जीभ पर है।

भीतरी अंगों की रक्षा
पानी, जीवाणु तथा तेज धूप से शरीर के भीतरी अवयवों की रक्षा करना

ताप का नियंत्रण
स्वेद-ग्रंथियों और रक्त-केशिकाओं द्वारा शरीर के ताप को समान रखना

त्वचा

सांवेदनिक क्रियाएँ
स्पर्श-शक्ति द्वारा वस्तुओ की शक्ल-सूरत, नरमपन, कड़ेपन या गरमी-सरदी का ज्ञान कराना

मलोत्सर्जन
पसीने द्वारा तथा अन्य प्रकार से शरीर में से त्याज्य एवं दूषित पदार्थों को बाहर निकालना

त्वचा के नाना प्रकार के कर्त्तव्य

सरदी-गरमी, स्पर्श-ज्ञान आदि के अनुसार त्वचा को कई क्षेत्रों मे बाँटा जा सकता है। यदि आपको गरम सुई की नोक बदन पर फेरें तो स्वयं जान लेंगे कि सुई किसी जगह अधिक गरम मालूम पडती है और किसी जगह कम। इसी प्रकार ठडी सुई से ठंडे बिन्दुओ को ढूँढा जा सकता है। शरीर मे ठडे बिन्दुओ की संख्या गरम बिन्दुओ की संख्या से कहीं अधिक है! यही कारण है कि यदि हम एक लोटे मे गरम पानी भरे और दूसरे मे कुनकुना (पहले से आधा गरम) तथा दोनों में हाथ डाले तो कुनकुना पानी हमे बिल्कुल गरम नही जान पड़ेगा। मस्तिष्क को गरम बिन्दु यह खबर देते है कि पानी गरम है। परन्तु ठंडे बिन्दु इस बात पर जोर देते है कि पानी ठंडा है। अब चूँकि ठंडे बिन्दु अधिक है, इसलिए उनकी ही बात मानी जाती है! त्वचा के रक्त-संचार मे परिवर्तन हो जाने से हमें गुदगुदी या खुजली लगती है।

अब तक हमने त्वचा का वर्णन एक रक्षा करनेवाले गिलाफ, सांवेदनिक अंग और ताप का नियंत्रण करनेवाले साधन के रूप मे किया है, परन्तु उसके कई और कर्तव्य भी है। वह साँस भी लेती है, साँस लेने की गति को भी ठीक रखती है तथा दूषित पदार्थो को बाहर निकालती है। इन्ही के बारे में अब हम आपको बतलायेंगे।

हम त्वचा से भी साँस लेते हैं

जिस प्रकार हम अपने फेफड़ों से साँस लेते है, उसी प्रकार त्वचा द्वारा भी ऑक्सिजन को सोखने और कार्बन डाइ-ऑक्साइड को बाहर निकालने मे हमें सहायता मिलती है। यह बात जरूर है कि त्वचा की श्वासोच्छ्वास-शक्ति अति सूक्ष्म है, फिर भी वह उपेक्षा करने योग्य नही है। त्वचा केवल साँस ही नही लेती, वह श्वासोच्छ्वास और रक्त-संचालन की क्रिया को बहुत हद तक वश में भी रखती है। बच्चा उत्पन्न होने पर बहुधा दाइयाँ उसकी त्वचा पर हाथ फेरकर उसे उकसाती है और उसके श्वासोच्छ्वास को उत्तेजित करती है। रक्त-संचालन और श्वासोच्छ्वास जीवन भर

त्वचा के अधीन रहते हैं। ठंडे पानी में एकदम कूद पड़ने से हमारी साँस फूलने लगती है। उधर जब हम थक जाते हैं या मूर्छित होने लगते हैं तो स्वच्छ और शीतल वायु के झोंके फिर हमारे वदन को ताजा बना देते हैं और हममे पुनः स्फूर्ति का संचार हो जाता है। इसीलिए शरीर को बहुत-से कपड़ों से ढँके रखना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। जो लोग जरूरत से ज्यादा कपड़े पहनने के आदी हो जाते हैं, वे शायद ही बलवान पाये जाते हो। त्वचा कपड़ो से ढके रहने के कारण उन उत्तेजनाओ से वंचित रहती है, जिनका सामना करने के लिए वह बनाई गई है। इसलिए जब कभी अचानक उसे वैसी उत्तेजना का सामना करना पड़ता है, तब वह अपने कर्त्तव्यों को भूल जाती है अथवा उनका उचित पालन नहीं कर पाती। जो लोग सुकुमार समझे जाते हैं और जो प्रति दिन सरदी और जुकाम के शिकार बने रहते हैं, वे वही लोग हैं जो अपने को सदैव जल और वायु से दूर रखते और त्वचा को ढके रहते हैं। त्वचा तो बनी इसीलिए है कि उस पर शुद्ध वायु लगती रहे; उसकी सतह से भाफ उड़ती रहे; वह बराबर श्वसोच्छ्वास और रक्त-संचालन करनेवाले केन्द्रो को सूचनायें देती रहे। यदि हम उसे हवा के झोंको और पानी की लहरों से बचाये रहेंगे तो हम ही उसे अपने आवश्यक कार्यो के करने में असमर्थ बनाने के उत्तरदायी होंगे। प्रवाहित वायु हमारे दिल, दिमाग और शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वायु के झोंके तभी हानिदायक होंगे, जब वे त्वचा के किसी एक ही भाग पर आकर टकराते हों, या इतने ठंडे हो कि उनसे शरीर का ताप एकाएक घट जाय, अथवा उनमे गर्द और धूल भरी हुई हो।

मलोत्सर्जन के रूप में त्वचा पसीने द्वारा ही नही बल्कि अन्य प्रकार से भी शरीर के दूपित पदार्थों को निकालती है। इस प्रकार वह गुरदों को भी सहायता देती है। स्नान के समय शरीर का बहुतेरा विष त्वचा से होकर निकल जाता है। उपचर्म की कोशिकाएँ, जो सदा झड़ती रहती है, निस्संदेह बहुत-सी त्याज्य वस्तुएँ अपने साथ बुहार ले जाती है। चेचक, मोतीझरा, लाल बुखार, खुजली और खारिश आदि में जो दाने या खुरट बनते है, वे सब त्वचा के द्वारा शरीर की मलिन वस्तुओं को बाहर निकालने के प्राकृतिक प्रयत्नों के ही नमूने हैं।

बालों की रचना

शरीर के बहुत-से भागो मे त्वचा के अन्दर ऐसी विशेष कोशिकाएँ पाई जाती है, जिनसे बाल और नाखून निकलते हैं। सिर्फ हथेली और तलवो में ही ये कोशिकाएँ नही होती। हम जानते है कि बाल त्वचा में गड़े होते हैं और कभी-कभी उखाड़ने पर बाल की जड भी (जो लहसुन के जवा ऐसी होती है) पूरी उखड़ आती है। इस तरह हम पाते हैं कि बाल के दो भाग होते हैं—पहला तो वह जो त्वचा के बाहर निकला रहता है और दूसरा उसकी जड़ का भाग। ये जड़ें जिनमे बाल उगते हैं, बहुत पेचीदा और सुन्दर बनी होती है। ये ही बाल के जीवित भाग है। शेष सब बाहरी बाल और त्वचा के भीतर का अधिकतर भाग निर्जीव होता है। बाल की बाहरी और भीतरी रचना पृ० ६१५ के चित्र में दिखलाई गई है। बाल के सबसे ऊपर की पर्त चिकनी और पारदर्शक होती है, जिसकी चीमड़ कोशिकाएँ एक दूसरे को खपड़ैल के समान पकड़े रहती हैं। इसके बादवाली तह में रंग देनेवाला पदार्थ होता है और सबसे भीतर की तह में नरम कोशिकाएँ होती है। भीतर की दोनों पर्तो मे बहुधा हवा से भरे शून्य स्थान होते है। जब ये स्थान अधिक बढ़ जाते है तो बाल सफेद हो जाते हैं। काले बालों मे ये हवा से भरी हुई जगहें करीब-करीब बिल्कुल नहीं होती। ज्यों-ज्यों आयु

त्वचा पर की चोट कैसे अच्छी हो जाती है

चित्र में बाईं ओर घाव में जमे हुए खून के नीचे एक रक्त-कैशिका घुसती हुई नजर आ रही है और दाहिनी ओर के हिस्से में दिखाया गया है कि घाव भर जाने पर किस प्रकार स्थाई चिह्न बन जाता है और उस जगह के बाल हमेशा के लिए गिर जाते हैं।

बढ़ती जाती है, बाल की जड़वाली कोशिकाएँ कमजोर होने लगती हैं, रंग बनना कम हो जाता है और हवावाले स्थान अधिक बढ़ जाते हैं।

त्वचा में दबी हुई बाल की जड़ एक और थैली से घिरी रहती है, जो उखड़े हुए बाल में कभी-कभी सफेद-सी नजर आती है। असली जीवित कण तो अधिकतर भीतर ही रह जाता है। बाल की थैली के चारों ओर नाड़ियों की एक सांवेदनिक पेटी होती है, जिसके अन्दर एक या दो चरबी की ग्रंथियों के मुँह खुलते हैं। इन ग्रंथियों से तेल की तरह का एक चिकना पदार्थ निकलता रहता है, जिसके कारण बाल और त्वचा नरम रहते और सूखने तथा चटखने से बचे रहते हैं। प्रत्येक बाल की जड़ से एक मास-पेशी लगी रहती है। जब वह सिकुड़ती है तो बाल खिंच जाता है और सीधा खड़ा हो जाता है। किन्तु ऐसा अन्य जानवरों में ही अक्सर होता है। हम देखते हैं कि कुत्ते या बिल्ली को अचानक क्रोध आने या भय लगने पर उनके बाल सीधे खड़े हो जाते हैं। बाल खड़े होने पर वे पहले से अधिक मोटे और डरावने से दिखलाई पड़ने लगते हैं। हमे भी जब कभी बहुत डर लगता है तो ऐसा जान पड़ता है मानों हमारे रोयें खड़े हो गए हों, यद्यपि ऐसा होता नहीं है, गोकि कहा तो बहुधा जाता है कि भय के कारण रोंगटे खड़े हो गए। घने बालों के बीच में हवा रुक जाती है और त्वचा से गरमी का निकास कम हो जाता है। कदाचित् यही कारण है कि अधिक सरदी में स्तनपोषियों के बाल खड़े हो जाते हैं। चिड़ियाँ भी अपने पर फुला लेती है, जिससे कि बालों और परों में रुकी हुई हवा की जाकेट अधिक मोटी हो जाय। हमारे शरीर पर उतने बाल न होने के कारण हम अपने को सरदी से बचाने के लिए कम्बल, रजाई, टोप और ओवर-कोट आदि का प्रयोग करते है। बाल या पर पैदा करने में असमर्थ होने के कारण स्वार्थी मनुष्य दूसरे पशुओं के बाल या पर चुराकर या काटकर अपने काम में लाता है!

हिसाब लगाया गया है कि एक साधारण मनुष्य के सिर पर लगभग १,२०,००० बाल होते हैं। यदि ६०० बाल बराबर-बराबर सटाकर रक्खे जाएँ तो १ इंच जगह घेरेंगे। लाल सिरवाले मनुष्यों के बाल काले सिरवालो से अधिक मोटे और कम घने होते हैं। एक मामूली स्त्री के बालो का बोझ, यदि वे न काटे गए हो, लगभग पाव भर होता है। मनुष्य का एक बाल करीब दो छटाँक बोझ साध सकता है और उसकी आयु लगभग साढे चार वर्ष की होती है। कहा जाता है कि रात की अपेक्षा बाल दिन में अधिक बढ़ते है तथा गरमी मे उनकी वृद्धि सरदी से अधिक तेजी से होती है।

भौं और पलक की बरौनी केवल सुन्दरता के ही लिए नहीं हैं, यद्यपि यह बात जरूर है कि उनके बिना हमारा चेहरा बड़ा ही बदसूरत मालूम होगा। परिश्रम करते समय माथे पर पसीना आ जाता है। यदि भौंहें न हो तो वह पसीना आँखों मे चला जायगा! पसीने मे शरीर के दूषित पदार्थ मिले होते है और वे पदार्थ आँख मे जलन और तकलीफ पैदा कर सकते हैं। अत: भौंहें आँखों को इस संकट से बचाती है। पलक की बरौनी धूल और गर्द से हमारी आँखों की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त भौं और बरौनी दोनों ही आँखों को तेज रोशनी से भी बचाती है।

हमारे नाखून

यह कैसी मजेदार बात है कि हमारे नाखून चील के नख, बिल्ली के नाखुन और घोड़े के खुर के अनुरूप हैं! यह बात अवश्य है कि जानवर अपने चंगुल, पंजों और नख से शिकार पकड़ने, उनके सहारे चलने या पेड़ पर चढ़ने का ही काम नहीं लेते, वरन् एक दूसरे को नोचने-खसोटने और पंजा मारने में भी उनका प्रयोग करते है। इसके विपरीत, हममे इन अंगों की अब कोई विशेष उप-योगिता नही रह गई है। हमारी उँगलियों में नख तो होते हैं, लेकिन वे इतने पतले और कमजोर होते है कि उनसे कोई विशेष काम नही लिया जा सकता।

बालो के समान नाखून भी उपचर्म की भीतरी तहों से ही बनते है। बालों की ही तरह वे भी नीचे से ऊपर और पीछे से आगे की ओर बढा करते है। अर्थात् नाखून की बाढ़ दो दिशाओं में होती है--एक तो जड़ में अर्थात् उस भाग में, जो पीछे की ओर खाल से ढका रहता है, और दूसरी उसकी तह में--नीचे की ओर--जिससे उसकी मोटाई एक जैसी रहती है। साधारणतया हम अपने हाथ के नाखूनो का प्रति सप्ताह १ इंच का बत्तीसवाँ भाग काटा करते है। इस हिसाब से वर्ष भर में डेढ़ इंच या ३ नाखूनों की लम्बाई की बाढ़ होती है। पैर के नाखून हाथ के नखों की अपेक्षा बहुत धीरे बढते है।

नाखून में दो मुख्य तहें होती है। एक तो महीन बढने-वाली उसकी वह भीतरी तह है, जो असली चर्म से चिपटी रहती है। वह उससे कभी अलग नहीं हो सकती। दूसरी तह मोटी और कड़ी होती है। इसकी सारी कोशिकाएँ निर्जीव होती है और बालों के सदृश पूरी-पूरी उखाड़ी जा सकती हैं। इनके उखाड़ने से वे कोशिकाएँ नष्ट नही होती, जो

उन्हें बनाती है। खेल खेलने में या अन्य किसी कारण से जब नाखून पर चोट लग जाती है तो वह नीला पड़ जाता है। क्या आपने कभी सोचा है कि ऐसा क्यों होता है ? चोट से नाखून की भीतरी तह में आनेवाली खून की कोई रग फट जाती है और खून निकलकर जम जाता है। यह खून पहले नीला रहता है और बाद में काला हो जाता है। नख का अधिक भाग घायल हो जाने से धीरे-धीरे नया नाखून बनने लगता है और पुराना ढीला पडकर गिर जाता है। कभी-कभी ऐसी चोट लग जाती है, जिससे नाखून बनानेवाली कोशिकाएँ घायल हो जाती है। ऐसी दशा में दूसरा नया नाखून कभी नही बन पाता।

नाखूनो के विषय में एक और मनोरंजक बात सुनिए। क्या आप जानते है कि उन पर बीमारियाँ अपने स्मृति-चिन्ह बना जाती है? कोई मनुष्य यदि अधिक बीमार हुआ हो और उसके अच्छे होने के कुछ मास बाद यदि उसका नाखून देखा जायतो आपको उसके नाखून में एक छोर से दूसरे छोर तक एक लकीर या मेंड़ दिखलाई देगी। बात यह है कि बीमारी में तन्तुओं की जीवनी-शक्ति घट जाने के कारण नाखून की बाढ़ रुक गई थी। यह लकीर या मेंड़ फिर नई बाढ शुरू होने की जगह का निशान है। नाखूनों को देखने से स्वास्थ्य का भी पता लग जाता है। हृदय-रोग में वे बहुधा टेढ़े और गोल हो जाते है। उँगलियो के छोर में खून के आजादी से न बह सकने के कारण ही नाखून गोल और टेढ़े हो जाते है। गठिया, खुजली, खारिश या अन्य चर्म-रोगों के कारण नाखूनों मे धारियाँ पड़ जाती है और वे जल्दी ही फटने लगते है।

नाखून की रचना

बाईं ओर आधा नाखून काटकर नीचे की खाल, जो उससे चिपटी हुई है, दिखाई गई है। मध्य में यह दिखाया गया है कि नाखून उँगली में किस प्रकार बढ़ता है। दाहिनी ओर नाखून और उससे लगी हुई खाल का एक वर्क प्रदर्शित है।

खाल, बाल और नाखून की रक्षा

त्वचा के विषय में हम जो कुछ ऊपर बतला आए है, उसे पढकर आपको यह विदित हो गया होगा कि शरीर के अन्य अंगों के समान हमारी खाल भी एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। पर बहुधा देखा जाता है कि साधारण लोग उसकी रक्षा पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना कि देना चाहिए। हम यह लिख चुके है कि शरीर की ऊपरी सतह से प्रतिदिन ही मरी हुई खाल झड़ती रहती है तथा उनके नीचे की तेल की ग्रंथियों से खाल को नरम करने के लिए तैलीय द्रव्य निकलता रहता है। यह आप जानते ही है कि हमारे पसीने के साथ नमक तथा विजातीय पदार्थ भी निकलते रहते है। यदि सफाई न की जाय तो मरी हुई खाल तेल में मिलकर खाल पर चिपकी रह जाती है और उस पर पसीने के साथ निकलने-वाले नमक की तह जम जाती है। इनके जमने से पसीना निकालनेवाले छिद्र बन्द हो जाते है तथा अपना कार्य करने में वे असमर्थ हो जाते है। इसलिए यदि शरीर विधिपूर्वक साफ न किया जाय तो रक्त से त्वचा द्वारा निकलनेवाले मलिन पदार्थो का निकलना बन्द हो जायगा तथा विषैले पदार्थ एकत्र होकर हमे रोगी बना देगे। चमडी की गन्दगी से अन्य भागों मे भी रोग उत्पन्न हो जाते है। त्वचा की भी अनेक बीमा-रियाँ होती है। उनमें से कुछ तो बडी ही कष्टप्रद होती है, जैसे कि उकवत, खाज, कोढ, दाद, आदि। त्वचा को स्वच्छ और ठीक रखने का सबसे सहज उपाय स्नान करना है। सभ्यता के इतिहास के मनन से विदित होता है कि प्राचीन काल से ही शरीर की त्वचा को धोने अथवा नहाने की आवश्यकता समझी जाने लगी थी। हिन्दुओं में तो प्रातःकाल नदी या कुएँ के जल से स्नान करना धर्म समझा जाता है। बिना नहाये खाना खाना हम बहुत बुरा समझते है। प्राचीन रोमवासी और यूनानी अपने शहरों में जनता के नहाने के लिए बड़े शानदार के गुसलखाने और हमाम आदि बनाया करते थे। स्नान के विषय में यह न भूलना चाहिए कि असमय एवं कभी ठंडे तथा कभी गरम पानी से नहाने से लाभ के बजाय हानि ही होती है। नहाने से त्वचा पर ही नही बल्कि रक्त-संचालन, भीतरी अंग तथा नाड़ी-संस्थान पर भी प्रभाव पड़ता है। अत: आवश्यक सावधानी रखकर ही नहाना चाहिए।

ठंडे और गरम पानी से नहाना

यह बात सही है कि गरम पानी और साबुन के उपयोग से शरीर की सफाई अच्छी हो जाती है, परन्तु ठंडे पानी में नहाने से बदन में अधिक प्रफुल्लता आ जाती है। खाल पर ठंडा पानी लगने से छोटी-छोटी रक्त-नलिकाएँ सिकुड़ जाती हैं, जिससे शरीर के भीतरी अंगों में खून बढ़ जाता है तथा हृदय को शक्ति मिलती है। ठंडे पानी में नहाने की आदत डालने से सरदी-गरमी झेलने की शक्ति बढ जाती है। इसी वजह से ऐसे लोगों को सरदी-जुकाम नहीं होता, जो ठंडे पानी मे देर तक नहाते है और नहाकर शरीर को फौरन् ही तौलिए से खूब रगड़कर पोंछ डालते हैं। यदि हो सके तो थोड़ी-सी कसरत भी कर लेना चाहिए या तेजी से चल लेना चाहिए, ताकि फिर रक्त ऊपर की ओर दौड़ आए। यदि आपको ऐसा करने के बाद प्रसन्नता और ताजगी न मालूम हो तो जान लीजिए कि आपके लिए ज्यादा ठंडे पानी मे नहाना उचित नहीं है। दौड़-धूप, कसरत आदि के पश्चात् थके हुए या गरम होने पर, अथवा पसीने में तर रहने पर, ठंडे जल से तत्काल कदापि स्नान नहीं करना चाहिए। खाना खाने के पश्चात् भी तत्काल नही नहाना चाहिए।

शरीर को गरम पानी से धोने से ऊपरी रक्त-नलिकाएँ फूल जाती है और स्वेद-ग्रंथियाँ उत्तेजित हो जाती है। हृदय भी तेजी से धड़कने लगता है और शरीर का ताप बढ़ जाता है। सब तन्तु अपना काम फुर्ती से करने लगते हैं। ऐसे स्नान से पहले-पहल तो शरीर में फुर्ती आ जाती है, लेकिन यदि देर तक नहाया जाय तो सुस्ती मालूम होने लगती है। गरम पानी से नहाने के बाद खाल मे खून काफी देर तक अधिक इकट्ठा रहता है, जिससे शरीर की गरमी अनुचित मात्रा में बाहर निकल जाती है। इसीलिए देर तक या बार-बार गरम पानी से नहाना कमजोरी पैदा करता है। यदि गरम स्नान के उपरान्त कुनकुने या ठंडे पानी के फौवारे से जरा-सा नहा लें या बदन को अँगौछ डाले तो यह बात नहीं होने पाती। हृदय-रोगवालों को गरम पानी में नहाने से बचना चाहिए।

बालों की देखभाल

एक पुरानी कहावत है कि जहाँ बाल है, वहाँ मैल भी रहता है। यह बिल्कुल ठीक है, इसलिए जहाँ तक हो सके बालों को बहुत साफ रखना चाहिए, जिससे बाल के भीतरी भाग की थैली का मुँह बन्द न हो जाय और उस चिकनाई का निकलना न रुक जाय, जो कि बालों को नरम रखती है। चिकनाई निकलना बन्द हो जाने से बालों की जड़ पर दबाव पड़ता है और बाल गिरने लगते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि बालों को भी खाल की भाँति जल्दी-जल्दी धोना चाहिए। साधारणतया बच्चे का सिर सप्ताह में एक या दो बार तथा बड़ों का १०वे-१५ वें दिन अवश्य धुलते रहना चाहिए। इससे सिर में रूसी इकट्ठी नहीं होने पाती। साथ-साथ रोज एक बार सिर की मालिश भी करना जरूरी है, जिससे कि बाल की जड़ो में रक्त-संचार होने और तेल फैलने में सहायता मिले। मालिश सिर्फ उँगलियों के पोरो से ही करना चाहिए और पहले कान के पास से शुरू करके हल्का दबाव देते हुए सारे सिर पर उसे फैला देना चाहिए। जब सिर की खाल खुश्क हो जाय या बाल भुरभुरे हो जाएँ तो जैतून और अंडी के तेलों को बराबर-बराबर मिलाकर कुन-कुना करके लगाने से यह बात जाती रहती है। महीने में एक बार गरम तेल की मालिश करने से बालों को बहुत फायदा होता है। सिर धोने के लिए सुहागा, रीठा या नरम साबुन प्रयुक्त करना चाहिए। किसी के सिर में यदि गंजापन या अन्य कोई रोग हो तो उसका कंघा या ब्रुश दूसरे को काम में न लाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से दूसरों को भी वही बीमारी हो जाती है। कंघा और ब्रुश करने से भी बालों को वही असर पहुँचता है जो उँगलियों की मालिश से होता है। इनसे यह लाभ होता है कि बालों की गर्द-धूल भी साफ हो जाती है। सोडे से धोने से बाल कड़े पड़ जाते है। इसलिए धोने के बाद तुरन्त ही तेल लगा लेना चाहिए। साबुन आदि से धोने के बाद भी थोड़ा-सा तेल लगा देने से रुखापन चला जाता है। सामान्य और स्वस्थ बालों के लिए किसी उबटन या मसाले की आवश्यकता नहीं होती। वे तो प्राकृतिक तेल से ही नरम और चमकदार बने रह सकते है। किसी-किसी बीमारी का लक्षण ही बालों का गिरना है। ऐसी दशा में उस रोग का इलाज करना चाहिए, बालो का नहीं।

नाखूनों की रक्षा

नाखून और उनके आसपास की खाल की सफाई भी जरूरी है। नाखूनो में हैजे और अन्य रोगों के कीटाणु रह सकते हैं। हाथों को बिना अच्छी तरह धोये खाना खाने से या मुँह मे उँगली डालने से ये कीटाणु आमाशय मे प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकते है। नख उँगलियों के छोरों की रक्षा करते हैं और सूक्ष्म वस्तुओं को उठाने में सहायता देते हैं। उन्हें इतना काटना चाहिए कि उँगलियों से वे बाहर न निकलें। नखों को काटकर ठीक रखने पर भी मैल और धूल उनमे जमा हो ही जाती है, इसलिए किसी नरम चीज से उसे निकाल देना चाहिए। कैंची से

नाखून काटना अच्छा नही, क्योंकि इस तरह वे मोटे पड़ जाते है । यदि खुश्की से नाखून फटने लगें तो उन पर कभी-कभी तेल लगाते रहना चाहिए ।

शरीर के साज-सिंगार के साथ नाखूनो को भी रंगकर सौंदर्य-वृद्धि करने की ओर आदिकाल ही से मनुष्य का झुकाव रहा है । हमारे अपने देश में मेंहदी का प्रयोग होता है, जिससे उंगलियों सहित हाथों की पूरी हथेली तथा पैरों के तलवे गहरे लाल-कत्थई रंग से रंगे जाते है । इधर पाश्चात्य फैशन की हवा में भाँति-भाँति के चटकीले रंगों से नाखूनों को रँगने का भी रिवाज चल पड़ा है ।

हमारी मांस-पेशियाँ

हमारे शरीर-यंत्र के संचालन में मांस-पेशियों का वही स्थान है, जो किसी कल-कारखाने में भाँति-भाँति की मशीनों को चलानेवाले इंजिनों को प्राप्त है । आइये, देखें हमारी देह-रूपी मशीन को संचालित करनेवाले ये इंजिन क्या है और किस प्रकार वे अपना काम करते है ।

पिछले प्रकरण मे आप त्वचा का हाल पढ़ चुके है । यह सभी जानते है कि त्वचा के नीचे मांस होता है । सारे शरीर में खाल के नीचे मास के लोथड़े और उनके भी नीचे हड्डियाँ होती है । शरीर में मांस और हड्डियों का भाग ही सबसे अधिक है । शरीर के बाह्य भागो अर्थात् हाथ-पैर या धड के ऊपरी हिस्सो में ही नही, वरन् भीतरी अवयवों अर्थात् हृदय, आमाशय, आँत इत्यादि की दीवारों में भी मांस-तन्तु पाये जाते है । सम्पूर्ण शरीर का मांसल क्षेत्र लगभग ५०० पेशियों में विभाजित है । इस लेख में हम शरीर-रूपी कल के इन्ही पेशियों-रूपी पुर्जो की रचना और कर्त्तव्यो का रोचक वर्णन कर रहे है। इससे आपको यह भी पता लग जायगा कि हाथ-पैर आदि अंगो को स्वस्थ रखने और उन्हें ठीक-ठीक काम करते रहने योग्य बनाये रखने के लिए क्या करना चाहिए ।

जिस प्रकार हमारी खाल शरीर के ताप को संतुलित रखने और रोगों से उसकी रक्षा करने के लिए जरूरी है, उसी प्रकार मांस भी हमारे लिए एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है । मास-पेशियाँ शरीर मे गति उत्पन्न करने के लिए जरूरी है । हम उठते है, बैठते है, लेटते है और दौड़ भी लगाते है । हाथ से भोजन उठाकर हम मुँह में रखते और चबाकर उसे निगल जाते है । हम बातचीत करते है, हँसते-बोलते है, गाते-बजाते और इच्छानुसार आँखो को खोलते या बन्द कर लेते है । हृदय और आँतें हमारी इच्छा के बिना भी धड़कते और सिकुड़ते-फैलते रहते है । भाँति-भाँति की ये सब आवश्यक गतियाँ मांस-पेशियों या पुट्ठों के ही सहारे हुआ करती है । जब हम बाँह मोड़ते है तो कुहनी की जगह हमारी बाँह मुड़ती है—यह भी पुट्ठों के ही सिकुड़ने या फैलने के कारण होता है ।

शरीर में तीन प्रकार की पेशियाँ है—(१) वे जो हमारी इच्छा के वश में है तथा हमारी आज्ञा के बिना कोई काम नहीं करती । इन्हे हम 'इच्छाधीन' मांस-पेशियाँ कहते है । इनमें आड़ी धारियाँ होने के कारण इन्हे 'धारीदार पेशी' भी कहा जाता है । (२) वे जो हमारी इच्छाओं के वश में नही है तथा अपना कार्य अपने ढंग से स्वतः करती रहती है । साधारणतया उन पर हमारा कोई जोर नही होता, इसलिए वे 'स्वाधीन' कहलाती है । धारियाँ न होने के कारण वे 'धारीहीन पेशी' भी कही जाती है । (३) हृदय-पेशियाँ, जो हृदय की दीवारों ही में पायी जाती है । ये स्वाधीन होते हुए भी धारीदार होती है ।

इच्छाधीन मांस-पेशियाँ—उनके आकार और काम करने के ढंग

जब हम लिखने के लिए मेज पर से कलम उठाना चाहते है तो मस्तिष्क से आज्ञा पाते ही बाँह के पुट्ठे हाथ को फैलाकर कलम तक उँगलियों को पहुँचा देते है और उँगलियों के पुट्ठे कलम को पकड़कर हमारे पास ले आते है । तब हम बाँह मोड़कर मजे से लिखना शुरू कर देते हैं । इसी प्रकार जब हमें बोलने, गाने, उठने या बैठने की इच्छा होती है तो इनसे सम्बन्ध रखनेवाली पेशियाँ हमारे इच्छानुसार अपना काम करने लगती है । इस तरह की पेशियाँ विशेषकर शरीर के बाह्य भागो मे ही होती है और वे सब हड्डियो से चिपटी रहती है । ये हड्डीवाली पेशियाँ एक जगह से निकलकर दूसरी जगह जुडी रहती है । निकलने के स्थान पर वे या तो मांस के रेशों द्वारा हड्डी से जुड़ी रहती है या हड्डी के ऊपर मढी हुई रेशेदार झिल्ली से अथवा चीमड़ कंडराओं के सहारे उन्ही हड्डियों से लगी रहती है । इनका दूसरा सिरा किसी दूसरी हड्डी आदि में घुमा

रहता है, जैसा कि आँख के गोले के बारे में हम पाते हैं। सिरे की अपेक्षा बीच में पेशियाँ अधिक मोटी होती हैं। कंडराओं के सहारे हड्डियों से जुडी पेशियों के सिरो पर एक से अधिक कंडराएँ रहती हैं। पेशी जब सिकुड़ती है तो उससे जुड़ी हुई हड्डियाँ पास-पास हो जाती हैं, जैसा कि हम ऊपरी बाँह की दो छोरवाली 'द्विशिरस्का' पेशी की गति देखने से समझ सकते हैं। यह पृष्ठ ६२५ पर दिए गए चित्र से विदित हो सकता है। यह पेशी ऊपर की ओर कंधे की चौड़ी हड्डी से और दूसरी ओर निचली बाँह की बाहरी हड्डी से लगी रहती है। इस प्रकार यह पेशी सारी ऊपरी बाँह, दोनों पतली हुआ करती है। कोई चादर के समान चौड़ी भी होती है, जैसी कि हमारे पेट के आगे की दीवार पर पायी जाती है। कोई पेशी छोटी होती है, तो कोई बड़ी; कोई लम्बी होती है, तो कोई गोल। उदाहरणार्थ, टाँग की पेशियाँ बड़ी होती हैं और आँख की बहुत ही छोटी।

पेशियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों को भिन्न-भिन्न दिशाओं में घुमाती और मोड़ती हैं। जिस प्रकार बाँह के पुट्ठों के सिकुड़ने और फैलने से कुहनी के जोड़ पर हमारी ऊपरी और निचली बाँह फैलती और सिकुड़ती है, उसी प्रकार पुट्ठों के संकोच और प्रसार एवं उनके लचीलेपन
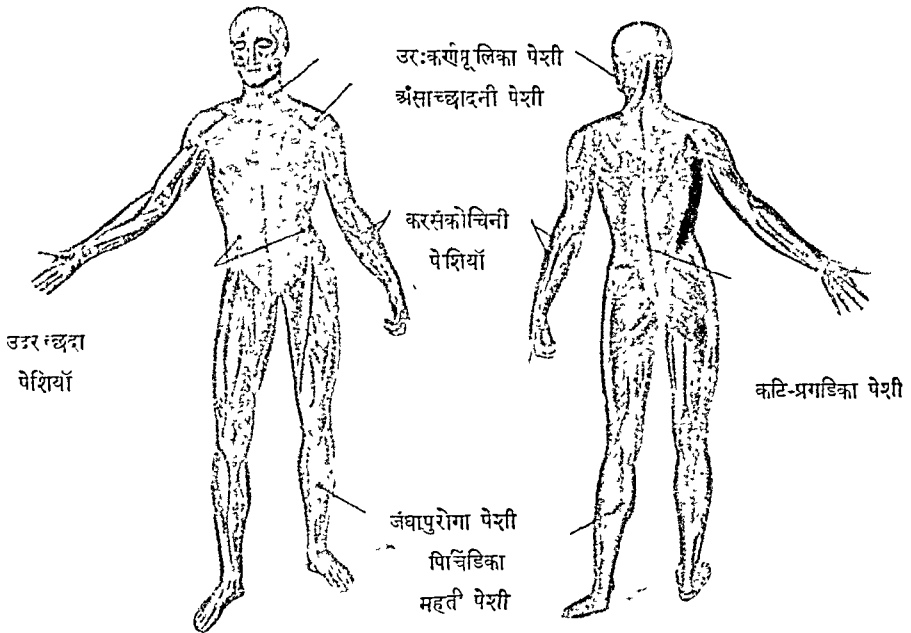
हमारे शरीर की प्रमुख मांस-पेशियाँ

(प्रस्तुत चित्र में) मानव-शरीर के सामने और पीठ की ओर के दृश्य दिग्दर्शित है, जिनमें बाहर की ओर अवस्थित मुख्य-मुख्य पेशियाँ दिखाई गई है कुछ के नाम भी दिए गए है।

बाँहों के जोड और निचली बाँह के ऊपरी भाग पर फैली रहती है। जब यह सिकुडती है तो नीचे की बाँह खिंचकर कुहनी पर मुड जाती है और पेशी सिकुडकर छोटी और गोल हो जाती है। जब हम उसे फिर सीधा करना चाहते हैं तो ऊपरी बाँह के नीचे की तीन छोरवाली 'त्रिशिरस्का' पेशी को सिकोड़कर फैला पाते हैं। इन पेशियो की हरकत को आप स्वयं अपनी बाँह टटोलकर समझ सकते हैं।

पेशियो के बहुत-से रूप-आकार होते हैं। कोई द्विशिरस्का के समान तकुआ-जैसी अर्थात् बीच मे मोटी और इधर-उधर पतली होती है; तो कोई फीते की शक्ल की लम्बी और से शरीर के विविध भागों में विविध गतियाँ होती हैं। कंधे की पेशी सारी बाँह को ऊपर उठाती है और सीने की बड़ी पेशी फिर उसे नीचे खींच ले आती है। शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों का हिलना-डुलना पेशियो के संकोच और प्रसार से ही होता है। परन्तु पेशियों का संकोच और प्रसार तभी हो सकता है, जब उन्हें हड्डियों का सहारा मिले। मजदूर जब किसी बड़े-से भारी पत्थर को सरकाने के लिए मजबूत डंडे या लोहे की मोटी छड़ का सहारा लेते हैं तो अपनी ढेकली के छोर को जमीन के ऊपर टेककर वे सुगमतापूर्वक उसे उठा या सरका लेते हैं। इसी तरह जब हम

पंजे के वल पर खड़े होकर ऊँचे उठते हैं तो हमारे शरीर का भार टखने पर पड़कर पिंडलियों की पेशियों के संकोच से सध जाता है। जैसे लोहे की छड़ धरती का सहारा पाकर पत्थर का वोझ उठा लेती है, उसी तरह धरती पर जोर से दबी हुई उँग-लियाँ शरीर का वोझ सह लेती हैं। इसी प्रकार शरीर के किसी एक अंग को किसी समीपवर्त्ती दूसरे अंग के पास लाने के लिए एक हड्डी के सहारे किसी जोड़ पर टेक लगाई जाती है। यही हम ऊपर वाँह के विषय में वतला आये हैं। जब हम मुड़ी हुई निचली वाँह को फिर फैलाते हैं तो त्रिशिरस्का पेशी निचली वाँह की भीतरी हड्डी का सहारा लेती है, जिसमें वह जुड़ी रहती है। इसी हड्डी के सहारे वह कुहनी के जोड़ पर टेक लगाती है।

(१) (२) (३)

तीन प्रकार की मांस-पेशियां

(१) धारीदार पेशी का एक तन्तु। इसमें रक्त-कोशिकाएं और नाड़ी-सूत्र घुसे हुए हैं। यह बहुत शीघ्र सिकुड़ता है और इसमें बारी-बारी से एक के बाद एक गहरे और हलके रंग की धारियां बनी रहती हैं। इसकी रचना केन्द्र के आसपास अनेक कोशिकाओं के जुड़ाव से होती है। इसके एक छोर पर पेशी को उत्तेजित करनेवाला नाड़ी-सूत्र अनेक महीन रेशों में समाप्त होते हुए दिखाया गया है। दूसरे छोर पर पेशी को आहार पहुँचानेवाली रक्त-केशिका का जाल है।
(२) धारी-रहित स्वाधीन पेशियों की तीन कोशिकाएं। ये लंबे तकुए-जैसे होती हैं और एक-दूसरे में लिपटी रहती हैं। प्रत्येक में एक केन्द्र होता है। ये बहुत धीरे-धीरे सिकुड़ती हैं और प्रायः आंतों, रक्त-नाड़ियों आदि की दीवारों में पायी जाती हैं।
(३) हृदय-पेशी के तन्तुओं का एक समूह। इस जाति की पेशी के तंतु अनैच्छिक और शाखामय होते हैं। ये शाखाएँ पास की कोशिकाओं की शाखाओं से जुटी रहती हैं। इनमें विशेष प्रकार की धारियां होती हैं, जो धारीदार इच्छाधीन पेशियों जितनी स्पष्ट नहीं होतीं। (तीनों चित्र यथार्थ से कई गुना अधिक परिवर्द्धित हैं।)

जिस प्रकार हड्डियों और उनके जोड़ों की सहायता से हम अपने हाथ-पैर मोड़ते या फैलाते हैं, उसी तरह जब हम मुँह को खोलते और बन्द करते हैं, तब भी अपने जबड़े की हड्डियों और उनमें लगी हुई पेशियों से काम लेते हैं। शरीर की सभी परिचित गतियां इसी तरह के ढेकली और टेक के सिद्धान्त पर स्थापित प्रबन्ध द्वारा होती हैं।

हम कैसे सीधे खड़े होते, चलते और दौड़ते हैं ?

ऊपर लिखी हुई बातों से आपकी समझ में यह आ गया होगा कि अंग किस प्रकार गति-शील होते हैं। अब हम आपको बतलायेंगे कि पेशियों के एक-दूसरे से मिलकर काम करने से ही हम सीधे खड़े रह सकते हैं। उन्हीं की बदौलत हम चलते फिरते एवं भाग या दौड़ सकते हैं। बाँह को मोड़ने के लिए तो दो ही पेशियां काम आती हैं, परन्तु बहुधा हमारे अंग कई पेशियों के सहयोग से गति करते हैं। शरीर को सीधा खड़ा रखने के लिए सामने और पीछे की कई पेशियों का पेचीदा प्रबन्ध रहता है। सामने की पेशियां शरीर को आगे की ओर खींचती हैं और पीछेवाली पीछे की ओर। इस प्रकार दो ओर की पेशियों की एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया के कारण ही शरीर सीधा रहता है।

किसी सीधी लम्बी वस्तु को खड़ा करना होता है तो उसको तीन ओर से रस्सियों से बाँधकर साधना पड़ता है। रेडियो के एरियल का बाँस आपने देखा होगा। उसमें तीन तरफ तार बाँधकर खीचकर कही जमीन या दीवाल से कस दिये जाते है, तब वह सीधा खड़ा रह पाता है। यही बात हमारे शरीर को सीधा खड़ा रखने के लिए पेशियो को करना पड़ती है। जब हम खड़े होते है तो शरीर का भार टखने की हड्डी पर पड़ता है, जिससे पैर आगे को मुड़ने लगता है। आगे का मुड़ना रोकने के लिए पिंडली की बड़ी पेशी खिचने लगती है। फल यह होता है कि टखने का जोड़ सीधा और कड़ा बना रहता है और शरीर उस पर सध जाता है। घुटने का जोड़ भी सामने और पीछे की पेशियों की इसी तरह की एक-दूसरे के विपरीत क्रियाओ के कारण सीधा बना रहता है। ऊपर का धड़ भी इसी तरह कूल्हे के जोड़ पर धड़ से जाँघ तक जानेवाली सामने और पीछे की पेशियों के तनाव के कारण रेडियो के बाँस के समान सीधा खड़ा रहता है। छोटा बच्चा जब पहले-पहल खड़ा होने का प्रयत्न करता है तो अक्सर गिर पड़ता है; कारण, उसकी पेशियों को अपनी क्रियाएँ ठीक-ठीक करने में समय लगता है। परन्तु ज्योंही बच्चे को अपनी पेशियों के सहयोग से शरीर को साधना आ जाता है, वह बिना प्रयत्न के ही खड़ा होने लगता है।
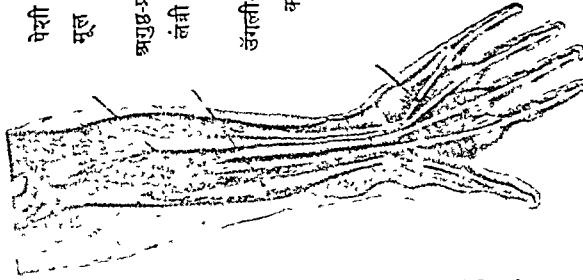
उँगलियों को नियंत्रित करनेवाली हाथ की पेशियाँ

त्वचा का आवरण अलग करके पेशियाँ दिखायी गयी हैं।

जब हम चलते या दौड़ते है तो शरीर का बोझ उस पैर पर पड़ता है, जो जमीन पर रहता है। ज्योंही आगे बढ़ा हुआ पैर भूमि पर टिकता है, दूसरे पैर की पिंडली की पेशियाँ सिकुड़ जाती है और शरीर पंजे पर सध जाता है, जिससे यह पैर उठता और आगे बढ़ता है। इसी तरह फिर दूसरा पैर बढता है। दायें और बायें पैरों का बारी-बारी से आगे-पीछे बढ़ना पेशियों के संकोच से ही होता है। दौड़ने और चलने मे यही भेद है कि दौड़ने में पेशियाँ बहुत जोर और तेजी से सिकुड़ती है, जिससे पैरों की गति में फुर्ती आ जाती है, एड़ी जमीन पर नही पड़ती और दोनों पैर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए जमीन से उठे रहते है।

स्वाधीन मास-पेशियाँ

हमारा शरीर कभी भी बिल्कुल गतिहीन नही रहता। सोते समय भी कुछ पेशियाँ बराबर क्रियाशील रहती है। हृदय धड़कता रहता है और फेफड़ों के बराबर सिकुड़ने और फैलने से हम सोते हुए भी साँस लेते रहते है। आँतों की दीवारों की पेशियों में वे धीमी गतियाँ हुआ करती है, जिनसे खाना नीचे को उतरता है। चाहे हम सोते रहे या जागते, ये सब काम बिना हमारी इच्छा या आज्ञा के होते ही रहते है। इसीलिए उन पेशियों को, जो इस प्रकार की गति उत्पन्न करती है, हम स्वाधीन पेशियाँ कहते है। ये धारीदार पेशियों की अपेक्षा सुस्त और धीमी गतिवाली होती है, तथा आमाशय, आँत, फेफड़े और अन्य भीतरी अंगों की भित्तिकाओं में ही पाई जाती है। साधारण बिना धारीवाली ये पेशियाँ लम्बे तकुए-जैसी कोशिकाओं की बनी होती हैं। इनके रेशे भी बंडलों में बँधे रहते हैं और वे खोखले अंगों ही की दीवारों में मिलते है। जिन अंगों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनके अतिरिक्त श्वासोच्छ्वास-प्रणाली, नलिकाओं तथा रक्तवाहिनियों की दीवारों में भी स्वाधीन पेशियाँ उपस्थित रहती है।

हृदय-पेशियाँ

हृदय-पेशियाँ इन दोनों प्रकार की पेशियों से विभिन्न है। वे धारीदार होते हुए भी हमारे वशीभूत नहीं है। हृदय में नियमित लय से धड़कने, अर्थात् सिकुड़ने और फैलने की ऐसी स्वाभाविक शक्ति है, जो उपर्युक्त दोनों प्रकार की पेशियों से निराली है। जिस समय हृदय-पेशियो से यह शक्ति गायब हो जाती है, उसी समय हमारे समस्त शरीर के कार्य बन्द हो जाते है और हमारी मृत्यु हो जाती है। बहुधा ऐसी घटनायें देखने में आई है कि भले-चंगे मनुष्य एकदम मर जाते है, अर्थात् उनके हृदय की गति अचानक ही रुक जाती है। हृदय-पेशियों के रेशे शाखामय होते है।

खोखले अंग या नली में वृत्ताकार पेशियों के सिकुड़ने से उसके अन्दर की जगह संकीर्ण हो जाती है और जो कुछ वस्तु उसमें होती है, वह बाहर निकल जाती है या आगे को धकेल दी जाती है। हृदय के किसी प्रकोष्ठ की दीवारों

की पेशियाँ संकोच करती हैं तो उनमें से रक्त निकल जाता है और वे खाली हो जाती है। संकोच के बाद पेशियाँ ज्यों-ज्यों अपनी पहली अवस्था में आती जाती है, त्यों-त्यों उनके अन्दर की जगह बढती जाती है और उनमें पुनः रक्त भर जाता है। इसी प्रकार पित्ताशय और मूत्राशय भी पित्त और मूत्र त्यागते हैं।

अपने नित्य-प्रति के जीवन में हम न जाने कितने प्रकार की गति का प्रदर्शन करते है। हम टहलते है, दौडते है, कूदते है, नाचते है, गाते-बजाते है, लिखते-पढ़ते है या और भी कई प्रकार की हरकतें किया करते है। इनके करने मे हमें कोई अड़चन नही पड़ती और कभी-कभी तो इन गतियों का हमे ध्यान भी नही रहता। फिर भी प्रत्येक बार जब हम इनमें से किसी भी प्रकार की हरकत करते है, तब बीसियों अथवा सैकडों तक पेशियाँ एक साथ बराबर क्रियाये करती हैं। उनमें से हर एक अपना विशेष काम बिना किसी प्रकार की भूल के बिल्कुल ठीक समय पर सावधानी से करती है। हमारे शरीर में ५०० से अधिक पेशियाँ है, जो सीखे-सिखाए कारीगरों की तरह शरीर के अंगों को हिलाती-डुलाती या चलाती-फिराती है। मनुष्य की बाँह और हाथ ५८ ऐसी विविध पेशियों के द्वारा गतिशील होते है, जो ३२ अलग-अलग हड्डियों से संबंधित है। मनुष्य के चेहरे पर ६० के लगभग पेशियाँ होती हैं और इन्हीं पेशियों के द्वारा चेहरे से दुःख, दर्द, सुख, प्रसन्नता, क्रोध आदि भावों का प्रदर्शन किया जाता है। एक वैज्ञानिक ने लिखा है कि त्योरी चढाने के लिए ५० पेशियों की सहायता लेनी पड़ती है, परन्तु मुस्कराने के लिए केवल १३ से ही काम चल जाता है। इसलिए मुस्कराना केवल आनन्दप्रद ही नही है, वरन् उसमें परिश्रम भी कम करना पड़ता है! आँख और मुँह के चारों ओर पेशियों के चक्र रहते हैं, जिनसे हम अपनी आँखें चढ़ाते और मुँह बिरा सकते है। आँख के ऊपर की पेशी को सिकोड़ने से माथे पर झुर्रियाँ पड़ जाती है। सिर के पास आठ पेशियाँ होती है, जो जबड़ों को चलाया करती है। इनके नीचे गले, जीभ और कंठ की जटिल पेशियाँ होती हैं। कभी-कभी ऐसे अनोखे मनुष्य भी दिखलाई पड़ते है, जिनमें औरों से अधिक पेशियाँ होती है, जिनसे वे अपनी खोपड़ी की खाल को हिला सकते और कानों को भी झटक सकते हैं! पेशियों की यह कहानी वस्तुतः इतनी लंबी है कि इतनी थोड़ी-सी जगह में उसका पूरा वर्णन करना कठिन है।
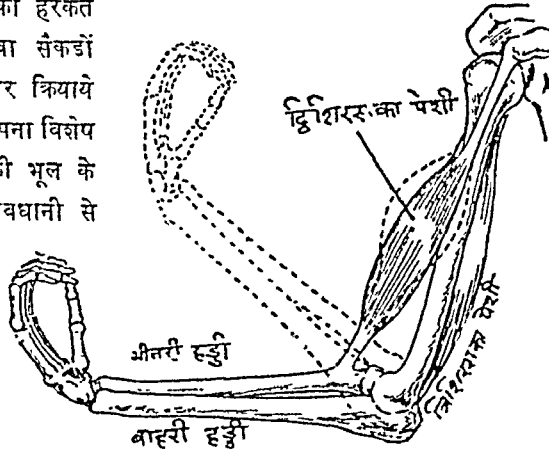
बाँह की पेशियाँ

जब हम अपनी बाँह मोड़ना चाहते है, तब हम द्विशिरस्का और त्रिशिरस्का पेशियों को सिकोड़ते और फैलाते है।

मस्तिष्क और सुषुम्ना का पेशियों पर अधिकार

ये सैकड़ो पेशियाँ, जो शरीर-रूपी कल को चलाती हैं, नाडियों द्वारा वश में रखी जाती है। सफेद डोरों के समान नाड़ियाँ (कुछ मोटी और कुछ इतनी पतली, जो मुश्किल से दिखलाई पड़ती है) कँपकँपाती और लहराती हुई पेशियों में फैली रहती है। ये हमारे शरीर में खबर भेजनेवाले तार के समान कार्य करती है। मस्तिष्क और सुषुम्ना से निकलकर ये प्रत्येक पेशी तक पहुँची रहती है। यह कहना अनुचित नही जान पड़ता कि मस्तिष्क और सुषुम्ना ही पेशियों को अपने अधिकार में रखनेवाले शासक है। वे सदा नाड़ी-रूपी तारों द्वारा अपना हुक्म भेजते रहते हैं, जिससे एक जगह पेशियाँ सिकुड़ती तो दूसरी जगह फैलती है, और फलस्वरूप एक जगह गति होती है तो दूसरी जगह स्थिरता आ जाती है।

मांस-पेशियाँ बहुत ही मुलायम और लचीली होती है और खींचे जाने पर वे असाधारण लम्बाई धारण कर लेती हैं। इस बात में वे कमानी से सादृश्य रखती है; किन्तु वे ऐसी कमानियाँ है, जो उत्तेजना और उकसाव पाते ही अपनी *स्थिर अवस्था से सिकुड़कर एकदम छोटी हो जाती हैं!* ऐसा क्यों और कैसे हो जाता है, इसका पता वैज्ञानिक पूर्ण रीति से हाल ही में लगा पाये है। जब स्नायु-तन्तु (नाड़ी) द्वारा कोई खबर पेशी तक पहुँचती है तो उनमें एक प्रकार का खट्टे दूध या मीठे माड़ जैसा पदार्थ 'दुग्धकाम्ल' बन जाता है। इस पदार्थ की उपस्थिति पेशियों को अखरती है, इसलिए वे सिकुड़कर छोटी हो जाती हैं। हम सभी जानते हैं कि खट्टी चीज खाने का हमारे ऊपर क्या प्रभाव होता है।

वह शरीर में सिकुड़न या कोष्टवद्धता अर्थात् कब्ज का भाव उत्पन्न कर देती है। हमें यह नहीं पता है कि दुग्ध-काम्ल किस वस्तु से बना है, परन्तु यह तो निश्चित है कि वह शक्कर की-सी ही किसी चीज से बनता है, जो पेशियों में सदा मौजूद रहती है। जो कुछ भी हो, इस व्यवस्था से बिना किसी पदार्थ के खर्च हुए और बिना ऑक्सीकरण के ही संकोच तो हो गया! लेकिन जब तक वहाँ खट्टा पदार्थ मौजूद है, पेशी अपनी पहली अवस्था को पुन. प्राप्त नहीं कर सकती। अत. दुग्धकाम्ल का वहाँ से दूर होना जरूरी है। इसका सबसे मितव्ययी ढंग यही है कि फिर वह उसी पदार्थ में बदल जाय, जिससे कि वह पहले बना था। इस परिवर्तन की क्रिया के पूर्ण होने के लिए शक्ति चाहिये। यह शक्ति किसी प्रकार के ऑक्सीकरण या जलने से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए दुग्धकाम्ल का कुछ भाग जलकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड और जल बन जाता है। उससे जो शक्ति पैदा होती है, वह बाकी दुग्धकाम्ल को उसी पदार्थ में पुन.परिवर्तित कर देने के लिए यथेष्ट होती है, जिससे कि वह आरंभ में बना था। इतना होने के बाद पेशी अपनी प्रारम्भिक अवस्था को पाने के योग्य हो जाती है। इससे प्रकट है कि संकोच कराने के लिए नहीं, बल्कि प्रसार करने के लिए ही कुछ व्यय होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पेशियों के थकने का कारण उनमें दुग्धकाम्ल का एकत्र होना है, जो अच्छी तरह से पेशियों में से दूर नहीं हो पाता।

तीनों प्रकार की पेशियों के तन्तु

(बाईं ओर) इच्छाधीन (धारीदार) पेशी के तंतु का परिवर्द्धित चित्र। इस जाति के तंतु घनीभूत और आकार में छोटे होकर सिकुड़ते हैं। (बीच में) स्वाधीन (धारी-रहित) पेशी का छल्लेनुमा तंतु—ऊपर सिकुड़ा हुआ; नीचे, फैला हुआ। सिकुड़ते समय इन तंतुओं की नली में की खाली जगह तंग हो जाती है। (दाहिनी ओर) हृदय-पेशी का तन्तु। ये प्रकोष्ठों के आसपास गोलाकार रूप में व्यवस्थित रहते हैं और उनसे उसी तरह विभिन्न दिशाओं में सिकुड़न की लहर विद्युत् गति से दौड़ती है, जैसी तीर के चिन्हों द्वारा दिखाई गई है।

जब पेशी सिकुड़ती है तो उसमें कुछ ऊष्मा का भी उत्पादन होता है और शरीरगत बिजली की धारा भी स्थिर हो जाती है। इन दोनों ही क्रियाओं में कुछ शक्ति अवश्य व्यय होती है और उसका कुछ अंग व्यर्थ भी जाता है। फिर भी हमारी अब तक बनाई हुई मशीनों से कहीं कम खर्चीली यंत्र-प्रणाली यह है। पेशियों की गति को वश में करने के अतिरिक्त मस्तिष्क और सुषुम्ना की नाड़ी-कोशिकाएँ उनके पोषण पर भी अपना अधिकार रखती हैं। यदि कोशिकाओं में कोई रोग आदि हो जाय या उनसे पेशियों तक जानेवाले नाड़ी-सूत्र कट जायँ अथवा उत्तेजना-वाहक शक्ति उनमें से लुप्त हो जाय तो पेशियाँ सूखने लगती हैं और बेकार हो जाती हैं। लकवा रोग में नाड़ी-कोशिकाओं के बेकार होने ही के कारण हमें उस अंग को हिलाने-डुलाने या उससे काम लेने से लाचार हो जाना पड़ता है।

ताजे मांस का रंग लाल होता है, क्योंकि पेशियों में खून की बहुत-सी नालियाँ फैली रहती हैं। इन नालियों के ही जरिये से उनमें जलने का ईंधन और जलाने के लिए ऑक्सिजन पहुँचती रहती है। रक्त-धारा से ही उन्हें वह पदार्थ मिलता है, जिससे उनकी वह कमी या थकान दूर होती है, जो काम करने से उनमें पैदा होती है। इसके अलावा इसी रक्त-धारा में होकर कार्बन डाइ-ऑक्साइड जैसे वे अनेक दूपित विषैले पदार्थ, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, पेशियों से बाहर जाते हैं।

पेशियों द्वारा शरीर को ऊष्मा कैसे मिलती है?

रक्त के ही द्वारा हमारी पेशियों में शक्कर पहुँचती है, जिसके जलने या ऑक्सीकरण से उन्हें वह शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वे इतना ज्यादा काम कर पाती हैं। किन्तु जिस प्रकार इंजिन में कोयला जलने से उसमें शक्ति के अतिरिक्त गरमी का भी संचार हो जाता है, ठीक उसी तरह पेशियों में भी शक्कर के भस्मीकरण से ऊष्मा पैदा होती है। यही कारण है कि क्रियाशील पेशियों से होकर निकलनेवाला रक्त उनमें जानेवाले रक्त से अधिक होता है। वास्तव में यही उष्ण शरीर को गरम रखने का मुख्य साधन है। इसी से यह भी समझ में आता है कि जब हमें सरदी लगती है तो तेजी से चलने से वह क्यों दूर हो जाती

है। मास-पेशियों मे जो ईंधन भोजन के रूप मे रक्त द्वारा पहुँचता है, वह गति करने की शक्ति तथा ऊष्मा-शक्ति में बदल जाता है। पेशियो का मुख्य कार्य तो अंगों को गति प्रदान करना ही है। अत. जो शक्ति ऊष्मा में परिवर्त्तित हो जाती है वह बेकार जान पड़ती है, किन्तु अल्पव्ययी प्रकृति इस ऊष्मा को व्यर्थ ही नही जाने देती। वह उसे शरीर के ताप को स्थिर रखने के काम में लाती है। अतः हमारे पुट्ठे शरीर को गरमी पहुँचाने का भी कार्य करते है।

यदि आपको इन बातों के प्रमाण की भी आवश्यकता है तो जरा तेजी से दौड़ लगाइए या जल्दी-जल्दी कसरत कीजिए। अब आपको गरमी क्यो मालूम पडने लगी? बात यह है कि इस समय आपके तमाम पुट्ठे-रूपी इंजिन काम करने में तत्पर हो गए। उनके बल या शक्ति का पाँचवाँ *हिस्सा तो चलने-फिरने या कसरत करने की गति में चला* जाता है, शेष चार हिस्सा गरमी के रूप में फेंक दिया जाता है। तब फिर इसमे क्या आश्चर्य की बात है, यदि तेजी से दौड़ने या कसरत करने से हमें गरमी लगने लगती है। बहुधा जब हमें सरदी लगती है तो हम खड़े हो जाते हैं और हाथ-पैर मलने-रगड़ने लगते है या इधर-उधर चलने-फिरने लगते है। उस समय हाथ-पैर हिलाने या चलाने में हमारा उद्देश्य कोई चलने-फिरने का नही होता, बल्कि शरीर में गरमी की कमी को पूरा करने के उद्देश्य से ही हम अपने अंगों को चलाने-फिराने लगते है। कभी-कभी जब हमें अचानक बहुत जोर की सरदी लगती है तो हमे कँपकँपी आने लगती है, क्योकि मास-पेशियाँ गरमी पैदा करने के लिए अपने आप ही हिलने लगती है।

काम लेने से पेशियाँ मोटी हो जाती हैं

चाहे हम खड़े हों या बैठे, सोते हो या जागते, शरीर के पेशी-रूपी ये इंजिन सदा गरमी निकालते रहते है। किन्तु जब हम अधिक क्रियाशील होते है तो गरमी भी अधिक निकलती है। पेशियों को काम में लाने से या चलाने-फिराने से उनमें रक्त जल्दी-जल्दी और अधिक बहने लगता है। क्या आपने कभी सोचा है कि लोहार की दाहिनी बाँह बाईं की अपेक्षा अधिक मोटी क्यों होती है और पहलवानों के पुट्ठे बलिष्ठ क्यों हो जाते है? यह मांस-पेशियो की गति की ही करामात है। पेशियाँ कसरत करने से बलिष्ठ ही नही वरन् मोटी भी हो जाती है। उनमें पुराने रेशे मोटे हो जाते है और नये भी बन जाते है। क्रिकेट, फुटबाल, इत्यादि खेल खेलते समय या तैरते समय हमारी पेशियाँ असाधारण काम करने के कारण थक जाती है, इसलिए उनकी थकान दूर करने के लिए विश्राम करने की आवश्यकता होती है। दूसरी बार जब हम फिर कसरत करने जाते है तो हम पहले दिन की तरह उतने जल्दी नहीं थकते। परंतु सभी खिलाड़ियों को इस बात का अनुभव होगा कि जब खेल के दिनों में वे शुरू-शुरू मे खेलने जाते है तो ४-६ दिन तक बाँहों और कंधों मे काफी दर्द होता है। बाद मे वह दर्द ठीक हो जाता है, क्योकि पुट्ठे धीरे-धीरे उस मेहनत के आदी हो जाते है।

व्यायाम की आवश्यकता और महत्त्व

शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट बनाये रखने के लिए मनुष्य के लिए प्रतिदिन अपनी पेशियो को थोड़ी-बहुत कसरत कराना जरूरी है, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो। उसी से वे मजबूत रहेगी और हमारी सेवा करने को सदा *प्रस्तुत होंगी। कसरत करते समय हृदय एव रक्त-नलिकाएँ* तेजी से काम करने लगते है और प्रत्येक भाग में खूब रक्त पहुँचने लगता है। इतना ही नही, व्यायाम करते समय श्वासोच्छ्वास क्रिया की भी गति काफी बढ जाती है। इस प्रकार शरीर में अधिकता से प्राणप्रद वायु पहुँचने लगती है। इसके अतिरिक्त व्यायाम करने से पसीना भी आने लगता है और पसीना आने तथा तेजी मे साँस बाहर निकलने से शरीर के दूषित पदार्थ और गैस आदि बाहर निकल जाते है। इसीलिए व्यायाम के पश्चात् शरीर हल्का हो जाता है और बदन में फुर्ती आ जाती है। जो लोग प्रतिदिन कसरत करने के आदी होते है, वे यदि एक दिन कसरत नही करते तो उस दिन उनको आलस्य-सा मालूम पड़ता है और बदन भी भारी-भारी-सा रहता है। व्यायाम से स्मरण-शक्ति भी अच्छी रहती है और चित्त भी प्रसन्न रहता है। जब शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रहेगा तो स्वभावतः चित्त भी प्रसन्न रहेगा। लोगों का यह विचार कि पढ़नेवालों को शारीरिक परिश्रम अधिक न करना चाहिए, सर्वथा त्याज्य है। दिन भर बैठे-बैठे पढ़ने या अन्य काम-काज में लगे रहने से हाथ-पैर यथोचित कार्य नही करते और निर्बल हो जाते है। अतः नियमित व्यायाम करना उत्तम कार्य है। जिस प्रकार पुरुषों और लड़कों के लिए यह लाभदायक है, उसी प्रकार स्त्रियों और बालिकाओं के लिए भी है। "तू अपने पसीने की रोटी खायगा," यह आज्ञा प्रत्येक को अपने ध्यान में रखना चाहिए। जो मनुष्य अपना खाना खा लेता है, परन्तु अपने हाथ-पैर के पुट्ठों और तन्तुओं से परिश्रम नहीं कराता, वह स्वास्थ्य का विरोधी है; उसे ही रोग और निर्बलता का दण्ड मिलता है।

लगातार व्यायाम करने से शरीर चुस्त रहता है। यदि हम कसरत छोड़ दें तो हमारी पेशियों में तेजी से उल्टी कार्यवाई होने लगती है। इसीलिए पहलवान जब बूढ़े होने लगते हैं और उनकी कसरत में कमी आने लगती है तब वे एकदम मोटे हो जाते हैं तथा उनके शरीर ढीले पड़ जाते हैं। उनका अतिरिक्त मांस उस अवस्था में चर्बी मे बदलने लगता है और चर्बी की वे बूंदें पेशियों के रेशों के बीच मे जम जाती है। किन्तु जो लोग औसत कसरत करते है, उनमें यह बात नही होने पाती।

आप मंसूरी बहुत पहले पहुँचे, पर किस प्रकार? मोटर-साइकिल के बड़बड़ाते इंजिन ने आपको जल्दी पहुँचा दिया। इधर लम्बे डग बढ़ाते हुए भी मैं आप से बहुत पीछे पहुँचा! क्या मेरे पैरों ने मुझे पहाड़ी के ऊपर पहुँचाने में उतना यान्त्रिक कार्य नही किया, जितना कि आपके मोटर-इंजिन ने? सच तो यह है कि हम अपने शरीर के इंजिनों को मांस-पेशियों का नाम देने के कारण वास्तविक रूप में पहचान ही नही पाते। ये मांस-पेशियाँ ही वे इंजिन हैं, जो हमारे शारीरिक यन्त्र को गतिशील बनाते हैं।
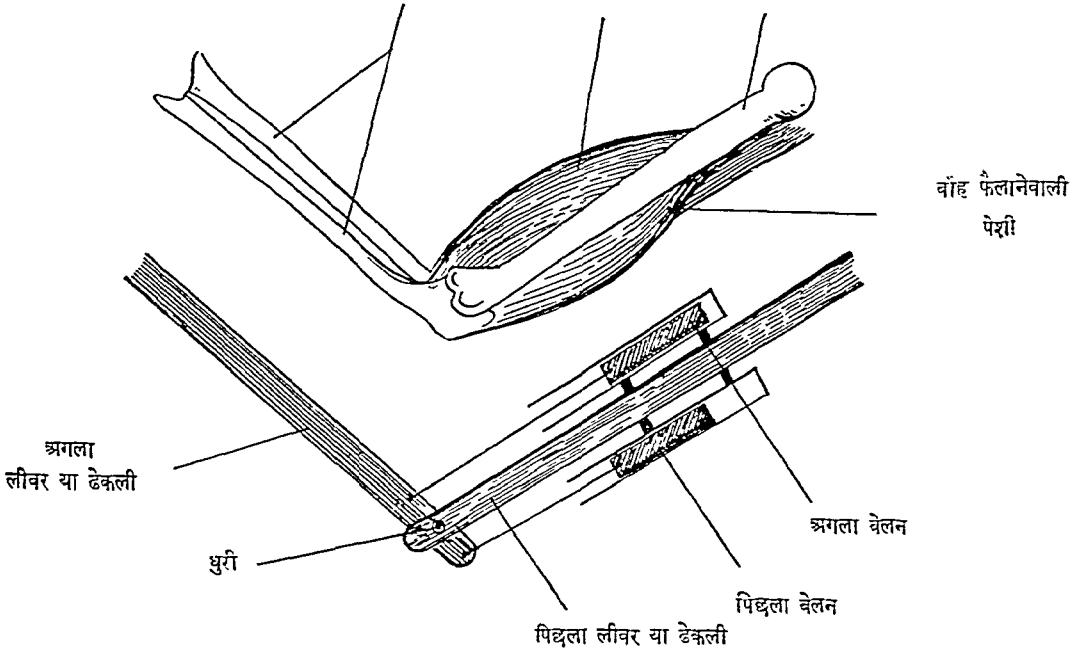
कुहनी पर बाँह फैलाने और सिकोड़नेवाली मांसपेशियों की उसी प्रकार के काल्पनिक इंजिन से तुलना

पेशियों को स्वस्थ रखने के लिए भोजन में उचित मात्रा में प्रोटीन (मांसवर्द्धक पदार्थ) का होना और यथेष्ट व्यायाम करना बहुत जरूरी है। कसरत ऐसी होना चाहिए, जिससे शरीर के सभी अंग थोडा-बहुत परिश्रम कर सकें। यह बात भी स्मरणीय है कि व्यायाम के साथ विश्राम भी अत्यन्त आवश्यक है। विश्राम न करने से पेशियो की शक्ति क्षीण होने लगती है।

मांसपेशियों की इंजिन से तुलना और उससे उनकी श्रेष्ठता

कल्पना कीजिए कि हम देहरादून से मंसूरी के लिए चल पड़े, आप मोटर-साइकिल पर और मैं पैदल। मेरी अपेक्षा

मांसपेशी तथा मोटर-साइकिल का इंजिन

जब हम शरीर की मांस पेशियों से मोटर-साइकिल के इंजिन की तुलना करते हैं तो पता चलता है कि इन दोनों में अनेक समानताएँ है। आइए, पहले हम मोटर-साइकिल के इंजिन के विभागों और उनकी क्रियाओं पर विचार करें। हमने अगले पृष्ठ पर उसका एक चित्र दिया है, जिसमें उसके विविध भागों की साधारण रूपरेखा समझाई गई है। इस चित्र के सब भागोंपर ध्यान देने से मांसपेशियों के इंजिनों में भी वैसे ही भागों को ढूंढ़ने मे सहायता मिलेगी।

मोटर-साइकिल का इंजिन एक प्रकार की बन्दूक है, जिसमें मुख्य भाग बंदूक की नली के बदले 'बेलन' कहा जाता है, और
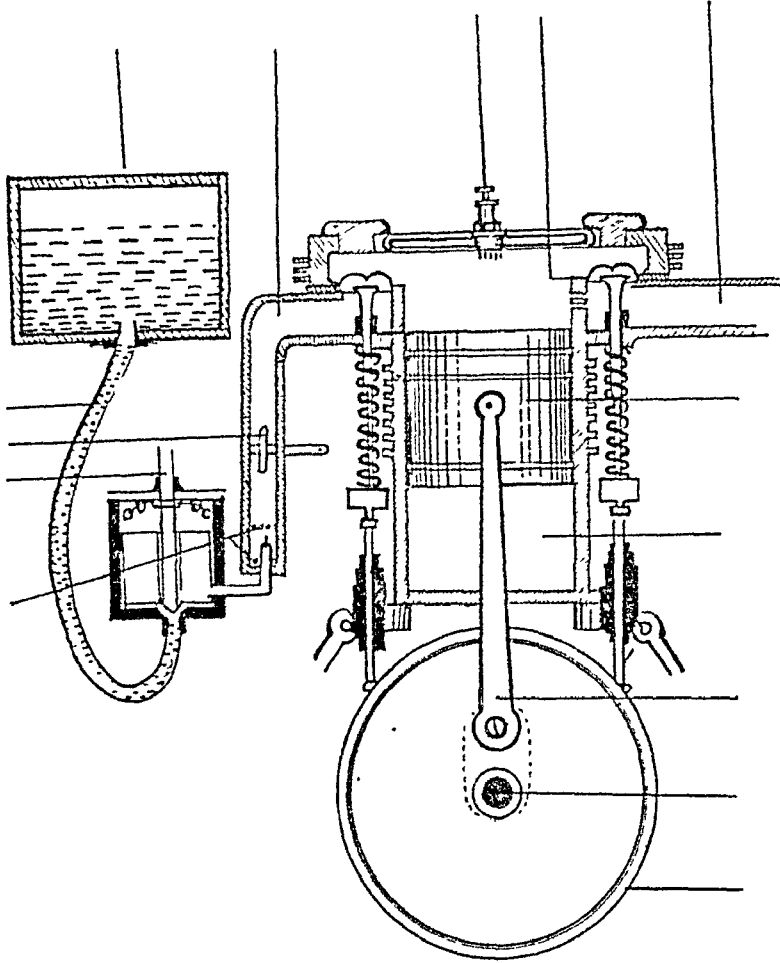
(ऊपर)
भीतरी दहन के सिद्धान्त पर चलने-वाले इंजिन की रचना
मोटर-साइकिल, मोटर-कार आदि में इसी सिद्धान्त पर निर्मित इंजिन प्रयुक्त होते हैं।
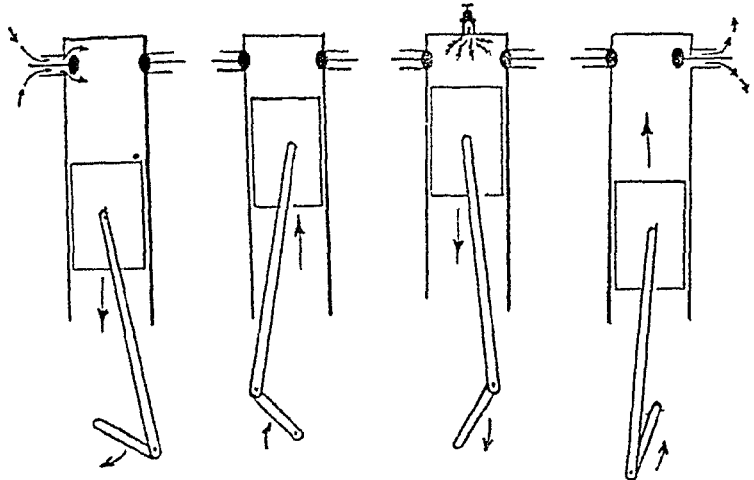
(दाहिनी ओर)
मोटर-साइकिल के इंजिन के भरने और चलने की चार क्रियाएँ
बंदूक के भी भरने और चलने के क्रम में इसी प्रकार की चार क्रियायें होती हैं।

बारूद के स्थान पर जिसमें पेट्रोल तथा वायु का विस्फोटक द्रव्य भरते हैं। इस फटनेवाले मिश्रण में, बंदूक की टोपी के स्थान पर बिजली की चिनगारी से आग लगाई जाती है। यह चिनगारी एक विशेष डाट या प्लग से निकलती है, जैसा कि आप पृ० ६२९ के चित्र में बेलन के ऊपर देख सकते हैं।

बेलन के भीतर एक पिस्टन या गट्टा होता है, जो बंदूक की नली के गोले के समान है। यदि यह गट्टा मुक्त होता तो गोली की तरह वह भी बेलन से निकल भागता, किन्तु वह मुक्त नहीं है। वह एक घूमनेवाले लीवर या धुरी की मोड़ की कील से दांतेदार छड़ द्वारा फँसा हुआ है। इसलिए जब विस्फोटक मिश्रण चिनगारी द्वारा दागा जाता है, तब पिस्टन गोली के समान हवा में न उड़कर अपनी संपूर्ण शक्ति लीवर को घुमाने में लगा देता है। चूँकि इंजिन की मुख्य धुरी मोटर-साइकिल के पहले पहिए से जुड़ी रहती है, अतः पहिया घूमने लगता है और मशीन को आगे ढकेलता है। यह इंजिन प्रति मिनट लगभग दो हजार बार खाली होता और भरता है, इसी से उसमें से फट-फट की आवाज निकलती है। इसके विपरीत हमारी मांस-पेशियाँ एक साथ ही भरती और खाली होती हैं।

अब देखें कि मोटर साइकिल के इंजिन के मुख्य भाग कैसे काम करते हैं। जब मुख्य धुरी की कीली घूमने पर पिस्टन को नीचे खींचती और फलतः पैट्रोल लानेवाली नली खुलती है, तब बेलन में पैट्रोल और हवा भर जाती है। अब यदि लीवर को थोड़ा और अधिक घुमा दिया जाय तो पिस्टन बेलन में ऊपर उठकर पैट्रोल और हवा के विस्फोटित मिश्रण को दबा देगा और तभी यह कहा जायगा कि इंजिन 'चार्ज्ड' हो गया है। पिस्टन की नीचे की गति को 'चार्ज' या आविष्टकरण क्रिया, और ऊपर की ओर की गति को दबाने की क्रिया कहते हैं। इस प्रकार जब इंजिन भर जाता है तब उसमें चिनगारी द्वारा आग लगाई जाती है। फलतः पिस्टन दूसरी बार नीचे को ढकेलता है। यही फटफटाने और पहिये को चलानेवाला धक्का है। पिस्टन के नीचे आने पर बेलन में जली हुई गैस रह जाती है, जो बाहर निकालनेवाली नली द्वारा तुरन्त बाहर निकल जाती है और बेलन फिर से भरा और चलाया जा सकता है। लीवर की छड़ पर एक घूमनेवाला पहिया लगा देने से वह घूमने लगता है और पिस्टन को ऊपर-नीचे करता जाता है। इस प्रकार इंजिन का बेलन बराबर भरता व खाली होता रहता है और मोटर-साइकिल आगे दौड़ती चली जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि इस भाँति के इंजिन में एक पूरे चक्र में चार क्रियाएँ या धक्के होते हैं। इनमें से केवल एक विशिष्ट क्रिया ही पहिए को संचालित करती और साइकिल को चलाती है। इसी से इंजिन खाली होता और भरता है। शेष तीन क्रियाओं या धक्कों में वह पम्प या पिचकारी के समान कार्य करता है। इसके प्रतिकूल हमारे मांसपेशी-रूपी इंजिनों को बनाने में प्रकृति ने बड़ी योग्यता से काम लिया है, जैसा कि हम आगे देखेंगे—उनमें कोई स्ट्रोक या धक्का बेकार नहीं जाता!

सामने की सहायक पेशी

पीछे की सहायक पेशी

भार

तलवे की गद्दी

पैर के तलवे की गद्दी और उसका तौल सँभालनेवाली पेशियाँ

इस व्यवस्था की तुलना दो बेलनवाले इंजिन से की जा सकती है।

पैरों को चलानेवाले पेशी-रूपी इंजिन

यह बताया जा चुका है कि हमारे शरीर के मांसपेशी-रूपी इंजिन हड्डियों के ढाँचे पर लगे रहते हैं। शरीर का यह ढाँचा मोटर-साइकिल के ढाँचे की तरह दिखाई नहीं देता, वह तो खाल और मांस के भीतर छिपा रहता है। हाँ, एक्स-रे द्वारा लिये गये शरीर के चित्र में आप उसे भली भाँति देख सकते हैं। हड्डियों से सम्बन्धित अध्याय में इस ढाँचे का एक चित्र पृ० ६३७ पर दिया गया है। उस पर दृष्टिपात करते हुए अब हम एड़ी को चलानेवाले पेशी-रूपी इंजिनों के कार्य करने की रीति पर विचार करेंगे। उनमें से एक है पिंडली की मांस-पेशी, जो दो भागों में विभक्त है। वह दो बेलनवाले इंजिन के समान है, जैसा कि बहुधा मोटर-साइकिलों में होता है। यह इंजिन एड़ी पर काम करता है (जो उसके लीवर या धुरी के मोड़ की कील है) और आगे कदम रखते समय एड़ी को एकाएक ऊपर उठा लेता

है। पृ० के ६३० चित्र में आप देख सकते हैं कि यह इंजिन एड़ी से उस प्रकार की छड़ द्वारा संयुक्त नहीं होता, जैसी कि पिस्टन और उसकी धुरी की कील के बीच में रहती है। वस्तुतः मांस के इस इंजिन को एडी से मिलानेवाली एक रज्जु होती है, जो पुट्ठा कहलाती है। यह पुट्ठा चीमड़ और लचीला होता है। इसके अतिरिक्त पेशी-इंजिन खीचनेवाले होते हैं, जबकि मनुष्यकृत इजिन ढकेलनेवाले हैं। इसमें एक बड़ी सुविधा है। यदि हमारे शरीर में इन लचकदार इंजिनों की जगह ढकेलनेवाले इंजिन होते तो हम कछुए के समान कड़े और कठोर होते और अपने शरीर की सारी शोभा एवं कोमलता खो बैठते। पृष्ठ ६३३ परदिये गये चलते हुए मनुष्य के चित्र कोदेखिए। उसमें आपको दिखाई देगा कि शरीर का भार बायें पैर पर है, दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई है और वह पैर आगे बढ़ कर जमीन पर आने ही वाला है। यदि यह चित्रित मनुष्य चल सकता तो हम देखते कि जैसे ही उसका दाहिना पैर जमीन पर आता, वैसे ही बाईं पिंडली के पेशी-इंजिन काम करने लगते। साथ ही बाईं एड़ी उठ जाती और शरीर का बोझ आगे बढ़ जाता। एड़ी के उठते ही वे तीन मांसपेशी-रूपी इंजिन, जो पैर के पिछले भाग में होते हैं, चालू हो जाते; साथ ही अपने लम्बे पुट्ठों द्वारा (जो तलवे में होते हुए उँगलियों और अन्य छोटी हड्डियों तक पहुँचते हैं) पैर को स्थिर करने और ऊपर उठाने में अपनी पूरी शक्ति लगा देते।

टाँग की बाहरी ओर की माँसपेशियाँ भी पैर को दृढ़ रखने में सहायक होती हैं। एड़ी उठाने पर पैर का अगला भाग जमीन पर दब जाता है और उसकी हड्डियों पर अधिक तनाव पड़ता है। इसीलिए ये हड्डियाँ मेहराब की तरह लगी रहती हैं और छोटी-छोटी पेशियों की एक गद्दी से भरी होती है। यदि पैर के मांसपेशी-रूपी इंजिन उन्हें ऊपर को खींचकर सहारा न देते और तलवे की गद्दी न होती तो संभव है कि चलने के परिश्रम से यह मेहराब झुक या टूट जाती। जब हम आगे कदम बढ़ाते हैं, तब हमारी एड़ी उठती है तथा घुटने और कूल्हे झुक जाते हैं और आगे बढ़कर जब पैर जमीन पर पड़ता है, तब पहले एड़ी धरती को छूती है और तब उँगलियाँ। इस क्रिया में इस अंग के ५४ मांसपेशी-रूपी इंजिनों में से सभी काम करते हैं—कुछ अल्प समय तक और कुछ अधिक देर तक। पर ये सभी ठीक समय पर अपना काम करते हैं और बिना किसी प्रकार की अड़चन के उचित चाल और बल सहित अपनी क्रिया करते रहते हैं। इन सबका नियंत्रण करनेवाली कल कैसी अद्भुत होगी! जरा इसबात का रहस्य समझने के लिए इस तथ्य पर ध्यान दें कि जब कोई भी व्यक्ति चार मील प्रति घंटे के हिसाब से चलता है तब एड़ी उठाकर जमीन पर रखने में उसे केवल आधा सेकण्ड समय लगता है। उस आधे सेकण्ड में ही चौवनों इंजिन असंख्य बार चलते, रुकते और द्रुत तथा मन्द होते हैं!

इनके अतिरिक्त चलते समय नितम्ब आदि की भी अनेक मांसपेशियाँ कूल्हे के जोड़ पर काम करती हैं। किन्तु इस समय हम इनकी ओर ध्यान न देते हुए एक ऐसे पेशी-समूह का वर्णन करेंगे जो कि पैर को झटके के साथ नीचे गिरने से बचाता है। इन विचित्र मासपेशियों को, जो पैर की उँगलियों तक फैली हुई हैं, आप टखनों के आगे टटोल सकते हैं। जब ये मांसपेशियाँ चालू होती हैं तो वे लघु तथा मोटी होकर उस धुरी के मोड़ की कील या लीवर को खींचती हैं, जिससे कि वे लगी रहती हैं। टाँग के सामने की ये मांस-

पुट्ठा — बाँह की मांस-पेशी (दो बेलनवाला इंजिन) — स्नायु — रक्त-नली
रक्त-शिरा (=बाहर निकालने की नली) — रक्त-धमनी (=पेट्रोल-नली) — हृदय (=पेट्रोल-टंकी)

बाँह की द्विशिरस्का पेशी (या दो बेलनवाला इंजिन) और उसको चलानेवाले भाग

कोष्ठों के भीतर दो बेलनवाले इंजिन के भाग निर्दिशित हैं, जिनसे पेशी के भागों की तुलना की जा सकती है।

पेशियाँ चालू होते ही पैर के अगले भाग को जमीन पर धीरे से लाकर आगे बढने मे सहायता देती हैं। अपनी इस उल्टी क्रिया से ये मांसपेशियाँ मानों साधनेवाली रस्सियों या गति-रोधक यंत्र (ब्रेक) का काम देती हैं। जब हमें किसी बहुत ढलुवा पहाड़ी पर से काफी दूर तक या देरी तक उतरना पड़ता है तो हमारी टाँगो के अगले भागों में पीड़ा होने लगती है। इसका कारण यह है कि ढाल के कारण हमें पैर के अगले भाग को हर एक कदम पर अधिक समय तक साधे रखना पड़ता है। इससे वे पेशियाँ या इंजिन, जो उँगलियो को गिराते है, थककर दुखने लगते है। यही घटना उन स्त्रियों के साथ घटती है, जो पहली बार ऊँची एड़ी के जूते पहनती हैं! जब धीरे-धीरे उनकी पेशियों को इस कार्य को करने का अभ्यास हो जाता है, तब यह पीड़ा नही होती।

एक पैर में कितने इंजिन काम आते हैं?

अभी तक हमने केवल पैर के उठने की क्रिया ही पर विचार किया है। लेकिन जब हम चलते हैं तब एक टाँग आगे बढती है और दूसरी स्थिर रहकर शरीर को साधे रहती है। उस समय स्थिर पैर के इंजिन क्या करते रहते है? आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वे भी चालू होकर एक निपुण नट का-सा अद्भुत कार्य किया करते है। इस स्थिति में शरीर का सारा भाग दाहिनी जाँघ की हड्डी के ऊपरी चिकने गोले पर पड़ता है। इस गोले को साधने में वे पन्द्रह मांस-पेशियाँ, जो कूल्हे के जोड़ को घेरे रहती है, चालू होकर एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने लगती है। ये साधनेवाले इंजिन कूल्हे की हड्डी से लीवर का काम लेते हैं। जैसे ही शरीर आवश्यकतानुसार जरा भी इधर-उधर झुकता है, उचित पेशियाँ शीघ्रता से चालू होकर उसे साध कर सीधा कर देती है। इन पेशियो को घुटने के जोड़ को भी साधना और वश मे रखना पड़ता है। इसलिए जब एक टाँग आगे बढ़ती है, तब स्थिर अंग की समस्त मांस-पेशियाँ एक आवश्यक निश्चित सीमा के भीतर कार्य करने लगती हैं। इस प्रकार एक कदम उठाने पर नीचे के अंगों के एक सौ आठ पेशी-रूपी इंजिनों में से प्रायः प्रत्येक इंजिन एक निश्चित तथा नियमित ढंग से आश्चर्यजनक विधि से चालू हो जाता है।

यह विचार भ्रममात्र है कि चलते समय केवल पैरों की ही मांस-पेशियाँ काम करती हैं। वस्तुतः शरीर का एक और अति आवश्यक अंग (अर्थात् रीढ़ की हड्डी) की मांस-पेशियाँ भी चलते समय हमें सीधा और संतुलित रखती हैं। जब हमें विशेषकर किसी गरमी के दिन या कठिन मार्ग पर साधारण से अधिक दूरी तक चलना पड़ता है, तब सहज ही हमारे मन में कुछ देर बैठकर सुस्ताने की इच्छा होती है। इससे हमारी टाँगों और जाँघों की थकी हुई मांस-पेशियों को (अथवा आवश्यकता से अधिक गरम इंजिनो को) विश्राम पाने अथवा ठंडा होकर पुनः अपनी शक्ति प्राप्त करने का सुअवसर मिल जाता है। ऐसी स्थिति में केवल बैठ जाना ही पर्याप्त नही होता, बल्कि आगे झुककर शरीर को घुटनों पर टेकने या किसी पेड़ या दीवार के सहारे लग जाने मे हमें अधिक आराम और आनन्द मिलता है। बहुत थक जाने पर हम जमीन पर लेट जाते है, क्योकि इससे और भी अधिक सुख मिलता है। इससे यह सिद्ध है कि चलते समय पैरों ही की नही बल्कि पीठ की भी मांस-पेशियाँ थकती हैं और उन्हें विश्राम की आवश्यकता होती है। यह भी एक अति मनोरंजक बात है कि केवल खड़े रहने या चलने के समय ही पीठ की पेशियाँ काम नहीं करती बल्कि बैठे रहने में भी उनका उपयोग होता है! इस बात को सभी जानते है कि एक-सा सीधा बैठकर देर तक काम करना कितना कठिन कार्य है। थोड़ी ही देर में यह इच्छा होती है कि
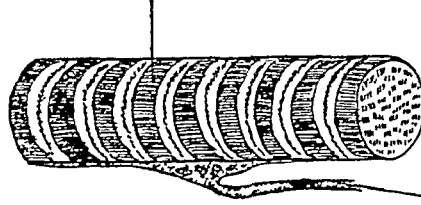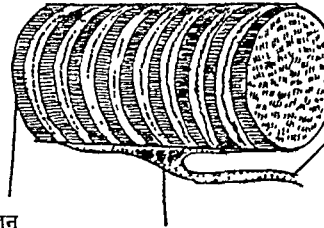
तने हुए एवं संकुचित मांस-बेलन

पेशी के मांस-बेलनों से संबद्ध स्नायु-सूत्र या नाड़ियाँ इनके भीतर होने-वाली दहन-क्रिया को मंद अथवा तीव्र करके नियंत्रित करते रहते है। उन्ही के प्रभाव से पेशियाँ तन अथवा सिकुड़ जाती है।

पीछे को झुककर सहारा ले लें या मेज पर आगे को झुककर हाथों पर सिर रख लें, अथवा इधर-उधर अँगड़ाइयाँ लें। इन सब बातों में हमें आराम मिलता है। एकबारगी देर तक सीधा बैठने में हमें इतनी थकान क्यों मालूम होती है? आगे चलकर यह बताया गया है कि हमारी रीढ़ की हड्डी चौबीस गद्दीदार टुकड़ों से बनी है। चलते समय ये चौबीसों कशेरुकायें, उनके काँटे और उनसे निकली हुई बेड़ी हड्डियाँ एक-दूसरे के ऊपर सधी रहती हैं। प्रत्येक कदम पर शरीर का तौल बदलता रहता है। यदि इन चौबीसों जोड़ों को ठीक से साधे रहने का उपाय न हो तो कशेरुकाओं का स्तम्भ इधर-उधर गिर जाय। पेशीरूपी इंजनों की एक बड़ी संख्या रीढ़ की हड्डी को इधर-उधर घुमा-फिराकर हमारे शरीर को सीधा रखती है। इन मांस-पेशियों की सहायता के लिए बीसियों छोटे-बड़े लीवर, दाहिनी और बाँयीं बेड़ी हड्डियाँ, काँटे और पसलियाँ हैं। प्रत्येक कशेरुका में तीन से पाँच तक लीवर और छः कार्यकर्ता इंजिन होते हैं, जो उन्हें आवश्यकतानुमार इधर-उधर आगे-पीछे झुकाते या मोड़ते रहते हैं।

वजन उठाकर चलते समय काम आनेवाली प्रमुख मांस-पेशियाँ

यह एक भारी वजन उठाकर चलने के लिए तत्पर मनुष्य का रेखाचित्र है, जिसमें वे मुख्य-मुख्य मांसपेशियाँ दिखाई गई हैं। जो इस प्रकार चलने की क्रिया में योग देती हैं।

इस प्रकार रीढ़ की हड्डी का संतुलन रखने के हेतु १४४ इंजिनों का जटिल यंत्र जाल हमारे शरीर में है, जिसका हम प्रत्येक कदम पर प्रयोग करते हैं!

हमने पैरों में एक सौ आठ और पीठ में एक सौ चवालिस मास-पेशी रूपी इंजिन गिने! किन्तु चलने में केवल इतने ही प्रयुक्त नहीं होते। सिर को ऊपर की कशेरुका पर संतुलित रखने के लिए बीस और मांस-पेशियों की आवश्यकता पड़ती है। देर तक चलने, खड़े होने, या बैठने पर हमारे कंधे दुखने लगते हैं और चलते समय बाँहें हिलने लगती हैं। कारण, उनकी मास-पेशियाँ, जो उन्हें सीधा रखती हैं, थक जाती हैं।

नवशिशु को चलना सीखने में क्यों देर लगती है?

इन सब बातों से आप समझ सकते हैं कि वास्तव में हमारा शरीर कैसा पेचीदा यंत्र जाल (मशीन) है। यही कारण है कि छोटे शिशुओं को चलना सीखने में काफी समय लगता है। जब तक वे लगभग तीन सौ इंजिनों के इस यंत्र जाल का समाधान कर उसे वश में नहीं कर पाते, तब तक ठीक से नहीं चल सकते। ऐसा करने में उन्हें काफी समय लग जाता है।

हमने यह तो देख लिया कि मोटर-साइकिल और मानवीय शरीर दोनों में ही चलने की शक्ति है और दोनों में लीवर या धुरी पर चलनेवाले इंजिन है, जिनसे कल या मशीन आगे-पीछे या इधर-उधर चलती है। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि इन दोनों में मोटर-साइकिल की रचना साधारण है, कारण उसमें ३०० के स्थान पर केवल एक ही इंजिन है। यदि हम अपने शरीर के पेशी-रूपी सभी इंजिनों को इकट्ठा तौलें तो उनका बोझ लगभग २८ सेर होगा। अनुमानतः एक साधारण मोटर-साइकिल के इंजिन का भी तौल लगभग इतना ही होता है। किन्तु मोटर-साइकिल है कि ये एक ऐसे विचित्र प्रकार के पहिये हैं, जिनमें दो ही आरे (या टाँगें) हैं। उन आरों में नाह कूल्हे के जोड़ हैं तथा घेरे पग हैं। जहाँ मोटर-साइकिल के पहिए के आरे गोलाई में जड़े होते हैं और क्रमानुसार वे जमीन पर आते हैं, वहाँ हमारे दोनों आरे इसके विपरीत अलग-अलग चलते हैं—पहले एक आगे बढ़ता है, तब दूसरा। इस तरह उनसे बारहों आरों का काम निकल आता है। कह सकते हैं कि वास्तव में चक्र के रूप में लगी हुई कई टाँगों और पगों का ही नाम पहिया है। बहुत से आरोंवाला मोटर-साइकिल का पहिया निःसंदेह एक बहुत अद्भुत आविष्कार
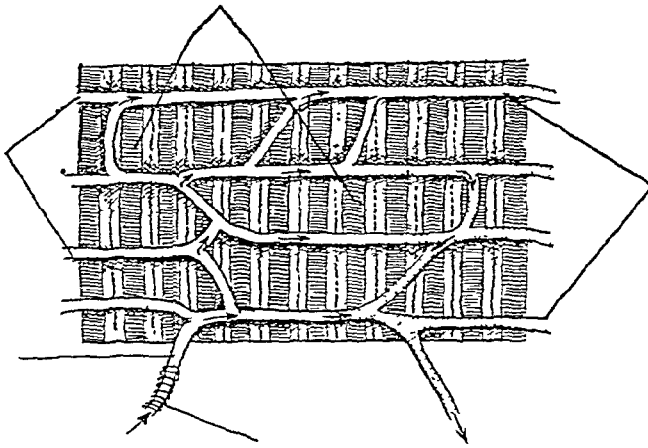
मांस-बेलनों में केशिकाओं का फैलाव

जैसा कि अगले पृष्ठ पर दिए गए विवरण में समझाया गया है, प्रत्येक पेशी को बनानेवाले अनगिनत मांस-बेलनों के भीतर फैली हुई सूक्ष्म रक्त-कोशिकाओं के प्रवाह का नियंत्रण करके प्रकृति उनमें उचित ताप बनाये रखती है।

के उस एक इंजिन की शक्ति कहीं अधिक होती है, कारण तेज से तेज दौड़नेवाले व्यक्ति की अपेक्षा भी उसकी गति चौगुनी-पाँच गुनी अधिक होती है। इसी से वह अकेले इतना बोझा खींच सकता है, जिसे २० मनुष्य भी कठिनाई से खींच सकें। तब प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं हमारा शरीर भी एक ही इंजिन लगाकर पहियों पर चलाया गया? इसका उत्तर यह है कि हमें काफी लचीले और अधिक संख्या में इंजिनों की आवश्यकता है। यह हमारे अनुकूल नहीं कि हमारे शरीर का ढाँचा मोटर-साइकिल के ढाँचे के समान कड़ा हो! रही पहियों की बात सो वास्तव में मनुष्य का शरीर भी एक प्रकार के पहियों पर ही सुसज्जित है। अंतर यही है! किन्तु दो गतिशील आरोंवाला मानवीय शरीर का पहिया उससे भी अधिक आश्चर्यजनक है! मोटर-साइकिल तेज तो अवश्य जा सकती है, किन्तु वह मनुष्यों की तरह हर प्रकार के प्रदेश में नहीं दौड़ सकती। खाइयाँ कूदना, झाड़ियाँ पार करना, पेड़ों पर चढ़ना, इत्यादि मनुष्य के शरीर-यंत्र में लगे हुए पैर-रूपी अद्भुत पहियों के ही बस का काम है!

मांसपेशी-रूपी इंजिन कैसे काम करते हैं?

आइए, अब हम देखें कि मांसपेशी-रूपी इंजिन कैसे काम करते हैं। उदाहरणार्थ, दाहिनी बाँह के सामने की द्विशिरस्का पेशी को लीजिए। यदि आप उसे बाँयें हाथ से जोर

से दबाकर मोड़ें और दाहिने हाथ को सिर की ओर उठायें तो अनुभव करेंगे कि वह पहले की अपेक्षा अधिक मोटी, कड़ी और छोटी हो गयी। यही दशा प्रत्येक मांसपेशी की होती है, जब कि वह चालू की जाती है। यह मांसपेशी पृ० ६३१ के चित्र में प्रदर्शित है। उसके ऊपर के दो छोर कंधे की हड्डी से लगे होते हैं और निचला छोर--पुट्ठा या पिस्टन की छड़--मुख्यत: कोहनी के आगे की बाँह की भीतरी हड्डी से लगा होता है। अगली बाँह उसके लीवर का काम देती है। इसलिए जब हम उसे चालू करते हैं तब यह लीवर अगली बाँह और हाथ को ऊपर उठा लेता है, जिससे कि कुहनी मुड़ जाती है। इसके अतिरिक्त बाँह की भीतरी हड्डी को घुमाकर वह हथेली को नीचे-ऊपर भी मोड़ सकता है।

पेशियों का ताप किस प्रकार ठीक रहता है !

प्रत्येक इंजिन के पिस्टन की फेंक (स्ट्रोक) का विस्तार निश्चित है, किन्तु द्विशिरस्का जैसे पेशी-इंजिनों में यह बंधन नहीं होता। हम उस पेशी से बाँह को पूरी या इंच के बारहवें भाग तक भी मोड़ तथा फैला सकते हैं। इसलिए यांत्रिक इंजिनों से वह कहीं उत्तम है। हमारे इंजिन में एक और रोचक तथा उत्तम विशेषता है। मोटर का इंजिन तेजी से चलाने पर बहुत गरम हो जाता है और ऐसा बिगड़ जाता है कि फिर उस समय काम नहीं देता। अत: बेलन को बहुत गरम होने से रोकने के लिए उसके चारों ओर ठंडे पानी या ताजी हवा को बहाने का प्रबंध किया जाता है। इस पर भी इनमें से कोई भी उपाय पूर्ण रूप से ठीक नहीं उतरता। शीतकाल या वर्षा-ऋतु में प्राय: भीग जाने पर मोटर का इंजिन इतना ठंडा हो जाता है कि पैट्रोल ठीक से जल ही नहीं पाता, फलत: मोटर-साइकिल या कार आसानी से नहीं चल पाती। ऐसी दशा में पिस्टन को गरम करने के हेतु कार या साइकिल को कुछ दूर तक धकेलवाना पड़ता है। इसीलिए चतुर चालक जब वर्षा या शीतकाल में मोटर खड़ी करता है तब इंजिन को गरम कपड़े से ढक देता है। अभी तक कोई ऐसा उपाय नहीं ढूंढा जा सका है, जिससे कि धातु का इंजिन संतुलित ताप पर रक्खा जा सके। परन्तु प्रकृति ने इस समस्या पर भी विजय पा ली है। साधारणतया जीवित शरीर का ताप लगभग ९८°फा० ही रहता है, चाहे हम लेटे या बैठे रहें, खड़े हों या दौड़ते रहें, अथवा गरम प्रदेश में हों या ठंडे में। इसीलिए मांसपेशी-रूपी इंजिन कभी अत्यधिक गरम नहीं हो पाते और कदाचित् ही अति शीतल होते हैं।

हमारे पास पेशियों के ताप को ठीक रखनेवाली बड़ी अद्भुत व्यवस्था है। यद्यपि अभी तक हम द्विशिरस्का पेशी को दो बेलनवाले इंजिन की उपमा देते आए हैं, परन्तु वास्तव में उसको बनानेवाले अनगिनत सूत्रों में से हर एक एक बेलन है। ये अति सूक्ष्म हजारों बेलन अगल-बगल कतारों में छोर से छोर मिलाये हुए सजे रहते हैं, तथा सब एक ही पिस्टन तथा पुट्ठे पर काम करते हैं। यह स्पष्ट है कि इन बेलनों में कोई दहन-कोष्ठ (या कार्बुरेटर) नहीं होता। उसके बदले इनमें एक अर्धतरल सजीव वस्तु भरी रहती है। यद्यपि उनमें धातु के इंजिनों के बेलनों की-सी कड़ी दीवाल नहीं होती, तथापि नि:सन्देह उनमें दहनक्रिया रहता रहता है। इन बेलनों में जिस भाँति रक्त-प्रवाह होता है, उसे पृ० ६३४ के चित्र में दिखाया गया है। रक्त की सदा बहनेवाली यह धारा ही प्रत्येक बेलन का उचित ताप बनाये रखती है। जैसे ही वे उस ताप से अधिक गरम होते हैं, रक्त उन्हें ठंडा कर देता है। जब वे उससे अधिक ठंडे हो जाते हैं तो उसी से गरम भी हो जाते हैं। जैसा कि पृ० ६३२ के चित्र (संकुचित या तने हुए मांस-बेलन के चित्र) में दिखाया गया है, यहीं में स्नायु-सूत्र समाप्त होते हैं। ये नाड़ी-कोशिकाएँ ही नियंत्रण द्वारा उपर्युक्त दहन-क्रिया को मन्द या तीव्र करती हैं।

हमारे शरीर का सुदृढ़ लचीला आधार—अस्थिपंजर

तनिक सोचिए कि यदि हमारे शरीर में से हड्डियाँ एकाएक गायब हो जाएँ तो हमारी कैसी दुर्दशा हो ! क्या उस समय हम अपनी सारी शक्ल-सूरत खोकर केवल मांस का एक लोथड़ा-सा बनकर ढेर न हो जाएँगे ? परन्तु हड्डियाँ केवल हमारे शरीर को साधने या टिकाए रखने का ही काम नहीं करतीं, उनके और भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य हैं।

सम्पूर्ण शरीर पर मढ़ी हुई खाल और उसके नीचे रहनेवाली मांस-पेशियों की रचना और उनके अद्भुत कर्त्तव्यों का रोचक विवरण हम आपको सुना चुके हैं। अब हम आपका ध्यान हड्डियों के उस ढाँचे की ओर ले जाना चाहते हैं, जो मांस के नीचे छिपा हुआ है। यह तो आप सब जानते ही हैं कि शरीर को टटोलने पर मांस के नीचे जो कड़े भाग जान पड़ते हैं, वही हड्डियाँ हैं। यह बात भी सर्वविदित है कि हाथ-पैर, उँगली और खोपड़ी

की हड्डियाँ एक-सी नहीं है। क्या आपने कभी यह सोचा है कि बाँह के अगले हिस्से को तो आप कोहनी से घुमा सकते है, लेकिन अगली टाँग को आप घुटने पर क्यों नहीं मोड़ सकते ? आपको यह तो मालूम होगा कि शरीर में कई हड्डियाँ है, किन्तु कदाचित् आप में से बहुतों को यह सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होगा कि इन हड्डियों की संख्या २०० से भी अधिक है और वे सब हमारे शरीर में कई आवश्यक कार्य करती है। इस लेख में हम इन्हीं का रोचक वर्णन करने जा रहे है।

हड्डियों का आकार-प्रकार भिन्न क्यों है ?

अधिकतर जीवो मे हड्डी एक नितान्त आवश्यक वस्तु है। जिस प्रकार प्रत्येक पेचीदा यंत्र में अवश्य ही उसका एक ढांचा होना है, जिस पर उसके भिन्न-भिन्न पुर्जे सधे रहते है, उसी भाँति शरीर-रूपी कल में भी एक मजबूत ठठरी है, जिसे कंकाल या अस्थि-पंजर कहते है। यह ठठरी बहुत-से टुकड़ों या हड्डियो से बनी हुई है। यदि हम शरीर से खाल, मास और अन्य कोमल अंगों को काट-छाँटकर निकाल दें तो हड्डियों की यह ठठरी ही शेष बच रहेगी। उसके सामने और बगल से लिये गए चित्र इसी पृष्ठ के सामने बने हुए है। इन्हें देखने से आपको समझ में आ जायगा कि इस ढाँचे में बहुत-सी भिन्न-भिन्न आकारों की हड्डियाँ है, जो कि ठठरी में सिर से लेकर पैर तक फैली हुई है। ये असंख्य हड्डियाँ सब एक-सी ही नहीं है। वास्तव मे यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि सब हड्डियाँ भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की है, उनमें से कोई भी किसी से मिलती नही। कुछ खोखली है तो कुछ ठोस; कुछ बहुत पतली है तो कुछ बहुत मोटी; कुछ बिल्कुल नन्ही-सी है तो कुछ बहुत लम्बी; कुछ सीधी है तो कुछ टेढ़ी या घुमावदार। ऐसा क्यों है ? उदाहरण के लिए कलाई, हाथ और उँगलियों की हड्डियो पर ही ध्यान दीजिए। ये हड्डियाँ आपस मे जिस रीति से मिली हुई है, वह पेचीदा अथवा असाधारण प्रतीत होती है; किन्तु यह निश्चित समझिये कि इस ढाँचे का प्रत्येक भाग कोई-न-कोई उपयोगी काम देता है और हर एक की रचना ऐसी की गई है कि वह अपना काम पूर्ण योग्यता से कर सके। हाथ और कलाई की हड्डियों के तेरहों टुकड़े इतनी सुन्दरता से एक-दूसरे के साथ मिलाये गये है कि जब हम कलम से लिखते है, हथौड़ा चलाते है, सुई से सीते है, भीगे हुए कपड़े को निचोड़ते है, शरीर को धोते है, या अन्य हजारों कठोर या सुकुमार कार्य अपने हाथों से लेते है, तब ये हड्डियाँ बड़ी सुन्दरता से मिल-जुलकर वह सारा काम कर लेती है। इनसे अच्छे कोई भी प्रबंध का सोचना या ध्यान मे आना असम्भव-सा जान पड़ता है। यदि इन हड्डियों की संख्या कम होती तो हथौड़ा या और कोई भारी औजार चलाने पर हमें ऐसा धक्का लगता कि कदाचित् उसे हमारा हाथ सहन कर पाता और शायद वह टूट जाता।

हड्डियों के पारस्परिक अन्तर का इससे भी मनोरंजक उदाहरण हमें ऊपरी और निचली बाँह की अस्थियों में दिखलाई पड़ता है। ठठरियो के चित्र में दिखलाई पड़ रहा है कि ऊपरी बाँह में तो एक ही हड्डी है, किंतु नीचेवाली बाँह में दो हड्डियाँ है। यह क्यों ? जब भुजा के ऊपरी भाग में एक हड्डी से काम चलता है, तो नीचेवाली में दो की आवश्यकता क्यों है ? क्या प्रकृति से कोई भूल हो गई है ? नही। नीचे की बाँह में दो हड्डियों के होने से ही हम सारी घुमाने-मरोड़नेवाली गतियाँ कर सकते है। यदि उसमें ऊपरी बाँह के समान एक ही हड्डी होती तो हम न तो दीवाल-घड़ी में चाभी ही लगा पाते और न पेचकश से ही काम ले सकते थे। इस प्रकार के बहुतेरे मरोड़ने और ऐंठनेवाले काम करना हमारे लिए उस हालत में दुष्कर हो जाता। यही बात टाँग की हड्डियो के विषय में भी कही जा सकती है।

अन्य हड्डियों के भी आकार और रचना के भिन्न-भिन्न होने के ऐसे ही अनेक कारण है। खोपड़ी, सीने और कन्धे की सभी हड्डियाँ चपटी है। भुजाओं और टाँगों की हड्डियाँ लम्बी, गोल और खोखली है। रीढ़ की हड्डियाँ ऐसी है कि उनकी गिनती न चपटी हड्डियों में ही हो सकती है और न लम्बी में ही। चपटी हड्डियाँ वहीं है, जहाँ भीतर के आवश्यक यन्त्रों की रक्षा करनी होती है। शरीर का सबसे मूल्यवान अवयव मस्तिष्क खोपड़ी की चपटी हड्डियो के अन्दर ही बंद है। इसी तरह सीने की हड्डियों से हृदय, फेफड़े जैसे जरूरी अंग सुरक्षित है। जिन अंगों को हिलाने-डुलाने की आवश्यकता पड़ती है, उनकी हड्डियाँ लम्बी है। परन्तु इस ख्याल से कि पेशियाँ उन्हें सहज में चला-फिरा सकें, वे पोली रक्खी गई है, ताकि उनका बोझ न बढ़े। प्रकृति ने शरीर के हर एक भाग की हड्डी को उस भाग के कार्य के उपयुक्त ही बनाया है।

हड्डियाँ क्या करती हैं ?

आइये, अब हम यह जानने की कोशिश करें कि हड्डियों से बने हुए ढाँचे के और क्या-क्या काम है। ढाँचे का सबसे पहला कर्त्तव्य शरीर को साधे रहना और उसके रूप को स्थिर बनाये रखना है। यही कारण है कि अधिकांश जीवों में
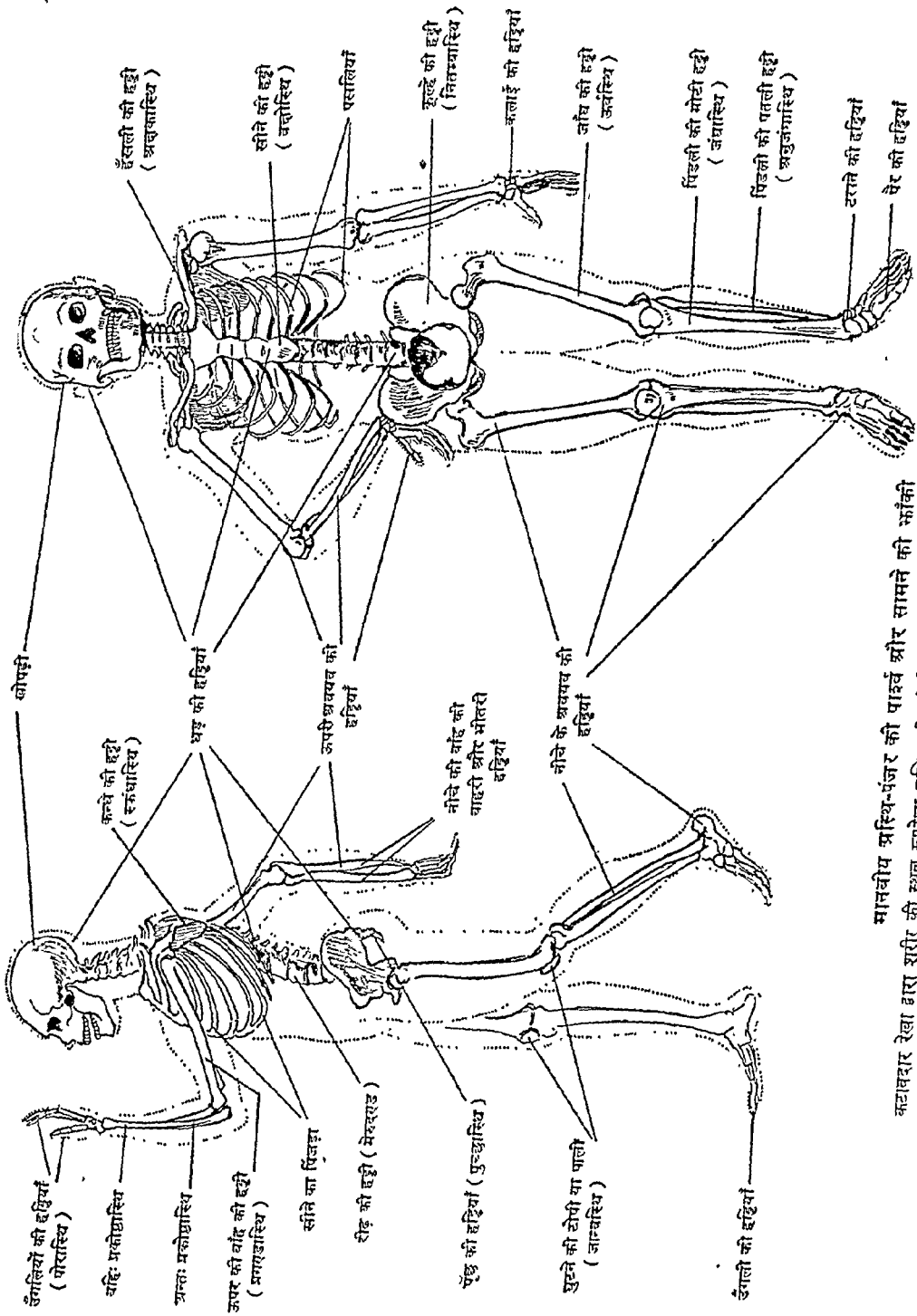
मानवीय अस्थि-पंजर की पार्श्व और सामने की झाँकी

कटावदार रेखा द्वारा शरीर की स्थूल रूपरेखा सूचित की गई है। उसके घेरे के भीतर अस्थि-पंजर दिग्दर्शित है।

अस्थि-पंजर की उपस्थिति नितांत आवश्यक है। यदि किसी अदृश्य शक्ति द्वारा हाथी-घोड़े अथवा मनुष्य के शरीर की हड्डियां सहसा गायब कर दी जायँ तो कल्पना कीजिए कि उस प्राणी की क्या दशा हो जायगी! वह न सिर्फ अपनी शक्ल-सूरत खोकर मांस का एक लोथड़ा बन जायगा बल्कि हड्डी के बिना उसका शरीर ऐसा लाचार हो जायगा जैसे कि पानी के बाहर मछली। अगर शरीर में हड्डियां न होतीं तो न वह सीधा खड़ा हो सकता और न तेजी से चल-फिर ही सकता। इसलिए हड्डियों का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य शरीर के आकार को स्थिर बनाये रखना है और उसका दूसरा काम शरीर के महत्वपूर्ण अंगो की रक्षा करना है। अनेक हड्डियों के संमिलन से ही हमारे शरीर मे दो मुख्य ढांचे या सन्दूक-से बन गए है, जिनमें हमारे शरीर के सबसे जरूरी अंग सुरक्षित है। शरीर का सर्वोत्तम अवयव मस्तिष्क कैसी सुदृढ खोपड़ी में बन्द है! उससे निकलनेवाली महत्वपूर्ण सुषुम्ना नाड़ी भी, जो सारे शरीर के कार्यो का नियंत्रण करती है, हमारी रीढ़ की मजबूत खोखली गुरियों में से होकर जाती है। कान और आँखें भी इसीलिए खोपड़ी के गड्ढों में घुसे हुए है कि सहज में उन्हें चोट न लग जाय। पसलियां और सीने की हड्डी तो मिलकर एक पिंजडे का-सा काम देती है, जिसमें हृदय और फेफड़े जैसे कीमती अंग सुरक्षित हैं। यदि ये आवश्यक अंग हड्डियों के कोष्ठ या पिंजड़े में सुरक्षित न होते तो बात की बात में वह टूट-फूट जाया करते और शरीर बेकार हो जाता। हमारी हड्डियो का तीसरा काम यह है कि उनसे पेशियां जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार हड्डियों से जुड़े रहने ही के कारण वे शरीर के अंगों में गति या चाल पैदा करती है। जोड़दार हड्डी-वाले जानवरों में पेशियां जोड़ों ही के ऊपर सिकुड़ या फैलकर अपना काम करती हैं और उन्हे इधर-उधर सरकाती तथा मोड़ सकती हैं। इसी प्रकार उन्हें अपने चलने-फिरने तथा अन्य कामों को करने के लिए शक्ति प्राप्त होती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण टाँग और हाथ की हड्डियां है। वे एक दूसरे के साथ
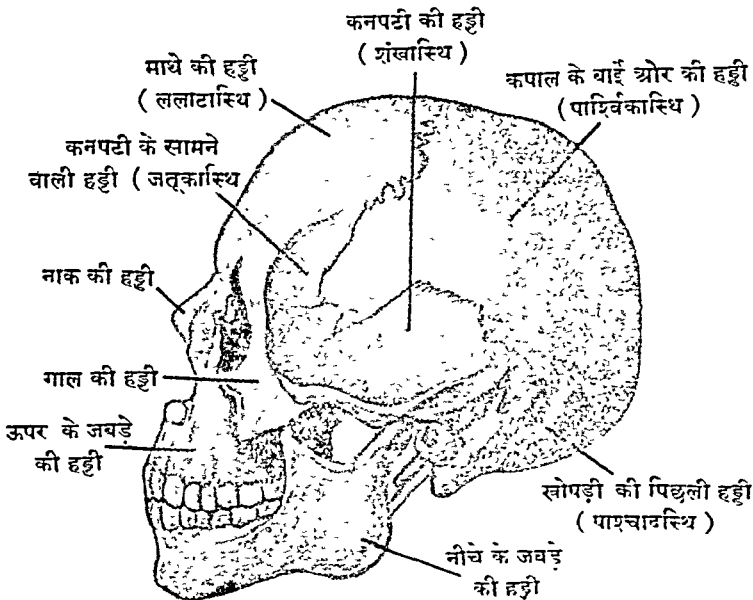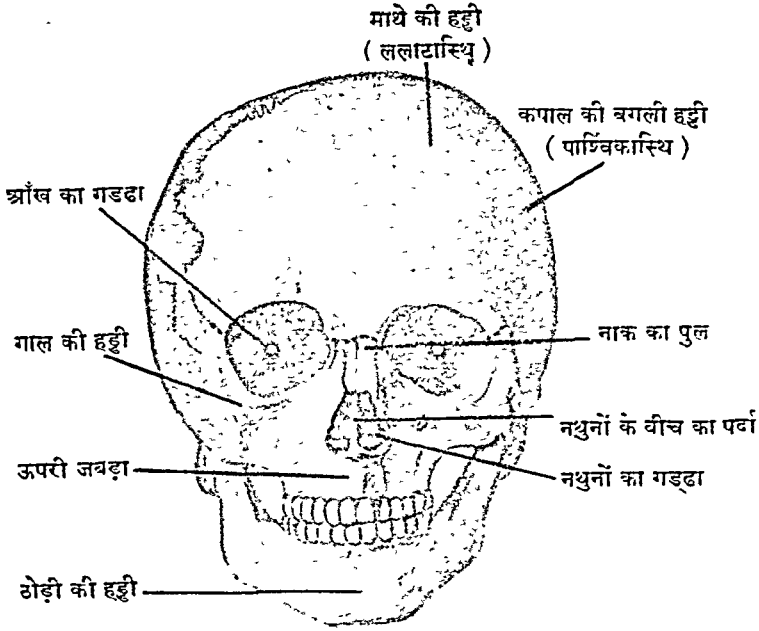
खोपड़ी के सामने और पार्श्व के चित्र

विशेष जानकारी के लिए पृ० ६४१ का विवरण पढ़िए।

इस तरह लगी हुई है कि जब उनमें चिपटे हुए पुट्ठे सिकुड़ते या फैलते है तो हम अपनी टाँगो को आगे-पीछे हटाकर चल-फिर सकते और बाँह को आगे की ओर फैला या पीछे की ओर मोड़ सकते है। सीने की हड्डियो में चिपटे हुए पुट्ठों के ही सिकुड़ने और फैलने से हम अपनी पसलियो को साँस लेते समय ऊँचा या नीचा कर सकते है, जिससे फेफड़ों में हवा भरती या निकलती रहती है।

यह सच है कि गति पुट्ठों ही से होती है, लेकिन यदि हड्डियाँ एक 'लीवर' या टेक का कार्य न करती तो पुट्ठे बिलकुल बेकार हो जाते--गति करना उनके लिए असम्भव हो जाता। हम नित्य ही देखते है कि जब एक मजदूर किसी भारी पत्थर को ढकेलना चाहता है तो वह एक लम्बे टेक की मदद लेता है। वह पत्थर के नीचे छड़ को टेककर भारी बोझ को सहज में सरका लेता है। कभी-कभी टेक लगाने के लिए वह दूसरे छोटे पत्थर या लकड़ी के कुंदे का भी सहारा लेता है। हड्डियों में भी एक-दूसरे के बीच में चूल होती है और चूल के भीतर एक हड्डी को दूसरे की तरफ खींचना पुट्ठो का ही काम है। इसलिए हड्डियाँ जोड़ों के ऊपर एक टेक का ही काम देती है। लेकिन वे अधिकांश अवस्थाओ में उपर्युक्त वर्णित टेक से भिन्न है। शरीर-रूपी मशीन में बहुधा अपने सामर्थ्य से भी अधिक तेज गति उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। जब एक बच्चा सड़क पर अपनी ओर मोटर आते देखता है तो उसके लिए आवश्यक होता है कि उसके पुट्ठे टाँगो की हड्डियो को इस प्रकार खींचें कि उसका शरीर मोटर के रास्ते से जल्दी ही हट जाय ऐसा करने का प्रबंध हमारे शरीर मे है। उदाहरणार्थ--द्विशिरस्का पेशी को लीजिए, जो नीचे की बाँह की हड्डी के दसवें भाग पर लगी हुई है। इसमें यह गुण है कि जब हड्डी का वह हिस्सा, जहाँ पेशी चिपटी हुई है, एक इंच हटता है तो हाथ दस इंच हट जाता है। हाथ-पैर की सारी गति इसी प्रकार के टेक द्वारा होती है। इसी व्यवस्था के कारण हम तेजी से दौड़ सकते, सहज मे कूद जाते, जोर से गेंद फेंक लेते और अन्य फुर्ती के काम कर सकते है। इसके अलावा हड्डियाँ सारे शरीर में दृढता भी लाती और शरीर के तन्तुओ को सहारा देती है। यदि हड्डियाँ न हों तो हर एक भाग पर दबाव आदि पड़ने पर शरीर अपना रूप ही बदल दे। हाथ और पैरो मे यदि हड्डियों के कारण दृढता न होती तो न हम भारी बोझ उठा सकते और न पैरो के सहारे कभी ठीक तरह से खड़े ही हो सकते थे।
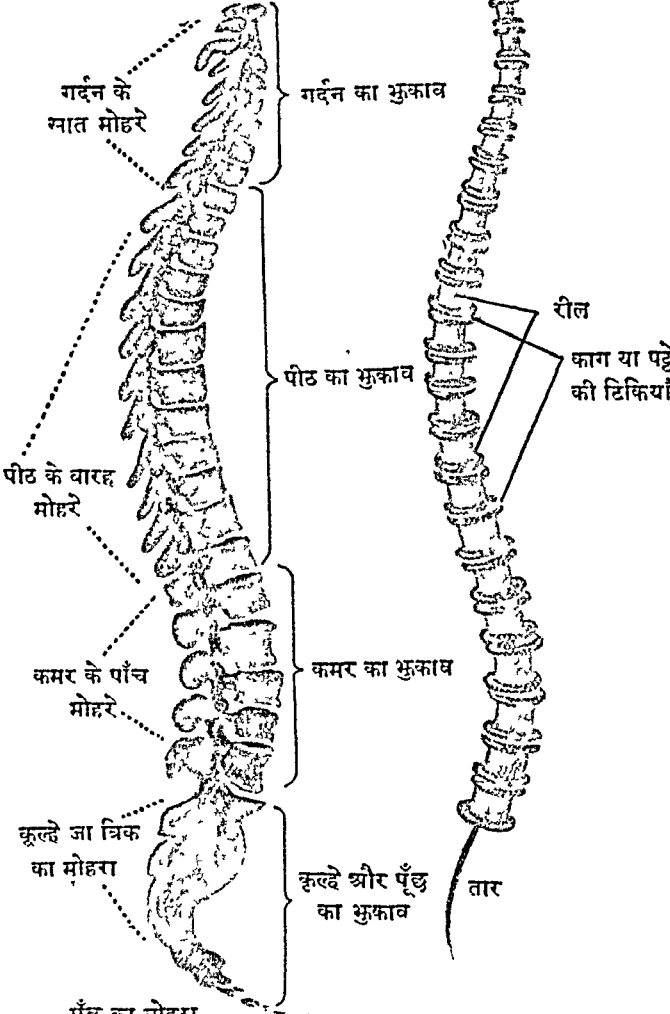
रीढ़ और उसकी रचना

(बाईं ओर) रीढ के मोहरे; (दाहिनी ओर) उसी ढंग से तार में पिरोई गई रीलें।

ढाँचे की विशेषता

हड्डियो का ढाँचा हमारे शरीर को दृढ और सीधा तो रखता है, परन्तु वह एक कारखाने या मकान के ढाँचे की तरह बिल्कुल सीधा और अचल नहीं है। वह तो मजबूत होते हुए भी जगह-जगह से मुड़ जाता है, जिससे हम

इच्छानुसार अंगों को तोड़-मोड़कर तथा घुमा-फिराकर उनसे विविध प्रकार के काम ले सकते हैं। यही तो उसकी खूबी है! उसकी दृढ़ता और आश्चर्यजनक लचीलापन ये दोनों ही विशेषतायें सराहनीय और अचम्भित कर देनेवाली है। अगर यह ढाँचा कही सिर से पैर तक कठोर और अचल होता तथा उसमें बहुत-सी छोटी-छोटी जोड़दार हड्डियों की जगह एक-दो या थोड़ी ही सी बड़ी हड्डियाँ होती, तब न तो हमारी उँगलियाँ मुड़ती, न हाथ घूमते, न पैर ही उठते और न गर्दन ही इधर-उधर को हिल पाती। पर यह ढाँचा तो मजबूत और कड़ा होते हुए भी ऐसा बना है कि जगह-जगह झुक और मुड़ सकता है। इसी कारण से वह बहुत-सी हड्डियों का बना हुआ है। इससे ढांचे को दृढता प्राप्त होती है, जो एक ही बड़ी हड्डी से बने हुए ढांचे में कदापि नही हो सकती थी। एक ही अंग में कई हड्डियाँ क्यों रक्खी गई है, इसका उत्तर यह है कि अगर एक अंग में एक ही हड्डी रहती तो चोट अथवा किसी कारणवश उसके टूट जाने पर वह अंग बिल्कुल बेकार हो जाता। पर कई हड्डियों के होने से, यदि एक हड्डी या उसके किसी एक भाग पर चोट आ जाती है, तो उसकी तकलीफ उसी हड्डी या जगह पर जान पड़ती है—सारा अंग उससे बेकार नही हो पाता।

कठोर परिश्रम और अध्यवसाय से हम अपनी ठठरी की शक्ति और लचक को बढा भी सकते है। साधारण मनुष्य छोटी-सी गाड़ी और इक्के के नीचे दब जाय तो उसकी हड्डी-पसली टूट जाती है; परन्तु भारतवर्ष में कौन राममूर्ति के व्यायाम-संबंधी करतबों से परिचित नही है? वह मनों भारी पत्थर की सिल अपने सीने पर रखकर तुड़वा लेते थे और पचीसों आदमियों से लदी गाड़ी को अपने ऊपर रक्खे हुए तख्ते पर से बेखटके निकलवा लेते थे! इससे स्पष्ट है कि कसरत और अभ्यास से हड्डियों मे महान् शक्ति आ सकती है। हमने यह भी देखा है कि सरकस में काम करनेवाले कई खिलाड़ी अपने शरीर को ऐसा तोड़-मरोड़ लेते है कि मानों उनके शरीर में हड्डी है ही नही! बचपन में हड्डियो में लचीलापन अधिक होता है और बुढ़ापे में वह कम हो जाता है। यही कारण है कि बच्चो की हड्डियाँ जल्दी मुड जाती है, परन्तु टूटती नही और सयानों की हड्डी जल्दी टूट जाती है। यही इस ढांचे की विशेषता है कि यह सख्त भी है और लचीला भी।

रीढ़ का विकास
बच्चे में बैठना सीखते समय रीढ इसी प्रकार गर्दन के पास मुड़ जाती है और खड़ा होना सीख लेनेपर कमर के मोहरों में भी झुकाव आ जाता है।

अस्थिपंजर के हिस्से और हड्डियों की संख्या

मानव ठठरी का चित्र देखने से पता चलता है कि वह दो मुख्य भागों मे विभाजित हो सकती है—एक वह सीधा खड़ा हिस्सा, जिसमें खोपड़ी और पीठ तथा सीने की हड्डियाँ शामिल है; दूसरा वह भाग, जो इस बीच के सीधे भाग से दोनों भुजाओं और टाँगों तथा कन्धे व कूल्हे की हड्डियो के रूप में जुड़ा एवं लटका हुआ है।

पूर्ण वयस्क मनुष्य की ठठरी मे लगभग २०६ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ होती है, लेकिन जीवन की सभी अवस्थाओं मे उनकी संख्या एक-सी नही रहती। नवजात बालक में २७० हड्डियाँ होती है। इनमें से कुछ बड़े होने पर एक दूसरे से जुड़ जाती है। कई हड्डियाँ ऐसी होती है, जो जवानी में अलग रहती है, किन्तु वृद्धावस्था में एक दूसरे से मिल जाती है। रीढ़ में पहले-पहल ३३ अलग-अलग टुकडे या मोहरे होते है। इनमे से २४ आम तौर से जिन्दगी भर एक-दूसरे से पृथक् बने रहते है। २५वें से लेकर २९वें तक के मोहरे एक-दूसरे से जुटकर मजबूत कूल्हे या त्रिक की हड्डी बन जाते हैं और पीछे के शेष चार मोहरे भी बहुधा एक-दूसरे से सटकर पूंछ की एक हड्डी मे परिणत हो जाते है। इसी तरह खोपडी में युवावस्था मे २२ भिन्न-भिन्न हड्डियाँ दिखलाई पड़ती है, लेकिन बच्चे की खोपड़ी में इससे ज्यादा और वृद्ध की खोपडी में कम हड्डियाँ पाई जाती है।

शरीर के ढांचे की २०६ हड्डियाँ निम्न प्रकार बँटी है—

खोपड़ी	चेहरे में १४, ऊपरी हिस्से में ८; कुल २२
रीढ़	२४+२ (५+४ मोहरे मिलकर) = २६
भुजाएँ	हर एक भुजा मे ३२; दोनों में ६४
पैर	हर एक पैर मे ३१; दोनों में ६२
सीना	२५

ये सब १९९ हड्डियाँ हुई। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कना

में ३ हड्डियाँ हैं और एक हड्डी स्वरयंत्र और दाढी के बीच मे भी होती है। इस तरह यदि हम शरीर को सात भागों में विभक्त कर दें—एक खोपड़ी, दूसरा गर्दन, तीसरा धड़ और चौथा हाथ-पैर—तो हम देखेंगे कि प्रत्येक भाग में लगभग ३० हड्डियाँ होती हैं। इस लेख मे इन सब हड्डियों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना संभव नहीं है, इसलिए हम अस्थिपंजर के मुख्य-मुख्य भागों का ही थोडा-सा हाल संक्षेप में देकर आगे बढ़ेंगे।

खोपड़ी

हमारी खोपड़ी के मजबूत प्रकोष्ठ में ही शरीर का सर्वोत्कृष्ट अंग मस्तिष्क सुरक्षित है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह भाग बहुत-सी हड्डियों तथा नर्म कार्टिलेजों से मिलकर बना है। खोपड़ी के ही साथ सबद्ध कानो की हड्डियाँ, आँखो के गडढे और नाक के छेद है। नाक के भीतरी छेद और मुंह के बीच मे तालू की हड्डी है। हमारे जबड़े भी, जिनमें दाँत लगे हुए हैं, खोपड़ी से ही मिले हुए हैं। ऊपर का जबड़ा तो खोपड़ी से बिलकुल जुडा रहता है। हाँ नीचे के जबड़े की हड्डी खोपड़ी से अलग होती है—केवल आँखों के पीछे के चूल पर वह खोपड़ी मे लगी रहती है। इसमें चूल होने के कारण ही हम नीचे के जबड़े को नीचे-ऊपर उठाकर अपना मुँह खोल और बन्द कर सकते है। ऊपरी जबड़े की हड्डियाँ उतनी मजबूत नही होतीं, जितनी कि नीचे के जबड़े की। दोनो ही में सोलह-सोलह दाँतो के लिए गड्ढे होते हैं। चेहरे की सबसे बडी और मजबूत हड्डी नीचे का जबड़ा ही है। यह अस्थि न केवल ऊपर-नीचे ही को हिलती और चलती है। वरन् दाहिने-बाएँ भी घूम लेती है। इसी से हम भोजन को अच्छी तरह चबा सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि पूरी खोपड़ी वास्तव में दो हिस्सों मे रची गई है—एक तो सिर का हिस्सा जिसके कि अन्दर मस्तिष्क बन्द रहता है; और दूसरा चेहरे का भाग, जिसमें विशेषतया जबड़े सम्मिलित है। शरीर के सभी अवयवों से मस्तिष्क अधिक तेजी से बढता है। चाँद की हड्डियों की बाढ उससे पिछड़ जाती है। यही कारण है कि जन्म के समय मस्तिष्क का ऊपर का भाग हड्डी से ढँका हुआ नही होता। लगभग एक वर्ष तक बालक के सिर मे तालू के ऊपर गड्ढा-सा बना रहता है।

खोपडी की हड्डियाँ जिस जगह एक-दूसरे से मिलती हैं, वहाँ टेढी-मेढी नोकें सी निकली रहती है, जो आपस में एक-दूसरे से फँसी रहती है। ऐसा लगता है, मानो उस जगह मिलाई की गई हो! युवावस्था और बचपन में यह सीवन कुछ ढीली रहती है, लेकिन प्रौढावस्था मे वह बिलकुल सट जाती है। इतना ही नही, छोटे बच्चों की खोपड़ियों की हड्डियाँ तो खिसककर एक-दूसरे के ऊपर भी सरक सकती है। यदि ऐसा न होता तो बच्चो के जनमते समय माताओ को अत्यन्त कष्ट होता। प्रसव के समय सिर पर दबाव पडने से हड्डियो के किनारे एक दूसरे-पर चढ जाते है। पैदा होने के बाद, इन हड्डियों के फिर ज्यो के त्यों होने मे कई दिन लग जाते है।

सीने की हड्डियों का पिंजड़ा

इसी अनूठे पिंजड़े में हृदय, फेफड़े, और यकृत जैसे महत्वपूर्ण अंग सुरक्षित हैं।

धड़ की हड्डियाँ

आइए, अब धड़ की हड्डियों का दिग्दर्शन करें। इन हड्डियों में रीढ और छाती की हड्डियाँ भी शामिल है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीढ में छब्बीस हड्डियाँ मानी जाती है और सीने मे पचीस। रीढ शरीर का आधार है। वह एक तरह का स्तम्भ है, जिस पर अस्थिपंजर के दूसरे सारे भाग सधे रहते है। यही वह मुख्य धुरी है, जिसके आधार पर सारा शरीर रचा गया है। इसीलिए इसको हड्डियों की ठठरी को बाँधने या कसनेवाली कडी या धरणी भी कहा गया है। वह पीठ के बीचोबीच गर्दन से लेकर पीठ के नीचे तक चली गई है।

रीढ के इस स्तंभ के ऊपर ही खोपड़ी का पेंदा सधा रहता है और उसी से पसलियाँ और कूल्हे की हड्डी जुड़ी हुई है। यही नही, पेट के बहुत-से अंगों को भी यह साधे रहती है और यही सुपुम्ना नाड़ी की भी रक्षा करती है। अगर सारी रीढ में एक ही हड्डी होती तो वह लोहे की छड़ की तरह कड़ी और वेलोच होती। इसीलिए वह २६ (या ३३) अलग-अलग टुकडों—मोहरों या कशेरुकाओं—की वनी हुई है। प्रति दो मोहरों के बीच में एक नरम गद्दी-सी रहती है, जिसके कारण प्रत्येक मोहरा एक-दूसरे पर थोड़ा-सा झुक और सरक सकता है। इससे कुल हड्डी इच्छानुसार झुकाई और मोड़ी जा सकती है। हर एक कशेरुका दूसरी कशेरुका से इस प्रकार फँसी हुई है और ऐसे चीमड़ बन्धन से बँधी है कि लचकदार होते हुए भी वह टूटकर उससे अलग नहीं हो सकती। यही तो रीढ़ की हड्डी की रचना की खूवसूरती है कि वह जहाँ काफी मजवूत है, वहाँ लचकदार भी है।

रीढ़ का स्तम्भ पाँच भागों में वाँटा जा सकता है। इसके सवसे ऊपरी या गर्दनवाले भाग में ७ मोहरे है। सीने के पीछेवाले भाग में १२ और कमर के हिस्से में ५ मोहरे है। कूल्हे के भाग में पाँच मोहरों की एक संयुक्त हड्डी होती है तथा दुम मे चार छोटे-छोटे मोहरों से बनी हुई एक संयुक्त हड्डी रहती है। रीढ के स्तम्भ के चित्र को देखने से साफ पता चलता है कि इसकी हड्डियाँ एक ऐसा खम्भा-सा वनाती है, जो कूल्हे की संयुक्त हड्डी पर, जिसकी शक्ल पच्चड की तरह है—टिका हुआ है। इस केन्द्रीय हड्डी के दोनों ओर कूल्हेवाली बड़ी हड्डियाँ जडी हुई है और ये दोनो टाँगो की हड्डियों के ऊपर सधी रहती है। अचम्भे की वात तो यह है कि सारे शरीर को साधे रहनेवाला यह जोडदार स्तम्भ विल्कुल सीधा नही है। पृ० ६३९ पर दिए गए चित्र को देखने से वह स्पष्टतया कई जगह पर झुका हुआ देखा जा सकता है। इसका कोई हिस्सा आगे को निकला हुआ तो कोई पीछे को धँसा हुआ दिखलाई पड़ता है। गर्दन और कमरवाले भाग पीठ की ओर उभरे हुए है और सीने, कूल्हे तथा दुम का हिस्सा पीछे की ओर को धँसा हुआ है। गर्दन और कमर का टेढापन वच्चा पैदा होने के समय नही होता। जव वच्चा बैठने लगता है तभी गर्दन के मोहरों में झुकाव आता है और ज्यों ही वह पैरों पर चलना सीख जाता है, कमर के मोहरों में भी झुकाव आ जाता है (चित्र पृष्ठ ६४०)। धारणा की जाती है कि कमर और कूल्हे के मोहरों में झुकाव होने की वजह से पेट के भीतर के अंगों को सहारा मिलता है, अन्यथा वे रीढ से सीधे ही लटकते रहते। आम तौर पर देखा गया है कि जिन कमजोर औरतों में यह झुकाव कम होता है और पीठ सीधी हो जाती है, उनके पेट के भीतर के भाग साधारण स्त्रियों की अपेक्षा नीचे को अधिक लटक आते है। मोहरों के बीच जो नरम गद्दियाँ होती है, उन्ही की लचक से हमें कूदते-फाँदते या दौड़ते समय वहुत धमक नही लगती। यह सही है कि दो गुरियो के बीच मे गति करने की थोडी ही गुंजायश है, लेकिन ऐसा होते हुए भी रीढ काफी दूर तक इधर-उधर गति कर लेती है। इसे भली भाँति समझने के लिए आप कुछ डोरा लपेटनेवाली खाली रीलों को लेकर एक मोटे तार मे पिरो लीजिए और हर-एक रील के वीच में एक-एक टुकड़ा काग या मोटे पट्ठे का लगाते जाइए। अव आप देखेंगे कि तार को हिलाने से कैसे पिरोई गई रीलें भिन्न-भिन्न दिशाओ में

वाहरी हड्डी (वहिः प्रकोष्ठास्थि)
भीतरी हड्डी (अन्तः प्रकोष्ठास्थि)
अँगूठे की हड्डियाँ
कलाई की हड्डी
हथेली की हड्डियाँ (करभास्थि)
उँगलियों के पोरों की हड्डियाँ
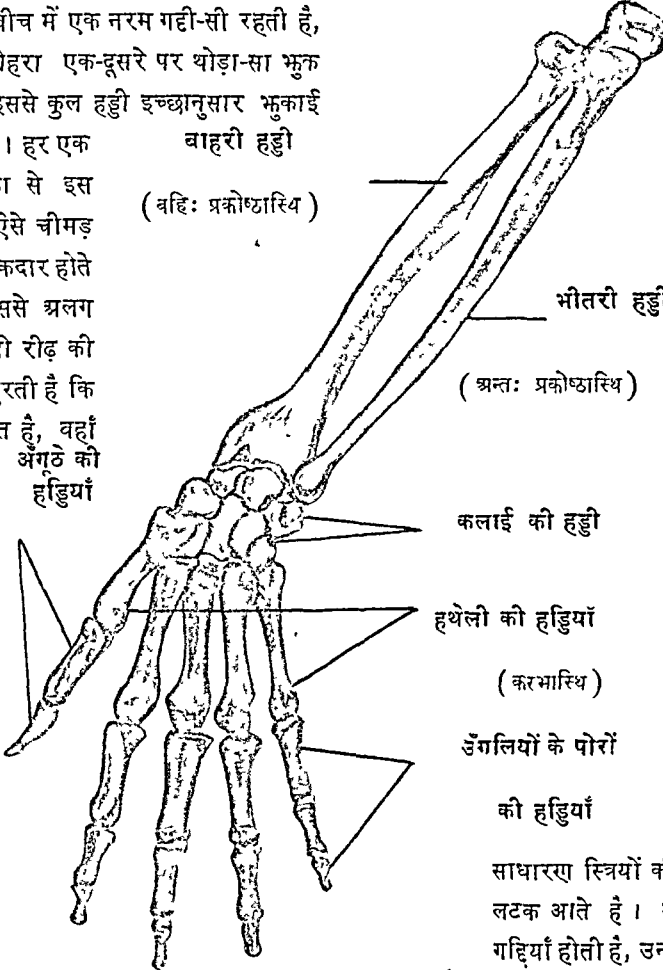
अगली वाँह, हथेली और उँगलियों की हड्डियाँ

देखिए वाँह में दो हड्डियाँ है और उँगलियाँ भी अनेक हड्डियों को जोड कर वनाई गई है।

झुकाई जा सकती है (चि० पृष्ठ ६३६) । हमारे रचयिता ने हमारे संग बड़ी ही भलाई की जो रीढ़ की हड्डी को ऐसा बनाया अन्यथा हमारे लिए दौड़ना या कूदना आदि कार्य बड़े कठिन हो जाते। चलने में शरीर बारी-बारी हर एक टाँग पर सधता है । जिससे वह अगल-बगल थोड़ा झुक जाता है । यदि रीढ की रचना ऐसी न होती तो ऐसा करना कठिन हो जाता ।

पसलियाँ

हमारे शरीर में दोनों तरफ १२-१२ पसलियाँ है, जो पीछे रीढ़ के १२ मोहरो के बीच-बीच में जुड़ी हुई है और आगे की ओर छाती की हड्डी से जुड़ी हुई हैं। पसलियाँ पीठ से नीचे की ओर गिरती हुई सामने की ओर सीने की हड्डी तक मुड़ी रहती हैं। पसलियों के पहले सात जोड़े एक-एक उपास्थियो द्वारा सीने की कार्टिलेजी हड्डी से जुड़े हुए हैं। इसलिए उन्हें असली पसलियाँ कहा गया है। आठवें, नवें और दसवें जोड़े अपने से हर एक ऊपरवाली उपास्थि से जुड़े है, जिससे कि वे एक दूसरे से मिलकर सीने की हड्डी तक पहुँच पाते हैं। पीछे के दो जोड़ सीने की हड्डी से बिल्कुल ही अलग हैं (देखिये पृ० ६३७ के चित्र में ठठरी का पार्श्व का दृश्य)। इन पिछले पाँचों जोड़ो को नकली हड्डियाँ कहा जाता है और अन्तिम दोनों स्वतन्त्र हड्डियाँ कही जाती हैं। टेढ़ी पसलियाँ, सीने की हड्डी और रीढ़ का स्तम्भ मिलकर एक घेरा-सा बना लेते है, जिसको हम 'सीने का पिंजड़ा' कहते है। इसी के अन्दर हृदय, फेफड़े, यकृत तथा अन्य आवश्यक अवयव सुरक्षित रहते हैं। इनकी रक्षा करने के अलावा पसलियाँ हमारी श्वासोच्छ्वास क्रिया में भी सहायता करती है। सीने को पेट से पृथक् करनेवाला वक्षोदर मध्यस्थ परदा (डायफ्राम) नीचे की छः पसलियों और रीढ़ तथा सीने की हड्डी से जुड़ा हुआ है, जो अपनी पेशियो के संकोचन से पसलियों को भीतर की ओर खींचता है। इससे फेफड़ों पर दबाव पड़ता है और साँस बाहर निकल जाती है। जब फिर वक्षोदर मध्यस्थ परदे की पेशियाँ ढीली पड़ती है और पसलियो के ऊपर लगी हुई बीच की पेशियाँ सिकुड़ती है, तब पसलियाँ फिर ऊपर को उठ जाती है। इससे फेफड़े फूल जाते है और साँस भीतर चली जाती है। इससे पता चलता है कि पसलियों में भी काफी लचक है, जो उन्हे जोर पड़ने पर बचा देती है, किन्तु टूटने नही देती। इनका यही लचीलापन भीतरी अंगों की रक्षा करने में सहायक है।
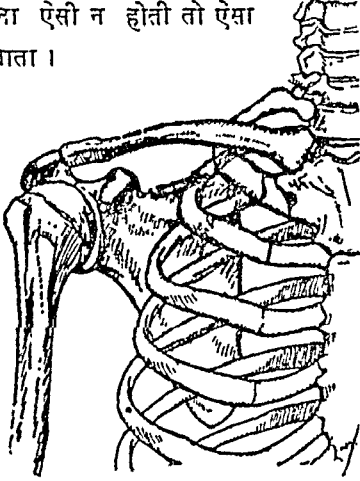
(ऊपर बाईं ओर) बाँह और खवे का जोड़। पसलियों की हड्डियाँ भी दिखाई दे रही है। (ऊपर दाहिनी ओर) कुहनी का चूलदार जोड़। (नीचे दाहिनी ओर) घुटने और पैर के जोड़ तथा पिंटली हड्डियाँ।

हाथ-पैरों की हड्डियाँ

आम तौर पर सब कोई अन्य अगो की हड्डियों की अपेक्षा इन हड्डियों से अधिक परिचित हैं। इसलिए इनका विस्तृत विवरण देने की आवश्यकता नही जान पड़ती। ऊपर और नीचे के अवयवों में वे हड्डियाँ भी सम्मिलित है, जिनसे भुजाएँ और टाँगो की हड्डियाँ रीढ़ की हड्डी से जुडी रहती है। इन अवयवो में से हर एक के तीन भाग हैं—बाँह में पिछली बाँह, अगली बाँह और हाथ; तथा टाँग में जाँघ, पिंडली और पैर। जिन हड्डियों के द्वारा बाँह धड़ की हड्डियों से जुडी रहती हैं, उन्हे कंधे की पेटी कहा जाता है, और जिन हड्डियो के द्वारा टाँग धड़ से जुड़ती हैं, वे कूल्हे की
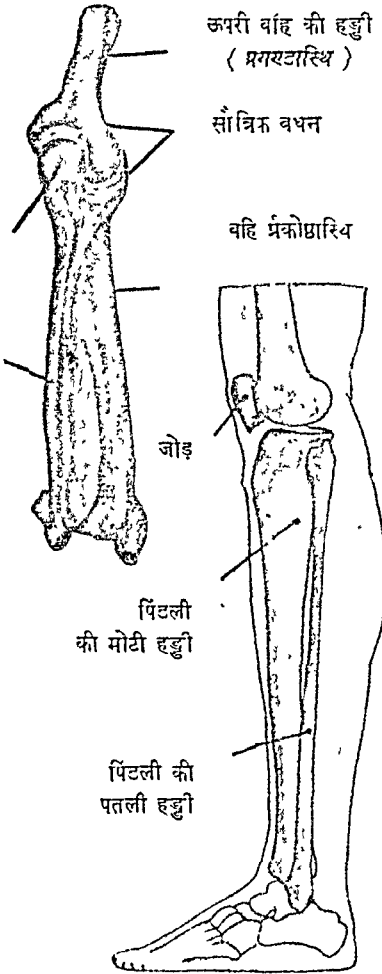
पेटी कहलाती है। प्रत्येक बाँह में हड्डियों के जो हिस्से हैं, वे पृ० ६३७ पर दिये गए चित्र मे दिखलाये गये है। उसी चित्र को देखकर उनकी शक्ल-सूरत का भी ज्ञान आपको हो सकता है। हर एक भुजा में कुल ३२ हड्डियाँ हैं, जो इस प्रकार बँटी हुई हैः—हँसली १; खवा १; ऊपरी बाँह में १; नीचे की बाँह में २; कलाई में ८; हथेली मे ५; उँगलियो मे १४। कलाई की ८ छोटी-छोटी हड्डियो के दो पक्तियो मे सजी होने और बंधनो से जुड़ी रहने के कारण ही कलाई मे लचीलापन और इधर-उधर अच्छी तरह घूमने की शक्ति है। हथेली की हड्डियाँ उँगली की हड्डियो की-सी ही है। इस बात का अन्दाजा हम स्वयं अपने हाथ को टटोलकर कर सकते हैं (दे० पृष्ठ ६४२ का चित्र)। नीचे के अवयवों की रचना ऊपर के अवयवो के तरह की ही है, जैसा कि पृष्ठ ६४३ के चित्र से विदित होता है। हाँ, ऊपर के अवयवो से नीचे के अवयवो में केवल इतनी ही भिन्नता है कि प्रत्येक टाँग मे कुल मिलाकर ३२ की जगह ३१ ही हड्डियाँ होती है; क्योंकि टखने में कलाई से १ हड्डी कम पाई जाती है। इस अवयव में हड्डियो का विभाजन इस प्रकार हुआ है.—

कूल्हे मे १; जाँघ में १, घुटने में १; पिंडली में २; टखने मे ७; पैर में ५; और उँगलियों में १४।

हड्डियों के जोड़

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे आपको मालूम हो गया होगा कि हड्डियो के ढाँचे में जगह-जगह पर जोड़ है। उनके बिना हम न हाथ-पैर ही हिला सकते और न उठ-बैठ या चल-फिर ही सकते है। कुछ हड्डियाँ एक दूसरे से ऐसी मजबूती से सटी होती है कि उनके बीच के जोड़ का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार के जोड़ वयस्क मनुष्य की खोपडी की हड्डी मे मिलते है। इन्हें 'अचल सन्धि' या पक्के जोड कहकर पुकारते है। एक और प्रकार के जोड़ वे है, जो कुहनी, घुटने या जिस जगह बाँह खवे से मिलती है वहाँ पाये जाते है। ये हिलने-घूमने-वाले जोड़ या 'चल सन्धि' कहलाते है। सब हिलने-डुलने-वाले जोड़ एक से नही हैं। वे कई प्रकार के हैः—

(१) **घूमनेवाले जोड़**—शरीर में दो जोड़ इस प्रकार के है, जो घूमते है। एक तो रीढ के पहले और दूसरे मोहरे मे मिलता है। दूसरे मोहरे से आगे की ओर एक मोटी नोक-सी निकली रहती है, जिसके चारो ओर पहले मोहरे का गड्ढा या छल्ला घूमता है। यही कारण है कि हम सिर को इधर-उधर घुमा सकते है। ,जो रेशेदार फीता पहले मोहरे के गड्ढे से मिलकर इस छल्ले को बनाता है, वह अगर टूट जाय तो सुषुम्ना नाड़ी कुचल जाय और हम फौरन् ही अपनी जान खो बैठें! इस जोड़ को 'कीलदार जोड़' कहते है। ऐसा ही दूसरा जोड़ कुहनी पर है, जिसके द्वारा कलाई मोड़ने के समय आगे की बाँह भी इधर-उधर घूम जाती है।

(२) **फिसलनेवाले जोड़**—इस प्रकार के जोड़ हमको रीढ़ के मोहरों के बीच-बीच में तथा कलाई की हड्डियो में मिलते है। दो हड्डियो के बीच कार्टिलेज की गद्दी रहती है। हड्डियाँ सफेद सौत्रिक बँधनों या फीतों से बँधी रहती है। गद्दी बीच में रहने के कारण हड्डियाँ एक दूसरे पर फिसल सकती है, परन्तु बंधन सुतली का काम देते है और हड्डियो को जरूरत से ज्यादा फिसलने नहीं देते।

(३) **गेंद-गड्ढेवाला जोड़**—इसके सबसे अच्छे उदाहरण कधे और कूल्हे है। इस जोड़ पर एक लम्बी हड्डी का गेंद जैसा गोल सिरा दूसरी हड्डी के गड्ढे में टिका रहता है। गड्ढे में नरम चर्बी रहती है और गेद के ऊपर नरम कार्टिलेज रहता है। इस जोड़ में एक प्रकार का तेल-सा द्रव्य निकलता रहता है; ताकि वह जल्दी ही घिस न जाय और उस पर रगड़ अधिक न पड़े। इस जोड़ की हड्डियाँ अच्छी तरह और हर तरफ घुमाई जा सकती हैं।

(४) **चूलदार जोड़**—इस प्रकार का जोड़ कुहनी, टखने और नीचे के जबड़े में है। उँगलियों में भी ऐसा ही जोड़ रहता है। इस जोड़ में हड्डियों के जोड़ ऐसे टेढ़े और खाँचे-दार होते है कि एक दूसरे में अच्छी तरह फिट हो जाते हैं। दोनों हड्डियाँ जोड़ के चारो ओर मजबूत बंधनों से जकड़ी रहती है, जिससे हड्डियाँ एक ही तरफ गति कर सकती है। जैसे किवाड़ कब्जो पर घूमता है, ये आगे-पीछे तो मुड़ सकती है, किन्तु दाये-बायें नहीं।

हड्डियाँ ठोस नहीं, खोखली होती हैं

अगर हम किसी हड्डी को आरी से काटकर देखें तो उसके बाहरी ठोस पृष्ठ के भीतर एक खोखली नली-सी मिलेगी, जिसकी दीवार स्पंज जैसे पदार्थ से निर्मित होती है। अस्थियों के इस खोखले अंतराल में मज्जा नामक एक अति महत्वपूर्ण पदार्थ संचित रहता है। मज्जा दो प्रकार की होती है—लाल और पीली। पीली मज्जा मे ९६ प्रतिशत चरबी और शेष ४ प्रतिशत अन्य तत्त्वों के होते है। लाल मज्जा में सौत्रिक तंतु और अनेक प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती है, जिनसे हमारे रक्त के लाल कण बनते है। इनके संबंध में विशेष विवरण हम आगे चलकर बताएँगे।

स्वयंभू वृत्तियाँ और सहज आचरण

मनोविज्ञान की एक सबसे बड़ी पहेली यह है कि जो क्रियाएँ वास्तव में सबसे अधिक उलझी हुई मानसिक क्रियाएँ हैं, वे हमें सरल मालूम पड़ती हैं और जो एक प्रकार से मस्तिष्क की सरल या अमिश्रित क्रियाएँ हैं, वे ही समझने में सबसे अधिक कठिन हैं। हमारी 'स्वयंभू वृत्तियाँ' हमारी मानसिक श्रेणी का सबसे निचला अतएव सरलतम सोपान होते हुए भी इसी तरह हमारी समझ के लिए अत्यंत कठिन हैं।

यदि हम जानवरों, पक्षियों और कीड़ों के आचरण का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि इनमें से बहुतेरे प्राणी बहुत ही मिश्रित प्रकार के कार्य कर सकने में समर्थ हैं, बावजूद इसके कि उन्हें न तो वैसा करने का कोई निजी अनुभव प्राप्त है और न वैसी शिक्षा ही उन्हें मिली है। इस तरह स्वयंमेव कार्य करने की शक्ति को मनोविज्ञान की भाषा में 'स्वयंभू वृत्ति' (इंस्टिंक्ट) के नाम से पुकारते हैं, और इन शक्तियों द्वारा सम्पन्न होनेवाले कार्यों को स्वाभाविक कार्य या सहज आचरण का नाम दिया जा सकता है।

मैग्डूगल की राय

प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री मैक्डूगल ने अपनी पुस्तक 'मनोविज्ञान की रूपरेखा' में इन शक्तियों की परिभाषा यों दी है--"एक आन्तरिक प्रवृत्ति, जो प्राणी को किसी खास तरह की चीज को देखने, उसकी ओर ध्यान देने और उसकी उपस्थिति में एक खास तरह की भावुक उत्तेजना तथा कार्य करने की ऐसी प्रेरणा प्रदान करती है, जो उस चीज के प्रति उसके एक विशेष प्रकार के आचरण में प्रकट होती है। इसे हम 'स्वयंभू वृत्ति' कहते हैं।"

ध्यान में रखने की बात यहाँ यह है कि उपर्युक्त परिभाषा में मैक्डूगल एक विशेष प्रकार के आचरण की बात कहता है, जिसे हम सहज आचरण कहेंगे। "इंस्टिंक्ट" शब्द को लेकर अंग्रेजी लेखकों ने बड़ा बौद्धिक विभ्रम फैलाया है। कुछ ने इस शब्द का प्रयोग 'प्रेरक शक्तियों' के अर्थ में किया है, तो कुछ ने उसे मानो साँचे में ढली हुई एक ही तरह की क्रिया के अर्थ में लिया है। इसलिए मनोविज्ञान के अध्ययन में इस शब्द के महत्व को ध्यान में रखते हुए इसका अर्थ प्रारम्भ में ही ठीक-ठीक ग्रहण कर लेना चाहिए।

स्वयंभू वृत्ति के अर्थ को और भी साफ कर देने के लिए हम उदाहरण के रूप में ऐसे कुछ प्रश्न पूछ सकते हैं, जैसे कि जानवरों या मनुष्य के बच्चों को माता के स्तन से दूध चूसना कौन सिखा जाता है? चिड़ियों के नन्हें-नन्हे बच्चे उड़ने की शिक्षा कहाँ पाते हैं? मछली और मेढकों को तैरना किसने बताया?

उत्तर में कोई चाहे तो ईश्वर को खड़ा कर सकता है परन्तु इस तरह सारा गुड़ गोबर किया जा सकता है और हमारे वैज्ञानिक अध्ययन को पथभ्रष्ट करके दर्शनशास्त्र के दलदल में फँसा दिया जा सकता है। पर आज का मनोविज्ञानशास्त्र, दर्शन आदि को चुनौती देता हुआ कह रहा है कि भविष्य में हमारा अध्ययन केवल भौतिक विद्या के सहारे ही संभव हो सकेगा।

अस्तु, ईश्वर के झमेले में पड़े बिना ही हम कह सकते हैं कि उक्त आचरण उन्हीं स्वयंभू वृत्तियों के द्वारा सम्पन्न होते हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये वृत्तियाँ स्वयंभू इसलिए हैं कि वे उद्देश्यात्मक नहीं होतीं। निर्विवाद ही है कि बच्चा माता के स्तन से दूध इसलिए कदापि नहीं चूसता कि उसके द्वारा उसके शरीर की रक्षा या विकास होगा। न छोटी चिड़ियाँ ही अपने नन्हे-नन्हें परों से इसलिए उड़ने का अभ्यास करती हैं

कि उससे उनके लिए हरे-भरे खेतों और फुलवाड़ियों अथवा नयनाभिराम प्रासादों की सैर सुलभ हो जायगी। निश्चय ही ऐसा कोई ज्ञान उन्हें नहीं होता है, बल्कि उनके शरीर की बनावट में ही कुछ इस तरह की शक्तियाँ निहित होती हैं, जो बिना पूर्व निश्चय के उन्हें इस प्रकार का कार्य करने की प्रेरणा देती हैं।

सहज आचरण निश्चित है या परिवर्तनशील ?

अब इन स्वाभाविक कार्यों की समस्या के साथ ही एक प्रश्न हमारे सामने और उपस्थित होता है। क्या इस प्रकार की स्वयंभू प्रेरणा से होनेवाले प्रत्याचरण निश्चित होते हैं या परिवर्तनशील ? क्या ये मशीन की क्रिया की तरह एक निश्चित गति और सीमा में ही बँधे हुए हैं या परिस्थितियों और वातावरण की विभिन्नता के अनुसार उनमें भी परिवर्तन सम्भव है या होता रहता है ? मनोविज्ञान के पंडितों में इस विषय पर गहरा मतभेद है, विशेषकर उन दो मुख्य मत के पोषकों में, जिनमें से एक निम्न कोटि के जीवों में बुद्धि का अभाव मानते हैं और दूसरे उसकी विद्यमानता स्वीकार करते हैं। यहाँ हम उन विद्वानों की राय दे रहे हैं, जो स्वाभाविक प्रत्याचरणों को परिवर्तनशील मानते हैं।

उक्त स्वयंभू वृत्तियों के दो विशेष गुण होते हैं। एक तो यह कि अभ्यास या आदत के द्वारा वे कमजोर या दृढ़ अथवा परिवर्तित हो जाती हैं और दूसरा यह कि उनके बल की एक निश्चित अवधि होती है, जिसके बाद अनुभव की परिपक्वता तथा विभिन्न शारीरिक ग्रंथियों के विकास के साथ-साथ वे निर्बल हो जाती हैं, या उनका लोप हो जाता है।

पहले गुण का प्रभाव यह होता है कि जब कोई प्राणी स्वयंभू वृत्तियों के कारण कोई आचरण करता है और प्रायः बार-बार वैसा ही करता रहता है, तो अभ्यासवश उसका उस प्रकार के आचरण के प्रति अनुराग हो जाता है और उसे बदलने अथवा त्यागने में उसे पर्याप्त कष्ट का अनुभव होता है। चिड़ियों ही को लीजिए, वे जहाँ एक बार अपना घोंसला बनाती हैं, वहीं बार-बार बनाती रहती हैं। खरगोश के लिए कहा जाता है कि वे अपने बिल के एक विशेष कोने में ही मल का त्याग करते हैं। उसी प्रकार आदमी भी अपना निवासस्थान अथवा कार्य चुनकर उसका अभ्यस्त हो जाने पर उसे छोड़ने में कष्ट का अनुभव करता है।

ऐसा भी होता है कि दो विपरीत वृत्तियों में, जिसे विकास का अवसर पहले मिल जाता है, वह दूसरी को दबा लेती है। उदाहरण के लिए, ऐसा एक छोटा बच्चा लीजिए, जिसे दुनिया के भले-बुरे का ज्ञान नहीं है। वह किसी कुत्ते को पहली ही बार देखकर कुत्ते के आचरण के अनुसार उससे प्रेम भी करने लग सकता है और उससे भयभीत भी हो सकता है। प्रेम और भय दोनों विपरीत वृत्तियाँ हैं। यदि पहली ही बार किसी कारणवश बच्चे को कुत्ते का रौद्र रूप दिखाई पड़े, तो फिर बहुत दिनों के लिए कुत्ते की ओर से वह भयभीत रहने लगेगा। इसके विपरीत कुत्ता अगर बच्चे को अपने साथ खेलने दे, मुँह पकड़ने दे, दुम नोचने दे, तो उसकी ओर बच्चे की रुचि अधिकाधिक बढ़ती जायगी।

दूसरे गुण के अनुसार स्वयंभू वृत्तियों के विकास की एक निश्चित अवधि होती है और उस निश्चित अवधि के पश्चात प्रायः वे वृत्तियाँ काम लायक नहीं रहतीं। यदि निश्चित अवधि के भीतर उनके विकास के साधन और अवसर प्राप्त हो गये तब तो ठीक, वरना उनके विकास का अवसर फिर कभी नहीं आता। उदाहरण के लिए, पैदा होने के कुछ दिनों बाद तक यदि बच्चे को स्तन से दूध खींचने का अवसर न दिया जाय, तो फिर उसकी दूध खींच सकने की वृत्ति ही नष्ट हो जाती है।

बुद्धिशील प्राणी होने के कारण मनुष्य में स्वयंभू वृत्तियाँ दबी हुई हैं

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के आचरणों की तुलना करके यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि मनुष्य में ये स्वयंभू वृत्तियाँ बहुत ही कम विकसित हो पाई हैं। इसका कारण यह नहीं है कि मनुष्य में उक्त वृत्तियाँ अपनी पूरी मात्रा में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की मात्रा अधिक होती है, जिसके द्वारा उसकी स्वयंभू वृत्तियाँ संशोधित अथवा परिमार्जित होती रहती हैं। उदाहरण के लिए, मछली को अपना भोजन जहाँ-कहीं भी मिलेगा, वह तुरत उसे मुँह में डालने को दौड़ेगी, फिर चाहे उसे मछवे के काँटे में ही क्यों न फँस जाना पड़े ! परन्तु आदमी हर जगह खाना देखते ही टूट नहीं पड़ेगा, यद्यपि उसमें भी खाद्य पदार्थ को उदरस्थ करने की स्वयंभू वृत्ति का अभाव नहीं है। वह अवश्य ही शत्रु, मित्र, समय, असमय आदि का विचार करेगा। यहाँ केवल बुद्धि से वृत्ति का परिमार्जन हो गया है, अन्यथा दोनों में कोई अन्तर न होता।

वाट्सन द्वारा स्वयंभू वृत्तियों का प्रतिपादन

मनोविज्ञानशास्त्र के कुछ पंडितों का मत है कि मनुष्य में स्वयंभू वृत्तियाँ बिलकुल होती ही नहीं हैं, और इस विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु 'आच-

रणवादी मनोविज्ञान' ने इस मत के विरोधी मत को एक प्रकार से स्थापित कर दिया है। प्रमुख आचरणवादी मनोविज्ञान-शास्त्री डॉक्टर वाट्सन ने इस विषय पर काफी खोज की है और वह इस परिणाम पर पहुँचे है कि बच्चा अपनी पैदाइश के तीस दिनों के भीतर ही स्वयंभू वृत्तियों की विद्यमानता का परिचय निम्नलिखित आचरणों के द्वारा देना प्रारंभ कर देता है:—

(१) अगर उसके किसी गाल अथवा ठुड्ढी को उँगली से धीरे से छुआ जाय, तो बच्चा अपनी पैदाइश के थोड़ी ही देर बाद अपना सिर इस तरह घुमाएगा कि वह अपना मुँह हमारे हाथ के सम्पर्क मे ला सके।

(२) वह किसी चीज को पकड़ सकता है और उसे पकड़कर उस पर अपने को सँभाल सकता है।

(३) नाक को हल्के-हल्के दबाने से वह रक्षात्मक ढंग से अंग-संचालन कर सकता है। इस विशेष उदाहरण से साफ ही है कि उक्त स्वाभाविक प्रत्याचरण यांत्रिक क्रिया नहीं है।

(४) वह प्रकाश को ग्रहण कर सकता है।

(५) आँखों और हाथों का कर्तृत्व-सामजस्य स्थापित हो जाने पर वह सामने से दिखाई जानेवाली चीज की ओर हाथ फैलाता है।

(६) वह *भयजनित प्रत्याचरण* कर सकता है, यदि
(अ) उसे एक ऊँचाई से गिराने की स्थिति मे लाया जाय,
(ब) जोर का शब्द किया जाय,
(स) सोते मे धक्का दिया जाय,
(द) उनींदी हालत में उसका ओढ़ना खींचा जाय, इत्यादि।

इस अवस्था मे प्रत्याचरण तरह-तरह से होते है— जैसे, साँस का अकस्मात् रुक जाना, हाथ से जिस किसी चीज को पाकर पकड़ लेना, अकस्मात् आँखें बन्द कर लेना, ओंठ सिकोड़ना, फिर रोना, आदि।

डाक्टर वाट्सन ने अपने द्वारा प्रस्तुत की गई इस सम्बन्धी सूची की पूर्णता का दावा नही किया है और न उपर्युक्त सूची में डाक्टर वाट्सन द्वारा प्रस्तुत सारे आचरण प्रत्याचरण ही में शामिल किये गये है। इनके अतिरिक्त भी इस तरह के अनेकों आचरण बताये जा सकते है। यह सब होने पर भी इस बात के लिए पर्याप्त उदाहरण मौजूद हैं कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य बालक में मिश्रित कार्य करने की आन्तरिक वृत्ति कम ही होती है। कई प्राणियों के मुकाबले मनुष्य जीवन-युद्ध के लिए एक असज्जित और अरक्षित सैनिक ही है। कई प्रकार के प्राणियों में स्वरक्षा की शक्ति और वृत्ति पैदाइश से ही रहा करती है। इसके विपरीत मनुष्य पर्याप्त बाह्य सहायता के बिना स्वरक्षा का सामर्थ्य नही प्राप्त कर सकता। फिर भी मनुष्य अपनी स्वयंभू वृत्तियों के अभाव की पूर्ति अनुभव और शिक्षा द्वारा कर लेता है; क्योंकि वह आदतें पैदा करने और पिछले अनुभवों के परिणामो का चेतनापूर्वक उपभोग कर सकने की भी शक्ति रखता है।

प्रमुख स्वयंभू वृत्तियाँ

अब कुछ प्रमुख स्वयंभू वृत्तियों पर अलग-अलग ध्यान दिया जाय :—

१. *जिज्ञासा या जानने की इच्छा*—यह एक प्रबल स्वयंभू वृत्ति है। यद्यपि यह प्रवृत्ति कई अन्य प्राणियो में भी होती है, पर मनुष्य में इस प्रवृत्ति का जितना विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्यत्र नहीं। जो वस्तुएँ आकर्षक होती है—जैसे रंगीन, चमकीली, विचित्र—उनकी ओर बच्चे का ध्यान तुरंत जाता है और यदि वे पहुँच के भीतर हुईं, तो उन्हे प्राप्त करने की चेष्टा-संबंधी आचरण वह करने लगता है। इसीलिए 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के पंडितों के प्रभाव से आजकल पाठ्यक्रम में दस्तकारी और वस्तुपाठ पर अधिक जोर दिया जाता है, क्योंकि इनमें बच्चे चीजों को छूते, उठाते तथा देखते है और इस कारण उन चीजों के बारे में वे जो कुछ भी सीखते है, उसे कभी भूलते नहीं। यह तो हुई इन्द्रियजन्य ज्ञान की पिपासा।

दूसरी होती है बुद्धयात्मक जिज्ञासा, जिसमे बाह्य जगत् की चीजो को देखने आदि से कोई सम्बन्ध नही होता, वरन् वस्तुओं का कारण ढूँढ़ने, ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विचारों की तह तक पहुँचने आदि का काम होता है। इस प्रवृत्ति को भी यदि प्रारम्भ में अभ्यस्त होने का अवसर नहीं मिलता, तो फिर बाद को प्राय. वह अविकसित ही रह जाती है।

२. *अनुकरण*—मनुष्य में यह शक्ति सब प्राणियों से अधिक होती है। बच्चा जैसी संगति में रहता है, वैसी ही आदतें वह सीखता है। हमारी भाषाएँ, हमारे कला-कौशल, हमारी विद्याएँ, हमारी संस्थाएँ, हमारे रीति-रिवाज, हमारा पहनावा, आदि सब अनुकरण ही के फल है। प्रायः देखा गया है कि एक कुटुम्ब के सब आदमियो के हस्ताक्षर एक ही प्रकार के होते है और चाल भी प्रायः एक ही तरह की। ऐसे मनुष्य-बालकों की भी बातें आपने सुनी होंगी जिन्हे बचपन में भेड़िये उठा ले गये थे। वे भेड़ियों के,

बीच रहे और उन्हीं का अनुकरण करके भेड़ियों जैसे ही हो गये। हाथ-पैरों के बल चलना, कच्चा मांस खाना, 'ऊँ' 'ऊँ' के सिवा और शब्द न उच्चारण कर सकना, मनुष्य से दूर भागना, जंगली जीवों का शिकार करना आदि बातें उनके स्वभाव-सी हो गई।

अनुकरण का प्रभाव बोली पर बहुत अधिक होता है। एक स्थान के निवासी प्रायः एक ही प्रकार का उच्चारण करते हैं। कहा जाता है कि जो लोग जन्म से गूंगे और बहरे होते हैं, वे यथार्थ मे बहरे ही रहते हैं। उनके कंठ या जिह्वा आदि शब्दोच्चारक यन्त्रों में कोई बुराई नहीं होती। परन्तु शब्द न सुन सकने के कारण वे उनका अनुकरण नहीं कर सकते और उनमे मूकता आ जाती है।

स्पर्धा, ईर्ष्या आदि भी अनुकरण ही से पैदा होती हैं। कोई आदमी कोई काम जिसी तरह से करता है, उस काम को दूसरा आदमी भी उसी तरह से करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अनुकरण कहते हैं। साधारण अनुकरण में यह इच्छा नहीं होती कि जो कुशलता पहले आदमी ने दिखाई, वही दूसरा भी दिखाए। परन्तु यह इच्छा जब क्रमशः बढ जाती है, तब उस प्रवृत्ति को स्पर्धा कहते हैं। स्पर्धा में आदमी को यह इच्छा रहती है कि जो काम अन्य लोग करते हैं, वही मैं भी करूँ और उसका परिणाम औरों के परिणाम से किसी तरह बुरा या कम न हो, वरन् जहाँ तक हो सके, उससे अधिक अच्छा ही हो। यही प्रवृत्ति जब खूब प्रबल हो जाती है, अर्थात् आदमी के मन में जब यह इच्छा पैदा होती है कि मेरा महत्व औरों के महत्व से अधिक हो जाय, तब उसे औरों की उन्नति अच्छी नहीं लगती और अपनी उन्नति न कर सकने पर वह औरों की अवनति चाहने लगता है। इसी वृत्ति को ईर्ष्या कहते हैं।

सारांश यह है कि स्पर्धा और ईर्ष्या भी अनुकरण के ही रूप हैं। जहाँ तक अपनी उन्नति करने की इच्छा रहे और उस उन्नति के लिये उचित साधन काम मे लाये जायँ, वहाँ तक कोई हानि नहीं; किन्तु अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए जब दूसरों की हानि सोची जाती है, तब वह कार्य बुरा कहा जाता है।

३. स्वत्व—अपनी संपत्ति, अपने वस्त्र, अपने घर और अपने कुटुम्ब के लिए मनुष्य का बड़ा पक्षपात होता है। जो वस्तु अपनी है, उसकी रक्षा के लिए लोग कुछ भी उठा नहीं रखते। त्यागी सन्यासियों की भी ममता अपने-अपने दंड-कमंडल और कोपीन आदि पर होती है।

जन्म से दूसरे ही वर्ष से यह प्राकृतिक वृत्ति पैदा होने लगती है और बच्चे की ममता अपनी चीजों पर अधिकाधिक होती जाती है। स्वत्व की जो स्वयंभू प्रवृत्ति है, वह मानव स्वभाव की उस असहायावस्था की देन है, जब जीवन अरक्षित तथा खतरों से भरा रहता था। बाद को विकास के क्रम में यही प्रवृत्ति 'स्वत्व की होड़' के रूप मे आकर घोर सामाजिक वैषम्य का कारण हुई।

४. विधायकता—विचार करके देखने पर हमें ज्ञात होगा कि ८-१० वर्ष की अवस्था तक बच्चों का काम चीजों को तोड़ने-फोड़ने और फिर उन्हे जोड़ने-सुधारने के सिवा कुछ नहीं होता है। आप हजार उपाय करें कि बच्चा चुपचाप ही रहे और चीजों को न छुए, परन्तु वह न मानेगा। अवकाश पाकर चीजों को उठाएगा, छुएगा, खोलेगा, बन्द करेगा, बजाएगा, चाटेगा, फेंकेगा, तोड़ेगा, फिर बनाने की कोशिश करेगा, उन पर हाथ फेरेगा, चढ़ेगा, उन्हें अपने सिर पर रखेगा, नापेगा और न जाने क्या-क्या करेगा। इन सब कामों का मतलब क्या है? मतलब यही है कि बच्चा जिन चीजों के बीच रहता है, उनके संपूर्ण लक्षण और धर्म जानने, उनके आकार और वजन आदि का अन्दाजा करने, उनकी बनावट से परिचित होने का यत्न करता है। लोक-दृष्टि से बनाना और बिगाड़ना परस्पर विरुद्ध बातें हैं, परन्तु बच्चे के लिए उनका महत्व समान है, क्योंकि दोनों ही दशाओं में वस्तुओं के वर्तमान रूप में कोई-न-कोई परिवर्तन ही किया जाता है।

अब प्रत्यक्ष है कि बच्चों को जितनी ही चीजों को छूने, हटाने, देखने, बनाने आदि का मौका मिलेगा, उतनी ही चीजों का उन्हें पूरा परिचय प्राप्त होगा। जो ज्ञान उन्हें केवल पुस्तक द्वारा होगा, वह सदा कच्चा बना रहेगा। इसी कारण आधुनिक शिक्षा मे यथार्थ वस्तुओं को सामने रखकर शिक्षा देने पर जोर दिया जाता है।

इसी प्रवृत्ति से लाभ उठाने के लिए बड़े-बड़े स्कूलों में मिट्टी के खिलौने बनवाये जाते हैं। लकड़ी का काम सिखाया जाता है। कागज काटकर उनसे अनेक चीजों के नमूने तैयार कराये जाते हैं। कमरा और मैदान आदि बच्चों से नपवाकर उनके नकशे बनवाये जाते हैं। ये काम इसलिए कराये जाते हैं, जिससे बच्चों को अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

५. भय—यह एक अत्यंत प्रबल स्वयंभू वृत्ति है। इससे बड़े-बड़े काम लिये जाते हैं। बहुतेरे बुरे आदमी केवल राजदंड ही के डर से नीति पर चलते हैं। बच्चे घर पर हौआ से डरकर माता-पिता की आज्ञा मानते हैं। स्कूल

में भी उन्हें दंड का भय रहता है, इसीलिए लड़के सबक याद करते हैं। इस प्रवृत्ति का मनुष्य के जीवन पर इतना प्रबल आधिपत्य होता है कि उसके कारण प्रायः उसे अनेक मानसिक गुत्थियों या उलझनों का शिकार होना पड़ता है। हम देखते हैं कि आज के दिन बड़े-बड़े राष्ट्र तक युद्ध के भय से निरंतर आशंकित रहते हैं। और इसी से प्रेरित अपनी आय का अधिकांश अस्त्र-शस्त्रों पर खर्च करते हैं।

६. प्रेम--यह प्रवृत्ति मनुष्य में बहुत ही जोरदार है। इसके बारे में बड़े-बड़े विवादास्पद प्रश्न मनोविज्ञान-शास्त्रियों ने खड़े किये हैं।

चेतनवृत्तियाँ और चेतना-प्रवाह

मनोविज्ञान का ध्येय मनुष्य के स्थूल मस्तिष्क का अध्ययन नहीं, वरन् उसकी चेतनता तथा उससे संबंधित क्रिया-प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालना है। अतएव आइए, सबसे पहले इस चेतना-प्रवाह पर ही विचार करें।

हम कहते हैं कि मनुष्य चेतन है और मिट्टी जड़ है; क्योंकि मनुष्य सोच-विचार सकता है, उसे सुख-दुख की अनुभूति होती है, वह इच्छा कर सकता है, उसके स्मृति है, और वह चिन्तन कर सकता है, जो गुण मिट्टी में कदापि नहीं है। इन्हीं गुणों को मनोविज्ञान की भाषा में चेतनवृत्तियाँ कहते हैं। मनुष्यमात्र को जागृति अवस्था में और कभी-कभी निद्रित अवस्था में भी चेतना रहती है। चेतनवृत्तियाँ मनुष्य के मन में उठती और विलीन होती रहती हैं, वे निरन्तर बदलती रहती हैं।

चेतना का क्षेत्र

चेतना का क्षेत्र वह इकाई होती है, जो एक विशेष समय में मस्तिष्क के सामने होती है। इस क्षेत्र में, भावना, विचार, रूप और दृश्य सभी कुछ सम्मिलित रूप में आते रहते हैं और जागृत अवस्था से लेकर निद्रित अवस्था तक यह क्षेत्र निरंतर क्रमबद्ध रहता है। कभी-कभी कहा जाता है कि चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर होता है और चेतना की कई श्रेणियाँ होती है, जैसे 'गहरी' चेतना और 'हल्की' चेतना। इसका मतलब केवल इतना ही है कि किसी समय किसी वस्तु-विशेष को हम अधिक मूल्यवान् समझते हैं और उसके बारे में हमारी चेतना विशेष रूप से सजग अथवा अनुभूतिपूर्ण रहती है।

चेतना में 'अब' का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि 'अब' चेतना के साथ सर्वदा ही विद्यमान रहता है और अनुभव उसका क्रम जारी रखता है। यहाँ अनुभव और चेतना का अन्तर समझ लेना आवश्यक होगा। यद्यपि 'अनुभव करनेवाला व्यक्ति' और 'चेतन व्यक्ति' का अंतर हम समझ सकते हैं तथापि अक्सर ये दोनों शब्द भ्रम भी उत्पन्न कर देते हैं। ये दोनों शब्द समानार्थक केवल उसी अवस्था में कहे जा सकते हैं, जब कि 'चेतन' कहते समय हम पूर्ण 'जड़ का विरोधी' अर्थ प्रकट करना चाहें। दूसरी अवस्थाओं में इन शब्दों का एक अर्थ में प्रयोग खतरे और भ्रम से खाली नहीं हो सकता। चूँकि 'चेतना' निश्चयपूर्वक हमारी मानसिक क्रियाओं के 'आत्मगत' पहलू से सम्बन्ध रखती है, न कि 'बाह्यगत' पहलू से, इसीलिए वह अनुभव से सर्वदा भिन्न चीज है, जो उक्त दोनों या किसी एक से भी सम्बन्ध रख सकती है। इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि जब हम यह कहते हैं कि हम इस या उस वस्तु के गुणों अथवा रूप के प्रति 'चेतन' (सचेत) हैं, तो हमारा मतलब सिर्फ इतना होता है कि हम दृश्य या चिन्त्य रूप में उस चीज की अथवा उसके गुणों की विद्यमानता से 'सचेत' हैं। इसके विपरीत एक यात्री जब अपनी यात्रा का वर्णन करेगा तो वह अपने अनुभव बतलाएगा न कि अपनी 'चेतना' की अवस्थाओं का वर्णन करेगा।

चेतना का अविरल प्रवाह

चेतना का प्रवाह नदी के बहाव-जैसा अविच्छिन्न रूप से जारी रहता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मन में एक चेतनवृत्ति उपस्थित होकर समाप्त हो जाय और फिर कुछ देर रुककर दूसरी आए। इसके विपरीत, एक चेतन-वृत्ति के रहते ही दूसरी आ उपस्थित होती है। चेतना के आधार होते हैं--अनुभूति और इन्द्रियजनित ज्ञान। यद्यपि अनुभूति और इन्द्रियजनित ज्ञान का विस्तृत विवेचन हम अगले अध्यायों में करेंगे ही, पर यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अनुभूति के गुणात्मक अन्तर जितने ही कम हैं, इन्द्रियजनित ज्ञान के उतने ही असंख्य हैं। इस-लिए इन्द्रियजनित ज्ञान के साथ उस प्रकार के ज्ञान की क्रमबद्धता स्वभावतः ही अनेकों दिशा में प्रसरित और मिश्रित होगी और ज्ञान का अनुभूति से एवं अनुभूति का अनुभूति से क्रम इसी तरह कम और साधारण रहेगा।

अब देखा जाय कि चेतनवृत्तियों के साधारण लक्षण क्या है।

आप अपने कमरे मे एकान्त में बैठे है। आपके आगे मेज पर सुन्दर नक्काशी की हुई तश्तरी रक्खी है। उसको देखकर आपको एक दर्शनजनित ज्ञान पैदा हुआ, जिसे साधारण भाषा मे यो कहेगे कि आपको आनन्द प्राप्त हुआ। अर्थात् आपको वह तश्तरी सुन्दर लगी। अब ध्यान देने की बात है कि वह चेतनवृत्ति, जो आपको उक्त तश्तरी को सुन्दर समझने की प्रेरणा देती है, आपके मन मे कितनी देर तक रह सकती है। शायद आप कहना चाहेगे कि यह बात आपकी इच्छा पर निर्भर करती है। किन्तु यह एक भ्रमात्मक धारणा होगी, क्योंकि आपकी वह चेतनवृत्ति कुछ क्षणो से अधिक स्थायी कदापि नही हो सकेगी। उस तश्तरी पर आप चाहे जितनी देर भी दृष्टि लगाये रहे, आपकी चेतनवृत्तियाँ लगातार परिवर्तित होती रहेगी। आप कभी तश्तरी की धातु पर ध्यान देंगे, कभी उसके रंग पर और कभी उसकी नक्काशी पर। आप चाहे कितने ही संयम से काम ले, फिर भी क्षण भर में ही आपका मन न जाने कहाँ-कहाँ घूम आएगा। कभी आपके ध्यान मे धातु के साथ-साथ उसकी खान का ध्यान आएगा; कभी उस तश्तरी के बनानेवाले कारीगर का; कभी उस कारीगर के परिश्रम का; कभी उस परिश्रम के शोषण का, फिर शोषणजनित दरिद्रता का! फिर, अनुभूति जागृति और यहाँ जाकर दो भिन्न प्रकार की चेतनता के आधारो का सम्मिश्रण होगा। यानी आपकी चेतनवृत्ति इन्द्रिय-जनित ज्ञान के धरातल पर आ जायगी और इस तरह आपकी चेतनवृत्तियों की क्रमबद्धता लगातार चलती रहेगी।

अलग-अलग व्यक्तियों की अलग-अलग चेतनवृत्तियाँ

अब हम आप से पूछे कि क्या उस अवस्था मे उस तरह की तश्तरी देखकर सभी व्यक्तियों के मन मे एक ही तरह का चेतना-प्रवाह हो सकता है? साफ ही है कि तश्तरी को देखकर सबके मन में एक ही प्रकार के भाव नही उठ सकते। उसी प्रकार की तश्तरी को देखकर किसी के मन मे यह भाव पैदा हो सकता है कि इस ढंग की थाली बने तो कितना सुन्दर हो, और फिर उस सिलसिले में उसे किसी ऐसे स्थान का नाम भी याद आ सकता है, जहाँ उस प्रकार की तश्तरियाँ और थालियाँ बनती हो। फिर उक्त स्थान की नदियों पर उसका ध्यान जा सकता है, तथा उक्त नदी की छाती पर नौका-विहार की इच्छा भी जाग्रत हो सकती है। इसी तरह उसके चेतना-प्रवाह का क्रम अविच्छिन्न चल निकलेगा। इस तरह जितने आदमी उक्त प्रकार की तश्तरी देखेगे, सबके मन में भिन्न-भिन्न चेतनवृत्तियाँ जागरूक हो उठेगी और स्वभावत: बदलती भी रहेगी। यहाँ ध्यान देने की बात है कि यद्यपि वृत्तियो की क्रमबद्धता की रीति सबके साथ एक ही जैसी होगी, यानी एक चेतनवृत्ति के बाद दूसरी का पैदा होते जाना जारी रहेगा, तथापि उनका स्थूल रूप सबके मन में भिन्न-भिन्न होगा।

चेतना के लक्षण

अब चेतना के मुख्य लक्षणो पर सक्षेप मे विचार किया जाय :—

(१) चेतनवृत्तियाँ प्राणिमात्र मे कम या अधिक अवश्यम्भावी होती है। ये वृत्तियाँ हवा में उड़ती नहीं फिरा करती, बल्कि वे किसी चेतन प्राणी की वृत्तियाँ होती है।

(२) प्रत्येक प्राणी की चेतनवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न होती है। आपकी आपके मन में, हमारी हमारे मन मे, और किसी तीसरे व्यक्ति की उसके मन मे। हाँ, यह संभव हो सकता है कि किन्ही-किन्ही मनुष्यों की चेतनवृत्तियो का क्रम किसी विशेष रूप में समान हो। पर उनका पारस्परिक सम्बन्ध तो ऐसा नहीं होता। दो व्यक्तियों की चेतनवृत्ति में समानता असंभव है।

(३) चेतनवृत्तियाँ पानी की धारा की तरह निरंतर प्रवाहमान होती है। क्रमबद्धता और परिवर्तन उनका प्रधान गुण है। कोई भी चेतनवृत्तियाँ अपने मौलिक स्वरूप मे कुछ क्षणों से अधिक स्थायित्व नही रखती।

(४) यद्यपि एक चेतनवृत्ति का संबंध परवर्ती सैंकड़ों चेतनवृत्तियो से हो सकता है, परन्तु मौलिक चेतनवृत्ति का सकेत मात्र पाकर एक ही वृत्ति उसके पीछे आती है। एक ही तश्तरी को देखकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के मन मे भिन्न-भिन्न प्रकार की चेतना पैदा हो सकती है, परन्तु किसी के मन मे वे सारी चेतनाएँ एक साथ जाग्रत हो आएँ ऐसा असंभव है।

चेतनवृत्तियों के गुणात्मक परिचय अथवा उनकी प्रकृति के बारे मे जानने के लिए हम एक स्थूल उदाहरण लें। एक प्रोफेसर अपना लेक्चर तैयार कर रहे है। उनका ध्यान उसमे लीन है। घड़ी सामने रक्खी है। कालेज का समय हुआ जा रहा है। मन में देर होने का भाव एक कोने में पड़ा हुआ है। मुहल्ले के लड़के चीख रहे है और प्रोफेसर साहब का ध्यान बँटा लेते है। उनके काम में

विघ्न उपस्थित होता है, यद्यपि वह काम किये ही जा रहे हैं। वह उठना ही चाहते हैं कि शोर करनेवाले बच्चों को डाँट भगाएँ, पर तभी घड़ी पर ध्यान जाकर टिक जाता है। फिर देरी का खयाल आता है और अपना ध्यान केन्द्रित कर वह फिर अपने काम में लग जाते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि प्रोफेसर साहब की चेतना के केन्द्र में लेक्चर तैयार करने का ही विचार स्थापित है, फिर भी उनके चेतन-केन्द्र के इर्द-गिर्द कालेज के लिए देर होने, लड़कों के चिल्लाने आदि के भाव का भी हल्का-हल्का प्रभाव विद्यमान है। किन्तु उन सबका प्रभाव भी एक-सा नहीं है। किसी का कम है, तो किसी का अधिक। लेक्चर तैयार करने, देर होने, आदि की चेतना प्रोफेसर के मन में एक साथ उपस्थित अवश्य है, पर उसका अधिकांश लेक्चर तैयार करने के ध्यान से ही भरा हुआ है। अन्य बातें क्रमशः गौण स्थान रखती है।

प्रधान और गौण वृत्तियाँ

सारांश यह है कि चेतना की एक ही वृत्ति में साथ-साथ लगी अन्य कई वृत्तियाँ भी रहा करती हैं। किन्तु सबकी शक्ति क्रमशः न्यून अंशों में हुआ करती है। जिसका प्रभाव सबसे अधिक होता है, चेतना-केन्द्र पर उसी का अधिकार होता है, और उसी के नाम से तत्कालीन चेतन-वृत्ति जानी जाती है। लेकिन इन विचारों में उलटफेर हुआ करता है। अक्सर ऐसा भी होता है कि जिस विचार का चेतना-केन्द्र पर अधिकार हो, उसकी उपस्थिति में भी गौण विचार पर्याप्त जागरूक हो उठें और केन्द्रीय चेतना पर हावी हो जाएँ। राजनीति की भाषा में यदि हम कहें तो मन वह प्रदेश है, जिस पर विजय प्राप्त करने के लिए अनेक अराजक चेतनवृत्तियाँ सदैव संघर्षशील रहती है।

बच्चों के मन में एक ही साथ बहुत-से विचार आते हैं। कभी एक शक्तिशाली हो उठता है, तो कभी दूसरा। नतीजा यह होता है कि उनका विचार एक ही चीज पर स्थिर नही रहा करता। चेतना की उपमा बहते हुए पानी से दी गई है। ठीक उसी तरह चेतनवृत्तियों का जितना अधिक अव्यवस्थित प्रसार होगा, उनकी गंभीरता उतनी ही कम होगी। सारांश यह कि एक चेतनवृत्ति को शक्तिशील और अगाध गंभीर बनाने के लिए आवश्यक है कि अन्य वृत्तियों को निरर्थक प्रसरित न होने दिया जाय और उन्हें यथासमय अलग-अलग एकाग्र किया जाय।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि चेतनवृत्तियों का आधार अनुभूतियों और इन्द्रियजनित ज्ञान, पर स्थापित है जिनके भीतर मन की लगभग समस्त वृत्तियाँ नहीं तो अधिकांश अवश्य ही आ जाती हैं। सुख, दुःख, संतोष, ज्ञान सब इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। चीजों के देखने, सुनने, छूने, चखने, स्मरण करने, तर्क करने आदि की सभी क्रियाएँ इनके अन्तर्गत आ जाती हैं। यद्यपि चेतना के उक्त आधारों का पारस्परिक संयोग और उनकी क्रमबद्धता बनी रहती है, तथापि उनमें से प्रधानता किसी एक ही की रहती है।

कल्पना कीजिए कि कोई हाकी खेलते-खेलते गिर गया। उसके सिर में गेंद लगने से सिर लहूलुहान हो गया। होश आने पर वह देखता है (यहाँ उसे ज्ञान होता है) कि उसे पीड़ा हो रही है (यहाँ उसे अनुभूति हुई)। वह देखता है कि उसके खून भी गिरा है (यह फिर ज्ञान का सूचक है), वह इच्छा करता है कि खून बन्द करने के लिए दवा लगा दी जाय (यहाँ पुनः उसे अनुभूति हुई)। और इस तरह चेतना के धरातल ज्ञान से अनुभूति, अनुभूति से ज्ञान तथा फिर ज्ञान से अनुभूति में बदलते रहते हैं।

अब कल्पना कीजिए कि वहीं उसका कोई साथी भी खड़ा है। उसके मन में भी इस घटना को देखकर उक्त दोनों चेतना के प्रधान गुण काम करते हैं। फटा हुआ सिर देखकर (यह ज्ञान की क्रिया है) उसे दया आती है और दुख होता है (यह अनुभूति का सूचक है), और वह फौरन् पानी से रुमाल भिगोकर घाव पर बाँध देता है (यह पुनः ज्ञान की सूचना है)। इसी तरह अनेकानेक दर्शकों के मन में भी उसके देखने से उत्पन्न ज्ञान और सहानुभूति के कारण पैदा अनुभूति और फिर सिर के लिए शुभ या अशुभ कामना के रूप में अनुभूति जाग्रत होती है।

अब इन विभिन्न व्यक्तियों के मन में कौन-सी वृत्ति प्रधान है, यह कह सकना कठिन है। चोट खानेवाले खिलाड़ी के सिर में पीड़ा है, प्रतिशोध की भावना है। इसलिए उसके मन में अच्छे होने, उपचार करने आदि वृत्तियों के होते हुए भी अनुभूति की ही प्रधानता है। उसके साथी के मन में भी दोनों चेतनवृत्तियाँ हैं; परन्तु प्रधानता अनुभूति की है, क्योंकि वह चाहता है कि सिर जल्दी अच्छा हो जाय। पर अन्य लोगों के मन में मात्र कौतूहलजनित ज्ञान है।

चेतनवृत्तियों का पारस्परिक संबंध

इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न व्यक्तियों के मन पर विभिन्न चेतनवृत्तियों का प्रभाव अलग-अलग सोचा जा सकता है और उनका विवरण इस प्रकार दिया

जा सकता है कि मानों उनका कोई भी पारस्परिक संबंध नहीं है, पर यथार्थ में देखें तो हर चेतनवृत्ति में परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध हुआ करता है।

एक प्रश्न और है। क्या हमारी सम्पूर्ण चेतना किसी भी घड़ी सुख अथवा दुख से एकदम असम्बन्धित रह सकती है ? संभव हो, ऊपर से ही देखकर इसका जवाब यह दे दिया जाय कि क्यों नहीं ? क्या हम एक पत्थर अथवा एक लकड़ी के टुकड़े के अस्तित्व का ज्ञान किसी प्रकार के सुख-दुःख की भावना मन में लाये बिना ही नहीं प्राप्त कर सकते ? परन्तु बात दरअसल ऐसी नहीं है।

यदि गहराई में पैठकर देखा और विचार किया जाय तो साफ हो जायगा कि हमारी पूर्व अनुभूत वस्तुओं और दृश्यों के ऐसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव हमारे चेतन मन में सदा विद्यमान रहते हैं, जिनके अनुकूल या विपरीत वस्तुओं को पाकर हमें किसी न किसी मात्रा में आनन्द या दुःख अथवा चिढ़ होती ही है। इस तरह हमारी सम्पूर्ण चेतना प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता की भावना से कभी भी खाली नहीं रहती, न रह ही सकती है।

चेतना का आधार

मनोविज्ञान-शास्त्र प्रधानतः चेतना के प्रकारों से ही सम्बन्धित है, पर उन प्रकारों का परस्पर सम्बन्ध न हम तब तक जान ही सकते हैं और न उसकी स्थापना ही कर सकते हैं, जब तक कि हम यह ठीक तरह से न समझ लें कि चेतना या चेतना का आधार कहाँ है।

तनिक-सा विचार करने पर बात साफ हो जाती है। निश्चय ही एक चेतन मन के बिना हम चेतनता के प्रकार अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि चेतन मन ही संपूर्ण चेतना का स्वामी होता है। वही उनका आधार होता है।

इस चेतन मन का ज्ञान हमें कैसे होता है, यह प्रश्न ऐसा है, जिसके वैज्ञानिक उत्तर की सत्यता निजी अनुभवों से जाँची जा सकती है। इस चेतन मन का अस्तित्व हमें उसके प्रभाव से—चेतन-प्रवाह को व्यवस्थित करने के उसके अनिवार्य कार्यों से—ज्ञात होता है।

चेतना के दो पृष्ठ

हमारी चेतना का क्षेत्र दो भागों मे विभाजित रहता है। एक को कहा जा सकता है जागरूक और दूसरे को सुप्त। चेतना का जागरूक क्षेत्र वह होता है, जहाँ चेतन मन पूरी चौकसी रखता है और सुप्त क्षेत्र ठीक इसी का विपरीत है। इस तरह कहा जा सकता है कि साधारणतः सम्पूर्ण चेतना के क्षेत्र में पूर्णतः चिंतित और दृष्टिगत पदार्थ केन्द्रीय रूप से तथा अधूरे और अव्यवस्थित ढंग से सोचे और देखे गये पदार्थ परिधि पर आते हैं। अब यहाँ पर गलतफहमी से बचने के लिए यह भी कह दिया जाय कि यह सच नहीं भी हो सकता है कि पूरी तौर से सोचे और देखे गये सभी पदार्थ चेतन मन की चौकसी के दायरे में अवश्यमेव आते ही हों, लेकिन इतना ध्रुव सत्य है कि उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ कदापि नहीं आते।

ऊपर के वक्तव्य को ठीक तरह समझा देने के लिए आवश्यक है कि यह बतला दिया जाय कि पूर्णतः चिन्तित और दृष्टिगत पदार्थ किन अवस्थाओं में चेतन मन की चौकसी के दायरे के बाहर भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए एक उपवन लिया जाय, जहाँ एक से एक सुन्दर क्यारियों में एक से एक मनोहर फूल खिले हैं। जब हमारी चेतना उप-वन की सम्पूर्ण सुन्दरता से परिपूर्ण होगी तो यह आवश्यक नहीं होगा कि उस उपवन के एक-एक गुलाब और एक-एक बेले के फूल की सुन्दरता की पृथक्-पृथक् चेतना हमारे मन को हो। इसी तरह किसी अपरिचित विदेशी भाषा के गान सुनते समय उसकी सम्पूर्ण ध्वन्यात्मक अथवा रागात्मक सौंदर्य की चेतना से अभिभूत होने के साथ उन ध्वनियों और रागों में से प्रत्येक की चेतना हमें अलग-अलग भी हो, यह कदापि अनिवार्य या आवश्यक नहीं है।

पदार्थों के प्रत्यक्ष चेतना में अवतीर्ण होने के लिए प्रमुख आवश्यकता है उक्त पदार्थों के प्रति रुचि या रुझान की। अक्सर इस प्रकार की रुचि जन्मगत अथवा अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है—ऐसी जो अनुभूति और इच्छाओं का आधार होती हैं। हमारे चेतना के प्रवाह की गति निर्धारण करने अथवा उसका संचालन करने में इनका ही प्रधान हाथ होता है। इनकी मात्रा और शक्ति उस रुझान की मात्रा के अनुसार ही कम या अधिक हुआ करती है, जो अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग अंश में होती है।

मगर यह समझना भूल होगी कि चेतना एक ऐसी अना-वश्यक और फालतू चीज है, जो किसी विशेष स्थिति पर अकारण और अनायास उत्थित हो जाती है, और जिसका कोई औचित्य-अनौचित्य नहीं है, जैसा कि जड़ भौतिक-वादियों का ख़याल है। हाँ, वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनु-सार यह सच है कि बहुत अंशों में भौतिक कारणों के नियमा-नुसार भौतिक उपादानों से ही इसका प्रादुर्भाव एक विशेष निर्धारित नियम की सीमा में होता है।
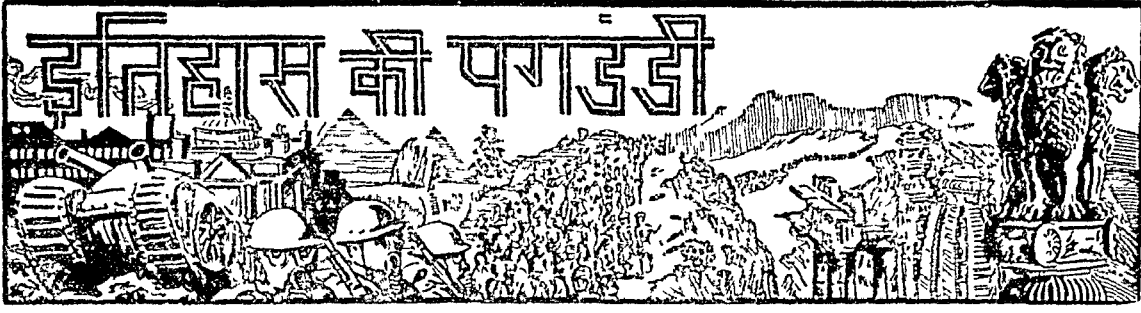
सभ्यताओं का उदय—(२)
सुमेरियन सभ्यता

आरंभिक सभ्यताओं के प्राचीनतम स्मारक प्रायः नील, सिन्धु, दजला-फरात, गंगा-यमुना आदि नदियों की तलहटियों में ही मिले हैं, जिससे धारणा होती है कि इन्हीं में से किसी के तट पर सभ्यता की सर्वप्रथम किरणें फूटी होंगी। सिन्धु और गंगा-यमुना नदी के अंचल में पनपनेवाली प्राचीन भारतीय सभ्यता का वर्णन हम कर चुके हैं, अब दजला-फरात के दोआबे में पायी गयी एक अन्य समकालीन सभ्यता का हाल सुनाने जा रहे हैं। इसके जो कुछ भी स्मारक प्राप्त हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि सुमेरियन लोग किन्हीं-किन्हीं बातों में अन्य समकालीन लोगों से भी बढ़े-चढ़े थे।

प्राचीन इतिहास के अधिकतर विद्वान् अभी तक मिस्र की सभ्यता और उसकी राजसत्ता को ही सबसे पुरानी मानते रहे हैं, इसीलिए मिस्र के इतिहास का वर्णन वे पहले करते रहे हैं। किन्तु इधर कुछ वर्षों से इस मत पर सन्देह किया जाने लगा है और सभ्यता का आरम्भ एशिया में ढूंढा जा रहा है। मध्य एशिया, मसोपोटेमिया अर्थात् दजला-फरात का दुआबा, सिन्धु नदी की तलहटी और पूर्वीय एशिया के द्वीप-समूह में से किसी एक जगह पर सभ्यता के आरम्भ का अनुमान किया जाता है। इन मतों मे पहले तीन मत ही मुख्य हैं। मनु का और प्राचीन भारतवालों का तो यह मत था, जिसे अब भी कुछ विद्वान् सत्य मानते हैं कि सभ्यता का आरम्भ उत्तरी भारत में ही हुआ और यहाँ से ही वह सारे संसार में फैल गई। आधुनिक खोजें भी इस मत का उत्तरोत्तर समर्थन कर रही हैं, किन्तु अभी अकाट्य प्रमाण प्राप्त न होने के कारण यह सर्वस्वीकृत नहीं हो सका है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सभ्यता का आरम्भ मसोपोटेमिया में हुआ, जिसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ पूर्व और पश्चिम के मेल में अधिक सुविधा थी। वहाँ की खोजें भी इस मत को बहुत-कुछ पुष्ट करती हैं। फिर भी अधिक झुकाव इसी ओर है कि सभ्यता का आरम्भ मध्य एशिया में हुआ। मध्य एशिया मे पहले जल की कमी न थी, जैसी कि बर्फ हटने के बाद पैदा हो गई। आज से करीब सात या आठ हजार वर्ष पहले इस प्रदेश में गेहूँ, बाजरा और जौ पैदा किया जाता था, जानवर पाले जाते थे और मिट्टी के अच्छे बरतन बनाये जाते थे। उस सभ्यता का अभी बहुत ज्ञान नहीं हुआ
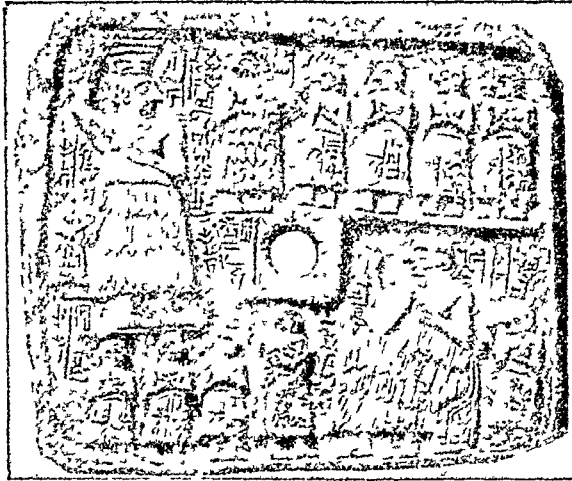
५,००० वर्ष पूर्व की सुमेरियन सभ्यता का एक स्मारक

इसमें लगश नगर का एक शासक 'उर-निना' दो भिन्न-भिन्न अवसरों पर अपने चार पुत्रों और एक पुत्री से भेंट करते हुए दिखाया गया है।
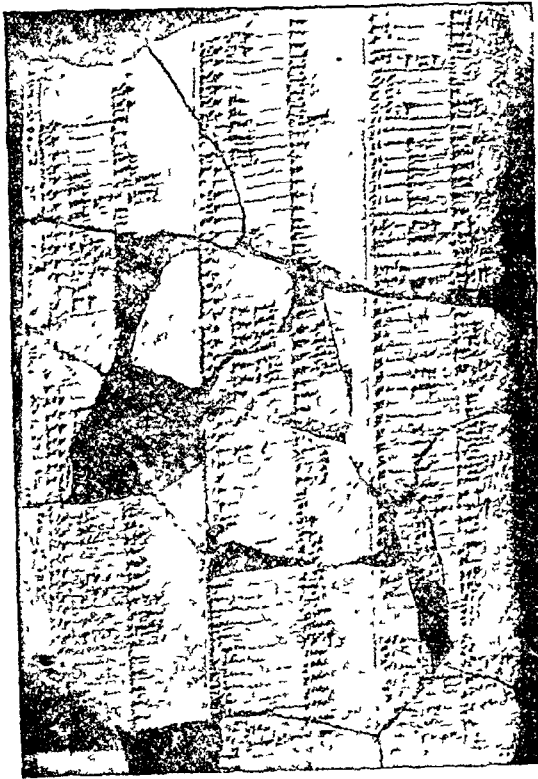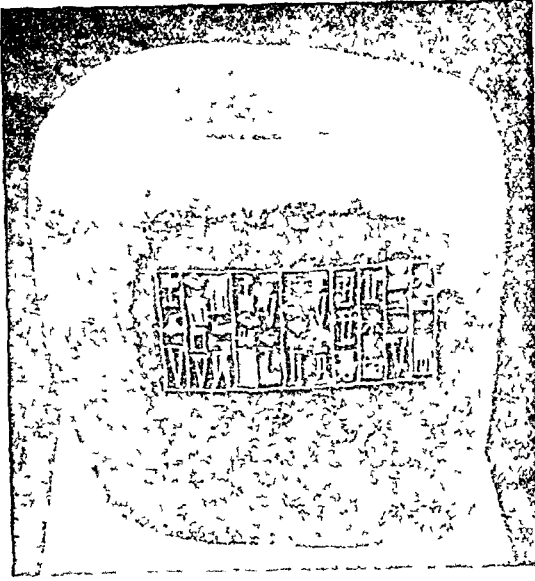
सुमेरियन सभ्यता के अद्भुत अभिलेख

(ऊपर) विवाड़ घुमाने के लिए प्रयुक्त पत्थर की कुंडी पर अंकित अभिलेख: (नीचे) आग में पकाई गई मिट्टी की तख्ती, जिस पर कीलाकार अक्षरों में पाँच हजार वर्ष पूर्व के लेख अंकित हैं।

है। यह अनुमान किया जाता है कि पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन सबसे पहले यहीं हुआ। जब यहाँ जल की कमी होने लगी और रेगिस्तान बढ़ने लगा, तब यहाँ से लोग इधर-उधर हटने लगे। उन्हीं के साथ अथवा उन्हीं के प्रभाव से सभ्यता चारों ओर फैल गई। यहाँ से एक शाखा तो चीन और मंचूरिया चली गई, जहाँ से सभ्यता की लहरें सखालियन डमरूमध्य की राह से उत्तरी अमरीका तक पहुँच गई। दूसरी शाखा भारतवर्ष को चली आई। तीसरी शाखा पश्चिम की ओर बढ़ी और ईरान, मसोपोटेमिया, मिस्र, इटली और स्पेन तक पहुँच गई। जो कुछ हो, यह निश्चय रूप से कहना कि सभ्यता का आरम्भ अमुक प्रदेश में ही सबसे पहले हुआ, अभी तक संभव नहीं है।

दजला और फरात नदियों के दुआबा और तलहटियों में प्राचीनतम सभ्यताओं ने बहुत उन्नति की। यहाँ पर कई पुराने नगरों और राज्यों की निशानियाँ मिलती हैं। इनमें किश, अगद, लगश, निप्पर, उर, अस्सुर, बेबिलान आदि नगर मुख्य थे। इस दुआबे के उत्तर और पश्चिम में पहाड़ियाँ, दक्षिण में ईरान की खाड़ी और पश्चिम में अरब है। इन दोनों नदियों के मुहाने के आसपास की भूमि दुआबे के अन्य भागों से अधिक उपजाऊ है। यहीं पर सुमेरिया नामक राज्य था। यहीं की सभ्यता को 'सुमेरियन सभ्यता' कहते हैं।

सुमेरियन लोग—आकृति और वेशभूषा

अभी तक इसका ठीक पता नहीं चला कि सुमेरियन लोग कौन थे। इनका कद छोटा, नाक ऊँची और नुकीली, माथा दबा हुआ और आँखें नीचे की ओर झुकी हुई थीं। इनके सिर मुँडे रहते थे। इनमें कुछ तो दाढ़ी रखाते और कुछ मुँडाते थे। इनकी पोशाक ऊनी थी। साधारण लोग सिर्फ तहमत बाँधे रहते थे; कमर से ऊपर उनका बदन नंगा रहता था। किन्तु अमीर लोग गले तक पोशाक पहना करते थे। वे सिर पर टोपी और पैरों में कसी हुई चट्टी पहनते थे। औरतें नरम चमड़े की जूती पहनती थीं। यह तो निश्चित जान पड़ता है कि सुमेरियन लोग सेमेटिक वर्ग के नहीं थे। कुछ लोग इनका संबंध मध्य एशिया की मंगोल-जाति से मानते हैं, कुछ इन्हें आर्य या द्राविड़ समझते हैं। द्राविड़ लोग किसी समय स्पेन, मध्य अफ्रीका और भारत के पूर्वीय भाग तक फैले हुए थे।

कहा जाता है कि ईसा से पाँच हजार वर्ष पूर्व ममो-

पोटेमिया में वे लोग आये, जो इतिहास में 'सुमेरियन' नाम से प्रसिद्ध हैं। सुमेरिया में करीब पांच हजार वर्ष पूर्व के मिट्टी की ईंटों पर अंकित किए हुए मार्के के कुछ लेख मिलते हैं, जिनके लेखक संभवतः वहाँ के पुरोहित होंगे। इनसे तथा इनके बाद के ईंटों के लेखों से सुमेरिया ही नहीं, बल्कि मसोपोटेमिया एवं आस-पास के अन्य प्रदेशों और राज्यों के प्राचीन इतिहास, कानून और संस्थाओं का भी पता चलता है। सभ्यता का इससे पुराना अंकित प्रमाण अन्यत्र कही नही पाया जाता। इन लेखों के अनुसार सुमेरियन राज्य की स्थापना आज से चार लाख बत्तीस हजार वर्ष पहले हुई थी! यह तो उनकी निरी कपोलकल्पना-सी जान पड़ती है, क्योंकि अभी तक जो पुरानी चीजें मिली है, वे साढे सात हजार वर्ष से अधिक पुरानी नही मानी जाती। तो भी इनकी ऐतिहासिक वंशावली पाँच हजार वर्ष से सिलसिलेवार मिलती है। किन्तु इनमे नामो के अलावा घटनाओ का उल्लेख नही है।

किश, एरेच, उर, लगश, आदि नगर-राज्य

पुरातत्ववेत्ता सुमेरिया के इतिहास को दो भागो में विभक्त करते हैं—एक तो वह जब वहाँ पर स्वतंत्र नगर थे, जिनमें "राजपुरोहित" (पटेसी) राज्य करते थे; दूसरा वह जब कि स्वतंत्र नगरों का दमन होकर वहाँ बड़े राज्य या साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। नगर-राज्यकाल में सबसे पुराना वृत्तांत 'किश' नगर या नगर-राज्य का है। इसके बाद एरेच, उर, अक्शक, लगश आदि नगरों का भी पता चला है। यह प्रतीत होता है कि मसोपोटेमिया में सुमेरियन लोग दक्षिण में थे और उनसे ऊपर सेमिटिक लोगों की प्रधानता थी। इन नगरो में आपस में कभी अनबन और कभी मित्रता भी हो जाती थी, जिससे कभी एक दूसरे पर अपना अधिकार जमा लेता अथवा स्वतंत्र हो जाता था। किश के 'मेसिलिम' नामक तीसरे राज-वंश के समय (३६२८-३४८८ ई० पू०) की इतनी ऐतिहासिक सामग्री मिली है कि हम उससे एक प्रकार का रेखा-चित्र खीच सकते है। इस वंश का चौथा राजा अपने को संसार का अधिपति लिखता था। किश ने कई भाग्य के चक्कर खाये और कई बार स्वतंत्रता खोई; किन्तु अन्त में वह फिर बलशाली हो गया और छः सौ वर्ष तक आधिपत्य जमाये रहा। उल्लेखनीय बात यह है कि इस राज-वंश की

सुमेरियन कला के दो सुन्दर नमूने

ऊपर की मूर्ति की आँखें सीपी और लेपिस लेजुली की बनी हैं। नीचे की वृषभ-मूर्ति समूची सुवर्ण और लेपिस लेजुली द्वारा निर्मित है।

स्थापिका एक स्त्री 'अजगवाऊ' थी, जो पहले शराब का रोजगार करती थी। महारानी की हैसियत से उसने अच्छा यश प्राप्त किया। अपनी योग्यता के कारण वह अपने पुत्र और पौत्री की राजनियन्त्री रही। उसके समय में किश ने साहित्य, कानून, कला और व्यापार मे अच्छी उन्नति की। सेमेटिक किशवालो पर सुमेरियन सभ्यता और धर्म की ऐसी छाप लग गई थी कि वे अपना व्यक्तित्व तक खो बैठे।

लगश नाम के एक और नगर ने भी अच्छी उन्नति की। इसका सबसे पुराना राजा शायद 'उर-निना' (३१०० ई०पू०) था। इसने आसपास के क्षेत्र पर ऐसा आतंक जमाया कि बाद को लोग उसकी मूर्ति की पूजा करने लगे। इसके वंश के राज्यकाल मे धर्माधिकारियो की एक नई श्रेणी पैदा हो गई। इस वंश में एक प्रख्यात राजा 'उरुकगिन' हो गया है। वह अपने को 'लगश और सुमेर का राजा' कहता था। उसने अनेक मन्दिर, इमारतें और एक नहर भी बनवाई। उसका दावा था कि उसने अपनी प्रजा को स्वतन्त्र कर दिया था। उसके प्रबन्धकाल मे धर्माधिकारी अथवा धनिक लोग गरीब से गरीब विधवा अथवा अनाथ बालक पर भी अत्याचार नही कर सकते थे। साधारण जनता को धर्म, धन, प्रभुत्व आदि के बलवान् अधिकारियो के त्रास और अनुचित हस्तक्षेप से बचाने का यह सबसे पहला प्रयत्न समझा जाता है। लगश का पतन उम्मा नगर के शोषक आक्रमण से हुआ। उम्मा के विजेता 'लुगल जग्गिसी' ने लगभग २५ वर्ष तक राज्य किया, परन्तु उसको राज्यच्युत कर 'सारगन' ने लगश पर आधिपत्य जमा लिया।

सारगन (२७७२-२७१७ ई० पू०) सेमेटिक वंश का था। किम्वदन्ती है कि इसकी मा नीची श्रेणी की और पिता अज्ञात था। मा ने उसे नरकुलो के ऊपर रखकर नदी मे बहा दिया था। एक सिंचाईवाले ने उसे नदी से निकालकर उसका पालन-पोषण किया और उसे माली बनाया। यही माली आगे चलकर बडा विजयी हुआ। उसने पचास नगरो को परास्त करके अपना राज्य बढाया। इसकी राजधानी 'अक्केड़' में थी। सारगन ने ठेठ भूमध्यसागर तक अपना राज्य बढा लिया और वह अपने को "संसार का सम्राट्" कहने लगा। कहा जाता है कि संसार का सबसे पहला साम्राज्य यही था। यदि यह सत्य है तो सारगन ही संसार का पहला सम्राट् कहा जाने का अधिकारी है। उसने अपने साम्राज्य को अनेक प्रान्तो में विभक्त कर दिया और प्रत्येक मे किसी "राजप्रासाद के पुत्र" को शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। ऐसा ऐश्वर्य रहते हुए भी उसका बुढापा चिन्ता और कष्ट से बीता। साम्राज्य मे विद्रोह की आग चारो ओर फैल गई। उसने दमन करने का कठोर प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु सफल होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि सारगन के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य को एकदम नष्ट नही होने दिया, किन्तु उसकी क्षीणता दिनोदिन बढती गई। उसके पुत्र 'नरमसिन' ने अनेक विद्रोहियो का दमन किया, और कई मन्दिरो का निर्माण कराया। किन्तु उत्तर की ओर से अर्द्ध-सभ्य जाति वाले 'गुतियम' लोग सुमेर और अक्केड़ को दबाते ही चले गये और अन्त मे उन्हे नष्ट कर दिया। यद्यपि इन विजेताओ में 'गुडिया' नामक एक तेजस्वी राजा हो गया है, जिसने अन्याय और बुराइयो को दूर करने के लिए सद्प्रयत्न कर अपना नाम इतिहास में अमर कर दिया, तथापि लगश के पतन को कोई भी न रोक सका।

उर का राजा 'डुंगी'
जो देवताओं में मान लिया गया।

५००० वर्ष पूर्व की नक्काशी
राजपुरुषों के चित्रों से सुशोभित यह तावीज 'उर' में मिला है।

लगश के साम्राज्य के बाद 'उर' नामक नगर का उत्थान हुआ, जिसने सुमेर और अक्केड़ की पतनोन्मुख ख्याति की रक्षा करने का अच्छा प्रयत्न किया। 'उर' के राजवंश मे 'उर-एंगर' का नाम पहले आता है। उसके माता-पिता का ठीक पता

न चलने के कारण पृथ्वी को ही उसकी माता और चन्द्रदेव को उसका पिता माना जाता था। कहा जाता है कि उसने और उसके पुत्र 'डुङ्गी' ने पश्चिमी एशिया को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया था। अपने साम्राज्य को उन्होंने चार भागों में विभक्त कर दिया था—सुमेर एवं अक्केड़, एलाम, सुबर्तु और अमर्रु। पिता और पुत्र ने (२४५६ ई० पू०) सारे सुमेरिया के लिए कानून बनाये। इनकी ही प्रयत्नों के बल पर आगे चलकर बेबिलान के सेमेटिक सम्राट् हम्मुरब्बी ने अपना सुप्रसिद्ध विधान बनाया, जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा। सुमेरियन धर्म के पुनरुत्थान और संस्थापन में भी इन्होंने बड़ा परिश्रम किया। इनके समय में देवालयों का महत्व और उनकी आर्थिक सम्पत्ति बहुत बढ़ गई। चारों ओर से मन्दिरों के देवताओं की पूजा के लिये अन्न, फल, पशु एवं अन्य प्रकार की इतनी अधिक सामग्री आने लगी कि उनके लेने और रखने के लिए एक अलग इमारत और कारिन्दो की आवश्यकता पड़ गई। उर के राजा यों तो अनेक देवताओं को मानते थे, किन्तु सूर्यदेव के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी। अपने न्याय-प्रेम और धर्मनिष्ठा एवं राजनीतिक
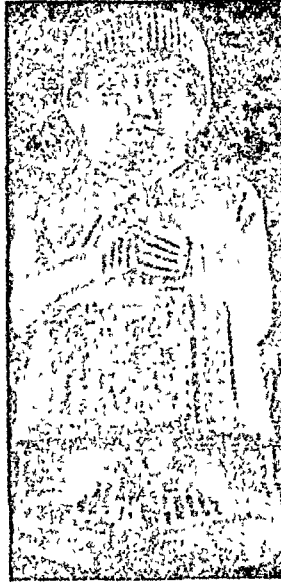
सम्राट् गुडिया

लगश के इस तेजस्वी सम्राट् का नाम सुमेरिया के इतिहास में अमर है।

सेवाओं के कारण उर-एङ्गर और डुङ्गी भी देवताओं की श्रेणी में शरीक कर लिये गये। उनके मंदिर बन गये और उनकी मूर्तियों की पूजा होने लगी। इस वंश का अन्तिम राजा 'इबी-सिन' था। यद्यपि इसने पच्चीस वर्ष तक राज्य किया, तथापि इसके समय में साम्राज्य शीघ्रता-पूर्वक छिन्न-भिन्न हो गया। एलामवालों ने आक्रमण करके उसे कैद कर लिया। उसके पतन के साथ ही सुमेरिया की स्वतंत्रता और सुमेरियन इतिहास का भी अवसान हो गया। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुमेरियावाले शान्ति-उपासक थे, वे केवल विजय के भूखे न थे और न वे रण के प्रेम ही के कारण युद्ध करते थे। वे उपजाऊ भूमि पर अपना अधिकार जमाकर कृषि और सभ्यता की उन्नति करना ही अपना मुख्य आदर्श समझते थे। कहा जाता है कि उनके आधिपत्य और उन्नति का मुख्य कारण उनका सैनिक बल न था, वरन् उनकी सभ्यता और न्याय-निष्ठा थी।

सुमेरियन मूर्ति-निर्माण-कला का एक और नमूना

गाय की यह मूर्ति सफाजे नामक स्थान की खुदाई करने पर पाई गई है।

सुमेरियन सभ्यता

सुमेरियन लोगों में ६००० वर्ष पहले भी कृषि प्रचलित थी। उस जमाने में भी वे नदियों से नालियों द्वारा पानी काटकर जमीन को उपजाऊ बना लेते थे और बैलों से हल चलाकर कुछ अनाज और

तरकारियाँ पैदा कर लेते थे। ये लोग गाय, भेड़, बकरी और सुअर पालते थे। घोड़ों का इन्हें पता न था। साधारण तौर पर ये पत्थर, हाथीदाँत और हड्डियों ही से अपने औजार बनाते थे, किन्तु ताँबा, टीन, काँसा और लोहा भी कभी-कभी काम में लाया जाता था। सोना और चाँदी के जेवर भी इनमें प्रचलित थे। इन्हें सिक्कों का ज्ञान न था; लेकिन सोना-चाँदी का लेन-देन ये तौल से करते थे। विनिमय (अदल-बदल) द्वारा ये स्थल और जल-मार्ग से आसपास के नगरों से ही नहीं, बल्कि मिस्र देश और भारतवर्ष से भी व्यापार करते थे। व्यापार-संबंधी लिखा-पढ़ी का ढंग भी इन्हें मालूम था। नाप-तौल और वर्ष-मास तथा ऋतुओं का भी इन्हें ज्ञान था। इनमें धनिक और दरिद्रों के बीच की एक जन-श्रेणी पैदा हो गई थी, जिनमे विद्वान्, चिकित्सक और पुरोहित आदि थे। इसे यदि हम आधुनिक मध्यम वर्ग का प्राचीनतम रूप मान लें, तो अनुचित न होगा। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही; क्योंकि संभवत· नगरों का सबसे प्रथम संस्थापन या निर्माण मसोपोटेमिया में ही हुआ था।

सुमेरियन लोगो को ईंटे और खपरैल तथा मिट्टी के बरतन आदि बनाना और पकाना मालूम था। उन्होंने ईंटो की एक ऊँची मीनार भी बनाई थी। किन्तु रहने के लिए साधारणतः वे लोग नरकुल के मकान बनाते थे। मजबूती के लिए टट्टर की दीवारो को भूसा और मिट्टी के सने हुए पलस्तर से वे तोप देते थे। ऐसे मकानों के अवशेष अब तक पाये जाते हैं। किन्तु वे लोग मकानों के दरवाजे लकड़ी ही के बनाते थे, जिनकी चूले पत्थर की होती थी।

सुमेरिया में अनेक नगर थे। प्रत्येक नगर में एक नगराधीश था, जिसे हम वहाँ का राजा कह सकते है। इन राजों ने अपने-अपने नगर की स्वतंत्रता को जहाँ तक और जब तक इनसे बन पड़ा कायम रखा। इसीलिए वे प्रायः आपस मे युद्ध करते रहते थे। स्वतंत्र नगरों और उनके पारस्परिक संघर्ष का काल ३०५० ई० पू० तक माना जाता है। किन्तु व्यापार की उन्नति के कारण यह परिस्थिति स्थिर न रह सकी। २८०० ई० पू० में यहाँ साम्राज्य की स्थापना हो गई। स्वतंत्र नगरो के बदले वहाँ अब एक नई राजकीय सत्ता का आरम्भ हो गया, जिससे लोग राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक एकता के सूत्र में बँध गये और उनका कार्यक्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो गया।

५००० वर्ष पूर्व की कला

यह सुंदर नक्काशीदार कटार सोने और 'लेपिस लेजुली' की बनी हुई है। यह भी उर के ध्वंसावशेषों में पाई गई थी।

सुमेरिया के लोग पृथ्वीदेवी, सूर्य, चन्द्र, आकाश, तथा समुद्र के देवताओं को मानते थे। किन्तु उनका सबसे बड़ा देवता 'वायु' था। वायु देवता का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर निप्पर में था। यह मन्दिर पक्की ईंटों का बना था, क्योंकि सुमेरिया में पत्थर नहीं मिलता था। उसके पास पक्की ईंटों की एक ऊँची मीनार बनी थी, जो पिरामिड की-सी थी। मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी इमारतें और आँगन बने थे। मन्दिर और उसके साथ की इमारतों को चारों ओर से चहारदीवारी घेरे हुए थी। भक्त लोग यहाँ पानी के घड़े और बकरे लाकर चढ़ाते थे। वे कर्मकाण्ड की विधि से मंत्र-तंत्र, आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते और भूत-प्रेतादि को भगाते थे। वे मृत्यु के बाद भी जीवन की कल्पना करते थे, किन्तु वह कल्पना अंधकारमय थी। पाप-पुण्य का भी उन्हें ज्ञान था। वे मुरदों को दफना देते थे, किन्तु न तो वे उन्हें सन्दूकों आदि मे रखते थे और न उन पर समाधि-स्तूप आदि ही बनाते थे। मन्दिरों में पुजारियों का प्रभुत्व था, जो 'पटेसी' कहलाते थे। यही लोग ज्ञान, विद्या, मंत्र, पूजा-विधि, चिकित्सा आदि के संरक्षक माने जाते थे। ये लोग धन-सम्पन्न भी थे। इनका प्रधान स्वयं राजा था। वस्तुतः राजा ही एक तरह से प्रमुख पुरोहित माना जाता था।

मन्दिरों में स्त्रियाँ भी रखी जाती थीं—कुछ तो साधारण काम-काज करने के लिए और कुछ देवताओं अथवा उनके प्रतिनिधियो के भोग-विलास के

आधुनिक मूर्तिकारों को चुनौती देनेवाली पांच हजार वर्ष पूर्व की एक कलाकृति

सुमेरियन मूर्तिकला के इस उत्कृष्ट नमूने से तनिक अंदाज लगाइए कि पांच-छः हजार वर्ष पूर्व ही मनुष्य कला की दौड़ में कितना आगे निकल चुका था।

लिए। देवताओं के निमित्त कन्यादान करना अहोभाग्य और सराहनीय कार्य माना जाता था। सुमेरियावालों का धर्म और साहित्य के क्षेत्र में बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा। बेबीलोनिया तथा असीरियावालों पर तो उनका पूरा-पूरा प्रभाव था ही, ईसाई और इस्लाम धर्म भी उनके प्रभाव से नहीं बचे। संभवतः ईरान और भारत भी प्रभावित हुए हों।

सुमेरिया में विवाह की प्रथा प्रचलित थी। पत्नी अपने पिता से पाये हुए दहेज पर अपना अधिकार रखती थी। बच्चो पर पति और पत्नी के अधिकार समान थे। पत्नी अलग व्यवसाय करती थी। पति के मरने पर वह उसकी सम्पत्ति का प्रबंध भी करती थी। यदि पत्नी पर व्यभिचार का भी दोष होता तो भी उसे तलाक नही दिया जा सकता था। हाँ, पति दूसरा विवाह कर सकता था।

साराश यह है कि सुमेरियन लोगो ने ही पहलेपहल साम्राज्य की रचना की। उन्होंने ही शायद नालियो एवं नहरो से सिंचाई करने की तरकीब निकाली; सोने-चाँदी से चीजों की कीमत निश्चित करने का आविष्कार किया; लिखा-पढ़ी करके व्यापार करने की विधि चलाई; लेखन-कला की रचना की; पुस्तकालयो और पाठशालाओं की स्थापना की; गद्य-पद्य लिखना आरम्भ किया; तथा जेवर और सौदर्य-वर्द्धक मसाले बनाये। इन्ही ने पहलेपहल मन्दिर एवं महलो का बनाना शुरू किया। गुम्बद, मेहराब, खम्भे वगैरह बनाकर स्थापत्य-कला की उन्नति की। उनकी कुछ देनें निंदनीय भी थी। उन्होने एकसत्तावाद, गुलामी, सैनिक अत्याचार और पुरोहित-सत्ता की नींव ही नही डाली, बल्कि उन्हें काफी मजबूत भी बना दिया। यद्यपि उनके इतिहास का अभी तक पूर्ण ज्ञान नही प्राप्त हुआ है। किन्तु यह निश्चित है कि उनकी सभ्यता का दौर-दौरा तीन-चार हजार वर्ष तक कायम रहा।
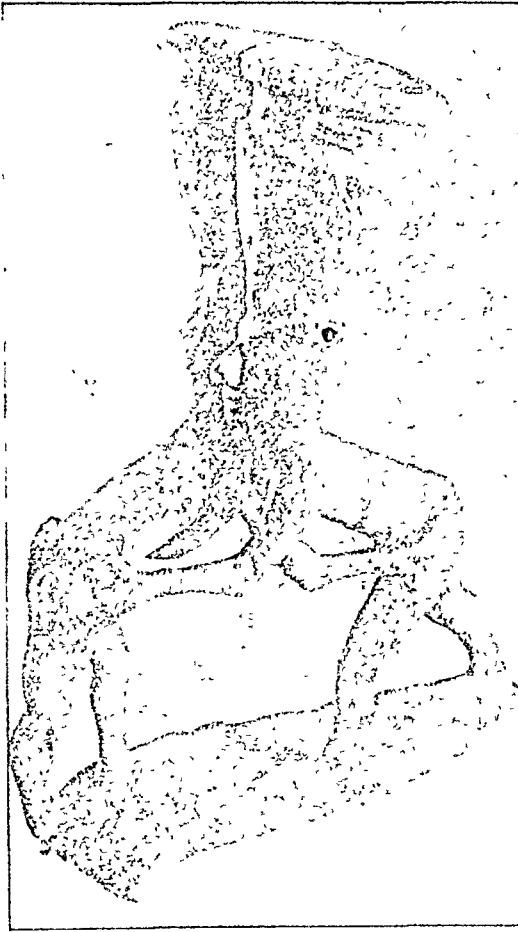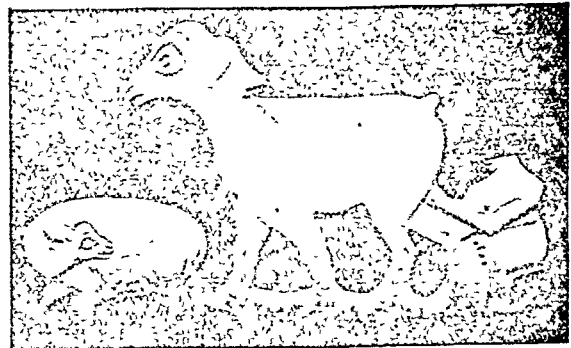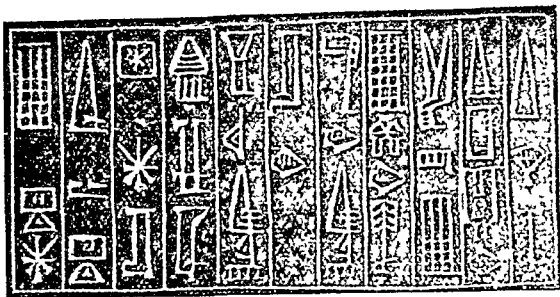
सुमेरियन संस्कृति के अद्‌भुत स्मारक

(ऊपर) मसोपोटेमिया के खफाजे नामक स्थान में पुरातत्त्व-संबंधी खुदाई करने पर मिली हुई इस अद्‌भुत मूर्ति में दो सुमेरियन मल्ल आपस में कुश्ती लड़ते दिखाए गए हैं। किन्तु इन दोनों के सिर पर ये लंबे टोकरों या पात्रों जैसी चीजे क्या और क्यों है, इसका अर्थ लगाना कठिन है। यह मूर्ति ताँबे की बनी हुई है। असली मूर्ति लगभग इतनी ही बड़ी है, जितनी कि चित्र में दिखाई दे रही है। शिल्प में मल्ल-क्रीड़ा का इससे प्राचीन स्मारक दूसरा नहीं है। मल्लों के सिर पर जो पात्र है, संभव है, उन्हें कलाकार ने केवल सजावट के लिये बनाया हो। (नीचे बाईं ओर) सुमेरियन लिपि के कीलाकार (क्यूनीफार्म) अक्षरों में एक सुंदर अभिलेख का नमूना। (दाहिना ओर) किश के राजप्रासाद की दीवारों की अनूठी शिल्पकारी का एक उदाहरण।
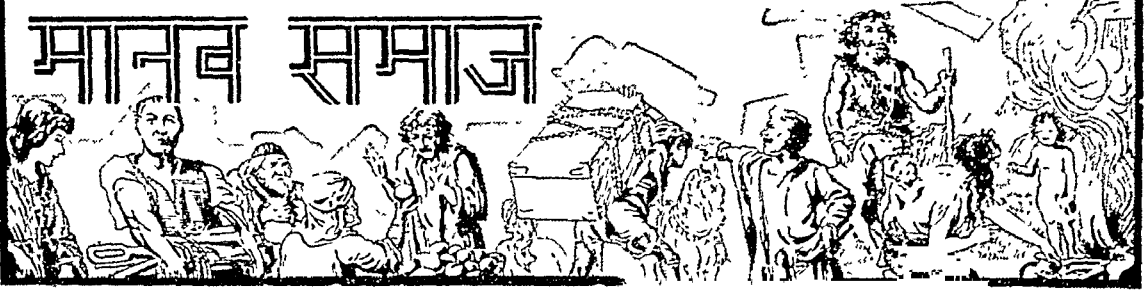
सभ्यता का प्रादुर्भाव

'इतिहास की पगडंडी' शीर्षक इससे पहले के स्तंभ के अंतर्गत मानव-इतिहास की कहानी का आरंभ करते हुए सिंधु, गंगा-यमुना-सरस्वती एवं दजला-फरात आदि नदियों की घाटियों में सभ्यता के उदय की गाथा प्रस्तुत की जा चुकी है, जिसका तारतम्य आगे के खंडों में भी आप चालू पाएँगे। परन्तु वह था इतिहास के दृष्टिकोण से सभ्यता के विकास का विवेचन। आइए, प्रस्तुत प्रकरण में देखें कि *समाज-विज्ञान इस विषय में क्या कहता है।*

प्राचीन काल में भूमण्डल तथा आकाश दोनों ही अधिकतर चञ्चल अवस्था में थे। जैसे-जैसे जलवायु का परिवर्तन होता, वैसे-वैसे पर्वत-उपत्यकाओं के उत्थान-पतन एवं समतल भूमि की रचना का भी नाटक होता था। साथ ही प्रदेश विशेष में हरियाली का आच्छादन और जीव-जन्तुओं का समावेश भी होता था। यह परिवर्तन प्रायः दस हजार वर्ष ईस्वी पूर्व तक चलता रहा। इस समय आदिम मनुष्य का पृथ्वी पर आविर्भाव हो चुका था तथा वह इधर-उधर घूमने भी लगा था। उस समय वह वन्य पशुओं का ही समधर्मी था। पत्थर, लाठी एवं अग्नि का व्यवहार जानते हुए भी तथा पालतू कुत्ते की सहायता पाने पर भी उसका जीवन अभी बिलकुल अनिश्चित एवं आशङ्कापूर्ण ही था।

सभ्यता के प्रादुर्भाव में प्राकृतिक परिवर्तनों का हाथ

ईसा से अनुमानतः छः हजार वर्ष पूर्व पृथ्वी के जलवायु में समता दिखाई पड़ना आरम्भ हुई। तभी उत्तर के हिमप्रदेश ने अन्तिम बार मेरु की ओर पलटा खाया और उत्तरी अफ्रीका, उत्तरी सीरिया, इराक, ईरान तथा पंजाब का प्रदेश शुष्क होना आरम्भ हुआ। पहले अटलाण्टिक महासागर की ओर से जो आँधी और तूफान आकर, इस सारे प्रदेश को तराबोर करते हुए हरी घास तथा वनों से इसे आच्छादित करके श्यामल बना देते थे, वे अब उत्तर की ओर घूम गए। फलतः जो प्रदेश पहले वनों तथा घास-फूस आदि से आच्छादित था, वही अब मरुभूमि बन गया।

तापवृद्धि तथा मरुभूमि के विस्तार के साथ-ही-साथ वनभूमि संकुचित होने लगी एवं वे वन्य जन्तु, जिनका शिकार करके प्रागैतिहासिक मनुष्य जीवन-निर्वाह करता था, मरुद्यान अथवा नदियों द्वारा सिंचित विस्तीर्ण नीची भूमि की तलाश में निकल पड़े। पहले जहाँ विस्तृत घास के मैदान थे, वहाँ अब छोटी-छोटी सूखी घास अथवा छाया और जल से रहित प्रदेश ही दिखाई पड़ने लगे। अतः वहाँ पर जीवन धारण करना क्रमशः असम्भव होने लगा। फलतः अनेक वन्य जन्तु दक्षिणी उष्ण प्रदेशों अथवा उत्तरी योरप की ओर, जहाँ अरण्यभूमि खूब विस्तृत थी, भाग गए। उनके पीछे-पीछे मनुष्य भी भागा। बहुतेरे वन्य जन्तु तथा मनुष्य अफ्रीका से सिन्धु-प्रदेश तक के प्रतिकूल प्रदेश में प्रकृति के साथ लगातार युद्ध करते हुए परास्त हो मृत्यु-मुख में समा गए, अथवा इस प्रदेश में जहाँ-कहीं मरुद्यान या नदियाँ थीं, वहीं आ-आकर चारों ओर से इकट्ठा होने लगे।

इन मरुद्यानों के आसपास अथवा विशाल नदियों की उपत्यकाओं, डेल्टा-प्रदेशों अथवा जलप्लावित भूमि में मनुष्य तथा पशुओं के एक साथ आगमन और निवास के फलस्वरूप ही मानव की आदिम संस्कृति का जन्म हुआ।

पशु-पालन और कृषि का साथ-साथ आविर्भाव

मनुष्य के इतिहास में एक महान् आश्चर्य की कथा यह रही है कि जिस प्रदेश में उसके पालतू गाय-बैल, बकरी-भेड़ और सुअर आदि पशुओं के पूर्वज वन्य अवस्था में इधर-उधर घूमा करते थे, उसी प्रदेश में उसने जंगली घास जैसे कतिपय पौधों से जौ, गेहूँ आदि अनाज उत्पन्न करना सीख लिया! बहुत सम्भव है कि पशु-पालन तथा कृषि-कार्य प्रकृति की यमज संतानें जैसी हों, जो छः या सात हजार वर्ष ईस्वी पूर्व उपर्युक्त मरुद्यानों के आसपास या किसी विशाल नदी की तटभूमि अथवा डेल्टा-प्रदेश में एक साथ ही उत्पन्न हुई हों।

पशु-पालन किस रूप में सर्वप्रथम हमारे सामने आया, यह तो बहुत-कुछ एक कल्पना-प्रसूत गाथा है। किन्तु सभी वैज्ञानिक यह मत स्वीकार नहीं करते कि पशु-पालन का कृषि-कार्य से पूर्व ही आविर्भाव हो चुका था। अनेकों का मत है कि मनुष्य एक साथ ही कहीं पर कृषि-कार्य तथा कहीं पर पशु-पालन करने लगा था। यही नहीं, इनके मत में कृषि-कार्य, सम्भवतः, कुछ पहले ही आरम्भ हुआ होगा।

कुत्ता—मनुष्य का पहला साथी

बहुत से पण्डितों का यह मत है कि कुत्ता निएनडरथल मनुष्य का साथी था और कुत्ता ही प्रथम गृहपालित पशु भी था। मनुष्य के खाने में से बचे हुए अंश से अपनी क्षुधा-शान्ति करने की आशा से ही कुत्ता उसके साथ-साथ रहता था। क्रमशः उसने अपनी हिंस्रवृत्ति छोड़ दी और वह मनुष्य की प्रीति का भाजन बन गया। मनुष्य ने भी दूसरे हिंस्र पशुओं के साथ लड़ाई लड़ने के लिए उसे अपने अग्रगामी एवं सतर्क सहचर के रूप में स्वीकार कर लिया। कुत्ते की तरह के अन्य अर्द्धवन्य एवं अर्द्धपालित पशुओं या पशुदलों को भी मनुष्य अपने निवासस्थान के आसपास रहने देने में कोई बाधा नही देता था, क्योंकि खाना न मिलने पर यही पशुदल तत्कालीन मानव के लिए एक सुरक्षित एवं संचित भोजन-सामग्री का काम देता था।

मनुष्य पशुपालक कैसे बना

इन पशुओं को मनुष्य भय नहीं दिखाता था, न उनकी हत्या ही करता था। वह पालने-पोसने योग्य कम अवस्था के पशु-शावकों की भी हत्या नहीं करता था। जान पड़ता है, इसी प्रकार पशु-पालन का आरम्भ हुआ होगा। मनुष्य जब पहलेपहल परम दुर्दमनीय सांड़, इत्यादि भयानक जंतुओं को छाँट-छाँटकर मारने लगा होगा, तभी उसने पशु-पालन की दिशा में निर्वाचन आरंभ कर दिया होगा। उन पशुओं की अपेक्षा इनकी सन्तति क्रमशः वश करने में अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई होगी। मनुष्य के साथ रहने से पशुओं को तो भोजन तथा जीवन-रक्षा मिली ही, साथ ही मनुष्य को भी पशुओं से भोजन, वस्त्र एवं सुलभ स्नेह-सामग्री प्राप्त हुई।

कभी-कभी किसी मातृहीन गोवत्स को भी आदिम मानव के घर में आश्रय मिला ही होगा। उस गोवत्स को उस घर की किसी संतान से बिछुड़ी हुई जननी ने स्नेह से सहज ही अपना लिया होगा। इस प्रकार यह धारणा होती है कि मनुष्य ने पशुओं की रक्षा करना केवल उपयोगितावश ही नहीं स्वीकार किया होगा, वरन् व्यक्ति एवं समाज की अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनेक धाराओं ने आ-आकर उसके और पशुओं के सम्बन्ध को सुदृढ़ कर दिया होगा। उत्तर एशिया का 'बल्गा' नाम का पशु कदाचित् मनुष्य द्वारा गृहपालित सर्वप्रथम हरिण था। इसी के अनुकरण के फलस्वरूप बकरी, गाय, इत्यादि भी बाद में वशीभूत कर ली गई।

मनुष्य के साथ पशुओं के संबंधों के इस विकास में वशीकरण एवं लालन-पालन विषयक प्रभाव पर भी ध्यान देना आवश्यक है। संभव है, किसी जगह शिकारी मनुष्य ने पहले कभी बहुत-से वन्य जंतुओं को घेर रखा हो। उनमें से जो निकल भागे, वे तो बच गए और जो उस घेरे में घिरे रह गए, वे तथा उनकी संतति अपेक्षाकृत अधिक वश्य हो गए। क्रमशः वंशक्रम से उनमें ऐसा गुण दिखाई पड़ने लगा कि जिससे वे मनुष्य के द्वारा अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक शिक्षित तथा परिचालित होने लगे। युगों तक वे इसी भाँति बिना काबू में आए बँधे या घिरे रहने के पश्चात् क्रमशः मनुष्य के वशीभूत और गृहपालित हुए होंगे। मनुष्य ने उनका लालन-पालन करके न केवल उन्हें अपना आहार बनाया, बल्कि वाहन-रूप में उनका व्यवहार किया, उनके द्वारा हल और गाड़ी खिंचवाई तथा दूसरों के साथ संग्राम करने में उन्हें अपना सहायक बनाकर युद्ध-शास्त्र तक की शिक्षा दी।

जानवरों में कुत्ता, घोड़ा तथा हाथी सबसे ज्यादा आसानी से सिखाये जा सकते हैं। उनका उपयोग मनुष्य ने अपने नित्य-प्रति के श्रम को कम करने अथवा किसी कठोर दायित्वपूर्ण कार्य में सहायता देने में युग-युगादिकाल से किया है। युद्ध में घोड़े अथवा हाथी ने कितने ही सेनापतियों की प्राण-रक्षा की है। उधर सेना में तथा जासूसी के कार्य में कुत्तों ने आश्चर्य में डाल देनेवाली निपुणता एवं शिक्षा के अनुसार चलने की क्षमता दिखाई है।

गाय, बैल आदि के पालन का आदि केन्द्र—सिन्धु-प्रदेश

बैल को हल में जोतकर ही मनुष्य ने पहले-पहल अपनी संस्कृति को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित किया। पशु से चलनेवाले हल के व्यवहार से पहले बहुसंख्यक समाज के लिए कृषि द्वारा खाद्य-सामग्री का जुटाना असम्भव-सा था। ५००० वर्ष ईस्वी पूर्व बेबिलोनिया में बैल, बकरी, मेष तथा सुअर पाले जाते थे। इसी प्रकार चीनी सभ्यता में भी एक राजाज्ञा में घोड़ा, बैल, मुर्गी, सुअर, कुत्ता तथा भेड़ के पालन तथा उत्पादन का संकेत पाया जाता है। यह राजाज्ञा ईसा से कई शताब्दी पूर्व की है। इसी प्रकार सिन्धुतटस्थ सभ्यता (ई० पू० ३२५०—२७५०) में भी बैल, भैंसा, एक कूबड़-वाले वृषभ, सुअर, भेड़ तथा बकरी इत्यादि पशुओं के पाले

जाने के चिन्ह मिले हैं। विशेषज्ञों का यह मत है कि सिन्धु-तट पर अनेक पशुओं के पहलेपहल गृहपालन का परिचय पाया जाता है। जान पड़ता है, सिन्धु-प्रदेश ही बैल-गाय, भेड़-बकरी, कुत्ता, भैंस तथा ऊँट के पालन का प्रधान एवं सम्भवतः एकमात्र केन्द्र था। कूबड़वाला एवं छोटे-छोटे सींगवाला बिना कूबड़ का बैल हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में पाई जानेवाली मुद्राओं में अङ्कित पाया गया है। ये दोनों ही नर्मदा-तीरस्थ 'शिवालीक बैल' के वंशधर हैं। लिण्डेकर का मत है कि भारतीय कूबड़वाला बैल ही बेबिलोनिया और पाश्चात्य प्रदेशों में पाले जानेवाले बैलो का पूर्वज है।

एक मुद्रा में एक सींगयुक्त देवता—जिसे कुछ लोग प्रागैतिहासिक शिव अथवा पशुपति मानते हैं—अङ्कित पाया गया है। उसके चारों ओर हाथी, बाघ, भैंसा, गैंडा एवं हरिण इत्यादि चित्रित हैं। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं कि सिन्धु-उपत्यका में जहाँ-जहाँ मनुष्य ने कृषि-कर्म एवं पशुपालन आरम्भ कर दिया था, वहाँ पर लोग नगरनिवासी तथा वाणिज्य-प्रवीण हो जाने पर भी पशुपति को ही देवता मानकर पूजते थे।

पालित पशु और धर्म-कर्म

सैन्धव सभ्यता में गाड़ी तो थी, पर उस गाड़ी को खींचनेवाला घोड़ा न था। बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष में घोड़ा सर्वप्रथम आर्यो के साथ ही मध्य एशिया से आया हो। वैदिक सभ्यता में घोड़े की बड़ी मान-मर्यादा थी। अनेक यज्ञों में—विशेषतः बाद के युग मे प्रचलित अश्वमेध यज्ञ में—राजा-महाराजाओं के बीच घोड़े के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का बहुत उल्लेख मिलता है। पहले पशुपालन के साथ धर्म तथा जादू भी घुला-मिला हुआ था। कुछ लोगों का खयाल है कि बड़े सींगोंवाले बैल का मुख चन्द्रमण्डल-सा दिखलाई पड़ता है। उनका मत यह है कि चन्द्रपूजा के साथ शायद बैल के लालन-पालन का सम्बन्ध रहा हो। बहुत सम्भव है कि सैन्धव सभ्यता में ककुद्वृष का किसी धर्मानुष्ठान-पद्धति के साथ सम्बन्ध रहा हो। दक्षिण-पूर्वीय एशिया में सुअर तथा मुर्गी की रक्षण-पालन की प्रथा के साथ असभ्य जातियो के पशु-पक्षियों पर आश्रित धर्म तथा समाज-व्यवस्था का सम्बन्ध पाया जाता है। मनुष्य पशु-पालन के साथ रीति-नीति तथा धर्म के संबंध के कारण पशुओं को भी इन्हीं धर्म आदि की कसौटी पर कसता रहा है।

मानव सभ्यता के इतिहास में एक बड़े आश्चर्य की बात यह है कि लगभग ७०००—६००० वर्ष ईस्वी पूर्व जब पृथ्वी के जलवायु में परिवर्तन हुआ तथा तुषार-युग के अन्त के साथ गरमी बढ़ने लगी तो उसके साथ ही साथ जिस समय मनुष्य और अन्य जन्तु पानी तथा हरियाली की खोज में मरुद्यानों, नदियों की घाटियों अथवा डेल्टा-क्षेत्रों में इकट्ठा होने लगे, तभी एक साथ ही कृषि तथा पशु-पालन का आरम्भ हुआ। आज के गृहपालित पशुओं के दुर्दमनीय पूर्वज ठीक उन्ही स्थानों में स्वतंत्रतापूर्वक विचरण किया करते थे, जिनमें कि मनुष्यों की खाद्य-सामग्री वनप्रान्तरों में नैसर्गिक अवस्था में पाई जाती थी। मिस्र, बेबिलोनिया एवं सैन्धव प्रदेशों में मनुष्यो ने जब अरण्यभूमि की कमी के साथ-ही-साथ शिकार के अभाव का भी अनुभव किया एवं उन प्रदेशो में कृषिकर्म आरम्भ कर दिया, तभी उसने शायद पशुपालन भी शुरू कर दिया। यदि उपर्युक्त महान् प्राकृतिक परिवर्तन न हो जाता तो वन्य जन्तु मनुष्यों के कृषिक्षेत्र तथा निवासस्थानों के इतने पास आकर उसके बन्धन में कभी न पड़ते। मनुष्यों की ही भाँति ये जंतु भी मरुपीड़ित होकर नदी की घाटी अथवा तटभूमि में मनुष्यो के निवासस्थानों के पास ही भोजन की तलाश करते हुए दल के दल आ उपस्थित हुए। मनुष्य ने भी अपने आवश्यकतानुसार शीघ्र ही उन्हें पालना सीख लिया तथा क्रमशः अपने घर में, खेत में तथा धर्मोत्सवों के अवसर पर संगी के रूप से उन्हें अंगीकार कर लिया।

इस प्राचीन काल में मिस्र, बेबिलोनिया तथा सिन्धु-प्रदेश गरम होने पर भी आजकल जैसे उष्ण नहीं हुए थे। प्राचीन मिस्र एवं सिन्धु-प्रदेशों में उन सब पशुओं का परिचय पाया जाता है, जो निचले नम प्रदेशो के अतिरिक्त अन्य स्थानों में रह ही नहीं सकते थे। मिस्र में हिप्पोपोटेमस, मगर, हाथी और हिरन पाये जाते थे, एवं सिन्धु-प्रदेशों में प्राचीन काल में हाथी, बाघ, भैंसा, हरिन तथा गैंडे मिलते थे। सिन्धु-प्रदेश के किरथर पर्वत के पूर्व भाग में हाथी तथा गैंडे के कंकाल पाये गए हैं।

पशुपालक की देन

तात्पर्य यह है कि यह विराट् प्रदेश जिस समय मरुमय होना आरम्भ हुआ था, उसी समय मनुष्य ने एक साथ ही कृषि एवं पशुपालन का सूत्रपात किया होगा। उसने एक साथ ही हलधर एवं पशुपति बनकर अपने तथा पशुओं के जीवन को इस महान् प्राकृतिक विप्लव से बचाया होगा। कहीं-कहीं मनुष्य ने खाद्य अनाज एवं खाद्य पशु को एक ही साथ पाया और कहीं-कहीं उस मरु-प्रदेश में उसने अनेक पशुओं को बाँधकर उनका पालन-पोषण करना आरम्भ कर दिया। जहाँ पर वह केवल पशुओं के ऊपर ही पूर्णरूपेण निर्भर करता था, वहाँ पर घर अथवा गाँव न बनाकर वह इधर-उधर घूमने

लगा। इसका कारण यह था कि पशुदल का पालन करने के लिए ऋतु-परिवर्तन के साथ-साथ जैसे-जैसे घास-पत्तियाँ शुष्क अथवा हरी होतीं, वैसे ही पशुदल लेकर उष्ण से नम प्रदेश मे घूमते फिरना पड़ता था। सभ्यता के इतिहास में इन भ्रमणकारी पशु-पालकों की देन कुछ कम नही है। जब मनुष्य ने पशुदल से दूध तथा मांस का अक्षय भाण्डार पा लिया, तो उसके पुराने शिकारी-जीवन की अनिश्चितता सदा के लिए दूर हो गई। फलस्वरूप अधिक तथा पुष्टिकर भोजन प्राप्त होनेके साथ-साथ उसकी जनसंख्या भी शीघ्रता से बढ़ने लगी। इस लोकबल के साथ ही मनुष्य का समाज-विन्यास भी होने लगा। ग्रीष्म अथवा शीतकाल मे दलबल-सहित इन पशुपालको को दूर देशान्तर में जाना होता था। सुव्यवस्था के लिए शासन तथा शासक एवं आज्ञा और उसका पालन, ये बातें परम आवश्यक है। हिंस्र जन्तुओ अथवा शत्रुओ से अपने पशुओं की रक्षा करने के लिए भी अनुशासन एवं संगठन की निंतात आवश्यकता है। शासन तथा संगठन का भार परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति के ऊपर ही पड़ता था, क्योकि प्रकृति के चक्र, ऋतु-परिवर्तन एवं पशुओं की रक्षा तथा गति-विधि के सम्बन्ध मे उनका ही ज्ञान अधिक परिपक्व समझा जाता था। इस वयोवृद्ध गोष्ठीपति की आज्ञा का उल्लंघन करने का किसी को साहस नही हो सकता था। उसका शासन-दण्ड समाज का न्यायदण्ड समझा जाता था। इतना ही नही, उस महामान्य गोष्ठीपति का विचार जिस प्रकार न्यायानुमोदित होता था, वैसे ही उसका त्याग भी असीम होता था। उसका जीवन अपने पशुओ तथा गोष्ठी के लिए ही उत्सर्गित होता था।

इस पशुपालक समाज मे श्रमविभाजन का भाव विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ। पुरुषों ने पशुरक्षा का भार लिया। स्त्रियाँ ऊन, चमड़ा इत्यादि लेकर उनसे कपड़े तथा तम्बू बुनने में जुट गईं। इस तरह पशुपालकों मे भाँति-भाँति की दस्त-कारियो का उद्भव हुआ। ये सब अधिकतर स्त्रियो के ही शिल्प समझे जाते थे। बच्चे गाय अथवा भेड़ के बच्चों के साथ खेला करते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवस्था के लोगों के भिन्न-भिन्न कार्यों में लग जाने से समाजग्रन्थि और भी मजबूत हो गई। इस पशु पालनेवाले समाज में आर्थिक तथा सामाजिक वैषम्य कुछ अधिक नही दिखाई पडता था। वरन् जब शत्रु के आक्रमण अथवा प्रकृति की क्रूरता के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपना सर्वस्व (गोधन) खो बैठता था, तब उनके बीच धनी एवं निर्धन का भेद ही नही रह जाता था। पशुपालक जातियों का अतिथि-सत्कार सदा ही से प्रसिद्ध रहा है। लम्बे-लम्बे मैदानों अथवा वनों में यदि कोई रास्ता भूल जाय अथवा अपनी गोष्ठी से विलग हो जाय तो वह बिलकुल ही निःसहाय हो जाता है। समाज में अतिथि-वत्सलता तथा औदार्य्य का भाव यदि न होतो उसकी रक्षा एकान्त असंभव ही समझिए। पशुपालक समाज में एक सामाजिक सद्भाव तथा सौहार्द्र एवं आपद्-विपद् में पारस्परिक सहानुभूति विशेष रूप से पाई जाती है। इसी पर मानव संस्कृति की गणतान्त्रिक भावना की भित्ति स्थापित हुई है। पशुपालक के अविराम नियमानुगत स्थान-परिवर्तन ने उस भावना को सुदृढ बनाया है, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे आत्मनिर्भ-रता, साहस तथा स्वातन्त्र्य का आविर्भाव होता है। मध्य तथा पश्चिम एशिया की सभी खानाबदोश जातियो की मन्त्रणा-सभा मे गणतान्त्रिक भावना का प्रभाव प्राचीन काल से स्पष्टतः लक्षित होता आया है। सुप्रसिद्ध मंगोल राष्ट्र-नायक चंगेज खाँ का प्रभुत्व सम्पूर्ण मंगोल जाति के निर्वा-चन तथा अनुमोदन की भित्ति पर ही प्रतिष्ठित हुआ था।

पशुपालकों ने जब पशुओ के आगे अथवा पीछे चलना छोड़कर वाहनरूप से उनका प्रयोग करना सीख लिया, तब न केवल उनकी गति ही बढ़ गई, वरन् सब प्रकार से वे चंचल और सतत चलायमान हो गए। पूर्व की ओर चीन तथा भारत की घाटियों में और पश्चिम की ओर डैन्यूब की घाटी से लगाकर रूस तथा हगरी तक प्रबल आँधी की भाँति विक्षुब्ध खानाबदोश जातियों का प्रवाह एक जमाने से योरप तथा एशिया के जनमण्डल को उद्वेलित करता रहा है। कितने ही राज्य और साम्राज्य इस प्रवाह के वेग से स्थापित तथा ध्वस्त हुए है। रेगिस्तानी मैदानों तथा कृषि-योग्य भूमि का सीमाप्रदेश ही प्राचीन काल से राष्ट्रीय उलटफेर की केन्द्रभूमि रहा है।

कृषकों और पशुपालकों का चिरंतन द्वंद्व

खानाबदोश जातियाँ सहज ही स्थायी रूप से कही रहने लग जाना नही पसन्द करती। कृषि-कार्य के लिए जिस चंचलतारहित अविचलित भाव की आवश्यकता है, उसे वे ग्रहण नही कर पाती। दूसरे, निरीह कृषक को हराकर उनका खेती से कमाया हुआ धन बड़ी आसानी से वे लूट ले सकती है। किसानों तथा पशुपालकों का यह द्वन्द्व परम्परा-गत है। अरब इतिहासकार इब्न-खालदून कृषको तथा पशुपालको की खाद्य-समस्या पूर्ति के इस चिरपरिचित संघर्ष का उल्लेख करके पहले-पहल राष्ट्र के आविर्भाव का भौगोलिक निर्देश करता है। यहाँ तक कि आधुनिक युग में जब कृषक एवं पशुपालक एक ही राष्ट्र के अंग बनकर शान्तिपूर्वक स्वतन्त्रता से अपना जीवन विताते है, तब भी

कृषकों तथा पशु-पालकों का झगड़ा अक्सर राजनीति को चञ्चल कर देता है। स्वीडन और स्विटजरलैंड में यह विरोध विशेष रूप से दिखाई पड़ता है।

खानाबदोश जातियाँ मिश्रित जातियाँ हैं। उनके शौर्य, वीर्य तथा पौरुष का प्रधान कारण उनका रक्त-मिश्रण है। पश्चिम तथा मध्य एशिया के मैदानों मे जिन जातियों ने जन्म ग्रहण किया है, उनकी छाप योरप तथा एशिया की तमाम जातियों के देह तथा मस्तिष्क पर स्पष्ट देखी जा सकती है। यही नही, खानाबदोश जातियों ने ही पाश्चात्य जगत् मे डैन्यूब की घाटी मे होकर योरप में पशु-पालन की रीति तथा एशिया के भाँति-भाँति के खाद्य अनाजो को पहुँचाया है। योरप में पशु-पालनमिश्रित कृषि की रीति खानाबदोश जातियों ने ही चलाई है। साथ ही इनका *स्वाधीन कर्त्ताधीन पारिवारिक अनुष्ठान एवं समूहतन्त्र* भी वहाँ पर इन्हीं की देन है। इस समय भी बाल्कन प्रदेश तथा दक्षिण रूस में खानाबदोश जातियों में पाया जानेवाला पारिवारिक व सामूहिक जीवन व्यक्ति के जीवन को नियंत्रित करता है। एशिया खण्ड में भी ऐसा ही हुआ। खानाबदोश जातियों का रक्त इस समय भी चीन तथा भारतवर्ष की समतल भूमि के अनेक किसानों के वंश में पाया जाता है। अनेक स्थानों में कर्त्तानुगामी परिवार व गोष्ठी का स्वातंत्र्य एवं उसकी भित्ति पर गणतान्त्रिक सत्ता की प्रतिष्ठा अब भी किसी प्राचीन भूले हुए सतत भ्रमणशील जीवन की सूचना देती हैं।

इस प्रकार एशिया के मैदानों और मरुभूमि के निवासियों ने दूर-दूर की जातियो की देह और प्रकृति तथा उनके आर्थिक व सामाजिक जीवन को नियंत्रित कर दिया है।

धर्म तथा नैतिक जीवन की ओर

धर्म तथा नैतिक जीवन के ऊपर भी इनका प्रभाव कुछ कम नही पड़ा है। भ्रमणशील मानव को रात-रात और दिन-दिन भर ऐसे मैदानों में होकर अविराम रूप से अपनी श्रान्तिकर मन्थर यात्रा करना पड़ी, जहाँ न कोई वृक्ष थे, न पहाड़ अथवा बस्ती ही देखने को मिल सकती थी। दिन भर के परिश्रम के बाद उसे थोड़ा-बहुत विश्राम का जो समय मिलता, उसमें अपने आप ही उसका मन अतीन्द्रिय विषयों की ओर चल पड़ता था। सीमाहीन, वर्ण-वैचित्र्यहीन, धूसर प्रान्तर को पार करके उसकी चिन्ता सहज ही अनादि तथा अनन्त की ओर जा पहुँचती थी। रात्रि में चन्द्र, तारा, नक्षत्र इत्यादि का उदय एवं अस्त तथा उनका उत्तरायण से दक्षिणायन की ओर गमन भी उसके मन में अनन्त की भावना ही जाग्रत करता रहता। रात्रि के निविड़ अन्धकार में उसकी निद्राहीन आँखो में होनेवाला आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारा इत्यादि का नियमित नृत्य अनन्त को विस्मय की सीमारेखा से खीच लाकर एक बार उसके हृदय के भीतर तक पहुँचा देता था। इस भ्रमणकारी की दृष्टि में दूरवासी परम सन्निकट प्रतीत होते थे।

पशुपालक की निर्वाचन तथा उत्पादन रीति, पशुओ का उत्कर्ष-साधन करती है। धीरे-धीरे पशुपालक के हृदय में मानव-जाति की चरम पूर्णता का स्वप्न तथा आदर्श जग पड़ता है। पशुपालक मानव की पूर्णागता के प्रति श्रद्धावान् हो जाता है एवं उस चरम उत्कर्ष के लिए एक महान् उत्कंठा उसके हृदय को उद्वेलित कर देती है। मनुष्य और पशु की वृद्धि एक-दूसरे पर निर्भर है, यही अन्योन्याश्रित *सम्बन्ध अतीत तथा वर्तमान में होता हुआ भविष्य तक फैला* हुआ है। इससे मनुष्य का मनोभाव परिवर्तित होता है। वह सोचने लगता है कि भेड़ पालनेवाले तथा भेड़ें एक ही जीवनसूत्र मे बँधे हुए हैं। भगवान् की कृपा तथा देवदूतों की मध्यस्थता मे विश्वास, विश्वशक्ति मे परमकल्याण का आदर्श, इत्यादि भाव इस पशु-पालक समाज में आ जाते हैं। गड़रिए के भेड़ के प्रति स्नेह एवं कोमल व्यवहार को केन्द्र बनाकर अंत मे धर्म का यह विशाल आदर्श उठ खड़ा होता है कि परम कारुणिक देवता ने अपने उपासक के लिए जीवन उत्सर्ग कर दिया है। सभी पशुपालक जातियो ने, विश्व के धार्मिक इतिहास में, मानव व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष, उसके साथ देवता के परम प्रेम व मिलन-सम्बन्ध को जिस प्रकार प्रकाशित किया है, संसार की और किसी जाति ने वैसा नही किया। अनन्त काल, निरवधि जीवन, विपुला पृथ्वी, प्राणी के साथ प्राणी का ऐक्य सूत्र मे ग्रथित होना, इन सब भावों को पशुपालक ने अपने नित्यप्रति के जीवन में जिस अनुराग व उद्वेग के साथ अनुभव किया था, वह केवल पशुपालक समाज के ही विकास व समृद्धि का कारण नही हुआ, वरन् विश्व मानव के लिए भी वह उसका एक अपूर्व दान है। मानव के धर्मानुशीलन मे साधन-पथ अथवा कर्म्म-मार्ग की ओर सकेत अनेक धर्मो में पाया जाता है। महाजनों का पदाङ्कित मार्ग, ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, व कर्म्म-मार्ग इन सबकी कल्पना व आदर्श विश्वमानव को पशुपालक का ही मोहक दान है। संस्कृति के इतिहास मे पशुपालक कब का लुप्त हो चुका, फिर भी वर्तमान संस्कृति के अनुष्ठान व व्यवहार, नीति व धर्म ने उसकी अभिज्ञता का यत्न के साथ पोषण कर रक्खा है।

धरती पर विजय प्राप्त करने के क्रम में काम में लाये गये मनुष्य के कुछ विचित्र वाहन

१. उत्तरी ध्रुवप्रदेशों के बर्फीले मैदानों में काम में लायी जानेवाली स्लेज-गाडी, जिसे बारहसिंगे खींचते हैं; २. दक्षिणी अमेरिका के पर्वतों में सवारी के काम में लाया जानेवाला लामा नामक चौपाया; ३. तिब्बत के लोगों का एकमात्र सहारा याक नामक पशु; ४. 'रेगिस्तान का जहाज' ऊँट; ५. मनुष्य की सबसे शान-शौकत की सवारी हाथी; ६. सदियों से मनुष्य का सबसे बड़ा साथी घोड़ा; ७. घोड़ागाड़ी; ८. राजस्थान की विचित्र ऊँटगाड़ी; ९. भारतीय ग्रामीणों का वाहन बैलगाड़ी; १० पालकी, जिसे आदमी ही उठाते हैं; ११. बरमा की रिक्शा, जिसे स्वयं आदमी खींचते हैं; १२. चीन की ठेलागाड़ी, जिसे आदमी ही ठेलते हैं; १३-१४-१५. वैज्ञानिक युग की महान् देन — साइकिल, रेलगाड़ी और मोटर ।

धरती पर विजय

यातायात के साधन—सड़कों का विकास

मनुष्य ने सागर अथवा आकाश की ओर निगाह दौड़ाई, उससे शताब्दियों पहले ही उसे अपनी निवासभूमि—धरती—से एक लंबा युद्ध छेड़ देना पड़ा था, जिसका आज भी अंत नहीं हो पाया है। आइए, प्रस्तुत और आगे के कुछ लेखों में इस संग्राम में मनुष्य द्वारा विजय पाने के प्रयत्नों का हाल आपको सुनाएँ।

सुदूर अतीत के किसी धुंधले युग में, जिसे आज मानव के नाम से पुकारा जाता है वह व्यक्ति किसी जानवर की खाल शरीर में लपेटे प्रति दिन प्रातःकाल शिकार के लिए जंगल को जाता और आखेट में मारे हुए जानवर के मृत शरीर को जमीन पर घसीटता हुआ, बड़ी मेहनत के बाद, उसे अपने निवासस्थान को ले आता। कितने कठोर परिश्रम की वह जिन्दगी थी! इसी तरह मकान बनाने के लिए चट्टानों के टुकड़े लाने होते तो उन्हें भी स्वयं अपने ही सिर पर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को उसे ले जाना होता! इस मेहनत को बचाने के लिए तत्कालीन मनुष्य ने सबसे पहले अपने पालतू कुत्ते से काम लिया। उसने उससे बोझा ढोने का काम लिया। इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी। योरप के अनेक देशों में कुत्ते आज भी दूध ढोनेवाली हल्की गाड़ियां खीचते हैं। ध्रुव-सम्बन्धी अभियानो में भी कुत्तों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया है। रावर्ट पेरी, जिसे उत्तरी ध्रुव पर सबसे पहले पहुँचने का श्रेय प्राप्त है, यदि अपने साथ स्लेज खीचनेवाले २४६ कुत्तों को न ले जाता तो कदाचित् ध्रुव तक वह कभी भी नहीं पहुँच सकता था। शीत कटिबन्ध के हिमाच्छादित प्रदेशों में ये कुत्ते १२ घण्टे में १०० मील तक का सफर तय कर लेते हैं।

घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि पशुओं का प्रयोग

मनुष्य के लिए बोझा ढोने का काम घोड़ों ने कब से शुरू किया, इसका पता इतिहास को नही है। जीव-वैज्ञानिकों का विचार है कि घोड़ा साइबेरिया प्रान्त का आदि पशु है। जो भी हो, इतिहास के आरंभकाल ही से घोड़ा अपनी उपयोगिता के कारण योरप और एशिया के बहुतेरे देशों में फैल गया था और आज तो संसार के सभी देशों में घोड़ा और उसके भाई-बन्धु—खच्चर, गदहे आदि—पाए जाते है। योरप के अधिकतर देशों में साधारण तौर पर बोझा ढोने और सवारी के काम में घोड़े या खच्चर का प्रयोग होता है।

एशिया और अफ्रीका महाद्वीप के रेगिस्तानी क्षेत्रों में बोझा ढोने के लिए ऊँट का प्रयोग होता है। देखने में यह जानवर बेढंगा जरूर मालूम पड़ता है, किन्तु यह घोड़े से चौगुना बोझ ढोकर ले जा सकता है और तीन-तीन चार-चार दिन तक भूखा रहकर भी अपना कर्त्तव्य बखूबी निवाह लेता है। प्राचीन काल की गाथाओं में हर कही शीघ्रगामी वाहनों में साँड़िनी या ऊँटनी का स्थान सर्वोपरि रहा है। बोझा ढोनेवाले ऊँट और साँड़िनी बिना किसी प्रकार की रुकावट के दो-दो दिन तक रास्ता चलते रहते है।

शान-शौकत के लिए प्राचीनकाल से हाथी की सवारी का प्रयोग होता रहा है। साधारणतया भी बरसात के दिनों में देहातों की पगडण्डी पर हाथी की सवारी सबसे ज्यादा आरामदेह समझी जाती है। बहुत पहले से ही लोग हाथी की बुद्धि का महत्व जानते थे। बरमा, लंका और भारत में जंगल में से लट्ठों को घसीटकर नदी के किनारे ले जाने का काम हाथी से लिया जाता है।

टण्ड्रा सरीखे शीतप्रधान देशों में बारहसिंघे को स्लेज में जोतते हैं। उधर तिब्बत और आसपास के पहाड़ी प्रान्तों में याँक नामक पशु का प्रयोग बोझा ढोने के लिए करते हैं।

यह याद रखना जरूरी है कि पुराने युग में सड़कें कहीं पर भी न थीं। लोगों को सड़कों की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती थी। हाँ, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए पगडण्डियाँ अवश्य बनी हुई थीं। बोझा ढोनेवाले जानवरों, घुड़सवारों तथा साँड़िनी-सवारों की जरूरतों के लिए पगडण्डी ही काफी थी। पगडण्डी का मुख्य उद्देश्य था यात्री को पानी-भरे गड्ढों और कीचड़ आदि से बचाना। उन दिनों योरप, एशिया तथा अन्य सभी भूभागों में सैकड़ों मील लम्बी पगडण्डियों का रास्ता बना हुआ था—वह एक निशान-सा था कि इस रेखा पर हमें चलना है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ जब मनुष्य ने नये-नये वाहनों का आविष्कार किया, तब उसने महसूस किया कि अब पगडण्डियों से उसका काम नहीं चलने का; क्योंकि इस बीच उसने पहियों वाली गाड़ियों का प्रयोग सीख लिया था, जो पगडंडी के लिए उपयुक्त नहीं थीं।

पहिएदार गाड़ी का एक पूर्वरूप

ये चीन के एक पहाड़ी प्रदेश के निवासियों की भौंडी पहिएदार गाड़ियाँ हैं जिन्हें वे स्वयं खींचते हैं। आदिम पहिएदार गाड़ियाँ शायद ऐसी ही रही हों !

पहिए का आविष्कार और विकास

पहियों के आविष्कार की कहानी भी कम विचित्र नहीं है। मानव-सभ्यता के उस प्रारम्भिक काल में बाँस के दो छोटे-छोटे टुकड़ों पर बोझा रखकर उसे घसीटने की तरकीब जब मालूम की गई तो मनुष्य को निस्सन्देह बड़ी प्रसन्नता हुई कि जिस बोझ को उसे अपने सिर पर उठाना पड़ता था, उसे अब बिना उठाये इतनी आसानी के साथ जमीन पर ही घसीटा जा सकता था। लेकिन इस भद्दे ढंग की स्लेज गाड़ी में रास्ते भर लकड़ी के वे दोनों डण्डे खुरदरी जमीन पर घसीटते चलते थे, इस कारण मेहनत का बहुत-सा अंश बेकार जाता था। तब शायद एक दिन ऐसा हुआ कि पगडण्डी पर लकड़ी का एक गोल सुडौल टुकड़ा आड़ी दिशा में पड़ा हुआ मिला। उस पर रखकर जब स्लेज को घसीटा गया तो बड़ी आसानी के साथ स्लेज आगे को फिसलने लगी। कदाचित् पहियेवाली गाड़ी का सर्वप्रथम रूप लकड़ी के टुकड़े पर लुढ़कनेवाली यह स्लेज गाड़ी ही थी। ठीक कहा नहीं जा सकता कि इसके कितने दिनों बाद वास्तविक पहियों का बनाना मानव जाति ने सीखा। उन दिनों किसी बुद्धिमान व्यक्ति ने, जिसकी कमर शायद लकड़ी के उस टुकड़े पर स्लेज लुढ़काते टूट रही थी, अपनी मेहनत बचाने के लिए लकड़ी के तने के बीच से बहुत-सी लकड़ी काटकर उसे पतले गोल बेलन की शक्ल का बना लिया होगा और उसके प्रत्येक छोर पर चक्की के पाट-जैसा छः-सात इंच मोटा हिस्सा छोड़ दिया होगा। अब इस सम्मिलित धुरी और पहिये पर स्लेज को जोड़ना था। स्लेज के निचले डण्डों को पहिये की धुरी पर एकदम मजबूती से बांधा नहीं जा सकता था, क्योंकि स्लेज खींचते समय धुरी को भी पहियों के साथ-ही-साथ घूमना था। अवश्य इस समस्या को हल करने में तत्कालीन कारीगरों को बड़ी ही माथा-पच्ची करनी पड़ी होगी। अंत में काफी देर तक सोचने-विचारने के बाद शायद उन्होंने स्लेज के निचले डण्डों में नीचे

की ओर से एक पतला घर काटा होगा, ताकि धुरी उस घर में ठीक बैठ जाय और इस तरह स्लेज धुरी पर टिकी भी रह सके, साथ ही धुरी के घूमने के लिए पूरी स्वतंत्रता भी रहे।

पहियेदार गाड़ी के विकास की दूसरी सीढ़ी थी ऐसे पहियों का निर्माण, जो धुरी पर आसानी से घूम सके। इसके लिए चक्की के पाट-जैसे अलग से दो पहिये बनाकर उनके केन्द्र पर वृत्ताकार सूराख बना लिया गया होगा; फिर धुरी बनाकर उन्हीं सूराखों में पहना दी गई होगी। पहिये के विकास की यह कहानी निस्संदेह कल्पना पर आधारित है। वास्तव में पहिये का विकास किस क्रम में हुआ, यह कोई भी ठीक-ठीक नहीं बता सकता।

आज से ५,५०० वर्ष पहले सुमेरियन लोगों द्वारा साधारणतः पहियेदार गाडियों और रथों का प्रयोग होता था। उस समय के बने चित्रों में अक्सर पहियेदार गाडियाँ देखने को मिलती है। प्राचीन भारत, मिस्र और रोम में भी लोग रथ का बनाना बहुत पहले से जानते थे।

सड़कों का विकास

पहियेदार गाड़ियों के आगमन ने इस बात की आवश्यकता उत्पन्न की कि इन वाहनों के चलने के लिए ऐसे रास्ते बनाये जायँ, जो चौड़े भी हों और जिनकी जमीन कडी भी हो। स्लेज भी अभी तक मामूली पगडण्डियों पर ही खींची जाती थी। किन्तु पहियों के किनारे जब मामूली जमीन पर जल्दी ही गड्ढे कर देने लगे, तब इनके लिए विशेष सावधानी के साथ सड़कों का बनाना शुरू हुआ। उस समय पक्की सड़कें बनाना तो कोई नहीं जानता था, किन्तु सड़क की जमीन को पुख्ता बनाना उन्हें आ गया। इसके लिए नरम जमीन पर पहले लकड़ी के लट्ठे बिछाए गए।

सड़कों का विकास

इस चित्र में प्राचीन रोमन सड़कों से लेकर मेकेडम-टेलफोर्ड के ढंग की तथा आज की कंकरीट की सड़क तक के मुख्य-मुख्य प्रकार दिखाए गए है।
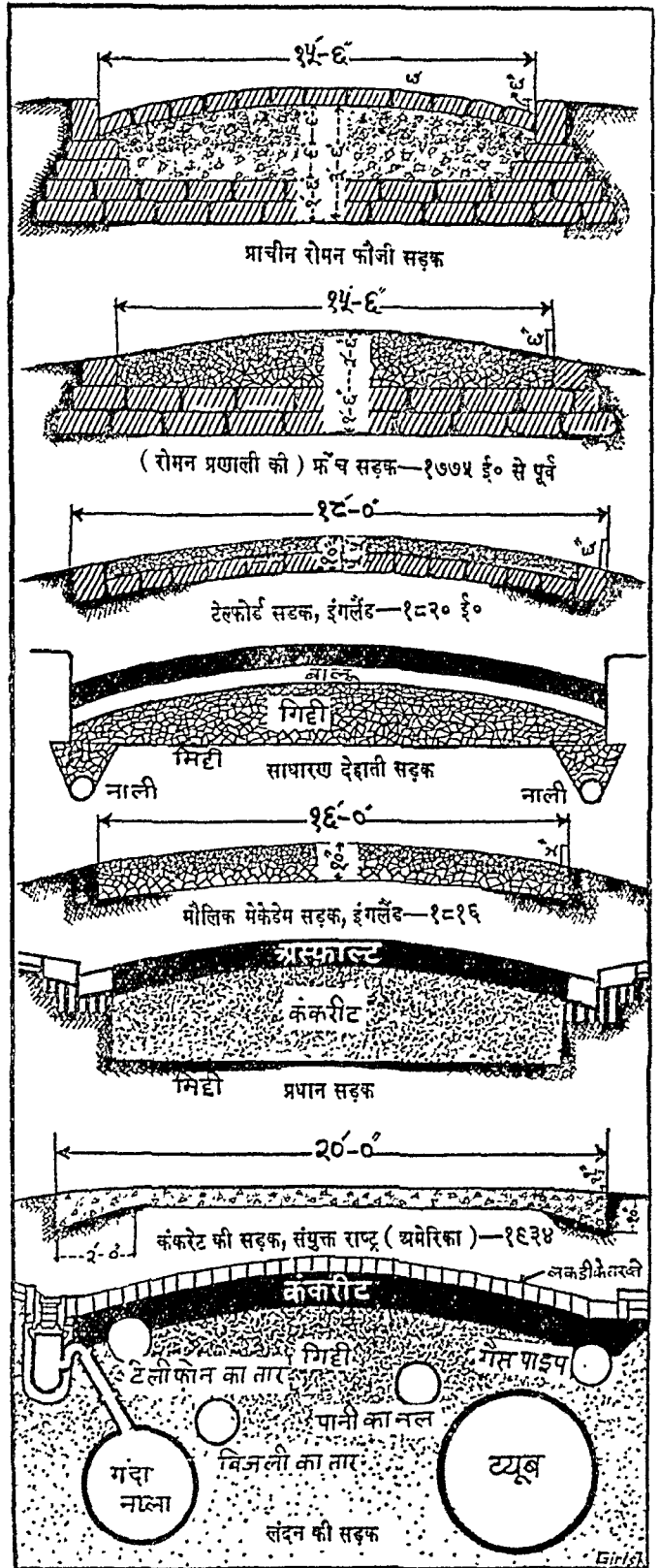
आधुनिक सड़क-निर्माण का एक उत्कृष्ट उदाहरण
सांप की तरह बल खाती हुई काश्मीर को जानेवाली भारत की इस पहाड़ी सड़क पर मोटरें दौड़ती रहती है !

पहियेदार गाड़ी तथा सड़कों के विकास ने संसार के व्यापार को बढ़ाने में बड़ी मदद पहुँचाई। अब ३००-४०० मील तक लम्बी सड़कों के रास्ते से एक देश का माल दूसरे देश को आसानी से भेजा जाने लगा। आज से कई हजार वर्ष पहले की बात है, यूनान से एक सड़क सीधी ईरान को जाती थी। यह सड़क उन दिनों खूब चलती थी। बीसियो प्रसिद्ध शहर इसके किनारे बस गये थे। इस सड़क से अफगानिस्तान होकर भारत तथा उत्तर-पूर्वीय चीन तक जा सकते थे। चीन का सुप्रसिद्ध रेशम इसी रास्ते से मिस्र, यूनान और ईरान की महिलाओ के लिए भेजा जाता था।

पत्थर की सड़क का सर्वप्रथम उल्लेख मिस्र के ग्रन्थों में आता है। ३००० ईस्वी पूर्व में मिस्र के बादशाह खूफू ने इस उद्देश्य से सड़क पर पत्थर के टुकड़े जड़ाये थे कि पिरामिड के निर्माण के लिए पत्थर की विशालकाय शिलाएँ ढोनेवाली गाड़ियाँ आसानी से अपना बोझ ले जा सकें। इनमें से प्रत्येक शिला का वजन ७० मन था ! कहते है कि इस सड़क के बनाने में हजारों गुलाम कुलियों ने दस वर्ष तक परिश्रम किया था।

रोमन सड़कें

तदुपरान्त कार्थेजियन लोगों ने पत्थर से जड़ी हुई सड़कों के निर्माण में विशेष योग्यता प्राप्त की। पर इस ढंग की पायदार सड़क बनाने की कला को रोमन लोगों ने सबसे अधिक समुन्नत बनाया। पश्चिमी योरप और भूमध्य-सागर के तट के सभी देशों में आज भी रोमन सम्राटों की बनवाई हुई सडकों के भग्नावशेष देखने को मिलते है। इन सड़कों ने इन देशो के व्यापार की उन्नति में बड़ी मदद पहुँचाई, किन्तु इनके निर्माण मे रोमन सम्राटों का भारी स्वार्थ निहित था। सेना को कम से कम समय मे एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज सकने के लिए सड़कें बड़ी उपयोगी होती है। रोमन सम्राट् केवल इसी स्वार्थ से प्रेरित होकर सड़कें बनवाने में बेहद धन खर्च करते थे, ताकि कही पर भी यदि विद्रोह की आशंका हो तो बात-की-बात में भिन्न-भिन्न छावनियो से वहाँ पर सेना पहुँचा दी जाय। साम्राज्य के विस्तार में भी सड़कों को सदैव से ही एक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। अंग्रेजों ने भी भारत में सड़कों का जाल बिछाया था, सो इस देश की व्यापारिक उन्नति के भाव से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि इसलिए कि जरूरत पड़ने पर तत्काल ही सेना देश के कोने-कोने से बुलाई जा सके।

रोम की सड़कें इटली के एक सिरे को दूसरे सिरे से मिलाती थी। आल्प्स को पार कर वे फ्रांस और स्पेन तक पहुँचती थी। ब्रिटेन पर रोमन लोगों ने जब अपना कब्जा जमाया तो वहाँ पर भी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उन्होंने सड़कों का जाल बिछा डाला। रोमन सड़कों की पक्की फर्श दो-दो तीन-तीन फीट मोटी होती थी। सीमेन्ट, चूना और पत्थर की गिट्टी, इन तीनों की मदद से यह पक्की फर्श तैयार की जाती थी। फिर इस गच पर चिकने हमवार पत्थर के टुकड़े एक दूसरे से सटाकर बिछा दिये जाते थे। निस्सन्देह ये सड़कें बहुत मजबूत हुआ करती थी, जैसा कि १५००-१७०० वर्ष बाद भी उनके भग्नावशेषों को देखने से पता चलता है।

रोमन सड़कों की खास विशेषता यह थी कि वे एकदम सीधी बनायी जाती थी। यदि सामने पहाड आ गया तो उसी

के ऊपर से सड़क जाती थी या फिर उसे काटकर रास्ता निकाला जाता था। नदी सामने पड़ी तो उस पर वे लोग पुल बनाते थे। हर हालत में वे जाते थे एकदम सीधी रेखा में ! ये सड़कें प्रायः सँकरी होती थीं। इनकी चौड़ाई १५ फीट से अधिक नहीं होती थी। दो से ज्यादा गाड़ियाँ इन सडकों पर एक साथ नहीं गुजर सकती थी। सड़क के दोनों ओर गहरी नालियाँ थीं, ताकि सड़क से पानी बहकर इन्हीं नालियों में चला जाया करे। इन नालियों के कारण सड़क पर तेज रफ्तार से गाड़ी हांकना बहुत ही खतरनाक था।

इन सड़कों को तैयार करने में सैनिकों, कारीगरों, राजगीरों और आसपास के रहनेवालों की भी मदद ली जाती थी। सम्राट् की आज्ञा होने के कारण बिना किसी चूं-चपड़ के लोगों को इस राष्ट्रीय योजना में सहयोग देना पड़ता था। अक्सर सैनिक इस बात पर विद्रोह कर बैठते कि हमने युद्धस्थल में लड़ने के लिए नौकरी की है, न कि पर्वतों में सुरंग खोदने या उमड़ी हुई नदी पर पुल बांधने के लिए। रोमन अदालतों में प्रायः आजन्म कैद की सजा न देकर अपराधी को यह दण्ड दिया जाता था कि तुम्हें सड़कों पर आजन्म गिट्टी कूटनी होगी या नहर खोदने का काम करना होगा।

चीन की सड़कें

चीन में बढ़िया प्रकार की सड़कें हजारों वर्ष पहले से बनायी जाने लगी थीं। रोमन सड़कों की भांति उनकी भी लम्बाई सैकड़ों मील तक पहुँचती थी और उनकी भी फर्श पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों से जड़ी रहती थी। किन्तु चीन में सड़कों का जाल विस्तृत रूप से कभी बिछ न सका; क्योंकि वहाँ इधर-उधर जाने के लिए तथा व्यापार के काम के लिए नदियों और नहरों के रास्ते से ही आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थी। नदियों और नहरों की अधिकता के कारण चीन की सडकों पर जगह-जगह विचित्र ढंग के पुल बनाये गये हैं। ये पुल कला और सुरुचि के परिचायक है। चीन की सड़कें रोमन सड़कों की तरह सीधी नहीं जाती। इन सड़कों में हद से ज्यादा संख्या में मोड़ पाये जाते हैं। जनसाधारण द्वारा इसका कारण यह बताया जाता है कि सीधी सडकों पर प्रेतात्माएँ यात्रियों का पीछा करती है, और जहां-कहीं मोड आ जाता है वहाँ वे प्रेतात्माएँ घबरा जाती हैं; वे टेढ़े रास्ते पर आगे नहीं बढ़ सकतीं। इसी मिथ्या विश्वास के कारण चीन की सभी प्राचीन सड़कें पेंच या बल खाती हुई आगे बढ़ती हैं। किन्तु इंजीनियरिंग के दृष्टिकोण से टेढ़ी सड़कें बनाने का कारण यह जान पड़ता है कि पहाड़ी प्रान्तों में टेढ़ी सड़कों द्वारा ही बोझ से लदी हुई गाड़ियां आसानी से ऊँचाई पर चढ़ सकती हैं।

प्राचीन अमेरिका-वासियों की अद्भुत सड़क

दक्षिणी अमेरिका में लगभग १७०० वर्ष पूर्व इक्वेडार प्रान्त के क्विटो नगर से अर्जेन्टिना प्रान्त तक ४०० मील लम्बी एक सड़क बनाई गई थी। यह सडक २५ फीट चौड़ी थी और इस पर कुछ दूर तक पत्थर जड़े थे तथा शेष पर एस्फाल्ट या कोलतार बिछाया गया था। इस सड़क के बनाने में तत्कालीन इञ्जीनियरों को कहीं-कहीं पर दो-दो मील ऊँचे पहाड़ों को काटना पड़ा था, तो कहीं पर गहरे खड्डों को या तो पुल द्वारा पार करना पड़ा था, या फिर उन्हें पत्थर के टुकड़ों से पाट देना पड़ा था !

प्राचीन भारत के राजपथ

यातायात के साधनों के विकास में भारत भी अन्य किसी देश से पीछे नहीं रहा है। यद्यपि चीन की तरह इस देश में
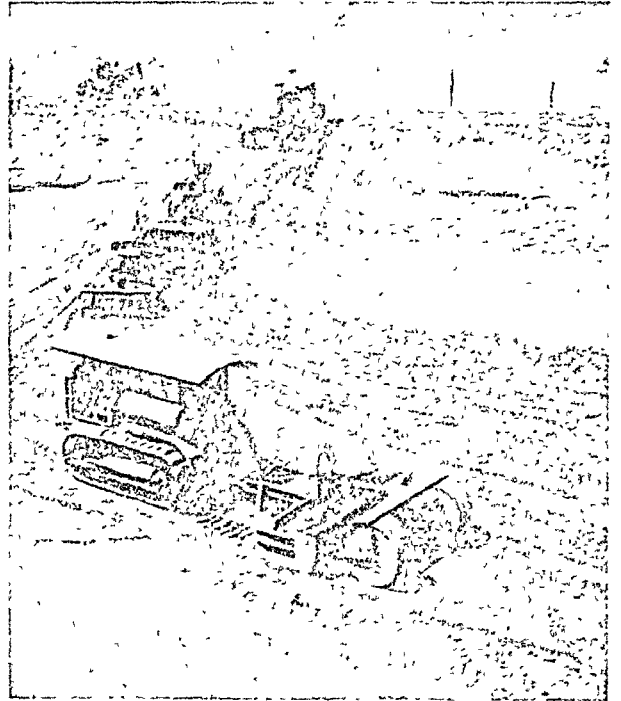
आधुनिक सड़क बनानेवाले रोड-रॉलर आदि का एक जत्था
आज के दिन इन मशीनों की मदद से बात की बात में पुख्ता सड़कें तैयार कर दी जाती हैं! ये सड़कें गिट्टी, कोलतार, सीमेंट आदि से बनाई जाती है।

भी व्यापार और आवागमन के आन्तरिक मार्गों में नदियों का ही स्थान प्रमुख रहा है, फिर भी स्थल-मार्गों के निर्माण और विकास के प्रति यहाँ कभी भी उदासीनता न रही। जिन दिनों यूनान और रोम का पता भी न था, उस समय भी भारत के नगरों में आवागमन के लिए सुविस्तृत राज-मार्ग और गंदे पानी के निकास के लिए बनाई गई पक्की ढकी हुई नालियों से युक्त वीथिकाएँ होने के प्रमाण मिले हैं। सिंधु की तलहटी में पाँच हजार वर्ष पूर्व के मोहनजोदड़ो नगर के ध्वंसावशेषों में ऐसे रास्ते और गलियाँ निकली हैं, जिनमें उपर्युक्त प्रकार की ईंटों से बनी नालियाँ हैं। ये छोटी नालियाँ प्रधान पथ के बड़े नाले में जा मिलती थीं। जो लोग अपनी बस्तियों में आवागमन के लिए इतने साफ-सुथरे और वैज्ञानिक ढंग के रास्ते बना सकते थे, उन्होंने एक नगर से दूसरे नगर अथवा ग्रामों को जाने के मार्गों का भी अवश्य ही निर्माण किया होगा। अचरज नहीं कि आर्यावर्त्त के विभिन्न जनपदों में उन दिनों जलमार्गों की तरह सुगम स्थलमार्गों या सड़कों का भी जाल बिछा हो।

'राजपथ' या प्रधान स्थल-मार्गों का भारत के प्राचीन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। महाराज रामचंद्र के जमाने से पहले ही एक से दूसरे प्रदेश तक रथों के दौड़ने के मार्ग बन चुके थे। वन को जाते समय श्रृंगवेरपुर तक रामचंद्र रथ पर आये थे और वहाँ से गंगा पार करके आगे बढ़े थे। इससे ज्ञात होता है कि अयोध्या से वहाँ तक रथों के चलने योग्य अच्छी सड़क रही होगी। महाभारत-काल में तो राजपथों का और भी अधिक विस्तार हो चुका था। श्रीकृष्ण का रथ द्वारका और हस्तिनापुर के बीच प्रायः दौड़ता ही रहता था। इन मार्गों का विस्तार-पूर्वक वर्णन यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है, अतएव यह बताना कठिन है कि ये सड़कें कैसी होती थीं, तथापि प्राचीन शिल्प-शास्त्रों में ग्राम-निर्माण के वर्णन में ऐसे 'राजपथ' का उल्लेख मिलता है, जिसके दोनों ओर घने वृक्षों की कतारें होती थीं और जो एक गाँव से दूसरे गाँव को आने-जाने का तथा व्यापार आदि का प्रधान मार्ग होता था।

मौर्यकाल की समुन्नत सड़कें

चंद्रगुप्त मौर्य के काल में आकर हमें इन राजपथों का विशेष विवरण मिलता है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इन राजपथों और सड़कों के महत्व पर बहुत जोर दिया है। उनके निर्माण तथा रक्षा का भार शासक पर ही होता था। चंद्रगुप्त के राज्य का प्रधान 'राजपथ' पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) से तक्षशिला (पेशावर के निकट आधुनिक टैक्सिला) तक जाता था। यह सड़क रास्ते में साम्राज्य के प्रधान-प्रधान नगरों को एक दूसरे से जोड़ती थी। एक और सड़क पाटलिपुत्र से प्रयाग, भारहुत और विदिशा होती हुई मालव की राजधानी उज्जैन तक जाती थी, जो एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ से एक बड़ी सडक सिंधु के मुहाने तक और दूसरी पश्चिमी समुद्र-तट पर भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौच) तक जाती थी। सारे साम्राज्य में इन राजमार्गों का जाल बिछा था। इन राजपथों के आसपास यात्रियों की सुविधा के लिए घने छायावाले वृक्ष लगे रहते थे और थोड़ी-थोड़ी दूर पर पानी के कुएँ, यात्रियों के विश्रामगृह या धर्मशालाएँ, पुलिस की चौकियाँ और डाकघर भी बने रहते थे। मेगेस्थनीज ने लिखा है कि इन सड़कों पर दूरी और दिशा का निर्देश करने के लिए आज की तरह मील के पत्थर भी लगे होते थे! इन सड़कों की मरम्मत के लिए सरकारी व्यवस्था थी। जो गाँव इनकी मरम्मत में सहायता देते थे, उनका कर माफ कर दिया जाता था। इन राजमार्गों के आवागमन में बाधा डालनेवाले अथवा उनको खराब करनेवालों पर जुर्माना किया जाता था।

कौटिल्य ने कई प्रकार की सड़कों का वर्णन किया है। उनमें पत्थरों या लकड़ी के तख्तों से जड़ी हुई रथों के चलने योग्य सड़कें, माल ढोनेवाले चौपायों के योग्य सड़कें, यहाँ तक कि श्मशान को जानेवाले मार्गों का भी उल्लेख है। प्रधान राजमार्ग, गाड़ियों के रास्ते और पगडंडियों के अलावा खानों, चरागाहों, बगीचों, अमराइयों, जंगलों और प्रधान-प्रधान कस्बों को जोड़नेवाली सड़कों का भी उल्लेख मिलता है। प्रत्येक सड़क का एक खास माप होता था। ४ फीट से लगाकर ३२ फीट चौड़ाई तक की सड़कें होती थीं! प्रधान राजपथ और व्यापारिक मार्ग तो इससे भी दुगुनी चौड़ाई के होते थे! कौटिल्य ने इन सड़कों पर चलनेवाले रथ, गाड़ी, पालकी, हाथी, ऊँट, घोड़े, गधे आदि तरह-तरह के वाहनों का भी वर्णन किया है।

ह्युएन सांग जैसे चीनी यात्रियों ने भी भारत में बहुत ही उम्दा सड़कों के होने का उल्लेख किया है। दक्षिण में चोल राजाओं ने भी सड़कों के निर्माण में बड़ा भाग लिया था। गुप्त-काल में भी यह क्रम जारी रहा। मुसलमानी जमाने में शेरशाह ने सड़कों की सुरक्षा के लिए खास तौर से ध्यान दिया था। पंजाब से बंगाल तक जानेवाली वर्तमान 'ग्राण्ड ट्रंक रोड' शेरशाह के जमाने से ही है। मुगलों के जमाने में तो और भी अच्छी सड़कें बनने लगी थीं।

इंगलैण्ड में सड़कों का विकास

इंगलैण्ड में सड़कों के बारे में पार्लमेण्ट का पहला कानून एडवर्ड प्रथम के जमाने में बनाया गया था। इस कानून का आशय था कि किसी भी सड़क के किनारे पर झाड़ियाँ वगैरह न लगाई जायँ, क्योंकि झाड़ियों के पीछे से अचानक चोर-डाकू यात्रियों पर हमला कर सकते हैं। पर इंगलैण्ड में अच्छे ढंग की सड़कों का निर्माण १८ वी शताब्दी के पहले आरम्भ नहीं हुआ था। स्काटलेंड में १७१५ में विद्रोह हुआ था। तब महसूस किया गया कि सड़कों के बिना फौजें एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से भेजी नहीं जा सकती। सड़कों की कमी की वजह से विद्रोह के दमन में वे जैसी आशा करते थे वैसी सफलता उन्हें नही मिली। अतः इंगलैण्ड की सरकार ने स्काटलेंड के कमाण्डर-इन-चीफ को हुक्म दिया कि समूचे स्काटलेंड में सड़कों का एक जाल बिछा दो। शीघ्र ही इस योजना के अनुसार कई एक बढ़िया सड़कें स्काटलैण्ड में बन गईं। ये सड़कें खूब चौड़ी बनाई गई थी। पार्लमिण्ट का कानून बन गया था कि राज-पथ की सड़कें २०० फीट चौड़ी बनाई जायँ।

कंकरीट की सड़क कैसे बनाई जाती है

पाश्चात्य देशों में आधुनिक कंकरीट की सड़कें बनाते समय सीमेन्ट की तह के साथ इस तरह की लोहे की जाली बिछा दी जाती है, जिससे कंकरीट मजबूत हो जाता है।

मैकाडम और टैल्फर्ड की विधियाँ

पक्की सड़क बनाने की आधुनिक प्रणाली के विकास का श्रेय दो अंग्रेज इंजीनियरों जान मैकाडम और टामस टैल्फर्ड को प्राप्त है। मैकाडम ने सर्वप्रथम इस बात पर जोर दिया था कि रोमन लोगों की तरह सड़क के फर्श के लिए एक गज मोटी गच तैयार करने की बिल्कुल जरूरत नहीं है। उसने बताया कि सड़क पर पत्थर के नुकीले टुकड़े, जो करीब ढाई इंच के आकार के हों, यदि कच्ची किन्तु बिना धूलवाली सड़क पर दस-बारह इंच की मुटाई तक कूट दिये जायँ, तो उनके नोक आपस में एक दूसरे से अच्छी तरह गुंथ जायँगे और इस तरह फर्श एकदम पक्की बन जायगी। इस पर जब गाड़ियाँ चलेंगी तो ऊपर की सतह बैठकर एकदम चिकनी हो जायगी। मैकाडम ने इस बात का भी अनुभव किया कि यदि सड़क पर से पानी के बहकर निकल जाने की ठीक व्यवस्था न हुई तो कोई भी सड़क ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रह सकती। अतः सड़कें आसपास की जमीन की सतह से ऊँची रखी जाने लगीं।

मैकाडम की प्रणाली वैसे सफल तो अवश्य हुई, किन्तु इसमें एक भारी अवगुण यह था कि शुरू में जब पत्थर के रोड़े सड़क पर बिछाए जाते तो उस पर चलनेवालों को एकाध सप्ताह अपार कष्ट होता। तब टैल्फर्ड ने मैकाडम की उक्त प्रणाली में एक सुधार यह किया कि सड़क पर रोड़े बिछाते समय बड़े आकार के रोड़े तो सबसे नीचे डाले जायँ और ज्यों-ज्यों ऊपर आते जायँ इन रोड़ों का आकार छोटा करते जायँ, यहाँ तक कि सबसे ऊपर की सतह पर निरी छर्रियाँ ही डाली जायँ। तदुपरान्त अन्य एक इंजीनियर ने सलाह दी कि ऊपरी सतह की छर्रियों पर बालू भी डाल दी जाया करे, ताकि आरम्भ से ही सड़क की सतह चिकनी बनी रहे। आधुनिक युग की सड़कें साधारणतः इन तीनों ही प्रणालियों के योग से बनायी जाती हैं।

ऑमनीबस घोड़ागाड़ियाँ

मैकाडम और टैल्फर्ड की संयुक्त योजना के अनुसार शीघ्र ही सब कहीं कम खर्चे में बढ़िया सड़कें बनने लगी। सड़कों के इस सुधार से इंगलैंड में घोडागाड़ियाँ इधर से उधर दौड़ने लगीं। इन गाड़ियों में शुरू में धुरी और सीट के बीच कमानी नहीं थी। इससे ऊँची-नीची सड़कों पर यात्रा करते समय बैठनेवालों को जबर्दस्त धक्का लगता था। अतः धीरे-धीरे इनके निर्माण में भी अनेक सुधार हुए और आरामदेह कमानीदार गाड़ियाँ बनने लगीं। इन गाड़ियों का किराया उन दिनों काफी ऊँचा था, इस कारण साधारण जनता को

इन गाड़ियों में चढ़ने का सौभाग्य बहुत कम प्राप्त होता था। तब १८२९ में लन्दन की सड़कों पर साधारण जनता के लिए भी 'ऑमनीबस' घोड़ागाड़ियाँ चलने लगीं। ऐसी सर्वप्रथम ऑमनीबस मे २३ पैसेंजरों के लिए बैठने की जगह बनी थी, और उसमें तीन घोड़े जुतते थे। जनता ने इस सस्ती सवारी को इतना अधिक पसन्द किया कि साल भर के अन्दर ही लन्दन की सड़कों पर सवारियाँ ढोनेवाली ऑमनीबसों की संख्या ६०० से ऊपर पहुँच गई।

१९ वी शताब्दी के प्रारम्भिक दिनो तक पश्चिम में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए लोगों को कोच या ऑमनीबस का ही सहारा लेना पडता था, इस कारण उनके साथ-साथ सड़कों की भी उन्नति जारी रही। किन्तु इस बीच रेलगाड़ियो का भी विकास हो रहा था। अतः १८२५ में जब दुनिया की सर्वप्रथम रेलगाड़ी तैयार हुई तब उसके कारण पक्की सड़कों की समृद्धि को निस्संदेह एक जबर्दस्त धक्का पहुँचा, क्योंकि लम्बी यात्राओं के लिए अब लोग रेलगाड़ियों का ही प्रयोग करने लगे। सड़कों के किनारे की सरायें सूनी पड़ गई और जिन सरायों में कभी सौ-सौ घोड़े डाक बदलने के लिए बँधे रहते थे, वहाँ अब एक भी घोड़ा नजर नहीं आने लगा। इसी कारण सभी लम्बी-लम्बी सड़कें एकदम बेमरम्मत पड़ गई। इन सड़कों पर सब जगह कीचड़, गड्ढे और धूल ही नजर आती। साइकिल चलानेवालों के लिए तो जैसे आफत ही आ गई थी। १९वी शताब्दी के अंत तक इंगलैंड में सड़कों की यही दुर्दशा रही।

मोटरकार का युग

तब २० वी शताब्दी में पुनः सड़कों के भाग्य फिरे। मोटर-कार के आविष्कार ने उनकी रौनक एक बार फिर बढ़ाई। मोटरों को सड़क पर चलने से रोकने के लिए तत्कालीन पार्लमेंट ने अपनी ओर से कुछ भी उठा न रखा। इस संबंध में एक कानून भी पास हुआ, जिसके द्वारा यंत्र से चलने-वाली गाड़ी पर यह जबर्दस्त प्रतिबन्ध लगाया गया था कि उसके आगे-आगे घोड़े पर सवार होकर एक व्यक्ति लाल झण्डा दिखाता हुआ चले, और ऐसे वाहन की रफ्तार शहर के अन्दर २ मील प्रति घंटे से अधिक न होने पाए!
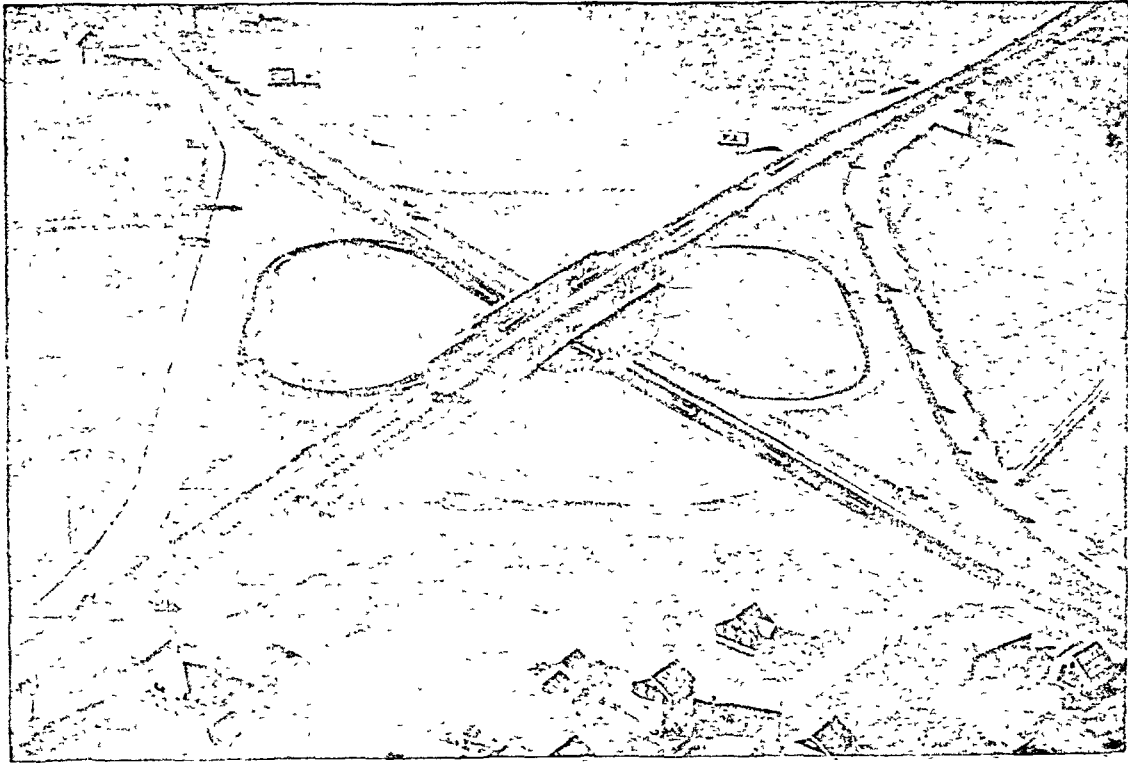
आधुनिक सड़कों को किस प्रकार एक-दूसरे पर से गुजारा जाता है

मोटरों के आगमन में कोई रुकावट न हो, इसलिए आधुनिक कंक्रीट की सड़कें बड़े चौराहों पर प्रायः इसी प्रकार से पुल द्वारा एक-दूसरे के ऊपर या नीचे से गुजारी जाती है। इस चित्र में ऐसा ही एक चौराहा दिखाया गया है।

पार्लमेंट ने यह कानून इसलिए नहीं बनाया था कि उसे मोटरकार से जनता की जान के लिए खतरे का अंदेशा था, बल्कि इसलिए कि घोड़ागाड़ी और ऑमनीबसवालों ने अपने स्वार्थवश मोटरकार के विरुद्ध जबर्दस्त प्रोपैगैण्डा करना शुरू कर दिया था। वे जानते थे कि सड़कों पर यदि बहुतायत से मोटरें चलने लगेंगी तो उनकी रोजी मारी जायगी!

कोलतार और कंकरीट की सड़कें

आखिर १८६६ में उक्त कानून रद्द कर दिया गया और फ्रान्स-जर्मनी की भांति इङ्गलैण्ड की सड़कों पर भी गर्द उड़ाती हुई मोटरें इधर-उधर दौड़ने लगीं। इस गर्द से बचने के लिए ही सड़कों पर कोलतार डाला जाने लगा। कोलतार से सड़क की छर्रियां भी एक दूसरे से चिपककर अच्छी तरह बैठ जाती और धूल भी न उड़ती। भिन्न-भिन्न देशों में सड़क बनाने के लिए सुविधानुसार कोलतार, लकड़ी के कोयले या निरी लकड़ी का प्रयोग किया जाने लगा। किन्तु जब भारी बोझ ढोनेवाली लारियां सड़कों पर चलने लगीं, तब मालूम हुआ कि इस प्रकार की साधारण मैकाडम ढंग की सड़कें कमजोर पड़ती हैं। इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि भारी बोझा सँभालने के लिए न केवल सड़क की सतह मजबूत और चिकनी होनी चाहिए, बल्कि उसकी गच भी खूब पुख्ता बनाई जानी चाहिये। अतः गच में अब पहले कंकरीट-सीमेन्ट की एक मोटी तह बिछाई जाने लगी, फिर इसके ऊपर एस्फाल्ट या रबर की एक पतली तह बिछाई जाने लगी। इस गच को बिछाते समय फौलाद के छड़ों का एक जाल-सा उसमें बिछा देते हैं। इससे गच खूब मजबूत हो जाती है। लोहे के छड़ गच में डालने से एक खास फायदा यह होता है कि सड़क के नीचे से यदि गैसपाइप या विद्युत्-तार आदि ले जाने के लिए उसे कभी खोदना भी पड़ा तो एक जगह खोदने से अन्य जगह की गच को एकदम नुकसान नहीं पहुँचता—लोहे की छड़ों के जाल के कारण उसकी मजबूती कायम रहती है।

लकड़ी की सड़कें

लन्दन की अनेक सड़कों पर बढ़िया किस्म की लकड़ी बिछी हुई है। ये लकड़ी की सड़कें काफी मजबूत ठहरती हैं। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जितना ही अधिक इन पर सवारियों का आना-जाना होता है, उतनी ही ज्यादा इनकी पुख्तगी बढ़ती जाती है, क्योंकि लकड़ी के रेशे दबकर दिन-प्रति-दिन और भी मजबूत होते जाते हैं।

आधुनिक काल में पक्की सड़कों की निर्माण-कला ने वही महत्व प्राप्त कर लिया है, जो रेल की सड़कों को मिल चुका है। पत्थर का प्रत्येक टुकड़ा, एस्फाल्ट का नमूना और फौलाद की छड़, आदि जो सड़क की गच में प्रयुक्त होते हैं, इन सबकी प्रयोगशाला में पहले ही भली भांति से जांच कर ली जाती है। जब ये सब एकदम निर्दोष उतरते हैं, तभी सड़क बनाने के लिए इनका उपयोग किया जाता अन्यथा नहीं। सड़क की गच के लिए एक खास गुर के अनुसार कंकरीट-सीमेण्ट तैयार की जाती है। फर्श पर डालने के पहले कोलतार की यह भी परीक्षा कर ली जाती है कि कहीं इतना पतला तो नहीं है कि जेठ की दुपहरिया में पिघलकर राहचलतों के पैरों में चिपचिपाए? हमारे देश के अनेक शहरों में, जहां अब कोलतार की सड़कें बनने लगी हैं, अक्सर रास्ता चलनेवालों को इस मुसीबत का सामना करना पड़ता है!

योरप में जब सड़क कूट-पीटकर तैयार हो जाती है तो भांति-भांति के यन्त्रों द्वारा उसकी मजबूती की जांच भी की जाती है कि कितने दिनों तक वह सड़क बिना मरम्मत टिक सकेगी। हमारे देश में हफ्तों सड़क की मरम्मत के समय 'रास्ता बन्द है' का नोटिस लगा रहता है, किन्तु योरप, अमेरिका आदि के इन्जीनियर इस लिहाज से हमसे कोसों आगे बढ़े हुए हैं। नई सड़कों के निर्माण और उनकी मरम्मत में ये लोग गजब की फुर्ती दिखाते हैं। डायनामाइट की मदद से विशालकाय चट्टानें पहाड़ों में से तोड़ी जाती हैं, फिर मशीनों की मदद से उनके छोटे-छोटे टुकड़े तैयार कर लिये जाते हैं। छलनीवाली मशीनें आकार के लिहाज से इन टुकड़ों को कई ढेरियों में बांट देती हैं। यदि कुछ एक टुकड़े बहुत बड़े हुए तो उन्हें कूटनेवाली मशीनों में फिर वापस भेज देते हैं। रोड-रॉलरों ने सड़क कूटने के काम को और भी सहज बना दिया है।

संसार की सबसे लंबी सड़क

संसार की सबसे लम्बी मोटर की सड़क अमेरिका में है। यह सड़क अटलांटिक शहर से फिलाडेलफिया, साल्टलेक सिटी, सैक्रोमेंटो और ओकलैंड होती हुई पैसिफिक के तट तक जाती है। इसकी कुल लम्बाई ३,२१९ मील है। एक स्थान पर तो यह समुद्र के धरातल से ६,५०० फीट ऊँची है। दुनिया की सबसे ऊँची सड़कें तिब्बत और दक्षिणी अमेरिका के पीरू प्रान्त में हैं। इनकी ऊँचाई समुद्र की सतह से सोलह हजार फीट है। तिब्बत की सड़क चीनी लोगों ने अभी हाल ही में तैयार की है। इसके पहले वहाँ कोई सड़क न

थी। इस सड़क के द्वारा दुनिया की छत पर भी अब मोटरों के काफिले दौड़ने लगे हैं !

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देश मे भी सड़कों का बहुत अधिक विस्तार हुआ है और उनकी निर्माण-प्रणाली में पर्याप्त प्रगति हुई है। सड़क-निर्माण के कार्य में भारतीय इंजीनियरों की प्रवीणता का एक उज्ज्वल उदाहरण 'त्रिभुवन-पथ' नामक वह राजपथ है, जो भारत को नेपाल से जोड़ता है। हिमालय की निचली श्रेणियो को पार करके बनाई गई यह अद्भुत पहाड़ी सड़क भारतीय सैनिक विभाग के इंजीनियरों द्वारा तैयार की गई है।

मीलों लम्बे पुल

धरती पर विजय प्राप्त करने के प्रयास में मनुष्य कदाचित् ही सफल हो पाता, यदि उसे सेतु या पुल बनाकर अपनी राह में पड़नेवाले नदी-नालों पर विजय पाने की कुंजी प्राप्त न हुई होती। किस प्रकार उसने यह गुर सीखा और क्या-क्या चमत्कार इसके बल पर कर दिखाए, इस प्रकरण में पढ़िए !

प्राचीन युग के मानव को पग-पग पर अड़चनो का सामना करना पड़ता था। बरसात के दिनों में बहते हुए नाले को देखकर वह हैरान हो जाता कि किस प्रकार बीस-तीस फीट चौड़ी उस धारा को पार करके जंगल मे शिकार के लिए जाय। ऐसी हालत मे या तो वह तैर-कर उस नाले को पार करता, या फिर मीलो तक उसके किनारे-किनारे चलकर, जब ऐसी जगह पहुँचता जहाँ उतार के लिए उसे राह मिलती तो वहाँ पानी में पैठकर वह उसे पार करता। प्रायः वह किश्तियों को भी काम में लेता था। किन्तु ये साधन कोई स्थायी मूल्य नही रखते थे, अतः ऐसा साधन ढूँढ़ने का प्रयत्न उसने जारी रक्खा।

सबसे पहला पुल

इसी उधेड़बुन में वह लगा हुआ था कि एक दिन उसने देखा कि कगारे पर का एक ऊँचा वृक्ष जड़ से उखड़कर नाले के आरपार गिर गया है। इस वृक्ष के तने पर चलकर बड़ी आसानी से उसने बढ़े हुए नाले को पार कर लिया। इस आकस्मिक घटना ने अनायास ही उसके मस्तिष्क में पुल की धारणा को सर्वप्रथम जन्म दिया। अतः जब किसी नदी-नाले को पार करने के लिए स्थायी रास्ता बनाना हुआ, अब से वह तुरन्त अपनी पेटी में से पत्थर की छेनी निकालता, और फिर आठ-दस दिन तक खुट-खुट खट-खट करके किनारे के किसी ऊँचे वृक्ष को उसके आरपार डाल देता। इस तरह पहले-पहल उसे पुल बनाने की तरकीब ज्ञात हुई। उसने देखा कि उस पुल पर होकर किसी भी समय एक बच्चा भी उमड़ी हुई नदी को निरापद पार कर सकता है।

तदुपरान्त नदी के दोनों किनारों पर पत्थर के खंभे तैयार करके और उन पर आरपार शहतीरे रखकर स्थायी पुल बनाना भी उसने शुरू किया। फिर उसने यह भी सीखा कि एक आड़ी शहतीर के बजाय यदि दो शहतीरे दोनों किनारों से झुकाकर त्रिभुजाकार ढंग से नदी के बीचोबीच टिका दी जायँ, तो ये कही ज्यादा बोझ सँभाल सकेंगी। उसकी इस खोज में आज का प्रसिद्ध 'कैन्टीलीवर' सिद्धान्त निहित था। फिर दो शहतीरों को किनारे से झुकाकर उनके सिरों को पत्थर की पटिया या एक तीसरी समतल शहतीर द्वारा मिलाकर उसने आधु-निक कैन्टीलीवर और गर्डर के सम्मिलित सिद्धान्त की भी जानकारी प्राप्त कर ली। कभी-कभी सुविधानुसार वह नदी के दोनो किनारों के वृक्षों की डालियो से दो मजबूत रस्सियाँ भी आरपार एक दूसरे के समानान्तर बाँध देता था। उन पर एक-आध फीट की दूरी पर बहुत-से आड़े डंडे वह बाँध देता था। इस तरह बाढ़ के समय भी वह आसानी से नदी को पार कर लेता था। निस्सदेह आधुनिक काल के झूलनेवाले पुल इसी सिद्धान्त पर बनते हैं।

रस्सियों के पुल

पुलों के निर्माण में विशेष कौशल सबसे पहले चीन-निवासियों ने प्राप्त किया था। वे रस्सियो पर झूलनेवाले पुल बनाना जानते थे। साधारण ढंग के इस तरह के झूलनेवाले पुल केवल मनुष्यों के आने-जाने के ही काम में लाये जा सकते हैं। बीच मे के जबर्दस्त झुकाव के कारण गाड़ियाँ आदि ऐसे पुलों पर से नही गुजर सकती। आधुनिक झूलनेवाले पुलो में रस्सी की जगह इस्पात के उमेठे हुए तार के रस्से या जंजीरे काम मे लायी जाती है। इनके सहारे इस्पात की मजबूत चादर का एक प्लैट-फार्म उसी धरातल में लटकता रहता है, जिस धरातल पर पुल के दोनों ओर की सड़कें होती हैं। इस पर होकर मोटर, ताँगे, इक्के आदि सभी कुछ आसानी से गुजर सकते हैं।

जिन खंभों या पायों पर तार के ये रस्से अवलंबित होते हैं, उनके दोनों ओर वे समान परिमाण के कोण बनाते हैं, ताकि पुल का बोझ रस्सों के जरिए खंभों पर नीचे को एकदम लम्बवत् पड़े। यदि स्तम्भ के दोनों ओर रस्से भिन्न-भिन्न परिमाण के कोण बनाएँ तो असमान भार के कारण वह खंभा एक ओर को झुक जायगा और इस तरह पुल की पायदारी में अंतर आ जायगा।

पुल-निर्माण के पुरातन चमत्कार

प्राचीनकाल के मजबूत पुल प्राय: पत्थर के खम्भों पर ही बनते थे। दजला-फरात की घाटी की सभ्यता जिन दिनों उन्नति की चरम सीमा पर थी, तब फरात नदी पर पत्थर के सौ खंभों वाला एक पुल बनाया गया था! इन खंभों के ऊपर खजूर, साल आदि की शहतीरें बिछाई गई थीं। जितने दिनों तक इस पुल का निर्माण-कार्य जारी रहा, उतने दिनों तक बांध द्वारा नदी को दूसरे रास्ते से बहने के लिए मजबूर कर दिया गया था। पुलों के निर्माण में ईरान के बादशाह जेरक्सीज ने भी कमाल हासिल किया था। ईसा से ४८० वर्ष पूर्व की बात है। यूनान पर चढ़ाई करने के लिए अपनी विशाल सेना लिये हुए जेरक्सीज आगे बढ़ता चला जा रहा था कि रास्ते में डार्डेनल्ज का जलडमरूमध्य पड़ा। धारा बेहद तेज थी, अतः किश्तियों पर तो उसके ५० हजार सिपाही कई दिनों में भी उसे पार न कर पाते। उसने फौरन् हुक्म दिया कि जलडमरूमध्य के एक किनारे से दूसरे किनारे तक किश्तियों का बेड़ा खड़ा कर दो। बस इस अस्थायी पुल के ऊपर से उसके ५० हजार सिपाही इस पार से उस पार तुरन्त निकल गए! आजकल के 'पॉन्टून ब्रिज' या पीपेवाले पुल इसी सिद्धान्त पर बनाये जाते हैं।

वर्मा में जंगली लोगों द्वारा बनाया गया एक भोंडा पुल
इस पर होकर मोटर भी नदी को पार कर गई है! इसे हम खंभेदार पुलों का आदिम पुरखा कह सकते हैं।

पुल-निर्माण-कार्य में रोमन लोगों का योग

पुलों के विकास में सबसे अधिक योग रोमन सम्राटों ने दिया। जैसा कि हम देख चुके हैं, रोमन सम्राटों को पक्की सड़कें बनवाने का बेहद शौक था। अपनी उन लम्बी सड़कों के तैयार करने में स्वभावतः इन्हें पुलों के निर्माण की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। रोमन लोगों द्वारा निर्मित पुल मजबूती और पायदारी में बेजोड़ होते थे। उनके अनेक भग्नावशेष आज भी योरप में अद्‌भुत कारीगरी का परिचय दे रहे हैं। रोम नगर के निकट ही टाइबर नदी पर रोमन युग का बना हुआ एक मेहराबवाला पुल आज भी अपना सिर ऊँचा किए खड़ा है, यद्यपि इस पुल को बने हुए २००० वर्ष से भी अधिक समय बीत चुका है! स्पेन में भी रोमन सम्राटों का बनवाया हुआ एक अद्‌भुत पुल टैगस नदी पर मौजूद है। इस पुल के निर्माण में एक छटाँक भी चूना-गारा खर्च नहीं हुआ था! इसके लिए ग्रेनाइट पत्थर की एक सख्त चट्टान में से पुल की पूरी मेहराब प्रस्तर-मूर्ति की तरह काटकर तैयार कर ली गई थी!

मेहराबदार पुल प्राय: चूना-सीमेंट आदि की मदद से तैयार किये जाते हैं। निस्सदेह ये पुल काफी मजबूत होते हैं और इनकी लम्बाई भी बहुत अधिक होती है। किन्तु इनमें दोष यह है कि एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक कई मेहराबें बनानी पड़ती हैं—और इन मेहराबों की लम्बाई अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। अन्य शैली पर बने पुलों की मेहराबें अवश्य लम्बी बनाई जा सकती हैं। पत्थर और चूने की बनी हुई संसार की सबसे बड़ी मेहराब संभवतः लक्सेमबर्ग के पुल की है। उसका व्यास २७७ फीट ६ इंच है! इस मेहराब की शक्ल दीर्घ वृत्त की-सी है। लगभग २६ हजार घन गज चूना और
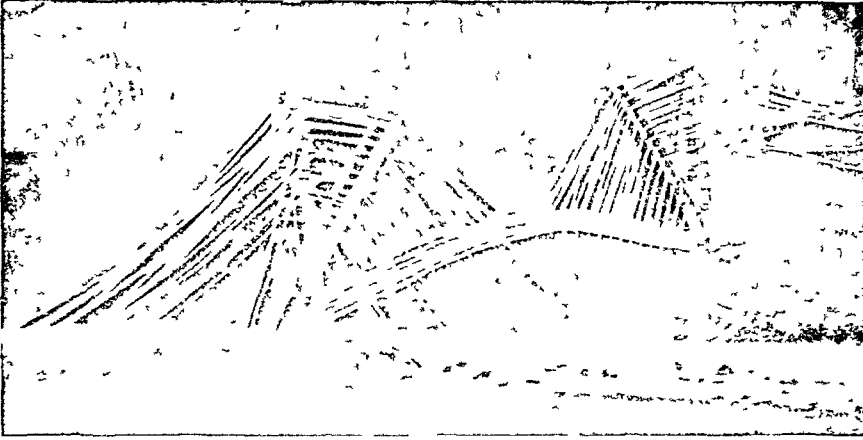
कैन्टीलीवर सिद्धान्त का एक आदिम पुल

जावा के आदिम निवासियों द्वारा बाँस से बनाया गया यह भौंडा पुल कैन्टीलीवर के सिद्धान्त पर निर्मित है। आज के मीलों लम्बे बड़े पुल इन आदिम पुलों जैसे ही बनते हैं। फोर्थ ब्रिज से इसकी तुलना कीजिए!

रोमन लोग पुलों के खम्भों की नींव डालते समय नदी के पेट में मजबूत बल्लियाँ धँसाकर पुरता गच तैयार कर लेते थे। फिर उसे कंकरीट की मजबूत दीवाल से घेर देते थे, ताकि पानी का झोंका खम्भों को विशेष क्षति न पहुँचा सके। रोमन युग का बना हुआ एक पुराना पुल जर्मनी के मेन्ज नगर में था। दो हजार वर्ष बाद, इस पुल की नींव में से बलूत लकड़ी की मजबूत बल्लियाँ खोदकर निकाली गई हैं! इन बल्लियों की ठोस लकड़ी से बर्लिन में पियानो तैयार किए गए! सीमेंट आदि इसके निर्माण में लगा था। मध्ययुग में अंग्रेजों ने भी रोमन ढंग के पत्थर के मेहराबदार पुल बनाने में काफी दक्षता प्राप्त की थी।

कैन्टीलीवर और गर्डर सिद्धान्त का एक आदिम पुल

चीन के दक्षिणी-पश्चिमी पहाडी प्रदेश के अशिक्षित निवासियों द्वारा बनाए गए लकड़ी के इस पुल में कैन्टीलीवर और गर्डर का सिद्धान्त काम में लाया गया है।

पुल-निर्माण में लोहे की शहतीरों का प्रयोग

लोहे के युग के विकास के साथ-साथ पुलों के निर्माण में गर्डर या लोहे की शहतीर का प्रयोग भी बढ़ता गया। आरम्भ में मजबूत खम्भों पर कच्चे लोहे के गर्डर बिछाए जाते थे। परन्तु बाद में बढ़िया प्रकार के इस्पात के गर्डर काम में लाये जाने लगे। ऐसे पुलों में आने-जाने का रास्ता एकदम छत पर ही रहता है, इस कारण ये 'डेकब्रिज' कहलाते हैं। रेलवे के सभी पुल प्रायः साधारण गर्डरवाले ढंग के ही बने हैं, क्योंकि निरे खम्भों की संख्या बढ़ाकर इस तरह के पुल को काफी लम्बा बनाया जा सकता है। भारत की नदियों की चौड़ाई वर्षा-ऋतु में बहुत ज्यादा बढ़ जाया करती है, अतः इस देश में पुल साधारणतः गर्डर और खभों पर ही बनाए जाते हैं। साल के आठ महीने तो पुल के

नीचे से बहुत कम पानी गुजरता है; हाँ, वर्षा-काल में सभी खम्भों से पानी टकराता है।

पानी में खंभे कैसे बनाये जाते हैं

१९०१ में गोदावरी नदी पर ईस्ट कोस्ट रेलवे कं० ने एक पुल बनवाया था। इस पुल की कुल लम्बाई पौने दो मील है और इसमें ५१ खंभे हैं। इन खम्भों की आपस की दूरी ५० गज है। बाढ के दिनों में १५ लाख घन फीट पानी प्रति सेकण्ड इस पुल के नीचे से गुजरता है। अन्य ऋतुओं में इस पुल के केवल छः खम्भे पानी में रहते हैं, शेष सब सूखी जमीन पर खड़े रहते हैं। जिन दिनों नदी में पानी बहुत कम था, उन्हीं दिनों इस पुल के निर्माण के लिए खंभों की नींव नदी के पेटे में डाली गई थी। केवल छः खम्भों के लिए पानी के अन्दर काम करने की जरूरत पड़ी थी। पानी के अन्दर खम्भे या पाए की नींव तैयार करने के लिए लोहे के बड़े-बड़े 'कैसन' नामक हौदे या ढोल काम में लाये जाते हैं। हौदे के किनारे तेज धार के होते हैं। नदी के पेटे में इन्हें
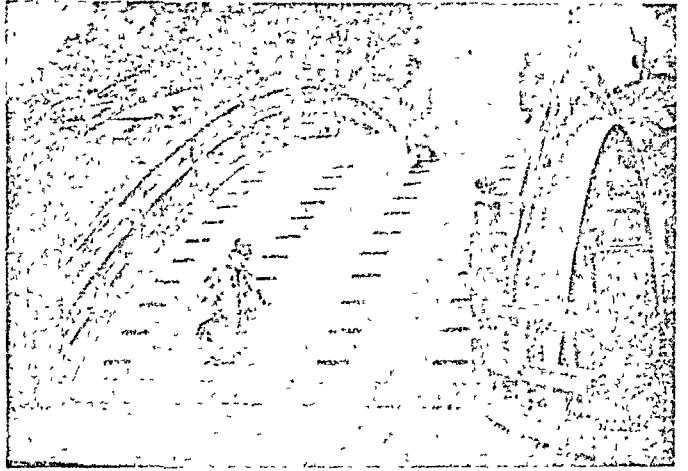
पैदल चलनेवालों के लिए बनाया गया एक जापानी पुल

ये पुल गोल मेहराबदार होते हैं और ऊँचे उठे रहते हैं। चढने के लिए इनमें सीढीनुमा खाँचे बने रहते हैं।
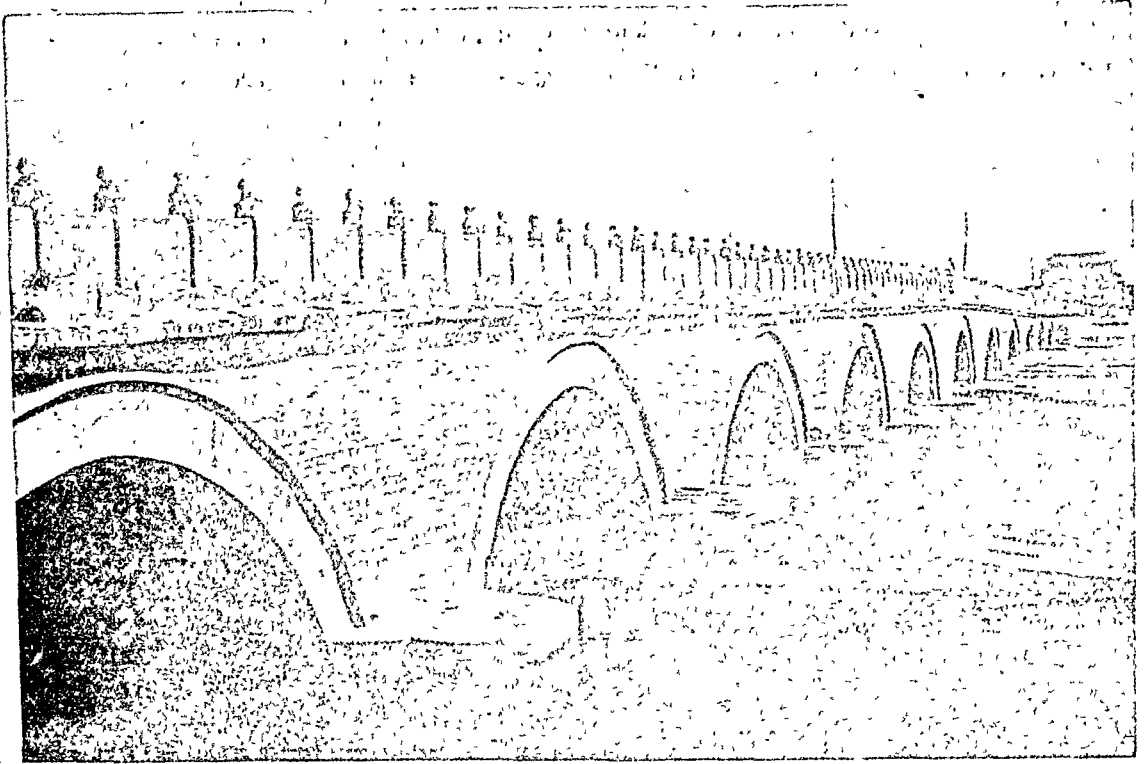
चीन के पेकिंग शहर के समीप 'मार्कोपोलो ब्रिज' नामक सुप्रसिद्ध पुराना पुल

चीनवाले पुलों के निर्माण की कला बहुत प्राचीन काल से जानते थे। यह पुल कई शताब्दी पुराना है। इसमें ११ मेहराबें हैं, जो पत्थर और चूने की बनी हैं। पुल के किनारे-किनारे की मुंडेरों पर कई सौ सिंह-मूर्तियाँ बनी हैं।
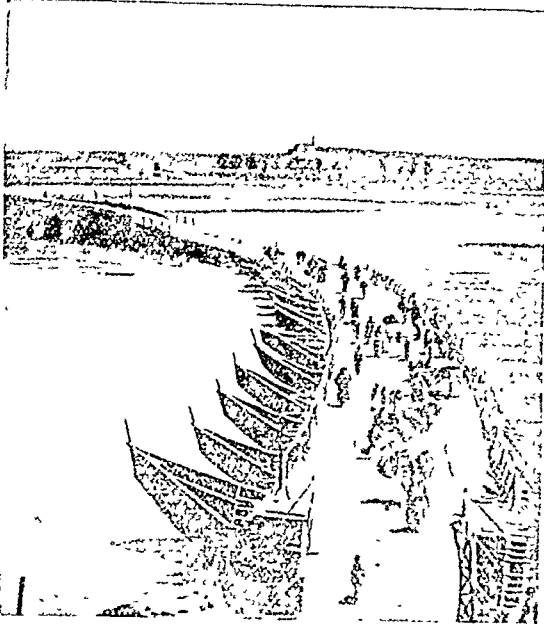
दजला नदी पर बनाया गया नावों का एक पुल
इस ढंग पर बनाये गये पुलों में, जो पॉन्टून ब्रिज कहलाते हैं, कभी-कभी नावों की जगह लोहे के पोले ढोल भी काम में लाये जाते हैं।

इतनी गहराई तक धँसाते हैं कि हौदे की कोर कीचड़ और नरम मिट्टी को भेदकर सख्त चट्टान पर जा टिकती है। इस हौदे के भीतर से तमाम पानी पम्प द्वारा उलीच दिया जाता है, और फिर इसी के अंदर राजगीर खुदाई का काम करते हैं (दे० पृ० ६८३ का चित्र)। इन हौदो के अन्दर हवा का दवाव भी वायुमण्डल के औसत दवाव से ज्यादा होता है। हौदे के अन्दर काम करनेवालो के लिए शुद्ध हवा वाहर से नली द्वारा पहुँचाई जाती है। इस असाधारण वातावरण के वावजूद हौदे के अन्दर राजगीर खम्भो की जुड़ाई का काम निरन्तर करते रहते हैं।

गोदावरी का उपर्युक्त पुल जब बनकर तैयार हो गया तो एक दिलचस्प वात देखने में आई। यद्यपि पुल पर रेल की लाइन 'स्पिरिट लेवल' (समतलमापक यंत्र) की मदद से एक धरातल मे विछाई गई थी, किन्तु थियाडोलाइट यंत्र से देखने पर पता चला कि दोनों छोर की अपेक्षा वीच का भाग ६ इंच ऊँचा उठा हुआ है! कहने की आवश्यकता नही कि पृथ्वी की गोलाई के कारण ही ऐसी वात हुई।

वाराणसी के समीप गंगा नदी पर 'मालवीय' ब्रिज नामक पुल वनाते समय गरमी के दिनों में पानी की सतह से १०० फीट नीचे खम्भों की नींव डाली गई थी। नींव डालने के पहले पेटे में एक गहरा कुआँ खोदकर तमाम कीचड़ और नरम मिट्टी उसके अन्दर से निकाल ली जाती है। फिर इसी कुएँ में सीमेंट और कंकरीट भरकर खम्भों के लिए एक मजबूत और पायदार नींव तैयार कर लेते हैं।

कलकत्ता में हुगली नदी पर वने नए हवड़ा पुल के निर्माण का दृश्य
इसकी मुख्य मेहराव १५०० फीट चौड़ी है। पुराना हवड़ा-पुल पॉन्टून या पीपों पर वना हुआ था।

अमेरिका में रेलवे का प्रसार काफी तीव्र गति से हुआ, अतः पुलो के निर्माण की कला ने भी उस देश में काफी उन्नति की है। लकड़ी के वाहुल्य के कारण वहाँ आरम्भ में पुलों के निर्माण में भिन्न-भिन्न प्रकार से लकड़ी का ही प्रयोग किया गया था। पर धीरे-धीरे लकड़ी की गहतीरों को हटाकर उनकी जगह लोहे के मजबूत गर्डर लगा दिए गए।

संसार के सवसे वड़े पुल

इंजीनियर के लिए पुल की समूची लम्वाई का महत्व उतना नहीं होता, जितना इस वात का कि उसकी एक मेहराव कितनी लम्वी वनाना है। जव पानी में जगह-जगह पत्थर के खम्भे आसानी से नहीं खड़े किये जा सकते, तव गर्डरवाले पुल न वना कर 'कैन्टीलीवर' या झूलनेवाला पुल वनाते हैं।

ब्रिटेन के प्रसिद्ध फोर्थ-ब्रिज नामक विशाल पुल का निर्माण कैन्टीलीवर के सिद्धांत पर ही हुआ है। भारत में भी हुगली नदी पर बना हवड़ा का विशाल पुल इसी सिद्धांत पर बना है। फोर्थ नदी के पेटे में बीचोबीच एक चट्टान है। दोनों किनारों से इस चट्टान की दूरी एक-तिहाई मील पड़ती है। जलधारा में खम्भे खड़े किये बिना ही किनारे से बीच की चट्टान तक और चट्टान से दूसरे किनारे तक पुल खड़ा करना था। इस मुश्किल को हल करने के लिए कैन्टीलीवर ढंग के तीन ऊँचे-ऊँचे इस्पात के मजबूत पाए खड़े किये गये।
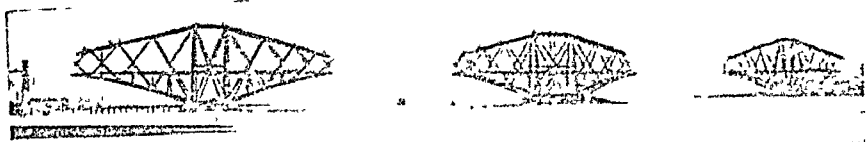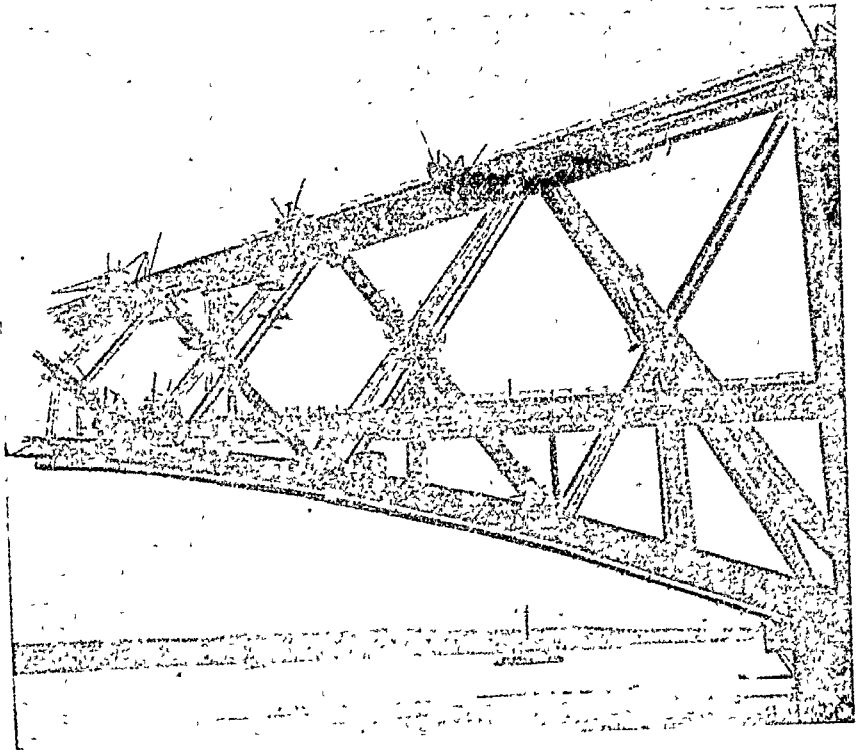
फोर्थ-ब्रिज के निर्माण के कुछ दृश्य

(ऊपर) निर्माण के समय फोर्थ-ब्रिज की कैन्टीलीवर के ढंग की एक अपूर्ण मेहराब। इसी तरह गर्डरें जोड़-जोड़कर पुल बढ़ाया जाता है। (बीच में) निर्माण के समय इस विशाल पुल के तीन मुख्य कैंटीलीवर। (नीचे) फोर्थ-ब्रिज पर से रेलगाड़ी गुजर रही है। आड़ी-तिरछी गर्डरों के बंद इसलिए लगाए गए हैं, ताकि पुल आँधी में उड़कर गिरने न पाए।
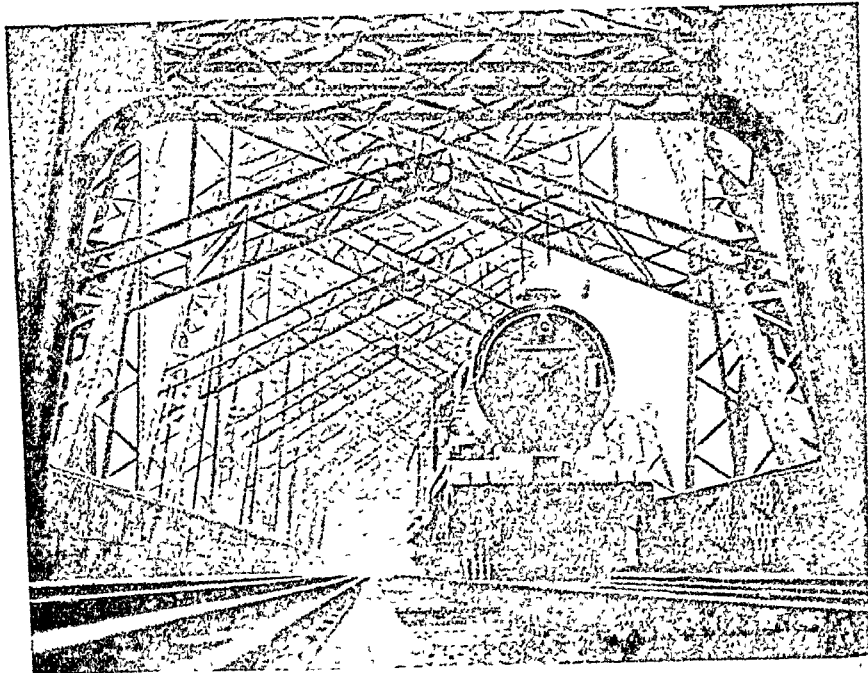
इनमें दो किनारो पर थे, और एक बीच की चट्टान पर। इस पुल का प्रत्येक खंभा ४०० फीट ऊँचा है। प्रत्येक पर दोनों ओर निकलते हुए त्रिभुजाकार गर्डर साथ-साथ लगाए गए है, ताकि पाए का समतुलन स्थिर रहे। इस प्रकार ६ त्रिभुजाकार गर्डर पाए खड़े किये गए है, जिनमें दो जोड़े नदी के ऊपर आकाश में जाकर मिले है। नदी के ऊपर की दोनों मेहरावों मे प्रत्येक की लंबाई १,७१० फीट है और पूरा पुल २॥ मील लम्बा है। फोर्थ-ब्रिज की गणना संसार के विशालकाय पुलो में होती है। कनाडा में भी सेन्ट लारेन्स नदी पर कैन्टीलीवर ढंग का एक विशाल पुल बना हुआ है। इसकी मेहराब १८०० फीट लम्बी है। यद्यपि यह पुल सन् १९१७ मे बनकर तैयार हो गया था, किन्तु तब से आज तक यह ज्यों-का-त्यो अटल और अचल खड़ा है।

झूलनेवाले पुलो के निर्माण में नदी के पेटे में कही भी स्तम्भ बनाने की आवश्यकता नही पड़ती। अतः जहाँ-कही भी बीच में सहारा दिये बिना ही लम्बे पुल बनाने की जरूरत पड़ती है, वहाँ झूलनेवाले पुल ही बनाए जाते है। अमेरिका में लम्बी मेहराबवाले अनेक पुल इसी ढंग पर बने हुए है।—

'केबुल' या तार के रस्सों पर से पुल का फर्श लटकाने के लिए पहले लोहे के छड़ काम में लाये जाते थे, किन्तु १८५१ में नियाग्रा ब्रिज के निर्माण में इस काम के लिए पहली बार लोहे के बटे हुए तार ही काम में लाये गये। इस ढंग के पुल रेल-मार्ग के लिए अधिक पसन्द नही किये जाते, क्योंकि इन में कम्पन और लचक ज्यादा होती है।

अमेरिका के संयुक्त राज्य में सेनफ्रेन्सिस्को में संसार के दो सबसे लम्बे पुल पिछले वर्षो में बनकर तैयार हुए है। इनमें से एक पुल सेनफ्रेन्सिस्को और ओकलैण्ड नगरों को, जिनके बीच मे ओकलैण्ड की खाड़ी है, जोड़ता है। दूसरा पुल—'गोल्डन गेट ब्रिज'——ओकलैण्ड की खाड़ी के मुहाने पर बनाया गया है। 'सेनफ्रेन्सिस्को-ओकलैण्ड पुल' की कुल लम्बाई ८। मील है। इसमें गहरे पानी के ऊपर का भाग ४॥ मील लम्बा है। यह पुल वास्तव में दो पुलों को मिलाकर बनाया गया है। ओकलैण्ड खाड़ी में यर्बा ब्यूना नाम का एक नन्हा-सा द्वीप है। सेनफ्रेन्सिस्को नगर से यर्बा तक और यर्बा से ओकलैण्ड तक इस पुल का ताँता चला गया है। सेनफ्रेन्सिस्को को यर्बा द्वीप से मिलानेवाला पुल झूलनेवाले
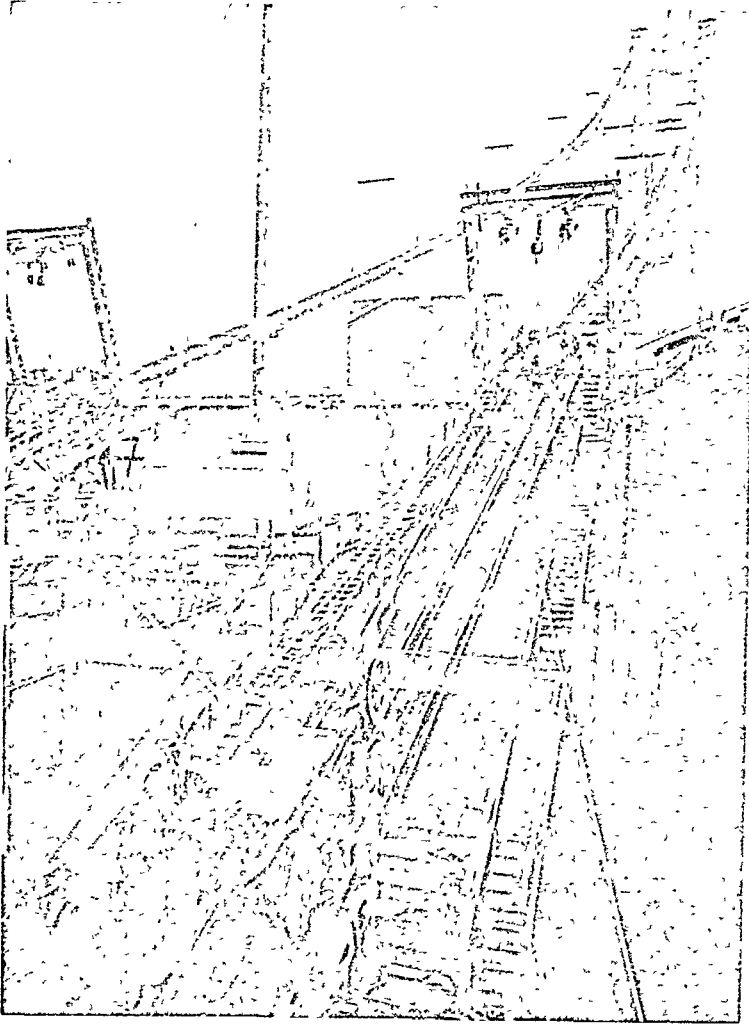
'गोल्डन गेट ब्रिज' नामक विशाल पुल के निर्माण का एक दृश्य

रस्सों के तार विशेष यंत्रों द्वारा बटे और बुने जा रहे हैं। इस पुल की मुख्य मेहराब की लंबाई ४२०० फीट है। इतनी लम्बी मेहराब संसार में दूसरे किसी भी पुल की नहीं है।
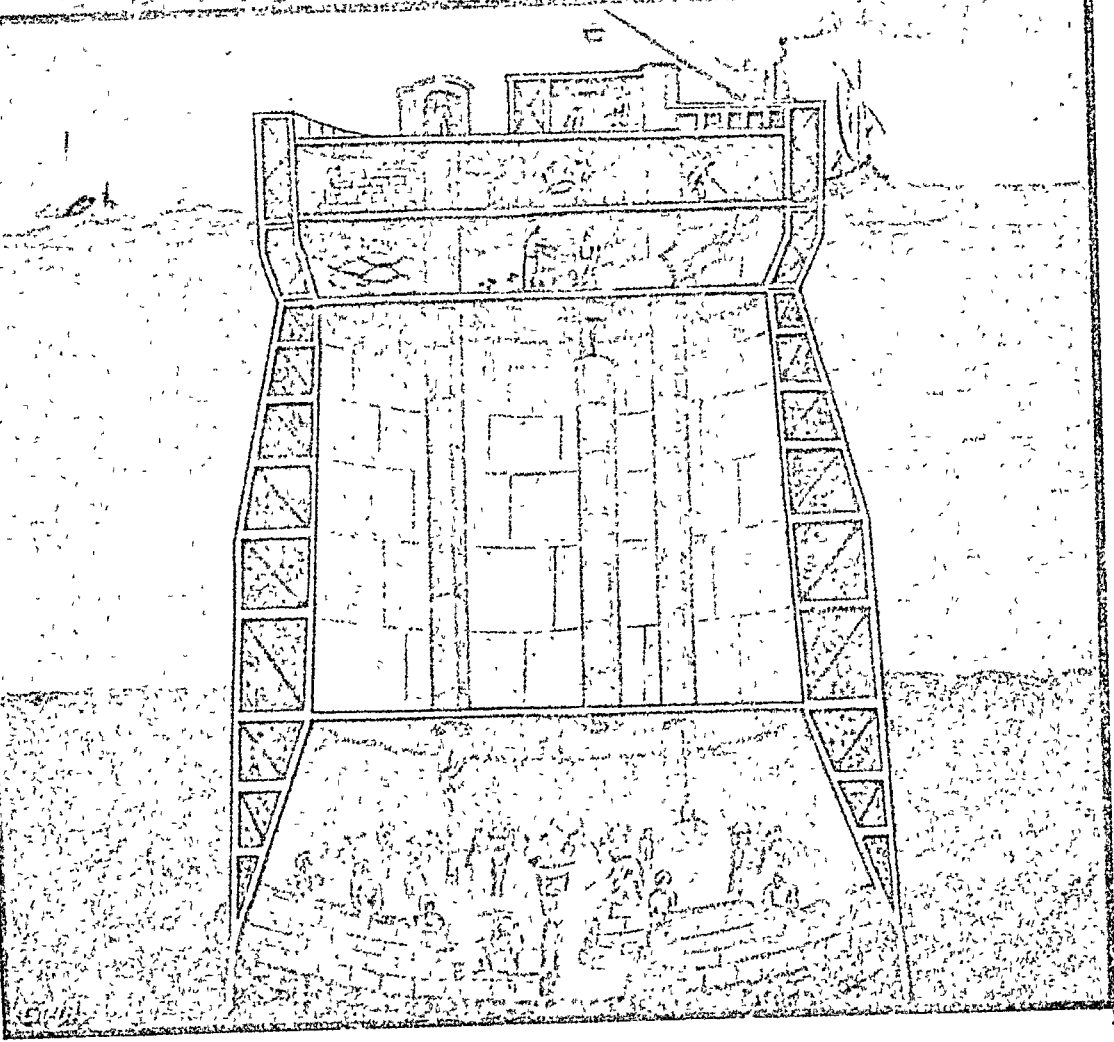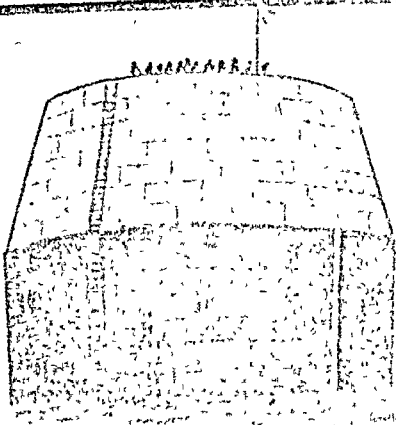
'कैसन' की मदद से गहरे पानी में पुलों के खम्भों की निर्माण-विधि

(ऊपर बाईं ओर) कैसन का पानी से बाहर निकला हुआ हिस्सा। (दाहिनी ओर) उसी के भीतर डुबकी लगानेवाली पोशाक पहने हुए कुछ मजदूर नींव खोदते दिखाए गए हैं। (नीचे) जब कैसन पाए की जगह पर ठीक बैठ जाता है, तब भीतर का पानी पंपों से उलीचकर बाहर फेंक दिया जाता है और फिर उसके भीतर-ही-भीतर पुल के पाए का निर्माण शुरू हो जाता है।

कही आँधी का झोंका नीचे से पुल की समूची गच को ही ऊपर न उठा दे। ओहियो (अमेरिका) में १००० फीट लम्बी मेहराव का एक झूलनेवाला पुल इसी प्रकार आँधी के झोके से उखड़कर वरवाद हो गया था। कभी-कभी हवा के कारण पुल की फर्श में लहरों की भाँति कम्पन भी होने लगता है।

आँधी का विचार करते समय पुल की ऊँचाई का भी ध्यान रखना पड़ता है--साथ ही पुल की स्थिति को भी इंजीनियर भूल नही सकता। समुद्र-तट के करीव के या नदी के मुहाने पर के पुलों को सदैव ही तेज हवा के झोंकों का सामना करना पडता है। समुद्र से दूरस्थ प्रदेश में स्थित पुलों पर आँधी का जोर इतना नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए, 'फोर्थ-व्रिज' उत्तर सागर के तट पर है। अतएव लगभग हर घड़ी सागर का तेज झंझावात इस पुल पर आघात करता रहता है। अक्सर शहरों में नदी के ऊपर ऐसी जगह पुल वनाने पड़ते है, जहाँ से होकर तिजारती जहाज निरंतर आया-जाया करते है। आधुनिक जहाजों के गुजरने लायक पुल काफी ऊँचाई पर वनना चाहिए। किन्तु पुल को ऊँची सतह पर वनाना हर जगह सम्भव नही है। अतएव ऐसे पुलों को प्राय: साधारण ऊँचाई पर ही रखते है। हाँ, इस वात का प्रवंध अवश्य रखते है कि जिस समय जहाज को पुल के नीचे से होकर गुजरना हुआ तो समूचे पुल की फर्श को या तो एकदम ऊपर उठा देते हैं, या फिर पुल को वीचोवीच से तोड़कर उसके दोनों भागों को किवाड़ के पल्लों की तरह घुमाकर किनारे लगा देते हैं। जहाज निकल जाने पर पुल को पूर्ववत् जोड़ देते है। लंदन का 'टावर व्रिज' इसी ढंग पर वना हुआ है। इसकी वीचवाली मेहराव पाँच मिनट के भीतर ऊपर उठायी जाकर फिर अपनी जगह पर रख दी जा सकती है। अनेक कारोवारी शहरों में इस ढंग के भी टूटनेवाले पुल वने हुए है, जिनमें वीचवाले खम्भे पर एक कीली लगी हुई होती है। इसी कीली पर पुल के मध्य भाग को घुमाकर नदी के समानान्तर कर देते हैं, जिससे जहाज को निकलने के लिए रास्ता मिल जाता है। जहाज निकल जाने पर उसे फिर घुमाकर पूर्ववत् हालत में कर देते है।

किसी-किसी स्थान पर इस समस्या को एक अजीव ढंग से हल करते हैं, स्थायी पुल वनाते ही नही। दो ऊँची-ऊँची इस्पात की मीनारे नदी के दोनों किनारों पर आमने-सामने खड़ी कर देते है। इन पर नदी के आरपार गर्डर विछाकर रेल की पतली पटरी लगा देते है। इसी पटरी से नन्हें-नन्हें पहियो के सहारे लोहे के रस्से पर एक छोटा-सा प्लैटफार्म लटकता है। यह प्लैटफार्म इस लोहे की पटरी पर नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक विद्युत् शक्ति द्वारा दौड़ता है। प्लैटफार्म का धरातल किनारे की सड़क के समतल रहता है। अतः राहगीर और मोटरगाड़ियाँ, आदि सड़क से आगे वढ़कर इसी प्लैटफार्म पर चले आते है। यह प्लैट-फार्म चन्द मिनटों में स्वयं नदी पार कर उन्हें उस ओर पहुँचा देता है! ऐसे पुलो के निर्माण में खर्च वहुत कम पड़ता है, साथ ही पुल के नीचे से जहाज भी हर समय आ-जा सकते हैं। अवश्य ही इस तरह के पुल ऐसे शहरों में नहीं वनाये जा सकते, जहाँ की सड़कों पर सवारियों का ताँता वँधा ही रहता है। इस तरह के पुल 'ट्रांसपोर्ट व्रिज' कहलाते है। इन्हें पुल और वाहन का सम्मिलित संस्करण ही कहना चाहिए।
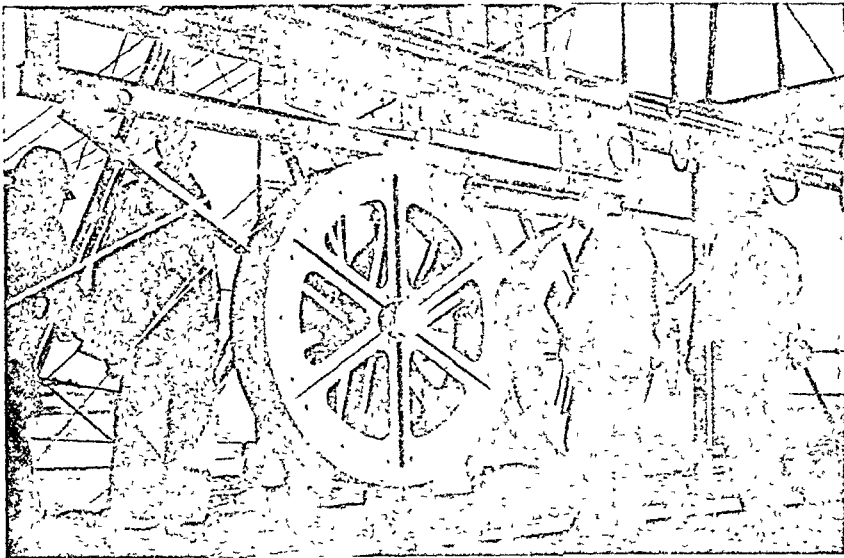
आधुनिक रस्सेवाले पुल वनाने का अद्भुत उपकरण

झूलनेवाले पुल के निर्माण के समय रस्सों को वटने के लिए इस तरह की पहिएनुमा रीलें काम में लाई जाती है, जो एक खंभे से दूसरे खंभे तक तारों को लिये हुए जुलाहे की ढरकी की तरह दौड़ती रहती हैं।
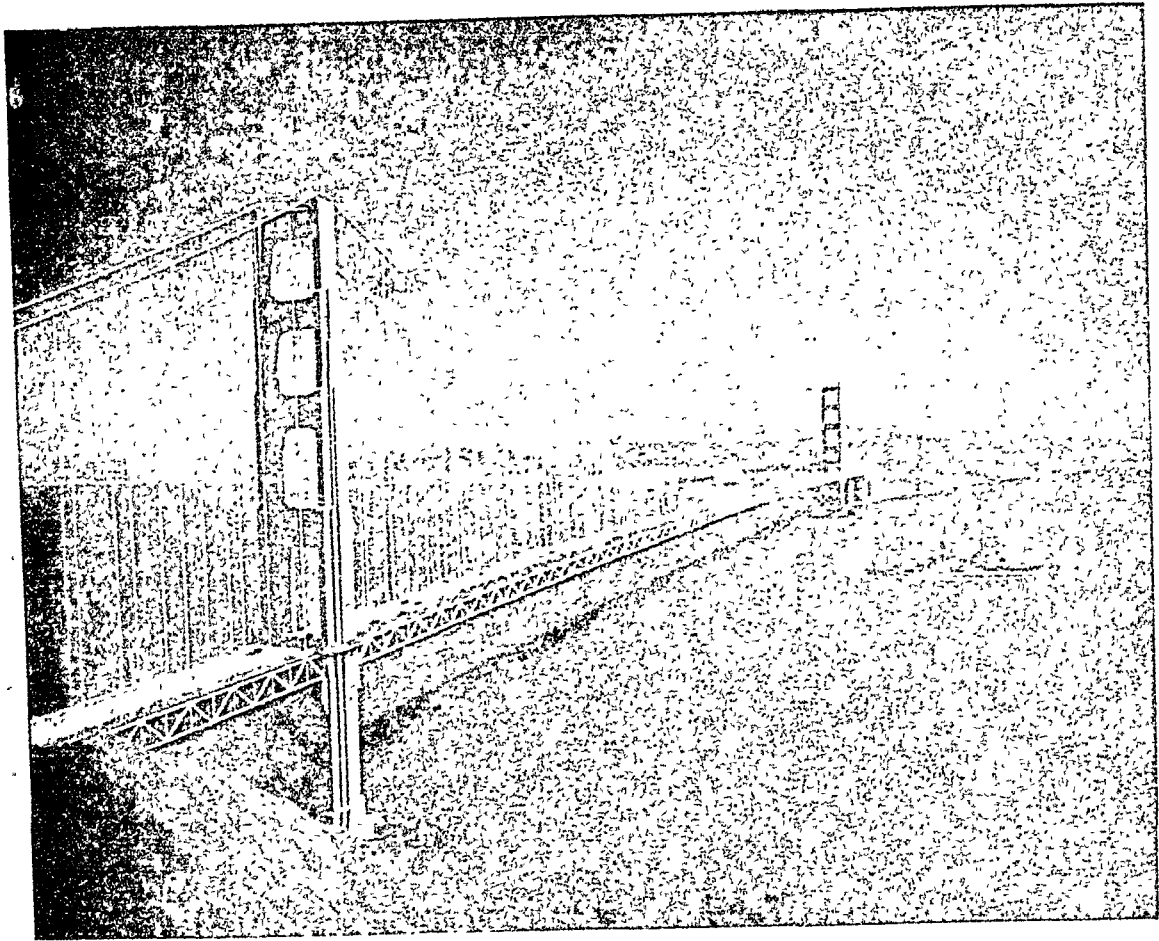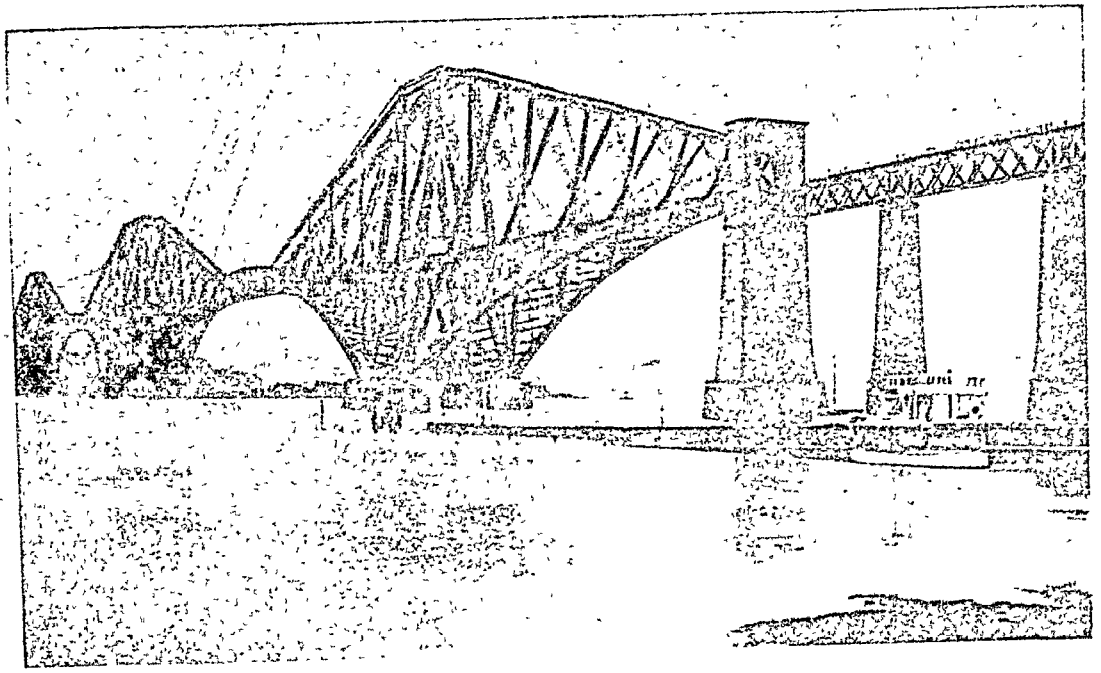
संसार के दो विशाल पुल—(ऊपर) ग्रेट ब्रिटेन का प्रख्यात 'फोर्थ-ब्रिज'; (नीचे) अमेरिका का 'गोल्डन-गेट ब्रिज'।

(बाईं ओर) हमारे देश का सब से भव्य पुल हुगली नदी पर निर्मित कैंटीलीवर ढंग का कलकत्ते का यह विशाल पुल है, जो 'हावड़ा-पुल' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुल की मेहराब डेढ़ हजार फीट चौड़ी है और उसके नीचे से आसानी से जहाज निकल जाते हैं।
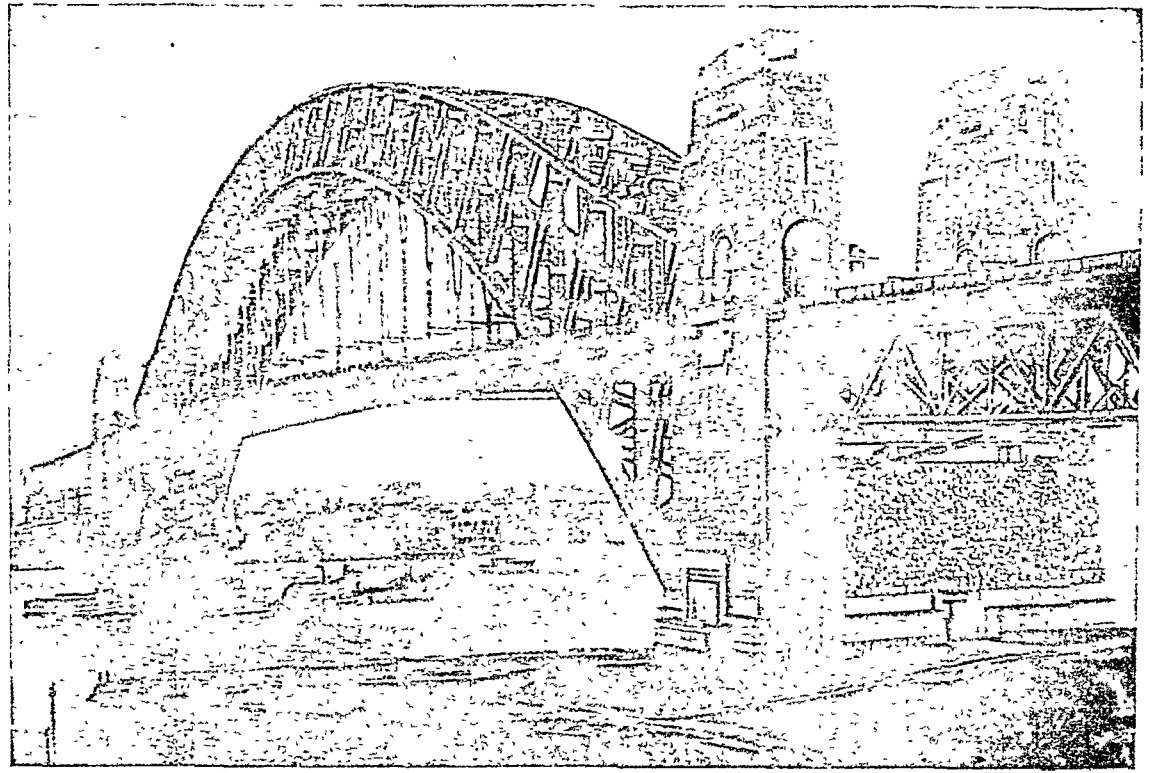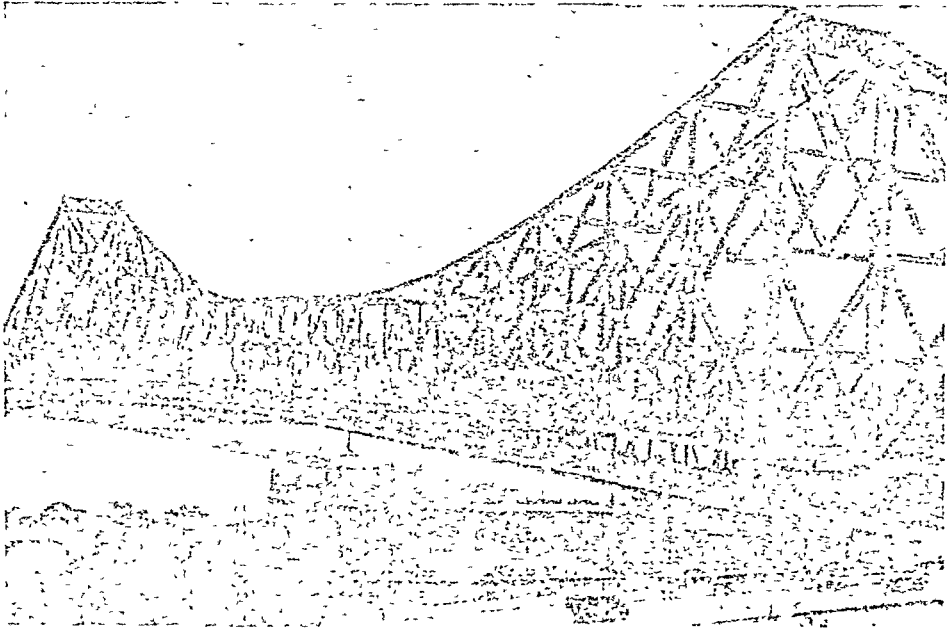
बंदरगाहों पर बनाए जानेवाले ऐसे पुलों में, जिनके नीचे से होकर जहाज निरवरोध निकल सकते हैं, ऑस्ट्रेलिया के सिडनी बंदरगाह की समुद्री खाड़ी पर निर्मित इस विशाल मेहराबदार पुल की झाँकी निराली ही है! इस पुल की मुख्य मेहराब १,६५० फीट चौड़ी है और वह इतनी ऊँची है कि बड़े से बड़े जहाज उसके नीचे से होकर गुजर सकते है। पूरे पुल की लम्बाई ३,७७० फीट है। इस पर चार रेल की पटरियाँ, पैदल चलनेवालों के दो अलग मार्ग और ५७ फीट चौड़ी एक मोटर की सड़क बनी है।

कहीं-कहीं ऐसे पुल भी बनाये गए हैं, जिनके नीचे से बड़े-बड़े जहाज बिना अड़चन के निकल जाते हैं। इस तरह का एक विशाल पुल ऑस्ट्रेलिया के सिडनी बंदरगाह पर बना है, जो गोल मेहराबवाले पुलों में सबसे विशाल और भारी है। इसकी मेहराब १६५० फीट लम्बी है। जहाजों के लिए सुविधाजनक दूसरा महान् पुल सैन्फ्रेन्सिको का प्रसिद्ध 'गोल्डन गेट ब्रिज' है। इन दोनों पुलों के चित्रों में आप जहाजों को नीचे से गुजरते हुए देख सकते हैं। भारत में भी कलकत्ते में हुगली नदी पर जो नया 'हवड़ा-पुल' बनाया गया है, वह इसी प्रकार का पुल है।

रेलगाड़ी का विकास

सड़कें और पुलें आदि बनाकर आज के दिन पृथ्वी पर एक भाग से दूसरे भाग को जाने के लिए स्थल-मार्ग कितने सुगम बना लिये गये हैं, इसका हाल पिछले अध्यायों में आप जान चुके हैं। इन मार्गों पर यातायात के सबसे अधिक जो मुख्य दो वाहन काम में लाये जाते हैं, वे हैं रेल और मोटरकार। दोनों का आज के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। आइए, इस लेख में पहले रेलगाड़ी के विकास की कहानी आपको सुनाएँ।

कच्ची सड़क पर इक्का या ताँगा आदि हाँकने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। पक्की सड़क पर पहिए जमीन में नहीं धँसते, अतएव ऐसी सड़कों पर इक्के-ताँगे आदि तेज रफ्तार से आ-जा सकते हैं। किन्तु पक्की सड़कों के निर्माण में तथा निरन्तर उनकी मरम्मत करते रहने में खर्च अधिक पड़ता है। इसी कारण जब कभी कम खर्च में मोटर, इक्के और ताँगे के लिए रेत और धूल से भरी सड़क पर रास्ता बनाना होता है तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगभग एक फुट चौड़ी लोहे की चद्दरें सड़क पर दो समानान्तर रेखाओं में बिछा देते हैं--ताकि मोटर के पहिए रेत में न धँसकर लोहे की चद्दरों पर ही चलें। इलाहाबाद में बरसात के बाद गंगा नदी पर प्रति वर्ष नावों का एक पुल तैयार किया जाता है। वहाँ पुल और रेती पर लोहे की चद्दर के ऐसे ही टुकड़े इस पार से उस पार तक बिछा दिये जाते हैं। ऐसा करने में खर्च भी कुछ अधिक नहीं बैठता।

रेल की पटरियों का विकास

लगभग १०० वर्ष पूर्व इंगलैण्ड की खानों में कोयला ढोनेवाली गाड़ियों के लिए भी एक कुशाग्र-बुद्धि व्यक्ति ने इसी प्रकार सड़कों पर लकड़ी के तख्ते बिछाए थे। कुछ समय बाद तख्ते के स्थान पर लोहे की मजबूत चद्दरें बिछाई गईं। इन गाड़ियों को घोड़े खींचते थे, अतः उनके पहिए इन चौड़ी पटरियों से उतरकर प्रायः नीचे धूल और कीचड़ में आ फँसते थे। इस दोष को दूर करने के लिए इन चद्दरों के दोनों किनारे ऊपर की ओर मुड़े हुए बनाए गए, ताकि गाड़ियों के पहिए चद्दरों पर से नीचे न उतर सकें।

कुछ काल पश्चात् यह तय हुआ कि चद्दरों की जगह लोहे की ठोस सपाट पटरियाँ बिछायी जायँ और गाड़ी के पहियों का एक हाशिया बढा दिया जाय, ताकि वे पटरियों पर से उतर न सकें। ऐसा करने से खर्च में और भी बचत हुई। तदुपरान्त भाप के इंजिनों और रेलगाड़ियों के विकास के साथ संसार के भिन्न-भिन्न देशों में आज की-सी रेल की पटरियों का एक जाल-सा धीरे-धीरे बिछ गया। आज तो ऊँचे-ऊँचे दुर्गम पहाड़ों में से गुजरती हुई हजारों मील लम्बी ऐसी रेल की लाइनों ने धरती को जैसे एक सूत्र में बाँध-सा रखा है। रेल की इन लाइनों को बिछाने में इंजीनियरों को अनेक सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं। इन लाइनों को बिछाते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें कहीं पर भी चढाव जरूरत से ज्यादा न आ जाय, अन्यथा रेलगाड़ी को खींचने में इंजिन को अत्यधिक शक्ति व्यय करनी पड़ेगी। इसी कारण जगह-जगह पहाड़ों को काटकर उसमें से समतल रास्ता निकालना पड़ता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कभी-कभी मीलों लम्बी सुरंगें काटनी पड़ती हैं और कभी-कभी जब लाइन को किसी गहरी घाटी से गुजरना होता है तो समूचे रास्ते को ऊँचे खम्भों पर से ले जाते हैं, ताकि लाइन में एकाएक गहरा ढाल न आने पाए। पहाड़ी प्रान्तों में रेलवे-लाइन बिछाने का खर्च तो इतना अधिक बैठ जाता है कि अक्सर देश के अन्य भागों की अपेक्षा इस प्रदेश में रेलभाड़े की दर भी काफी ऊँची रखनी पड़ती है।

निर्जन प्रान्त, रेगिस्तान तथा दलदल आदि से भरे स्थानों में तो इंजीनियरों और कारीगरों ने हथेली में जान लेकर रेल की पटरियाँ बिछाई हैं। कनाडा के जंगली भागों में

जब रेल की लाइन बिछाई जा रही थी, तब अनेक बार रेड इण्डियन लोगों ने रेलवे इंजीनियरों और मजदूरों पर हमला किया था, ताकि वे इस प्रान्त में रेल की लाइन बिछाने का प्रयत्न ही त्याग दें। दक्षिण अफ्रीका में नेटाल प्रान्त के दुर्गम और मलेरियाग्रस्त स्थानों में रेल की लाइनें बिछाने के पीछे सहस्रों भारतीय श्रमिकों को तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ी थी।

आरंभिक रेलगाड़ियाँ

हम देख चुके हैं कि आरम्भ में भाप के इंजिन किस ढंग के बने थे। उन दिनों की रेलगाड़ियाँ भी कुछ कम बेढंगी न थी। तीसरे दर्जे के डिब्बों के ऊपर किसी प्रकार की छत न होती थी। मवेशी ढोनेवाली गाडियों की तरह ये डिब्बे एकदम खुले होते थे। दूसरे दर्जे के डिब्बों में भी उन दिनों बगल में कोई आड़ न थी। उसमें ऊपर मोटे कपड़े की एक छत अवश्य थी, जो तेज हवा के झोके से कभी-कभी उखड़कर अलग भी जा गिरती थी। केवल पहले दर्जे की गाड़ियाँ चारों ओर से ढकी रहतीं थी। इनकी बेंचों पर गद्दियाँ भी बिछी थी। मालगाड़ियो के तो और भी बुरे हाल थे--खुले ठेलों की तरह केवल एक मजबूत फर्श इन गाड़ियों में होती थी। इसी पर रस्सियों से कसकर सामान बाँध दिया जाता था।

डिब्बों में सुधार

धीरे-धीरे लोगों ने रेलगाड़ियो की उपयोगिता आँकी। उसी के फलस्वरूप पैसेंजर और मालगाड़ियों के रूप-आकार में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उन दिनों की रेलगाडियों के डिब्बों मे प्रायः चार पहिये लगे होते थे। इन डिब्बों की लम्बाई भी बीस-पचीस फीट से अधिक नहीं हुआ करती थी। ये डिब्बे धीरे-धीरे और भी लम्बे बनाये जाने लगे। क्रमश. चार से छः पहियेवाले और फिर आठ पहियेवाले डिब्बे बनने लगे। लम्बे डिब्बों में अड़चन यह होती है कि तेज रफ्तार में घुमाव पर वे आसानी से मुड़ नही सकते। इस मुश्किल को दूर करने के लिए बोगीवाले डिब्बे बनाए गये। ऐसे लम्बे डिब्बे के दोनो सिरे चार-चार पहियोंवाली दो बोगियों पर टिके रहते हैं। प्रत्येक बोगी में एक लम्बवत् कीली के चारों ओर ये पहिए घूम सकते हैं। अतः लाइन के मोड़ पर बिना किसी अड़चन के बोगी के पहिये घूम जाते हैं और डिब्बे में बैठनेवालों को इससे किसी प्रकार का झटका नही लगता। इन दिनों अब एक नये ढंग की बोगी का भी प्रयोग हो रहा है। इसमें तीन डिब्बों को चार बोगियों पर फिट करते हैं। प्रत्येक बोगी पर दो डिब्बों के सिरे आकर मिलते हैं। इस प्रकार रेलगाड़ी के कुल वजन में भारी कमी हो जाती है, तथा गाड़ी की फिटिंग करने में भी खर्च बहुत कम बैठता है।

डिब्बों को एक-दूसरे से जोड़ने के लिए हमारे देश में अभी तक पुराना तरीका ही काम में लाया जाता रहा है। एक डिब्बा जब दूसरे

स्टीफेन्सन का 'राकेट' नामक प्रसिद्ध इंजिन
यह १८३० में बना था। आज के इंजिनों से तुलना कीजिए।

डिब्बे को धक्का देता है तो डिब्बे के छोर पर लगे हुए हुक एक-दूसरे से गुंथ जाते हैं। फिर पाइंटमैन जंजीर से इन हुकों को खूब जकड़ देता है, ताकि ये एक-दूसरे से अलग न हो जायें। इस रीति से डिब्बों को जोड़ने में देर बहुत लगती है, साथ ही पाइंटमैनों के लिए यह काम खतरनाक भी बहुत है। जरा-सी गफलत हुई कि जान से हाथ धोना पड़ा! योरप और अमेरिका में डिब्बों के सिरे पर अब इस ढंग के हुक फिट किये जाते हैं कि जरा-सा धक्का लगते ही ये स्वयं एक-दूसरे से मजबूती के साथ गुंथ जाते हैं। इन्हें जंजीर से बाँधने की जरूरत नहीं होती। डिब्बे के दोनों ओर कमानीदार 'बफर' भी लगे रहते हैं, अतः डिब्बों को जोड़ते समय बहुत अधिक झटका भी नहीं लगने पाता।

यात्रियों के लिए सुविधाएँ

जाड़े के दिनों में डिब्बों को गरम रखने के लिए योरप और अमेरिका की ट्रेनों में इंजिन से नली द्वारा डिब्बों में भाप पहुँचाई जाती है। भारत में इसी ढंग के कुछ डिब्बे बने हैं, जो 'एयर-कन्डिशन्ड' हैं। बाहर जेठ की लू चल रही हो, किन्तु 'एयर-कन्डिशन्ड' डिब्बों के अन्दर शीतल वायु ही चलती रहती है। इस तरह के 'वातानुकूलित' डिब्बे अभी गिनती के ही बन पाये हैं, किन्तु आशा की जाती है कि शीघ्र ही इनकी संख्या में काफी वृद्धि हो जायगी। कुछ पूरी की पूरी 'वातानुकूलित' रेलगाड़ियाँ भी चलने लगी हैं।

'एयर-कन्डिशन्ड' गाड़ियों के अन्दर स्वास्थ्य के अनुकूल किसी भी ताप को सदैव एक-सा बनाये रखने का प्रबन्ध रहता है। साथ ही इन डिब्बों के अन्दर निरन्तर शुद्ध और साफ की हुई वायु भी पहुँचती रहती है। जाड़े के दिनों में यदि वायु शुष्क हुई तो उसमें एक नियत परिमाण में आर्द्रता का भी समावेश कर दिया जाता है, क्योंकि एकदम शुष्क हवा स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। इन डिब्बों में बाहर की ओर से शोरगुल की आवाज भी नहीं पहुँच पाती। बहुत दूर तक की यात्रा करने-वाली रेलगाड़ियों में सोने के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया जाता है। जलपान और भोजन का प्रबन्ध करने के लिए ट्रेनों में ही एक रेस्ट्राँ-कार भी जोड देते हैं। ५०-६० मील की रफ्तार से ट्रेन भागती जा रही है और रेस्ट्राँकार में यात्रियों के भोजन की सामग्री नवीन वैज्ञानिक तरीकों से तैयार होती रहती है। चलती ट्रेन में डाइनिंग-कार में बैठकर यात्री गरम-गरम ताजा भोजन करते हैं, मानों किसी फर्स्ट क्लास होटल में बैठे खाना खा रहे हों!
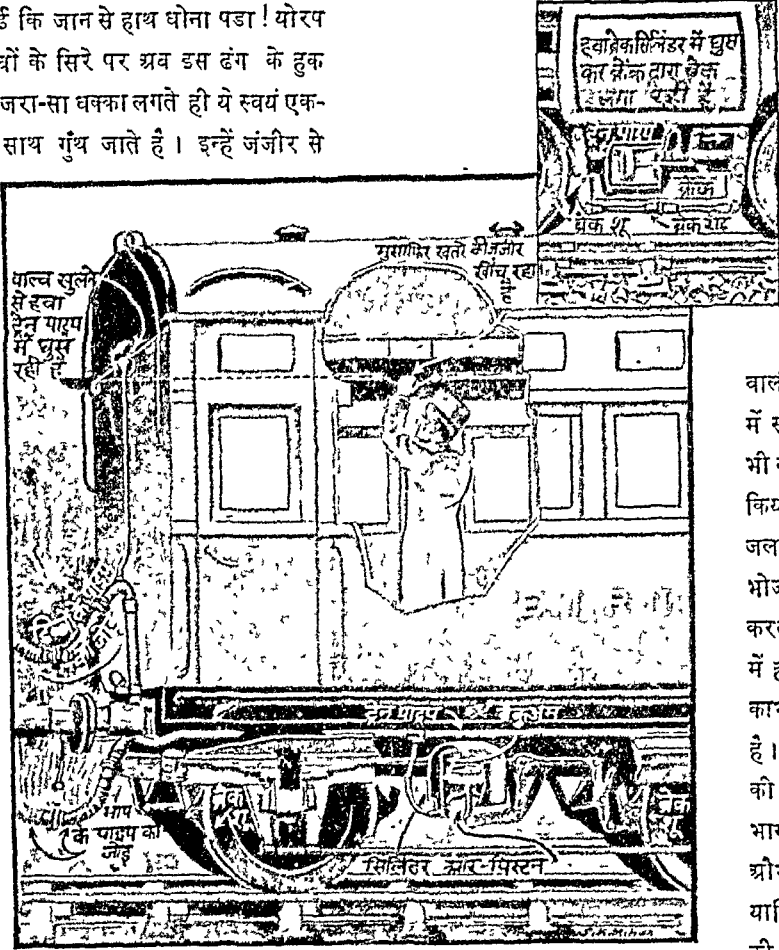
जंजीर खींचकर मुसाफिर गाड़ी रोक रहा है

डिब्बे के नीचे वैकुअम ब्रेक लगा है। जंजीर खींचने से एक वॉल्व खुल जाती है और नीचे के सिलिंडर में हवा घुस जाती है, जिससे पहिए में ब्रेक लग जाते हैं। ऊपर कोने में, पहिए में ब्रेक लगते समय का परिवर्धित चित्र है।

रोशनी के लिए पहले तो ट्रेनों के अन्दर गैस-लैम्प जलते थे। उन दिनों इन लैम्पों को कंदील की तरह दियासलाई से जलाना पड़ता था। पर अब सभी ट्रेनों में विद्युत्-लैम्प जलते हैं। इन लैम्पों के लिए विद्युत्-धारा पहियों के पास लगे हुए डायनमो से ली जाती है। घूमते हुए पहिए इस डायनमो का
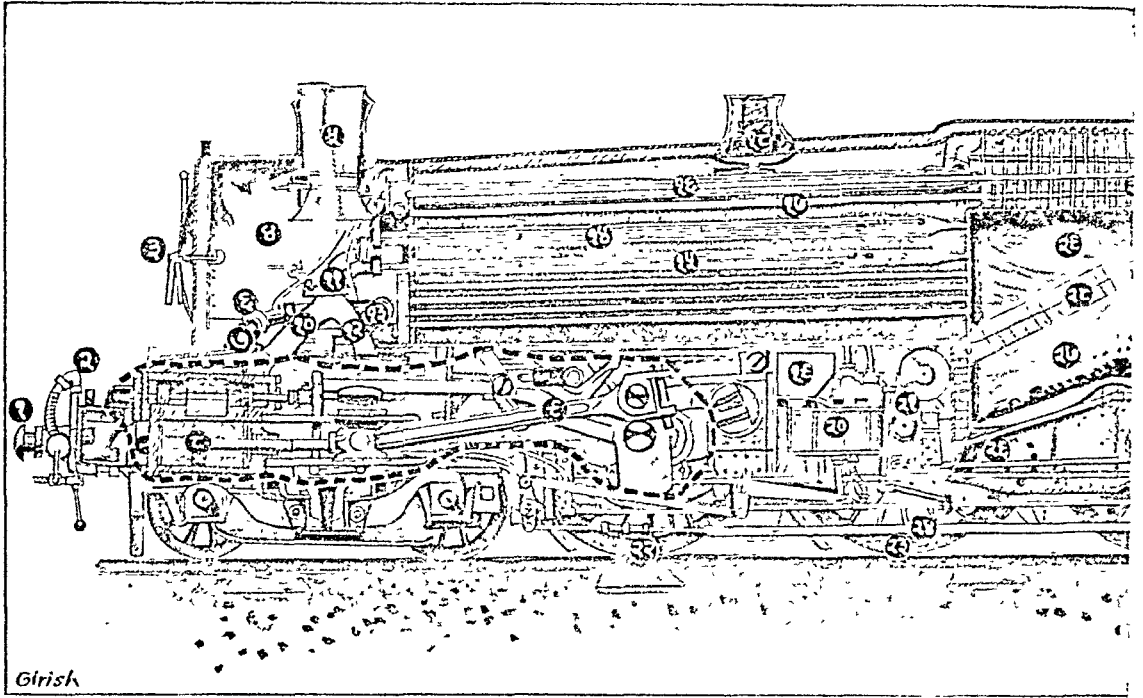
बड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्जे—(१)

१. दाहिना वफर, २. वैकुअम पाइप, ३. धुँए के वक्स का दरवाजा, ४. धुँए का वक्स, ५. धुँए की चिमनी, ६. वाएँ सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ७. दाहिने सिलिंडर को जा रहा भाप का पाइप, ८. वायाँ सिलिंडर, ९. वाएँ सिलिंडर का शैफ्ट १०. भीतरी सिलिंडर का निकास पाइप, ११. ब्लास्ट पाइप, १२. वाहरी सिलिंडर का निकास पाइप, १३. दाहिने वाहरी सिलिंडर का भाप का पाइप, १४. सुपर हीटर, अर्थात् भाप गरमानेवाली नलियाँ, १५. व्वॉयलर की नलियाँ, १६. रेगूलेटर रॉड्, १७. व्वॉयलर का प्रधान भाग, १८. सैफ्टी वाल्व, १९. वालू की पेटी, २०. वैकुअम ब्रेक सिलिंडर, २१. वैकुअम ब्रेक की टंकी, २२-२३-२५. चालक पहिए, २४. ब्रेक लगाने का शैफ्ट २६. राख-निकास (अगले पृष्ठ पर क्रमशः पढ़िए)

परिचालन करते है। डायनमो की विद्युत्-धारा डिव्वे के पेंदे में रक्खी हुई स्टोरेज वैटरी को चार्ज कर देती है, ठीक उसी तरह जैसे दौड़ती हुई मोटरकार में स्टोरेज वैटरी अपने आप ही चार्ज होती रहती है।

वैकुअम ब्रेक

पैसेन्जर ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक लम्बा पाइप लगा रहता है। इस पाइप का जोड़ डिव्वे के नीचे लगे वैकुअम ब्रेक से रहता है। डिव्वों को जोड़ते समय इस पाइप के सिरे भी एक दूसरे से जोड़ दिये जाते हैं। ड्राइवर इस लम्वे पाइप के सिरे पर वेग के साथ भाप फेंकता है। इस भाप के संग खिचकर पाइप की हवा वाहर निकल जाती है और समूचे पाइप में लगभग पूर्ण वैकुअम उत्पन्न हो जाता है। जव तक पूर्ण वैकुअम इस पाइप में वना रहता है, हर पहिए के ब्रेक उससे अलग रहते हैं। सीट के ऊपर की जंजीर खीचने पर एक वाल्व हट जाता है, जिससे वाहर की हवा इस पाइप के अन्दर प्रवेश कर जाती है। वैकुअम पाइप में हवा ने ज्योंही प्रवेश किया, उसके धक्के से ब्रेक पहियों पर जा दवते है।
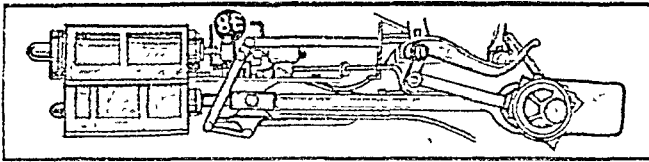
मुसाफिरों की तरह ड्राइवर या गार्ड भी इस पाइप का वाल्व खोलकर समूची ट्रेन मे ब्रेक लगा सकता है। वैकुअम ब्रेक की मदद से ही भागती हुई एक्सप्रेस ट्रेन डेढ़ फर्लाङ्ग की दूरी के अन्दर-अन्दर रोककर एकदम खड़ी कर ली जा
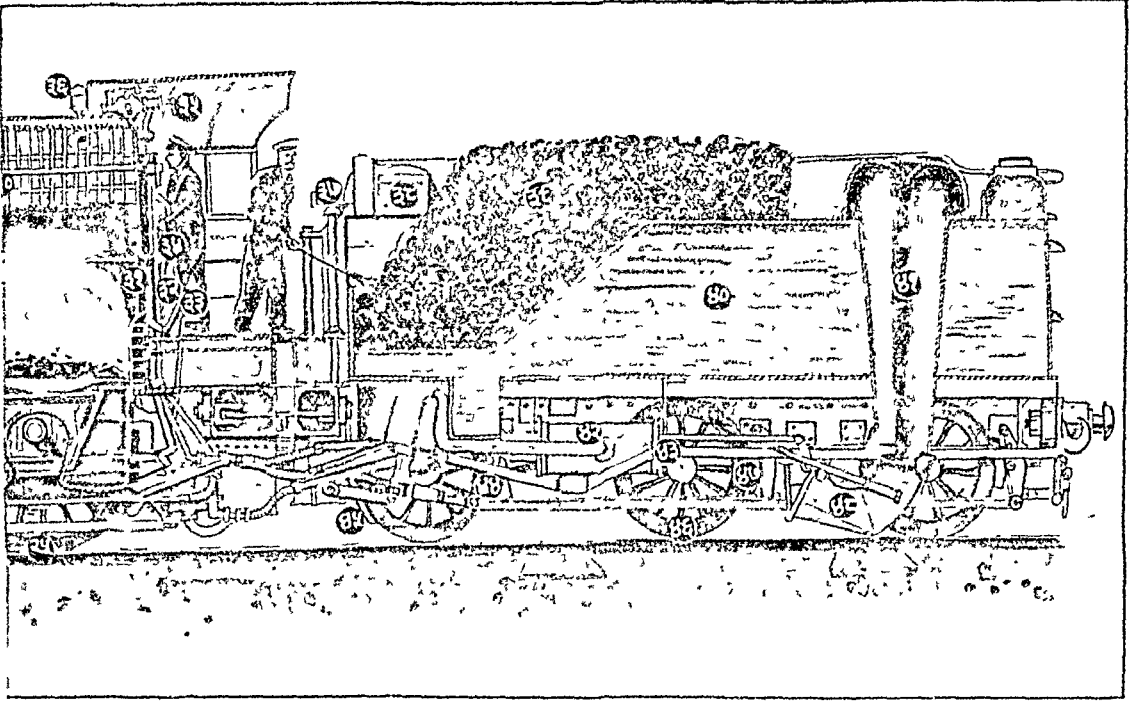
वड़े आकार के आधुनिक रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और कल पुर्जे--(२

२७. भट्ठी, २८. फायरब्रिक की मेहराब, २९. फायर-बक्स, ३०. ब्वॉयलर के स्टे-राटस् ३१. भट्ठी का द्वार, ३२. सिलिंडर के पानी का नियत्रक हैंडिल, ३३. राख गिराने का हैंडिल, ३४. इंजिन को उलटे पीछे की ओर चलाने का हैंडिल, ३५. भाप छोड़ने का हैंडिल, ३६. सीटी, ३७ पानी लेने का नियत्रण करनेवाला लीवर, ३८. औजार-बक्स, ३९. कोयला, ४०. पानी की टकी, ४१. जमीन मे पानी लेने का यत्र, ४२. वैकुअम टकी, ४३. टेंडर ट्रेन पाइप, ४४. ब्रेक के ब्लाक, ४५. बालू गिराने का नल, ४६. टेंडर के पहिए, ४७. ब्रेक ब्लॉक, ४८. बिना कहीं रुके रास्ते ही मे चलते-चलते इजिन के लिए पानी लेनेवाले पाइप का मुह, ४९. सिलिंडर के भीतर का दृश्य।

सकती है। वैकुअम ब्रेक पूर्ण रूप से स्वयंक्रिय होते है। यदि संयोगवश गाड़ी के कुछ डिब्बे ट्रेन के शेष हिस्से से अलग हो जाएँ तो वैकुअम पाइप के खुल जाने से अपने आप ट्रेन के अगले-पिछले हिस्सो मे ब्रेक लग जाएँगे।

कही-कही संकुचित वायु के ब्रेक काम मे लाये जाते है। इसके लिए भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु के पम्प से एक बड़े पीपे में खूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का सम्बन्ध एक लम्बे पाइप से रहता है, जो समूची ट्रेन में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस पाइप मे हवा का दबाव भरपूर बना रहता है। ऐसी हालत में इस पाइप का जोड़ एक गौण पीपे द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक पाइप मे हवा का दबाव भरपूर बना रहता है, ब्रेक पहियो से अलग रहता है। किन्तु जहाँ ड्राइवर ने पाइप की हवा का दबाव घटाया कि प्रत्येक गौण पीपे की हवा वेग के साथ ब्रेक पर धक्का देती है, और पहियो पर ब्रेक आ जमते है।

रेल-इंजिनों का विकास

इंजिनो के निर्माण में भी पिछले बीस-पचीस वर्षो मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। स्टीफेन्सन का 'राकेट' १८३० मे तैयार हुआ था। अपने युग के इजिनो का यह प्रतीक माना जा सकता है। अतः इस इंजिन का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना कुछ अनुपयुक्त न होगा। यह भाप का सर्वप्रथम इंजिन था, जिसका सिलिण्डर इंजिन के बाहर लगाया गया था। इसमे बड़े आकार के दो पहिए लगे थे, जिनका सम्बन्ध सिलिण्डर के पिस्टन से था। ट्रेन खीचने का काम ये ही पहिए करते थे। इन पहियों का व्यास ४ फीट ८॥ इंच था। इनके अतिरिक्त दो छोटे पहिए भी पीछे लगे थे, जिन पर इंजिन का पिछला भाग टिका हुआ था। ये पहिए ट्रेन खीचने में स्वयं मदद नही करते थे। इस इंजिन के सिलिण्डर का व्यास ८ इंच और लम्बाई १८ इंच थी। ब्वॉयलर ६ फीट लम्बा और ३ फीट ४ इंच ऊँचा था। समूचे इंजिन का वजन केवल ४। टन था,

जिसमें पानी और कोयला लादनेवाले टेन्डर का ३। टन वजन भी शामिल था (दे० ६९० पृ० का चित्र)।

थोड़े ही दिनों के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि बोझ से लदी हुई लम्बी ट्रेनों को खींचने के लिए रॉकेट के अकेले दो चालक पहिए काफी नहीं हैं। ऐसी दशा में इन चालक पहियों की पकड़ रेल की पटरियों पर ठीक नहीं बैठती थी। इस मुश्किल को दूर करने के लिए यह निश्चय हुआ कि एक जोड़े की जगह कई जोड़े चालक पहिए इस प्रकार इंजिन में फिट किए जायँ कि इस्पात के मजबूत डण्डे द्वारा वे एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। ऐसी हालत में रेल की लाइन पर उनकी पकड़ अच्छी हो सकेगी तथा इंजिन भारी और लम्बी ट्रेनों को आसानी के साथ खींच सकेगा। पहियों की पकड़ इस बात पर निर्भर करती है कि उन पर ऊपर से कितना दबाव पड़ रहा है। यह दबाव जितना अधिक होगा, उनकी पकड़ भी उतनी ही ज्यादा होगी। इसी कारण इंजिन साधारणतः भारी-भरकम बनते हैं। किन्तु इंजिन का समूचा वजन यदि एक ही जोड़े चालक पहियों पर डाल दिया जाय तो दो बातों का डर हो सकता है—एक यह कि स्वयं पहिया ही अत्यधिक बोझ के कारण टूटकर नीचे बैठ सकता है और दूसरा यह कि उसके नीचे की रेल की पटरी ही जमीन में धँस सकती है। इन खतरों से बचने के लिए इंजिन का बोझ दो या दो से अधिक जोड़े पहियों पर बाँट दिया जाता है। ये पहिए इस्पात के मजबूत डण्डों द्वारा एक दूसरे से जुड़े होते हैं। अतएव ट्रेन को खींचने के लिए इनका सम्मिलित जोर काम में आता है।

भाँति-भाँति के इंजिन

आधुनिक युग के प्रत्येक इंजिन में साधारणतः तीन प्रकार के पहिए लगे रहते हैं। सामनेवाले पहिए, चालक पहिए, और फिर पीछेवाले पहिए। सामने और पीछेवाले पहिए, ट्रेन खींचने का काम नहीं करते, क्योंकि इनका संबंध इंजिन के पिस्टन से नहीं होता। रेलवे-इंजिनों का वर्गीकरण भी इन्हीं पहियों की संख्या के अनुसार किया जाता है। जैसे २—४—२ से हम समझते हैं कि इंजिन में सामने दो पहियों का एक जोड़ा है, फिर दो जोड़े चालक पहियों के है, और सबसे पीछे छोटे निष्क्रिय पहियों का एक जोड़ा और है। नीचे की तालिका द्वारा कुछ इंजिनों की जातियाँ व्यक्त की जाती हैः—

इंजिन की जाति	पहियों का क्रम (संख्या में)
अटलाण्टिक	४—४—२
पैसिफिक	४—६—२
मोगल	२—६—०
मिकाडो	२—८—२
सेन्टीपीड	०—१२—०

मालगाड़ियों के खींचने के लिए कभी-कभी छः जोड़े चालक पहियोंवाले इंजिन (सेन्टीपीड) काम में लाए जाते हैं। किन्तु पैसेंजर और डाक-गाड़ियों के लिए अधिक-से-अधिक दो या तीन जोड़े चालक पहियोंवाले इंजिन काम में लाए जाते हैं, क्योंकि चालक पहियों की संख्या अधिक होने से इनको मिलानेवाले डण्डे तेज रफ्तार से हरकत नहीं कर पाते और इसी कारण ऐसे इंजिनों की रफ्तार भी तेज नहीं होने पाती। हाँ, पहाड़ी प्रान्तों में जहाँ लम्बी एक्सप्रेस ट्रेनों को ऊँचाई पर खींचना पड़ता है, इंजिनों में चार जोड़े चालक पहिए फिट किए जाते हैं। इन लम्बी ट्रेनों का वजन कभी-कभी ३० हजार मन तक भी पहुँच जाता है।

चालक पहिए का आकार जितना बड़ा होगा उतनी ही अधिक उस इंजिन की रफ्तार भी होगी, किन्तु बोझ खींचने की उसकी शक्ति भी उसी अनुपात में कम हो जायगी। इसीलिए एक्सप्रेस ट्रेन के इंजिन के चालक पहियों का आकार अपेक्षाकृत बड़ा रक्खा जाता है। इन पहियों का व्यास लगभग ७ फीट होता है। मालगाड़ी के इंजिनों में चालक पहियों का व्यास अधिक से अधिक ५ फीट रखते हैं, ताकि भारी बोझ खींचने में ये समर्थ हो सकें।

तेज रफ्तार से दौड़नेवाले इंजिन, जिन्हें लम्बी यात्राएँ नहीं करनी होतीं, अपने साथ 'टेन्डर' में बहुत सारा कोयला-पानी लादकर ले जाना नहीं चाहते। ऐसे इंजिन अन्य इंजिनों की अपेक्षा थोड़ा ही पानी लेकर चलते हैं। यह पानी सामने ब्वॉयलर की बगल में बने हुए आयताकार हौज में रक्खा जाता है। ऐसे इंजिन को 'टैङ्क इंजिन' के नाम से पुकारते हैं। इंजिन के पिछले भाग में ही तीन-चार टन कोयला भी लाद लेते हैं। इन इंजिनों में टेण्डरवाला भाग जोड़ा ही नहीं जाता। अतएव आगे-पीछे दोनों ही दिशाओं में ये इंजिन आसानी से दौड़ लगा लेते हैं। कम फासले की लोकल ट्रेनों के लिए इस श्रेणी के इंजिन बड़े काम के साबित होते हैं। ये इंजिन इसके मुहताज नहीं रहते कि लौटने के पहले घुमाकर इनका मुँह फेर लिया जाय। इसके प्रतिकूल कनाडियन रेलवे के कुछ इंजिनों को ५०० मील लम्बा सफर करना पड़ता है। ऐसे इंजिनों के अकेले टेन्डर के पहियों की संख्या १२ तक पहुँच जाती है। इस विशालकाय टेन्डर में १४ हजार गैलन पानी समा सकता

हवा के दबाव से काम करनेवाला 'वेस्टिङ्गहाउस' नामक ब्रेक कैसे लगाया जाता है ?

यह स्वयक्रिय ब्रेक इंजिन ही में भाप से परिचालित होनेवाले संकुचित वायु के दवाव यंत्र द्वारा काम करता है। इसकी सहायता से एक बड़ी टंकी में खूब कसकर हवा भर ली जाती है। इस पीपे का संबंध एक लंबे पाइप से रहता है, जो समूची ट्रेन में एक सिरे से दूसरे तक जाता है। इस पाइप में हवा का दवाव भरपूर बना रहता है। इस पाइप का संबंध एक गौण हवा की टंकी द्वारा हर डिब्बे के ब्रेक से रहता है। जब तक हवा का दवाव पाइप में भरपूर रहता है, ब्रेक पहियों से अलग रहता है, परंतु ड्राइवर या गार्ड ने जहाँ पाइप की हवा का दवाव घटाया कि प्रत्येक गौण टंकी की हवा वेग से ब्रेक पर धक्का देती है और पहिए पर ब्रेक लग जाता है।

पटरी पर जमा बर्फ को चीरकर आगे बढ़ती हुई रेलगाड़ी

इसके लिए इंजिन के आगे एक यंत्र लगाया जाता है, जो 'स्नो सो' कहलाता है।

(दाहिनी ओर) **'डेड मैन का हैण्डिल'** जिस पर से ड्राइवर का हाथ उठते ही ट्रेन अपने आप रुक जाती है।

बेहद ढालू रास्ते पर चढ़ने-उतरनेवाली एक रेलगाड़ी का दृश्य

यह अमेरिका के एक शहर के निचले भाग से ऊंचे भाग को जाने के लिए काम में लाई जा रही एक प्रकार की रेलगाड़ी का दृश्य है, जिसमें नीचे का भाग समतल न होकर पटरियों की तरह ढालू होता है, परन्तु डिब्बे की फर्श समतल ही होती है।

है। इङ्गलैंड की ट्रेनों के इंजिनों के टेन्डर इतने बड़े नहीं होते। अतः लम्बी यात्रा पर जानेवाले इंजिनों को पानी लेने के लिए वहाँ विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि रास्ते में बिना रुके ही वे आवश्यकतानुसार पानी खींच सकें। इसके लिए रास्ते के स्टेशनों पर लाइन के बीच में दो-ढाई फर्लाङ्ग लम्बे गड्ढे बने रहते हैं। ये गड्ढे १८ इंच चौड़े और ६ इंच गहरे होते हैं। इन गड्ढों में साफ पानी भरा रहता है। तेज रफ्तार में जिस समय इंजिन इनके ऊपर से होकर गुजरता है, ड्राइवर एक पाइप को नीचे बढ़ा देता है, ताकि पाइप का मुंह पानी की सतह छू ले। झटका खाकर पानी अपने आप इस नली में टेन्डर के रास्ते चढ़ जाता है। लंदन से एडिनबरा को जानेवाली एक्सप्रेस ट्रेन रास्ते में कहीं भी नहीं रुकती, फिर भी ४०० मील की इस लम्बी यात्रा में सात स्टेशनों पर लाइन के गड्ढों से इस ट्रेन का इंजिन अपने लिए पानी खींचता है। इस तरकीब से समय की काफी बचत हो जाती है। और इंजिन का डील भी नहीं बढ़ता।

कुछ एक्सप्रेस ट्रेनें अपने संग ऐसे डिब्बे लेकर चलती हैं, जिन्हें रास्ते के स्टेशनों पर छोड़ना होता है। समूची ट्रेन उस स्टेशन पर नहीं रुकती। जिस डिब्बे को अगले स्टेशन पर छोड़ना होता है, उसे स्टेशन पर पहुँचने के एकाध मील पहले ही ट्रेन से अलग कर देते हैं। आगे-आगे ट्रेन दौड़ती जाती है, और पीछे यह डिब्बा भी भागता चला आता है! इस डिब्बे में एक गार्ड भी रहता है, जो स्टेशन पर ब्रेक लगाकर अपने डिब्बे को खड़ा कर देता है।

इंजिनों में दो-तीन और कभी-कभी चार सिलिण्डर काम में आते हैं। दो सिलिण्डरवाले इंजिन में या तो दोनों सिलिण्डर इंजिन के फ्रेम के बाहर ही रहते हैं या उसके भीतर। परन्तु जब तीन सिलिण्डर काम में आते हैं तो दो सिलिण्डर बाहर होते हैं और एक अन्दर। चार सिलिण्डरवाले

इंजिन में भी दो सिलिण्डर इंजिन के बाहरी हिस्से में फिट किये होते हैं।

इंजिन को सामने के बजाय पीछे की ओर ले जाने के लिए ड्राइवर को केवल एक हैण्डिल एक ओर से दूसरी ओर सरकाना पड़ता है। इस हैण्डिल का सम्बन्ध सिलिण्डर के वाल्व रॉड से होता है।

इंजिन की शक्ति बढ़ाने के लिए अब दुहरे इंजिन भी बनने लग गये हैं। ऐसे इंजिनों में एक ही ब्वॉयलर से दो इंजिनों को भाप मिलती है। अवश्य ही ऐसे इंजिनों की लम्बाई भी काफी अधिक होती है, फिर भी इनका ढाँचा इतनी दक्षता के साथ तैयार किया जाता है कि मोड़ पर तेज रफ्तार में भी ये आसानी से मुड़ जाते हैं। इस श्रेणी के इंजिन २–८–०+०–८–२ ढंग के होते हैं।

डाकगाड़ियों की रफ्तार बढ़ाने के उद्योग में स्ट्रीमलाइन्ड इंजिनों का विकास हुआ। तेज रफ्तार से जब कोई भी चीज हरकत करती है तो हवा के झोंके उसके प्रतिकूल अवरोधक शक्ति डालते हैं। उस अवरोधक शक्ति को कम करने के लिए यह आवश्यक होता है कि हरकत करने वाली वस्तु का वाह्य धरातल एकदम चिकना सपाट हो। आड़े-तिरछे धरातल के धक्के लगने से हवा क्षुब्ध हो उठती है, फलस्वरूप हरकत करनेवाली वह वस्तु हवा के कारण रुकावट का अनुभव करती है। अतः हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए इंजिन के सामने का भाग फौलाद की एक सपाट चद्दर से ढक दिया जाता है। इससे टकराते ही हवा फिसलकर चुपचाप एक ओर हट जाती है और इंजिन विशेष अवरोधक शक्ति का अनुभव किये हुए बिना ही आगे बढ़ जाता है। इसी ढंग के 'स्ट्रीमलाइन्ड' इंजिनों ने तेज गति में सबसे बाजी मारी है। 'कारोनेशन स्कॉट' नामक इंजिन ने २९ जून, १९३७, को ११४ मील की रफ्तार से लम्बी ट्रेन को खींचा था। तीसरी जुलाई, १९३८, को एक दूसरे स्ट्रीमलाइन्ड इंजिन ने इस रेकार्ड को भी मात कर दिया। इस अवसर पर १२५ मील प्रति घंटे की रफ्तार उसने प्राप्त की थी!

पर्वतीय प्रदेशों में ट्रेन को चढ़ाई पर ले जाने के लिए खास ढंग के इंजिन काम में लाये जाते हैं। इंजिन के पहियों की पकड़ सँभालने के लिए इंजिन के पेंदे में दाँत लगे रहते हैं। ट्रेन ज्यों-त्यों ऊपर चढ़ती है, इंजिन के दाँत लाइन के बीचवाले दाँतों में क्रम से फँसते जाते हैं, अतः ट्रेन के पीछे

ट्रेन-दुर्घटना का भयावना दृश्य

रेलगाड़ियों के संचालन में इतनी अधिक सतर्कता रखने पर भी प्रायः दुर्घटनाएं हो ही जाती हैं। कहीं ट्रेनें आपस में टकरा जाती हैं, तो कहीं वे लाइन से उतर पड़ती हैं, जिससे सैकड़ों जानें प्रति वर्ष चली जाती हैं। चित्र में एक रेलवे-दुर्घटना का दिल दहलानेवाला दृश्य प्रदर्शित है।

बेहद ढालू रास्ते पर चढ़ने-उतरनेवाली एक रेलगाड़ी का दृश्य

यह अमेरिका के एक शहर के निचले भाग से ऊंचे भाग को जाने के लिए काम में लाई जा रही एक प्रकार की रेलगाड़ी का दृश्य है, जिसमें नीचे का भाग समतल न होकर पटरियों की तरह ढालू होता है, परन्तु डिब्बे की फर्श समतल ही होती है।

है। इङ्गलैंड की ट्रेनों के इंजिनों के टेन्डर इतने बड़े नहीं होते। अतः लम्बी यात्रा पर जानेवाले इंजिनों को पानी लेने के लिए वहां विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है, ताकि रास्ते मे बिना रुके ही वे आवश्यकतानुसार पानी खींच सकें। इसके लिए रास्ते के स्टेशनों पर लाइन के बीच में दो-ढाई फर्लाङ्ग लम्बे गड्ढे बने रहते हैं। ये गड्ढे १८ इंच चौड़े और ६ इंच गहरे होते हैं। इन गड्ढों में साफ पानी भरा रहता है। तेज रफ्तार मे जिस समय इंजिन इनके ऊपर से होकर गुजरता है, ड्राइवर एक पाइप को नीचे बढ़ा देता है, ताकि पाइप का मुंह पानी की सतह छू ले। झटका खाकर पानी अपने आप इस नली मे टेन्डर के रास्ते चढ़ जाता है। लंदन से एडिनबरा को जानेवाली एक्सप्रेस ट्रेन रास्ते मे कहीं भी नहीं रुकती, फिर भी ४०० मील की इस लम्बी यात्रा में सात स्टेशनों पर लाइन के गड्ढों से इस ट्रेन का इंजिन अपने लिए पानी खींचता है। इस तरकीब से समय की काफी बचत हो जाती है। और इंजिन का डील भी नहीं बढ़ता।

कुछ एक्सप्रेस ट्रेनें अपने संग ऐसे डिब्बे लेकर चलती है, जिन्हें रास्ते के स्टेशनों पर छोड़ना होता है। समूची ट्रेन उस स्टेशन पर नहीं रुकती। जिस डिब्बे को अगले स्टेशन पर छोड़ना होता है, उसे स्टेशन पर पहुँचने के एकाध मील पहले ही ट्रेन से अलग कर देते हैं। आगे-आगे ट्रेन दौड़ती जाती है, और पीछे यह डिब्बा भी भागता चला आता है! इस डिब्बे में एक गार्ड भी रहता है, जो स्टेशन पर ब्रेक लगाकर अपने डिब्बे को खड़ा कर देता है।

इंजिनों में दो-तीन और कभी-कभी चार सिलिण्डर काम में आते हैं। दो सिलिण्डरवाले इंजिन में या तो दोनों सिलिण्डर इंजिन के फ्रेम के बाहर ही रहते हैं या उसके भीतर। परन्तु जब तीन सिलिण्डर काम में आते हैं तो दो सिलिण्डर बाहर होते हैं और एक अन्दर। चार सिलिण्डरवाले

इंजिन में भी दो सिलिण्डर इंजिन के बाहरी हिस्से में फिट किये होते हैं।

इंजिन को सामने के बजाय पीछे की ओर ले जाने के लिए ड्राइवर को लीवर या हैण्डिल एक ओर से दूसरी ओर सरकाना पड़ता है। इस [illegible] का सम्बन्ध सिलिण्डर के वाल्व रॉड से होता है।

इंजिन की शक्ति बढ़ाने के लिए अब दुहरे इंजिन भी बनने लग गये हैं। ऐसे इंजिनों में [illegible] ही ब्वॉयलर से दो इंजिनों को भाप मिलती है। अवश्य ही ऐसे इंजिनों की लम्बाई भी काफी अधिक होती है फिर भी इनका ढाँचा इतनी दक्षता के साथ तैयार किया जाता है कि मोड़ पर तेज रफ्तार में भी ये आसानी से मुड़ जाते हैं। इस श्रेणी के इंजिन २-८-०+०-८-२ ढंग के होते हैं।

डाकगाड़ियों की रफ्तार बढ़ाने के उद्योग में स्ट्रीमलाइन्ड इंजिनों का विकास हुआ। तेज रफ्तार से जब कोई भी चीज हरकत करती है तो हवा के झोंके उसके प्रतिकूल अवरोधक शक्ति डालते हैं। उस अवरोधक शक्ति को कम करने के लिए यह आवश्यक होता है कि हरकत करने वाली वस्तु का बाह्य धरातल एकदम चिकना सपाट हो। आड़े-तिरछे धरातल के धक्के लगने से हवा क्षुब्ध हो उठती है, फलस्वरूप हरकत करनेवाली वह वस्तु हवा के कारण रुकावट का अनुभव करती है। अतः हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए इंजिन के सामने का भाग फौलाद की एक सपाट चद्दर से ढक दिया जाता है। इससे टकराते ही हवा फिसलकर चुपचाप एक ओर हट जाती है और इंजिन विशेष अवरोधक शक्ति का अनुभव किये हुए बिना ही आगे बढ़ जाता है। इसी ढंग के 'स्ट्रीमलाइन्ड' इंजिनों ने तेज गति में सबसे बाजी मारी है। 'कारोनेशन स्कॉट' नामक इंजिन ने २९ जून, १९३७, को ११४ मील की रफ्तार से लम्बी ट्रेन को खींचा था। तीसरी जुलाई, १९३८, को एक दूसरे स्ट्रीमलाइन्ड इंजिन ने इस रेकार्ड को भी मात कर दिया। इस अवसर पर १२५ मील प्रति घंटे की रफ्तार उसने प्राप्त की थी!

पर्वतीय प्रदेशों में ट्रेन को चढ़ाई पर ले जाने के लिए खास ढंग के इंजिन काम में लाये जाते हैं। इंजिन के पहियों की पकड़ सँभालने के लिए इंजिन के पेंदे में दाँत लगे रहते हैं। ट्रेन ज्यों-त्यों ऊपर चढ़ती है, इंजिन के दाँत लाइन के बीचवाले दाँतों में क्रम से फँसते जाते हैं, अतः ट्रेन के पीछे

ट्रेन-दुर्घटना का भयानक दृश्य

रेलगाड़ियों के संचालन में इतनी अधिक सतर्कता रखने पर भी प्रायः दुर्घटनाएं हो ही जाती हैं। कभी ट्रेनें आपस में टकरा जाती हैं, तो कभी वे लाइन से उतर पड़ती हैं, जिसमें सैकड़ों जानें प्रति वर्ष चली जाती हैं। चित्र में एक रेल-दुर्घटना का दिल दहलानेवाला दृश्य प्रद

खिसकने का डर नहीं रहता। स्विटजरलैण्ड में आल्प्स पर्वत की श्रेणियों को पार करनेवाली रेलवे लाइनें सर्पिल आकार में बल खाती हुई ऊपर चढ़ती हैं। कई स्थानों पर चढ़ाई कम करने के लिए पहाड़ को काटकर रास्ता बनाया गया है। फिर भी कहीं-कहीं प्रति दो फीट पीछे एक फुट की चढ़ाई, आल्प्स पर्वत की लाइनों में पाई जाती है। स्विटजरलैण्ड में लगभग ७ फर्लांग लम्बी एक ऐसी लाइन है, जिसमें प्रति १३॥ फीट पीछे पूरे १२ फीट की चढाई का सामना करना पड़ता है! इस छोटी-सी लाइन पर रेलगाड़ी को चढाने के लिए इंजिन की शक्ति के अतिरिक्त इस्पात के मजबूत तार की भी मदद ली जाती है। तार का एक सिरा नीचे उतरनेवाली ट्रेन से बँधा होता है और दूसरा सिरा ऊपर चढनेवाली ट्रेन से। नीचे जानेवाली ट्रेन का वजन ऊपर आनेवाली ट्रेन को खींचने में मदद देता है।

पहाड़ी प्रातों में रेलवे इञ्जीनियरों को लाइन साफ रखने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। वर्फ या तुषार के ढेर को लाइन पर से हटाने के लिए भी विशेष ढंग के इंजिन काम में लाये जाते है। वर्फ के पहाड़ के धँसाव या 'अवालांश' के धक्के से लाइन और उसके नीचे की चट्टान आदि सब-कुछ टूटकर नीचे खड्ड में जा गिरती है। इसीलिए कनाडा के ठण्डे प्रांतों मे रेलवे लाइन के ऊपर मीलों तक टिन के शेड बने हुए है, ताकि लाइन पर वर्फ का अंबार न लग जाय।

एस्केलेटर

धरती के नीचे चलनेवाली रेलों के स्टेशनों से ऊपर-नीचे आने-जाने के लिए बनाए गए अपने आप चढ़ने-उतरनेवाली ऐसी सीढ़ियाँ प्रायः पाश्चात्य नगरों में पाई जाती है (दे० पृष्ठ ६९९ का विवरण)।

ट्यूब रेलवे

धरती के नीचे चलनेवाली ट्यूब रेलवे भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। लन्दन ट्यूब रेलवे की लम्बाई केवल ७९ मील है, फिर भी प्रति वर्ष २३ लाख ट्रेनें इन लाइनों पर से होकर गुजरती है, और ४० करोड़ यात्री इन पर सफर करते हैं। अकेले चेयरिंग क्रॉस स्टेशन पर भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर तीन ट्यूब बने हुए हैं, जिनमें से होकर घण्टे भर के अन्दर २०० ट्रेनें गुजरती हैं! ये रेलगाड़ियाँ विद्युत्-शक्ति से चलती है। ट्यूब के अन्दर ६०० वोल्टवाले विद्युत् तार लगे हुए हैं। इन ट्रेनों के लगभग प्रत्येक डिब्बे के पेंदे में विद्युत् मोटरें लगी रहती हैं। इन्हीं की मदद से ट्रेन तीव्र गति से लाइन पर दौड़ती हैं। प्रत्येक डिब्बे के पेंदे में विद्युत् मोटर रखने से एक तो गाड़ी जल्दी गति पकड़ती है, और दूसरे ट्रेन में अधिक खट-खट नही होती और न व्यर्थ के झटके ही लगते हैं।

ट्यूब रेलवे का परिचालन बड़ी निपुणता और होशियारी के साथ करना पड़ता है। इन ट्रेनों मे दुर्घटनाएँ तो बहुत ही कम होती हैं। ट्यूब के प्रवेशद्वार पर साधारण ढंग के सिगनल काम में आते हैं, किन्तु ट्यूब के अँधेरे मे भीतर लैम्पवाले सिगनल चौबीसों घंटे काम में लाये जाते हैं। प्रत्येक सिगनल के नीचे लाइन के पास ही फर्श पर एक खटका-सा लगा रहता है। जिस वक्त सिगनल खतरे का सूचक होता है, यह खटका ऊपर उठ जाता है। यदि ट्रेन के ड्राइवर ने सिगनल पर ध्यान नहीं दिया और ट्रेन आगे बढ़ी तो सिगनल से आगे बढते ही यह खटका ट्रेन के अगले डिब्बे मे फँस जाता है। फलस्वरूप ट्रेन की विद्युत्-मोटरों से विद्युत्धारा का सम्बन्ध अलग हो जाता है, साथ ही अपने आप समूची ट्रेन में ब्रेक लग जाता है।

आफिस के वक्त पर तो मिनट-मिनट पर ट्रेनें छूटती रहती हैं। प्रत्येक ट्यूब के प्रवेश-द्वार पर एक घड़ी लगी रहती है, जिसे देखकर ड्राइवर फौरन् मालूम कर लेता है कि आगेवाली ट्रेन को उस जगह से गुजरे कितने मिनट हुए हैं। उसी हिसाब से ड्राइवर अपनी ट्रेन की रफ्तार घटा-बढ़ा

लेता है। कभी-कभी तो सामनेवाली ट्रेन की पिछली रोशनी आँख से ओझल भी नहीं होने पाती कि दूसरी ट्रेन को उसी दिशा में आगे बढ़ने के लिए अनुमति मिल जाती है। प्रवेशद्वार की इस घड़ी में लगे हुए कार्बन-पेपर पर प्रत्येक ट्रेन का टाइम स्वयं अंकित हो जाता है कि किस समय वह ट्रेन सुरंग के अन्दर दाखिल हुई थी। ड्राइवर की गाड़ी में एक खास ढंग की घड़ी लगी रहती है, जिसे देखकर ड्राइवर फौरन् मालूम कर लेता है कि उसकी ट्रेन नियत समय से कितने पीछे या पहले जा रही है।

आफिस टाइम पर समय की बचत के लिए टिकट बाँटने और पैसे भुनाने का काम स्वयंक्रिय मशीनों द्वारा किया जाता है। अक्सर तो लिफ्ट पर ही टिकट बेचने का इन्तजाम रहता है, ताकि सड़क से ट्यूब-स्टेशन के लिए नीचे उतरते समय लिफ्ट पर ही लोग टिकट खरीद लें। गार्ड डिब्बों के दरवाजे विद्युत्धारा की मदद से क्षण भर के अन्दर बन्द कर सकता है। इस प्रकार स्टेशनों पर व्यर्थ की देर नहीं होने पाती। स्टेशन के प्लेटफार्म पर विद्युत् प्रकाश से अगली गाड़ी का नाम अंकित कर दिया जाता है कि अमुक ट्रेन अमुक ठौर को जायगी।
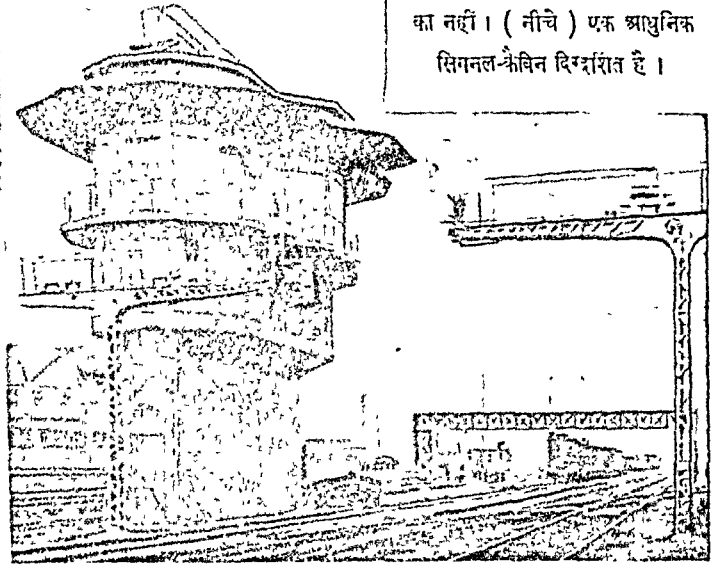
भीड़ होने पर अकेले लिफ्ट से काम नहीं चलता, अतः लिफ्ट के स्थान पर अब 'एस्केलेटर' काम में लाये जाते हैं। एस्केलेटर घूमते हुए सीढ़ीनुमा प्लैटफार्म होते हैं, जो साइकिल की चेन की भाँति चक्कर लगाया करते हैं। एस्केलेटर की सीढ़ी पर आप खड़े हो जाइए। स्वयं वह सीढ़ी आगे बढ़ती हुई नीचे पहुँच जायगी, अथवा यदि एस्केलेटर नीचे से ऊपर को जा रहा है तो निष्प्रयास आप ही नीचे से ऊपर पहुँच जायँगे। यद्यपि एस्केलेटर प्रति घण्टे दो मील की रफ्तार से ही चलते हैं, फिर भी लन्दन ट्यूब-रेलवे के तमाम एस्केलेटर मिलकर २७०० मील का फासला प्रति दिन तय करते हैं! एस्केलेटर के प्रयोग में एक और सहूलियत है। यदि एकाएक विद्युत्धारा बंद भी हो जाय तो यात्रियों का ऊपर से नीचे आना-जाना रुक नहीं सकता, क्योंकि ऐसी हालत में एस्केलेटर अपनी जगह पर एकदम रुक जाते

रेल की पटरियों के जोड़ और सिगनल

(बाईं ओर) स्टेशन पर रेलवे लाइनों का जाल दिग्दर्शित है, जहाँ पटरियाँ एक-दूसरे से फूटती या एक-दूसरे में मिलती हैं, वहाँ 'पाइंट' लगे रहते हैं। सिगनल और पाइंट इस तरह से संबद्ध कर दिए जाते हैं कि जिस लाइन पर पाइंट लगा हो, उसी के लिए सिगनल भी होता है, दूसरे का नहीं। (नीचे) एक आधुनिक सिगनल-कैबिन दिग्दर्शित है।
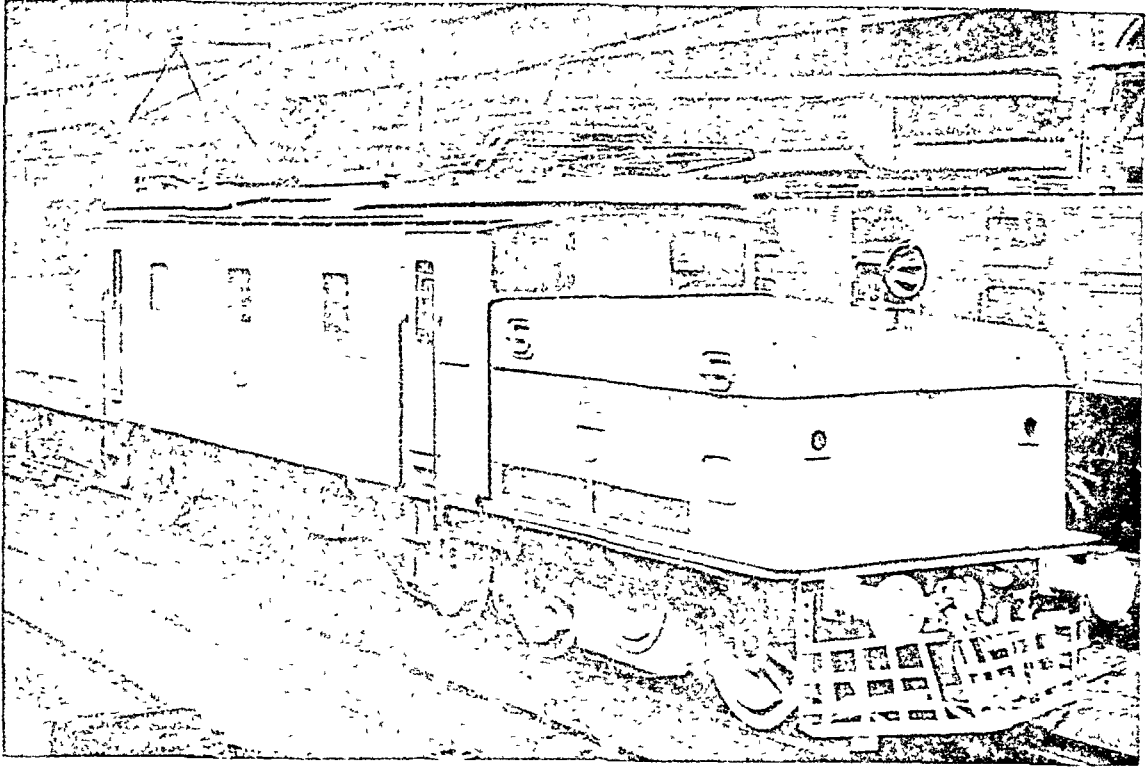
विद्युत् रेलवे-इंजिन

यह हमारे देश में बिजली से चलनेवाली रेलगाड़ियों का एक इंजिन है। विद्युत-रेलें हमारे यहां बंबई और कलकत्ता के क्षेत्रों में चालू हुई हैं।

है और तब ये स्थायी सीढ़ियों का काम देने लग जाते हैं (पृष्ठ ६९८ पर दिया गया चित्र देखिए)।

ट्यूब के अन्दर यदि किसी कारणवश अचानक उस सेक्शन की विद्युत्धारा को बन्द करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो ड्राइवर ट्यूब की छत से लटकते हुए दो नंगे तारों को एक दूसरे से छुआकर विद्युत्धारा का संबंध तोड़ सकता है। उसी क्षण निकटवर्त्ती स्टेशन पर रोशनी और घण्टियों द्वारा खतरे की सूचना मिल जाती है कि अवश्य इस हलके में कुछ गड़बड़ी है। जरूरत पड़ने पर टेलीफोन को ट्यूब के तार से जोड़कर ड्राइवर स्टेशन के कर्मचारी से बातचीत भी कर सकता है। विद्युत्धारा के बन्द हो जाने पर भी ट्रेन में एकदम अँधेरा नहीं छा जाता। ऐसे वक्त पर अपने आप रोशनी जल उठती है।

'डेडमैन का हैन्डिल'

विद्युत् ट्रेन के इंजिन में एक कमानीदार हैन्डिल भी लगा रहता है। ट्रेन चालू रखने के लिए इस हैन्डिल को दबाए रखना जरूरी होता है। यदि ड्राइवर अचानक सो जाय या बीमार हो जाय तो जोर ढीला पड़ते ही हैन्डिल ऊपर को उठ आता है, और ट्रेन की विद्युत-मोटर का सम्बन्ध विद्युतधारा से टूट जाता है, साथ ही समूची ट्रेन में वेस्टिंगहाउस ब्रेक अपने आप लग जाते हैं। इस हैन्डिल को "डेडमैन का हैन्डिल" कहते हैं। ट्रेन पूरी रफ्तार से भागी जा रही हो, इतने में एकाएक ड्राइवर की यदि मृत्यु हो जाय तो हैन्डिल के ढीला होते ही ट्रेन अपने आप रुक जायगी--किसी प्रकार की दुर्घटना नहीं हो सकती।

'सिगनल' और 'पाइंट'

किन्तु ट्रेनों को दुर्घटनाओं से बचाने के लिए जितनी तरकीबें निकाली गई हैं, उनमें सिगनलों का स्थान सर्वोपरि है। इंगलैण्ड की सर्वप्रथम रेलवे लाइन का उद्घाटन १८२५ में हुआ था। पूरे दस वर्ष बाद १८३५ में खम्भे में लगे हुए सिगनलों का प्रयोग शुरू हुआ। इसके पहले रेलवे पुलिस के कान्सटेबुल ही हाथ में झण्डियाँ लेकर रेलगाड़ियों के आने-जाने पर नियंत्रण रखते थे! स्टेशन से एक ट्रेन के रवाना होने के काफी देर बाद दूसरी ट्रेन को उसी दिशा में आगे बढ़ने की आज्ञा मिलती। इकहरी लाइन पर टाइम टेबुल के अनुसार क्रम से गाड़ियाँ गुजरती

थी। विपरीत दिशाओं से आनेवाली ट्रेनों के लिए स्थान नियुक्त थे कि अमुक स्थान पर वे एक दूसरे से मिलेंगी। यदि कोई एक ट्रेन में किसी कारण देरी हो जाती तो उस लाइन की सभी ट्रेनों के समय में गड़बड़ी पड़ जाती थी। प्राय: एक ट्रेन को दूसरी ट्रेन के लिए रास्ता देने के लिए लौटकर पीछेवाले स्टेशन के प्लैटफार्म पर जाना पड़ता था।

१८३४ में लिवरपूल-मैनचेस्टर लाइन पर लाल रंग की आयताकार झण्डी को काठ के फ्रेम पर चढ़ाकर खम्भे पर लगाया गया। 'लाइन खाली नहीं है' यह बताने के लिए झण्डी घुमाकर एकदम सामने कर दी जाती और 'लाइन खाली है,' यह बताने के लिए झण्डी को पुन: ९० अंश घुमाकर खम्भे की सीध में कर देते, ताकि लाइन पर से झण्डी दिखाई ही न पड़े। कुछ दिनों बाद कपड़े की झण्डी के स्थान पर लाल रंग का काठ का तख्ता काम में लाया जाने लगा। देहाती पंखे की तरह यह तख्ता भी लम्बवत् कीली पर घूम जाता। रात के समय तख्ते पर लैम्प लगा दिये जाते।

१८४१ में लन्दन क्रायोडन रेलवे में भुजावाले सिगनल पहली बार प्रयुक्त हुआ। खम्भे के साथ यदि भुजा समकोण बनाती तो इसके मानी होते थे कि ट्रेन सिगनल से आगे नहीं जा सकती। यदि भुजा ४५ अंश का कोण बनाती तो इसके मानी होते कि ट्रेन को सतर्कता के साथ आगे बढ़ना है, और जब भुजा खम्भे के समानान्तर आकर खम्भे की दराज में गायब हो जाती तो इसके मानी होते कि ट्रेन निधड़क आगे बढ़ सकती है। ये सिगनल खम्भे में लगे हुए लीवर की मदद से ऊपर-नीचे किये जा सकते थे। अत: प्रत्येक सिगनल के लिए एक सिगनलर की आवश्यकता होती थी। एक दिन एक कुशाग्र-बुद्धि सिगनलर ने अपनी कोठरी में बैठे-बैठे तार और घिरियों की मदद से दो-तीन सिगनलों के एक साथ परिचालन करने की तरकीब निकाल ली। आजकल सिगनल-कैबिन में बीसियों सिगनलों के तार विभिन्न लीवरों में लगे रहते हैं। इन्हीं लीवरों की मदद से ये सिगनल ऊपर या नीचे किये जा सकते हैं।

शुरू के दिनों में ट्रेन गुजर जाने के बाद तीन मिनट तक सिगनल खतरे की स्थिति में रखा जाता था, फिर ७ मिनट तक 'सतर्कता के साथ आगे बढ़ो' की स्थिति में और तब लाइन-क्लियर की हालत में गिरा दिया जाता था। सिगनल ठीक करने की इस रीति को 'टाइम सिगनलिंग' कहते हैं।

जंक्शन पर आनेवाली गाड़ियों को सही लाइन पर लाने के लिए पटरी के 'पाइंट' बदलने पड़ते हैं। अक्सर पाइंट लगाने में गलती हो जाया करती थी, किन्तु सिगनल गिरा होने के कारण ट्रेन स्टेशन पर चली आती, अत:
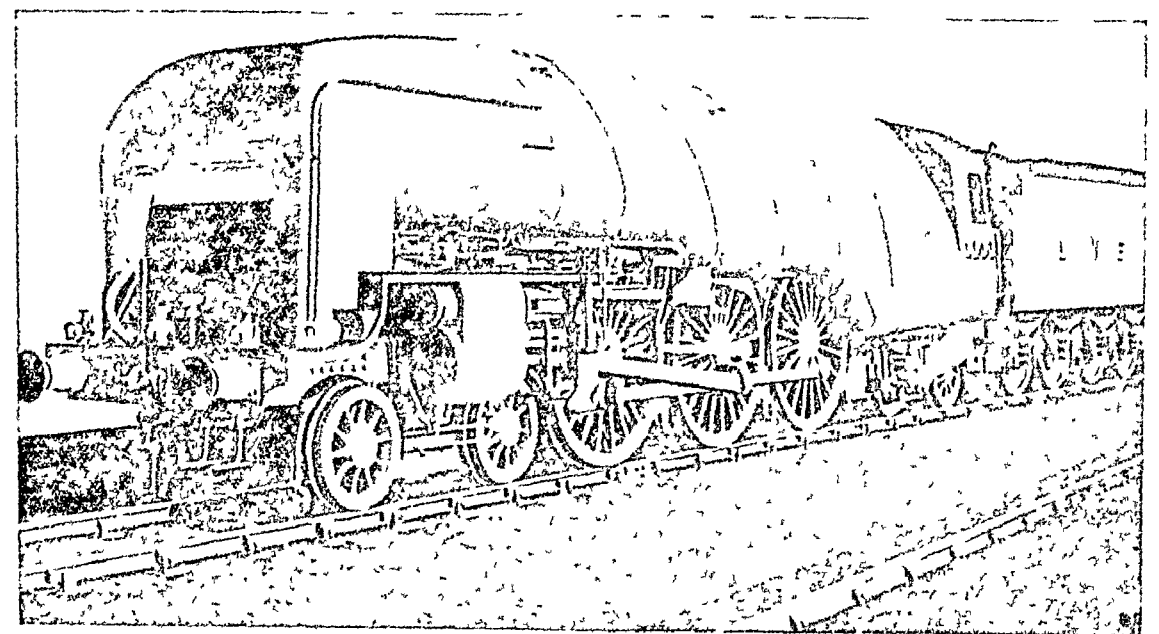
नई जाति का एक भारी स्ट्रीमलाइन्ड इंजिन

इंजिन की ऊपरी सतह के इस प्रकार सपाट होने से वायु के न्यूनतम अवरोध का सामना इन्हें करना पड़ता है।
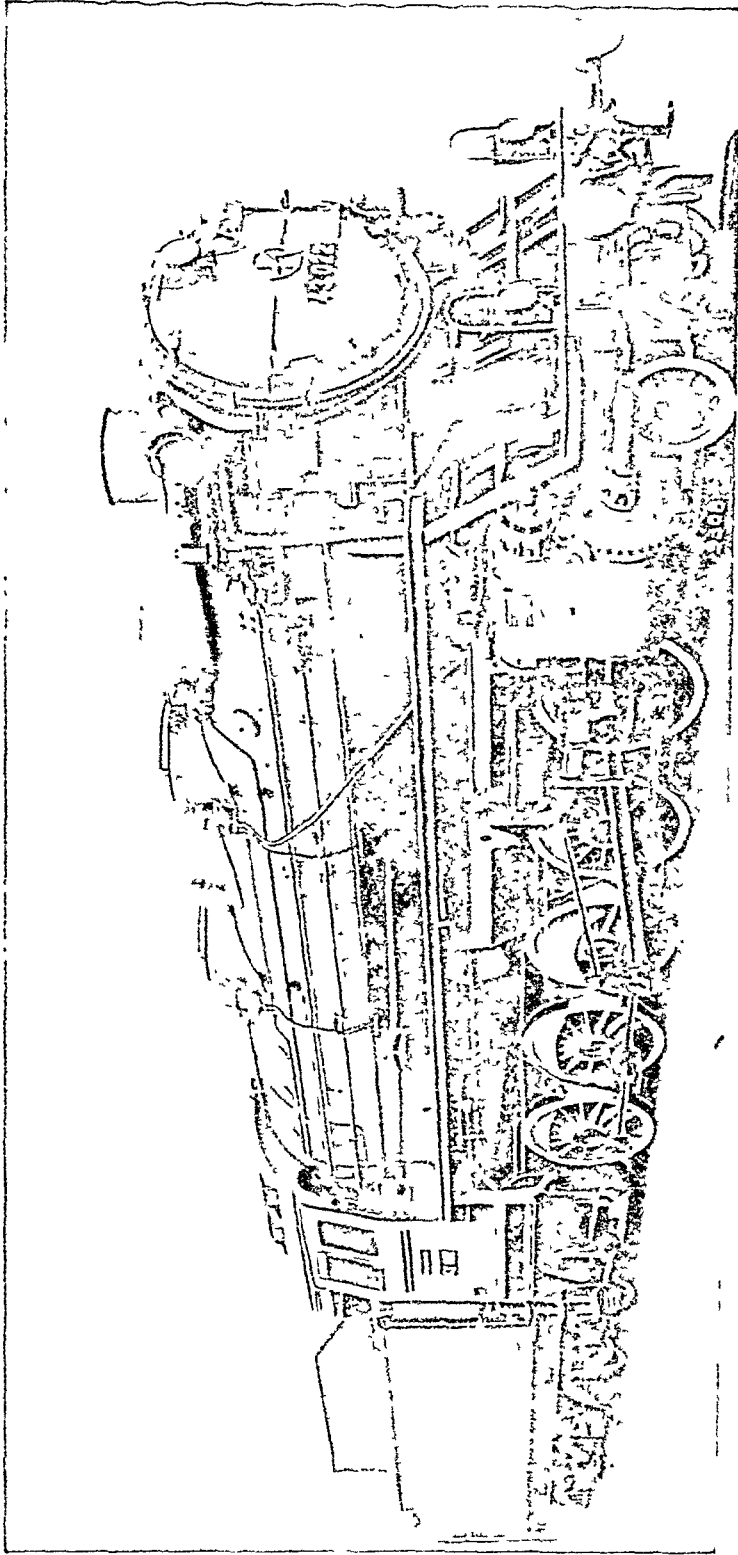
आज का एक भीमकाय रेलवे-इंजिन

इसमें ५ जोड़े चालक पहिए लगे हैं। रेलवे-इंजिन की भीतरी रचना और विभिन्न कल-पुर्जों की जानकारी के लिए देखिए पृष्ठ ६९२-६९३ के मानचित्र।

किसी-न-किसी दुर्घटना का वह शिकार बन जाती। इस गलती से बचने के लिए पाइंट और सिगनल के लीवर को इस तरह सम्बद्ध कर देते हैं कि जब तक पाइंट ठीक तौर से न लगे, सिगनल गिर ही नहीं सकता। इस प्रणाली को 'इन्टर-लॉकिंग' कहते हैं।

टेलीफोन और तार के आविष्कार ने सिगनलिंग को बड़ी मदद पहुँचाई। अगले स्टेशन से जब टेलीफोन द्वारा सूचना आ जाती कि ट्रेन वहाँ पहुँच गई है, तब पिछले स्टेशन से दूसरी ट्रेन को आगे बढने के लिए सिगनल मिलता है। हमारे देश में साधारण ढंग के स्टेशनों पर इन दिनों भी अगले स्टेशन से टेलीफोन के जरिए पूछकर ही ट्रेन को आगे बढने के लिए लाइन-क्लियर देते हैं। किन्तु ऐसी लाइनों पर जहाँ गाड़ियाँ एक के बाद दूसरी जल्दी-जल्दी जाती रहती हैं, यदि अगले स्टेशन पर एक गाड़ी के पहुँचने तक दूसरी गाड़ी पिछले स्टेशन पर ही रुकी रहे तो व्यर्थ म बहुत-सा समय नष्ट होगा। इसी कारण अब दो स्टेशनों के बीच की दूरी को विभिन्न क्षेत्रों में बाँट देते हैं--जिस स्थान पर एक क्षेत्र खत्म होकर दूसरा शुरु होता है, वहाँ एक सिगनल केबिन बना दिया जाता है। प्रत्येक केबिन का सम्बन्ध दूसरे केबिन से तार और टेलीफोन द्वारा बना रहता है। अगले केबिन से पूछने पर जब उत्तर मिलता ह कि अगली गाडी उस हलके से निकलकर अगले हलके में चली गई तभी पिछले केबिन से ट्रेन को आगे बढ़ने के लिए सिगनल मिलता है। इस योजना के अनुसार एक हलके में एक वक्त केवल एक ही ट्रेन गुजर सकती है। विद्युत्-धारा की मदद से एक केबिन के तमाम यंत्र अगले केबिन के यंत्रों से इस प्रकार आपस में संबद्ध रहते हैं कि जब तक आगे के केबिन से लाइन खाली बतानेवाला यंत्र ठीक नहीं कर लिया जाता, तब तक पिछले केबिन का सिगनल गिर ही नहीं सकता। अतः एक केबिन-संरक्षक यदि अपनी ड्यूटी पर सतर्क है तो उसके पासवाले केबिन का आदमी अकेले अपनी गलती से सिगनल देने मे कभी भूल नहीं कर सकता। केबिन में डायलवाले विद्युत्-यंत्र भी लगे रहते हैं, जिनमें सिगनल ठीक दिये जाने पर सुई घूमकर "लाइन पर गाड़ी है" या "क्षेत्र खाली है" या "क्षेत्र बन्द है" पर आ जाती है। इस यंत्र पर नजर पड़ते ही फौरन् मालूम हो जाता है कि हलका खाली है या नहीं। इस योजना के प्रयोग से अब इस बात की जरूरत नहीं रही कि 'सतर्कता से आगे बढो' का सिगनल दिया जाय। अत. अब भुजावाले सिगनल की दो ही स्थिति के झुकाव रक्खे जाते हैं—एक खतरे की ओर दूसरी ४५ डिग्री की जिसका अर्थ है कि 'हलका खाली है, आगे बढ़ो'।

सिगनल-केबिन के भीतर का दृश्य

केबिन-रक्षक यहाँ से ही अपने हलके की विभिन्न पटरियों पर दौड़नेवाली विभिन्न गाड़ियों का परिचालन करता रहता है।

रात के समय केबिन में ही बैठे-बैठे केबिन-रक्षक मालूम कर लेता है कि सभी सिगनलों में लैम्प जल रहे हैं या नहीं। प्रत्येक लैम्प की लौ के ऊपर ही एक धातु की पत्ती लगी होती है। जब तक वह गरम रहती है, तब तक नीचे की ओर झुकी रहती है। लैम्प के बुझते ही ठण्डी होकर यह पत्ती सीधी होकर ऊपर उठ जाती है। ऊपर उठते ही एक दूसरी धातु के टुकड़े को छूकर वह विद्युत्धारा का घेरा स्थापित कर देती है। बस, तुरन्त ही केबिन में घण्टी बजने लगती है कि लैम्प बुझ गया। साथ ही एक नन्ही-सी खिड़की के अन्दर बल्ब जल उठता है, जिस पर लिखा रहता है, 'बत्ती बुझ गई !'

हमारे देश में बड़े-बड़े कैबिनो में भी सिगनल गिराने के लिए और लाइनों के पाइंट मिलाने के लिए हाथ से लीवर को खीचना पडता है। यदि लीवर और सिगनल के बीच फासला अधिक हुआ तो निस्संदेह तार खीचने के लिए बहुत जोर लगाना पडता है। योरप और अमेरिका में इस काम के लिए अब संकुचित वायु या विद्युत्-शक्ति का प्रयोग करते हैं। ट्यूब रेलवे में सुरंग के अन्दर दिन के समय भी विद्युत्-लैम्पवाले सिगनल प्रयुक्त किए जाते हैं। ट्यूब रेलवे की केन्द्रीय कैबिन में कांच के पर्दे पर पूरे क्षेत्र का चित्र बना रहता है। नजर डालते ही मालूम हो जाता है कि किस ठौर पर कौन-सी ट्रेन इस वक्त मौजूद है। इससे ट्रेनों के आवागमन का कंट्रोल अत्यन्त सरल हो जाता है।

मोटरगाड़ियों का विकास

पिछले पृष्ठों में रेलगाड़ी के संबंध में जानकारी कराई गई है। किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं, धरातल पर यातायात के एक और महत्वपूर्ण वाहन का विकास इधर हुआ है और उसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। यह है मोटरकार या पैट्रोल से चलनेवाली पहिएदार गाड़ी। आइए, इस लेख में इसी महत्वपूर्ण वाहन के विकास-क्रम का अध्ययन करें। साथ ही यह भी बताएँ कि मोटरें कैसे बनाई जाती हैं।

व्यापार के बढने के साथ ही सभ्य समाज को ऐसे शीघ्रगामी वाहनों की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो साधारण सडकों पर भी आसानी से चल सकें। जिन दिनों वाष्प-इंजिनों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न देशों में प्रारम्भिक प्रयोग किए जा रहे थे, तभी फ्रेञ्च इंजीनियर कग्नॉट ने भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी बनाई थी। यह बात १७६३ ई० की है। यह लारी पैरिस के म्यूजियम में अब तक रखी हुई है। इस लारी में तीन पहिये थे—एक सामने और दो पीछे। आगेवाले पहिये के सामने ही एक बड़ी देगची रक्खी गई थी, यही ब्वॉयलर का काम देती थी। इसके बाद सडक पर खानगी गाड़ियों को खींचने के लिए वाष्प-इंजिनों के भिन्न-भिन्न नमूने अन्य लोगों ने भी तैयार किए। सन् १८२६ में एक अंग्रेज गर्नी ने भी सड़क पर दौड़नेवाला एक भाप का इंजिन तैयार किया था, जो अपने साथ एक फैशनेबुल फिटन को भी खीच सकता था। उन दिनों की एक दौड़-प्रतियोगिता में इस गाड़ी ने १५ मील प्रति घण्टे की रफ्तार प्राप्त की थी, जो कि उन दिनो के लिए निस्सन्देह एक आश्चर्यजनक करतब था। इस प्रतियोगिता में गर्नी की इस फिटन में स्वयं ड्यूक आफ विलिंग्टन सवार थे! यह एक दिलचस्प बात है कि ठीक जिस दिन गर्नी ने अपनी गाडी का प्रदर्शन जनता के सामने किया, उसी दिन एक फ्रेञ्च गणितज्ञ ने गणित के सिद्धान्त पर यह साबित किया था कि भाप द्वारा परिचालित इंजिन मामूली सड़कों पर कभी दौड़ लगा ही नहीं सकते!

भाप के साधारण इंजिनों का आकार ब्वॉयलर के कारण बहुत बेडौल हो जाता था, क्योंकि इंजिन को अपने साथ पानी, कोयला और भट्टी ले चलना पड़ता था। अतः पैरिस के कुछ चतुर आविष्कारकर्त्ताओं ने ऐसे इंजिनों का निर्माण किया, जो वजन में हलके और आकार में छोटे थे। इन इंजिनों में ड्राइवर की सीट के पीछे ही
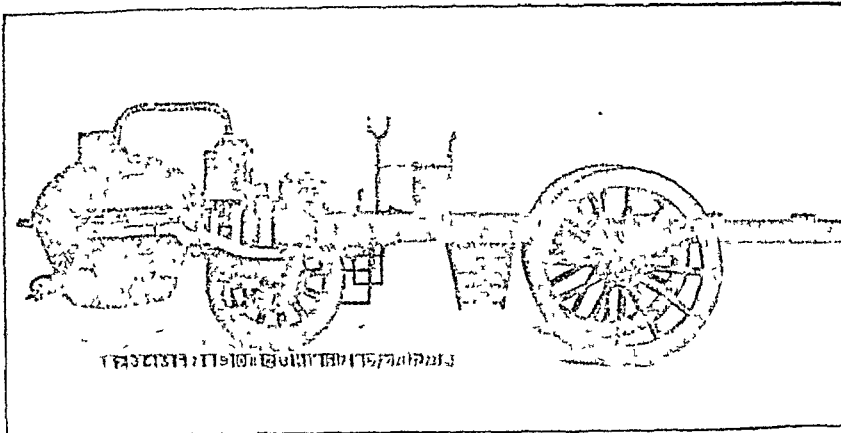
कग्नॉट की स्टीम-लॉरी

यह भाप से चलनेवाली सर्वप्रथम लॉरी थी, जिसे हम आज की मोटर का पूर्वरूप कह सकते हैं।
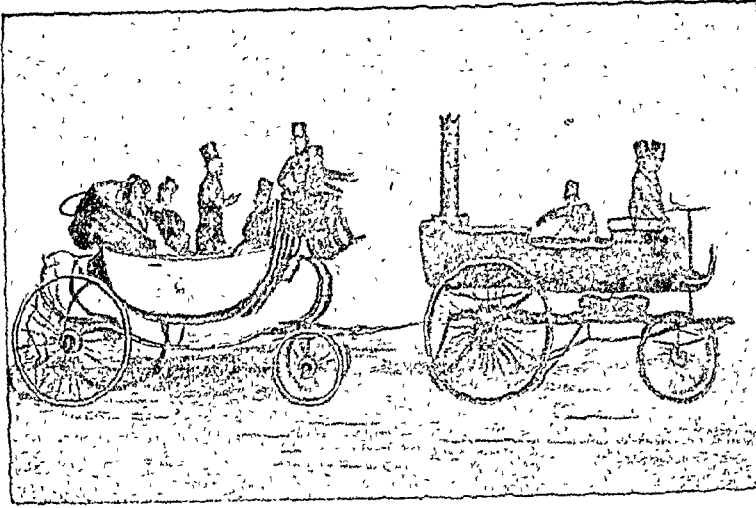
गर्नी की फिटन और उसको खींचनेवाला वाष्प-इंजिन
जिसने दौड़-प्रतियोगिता में सन् १८२९ में १५ मील प्रति घंटे की गति प्राप्त कर ली थी।
उस जमाने को देखते हुए निश्चय ही यह कोई कम आश्चर्यजनक करतब न था!

एक नए प्रकार का ब्वॉयलर फिट किया गया था। यह ब्वॉयलर लोहे के लम्बे और सँकरे ट्यूब का बना था। पेट्रोल के स्टोव से इस ट्यूब को खूब गर्म करते थे—फिर इस तप्त ट्यूब में पानी प्रवेश कराया जाता था। ट्यूब के अन्दर पहुँचते ही पानी तत्काल भाप में परिवर्तित हो जाता था। इसी भाप के बल से पिस्टन में हरकत होती थी। इंजिन की रफ्तार को घटाने या बढ़ाने के लिए उसी अनुपात में कम या अधिक मात्रा में पानी ट्यूब के अन्दर प्रवेश कराते थे।

सर्वप्रथम पेट्रोल-इंजिन—आटो-इंजिन का सिद्धांत

इन्हीं दिनों फ्रान्स में आटो नाम के एक इंजीनियर ने एक ऐसा इंजिन तैयार किया, जिसमें पानी की भाप की जगह पेट्रोल की गैस प्रयुक्त होती थी। इस इंजिन में ब्वॉयलर की कोई आवश्यकता न रही और न ब्वॉयलर में आँच पहुँचाने के लिए स्टोव या भट्टी के झमेले की दरकार रही। कोयले-पानी का भी कोई झंझट न रहा। आटो-इंजिन में सिलिण्डर ही के भीतर पेट्रोल की गैस और हवा का विस्फोट कराकर पिस्टन में हरकत पैदा करने के लिए शक्ति उत्पन्न करते हैं।

आजकल की सभी तरह की मोटर-गाड़ियों के इंजिनों के निर्माण में आटो-इंजिन का ही मूल सिद्धांत काम में लाया जाता है। आटो-इंजिन के सिलिण्डर में एक चौड़े गट्टेवाला पिस्टन आगे-पीछे हरकत करता है। पिस्टन का गट्टा सिलिण्डर की दीवालों में खूब कसकर बैठता है, ताकि एक तरफ से दूसरी ओर साँस न जाने पाए। चूँकि सिलिण्डर में गैस के जलने के कारण हद दर्जे की गर्मी पैदा होती है—अतः साधारण ढंग के पिस्टन के गट्टे में प्रसार इतना काफी हो जायगा कि वह सिलिण्डर की दीवालों में ही फँस जाय। ऐसी दशा में पिस्टन का आगे-पीछे हरकत करना असम्भव हो जायगा। इस कठिनाई से बचने के लिए पिस्टन में एक खास ढंग के गट्टे फिट किए जाते हैं। इन गट्टों के सामने-वाले भाग में कई एक छल्ले लगे रहते हैं। सिलिण्डर की परिधि में ही खाँच कटी रहती है—इन्हीं खाँचों में छल्ले पहना दिए जाते हैं। छल्ले का थोड़ा-सा हिस्सा कटा रहता है, अतः यह हर वक्त सिलिण्डर की दीवालों में कसकर सटे रहते हैं, साथ ही पिस्टन की हरकत में किसी प्रकार की अड़चन भी नहीं पैदा करते।

सिलिण्डर के सिरे पर दो छिद्र होते हैं और इन दोनों छिद्रों का मुँह वाल्व के जरिये बन्द रहता है। एक छिद्र के रास्ते गैस और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है, और दूसरे छिद्र से विस्फोट के उपरान्त गैसें बाहर निकलती हैं। पिस्टन जब नीचे की ओर जाने लगता है, उसी क्षण प्रवेश-वाल्व खुलता है और इस रास्ते पेट्रोल की गैस और हवा का मिश्रण सिलिण्डर में प्रवेश करता है। पिस्टन की इस हरकत को 'चार्जिङ्ग स्ट्रोक' कहते हैं। सिलिण्डर में पिस्टन जब नीचे की ओर हरकत करता है तो सिलिण्डर के सामनेवाले भाग में आंशिक वैकुअम पैदा हो जाता है। फलस्वरूप पेट्रोल की गैस और हवा सिलिण्डर के अन्दर सुड़क उठती है। प्रवेशवाल्व का सम्बन्ध एक नली द्वारा कार्ब्यूरेटर से बना रहता है, जिसमें पेट्रोल की गैस और हवा का सही अनुपात में मिश्रण बनता है।

मोटरकार के इंजिन की भीतरी रचना और कल-पुर्जे

इस इंजिन में चार सिलिंडर लगे है और उनमें पिस्टन तथा एक्जॉस्ट एवं प्रवेश-वाल्व उन्हीं चार स्ट्रोकों की अवस्था में दिखाए गए हैं, जिनकी क्रिया लेख में विस्तृत रूप से समझाई गई है। इस पद्धति से गैस का धड़ाका पैदा करके इंजिन में शक्ति उत्पन्न की जाती है और इस शक्ति द्वारा मोटर के चालक पहिए घुमाए जाते है। सिलिंडर को पानी द्वारा ठंडा रखने की योजना भी चित्र में दिखाई गई है।
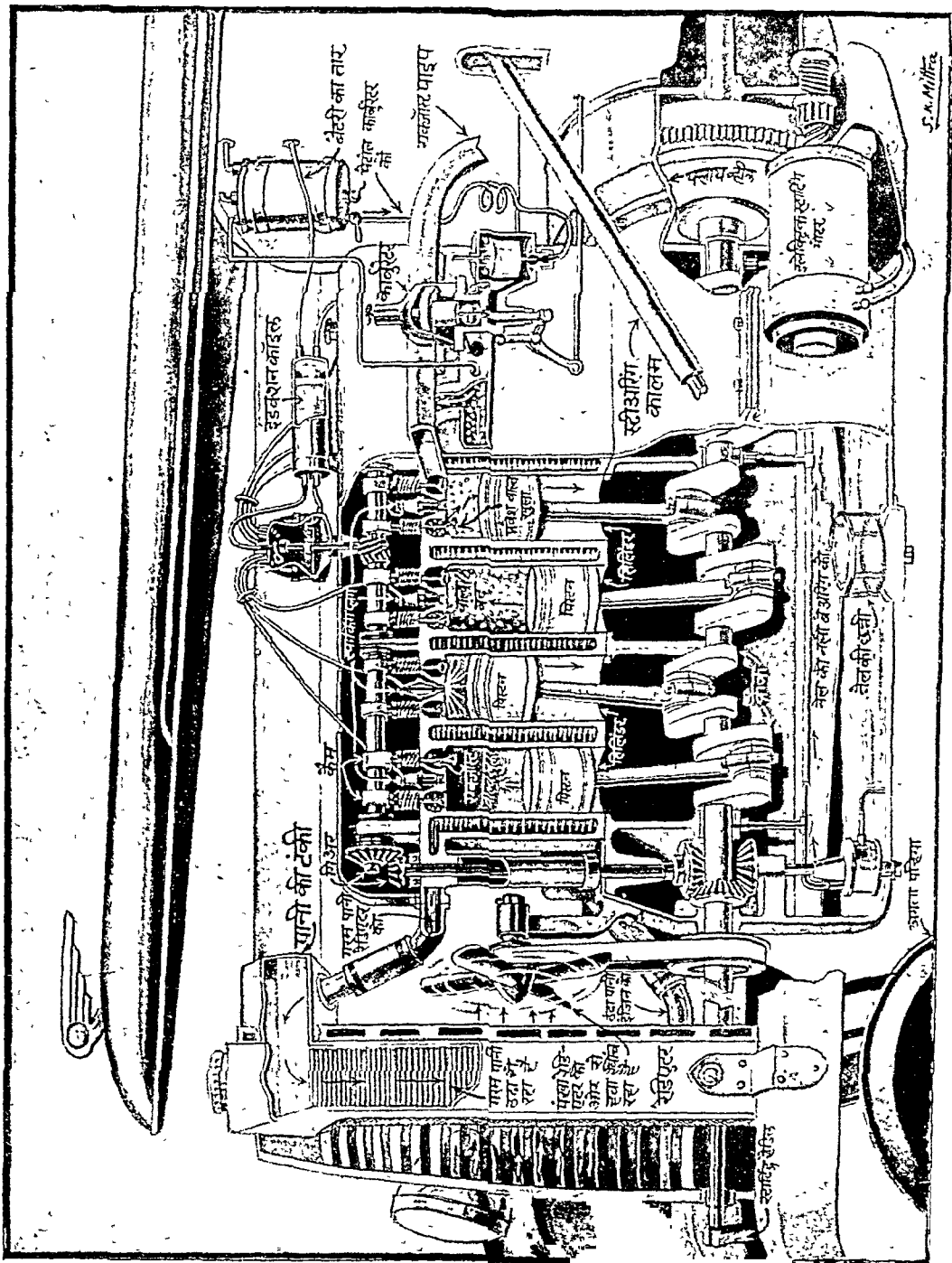
सिलिण्डर के पेंदे तक पहुँच चुकने के बाद कॉम्प्रेशन-स्ट्रोक आरम्भ होता है। पिस्टन की हरकत अब ऊपर की ओर होने लगती है। ठीक कॉम्प्रेशन-स्ट्रोक के आरम्भ होते ही प्रवेश-वाल्व बन्द हो जाता है। पिस्टन सिलिण्डर की गैस को दबाकर उसे थोड़ी-सी जगह में संकुचित कर देता है। पिस्टन अब लगभग सिलिण्डर के सिरे तक पहुँच चुका होता है। ठीक इसी क्षण सिलिण्डर के सिरे में लगे हुए 'स्पार्क-प्लग' में विद्युत्-चिनगारी पैदा करते हैं—बस संकुचित गैसें भभककर जल उठती हैं और उनके आयतन में कई हजार गुना वृद्धि होती है! इस कारण प्रबल वेग के साथ वे पिस्टन को नीचे की ओर फेंक देती हैं। यही पिस्टन का 'पावर-स्ट्रोक' है। मशीन की चालक शक्ति के पीछे पिस्टन की यही हरकत काम करती है। अब चौथी बार पिस्टन फिर ऊपर की ओर लौटता है—इस 'एक्जॉस्ट स्ट्रोक' के आरम्भ होते ही सिलिण्डर का एक्जॉस्ट वाल्व खुल जाता है और सिलिण्डर की तमाम गैसें इस रास्ते से बाहर निकल जाती हैं। इस स्ट्रोक के पूरा होने पर एक्जॉस्ट वाल्व बन्द हो जाता है और प्रवेश-वाल्व खुलता है, साथ ही पिस्टन का चार्जिङ्ग स्ट्रोक फिर आरम्भ होता है। ये ही चार स्ट्रोक बार-बार दोहराए जाते हैं।

हम देखते हैं कि पिस्टन की चार हरकतों में से केवल एक ही से इंजिन को शक्ति प्राप्त होती है। शेष तीन स्ट्रोकों से इंजिन को रंचमात्र भी शक्ति प्राप्त नहीं होती। एक सिलिण्डरवाले इंजिन की मोटर-सायकिल में झटके बहुत अधिक लगते हैं—क्योंकि पिस्टन की चार हरकतों में केवल एक से ही झटके के साथ इंजिन को शक्ति मिलती है। इस झटके से बचने के लिए तथा मोटर को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए इंजिन में ४, ६ और कभी-कभी तो १६ सिलिण्डर तक लगा दिए जाते हैं। फलस्वरूप प्रति क्षण किसी-न-किसी सिलिण्डर से इंजिन को ताकत अवश्य मिलती रहती है। ये सभी पिस्टन क्रैन्क और शैफ्ट द्वारा मोटर-गाड़ी की धुरी से सम्बद्ध रहते हैं।

आटो पेट्रोल-इंजिन के चार स्ट्रोक

१. एक्जॉस्ट स्ट्रोक; २. पावर स्ट्रोक; ३. कॉम्प्रेशन स्ट्रोक; ४. चार्जिंग स्ट्रोक। (विवरण के लिए इसी पृष्ठ का मैटर पढ़िए)।

कार्ब्यूरेटर

पेट्रोल को सीधे टङ्की से इंजिन के सिलिण्डर में नहीं ले जाते। सिलिण्डर में प्रवेश कराने के पहले गैस को वाष्प-रूप में परिवर्तित करना आवश्यक होता है। इस काम को कार्ब्यूरेटर कर देता है, जिसके अन्दर पेट्रोल छिद्र 'प' के रास्ते और हवा 'ह' के रास्ते प्रवेश करती है। (पृ० ७१० का निचला चित्र) सूक्ष्म छिद्र 'प' पेट्रोल को क्षुद्रतम आकार की नन्ही-नन्ही बूँदों में विभाजित कर देता है—फिर वायु के सम्पर्क में आते ही इनका तुरन्त वाष्पीकरण हो जाता है। छिद्र 'प' और 'ह' के आकार को इस हिसाब से रखते हैं कि हवा और पेट्रोल वाष्प के मिश्रण में एक भाग पेट्रोल के पीछे १५ भाग हवा रहे। कार्ब्यूरेटर के अन्दर पेट्रोल पास में रखे हुए टैङ्क 'ग' में आता है। इस छोटे-से टैङ्क में पेट्रोल की सतह सदैव एक खास ऊँचाई पर बनी रहती है। पेट्रोल की मुख्य टङ्की से इस टैंक में पेट्रोल आता है। इस टैंक में पेट्रोल की सतह जैसे ही एक नियत ऊँचाई पर पहुँची कि वैसे ही पीपा 'क' पेट्रोल में तैरने के कारण इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाता है कि

छिद्र 'छ' में सुईनुमा वाल्व का सिरा एकदम फिट बैठ जाता है। अब टङ्की में पेट्रोल इस रास्ते से प्रवेश नहीं कर सकता। पेट्रोल की सतह नीची हुई कि पीपा फिर नीचे आ जाता है, और छिद्र 'छ' में सांस खुल जाती तथा टैंक में पेट्रोल फिर आने लगता है (पृ० ७१० का निचला चित्र)। कार्ब्यूरेटर की बनावट बड़ी पेचीदा होती है, क्योंकि इंजिन स्टार्ट करते समय कार्ब्यूरेटर को सिलिण्डर में ऐसा मिश्रण भेजना पड़ता है, जिसमें पेट्रोल की मात्रा हवा की अपेक्षा अधिक हो। जब मोटरकार धीमी चाल से चलती है, उस समय पेट्रोल की मात्रा अपेक्षाकृत कम करनी पड़ती है और तेज रफ्तार के लिए पेट्रोल का अनुपात अधिक करना पड़ता है। इसके लिए एक ही कार्ब्यूरेटर में भिन्न-भिन्न आकारके तीन-चार छिद्र बने रहते हैं। इनमें से प्रत्येक भिन्न-भिन्न अवसरों पर काम में लाये जाते हैं।

क्लच का महत्व

मोटरकार के इंजिनों में इस बात का भी प्रबंध करना जरूरी होता है कि मौका पड़ने पर इंजिन का सम्बन्ध पहियों से अलग कर दिया जाय, ताकि ब्रेक लगाकर मोटरकार खड़ी की जा सके और इंजिन पूर्ववत् चलता रहे। यह सहूलियत 'क्लच' द्वारा प्राप्त होती है। इंजिन के मुख्य शैफ्ट में कोन के आकार-सदृश एक फ्लाई-व्हील लगा रहता है। पहिये की धुरी में भी कोन ही के आकार का एक छोटा फ्लाई-व्हील लगा रहता है। इस फ्लाई व्हील की परिधि पर चमड़ा चढ़ा रहता है। क्लच ढीला रखने पर यह छोटा फ्लाई-व्हील स्प्रिङ्ग के दबाव से बड़े फ्लाई-व्हील के भीतर जाकर जम जाता है। इंजिन के शैफ्ट के घूमते ही बाहरी फ्लाई-व्हील तेजी के साथ घूमने लगता है और साथ ही पहिये से सम्बद्ध छोटा फ्लाई-व्हील भी चक्कर लगाने लगता है। क्लच को पैर से दबाते ही भीतरी फ्लाई-व्हील, शैफ्ट के फ्लाई-व्हील से दूर हट जाता है और इस तरह पहियों का इंजिन से एक-दम सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इंजिन भरपूर शक्ति से ही क्यों न चल रहा हो, पहिये जरा भी हरकत न करेंगे। कुशल ड्राइवर पहियों मे ब्रेक लगाने के पहले सदैव क्लच को दबा लेते हैं।

सिलिंडर के वाल्व कैसे खुलते और बंद होते हैं?

'अ' स्प्रिङ्ग, जो शैफ्ट के सिरे को प्रवेश-द्वार 'व' से दबाए रखता है। 'ब' शैफ्ट की ऊँचाई घटाने-बढ़ाने के लिए ढिबरी। कैम का 'क' जब शैफ्ट के पैर को छूता है तो शैफ्ट ऊपर उठ जाता है और वाल्व थोड़ी देर के लिए खुल जाता है।

'गियर' बदलना

स्टार्ट करते समय इंजिन के शैफ्ट को कभी भी नीचे पहिये के शैफ्ट से सम्बद्ध नहीं रखते। ऐसा करने से इंजिन के ऊपर बोझ अत्यधिक पड़ेगा। अतः क्लच की मदद से इंजिन के शैफ्ट को 'गियर-बॉक्स' द्वारा पहिये के शैफ्ट से इस प्रकार जोड़ते हैं कि इंजिन के शैफ्ट का एक छोटा दाँतदार चक्र पहिये के शैफ्ट के बड़े दाँतदार चक्र से जा फँसता है। इस दशा में इंजिन का शैफ्ट जब कई बार चक्कर लगा चुकता है, तब कहीं जाकर उसका पहिया एकबार घूमता है, अतः इंजिन पर जोर कम पड़ता है। गाड़ी की रफ्तार तेज करने के लिए 'गियर' बदलकर पहिये को ऐसे चक्र में लगाते हैं, जिसमें दाँतों की संख्या पहले चक्र की अपेक्षा कम होती है। गियर की उल्टी क्रिया की सहायता से मोटरकार के पहियों को उल्टी दिशा में घुमाकर कार को पीछे ले जा सकते हैं। तीव्र गति से भागती हुई कोई भी गाड़ी जब मोड़ पर घूमती है तो भीतरवाले पहिये की अपेक्षा बाहरवाले पहिये को उतने ही समय में ज्यादा फासला तय करना पड़ता है। यह तभी सम्भव है जब बाहरवाला पहिया भीतरवाले पहिये की अपेक्षा ज्यादा तेजी के साथ घूमे। बढ़िया मोटरकार में डिफरेन्शियल गियर की सहायता से इंजिन का अकेला शैफ्ट पिछले पहियों को भिन्न रफ्तार से घुमा लेता है।

सिलिण्डर को ठंढा रखने की व्यवस्था

सिलिण्डर के अंदर हद दर्जे की गरमी उत्पन्न होती है। अतः उसे ठण्डा न रक्खा जाय तो अतिशय ताप के कारण या तो पिस्टन के जोड़ों में लगी चर्बी एकदम भाप बनकर उड़ जायगी और जोड़ों के हिलने-डुलने में मुश्किल पड़ेगी, या पिस्टन में इतना अधिक प्रसार होगा कि वह सिलिण्डर के अन्दर फँसकर रह जायगा और ऊपर-नीचे बिल्कुल ही हरकत न कर पायगा। सिलिण्डर को ठण्डा रखने का सबसे सहल तरीका है उसके चारों ओर लोहे की चौड़ी-चौड़ी पत्तियों को खड़ी जड़

देना। इन पत्तियों के बीच में ठण्डी हवा वरवस आ फँसती है और अपने साथ इंजिन की गरमी ले जाती है। वायुयान के इंजिनों में तथा मोटर-सायकिल में इसी तरकीव का प्रयोग करते हैं, क्योंकि ये दोनों वाहन हवा में तीव्र वेग से भागते हैं, अतः इन पत्तियो पर हवा का तेज झोंका लगता है। किन्तु साधारण मोटरकार में तथा ऐसे इंजिनों में, जो एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, इंजिन को ठण्डा रखने के लिए ठण्डे पानी की धारा का प्रयोग करते हैं। सिलिण्डर के चारों ओर चक्कर लगाकर गरम पानी सामने रेडिएटर में जब पहुँचता है तो हवा के तेज झोंके खाकर वह पुनः ठण्डा हो जाता है। इस प्रकार वही पानी बार-बार सिलिंडर के चारों ओर चक्कर लगाता है। रेडिएटर में मधु-मक्खी के छत्ते की तरह के पतले-पतले ट्यूब लगे रहते हैं। इन्हीं ट्यूबों में से होकर पानी गुजरता है (पृ० ७१० का ऊपरी चित्र)।

डेम्लेर द्वारा आटो-इंजिन का सुधार

पेट्रोल-इंजिन के इन भिन्न-भिन्न पुर्जो का विकास अकेले किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। अनेक आविष्कारों ने थोड़ा-थोड़ा करके पेट्रोल-इंजिन को विकास के पथ पर आगे बढाया है। आटो के एक सहायक इंजीनियर डेम्लेर ने आटो-इंजिन का अध्ययन अच्छी तरह किया और उसने इस इंजिन में अनेक सुधार करके इसकी शक्ति पहले से चौगुनी बढ़ाई। आटो का इंजिन अपने फ्लाई-ह्वील को एक मिनट में केवल २५० बार घुमा पाता था। किन्तु डेम्लेर ने इसकी रफ्तार को कई गुना बढ़ाने में सफलता प्राप्त कर ली, यद्यपि लोगों ने उसे हतोत्साहित करने में कोई भी कसर बाकी न रखी। उन लोगों का कहना था कि रफ्तार तेज करने पर इंजिन के टुकड़े-टुकड़े उड़ जाएँगे। इस परिष्कृत आटो-इंजिन को इसने सशंकित हृदय से अपनी मोटर-साइकिल में फिट किया। जिस दिन वह अपनी मोटर-साइकिल पर चढ़कर पहली बार सड़क पर घूमा, उसके मन में यह विश्वास जम गया कि वह शीघ्र ही सर्वसाधारण के लिए भी मोटरगाड़ियाँ तैयार कर सकेगा। आधुनिक ढंग की मोटर के विकास की यह प्रथम सीढ़ी थी। शीघ्र ही एक फ्रेन्च कंपनी डेम्लेर के पेटेन्ट को खरीद कर पेट्रोल-इंजिन से युक्त मोटरगाड़ियाँ बनाने लगी।

कार्ल बेन्ज और लैंकेस्टर की मोटरगाड़ियाँ

इन्हीं दिनों जर्मनी में कार्ल बेन्ज ने भी तीन पहियों की एक मोटरकार तैयार की। इस गाड़ी के इंजिन की शक्ति पौन अश्वबल के बराबर थी। सरकारी अधिकारियों के सामने उसने जब अपनी मोटर को ७॥ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से दौड़ाई तो वे लोग बहुत घबराए और उन्होंने बेन्ज को हुक्म दिया कि वह हरगिज अपनी मोटर की रफ्तार ७॥ मील प्रति घण्टे से ज्यादा न बढ़ाए, साथ ही उसे यह चेतावनी मिली कि शहर के अन्दर वह अपनी मोटर की रफ्तार तीन मील से कम ही रक्खे! यह बात सन् १८८५ की है।
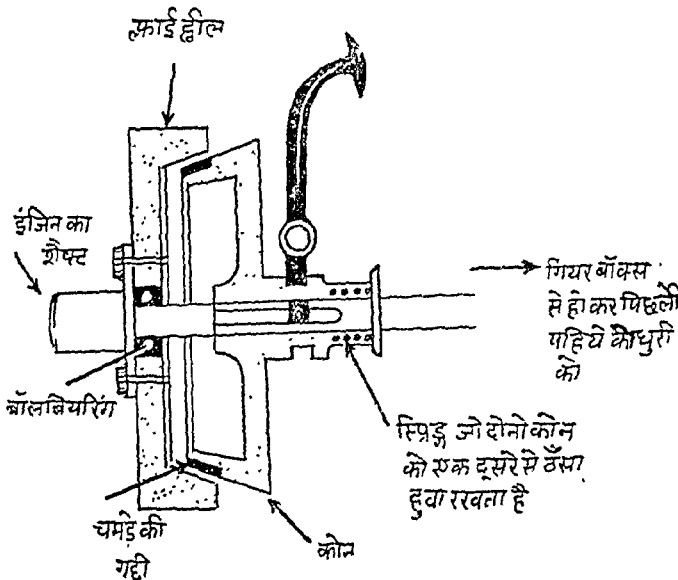
क्लच का सिद्धान्त
विवरण के लिये पृ० ७०८ का मैटर देखिए।

यन्त्र द्वारा परिचालित गाड़ियों के लिए इङ्गलैण्ड में भी काले कानून बन गए थे। प्रत्येक मोटर-गाड़ी या वाष्प-इंजिन के आगे-आगे लाल झण्डी लेकर एक सिपाही को पैदल चलना पड़ता था और ऐसी गाड़ियों को आदमी की रफ्तार से ज्यादा तेजी से हाँकने का हुक्म भी न था! इस प्रतिक्रियावादी कानून ने इङ्गलैण्ड में मोटरकार-सम्बन्धी आविष्कारों के रास्ते में निस्सन्देह अनेक बाधाएँ पहुँचाईं। सौभाग्यवश १८९५ में यह काला कानून रद्द कर दिया गया। इसी बीच इङ्गलैण्ड के इंजीनियरों ने फ्रांस और
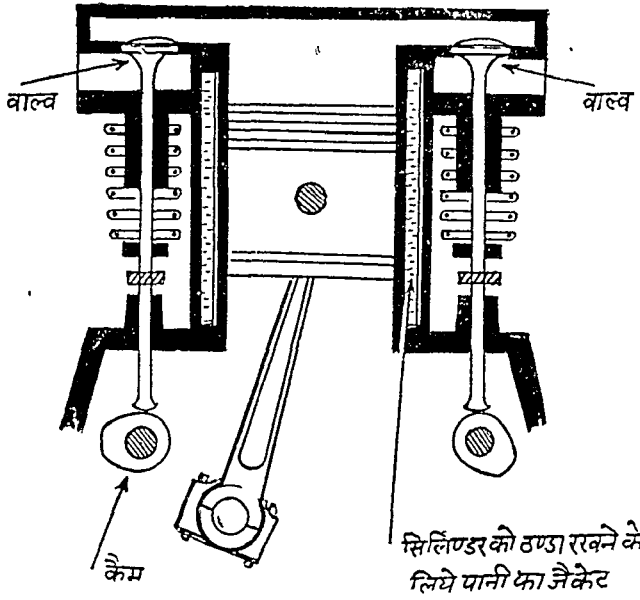
सिलिंडर को पानी द्वारा ठंडा कैसे रखते हैं ?

सिलिंडर के चारों ओर के जैकेट में पानी चक्कर लगाता रहता है और इस तरह सिलिंडर की दीवार को गरम नहीं होने देता।

जर्मनी के मोटर-सम्बन्धी आविष्कारों को देखा और उनका अच्छी तरह से अध्ययन किया। अतएव १८६६ में लैन्केस्टर ने एक ऐसी सुविकसित मोटरकार तैयार की, जिसमें आधुनिक मोटरगाड़ी के सभी जरूरी पुर्जों का समावेश किया गया था। एक्सलेरेटर, क्लच, पैर से दबानेवाला ब्रेक और गियर बदलनेवाली मुठिया—ये सभी पुर्जे उसमें मौजूद थे। उसके पहियों में हवा भरे हुए रबर के टायर और धुरी में गोल-गोल छर्रे भी थे, जैसे कि आधुनिक मशीनों में सब कहीं काम में आते हैं।
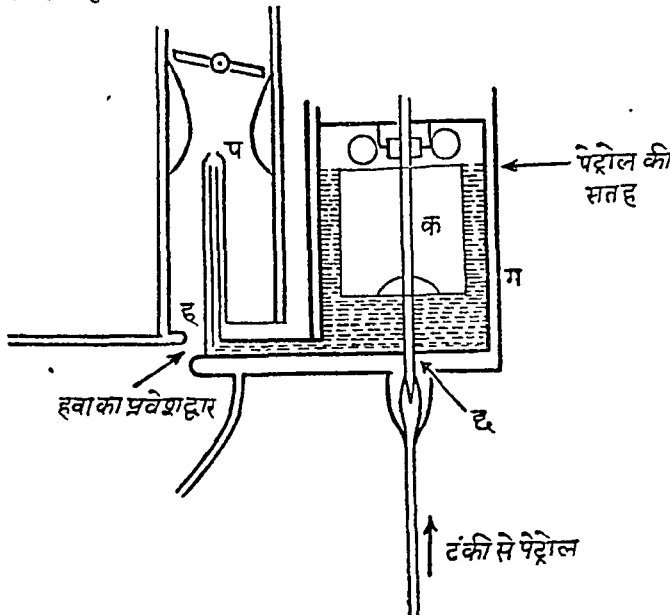
सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता

शक्तिशाली इंजिनवाली पायदार मोटर-कार के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिलाने के लिए मोटरों की सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता १८६५ में फ्रांस में आयोजित हुई। पेरिस से बोर्डो तक जाकर वापस आना था—कुल फासला ७३२ मील का था। दौड़ में भाग लेनेवाली गाड़ियों में १५ पेट्रोल से चलनेवाली गाड़ियाँ थी, ६ भाप के इंजिन-वाली और १ बिजली के बल से चलनेवाली गाड़ी थी। इस प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले अनेक ड्राइवर रास्ते में घायल हुए और कई की जानें भी गई। केवल आधे लोग दौड़ पूरी कर सके। इन सबमें डेम्लेर मोटरकार का स्थान सबसे आगे रहा, जिस की औसत रफ्तार १५ मील प्रति घण्टे रही थी।

भाँति-भाँति की व्यवस्थाएँ

प्रारंभिक दिनों की इन मोटरगाड़ियों के चलने में अत्यधिक शोर होता था—उनके इजिन मे प्रायः एक ही सिलिण्डर हुआ करता था, अतः मोटर में बेशुमार झटके लगते थे। कार की बॉडी मे स्प्रिंग भी बढ़िया प्रकार के न थे। बस, जहाँ कहीं भी सड़क की सतह ऊँची-नीची मिली, मोटर जोरों के साथ उछल पड़ती। चूंकि, इंजिन का शोर और बॉडी की खड़खड़ाहट इतनी ज्यादा होती थी, अतएव इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती थी कि ड्राइवर हार्न बजाए। मोटरकार के शोर से लोग स्वयं ही सावधान हो जाते थे।

फिर भी अपनी उपयोगिता के कारण मोटर सर्वसाधारण के बीच बहुत ही प्रिय हो गई। फलतः भिन्न-भिन्न कामों के लिए तरह-तरह की डिजाइन की मोटरगाड़ियाँ तैयार की जाने लगी। डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी

कार्ब्यूरेटर का सिद्धान्त

किस प्रकार इसमें प्रक्रिया होती है, इसके विवरण के लिए पृष्ठ ७०८ का मैटर पढ़िए।

सभी ने मोटरकार के महत्व को पहचाना। व्यापारियों ने मोटरलारियों पर माल लादना शुरू किया। सवारी ढोने के लिए भी बस-कम्पनियों ने मोटरगाड़ियों को अपनाया। फलस्वरूप दो ही चार वर्षों के अन्दर अनेक फैक्टरियाँ खुल गईं, और प्रति वर्ष हजारों की संख्या में मोटरगाड़ियाँ इन फैक्टरियों में तैयार होने लगीं।

भारी संख्या में मोटरगाड़ियों का निर्माण

जब मोटरकार के रूप में एक निहायत कमखर्च, सुडौल और तेज चालवाला वाहन दुनिया को मिल गया तो उसकी माँग की बाजार में एकबारगी ही मानों बाढ़ आ गई और फलस्वरूप पचीसों फैक्टरियाँ केवल मोटरें बनाने के लिए ही खुल गईं। इन्हीं फैक्टरियों ने कालान्तर में विशाल कारखानों का रूप ले लिया, जिनमें हजारों की संख्या में प्रति वर्ष तरह-तरह के डिजाइन की मोटरें तैयार होने लगी। क्या आप सोच सकते हैं कि आज के दिन ऐसे कारखाने किस गति और परिमाण में मोटरों का उत्पादन करते हैं? आपको यह जानकर अचरज होगा कि अमेरिका के फोर्ड के मोटर के कारखाने में, जो संसार का इस वाहन के उत्पादन का सबसे बड़ा कारखाना है, प्रति दिन कई मोटरों की औसत के हिसाब से उत्पादन होता है! निस्संदेह यह तभी संभव हो सकता है, जब कि मोटर के प्रत्येक छोटे-से-छोटे पुर्जे के निर्माण के लिए भी अलग-अलग विभाग हों और उन सब विभागों में साथ-ही-साथ काम चलता रहे। इसके अलावा कारखाने के कुछ विभागों में केवल विभिन्न पुर्जों को जोडकर पूरी गाड़ी तैयार करने का ही काम होता हो। कुछ में रँगाई-पोताई ही चलती रहे, कुछ में मोटर के गद्दे-तकिए वगैरह ही सिले जाते रहें, कुछ में उसके इंजिन की जाँच ही होती रहे, और इन सभी कार्यों की ऐसी शृंखला बँधी रहे कि प्रत्येक विभाग से एक ही जैसे हजारों पुर्जे प्रति दिन तैयार होते रहें। वस्तुतः यही हो रहा है। इस सिलसिले में अमेरिका के धनकुबेर हेनरी फोर्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सस्ती और पायदार मोटरगाडियाँ तैयार करने का श्रेय हेनरी फोर्ड को ही प्राप्त है। आज फोर्ड की मोटरें और लारियाँ संसार के सभी देशों में पायी जाती हैं।

(ऊपर) मोटरकार का गतिनिर्देशक यंत्र
पहिये की धुरी जितनी अधिक तेजी से घूमती है, उतनी अधिक तेजी से गर्वनर के लट्टू नाचते हैं। फलस्वरूप गर्वनर के लट्टू बिन्दीदार स्थिति पर आ जाते हैं। अतः दंतचक्र का छल्ला दाहिनी ओर खिसक आता है और अपने साथ सुई को भी डायल पर घुमाता है। इस तरह कार की गति मीलों में अंकित हो जाती है।

(नीचे) बेंज कम्पनी द्वारा बनाई गई मोटरकार
जो १० मील प्रति घंटा तक दौड़ लगा सकती थी।

सिलिंडर को पानी द्वारा ठंडा कैसे रखते हैं ?

सिलिंडर के चारों ओर के जैकेट में पानी चक्कर लगाता रहता है और इस तरह सिलिंडर की दीवार को गरम नहीं होने देता।

जर्मनी के मोटर-सम्बन्धी आविष्कारों को देखा और उनका अच्छी तरह से अध्ययन किया। अतएव १८९६ में लैन्केस्टर ने एक ऐसी सुविकसित मोटरकार तैयार की, जिसमें आधुनिक मोटरगाड़ी के सभी जरूरी पुर्जों का समावेश किया गया था। एक्सलेरेटर, क्लच, पैर से दबानेवाला ब्रेक और गियर बदलनेवाली मुठिया—ये सभी पुर्जे उसमें मौजूद थे। उसके पहियों में हवा भरे हुए रबर के टायर और धुरी में गोल-गोल छर्रे भी थे, जैसे कि आधुनिक मशीनों में सब कहीं काम में आते हैं।

सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता

शक्तिशाली इंजिनवाली पायदार मोटरकार के निर्माण के लिए प्रोत्साहन दिलाने के लिए मोटरों की सर्वप्रथम दौड़-प्रतियोगिता १८९५ में फ्रांस मे आयोजित हुई। पेरिस से बोर्डो तक जाकर वापस आना था—कुल फासला ७३२ मील का था। दौड़ में भाग लेनेवाली गाड़ियों में १५ पेट्रोल से चलनेवाली गाड़ियाँ थी, ६ भाप के इंजिनवाली और १ बिजली के बल से चलनेवाली गाड़ी थी। इस प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले अनेक ड्राइवर रास्ते में घायल हुए और कई की जानें भी गई। केवल आधे लोग दौड़ पूरी कर सके। इन सबमें डेम्लेर मोटरकार का स्थान सबसे आगे रहा, जिस की औसत रफ्तार १५ मील प्रति घण्टे रही थी।

भाँति-भाँति की व्यवस्थाएँ

प्रारंभिक दिनों की इन मोटरगाड़ियों के चलने में अत्यधिक शोर होता था—उनके इंजिन में प्राय: एक ही सिलिण्डर हुआ करता था, अत: मोटर में बेशुमार झटके लगते थे। कार की बॉडी में स्प्रिंग भी बढ़िया प्रकार के न थे। बस, जहाँ कहीं भी सड़क की सतह ऊँची-नीची मिली, मोटर जोरों के साथ उछल पड़ती। चूँकि, इंजिन का शोर और बॉडी की खड़खड़ाहट इतनी ज्यादा होती थी, अतएव इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती थी कि ड्राइवर हार्न बजाए। मोटरकार के शोर से लोग स्वयं ही सावधान हो जाते थे।

फिर भी अपनी उपयोगिता के कारण मोटर सर्वसाधारण के बीच बहुत ही प्रिय हो गई। फलत: भिन्न-भिन्न कामों के लिए तरह-तरह की डिजाइन की मोटरगाड़ियाँ तैयार की जाने लगीं। डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी

कार्ब्यूरेटर का सिद्धान्त

किस प्रकार इसमें प्रक्रिया होती है, इसके विवरण के लिए पृष्ठ ७०८ का मैटर पढ़िए।

सभी ने मोटरकार के महत्व को पहचाना। व्यापारियों ने मोटरलारियों पर माल लादना शुरू किया। सवारी ढोने के लिए भी बस-कम्पनियों ने मोटरगाड़ियों को अपनाया। फलस्वरूप दो ही चार वर्षों के अन्दर अनेक फैक्टरियाँ खुल गईं, और प्रति वर्ष हजारों की संख्या में मोटरगाड़ियाँ इन फैक्टरियों में तैयार होने लगीं।

भारी संख्या में मोटरगाड़ियों का निर्माण

जब मोटरकार के रूप में एक निहायत कमखर्च, सुडौल और तेज चालवाला वाहन दुनिया को मिल गया तो उसकी माँग की बाजार में एकबारगी ही मानों बाढ़ आ गई और फलस्वरूप पचीसों फैक्टरियाँ केवल मोटरें बनाने के लिए ही खुल गईं। इन्हीं फैक्टरियों ने कालान्तर में विशाल कारखानों का रूप ले लिया, जिनमें हजारों की संख्या में प्रति वर्ष तरह-तरह के डिजाइन की मोटरें तैयार होने लगीं। क्या आप सोच सकते हैं कि आज के दिन ऐसे कारखाने किस गति और परिमाण में मोटरों का उत्पादन करते हैं? आपको यह जानकर अचरज होगा कि अमेरिका के फोर्ड के मोटर के कारखाने में, जो संसार का इस वाहन के उत्पादन का सबसे बड़ा कारखाना है, प्रति दिन कई मोटरों की औसत के हिसाब से उत्पादन होता है! निस्संदेह यह तभी संभव हो सकता है, जब कि मोटर के प्रत्येक छोटे-से-छोटे पुर्जे के निर्माण के लिए भी अलग-अलग विभाग हों और उन सब विभागों में साथ-ही-साथ काम चलता रहे। इसके अलावा कारखाने के कुछ विभागों में केवल विभिन्न पुर्जों को जोड़कर पूरी गाड़ी तैयार करने का ही काम होता हो। कुछ में रँगाई-पोताई ही चलती रहे, कुछ में मोटर के गद्दे-तकिए वगैरह ही सिले जाते रहें, कुछ में उसके इंजिन की जाँच ही होती रहे, और इन सभी कार्यों की ऐसी शृंखला बँधी रहे कि प्रत्येक विभाग से एक ही जैसे हजारों पुर्जे प्रति दिन तैयार होते रहें। वस्तुतः यही हो रहा है। इस सिलसिले में अमेरिका के धनकुबेर हेनरी फोर्ड का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सर्वसाधारण के लिए उपयोगी सस्ती और पायदार मोटरगाड़ियाँ तैयार करने का श्रेय हेनरी फोर्ड को ही प्राप्त है। आज फोर्ड की मोटरें और लारियाँ संसार के सभी देशों में पायी जाती हैं।

(ऊपर) मोटरकार का गतिनिर्देशक यंत्र
पहिये की धुरी जितनी अधिक तेजी से घूमती है, उतनी अधिक तेजी से गवर्नर के लट्टू नाचते हैं। फलस्वरूप गवर्नर के लट्टू बिन्दीदार स्थिति पर आ जाते हैं। अतः दंतचक्र का छल्ला दाहिनी ओर खिसक आता है और अपने साथ सुई को भी डायल पर घुमाता है। इस तरह कार की गति मीलों में अंकित हो जाती है।

(नीचे) बेंज कम्पनी द्वारा बनाई गई मोटरकार
जो १० मील प्रति घंटा तक दौड़ लगा सकती थी।
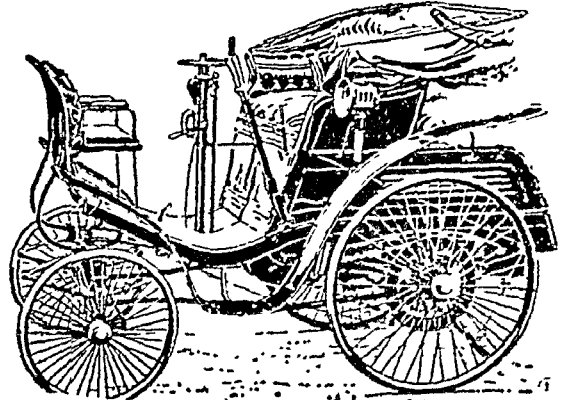
मोटर इंजिन का क्रैंक-शैफ्ट पुर्जा ढाला जा रहा है

कहा जाता है कि पूरी मोटर तैयार करने के लिए बीस हजार पुर्जों की आवश्यकता होती है।

मोटरें कैसे बनाई जाती हैं

मोटर-गाड़ी तैयार करने मे २० हजार पुर्जो की आवश्यकता पड़ती है। एक बड़े दालान में विचित्र ढंग की क्रेन तथा पेटीदार मशीनो के जरिये हर एक पुर्जे बनकर ठीक समय पर उपयुक्त स्थान पर पहुँच जाते है, ताकि मोटर की बॉडी में यथास्थान वे फिट कर दिये जायँ। मिस्त्री चुपचाप अपनी जगह पर खडा रहता है और पुर्जे स्वयं उसके सामने एक-एक करके पहुँचते रहते हैं। वह केवल दो-एक बोल्टू कस दिया करता है या स्क्रू घुमा देता है। कार का मुख्य ढाँचा या चेसिस पहले ड्रिलिंग रूम मे जाता है, जहाँ जितने सूराख की जरूरत होती है, ठीक उतने ही सूराख उस ढाँचे मे मशीन द्वारा बना दिये जाते है। तदुपरान्त वह आगे बढ़ता है और एक बड़े कमरे मे इंजिन, धुरी आदि अंग मशीन द्वारा उसमे फिट कर दिए जाते हैं।

इस कमरे मे भेजे जाने के पहले स्टोर रूम मे ही इन पुर्जो की जाँच विशेषज्ञों द्वारा भलीभाँति कर ली जाती है। अब पहियों की बारी आती है। हवा से भरे टायर पहियो पर चढ़ाये जाते है। फिर इन पहियो को मशीनो की मदद से चेसिस की धुरी पर चढ़ाते है। चेसिस के तैयार हो जाने के बाद क्रेन द्वारा बॉडी को लाकर ठीक चेसिस के ऊपर रख देते है।

मोटर की बॉडी का भी आद्योपांत निर्माण फैक्टरी के अन्दर ही होता है। बढ़िया प्रकार के सागौन के लट्ठों के ठीक आकार के टुकड़े काटकर बॉडी में यथा-स्थान फिट कर देते हैं। अब तो कारखानों में अनेक मशीनें इस तरह की बन गई हैं जो फौलाद की चद्दरों को एक ही बार में मरोड़ कर बॉडी की शक्ल मे बदल देती हैं। एकदम ऐसी नपे-तुले आकार की बॉडी तैयार हो जाती है कि उसमें एक सूत का भी अन्तर नही पड़ने पाता।

अंतिम साज-सिंगार

बॉडी पर कम-से-कम दस बार विभिन्न वार्निशो से पालिश की जाती है। तदुपरान्त झालरें, गद्दे, खिड़कियों के शीशे आदि सजावट की चीजें, जो अपने-अपने गोदाम से तैयार होकर आती हैं, मशीनो द्वारा ही बॉडी मे फिट कर दी जाती है। चेसिस पर बॉडी के फिट हो जाने के बाद गाड़ी में गियर बाक्स, नम्बर प्लेट, स्क्रीन, ब्रुश और हार्न आदि लगाये जाते है। सर्वाङ्गपूर्ण हो जाने के बाद यह गाड़ी विशेषज्ञ के पास जाती है। विशेषज्ञ इसके प्रत्येक अग की भलीभाँति जाँच करता है। उदाहरणार्थ, वह देखता है कि पथरीली जमीन पर बहुत जल्द मोटर का टायर घिस तो नही जाता। विशेषज्ञ द्वारा फिट करार दिये जाने पर मोटरकार पर आखिरी बार पालिश चढ़ाई जाती है और तब उसे शोरूम मे ला खड़ा करते है।

मोटर-बसें

इन कारखानों में हर तरह के काम के लिए मोटर-गाड़ियाँ तैयार की जाती है। लम्बी यात्रा मे रात-दिन चलनेवाली मोटर-बसों मे यात्रियो के आराम और सुविधा
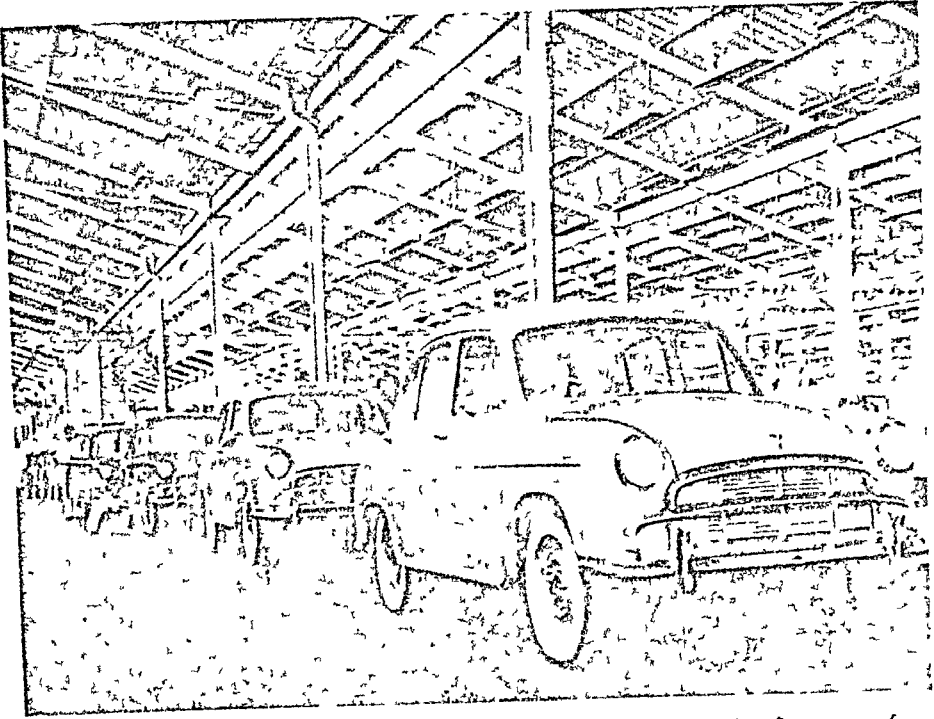
स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद मोटरकार के उत्पादन की दिशा में भी पिछले दस वर्षों में भारत ने अपने कदम बहुत-कुछ आगे बढ़ाए हैं, जिसकी साक्षी इसी देश के एक कारखाने 'हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड' में निर्मित ये सुन्दर मोटरगाड़ियाँ हैं। नीचे उक्त कारखाने के भीतर की एक झाँकी है।
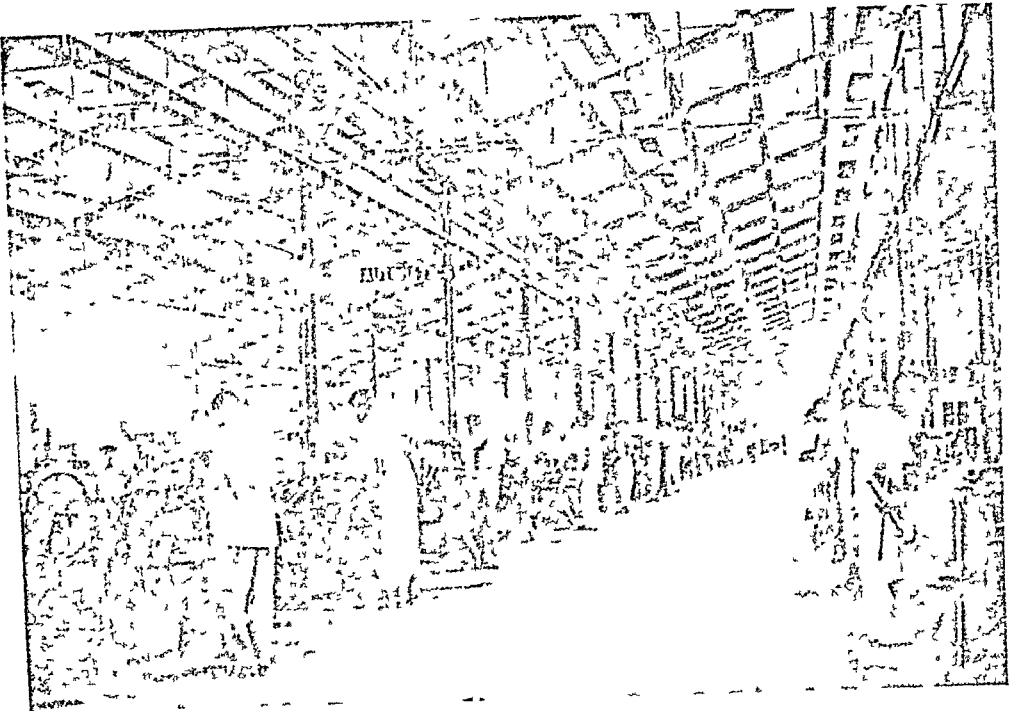
(ऊपर) फोर्ड के सुप्रसिद्ध मोटर के कारखाने के एक विभाग मे मोटर की ऊपरी बॉडी का निर्माण करनेवाले साँचे को उपयुक्त आकार दिया जा रहा है। (नीचे) उक्त कारखाने के एक भाग में सिलिंडर में एक ही बार में तमाम आवश्यक छेद बना दिए जाते हैं।
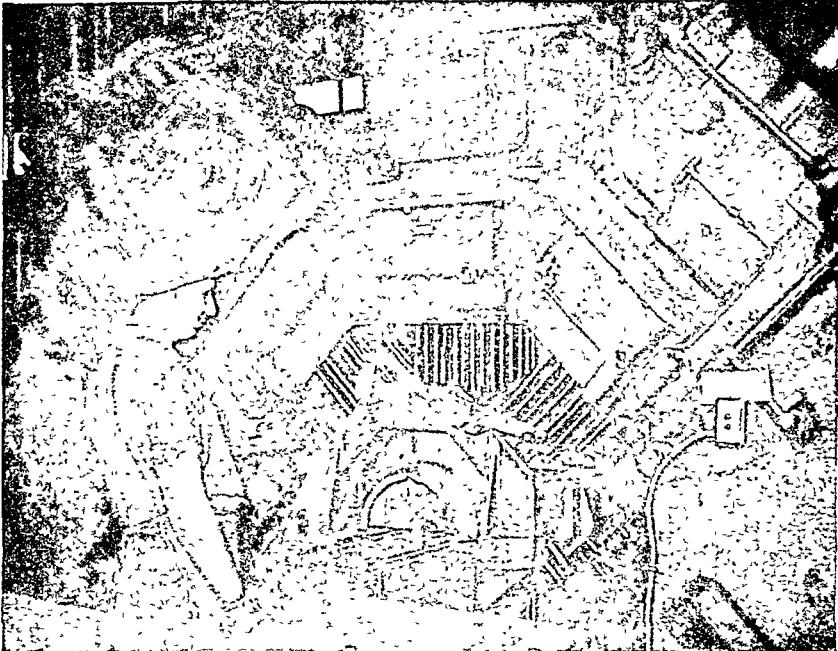
का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। ऐसी मोटर-बस दो तल्ले की भी होती है।

अच्छी बसों के पिछले पहिये के पास आवाज जज्ब कर लेनेवाला एक यंत्र लगा रहता है, जो गाड़ी के अन्दर व्यर्थ का शोर-गुल नही पहुँचने देता। बस की दीवालें भी दुहरी होती है, अतः बाहर का शोर भीतर घुसने नही पाता। साथ ही एयर-कन्डिशनिङ्ग की सहायता से मोटर-बस के भीतर इच्छानुसार जैसा चाहे वैसा ताप बनाये रखने का भी प्रबंध रहता है। ऊपर के तल्ले में बैठने के लिए गद्देदार कुर्सियाँ लगी रहती हैं—रात के समय इन्हें हटाकर वहाँ सोने के लिए बर्थ लगा सकते है। रेफ्रीजरेटर और रेडियो भी बस के अन्दर मौजूद रहते हैं। बस के यात्री रेडियो द्वारा संसार के हर कोने का समाचार प्राप्त कर सकते है। हजारों मील की दूरी पर होनेवाले संगीत का भी वे भरपूर आनन्द उठा सकते है।

युद्ध की बख्तरबंद गाड़ियाँ

युद्ध के मैदान में भी मोटरों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मशीनगन और तोपों से सुसज्जित, पेट्रोल-इंजिन द्वारा परिचालित, टैङ्क नामक युद्ध-यान दानवों की तरह झाड़-झंखाड़, दलदल, बालू, पत्थर सब-कुछ को लाँघते हुए ३०-३५ मील प्रति घण्टे की रफ्तार से आगे बढ़ सकते हैं। कुछ टैङ्क तो इतने शक्तिशाली होते हैं कि वे दीवालो को भी तोड़-कर अपने लिए रास्ता बना लेते है! अब तो ऐसे टैङ्क भी बन गए है, जो स्थल और जल दोनो पर आसानी से चल सकते हैं। ये सब एक प्रकार की मोटर-गाड़ियाँ ही है!

बर्फीले प्रान्तों में चलने-वाली स्लेज-गाड़ियों में भी पेट्रोल इंजिन फिट किये गये हैं। इन गाड़ियों में इंजिन का सम्बन्ध किसी पहिये से नही होता, क्योंकि स्लेज में पहिये होते ही नही। इंजिन खूब तेजी के साथ अपने सामने एक प्रोपेलर को घुमाता है। प्रोपेलर के पंख जब हवा को काटते हैं तो स्लेज भी बर्फ पर फिसलती हुई आगे को बढ़ती है। मोटर-स्लेज की रफ्तार अक्सर १५ मील प्रति घण्टे तक पहुँच जाती है।

मोटरों के निर्माण में प्रतिदिन नई-नई बातों का समावेश किया जा रहा है। बॉडी को आरामदेह बनाने का प्रयत्न तो निरंतर जारी है ही, इंजिन की शक्ति बढ़ाने के प्रश्न को हल करने मे भी लोग किसी प्रकार पीछे नही है। दौड़-प्रतियोगिता का रेकार्ड तोड़ने के लिए नित नए ढंग की मोटरें तैयार की जाती है। रेसवाली मोटरकार की बॉडी मे कोना कही पर भी नही रखते। बॉडी को पूर्णतया स्ट्रीम-लाइन्ड कर देते है, ताकि मोटरकार पर हवा की अवरोधक शक्ति का प्रभाव बहुत ही कम पड़े।

३५० मील प्रति घंटे की रफ्तार

इंगलैंड में १९३८ में एक रेसिंग कार पूरे ९ वर्ष के अनुसन्धान के उपरान्त तैयार की गई। इस कार में न तो क्लच थे, न गियर ही। इसकी शक्ल भी एक विशालकाय अण्डे की तरह बनाई गई थी, ताकि कितनी ही तेज रफ्तार से कार क्यों न जा रही हो, हवा इसे छूकर चुपचाप एक
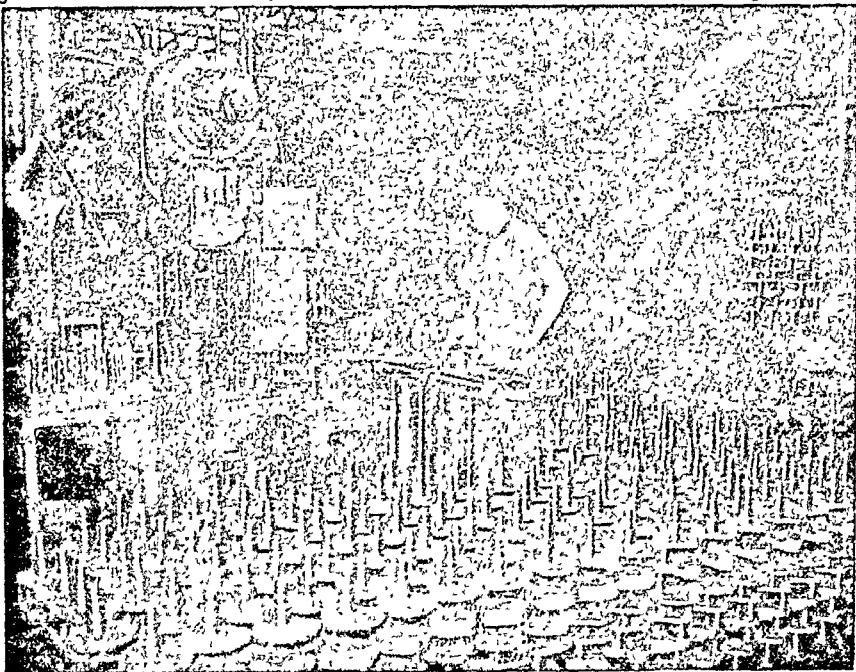
मोटर इंजिन का क्रैंक-शैफ्ट नामक पुर्जा समतुलित बनाया जा रहा है

नीचे जमीन पर यही पुर्जा सैकड़ों की संख्या में रखा दिखाई दे रहा है। भारी संख्या में मोटरें बनाना इसीलिए संभव हो पाया है कि कारखाने के अलग-अलग विभागों में उसके विभिन्न पुर्जे तैयार होते है जिन्हें अंतिम विभाग में केवल जोड़ देने की आवश्यकता शेष रहती है और पूरी मोटर तैयार हो जाती है

ओर को फिसल जाय। इस विचित्र कार की रफ्तार ३५० मील प्रति घण्टा तक जा पहुँची !

रॉकेट-कार

किन्तु दौड़ में भाग लेनेवाले साहसी वीर इससे भी अधिक शक्तिवाले इंजिन बनाने के प्रयत्न मे लगे हुए हैं। हम जानते हैं कि जिस समय बन्दूक से गोली छूटती है, बन्दूक को एकाएक पीछे धक्का पहुँचता है और वह पीछे हट जाती है। आतिश-बाजी की चरखी भी इसी सिद्धांत पर बनती है। बारूद जब जोरो के साथ बाहर को निकलती है तो चरखी धक्का खाकर उलटी दिशा में घूमने लगती है। राकेट-कार के इंजिन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इस कार के पिछले भाग में ऐसा इजिन लगा रहता है, जिसमें सैकड़ो ऐसी नलियाँ रहती है, जिनका मुँह पीछे की ओर रहता है। प्रत्येक नली के अन्दर बारूद भरी रहती है, एक-एक सेकन्ड के अन्तर पर प्रत्येक नली की बारूद विद्युत् की चिनगारी द्वारा विस्फोट कराई जाती है। इस प्रकार रास्ते भर राकेट-कार को आगे बढ़ने के लिए शक्ति मिलती रहती है। बारूद के स्थान पर राकेट-कार में द्रव ऑक्सीजन का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा चुका है।

राकेट इंजिनवाली स्लेज गाड़ी की रफ्तार भी ३०० मील प्रति घटे तक पहुँच चुकी है। राकेट-कार अभी अपने प्रयोगात्मक काल मे से ही होकर गुजर रही है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसका भविष्य उज्ज्वल है।

मोटर के कारखाने के एक विभाग में मोटर-इंजिन के सिलिंडर का निर्माण किया जा रहा है

[फोटो—'फोर्ड मोटर कंपनी ऑफ इंडिया लि०' के सौजन्य से]

नए ईंधनों की खोज

गति के प्रश्न की तरह ईंधन का प्रश्न हल करने में भी वैज्ञानिक जी-जान से जुटे हुए है। यह सभी जानते हैं कि संसार में मिट्टी के तेल या पेट्रोल जैसे खनिज तेल का कोई ऐसा भाडार नही है, जो कि कभी चुके ही नही। वास्तव में जब से पेट्रोल का प्रयोग अधिकाधिक बढ़ने लगा है, तब से मोटरवालों को चिंता होने लगी है कि यदि यही ढर्रा रहा तो आखिर पेट्रोल से चलने-वाले इन सभी वाहनो की उस दिन क्या गति होगी, जब खनिज तेल दुर्लभ हो जायगा। इसी समस्या को लेकर अभी से मोटरों में दूसरे-प्रकार के ईंधनों को काम में लाने की योजनाएँ होने लगी है। कुछ मोटरें ऐसी निकली है, जिनमें पेट्रोल के बजाय 'क्रूड आयल' ही जलाया जाता है, तो कुछ मे कोयले की गैस का ही प्रयोग होने लगा है। अचरज नही यदि एक दिन पेट्रोल के बजाय कोई दूसरा ही नवीन ईंधन संसार की सभी मोटरो में काम में लाया जाने लगेगा।

जो कुछ भी हो मोटरों के विकास की दौड़ अभी समाप्त नही हुई है। उसे नई-नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने के प्रयत्न लगातार जारी है। कह नही सकते कि उसका अंतिम रूप क्या होगा। इधर जब से राकेट और जेट-इंजिन के विकास में प्रगति हुई है, तब से संभावना यही मानी जाने लगी है, इस विकास के साथ भ-विष्य की मोटरें पेट्रोल को तिलांजलि देकर कदाचित् रॉकेट, जेट या परमाणु-शक्ति से ही चलने लगेगी और सम्भवत: उनकी शक्ति एवं रफ्तार में अतिशय वृद्धि हो जायगी।

प्राचीन मिस्र की कला

आज से कुछ ही वर्ष पहले यदि कोई यह घोषणा करता कि प्राचीन मिस्र की कला हर दृष्टि से यूनान की कला के बराबरी की या रोम की कला से कहीं बढ़-चढ़कर है तो निस्संदेह उसको अच्छी फटकार मिलती! और कुछ नहीं तो उसकी खिल्ली जरूर उड़ाई जाती। किन्तु इसके विपरीत आज उलटे यूनान और रोम की कला को मिस्र की कला ही की कसौटी पर जाँचा जाता है। प्रागैतिहासिक युग के धुंधले कोहरे से बाहर निकलने पर मिस्र, बेबिलोनिया, आदि ही में हमें कला के क्षेत्र में सभ्य मनुष्य के सबसे प्राचीन स्मारक मिलते हैं। आइए, इस लेख में पहले प्राचीन मिस्र की कला का परिचय आपको कराएँ।

मानव सभ्यता का कांस्य अथवा ताम्रयुग अपने पूर्ववर्ती प्रस्तर-युग की भाँति सहस्रों वर्ष तक चलता रहा। इस युग में भी मनुष्य का जीवन उतना ही कठोर या अपरिष्कृत एवं शुष्क था, जितना कि प्रस्तर-युग में, किन्तु इसी काल मे पृथ्वी पर मनुष्य के अस्तित्व को सुगमतर बनाने वाली जीवन की अनेक सुविधाओं का आविष्कार हुआ। ज्यों-ज्यों एक के बाद दूसरी शताब्दियाँ बीतती गईं, आदि मनुष्य ने मक्का, जौ, बाजरा और सन आदि के उपयोग और उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त किया और घरेलू कार्यों के लिए पशुओं का पालना सीखा। कुछ और आगे चलकर धातुओं को शोधने या पृथक् करने की कला का भी अनुसन्धान हुआ। सुवर्ण संभवतः सर्वप्रथम धातु थी, जिसका मनुष्य ने अनुसन्धान किया। इसके पश्चात् ताँबे (ताम्र) की बारी आई। कांस्य युग के मनुष्यों को किसी शुभ संयोगवश यह बात ज्ञात हो गई थी कि शुद्ध ताँबे के साथ टिन धातु का मिश्रण कर देने से उसमें बहुत मजबूती आ जाती है। इस मिश्रण के परिणामस्वरूप जो धातु उन्होंने बनाई, उसी की संज्ञा इस प्रागैतिहासिक युग या काल को दे दी गई है।
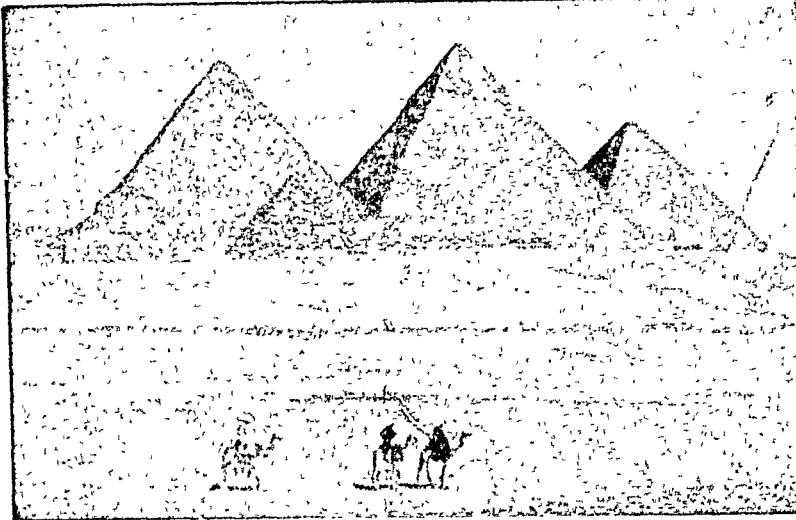
प्राचीन मिस्र के गौरव के चिरंतन प्रहरी—पिरामिड

(ऊपर) गिज़े के तीन महान् पिरामिड, जिनके संबंध में अरब इतिहासज्ञ अब्दुल लतीफ ने निम्न उद्गार प्रकट किये है—"सभी वस्तुएँ काल से भयभीत रहती हैं, किन्तु पिरामिडों से स्वयं काल भी डरता है।" (दाहिनी ओर से बाईं ओर को) ये तीनों पिरामिड चतुर्थ वंश के समय से, लगभग ५ हजार वर्ष पूर्व, क्रमशः खूफू, खैफरे और मैनकुरे द्वारा बनवाये गये थे।
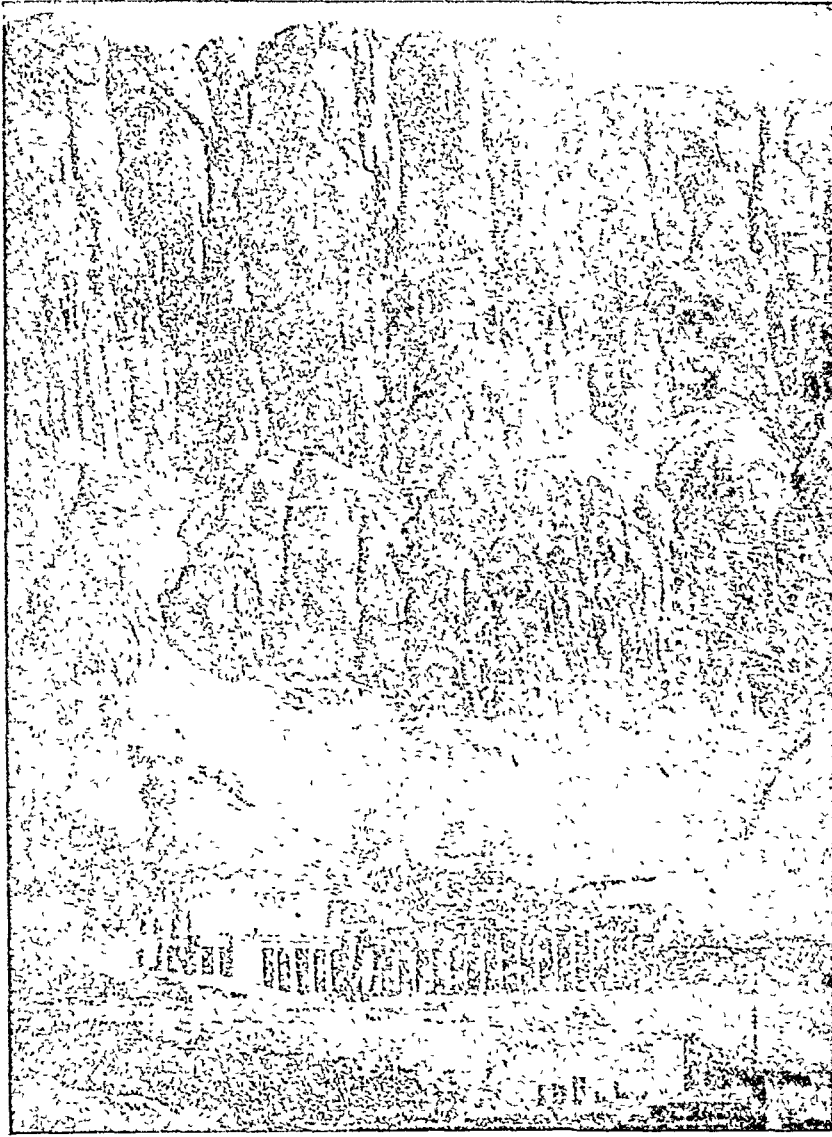
देर-अल-बहारी का प्राचीन मन्दिर और उसके पीछे का कगार

यह मन्दिर आज से करीब ३५०० वर्ष पूर्व बनाया गया था। मन्दिर के पीछे चट्टानों के ऊंचे खड़े कगार पर ध्यान दीजिए। मिस्रवालों की इमारतों की रचना-शैली पर इन चट्टानों के आकार और रूप की स्पष्ट छाप है, जिससे प्रतीत होता है कि इन्हीं से उनको अपनी स्थापत्यशैली के निर्माण में मुख्य प्रेरणा मिली होगी।

प्रवृत्ति आभूषणों की सजावट करने की ओर अधिक थी। इसके अतिरिक्त स्थापत्य की ओर भी उनका झुकाव होने के प्रमाण पाये जाते हैं। शिलाखण्डों को एक-दूसरे पर रचकर बनाये गए आदिम शिलागृहों (देखिए पृष्ठ ३१९ का चित्र) अथवा पत्थर की समाधियों में (जो आगे चलकर कई शताब्दियों बाद पुरातन मिस्र की कला में अपने विकास की चरम सीमा को पहुँच गए) इस दिशा में हमें उनकी आरम्भिक आकांक्षाओं के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के आरम्भिक शिलागृह या 'डोलमेन' पुरातत्ववेत्ताओं को ब्रिटैनी के समुद्र-तट से कुछ हटकर गैवरीनिज नामक द्वीप मे मिले हैं। इसी तरह के अन्य नमूने योरप में अन्यत्र फ्रान्स, डेनमार्क, स्वीडेन, स्पेन और पुर्तगाल में भी पाये गये है। इन आरम्भिक रचनाओं मे जो शिल्पकारी है, वह कतिपय दुर्लभ उदाहरणों को छोड़कर प्रायः आयताकार अर्थात् ज्यामिति की रेखाओं का अंकन मात्र है; उसमें मनुष्य या पशु के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

कांस्य युग के कला-स्मारक

कांस्य युग के मानव की कला के बहुत-से नमूने खोज निकाले गये है। इनमे उस काल की नक्काशीदार तलवारें, कंगन, खंजर, नक्काशीदार तावीजनुमा तमगे तथा अन्य कई वस्तुएँ उल्लेखनीय है। प्रस्तर-युग के लोगों की भाँति दृश्य पदार्थो के चित्रण की अपेक्षा कांस्य युग के लोगों की

मिस्र की ऐतिहासिक और प्राकृतिक पृष्ठभूमि

प्राचीन मिस्र के इतिहास का वर्णन इसी ग्रंथ के तृतीय खंड में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसलिए

इस पुरातन देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में यहाँ विशेष कुछ कहना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। किसी भी देश की कला वहाँ के निवासियों की वेशभूषा और चरित्र-संबंधी विशेषताओं की भाँति उस देश की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। वह उस देश विशेष की अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य रखनेवाले विचारों और भावनाओं ही का स्पष्टीकरण है। एक मात्र निकृष्ट कला वही है, जो यांत्रिक बन गई हो, जिसमें वास्तविक भावनाओं और विचारों को व्यक्त करने की प्रेरणा नष्ट हो चली हो और जिसका लक्ष्य या कार्य ऐसी शैलियों और प्रवृत्तियों का अनुकरणमात्र रह गया हो, जो देश विशेष के वातावरण की वास्तविक अवस्थाओं से तनिक भी संबंध न रखती हों। इस पैमाने से नापने पर प्राचीन मिस्र की कला कितनी खरी उतरती है, आइए, इस प्रकरण में देखें।

अबु सिम्बेल के महान् देवालय के सभामण्डप का एक दृश्य

छत की चित्रकारी की बारीकी और दोनों ओर खड़ी भीमकाय मूर्तियों की विशालता के अन्तर पर ध्यान दीजिए। यह मंदिर ग्यारहवें राजवंश के सम्राट् रामसेज द्वितीय द्वारा लगभग १२५० ई० पू० (अर्थात् आज से लगभग ३००० वर्ष पूर्व) बनाया गया था।

मिस्र की प्राकृतिक अवस्थाओं की तात्विक विशेषताओं में सर्वप्रथम वहाँ के सूर्य का असह्य प्रचण्ड ताप है। दूसरी विशेषता है वहाँ के बालुकामय मरुप्रदेश की सुदूरव्यापी अनुर्वरता और बीच की सङ्कीर्ण घाटी की सुरम्य हरियाली का पारस्परिक गहरा अन्तर या असंगति। और तीसरी मुख्य विशेषता है एक ही लंबे सिलसिले में वहाँ के समतल मैदान में फैले हुए अनाज के खेतों, बंजर पठारों और चूने या खड़िया पत्थर के स्तरों की दूर तक फैली हुई वे शृंखलाएँ, जिनके दोनों ओर सैकड़ों फीट ऊँची चट्टानें समान रूप में लगातार खड़ी चली गई हैं।

मिस्री सूर्य के निर्दय ताप की चकाचौंध के कारण ही वहाँ वातायन-रहित सपाट दीवालोंवाले भवनों का आविष्कार

हुआ। इन दीवालों में स्थान-स्थान पर उत्तरकालीन कला की निर्माण-शैलियों के ढंग की शिल्पकारी का प्रदर्शन नहीं था, बरन् उन पर उत्कीर्ण या चित्रित दृश्यों की भरमार थी। इस तरह दीवाल का धरातल भवन का भाग न होकर मानों चित्रित पेपिरस अथवा शिला-लेख का विस्तार-सा बन गया था। दीवारों, खंभों आदि पर उभड़ी हुई मूर्तियाँ प्रायः सुन्दर होते हुए भी विशाल मिस्री मन्दिरों के भीतर धुँधले प्रकाश के कारण स्पष्टतः नहीं दीख पड़ती थीं। अतः उन्हें विशेषतया स्पष्ट करने के लिए उन पर गहरा रंग चढ़ाया जाता था। रंग का यह प्रयोग वहाँ इतना अधिक होने लगा था कि रंग चढ़ाने के दौर में प्रायः अत्यंत उच्च कोटि की कलात्मक मूर्तियों पर भी एक प्रकार के गाढे मसाले का लेप या प्लास्टर चढ़ा दिया जाता था। इसके कारण बहुत-सी सुन्दर मूर्तियों की सुन्दरता का प्रायः बलिदान हो जाया करता था।

सम्राट् जोसेर का सीढ़ीनुमा पिरामिड

यह मिस्र की सबसे प्राचीन इमारतों में माना जाता है। इसकी रचना लगभग ५००० वर्ष पूर्व उस युग के महान् मिस्री स्थपति इमहोतेप ने की थी। इसी तरह के आदि पिरामिडों से आगे चलकर गिजे के महान् मिस्री पिरामिडों का विकास हुआ।

मरुभूमि के उस एकान्त वीरान के मध्य में पाये जानेवाली उष्णकटिबन्धीय वनस्पति की हरियाली की प्रचुरता का प्रतिबिम्ब हमें मिस्र की इमारतों में उनके बाहरी रूप की भव्यता और विशालता तथा भीतर की ओर बारीकी के साथ की गई अत्यंत सूक्ष्म शिल्पकारी के अद्भुत सामंजस्य में दृष्टिगत होता है। मिस्री कलाकारों की कृतियाँ यद्यपि दीर्घकाय होती थीं, परन्तु उनकी सजावट वे जौहरियों की भाँति करते थे। किसी अन्य स्थान पर जो बातें असंगत होतीं, वे ऐसी नैसर्गिक असंगति के साथ मिलकर सुसंगत प्रतीत होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों की ये दृढ़ाङ्कित आड़ी और सीधी रेखाएँ उस स्थापत्यशैली के निर्धारण में सहायक हुई हैं, जो इस प्रकार की पृष्ठभूमि के लिए अनुकूल है। भारतीय मन्दिरों के गगन-चुम्बी कगूरों में हिन्दू स्थापत्य-विशारदों ने हिमालय के शिखरों के उत्तुंग सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित किया था। इसी तरह मिस्री स्थापत्यकारों ने मिस्र के मैदानों की आड़ी रेखाओं और कगारनुमा पर्वतीय चट्टानों की सीधी रेखाओं का देर-अल-बहारी के मंदिर जैसे भवनों के निर्माण में पूर्णतया उपयोग किया है।

अटल स्थिरता और दृढ़ता—मिस्री कला के आदर्श

उपर्युक्त सिद्धान्त, जिनका प्रयोग मिस्र के स्थापत्यकला-विशारदों को अपने क्षेत्र में करना पड़ा, वहाँ की मूर्ति-कला पर दुगुनी शक्ति के साथ लागू हुए। विशाल आकार-प्रकार के रहस्यमय मिस्री मन्दिर में ग्रीस की मूर्तियों जैसी कोई भी मूर्ति एक तुच्छ खिलौने-जैसी प्रतीत होती है। ग्रीस की मूर्ति-कला की उल्लसित मांसलता नृत्य करते हुए चरवाहों के जीवन और लहराती नदियों के देश की उपज है। वह है उस क्षणभंगुर विश्व की वस्तु, जहाँ का सौन्दर्य अस्थिर है—वह अनंत के भाव को व्यक्त करनेवाले प्राकृतिक दृश्य अथवा स्थापत्य की वस्तु नहीं है। मिस्र के कलाकारों की मानसिक अवस्था को समझने के लिए हमें उन विशेषताओं या गुणों की ओर ध्यान देना पड़ेगा, जो उनके साहित्य में जीवन के आदर्श-स्वरूप माने गये हैं। प्राचीन मिस्र में अटल स्थिरता और शक्ति या दृढ़ता को सब गुणों से अधिक प्रशंसनीय समझा जाता था। वहाँ सार्वजनिक स्मारकों का नाम ही "स्थिर वस्तुएँ" था। मिस्रवासियों में शक्ति, स्थिरता, भव्यता, सामञ्जय और कर्मठता की भावना अत्यन्त पूर्ण रूप में

विद्यमान थी। इस भावना में सहानुभूति और दया का भी पुट था, जो उस विशाल ढांचे को चूने-सीमेंट की नाई संबद्ध किए हुए थी। मिस्री कलाकारों ने इन सारे जीवनादर्शों को अपनी कला में इस सत्यता और शक्ति के साथ सम्पुटित एवं अभिव्यंजित किया है कि उन सभी पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा है, जो उनकी कलाकृतियों की ओर आकृष्ट हुए हैं। उन्होंने अपने बाद आनेवाली किसी भी जाति की तुलना में सच्ची कला के सिद्धांतों का कहीं अधिक पूर्णता के साथ प्रतिपादन किया है।

कला की आदिभूमि

सूर्य की प्रखर किरणों से प्रकाशित मिस्र की भूमि मानवीय कला विकास की आदि जननी मानी जाती रही है। आदिम कन्दरा-निवासियों की कला को छोड़कर मानव-जाति की चित्रकला और मूर्तिकला के प्रारम्भिक रूप प्राचीन मिस्र की कला के ही चारों ओर केन्द्रित है। जिस समय यूनानी सभ्यता विकसित होने के प्रयत्न में लगी थी, उस समय भी मिस्र की गणना अत्यंत पुरातन काल से चले आ रहे एक वृद्ध देश के रूप में होती थी। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लैटो अपनी युवावस्था के दिनों में जब नील नदी की उपत्यका में स्थित मन्दिरों के दर्शनार्थ गया था, तब थीबी के पण्डितों ने उपेक्षापूर्वक उससे कहा था कि हम लोगों की दृष्टि में तुम यूनानी लोग अभी कल के बच्चे हो! यूनान के अन्य एक प्रसिद्ध पर्यटक और इतिहासवेत्ता हिरोडोटस ने भी, जिसकी इस पुरातन प्रदेश के इतिहास में बड़ी रुचि थी, इसकी अत्यधिक प्राचीनता के विषय में बड़े जोशीले शब्दों में लिखा है और यह धारणा प्रकट की है कि यूनान के देवताओं की कल्पना मिस्र के ही देवताओं के आधार पर की गई है। एक अन्य विद्वान् डीओडोरस लिखता है—"आदि मानव का उद्‌भव मिस्र में ही हुआ; क्योंकि वहाँ की जलवायु या ताप तथा नील नदी की भौतिक विशेषताएँ उनके विकास के लिए सबसे अधिक अनुकूल थीं। नील नदी की उर्वरा जलराशि ने ही आदि-काल के इन सर्वप्रथम अनुप्राणित मानवों को पुष्टि प्रदान की।"

रोमन साम्राज्य के गौरवशाली दिनों में भी मिस्र की ख्याति और लोकप्रियता कुछ कम न थी। फिली के मन्दिर की दीवारें रोमन काल के यात्रियों द्वारा खुरचकर लिखे गए नामों से भरी पड़ी हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्लाइनी ने

चार हजार वर्ष पूर्व की एक कमनीय मिस्री कलाकृति

थीबीज से प्राप्त ग्यारहवें वंश (लगभग २००० ई० पू०) की एक सुंदर प्रतिमा। परिचारिका की यह मूर्ति काठ की है और ऊपर से रँगी गई है। यह न्यूयॉर्क के मेट्रॉपालिटन म्यूजियम में सुरक्षित है।

पिरामिडों को मिस्र के सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त स्मारक बतलाया और फिलो ने भी इन प्राचीन गगनचुम्बी इमारतों का विस्तृत विवरण दिया है। अरबो के द्वारा मिस्र की विजय के बाद 'हज्ज' अर्थात् मक्का की यात्रा करनेवालों को काहिरा से परवाना (आज्ञा-पत्र) लेना पड़ता था। फलतः उन सबको पिरामिडों से भी कुछ-कुछ परिचय हो जाता था। अब्दुल लतीफ नामक एक अरब इतिहासवेत्ता का कथन है—"सभी वस्तुएँ काल से भयभीत रहती है, परन्तु पिरामिडों से स्वयं काल भी भय खाता है !"

पुनरुज्जीवन काल मे योरपवाले मिस्र को प्रधानतया उन सूचिकाकर स्तम्भों और मूर्तियो के द्वारा जानते थे, जिन्हें रोमन लोग मिस्र के प्राचीन स्मारकों से अलग-करके रोम ले आये थे। किन्तु यथार्थतः मिस्र की जानकारी लोगों को उस समय उतनी ही थोड़ी थी, जितनी यूनान की। वस्तुतः इस रहस्यमय प्रदेश पर पड़ा हुआ पर्दा अन्तिम रूप से तब तक नही उठा, जब तक कि गत शताब्दी का प्रारम्भ नही हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में ही नेपोलियन की सेनाएँ, उस प्रसिद्ध विजेता के व्यक्तिगत नेतृत्व में, वैज्ञानिकों, विद्वानो, प्रकृतितत्ववेत्ताओं, भूगोल-शास्त्रियों तथा इतिहास की पुरातत्त्ववेत्ताओं की एक टोली के साथ मिस्र की बालुकामयी भूमि पर एकत्रित हुईं। इस मण्डली की खोजों का ब्योरा इन सब विद्वानो के सम्मिलित प्रयास से तैयार की गई 'मिस्र का विवरण' नामक एक अनमोल ग्रंथ में सुन्दर नक्शों तथा नक्काशी द्वारा तैयार किये गये अन्य चित्रो सहित प्रकाशित किया गया। यह अमूल्य ग्रंथ फ्रांस के गौरव का स्मरण करानेवाले चिरस्थाई स्मारकों में से एक है।

रोजेटा अभिलेख मिस्र के रहस्य की कुंजी

फ्रेंच विद्वान् शैम्पोलियों द्वारा महीनों के कठिन अध्ययन के बाद किस तरह मिस्र की चित्रलिपि पढ़ी गई, इसकी भी कथा बड़ी दिलचस्प है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि ये चित्र-संकेत जादू टोना-सम्बन्धी गूढ़ार्थ द्योतक बेल-बूटे थे। लेकिन प्रसिद्ध 'रोजेटा शिलालेख' (जो अब ब्रिटिश म्यूजियम में है) के अन्वेषण ने उक्त चित्रलिपि के रहस्य को अन्तिम रूप से सुलझा दिया। यह पाषाण एक प्रकार की काली शिला की पतली चिपटी तख्ती-सी है, जिसकी सतह पर तीन भाषाओं में लेख खुदे है। इनमे से एक भाषा यूनानी है। शैम्पोलियों ने अपनी आश्चर्यजनक बुद्धि-प्रतिभा, तार्किक विवेचना तथा अध्यवसाय-युक्त अनुसन्धान द्वारा इस प्रस्तरखण्ड के मिस्री और दिमौटिक संकेतो के प्रत्येक अक्षर का अर्थ ढूंढ़ निकाला! उक्त चित्र-लिपि का गूढार्थ ज्ञात हो जाने के बाद मिस्र के इतिहास और पुरातन स्मारको के विषय मे हमारी जानकारी में उल्लेखनीय उन्नति हुई। अब प्राचीन मिस्र की भिन्न-भिन्न वंशावलियाँ लगभग संपूर्ण रूप से तिथिबद्ध कर ली गई है, और नाना प्रकार के खुदे हुए अथवा पैपिरस (एक प्रकार के कागज) पर लिखित लेखो को पढने में अब अड़चन नही होती।
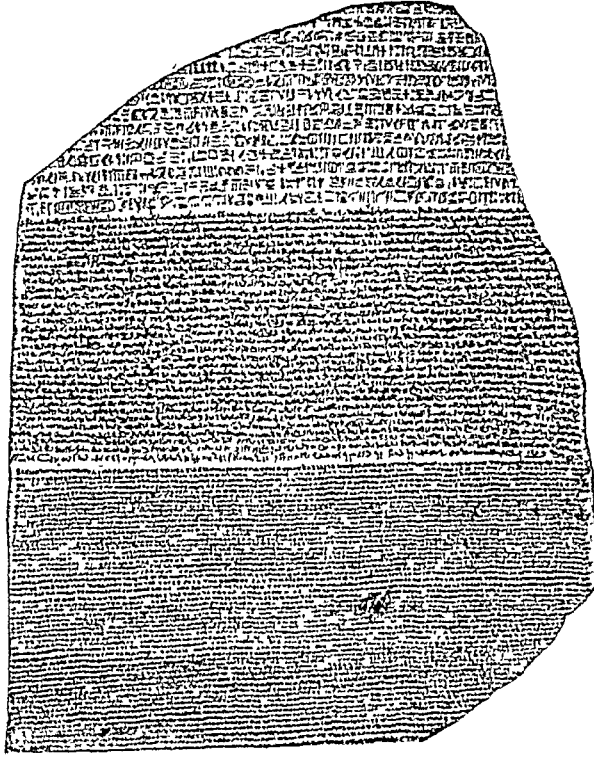
सुप्रसिद्ध रोजेटा शिलालेख

जिसे पाकर पुरातत्ववेत्ताओं को प्राचीन मिस्र के रहस्यमय अतीत का बंद द्वार खोलने की जादूभरी कुंजी मिल गई है। यह पत्थर का टुकड़ा, जो संसार की एक अनमोल निधि समझा जाता है, ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है।

मिस्र का कला-इतिहास पिरामिडों से भी पुराना है

एक समय यह विश्वास था कि चतुर्थ वंश के पिरामिड, मिस्री स्थापत्यकला की सबसे आदिम अवस्था के नमून है। परन्तु वर्तमान समय की खोजों ने इन तिथियों को बहुत अधिक पीछे ढकेल दिया है और अब साधारणतया यह मान लिया गया है कि पिरामिडो के निर्माण के युग से भी पहले

मिस्र में इससे भी कहीं पुराना एक प्रागैतिहासिक युग था, जिसमें प्राचीन मिस्र की कलाओं की प्रथम किरणें फूटीं थी। मिस्र के ऊपरी भाग की कन्दराओं तथा न्यूबिया के आरम्भिक शिला-गृहों या 'डोलमेनो' में उपर्युक्त प्रागैतिहासिक काल के अनेक अवशेष पाए जाते हैं। मिट्टी की प्रागैतिहासिक मूर्तियाँ, जिन पर गुदने के चिह्न हैं, तथा मिस्र के राजवंशों के युग से पहले के दो रंगों में रँगे हुए बर्तन, जिनके पेंदे के भाग टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के बीच पक्षी, नौकाओं एवं वन्य पशुओं के चित्रों से सुशोभित तथा गहरे लाल रंग से रँगे हुए हैं, प्रचुर राशि में पाये गये हैं। ये मिस्री कला के प्रारम्भिक प्रयत्नों का हमें बोध कराते हैं।
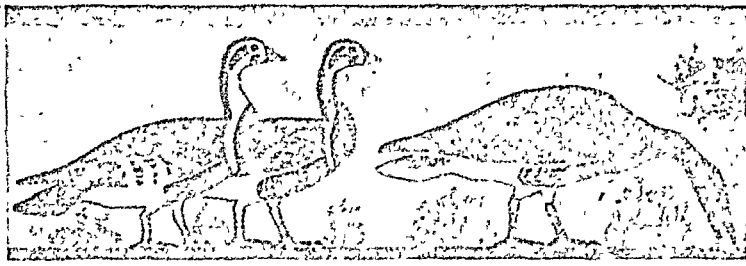
लगभग ५००० वर्ष पूर्व की मिस्री चित्रकला का एक नमूना

यह चतुर्थ राजवंश (लगभग २९०० ई० पू०) के समय की चूने के प्लास्टर पर की गई चित्रकारी का एक अंश है। इसमें मैदान में दाना चुगती हुई बतखें दिखाई गई हैं।

मिस्र के आदिम निवासियों का जीवन

दक्षिण की ओर से आनेवाले कुछ विदेशी विजेताओं के आगमन के पहले, संभवतः नील नदी की घाटी के प्राचीन निवासी नंगे घूमते थे और अपने शरीर पर उसी तरह गुदने गुदाकर उसे रँगते थे, जिस तरह नये प्रस्तर-युग के योरप-वासी भी करते थे। वे अपनी भौंहों और पलकों की रेखाओं को एक प्रकार के सुगन्धित सुरमे के प्रयोग द्वारा अधिक गहरी बना लेते थे, जैसा कि आजकल भी मिस्र तथा हमारे अपने देश में किया जाता है। उनमें से अधिकतर रौंदी हुई मिट्टी से बने झोपड़ों में रहते थे, जिनमें दरवाजों को छोड़कर खिड़की इत्यादि का पूरा अभाव था। केवल सम्पत्तिशाली लोग ही घर बना सकते थे। उनकी छत में लगे हुए शहतीरों को सँभालने के लिए नीचे एक या दो खम्भे लगे होते थे। घर के सामान में मिट्टी के भौंड़े बर्तन, चकमक पत्थर के चाकू, या छीलने के अन्य औजार, अनाज पीसने के लिए पत्थर की सिलनुमा चक्कियाँ, दो या तीन सन्दूक तथा सरपत या इससे बुनी
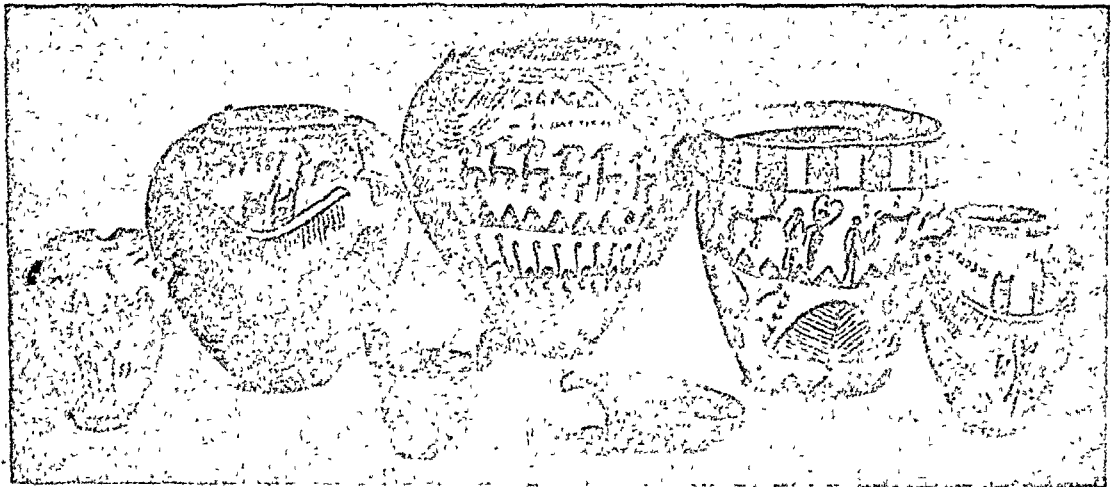
प्राचीन मिस्र के सुन्दर मिट्टी के पात्र

लगभग ४००० ईस्वी पूर्व (अर्थात् आज से लगभग ६००० वर्ष पूर्व) के मिट्टी के इन बर्तनों पर की गई रंगीन चित्रकारी इस बात की साक्षी है कि जहाँ तक इतिहास की पहुँच है, उस युग से भी पहले मिस्र में कला उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँच चुकी थी! ये बर्तन 'मेट्रोपालिटन म्यूज़ियम', न्यूयॉर्क, में सुरक्षित हैं।

अबू सिम्बेल की भीमकाय मूर्तियाँ

अबू सिम्बेल के देवालय के द्वार के आसपास चबूतरों पर बनी हुई ये चार भीमकाय मूर्तियाँ, जो एक ही चट्टान से काटकर बनाई गई है, प्रतापी सम्राट् रामसेस द्वितीय द्वारा बनवायी गई थीं। मिस्र के भवन-निर्माताओं में उक्त सम्राट् का प्रथम स्थान है।

चटाइयाँ होती थी। इतिहास के उष:काल के बहुत पूर्व ही मिस्रवासियो ने अपने आक्रमणकारियो से धातुओं का प्रयोग सीख लिया था। पुराने ढग के पत्थर आदि के औजार केवल उच्च श्रेणी के कुलीन लोग तथा पुरोहित-गण ही बड़प्पन या प्रतिष्ठा के चिह्न-स्वरूप अथवा धार्मिक महत्व की वस्तु समझकर सुरक्षित रखते थे।

दक्षिण से आनेवाले उन विदेशी आक्रमणकारियों ने ही, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, मिस्र के नागरिक संगठन तथा सभ्यता की नीव डाली। इन लोगों ने पहले जनता को कई जातियों में विभक्त किया। इनसे जो छोटे-छोटे राज्य बने, उनका पता अब भी उन प्रसिद्ध 'नोमो' अर्थात् शासन की दृष्टि से बनाये गये विभागो से चलता है, जो नील नदी के किनारे-किनारे फैले हुए थे। ये छोटी जातियाँ धीरे-धीरे परस्पर सम्मिलित होकर ऊपरी और निचले मिस्र के दो राज्यों में विभक्त हो गई, जो कि अन्त में मीनीज नामक प्रथम फेरो या सम्राट् के अधीन मिलकर एक हो गए। परन्तु इतिहासकार बहुत दिनो तक यह विश्वास करते रहे कि मीनीज और उसके वंशज राज-कीय वंशावली तैयार करनेवाले चारण-भाटों के उर्वर मस्तिष्क की ही कल्पना की उपज या एक पौराणिक गढंत मात्र है! यह धारणा उस समय निर्मूल सिद्ध हुई, जब कि प्रसिद्ध मिस्रविद् द्यु मारगन ने नेगादा मे मीनीज के शाही मकबरे को खोज निकाला। इन मकबरो में पाई जाने-वाली वस्तुओ में सबसे मनोरंजक वस्तुएँ पत्थर की वे लम्बी तख्तियाँ है, जिनमें ओजमयी भाव-भंगियो में मनुष्यो और पशुओ के विभिन्न रूप चित्रित है, और जो बहुत-कुछ प्रारम्भिक कैल्डियन चित्रो के ढंग के है। पत्थर की इन लम्बी तख्तियो द्वारा, जो कि कला की दृष्टि से बड़ी महत्व रखती है, मिस्र के प्रारंभिक लोगो के संबंध में बहुत-सी बाते मालूम हुई है।

मोमियाई या हजारों वर्षों से सुरक्षित शव

तीसरे वंश के काल में मृत्यु तथा अन्तिम सस्कार के सम्बन्ध में मिस्रवासियो की विभिन्न धारणाओ ने परिपुष्ट होकर रूढिगत आचार-विचार का वह अपरिवर्तनशील स्वरूप धारण कर लिया था, जो कि रोमनकाल तक प्रच-लित रहा। अस्तु, जीव-तत्त्व सीधे दूसरी दुनिया मे चला जाय, इस उद्देश्य से शव का जलाया जाना बन्द हो गया था, और उसके बदले शरीर के अन्दर की अँतड़ियाँ आदि निकालकर तथा एक गुप्त विधि द्वारा मसालों का प्रयोग करके भौतिक विनाश से उसकी रक्षा करना आव-श्यक समझा जाने लगा था। मसाले लगाने के बाद इस मोमियाई या सुरक्षित शव को इसी के लिए खास तौर से बनाये गये मृत व्यक्ति के आकार के एक ढाँचे में बंद करके तथा पत्थर के बने हुए ताबूत में रख कर एक गुप्त कक्ष या कन्दरा मे छिपा दिया जाता था। मृत व्यक्ति की

प्रतिछवि अलग चित्रों या मूर्तियों में उतार ली जाती थी; ताकि काल के प्रभाव से यदि मृतक के शरीर का अवशेष धूल में मिल जाय, तो भी उसकी प्रतिमूर्ति बच रहे।

जिन दिनों मिस्र की राजधानी मेम्फिस थी, उस समय मिस्री मकबरे दो प्रकार के होते थे—(१) कुलीन घराने की साधारण कब्रें, जिन्हें 'मस्तबा' कहा जाता था, (२) शाही मकबरे, जो पिरामिड के आकार के होते थे। 'मस्तबा' की बनावट कोठरी की तरह की होती थी, जिसकी भीतरी दीवालें मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं को अंकित करनेवाले चित्रों से भरी रहती थी। इस कोठरी के अतिरिक्त एक और कमरा रहता था, जिसमें मृत व्यक्ति की मूर्ति रहती थी, ताकि उसके साथ उसका 'का' अर्थात् लिङ्ग-शरीर भी रह सके। इस कोठरी के बहुत नीचे पत्थर की चट्टान को खोदकर बनाये गये एक कमरे में मृत व्यक्ति का सुरक्षित शव या मोमियाई रक्खी जाती थी। कभी-कभी मस्तबा के ऊपर से इस गुप्त कक्ष तक, जिसमें पत्थर का ताबूत रहता था, एक छड़ लगा दी जाती थी। यह गुप्त मार्ग सिरे तक बालू और पत्थर की कंकड़ी से भरा रहता था, ताकि मृत व्यक्ति की विश्रान्ति में कोई किसी प्रकार की बाधा न डाल सके। मेम्फिस की जनता में सब कोई निश्चित समाधि-स्थान या कब्रगाह में गाड़े जाते थे—इनमें निर्धन लोग तो मरुभूमि में एक मोमियाई के ऊपर दूसरी मोमियाई लादकर ही गाड़ दिये जाते थे, और कुलीन लोग
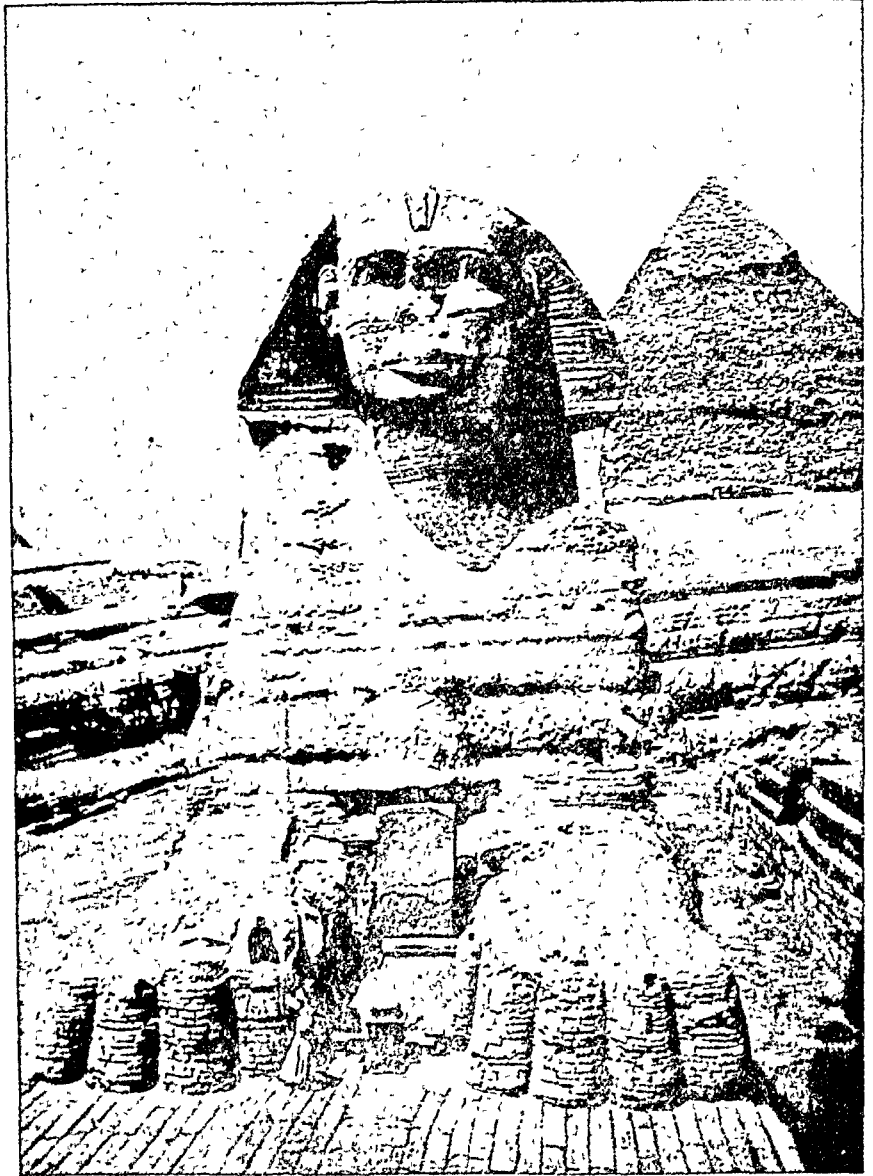
प्राचीन मिस्र की संस्कृति और शक्ति का अद्भुत स्मारक—'स्फिक्स' की विशालकाय नृसिंह-मूर्ति

स्फिक्स की यह रहस्यमय भीमकाय मूर्ति पिछले ५ हजार वर्षों से अपने समक्ष फैले हुए ओर-छोर-विहीन मरु-प्रदेश में उदय होने वाले अंशुमाली के स्वर्णिम मण्डल को निर्निमेष नेत्रों से निहारती आयी है। काल के अनन्त प्रवाह में एक के बाद दूसरी न जाने कितनी शताब्दियां ढुलकती चली गईं, किन्तु शाश्वतता का यह महाकाय प्रतीक अविचल, गंभीर, शांत मुद्रा में ज्यों-का-त्यों स्थिर बना हुआ है।

अबू सिम्बेल की भीमकाय मूर्तियाँ

अबू सिम्बेल के देवालय के द्वार के आसपास चबूतरों पर बनी हुई ये चार भीमकाय मूर्तियाँ, जो एक ही चट्टान से काटकर बनाई गई हैं, प्रतापी सम्राट् रामसेस द्वितीय द्वारा बनवायी गई थीं। मिस्र के भवन-निर्माताओं में उक्त सम्राट् का प्रथम स्थान है।

चटाइयाँ होती थीं। इतिहास के उष:काल के बहुत पूर्व ही मिस्रवासियों ने अपने आक्रमणकारियों से धातुओं का प्रयोग सीख लिया था। पुराने ढंग के पत्थर आदि के औजार केवल उच्च श्रेणी के कुलीन लोग तथा पुरोहित-गण ही बड़प्पन या प्रतिष्ठा के चिह्न-स्वरूप अथवा धार्मिक महत्व की वस्तु समझकर सुरक्षित रखते थे।

दक्षिण से आनेवाले उन विदेशी आक्रमणकारियो ने ही, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, मिस्र के नागरिक संगठन तथा सभ्यता की नीव डाली। इन लोगों ने पहले जनता को कई जातियों में विभक्त किया। इनसे जो छोटे-छोटे राज्य बने, उनका पता अब भी उन प्रसिद्ध 'नोमों' अर्थात् शासन की दृष्टि से बनाये गये विभागों से चलता है, जो नील नदी के किनारे-किनारे फैले हुए थे। ये छोटी जातियाँ धीरे-धीरे परस्पर सम्मिलित होकर ऊपरी और निचले मिस्र के दो राज्यों में विभक्त हो गई, जो कि अन्त में मीनीज नामक प्रथम फेरो या सम्राट् के आधीन मिलकर एक हो गए। परन्तु इतिहासकार बहुत दिनों तक यह विश्वास करते रहे कि मीनीज और उसके वंशज राज-कीय वंशावली तैयार करनेवाले चारण-भाटों के उर्वर मस्तिष्क की ही कल्पना की उपज या एक पौराणिक गढंत मात्र है! यह धारणा उस समय निर्मूल सिद्ध हुई, जब कि प्रसिद्ध मिस्रविद् द्यु मारगन ने नेगादा मे मीनीज के शाही मकबरे को खोज निकाला। इन मकबरों में पाई जाने-वाली वस्तुओं में सबसे मनोरंजक वस्तुएँ पत्थर की वे लम्बी तख्तियाँ हैं, जिनमें ओजमयी भाव-भंगियों में मनुष्यों और पशुओं के विभिन्न रूप चित्रित हैं, और जो बहुत-कुछ प्रारम्भिक कैल्डियन चित्रों के ढंग के हैं। पत्थर की इन लम्बी तख्तियों द्वारा, जो कि कला की दृष्टि से बड़ी महत्व रखती हैं, मिस्र के प्रारंभिक लोगों के संबंध में बहुत-सी बातें मालूम हुई हैं।

मोमियाई या हजारों वर्षों से सुरक्षित शव

तीसरे वंश के काल में मृत्यु तथा अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में मिस्रवासियों की विभिन्न धारणाओं ने परिपुष्ट होकर रूढ़िगत आचार-विचार का वह अपरिवर्तनशील स्वरूप धारण कर लिया था, जो कि रोमनकाल तक प्रच-लित रहा। अस्तु, जीव-तत्त्व सीधे दूसरी दुनिया में चला जाय, इस उद्देश्य से शव का जलाया जाना बन्द हो गया था, और उसके बदले शरीर के अन्दर की अँतड़ियाँ आदि निकालकर तथा एक गुप्त विधि द्वारा मसालों का प्रयोग करके भौतिक विनाश से उसकी रक्षा करना आव-श्यक समझा जाने लगा था। मसाले लगाने के बाद इस मोमियाई या सुरक्षित शव को इसी के लिए खास तौर से बनाये गये मृत व्यक्ति के आकार के एक ढाँचे में बंद करके तथा पत्थर के बने हुए ताबूत में रख कर एक गुप्त कक्ष या कन्दरा में छिपा दिया जाता था। मृत व्यक्ति की

प्रतिछवि अलग चित्रों या मूर्तियों में उतार ली जाती थी; ताकि काल के प्रभाव से यदि मृतक के शरीर का अवशेष धूल में मिल जाय, तो भी उसकी प्रतिमूर्ति बच रहे।

जिन दिनों मिस्र की राजधानी मेम्फिस थी, उस समय मिस्री मकबरे दो प्रकार के होते थे—(१) कुलीन घराने की साधारण कब्रें, जिन्हें 'मस्तवा' कहा जाता था, (२) शाही मकबरे, जो पिरामिड के आकार के होते थे। 'मस्तवा' की बनावट कोठरी की तरह की होती थी, जिसकी भीतरी दीवालें मृत व्यक्ति के जीवन की घटनाओं को अंकित करनेवाले चित्रों से भरी रहती थीं। इस कोठरी के अतिरिक्त एक और कमरा रहता था, जिसमें मृत व्यक्ति की मूर्ति रहती थी, ताकि उसके साथ उसका 'का' अर्थात् लिङ्ग-शरीर भी रह सके। इस कोठरी के बहुत नीचे पत्थर की चट्टान को खोदकर बनाये गये एक कमरे में मृत व्यक्ति का सुरक्षित शव या मोमियाई रखी जाती थी। कभी-कभी मस्तवा के ऊपर से इस गुप्त कक्ष तक, जिसमें पत्थर का तावूत रहता था, एक छड़ लगा दी जाती थी। यह गुप्त मार्ग सिरे तक बालू और पत्थर की कंकड़ी से भरा रहता था, ताकि मृत व्यक्ति की विश्रान्ति में कोई किसी प्रकार की बाधा न डाल सके। मेम्फिस की जनता में सब कोई निश्चित समाधि-स्थान या कब्रगाह में गाड़े जाते थे—इनमें निर्धन लोग तो मरुभूमि में एक मोमियाई के ऊपर दूसरी मोमियाई लादकर ही गाड़ दिये जाते थे, और कुलीन लोग

प्राचीन मिस्र की संस्कृति और शक्ति का अद्भुत स्मारक—'स्फिक्स' की विशालकाय नृसिंह-मूर्ति

स्फिक्स की यह रहस्यमय भीमकाय मूर्ति पिछले ५ हजार वर्षों से अपने समक्ष फैले हुए ओर-छोर-विहीन मरु-प्रदेश में उदय होने वाले अंशुमाली के स्वर्णिम मण्डल को निर्निमेष नेत्रों से निहारती आयी है। काल के अनन्त प्रवाह में एक के बाद दूसरी न जाने कितनी शताब्दियाँ ढुलकती चली गईं, किन्तु शाश्वतता का यह महाकाय प्रतीक अविचल, गंभीर, शांत मुद्रा में ज्यों-का-त्यों स्थिर बना हुआ है।

कार्नाक के देवालय के विशालकाय स्तम्भों की पंक्तियाँ

इन खंभों की ऊँचाई और चौड़ाई का कुछ अनुमान पास में खड़े आदमियों के आकार से तुलना करने पर किया जा सकता है। इन खंभों पर पत्थर की सुंदर खुदाई की गई है। मूल में यह विशाल सभा-मण्डप कैसा रहा होगा, इसका एक काल्पनिक रंगीन चित्र इसी पृष्ठ के सामने दिया जा रहा है।

कर मूर्ति का शेष भाग रेगिस्तान में उड़नेवाली बालू से ढक गया था, लेकिन हाल की खुदाइयो से समूची मूर्ति फिर सतह पर निकल आई है। इस मूर्ति के वक्ष-स्थल पर एक रोमन मन्दिर की गढ़न भी साफ दिखलाई पड़ती है। पिरामिडों के पास ही पाये गये एक शिलालेख से पता चलता है कि सम्राट् खूफू महान् ने इस मूर्ति का जीर्णोद्धार कराया था। इससे मालूम होता है कि लोग उस पुराने युग में भी स्फिक्स की मूर्ति को उच्च सम्मान की दृष्टि से देखते थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह मूर्ति कितनी अधिक पुरानी है।

स्थापत्य - शैली

पिरामिडो के आसपास अनेक देवालय भी पाये जाते है, जिनके संबंध में लोगों की यह धारणा है कि वे उत्तरकाल के राजवंशों द्वारा थीबी मे बनवाये गये मन्दिरों के आदिरूप है। हम लोगों की तरह ही मिस्रवाले भी इस लोक के जीवन की अपेक्षा परलोक का विचार अधिक रखते थे और इस कारण उनके मंदिर अधिकतर महान् मृतात्माओ (प्राचीन सम्राटों) की गाथाओं के चित्रो से भरे पाए जाते है। मिस्र के बड़े देवालयों में साधारणतया एक बाहरी आँगन होता है; उसके बाद देवालय के अधिष्ठाता पुरोहित के लिए उपासनालय होता है तथा सबसे भीतर एक गर्भ-मन्दिर होता है, जो परम पावन समझा जाता है और स्वयं देवता के लिए सुरक्षित रहता है। इस गर्भ-मंदिर या अन्त.कक्ष में केवल राजा के वास्तविक उत्तराधिकारियों को ही प्रवेश करने का अधिकार होता है।

आरंभिक राजवंशो द्वारा निर्मित सभी मन्दिरों मे हमे कमलनाल के आकार के विशेष प्रकार के स्तम्भ मिलते है, जिनके मुंडेरे कलियों के आकार के बनाये जाते थे। दूसरे प्रकार के स्तम्भ पैपिरस के पौधे या ताड़ के आकार के मिलते है। इन स्तम्भों का आधार (वह भाग जिस पर खंभा टिका होता है) सदैव बहुत छोटा होता था।

तत्कालीन जीवन की झाँकी

मस्तबाओ की दीवालों पर बहुतायत से पाये जानेवाले विविध रंगों की चित्रकारी या नक्काशी आदि द्वारा बनाये गये उभड़े हुए चित्रों से मिस्र के तत्कालीन जीवन और स्थापत्य-शैली पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। समाधि-स्थानों की ये दीवारें ऐसी चित्रशालाओं का काम देती है, जिनमें हमें उनके तत्कालीन जीवन की विविध अवस्थाओं के दर्शन होते है।
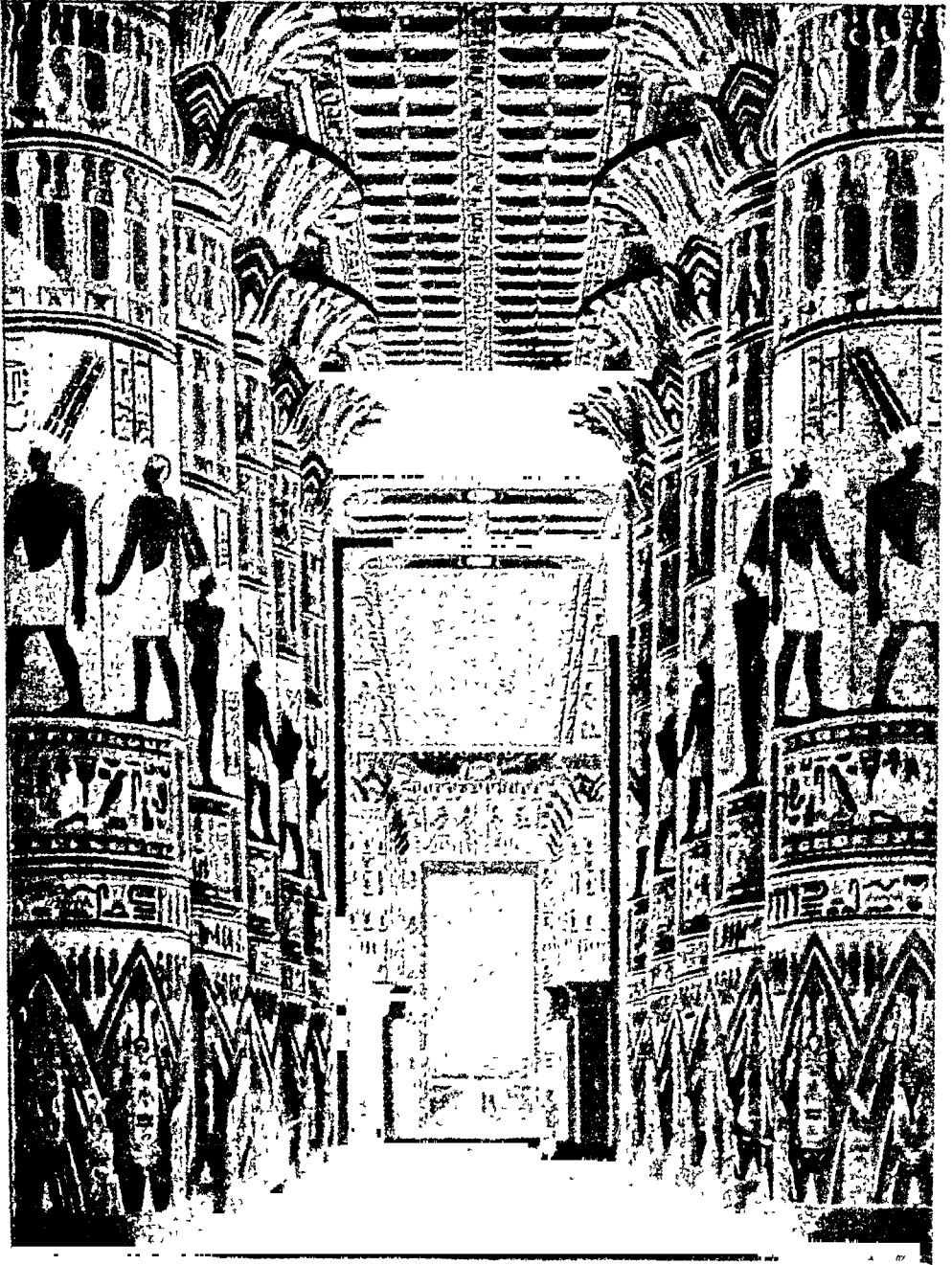
मिस्र की कला-साधना का एक गौरवशाली प्रतीक :: कार्नाक के देवालय का भीतरी कक्ष

यह कल्पना के आधार पर निर्मित चित्र है, किन्तु कार्नाक के मंदिर के भव्य खण्डहरों को देखकर कोई भी इस बात से असम्मत न होगा कि अपनी असली हालत में इस कलामण्डप का रूप कैसा भव्य रहा होगा। स्तम्भों की इन पंक्तियों के ध्वंसावशेष का फोटो अन्यत्र दिया गया है।

तत्कालीन कला में सामान्य लोक-जीवन की झांकी

पाँचवें वंश (लगभग २६५० ई० पू०) का यह उभरा हुआ भित्ति चित्र चूने के पत्थर में बना हुआ है। इस चित्र से तत्कालीन मिस्री लोक-जीवन की एक अच्छी झलक मिलती है। एक आदमी गधे का एक कान और एक पाँव पकड़े हुए है और दूसरा उसे पीछे से पीट रहा है। फिर भी गधा जैसा कि आदिकाल से उसकी प्रकृति है, अपनी ढिठाई से बाज नहीं आ रहा है! देखिये, विना टस से मस हुए ढीठ गधा किस तरह अपनी जगह पर अड़ा हुआ है!

वे भी कई रंगों में चित्रित हैं और हमें मिस्रवासियो के तात्कालिक जीवन की तड़कभड़क का भव्य परिचय देते हैं।

मंदिरों का महत्व बढ़ा

ग्यारहवें राजवंश के शासनकाल में मिस्र की राजधानी के मेम्फिस से उठकर थीबिज को चले जाने पर वहाँ की कला के स्वरूप में भी हम परिवर्तन होता देखते हैं और अब मृतात्माओं के चित्रो का स्थान देवी-देवताओ के भक्ति-पूर्ण चित्र ले लेते है। मकबरों का स्थान अब मन्दिर ले लेते हैं, और मध्यकालीन राज्य और साम्राज्य के शासक अब मुख्यतया मिस्री देवालय के प्रधान अधिपति अम्मोन-रा के पुत्र समझे जाने लगते है।

यह कहा गया है कि ज्यों-ज्यों हम नील नदी के ऊपर की ओर बढते जाते हैं, त्यो-त्यो हम आगे की शताब्दियाँ पार करते जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम दक्षिण की ओर जितने ही आगे बढते है, उतने ही अपने युग के निकट पहुँचते जाते हैं। पिरामिडो का बनाया जाना अब भी पहले ही की तरह जारी था, लेकिन अब वे शाही मकबरों के चिह्नमात्र ही रह गए थे, और पिछले समय की तुलना में बहुत छोटे पैमाने पर बनाये जाने लगे थे। दूसरी ओर मन्दिरों के परिमाण और उनकी विशालता में क्रमशः वृद्धि होती चली गई। केन्द्रीय पिरामिड़ के इर्दगिर्द बने हुए मन्दिरो में अब काफी चौड़े मण्डप और गैलरियाँ बनने लगी। थोड़े दिनों बाद पिरामिडों का बनाया जाना बिल्कुल ही छोड़ दिया गया, और चट्टानों को काटकर बनाये जानेवाले समाधि-भवन, जिनमे खर्च भी कम था, पहाड़ियों पर ही शिलाओ को काटकर बनाये जाने लगे। इनसे सबंधित देवालय कुछ ही दूरी पर घाटी के मुहाने पर मैदान में होते थे। असली समाधि का प्रवेशद्वार अब इस सावधानी के साथ छिपाकर रखा जाता था कि बाहर से समाधियों को देखकर किसी के लिए यह अनुमान करना असम्भव था कि अन्दर शानदार गैलरियाँ और वैभवपूर्ण खजाने भरे पड़े होंगे। लेकिन इतनी सावधानी बरतने पर भी मानव-लोभ की गृद्धदृष्टि के आगे उनमें से बहुत कम ही अधिक दिन तक टिक पाए। हिरोडोटस के जमाने तक तो कितने ही समाधि-भवन भ्रष्ट कर डाले जा चुके थे और उनके भीतर का सामान चुरा लिया गया था। पत्थर के ताबूतों मे जो मोमियाइयाँ बन्द थीं, उन्हे पुरोहितों ने उठाकर चुपके-से एक गुप्त समाधि-भवन में पहुँचा दिया, जहाँ बहुत-से

सम्राटों और रानियों के शवों को बिल्कुल बेढंगे तरीके पर एक दूसरे पर लाद दिया गया था। इसी दशा में प्रसिद्ध मिस्रविद् सर गैस्टन मैस्पेरो ने उन्हें बाद में ढूंढ निकाला था। इन मोमियाइयों के आवरण अब भी ज्यों-के-त्यों सुरक्षित थे, और उन पर उनके निर्माण कार्य का निरीक्षण करनेवाले राज्याधिकारियों के नाम अंकित थे।

नकली शवगृह

कभी-कभी समाधि-भवनों को आसानी से भ्रष्ट होने से बचाने और लुटेरों को धोखे में रखने के इरादे से झूठे शवगृह आदि भी बना दिये जाते थे। बड़ी मुश्किलों से छानबीन करने के बाद आधुनिक अन्वेषकों को होशियारी से छिपाकर रखे गये उन दरवाजों का पता चल पाया है, जिनसे होकर उन असली समाधि-भवनों को जाने का रास्ता बना था, जहाँ कि वास्तव में शाही मोमियाइयाँ रखी गई थीं। यद्यपि कुछ समाधि-भवनों की स्थापत्य-शैली में अवश्य परिवर्तन हो गया था, किन्तु उनको बनाते समय किन-किन संस्कारों के लिए क्या-क्या बातें होनी चाहिए, इस सम्बन्ध म अब भी पुरानी धारणा ही ज्यों-की-त्यों काम कर रही थी।

ढाई हजार वर्ष पूर्व के एक मिस्री कलाकार द्वारा चित्रित हब्शी, सेमिटिक और लीबियन जाति की विभिन्न मुखाकृतियों का रेखाचित्र

यह अद्भुत रेखाचित्र थीबीज में सेती प्रथम के समाधि-भवन में चित्रांकित है।

अबीडास और देर-अल-बहारी में इस प्रकार चट्टानों को काटकर बनायी गई अधिकतर समाधियों के साथ पहले की तरह मन्दिर भी जुड़े हुए हैं। ये समाधियों से कुछ दूरी पर मैदान में नदी के किनारे बनाये गये हैं। यहाँ देवताओं की पंक्ति में प्रतिष्ठित राजाओं की पूजा बड़े धूम-धाम के साथ शानदार ढंग से की जाती थी। कभी-कभी दो-तीन पीढ़ी के राजाओं की पूजा एक ही मन्दिर में साथ ही होती थी। उदाहरणार्थ अमर्ना के उस मन्दिर में जिसे ग्यारहवें वंश के महान् संस्थापक रामसेस प्रथम ने बनवाना आरम्भ किया था और सेती प्रथम द्वारा निर्माण जारी रहकर जो सम्भवतः रामसेस द्वितीय द्वारा पूरा हुआ था। एक राजवंश के समाप्त हो जाने के बाद दूसरे वंश के आने पर पहले वंश के मन्दिर प्रायः विनष्ट हो जाते थे, क्योंकि केवल उसी वंश के राजा इस कार्य को जारी रखते और उनकी मरम्मत करते रहते थे, जिस वंश के लोग उन मन्दिरों को बना जाते थे। नील नदी के उस पार लक्सर और कार्नाक के मन्दिर अधिक अच्छी दशा में सुरक्षित हैं, क्योंकि इनको बनानेवाला राजवंश

अधिक दिनो तक चला, और उसके द्वारा पहले के बनाये मन्दिर-समूहों की मरम्मत तथा नये मन्दिरो का निर्माण प्राय होता रहा। सम्राट् इन देवालयों के निर्माण तथा वृद्धि मे सबसे अधिक सहायता देते थे। उनके बाद शाही मकबरो की बारी, आती थी, जिनके निर्माण मे पहले के राजवश बड़ी रुचि रखते थे। इन मन्दिरो मे होनेवाली निरंतर वृद्धि और सजावट के कारण इनके ढाँचे की बनावट समझना बहुत मुश्किल हो जाता है, यद्यपि हेरोडोटस और स्ट्रैबो आदि आरंभिक यूनानी इतिहासकारो ने विस्तृत रूप से बडी सावधानीपूर्वक उनका वर्णन करने का प्रयत्न किया है। मुश्किल तो यह है कि मिस्र के मन्दिरो की स्थापत्य- सबधी विशेषताओ का वर्णन करने के लिए आज भी यूनानी इतिहासकारो द्वारा प्रयुक्त नामावली का ही हम आश्रय लेते है, जैसा कि 'पाइलोन', 'हाइपोस्टाइल हाल', 'ओबिलिस्क' और 'ड्रोमो' इत्यादि शब्दो के प्रयोग से पता चलता है।

मन्दिरों की स्थापत्य-शैली, शिल्पचित्र और मूर्तियाँ

इस युग के मिस्री मदिरो की जटिल बनावट का विस्तृत वर्णन उपयोगी होने पर भी संभवतः पाठको के जी को उबानेवाला होगा। परन्तु इस लेख के साथ दिये गये चित्रो से साधारण पाठक इसकी भलीभाँति धारणा कर सकता है कि मिस्र के मन्दिर देखने में किस प्रकार के होते थे।

भव्य और लम्बे-चौडे होने पर भी बाद मे बने हुए मिस्री मन्दिरो में से अधिकतर लापरवाही से बनाये गये थे। उनकी नीव जैसी होनी चाहिए, वैसी नही रहती थी। खम्भे कभी-कभी अपने सीध मे नही रहते थे। इनकी दीवारें बाहर निकल आती है और गिरकर चूर हो जाती है। फलतः प्राचीन स्थापत्य के इन अवशेषो का जीर्णोद्धार एक कठिन और खर्चीला कार्य हो गया है। इन भवनो की सारी भीतरी और बाहरी सतह भित्तिचित्रो, मूर्तियो तथा सतह पर उभाड़कर बनाई गई रंगीन मूर्तियो से प्रचुरता के साथ भरी हुई है, जिनमे से कुछ के मूल रंग अपनी असली चमक सहित इस प्रकार सुरक्षित है कि देखकर स्वभावत' मन मे प्रशसा के भाव उठते है। उत्‍ंकित अर्थात् सतह उभाडकर बनाई गई मिस्री मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं--पूर्णोत्‍ंकित, जिसमे मूर्ति की आकृति दीवाल की सतह से केवल थोड़ी-सी ऊँची उठी रहती है; और न्यूनोत्‍ंकित, जिसमे आकृति पृष्ठभूमि से तो अलग आगे को उभड़ी रहती है, पर

प्राचीन मिस्र में शल्य-क्रिया द्वारा मृत सम्राट् के शव की मोमियाई बनाने का दृश्य

शवों के भीतर की अतड़िया आदि निकालकर विशेष प्रकार के मसालों द्वारा उन्हें ऐसा बना दिया जाता था कि वे सड़ने नहीं पाते थे।

उसका उभड़ा हुआ उच्चतम भाग दीवाल की सतह से नीचा रहता है। दूसरे प्रकार का कौशल मिस्र की एक विशेषता है, जो ऋतु के प्रभाव अथवा समय-समय पर होनेवाली सफाई या नवनिर्माण के कारण मूर्तियों को विगड़ जाने के खतरे से बचाता रहता था।

. इन नक्काशीदार उभड़ी हुई मूर्तियों के अतिरिक्त मिस्र के लोग प्रायः अत्यंत कठोर पत्थर से भी ऐसी महाकाय प्रतिमाएँ बनाते थे, जो अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण होती थी। थटमोज तृतीय, अमेनहोतेप तृतीय, रामसेस द्वितीय, अखनातोन और उसकी महारानी नेफर-तीती---इन सभी के शीर्ष भाग की प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि उनको रचनेवाले कलाकारों को चित्रादर्श के व्यक्तित्व के भीतरी तथा बाहरी दोनों रूपों से पूर्ण परिचय था। साथ-साथ इनसे जटिल विषयों के सरल निरूपण तथा कौशल-सम्बन्धी परिपूर्णता-जैसे दुर्लभ गुणों का भी बोध होता है। ये गुण यूनानी कला में भी मुश्किल से मिलते हैं, जिसमें चंचल भाव-भंगियों तथा अविश्रान्त शारीरिक स्थितियों में मांस-पेशियों के आवश्यकता से अधिक चित्रण की भरमार-सी मिलती है। कौशलपूर्ण सुन्दर चित्रण की यह सफलता मिस्र में केवल राजा-रानियों की गौरवपूर्ण अविकारी-प्रतिमाओं में ही नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि अत्यन्त सुन्दरता के साथ कल्पित वहाँ के उन देवों और अर्ध-देवों की मूर्तियों में भी दिखलाई पड़ती हैं, जिन्होंने कि अब गाय, उल्लू, बाज, बिल्ली, शेर तथा अफ्रीका के जंगलों के अन्य कितने ही पशु-पक्षियों का रूप धारण कर लिया था। पशुओं की ये आकृतियाँ चाहे वे बहुमूल्य पत्थरों और अन्य कीमती सामग्रियों से गढ़ी गई हों, चाहे ग्रैनाइट या बैसाल्ट जैसे कड़े-से-कड़े पत्थरों से, निस्संदेह बड़ी ही आश्चर्य-जनक रीति से निर्मित की गई हैं और उनसे उसी सूक्ष्म निरीक्षण, आकृति-संबंधी ज्ञान और सरल निरूपण का पता चलता है, जो कि मिस्रियों द्वारा निर्मित मानवाकृतियों में पाया जाता है।

थीबी के शाही कब्रगाह के मकबरों के चित्रों में हमें मिस्र के घरेलू जीवन के दृश्यों की विशद रूप से झाँकियाँ मिलती हैं। इनमें गवैयों, नर्तकों, बालक-बालिकाओं, विवाहोत्सवों, मृतक-संस्कारों, राष्ट्रीय समारोहों, राजाओं की विजय-यात्राओं

मिस्री सम्राट् की मृत्यु पर शोक मनाने का दृश्य

दाहिनी ओर मृतक की 'मोमियाई' खड़ी है। [पिछले पृष्ठ का और यह चित्र सुप्रसिद्ध चित्रकार 'मतानिया' द्वारा निर्मित हैं]

तथा सामान्य नागरिकों और पशुपालकों के जीवन के अन्य साधारण चित्र भी पाए जाते हैं। बीच-बीच में उनमें शाही दरबारों और क्रीड़ा-भूमि के शानदार दृश्य भी खचित है। इन रमणीय भित्तिचित्रों के अलावा मिस्र की सुप्रसिद्ध 'मृतात्माओं की पुस्तकों' के चित्राक्षरों की सजावट मे भी हमें उनकी कलात्मक रुचि का पर्याप्त परिचय मिलता है। मृतात्माओं की ये पुस्तकें पैपरिस-पत्रों की बहियों-सी है, जो कि अक्सर मोमियाई के साथ गाड़ दी जाती थी और जिनमें जीव की परलोक-यात्रा के सम्बन्ध में आदेश दिये रहते थे। ये विविध प्रकार के छोटे-छोटे चित्रों से चित्रित होती थी, जिनमे उन अन्तिम संस्कारो और अग्नि-परीक्षाओं आदि के दृश्य खचित रहते थे, जिनसे गुजरना मरणोत्तर जीवन के पुरस्कार या दण्ड को ग्रहण करने के पूर्व मृतात्मा के लिए अनिवार्य समझा जाता था।

अबू सिम्बेल की भीमकाय मूर्तियाँ

न्यूबिया, इथिओपिया और सूदान में मिस्र का साम्राज्य-विस्तार होने पर मिस्री देवताओं ने इन विजित प्रदेशो में भी अपना आसन जा जमाया। मिस्र की महती सेना के शूरवीरो ने उन देवताओं के सम्मान में, जिनकी कृपा से उन्हे विजय मिली थी, वहाँ भी मन्दिर बनाना चाहा। किन्तु आसपास के प्रदेश में अशान्ति फैली रहने के कारण पत्थर के कटे हुए टुकड़ों से निर्मित मन्दिरों के स्थान पर उन्होने चट्टानों को काटकर बनाये गये 'स्पिअोज' तैयार कराना ज्यादा पसन्द किया। न्यूबिया की चट्टानों को काटकर बनाये गये ये मन्दिर अब भी 'स्पिअोज' कहलाते है, चूँकि प्राचीन ग्रीस मे इन मन्दिरों का यही नाम प्रचलित था। अबू सिम्बेल का महान् स्पिअोज दक्षिण की नीग्रो जातियों और सीरिया के नगरों पर रामसेस द्वितीय के विजय के उपलक्ष मे बनाया गया था। इस मंदिर के प्रवेश-द्वार पर स्थापित एक ही पत्थर से बनाई गई चार भीमकाय मूर्तियों का जो प्रभाव यात्री के मन पर पड़ता है, वह भुलाया नही जा सकता। रामसेस द्वितीय का मिस्र के भवन-निर्माताओं में सर्वोपरि स्थान है। उसने अपने सुविस्तृत साम्राज्य के प्रत्येक नगर में एक-एक मन्दिर बनवाने की आज्ञा दी थी। यह आज्ञा न्यूबिया के उपनिवेश के लिए भी थी, जिसे कि वह मिस्र का ही विस्तार समझता था। अबू सिम्बेल की चार चबूतरोवाली दैत्याकार मूर्तियाँ, जो फाटक के दोनों ओर दो-दो बनी हुई है, ऊँचाई मे ६० फीट है! इनके साथ-साथ अम्मोन-रा की आराधना करते हुए सम्राट् की उभरी हुई मूर्तियाँ भी दिखाई गई है।

न्यूबिया में नील नदी के किनारे और भी बहुत-से महत्वपूर्ण और मनोरंजक मन्दिर है। उदाहरणार्थ, मिस्र की रति-देवी 'हाथौर' के सम्मान में बनाया गया अबू सिम्बेल का छोटा स्पिअोज, एलिफैण्टाइन का मन्दिर, गार्फ हुसेन का अर्ध-स्पिअोज (जो कुछ अंशों मे पत्थर को गढ़कर और कुछ अंश में पत्थर के टुकड़े जोड़कर बनाया गया है) तथा 'मेरो' में स्थित पिरामिड और सूर्य का मन्दिर, आदि। इन सभी मे अनेक युगों की स्थापत्य-शैली का खिचड़ी-जैसा विचित्र सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है, जो बहुत-कुछ उस प्राचीन आदर्श-पालन के स्वाँग, अनुकरण और यत्र-तत्रेण स्वेच्छाचयन से मिलता-जुलता है, जो कि आज के दिन स्वयं हमारे देश मे भी 'वर्तमान भारतीय स्थापत्य-शैली' के नाम से प्रचलित है!

सैत युग का प्रादुर्भाव

आगे चलकर कई शताब्दियों के बाद मिस्र को असीरिया के रूप में एक प्रचण्ड प्रतिस्पर्धी का सामना करना पड़ा, जिसने धीरे-धीरे उसके एशियाई प्रान्तों को छीन लिया और उसके मूल साम्राज्य पर भी लगातार आक्रमण करना शुरू किया। जैसे-जैसे असीरिया के राजाओ की शक्ति बढ़ती गई, वैसे-वैसे मिस्रवासी नील नदी की घाटी में पीछे की ओर हटते गये। अब उन्हे बहुत दिनों तक केवल अपनी सुरक्षा के लिए ही युद्ध करने में संलग्न रहना पड़ा। कालान्तर मे 'अस्सुर' के रथ मध्यवर्ती स्थलडमरूमध्य को पार कर गये और स्वयं थीबी को भी निनवे के पराक्रमी अधिपति के प्रताप के सामने नतमस्तक होना पड़ा! वर्षो असीरिया की गुलामी करने के बाद जब मिस्र ने अपनी खोई हुई स्वाधीनता फिर से प्राप्त करने मे सफलता पाई तो पुनः एक मिस्री राजवंश सिहासन पर प्रतिष्ठित हुआ। साम्राज्य की एशियाई सीमा की सुचारु रूप से रक्षा करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि राजधानी थीबी से हटाकर डेल्टा-प्रदेश के नजदीक लाई जाय और इस दृष्टि से 'सैस' नामक स्थान का चुनाव किया गया। फलस्वरूप इस युग की कलास 'सैत कला' कहलाती है।

यद्यपि असीरियन दासता से मिस्र का उद्धार करनेवाले सामेटिकस ने अपनी विजय की स्मृति में कई स्मारक बनवाये, परन्तु सैरेफियम या एपिस साँड़ों की कब्रो के अलावा स्वयं 'सैस' मे इन स्मारकों का कोई विशेष चिह्न शेष नही बचा है। किन्तु सैत कला के सुन्दरतम उदाहरण न्यूबिया की सीसा के पास अधिक दक्षिण में नील नदी के पहले प्रपात के समीप एक द्वीप में देखने को मिलते है। यह

छब्बीसवें राजवंश (लगभग ६०० ई० पू०) के युग के मिस्री शिल्प का एक उत्कृष्ट नमूना

यह एक सम्राट् के शीश की मूर्ति है। इससे हम अनुमान कर सकते है कि यूनान में कला के उत्थान के पूर्व ही मिस्री कला कितनी उन्नति कर चुकी थी! चेहरे में कितनी सजीवता है, कितनी स्वाभाविकता है! सचमुच ही मिस्री कलाकारों ने कला के जिस क्षेत्र में हाथ डाला उसे पूर्णता तक पहुँचाकर ही उन्होंने दम लिया! यदि यह कहा जाय कि मानवीय शिल्प मिस्री कलाकारों के हाथों में आकर अपने चरम उत्कर्ष की स्थिति पर पहुँच गया था तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। न केवल पर्वतों के कठोर शिलापृष्ठों पर कुरेदकर बनाई गई उनकी पचास-साठ फीट ऊँची भीमकाय पाषाण मूर्तियां ही, प्रत्युत अलाबेस्टर, धातु और लकड़ी आदि मुलायम माध्यमों द्वारा निर्मित उनकी कमनीय कलाकृतियाँ भी समान रूप से उनकी प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाये हुए हैं।

द्वीप फिली के नाम से प्रसिद्ध है। दुर्भाग्यवश, 'असुअन बाँध' के निर्माण से इस द्वीप का अधिकतर भाग, जिसमें वहाँ पर बने भव्य मंदिरो के उच्चतम भागों को छोड़कर शेष सभी भाग संमिलित हैं, वर्ष के अधिकांश समय अब जलमग्न रहा करते हैं। आइसिस के महान् मन्दिर में अब मल्लाह अपनी नाव खेते हैं, और नदी के गँदले पानी के कारण भीगी दीवालों पर काई जम गई है ! वास्तव में फिली की मृत्यु हो चुकी, और यदि इस बड़े बाँध की सतह कुछ ऊँची कर दी गई, जैसा कि शासकों का इरादा है, तो प्राचीन मिस्री सम्राटो के अन्तिम वंश के ये स्मारक किसी दिन आँखो से बिल्कुल ओझल हो जायँगे !

सिकन्दर की मृत्यु से लगाकर क्लियोपाट्रा के शासनकाल तक का समय मिस्री इतिहास में 'टॉलमियों का युग' कहा जाता है। सैत युग तथा टॉलमियों के समय की कला को मिस्र के पुराने युग से प्रेरणा मिली थी; और उस में भी बाद की शैलियों की अपेक्षा पहले की शैलियाँ अधिक पसंद की जाती थीं। फिर भी इन कलाकृतियो में पहले की वह दिव्यता और ओज नही था। पहले की प्रकाण्डता और निर्विकारता का स्थान अब एक प्रकार की कोमल रमणीयता, सुरुचि तथा मानवता के संस्पर्श ने ले लिया था। सैत युग की राजकीय आज्ञा से बनाई गई मूर्तियों में से अधिकांश लाल ग्रैनाइट तथा हरे पॉरफीरी या संगे सिमाक जैसे कड़े से कड़े पदार्थो से बनाई जाती थीं। इनकी रूपरेखाएँ जटिल नही हैं और अंगभंगियों में पहले वंशों की तरह धर्माधिकारियों की भावभंगियों की झलक मिलती है। इनकी रचना में रूढ़िवादिता का कड़ाई के साथ पालन किया गया है, और वस्त्रों की सिकुड़ने दिखलाने का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। मूर्तियो की आकृतियाँ प्रायः एक तंग वस्त्रावरण से ढकी हुई है, जो प्रायः प्रत्येक सुडौल आकृति की मूर्ति की बाह्य रेखाओं का काम देता है। इस युग का मिस्री कलाकार पशुओं की मनोहर आकृतियों को खोदकर गढ़ने में भी अत्यन्त पटु था। प्रसिद्ध मिस्रविद् सर गैस्टन मैस्पेरो का कथन है कि "अपनी चित्र-लिपि को अंकित करने या खोदकर बनाने में वे (मिस्रवासी) पूर्णता की उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँचे हुए थे, और पूर्णोत्कंकित मूर्तियों का उनके द्वारा साधारणतया एक बड़ी संख्या में निर्माण हुआ था। सैत युग की कला का प्रधान लक्षण कलाकृतियों की सुघड़ता तथा उनके छोटे से छोटे भाग पर की गई बढ़िया कारीगरी है। कठोर से कठोर पदार्थ भी निर्माणशैली की पवित्रता और मनोहर सरलता द्वारा उनके हाथों कोमल बना लिये जाते थे।"

कारीगरी और नक्काशी का बारीक काम

प्राचीन मिस्र की कला का कोई भी वर्णन वहाँ के कलात्मक उद्योग-धन्धों का उल्लेख किए बिना अधूरा ही रह जायगा। इस प्राचीन देश की जलवायु की अनुकूलता तथा इन वस्तुओं के इस प्रकार के सुरक्षित पाषाण-गृहों में बन्द रहने के कारण सभी रत्न-जटित आभूषण, सजावट की चीजें, अस्त्र-शस्त्र और कवच, कुर्सी-मेज आदि कमरे का सामान (फर्नीचर), वस्त्र तथा गृहस्थी के बर्तन आदि बिलकुल सुरक्षित मिले हैं। इनमें अलबैस्टर नामक संगमरमर के पत्थर के उन सुन्दर बर्तनों का विशेष स्थान है, जिनके ढक्कन तरह-तरह के पशुओं के शीशभाग की मूर्तियों के बने हैं। इन बर्तनों में मृत व्यक्तियों की अँतड़ियाँ आदि रखी हैं। ये कारीगरी के ऐसे बढ़िया नमूने हैं कि उनकी बनावट और काम की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। इनके अतिरिक्त मिस्री सम्राटों की निजी उपयोग की सभी प्रकार की वस्तुएँ भी एक के बाद एक अन्वेषकों द्वारा प्रकाश में लाई गई हैं, जिनसे वहाँ के शिल्प की उन्नति की चरमावस्था का पता चलता है। काहिरा के पुरातत्व संबंधी संग्रहालय की आलमारियों में आश्चर्यजनक डिजाइन और कल्पनातीत पूर्णता के रत्नमय गुबरैले के आकार के शिरोभूषण तथा अन्य शिरोवस्त्र, हार, बाजूबंद और ताबीज आदि देखे जा सकते हैं। किसी भी देश के सुनारों ने इन राजसी रत्नों से बढ़कर सुन्दरता और कारीगरी का काम शायद ही कभी किया हो। मकबरों में पाये जानेवाले नक्काशी से खचित हारों में हमें कारीगरी की बहुलता और सुरुचि का सुन्दर संयोग मिलता है। मैस्पेरो ने एक शिलालेख का अनुवाद किया है, जिसमें १२वें राजवंश के महान् राजाओं में से एक ने यह दावा किया है कि "संसार में ऐसा कोई भी नही है, जो मुझसे और मेरे ज्येष्ठ पुत्र से चाँदी और सोने की धातु की कारीगरी में (जिसमें रत्न, आबनूस, और हाथीदाँत के काम हों) बाजी मार ले !" इससे पता चलता है कि मिस्र के सम्राट् तक कला और शिल्प में दखल रखते थे।

हेवार्ड कार्टर द्वारा तूत-अन-खामोन के मकबरे की खोज ने तो मानो अलीबाबा की कहानीवाले गुफा का ही द्वार खोल दिया है ! इसमें मिस्र की कल्पनातीत द्रव्य राशि भरी पड़ी मिली है, और उससे राजाओं के काम में आनेवाली विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुएँ प्रकाश में आई हैं। कार्टर ने इस संबंध में अनेक अपूर्व चित्रों सहित एक विस्तृत ग्रंथ तैयार किया है। कलाप्रेमियों को इस उत्तम प्रकाशन को अवश्य देखना चाहिए।

मानव ने लिखना कैसे सीखा ?
वर्णमाला का विकास

पिछले खंड में हम यह बता चुके हैं कि मनुष्य के आविष्कारों में सबसे अद्भुत वस्तु न तो रेल या हवाई जहाज ही है, न उसकी अन्य कलाकृतियां ही। उसकी सबसे अचरजभरी खोज वह साधन है, जिसकी बदौलत वह देश और काल की सीमाओं का उल्लंघन कर अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लिए शाश्वत रूप में छोड़ जाने में समर्थ हुआ है। यह साधन है उसके द्वारा आविष्कृत अक्षर या वर्ण, जिनमें पिरोकर रक्खा हुआ उसके विचारों का अद्भुत लेखा आज के दिन संसार की सबसे अनमोल और अद्भुत सम्पत्ति है।

मनुष्य ने जब सर्वप्रथम बोलना सीखा, उसने एक शक्ति का अनुभव किया। उसने समझा कि बोलकर वह अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट कर सकता है। जब सामाजिक जटिलताएँ बढ़ीं, तब उसे यह आवश्यक जान पड़ा कि जिन बातों को वह जीवन के लिए आवश्यक समझता है, अथवा जो बातें उसे सुन्दर प्रतीत होती हैं, उनसे उसकी मृत्यु के पश्चात् और लोग वञ्चित न रह जावें, उन्हें भूल न जावें। ऐसा क्योंकर हो, इस प्रयास में उसे सफलता कैसे मिले, यह उसकी आवश्यकताओं ने ही उसे सुझाया। इतिहास साक्षी है कि बोलने से पहले, मानव ने चित्रण करना सीखा, और जब उसे बोलना आ गया तथा बोलने की शक्ति को उसने समझा, तो फिर उसे अपने विचारों को आनेवाली पीढ़ियों के लाभार्थ एक शाश्वत रूप में छोड़ जाने की प्रेरणा मिली। इसके लिए उसने चित्रकला का माध्यम अपनाया।

वर्णमाला की आवश्यकता और महत्व

वर्णमाला के अक्षरों द्वारा आज हम अपने विचारों को जितनी सरलता के साथ व्यक्त कर लेते हैं, ६००० वर्ष पूर्व यह उतना सरल कार्य नहीं था। ऐसी वर्णमाला का आविष्कार, जिसके द्वारा मानव अपने अर्जित एवं सञ्चित विचारों और अनुभवों को समाज के लाभार्थ चिरकाल के लिए सुरक्षित रख सके, सभ्यता की प्रगति में मानव की सबसे पहली महत्वपूर्ण विजय है। क्योंकि जब तक मानव अपनी कृतियों का लेखा आनेवाली पीढ़ियों के लिए न छोड़ सके, तब तक उसकी ज्ञान-राशि में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं हो सकती। लेखा रहने से ही आनेवाली पीढ़ियां अपने पूर्वजों की कमाई से लाभ उठा सकती हैं और उन्नति कर सकती हैं। लेखन-कला के अभाव में भी किन्हीं अंशों में सभ्यता अवश्य उन्नतिशील हो सकती है। विभिन्न वस्तुएँ, जैसे कपड़ा, मिट्टी के बर्तन, आदि विशेष रूप से लेखन-कला के आश्रित नहीं हैं। इनमें ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे तक की उन्नति बिना लिखा-पढ़ी के हो सकती है। परन्तु लेखन-कला के अभाव में विधान रीति-रिवाज तक ही सीमित रह जायगा, इतिहास अनिश्चित कथा-वार्ता में परिणत हो जायगा, और धर्म मन्त्र-तन्त्र की परिधि से बाहर नहीं आ सकेगा। हमारा प्राचीन साहित्य, रामायण और महाभारत की कथाएँ, यूनानवालों की ट्राय की कहानी, तथा देश-देश की परम्परागत लोककथाएँ आदि इस बात के साक्षी हैं कि धर्म, इतिहास, साहित्य आदि लेखन-कला के अभाव में भी पर्याप्त उन्नति कर सकते हैं। जिस प्रकार लेखन-कला के अभाव में साहित्य का होना सम्भव है, उसी प्रकार बिना वर्णमाला के लेखन-कला का भी होना संभव है। परन्तु निश्चित वर्णमाला के अभाव में जो कुछ भी लेखा-जोखा होगा, वह अत्यन्त ही क्लिष्ट होगा और उसकी उपादेयता का क्षेत्र भी बहुत संकुचित होगा। मिस्र, असीरिया और चीन आदि देशों की वर्णमालाएँ पूर्ण न होने के कारण विशद वर्णनों के समय विशेष कठिनाइयाँ उपस्थित करती हैं। फल यह होता है कि एक विशेष वर्ग ही ज्ञान और धर्म का ठेकेदार

बन जाता है; देशव्यापी संस्कृति का प्रसार असम्भव हो जाता है, तथा राज-सत्ता और प्रजा के बीच की खाई बढ़ती ही चली जाती है। इस तरह जिसके द्वारा उन्नति होनी चाहिए थी वह लेखन-कला मानव को दासता की बेड़ियों में जकड़ने का एक प्रबल साधन बन जाती है।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि मानव की उन्नति के लिए विचारों को केवल लिपिबद्ध करने की विधि को मालूम करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आवश्यक यह भी है कि कोई ऐसी सरल विशद लेखन-प्रणाली का आविष्कार किया जाय, जिसे मानव थोड़े समय में ही सीखकर उपयोग में ला सके।

वर्णाक्षरों द्वारा विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रणाली यद्यपि आज इतनी सरल और सुविधाजनक है, परन्तु उसका आविष्कार अनेक कठिनाइयों से अभिभूत रहा है और सहस्रों वर्षों के अविरल परिश्रम द्वारा ही आज हम उसका पूर्ण रूप देखने में समर्थ हो सके हैं। अंग्रेजी वर्णमाला के २६ एवं देवनागरी के ४२ जैसे अक्षरों को कार्योपयोगी सिद्ध करने के लिए मानव ने अपना समस्त मस्तिष्क-बल लगा दिया है। मिस्री, सैमिटिक और यूनानी इन तीनों विचारशील जातियों के अथक परिश्रम-स्वरूप ही आज हमें रोमन लिपि के २६ वर्णाक्षर मिल सके हैं।

यह बताने के पूर्व कि मानव ने किस प्रकार लिखना सीखा, आदिम मनुष्य के जीवन के बारे में भी थोड़ा जान लेना आवश्यक है। आरम्भिक अवस्था में मानव जीवन पूर्णतया अव्यवस्थित था। चेतनता किसे कहते है, इसका मानव को लेशमात्र भी भान नहीं था। हजारों वर्षों में मानव ने प्राकृतिक जीवन की देखा-देखी अनुकरण करना सीखा। उस संचित अनुभव ने ही कालान्तर मे परम्परा का रूप ग्रहण किया। इस तरह परम्परा मानव की संपति बनी। तब मानव ने चित्रकला सीखी, बोलना सीखा, मूर्तियाँ बनाना सीखा, और स्थापत्यकला को भी उसने अपनाया। बहुत काल तक, जब तक मानव को लिखना नहीं आया, उसने अपनी जातीय कथाओं, कविताओं, नाटकादि को कण्ठस्थ ही रखा। उदाहरणार्थ वेद, उपनिषद् आदि सहस्रों वर्षों तक कण्ठस्थ रक्खे गये। वीरों की यशोगाथा हजारों वर्षों तक भाटों द्वारा राज-दरबारों में जीवित रखी गई। भाषाओं के आधुनिक रूप के लिए हम बहुत अंशों में उन भाट-चारणों के आभारी हैं। जब लिखना आ गया, तब परम्परागत ज्ञान ने सुव्यवस्थित रूप पाया। वह विश्वसनीय समझा जाने लगा। विचारशक्ति में अधिक प्राण सञ्चरित हुआ। मानव एक दूसरे के अधिक निकट आने लगा। पहले तो पुस्तकों की हस्तलिखित प्रतियाँ ही प्राप्य थीं। लिखने में अधिक परिश्रम आवश्यक होने के कारण प्रतियों की संख्या सीमित ही रहती थी। परन्तु मुद्रण-कला ने इस कठिनाई को दूर किया। मुद्रणालय के आविष्कार से मानव ने एक असीम शक्ति प्राप्त कर ली। पहले अनेक बातें गोपनीय तथा रहस्य से आवृत रहती थी। जो थोड़े-से लोग लिखना-पढ़ना जानते थे, उनसे जनता भयभीत रहती थी—उनका आतंक छाया रहता था। जब ज्ञान-प्रसार हुआ, तब रहस्य रहस्य नहीं रह गया। अब ज्ञान के अनेक साझीदार बने। मानव ने आत्मशक्ति का आभास पाया। उसने जीवन का अनन्त रूप देखा और ज्ञान-राशि का सञ्चय किया। उसका यह उद्योग अब भी जारी है और तब तक जारी रहेगा, जब तक कि उसे व्यष्टि एवं समष्टि रूप में वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नही हो जाती। मानव का अपने विचारों को लिपि-बद्ध करने का पहला उद्योग उसकी वह प्रथम ज्ञान-किरण थी, जिसका कि प्रकाश आज भी शनैः-शनै उसके तिमिरावृत जीवन को ज्योति-पूर्ण करने में संलग्न है।

ध्वनि-बोधक और भाव-बोधक संकेत

विचारों को लिपि-बद्ध करने की प्रत्येक प्रणाली का प्रारंभ मूर्त पदार्थो के चित्रों द्वारा ही हुआ है। कालान्तर में यही चित्र सांकेतिक बन गये और मौलिक ध्वनियों के लिए काम में आने लगे। सर्वप्रथम लिपि भावचित्रानुरूप रही, तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्रों में परिणत होने लगी। भाव-बोधक चित्र पदार्थो अथवा विविध भावनाओं के द्योतक होते है। वे मूर्त पदार्थो के वास्तविक सांकेतिक चित्र है और अमूर्त पदार्थो के भी।

ध्वनिबोधक चित्र ध्वनियों के द्योतक होते है। इनकी उत्पत्ति भाव-बोधक चित्रों द्वारा हुई है। ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) मौखिक, जो पूर्ण शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं; (२) आक्षरिक, जो शब्दों के उच्चारण मात्र के लिए प्रयुक्त होते है, और (३) वर्णमाला के द्योतक चित्र अथवा अक्षर, जो मौलिक ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होते थे।

आज की वर्णमाला के अक्षरों में अभी भी अनेक संकेत ध्वनिचित्रात्मक तथा भावचित्रात्मक होते हैं। ग्रोटफैन्द के कथनानुसार रोमन संख्या के भी संकेत प्राचीन भावचित्र ही है। I, II, III उँगलियों के चित्र है। V हाथ का कोण है, जो सिमटी हुई उँगलियों और अँगूठे से बनता है। इसी तरह VV या X दोनों हाथों के द्योतक चित्र हैं। IV और VI भी हाथ के ही चित्र हैं, जो कि एक उँगली के घटाने-बढाने से बनते है।

प्रत्येक वर्णमाला के अक्षर ध्वनि-बोधक चित्र मात्र हैं, जिनका रूप अब घिसते-घिसते सरल रह गया है। यदि किसी भी वर्णमाला का प्राचीन रूप खोजा जाय, तो हम उसे किन्हीं मूर्त पदार्थों का ही सांकेतिक चिन्ह पायेंगे। अनेक शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज संसार भर में प्रयुक्त रोमन वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर अक्षुण्ण रूप से अपने सनातन रूप को रखे हुए है। उदाहरणार्थ, रोमन वर्णमाला के अक्षर M (म) का प्राचीनतम रूप खोजने पर पता लगा है कि वह उलूक का सांकेतिक चित्र मात्र है। प्राचीन मिस्री भाषा में उलूक को 'मूलक' कहते हैं। मूल रूप में उलूक का चित्र उलूक का ही भावबोधक चित्र रहा होगा; तत्पश्चात् वह ध्वनि-बोधक चित्र बना; इसके बाद वह आक्षरिक हुआ। 'मू' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए अन्ततोगत्वा वह केवल 'म' ध्वनि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने लगा। इन अनेक परिवर्तनों के होने पर भी 'म' का प्राचीन उलूक का रूप अक्षुण्ण ही बना रहा। परन्तु जब पत्थर के स्थान पर चित्र पैपिरस (एक प्रकार के कागज) पर अंकित किये जाने लगे तो सुगमता और शीघ्रता के साथ लिखे जाने के कारण उनका रूप अनवरुद्ध लिपि का हो गया और इसी कारणवश उलूक का चित्र भी ऐसा बना दिया गया, जैसा पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० १ में दिखाया गया है। हाइरेटिक लिपि में चित्र इतना सांकेतिक बन गया कि मूल चित्र का उसमें लेशमात्र भी आभास न रहा। केवल वे रूप रह गए, जो उक्त चित्र में नं० २ और ३ में दिखाये गये हैं। डिमोटिक लिपि में, जो कि और भी अधिक अनवरुद्ध गति से लिखी जाती है, रूप और भी सरल हो गया। वह पहले उपर्युक्त चित्र में नं० ४ जैसा और पश्चात् नं० ५ जैसा रूप बन गया। सैमिटिक वर्णमाला के अक्षर मिस्री चित्रों के हाइरेटिक रूपों से ही लिये गये मालूम होते हैं। सैमिटिक लिपि का प्राचीनतम लेख जो प्राप्त हो सका है, वह मोआबाइट शिला का अभिलेख है। इस अभिलेख में अक्षर M (एम) का रूप पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० ६ जैसा है। यह रूप बिना किसी कठिनाई के नं० ७ में प्रदर्शित हाइरेटिक अक्षर से समानता रखता है। मोआबाइट अक्षर से यह पूर्व-ग्रीक रूप हो जाना एकदम आसान है, जो चित्र में नं० ८ में प्रदर्शित है। इसी के पीछे के रूपान्तर वे हैं, जो चित्र में नं० ९, १० और ११ में दिखाये गये हैं। इटली में यूनानियों के जो उपनिवेश थे, वहीं से रोमन वर्ण M का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे रूपान्तर हुआ नं० १२ में प्रदर्शित चिन्ह में, जिसमें हमें अंग्रेजी का m मिला। ६००० वर्ष पुराना होने पर भी इस अक्षर में अब भी उलूक का पूर्व रूप देखने को मिलता है। M (एम) की दो चोटियाँ ही उलूक के दोनों कान हैं और उनके बीच में उलूक की चोंच देखी जा सकती है, और इसी में पहली सीधी लकीर वक्ष-स्थल के स्थान पर है। m में बीच की लकीर चोंच की है और उसके दोनों ओर की लकीरें कानों का आभास देती हैं।

जो विशेषताएँ M (एम) अक्षर में दिखलाई गई हैं, वे सब अन्य अक्षरों में भी निहित हैं। अंग्रेजी अक्षर F (एफ) का मूल है मिस्री वर्ग (दे० पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० १३)। इसमें दो समानान्तर रेखाएँ उसके दो सींग हैं और सीधी लकीर उसका शरीर। इसी प्रकार यह साबित किया जा सकता है कि A का मूल रूप उकाब का चित्र है, R का मुँह और D का हाथ।

हजारों वर्ष पूर्व के अक्षर

ये अक्षर कील के आकार के हैं और बेबिलोनिया और ईरान के प्राचीन लेखों में प्रचुरता से पाए गए हैं। इस लिपि को 'क्यूनीफार्म' नाम दिया गया है।

प्राचीन चित्र-लिपि के प्रमुख पाँच रूप

आइए, अब इस बात का दिग्दर्शन करें कि भावचित्रात्मक और आक्षरिक संकेतों से किस प्रकार वर्णमाला के अक्षरों का उद्भव हुआ। विद्वानों ने पता लगाया है कि संसार में चित्र-लिपि का आविष्कार पाँच स्वतंत्र रूपों से हुआ है। ये हैं—(१) मिस्री या इजिप्शियन, (२) क्यूनीफार्म, (३) चीनी, (४) मैक्सीकन, और (५) हिटाइट या हित्ती।

इनके अतिरिक्त कितनी ही असभ्य जातियों की चित्र-लिपियों के भी उदाहरण सुरक्षित हैं। वस्तुतः लेखन-कला का इतिहास बड़ा पुराना है। वह कितना पुराना है, यह

केवल कल्पना और उपमान की सहायता से ही कुछ-कुछ बतलाया जा सकता है। इस काम के लिए उन जातियों से, जिन पर सभ्यता का रंग नही चढ़ा है, जो अब भी आधुनिक संस्कृति के संसर्ग से दूर रहकर जीवन बिता रही हैं, बहुत-कुछ सहायता मिल सकती है। दक्षिणी फ्रांस में उन लोगों ने, जो बर्फीले युग के पीछे आये, अपने जीवन का कुछ लेखा छोड़ा है। यह लेखा पशुओं की हड्डियों, सींघों और हाथीदाँत पर खुदे हुए कुछ चित्रों के रूप मे उपलब्ध है। ऐसा जो प्राचीनतम लेखा मिल सका है वह है एक दृश्य का, जो एक सींघ पर खुदा हुआ है। यह ओवर्न नामक स्थान में मिला है। इस दृश्य में एक शिकारी दिखाया गया है, जो कि पूर्ण नग्नावस्था में है और ऊरस नाम के एक बड़े पशु के पास तक, जो कि घास चर रहा है, पहुँच गया है, और भाले से उस पर हमला करने ही वाला है। उसी काल की गुफाओं से मैमथ, बारहसिंघे, सील, ह्वेल और भालुओं के चित्र भी उपलब्ध हुए हैं। इन चित्रों में अत्यंत उच्च कोटि की कला देखने को मिलती है। आधुनिक समय की असभ्य जातियों में भी हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। जंगली जातियों में जब कोई बड़ा आदमी मर जाता है, तो उसकी समाधि पर एक पत्थर रख दिया जाता है, जिस पर उसके घराने के परम्परागत पशु का चित्र बना होता है। स्काटलैंड के पिक्ट लोगो के पत्थर, लैपलैंड-निवासियों के ढोल पर बने चित्र, तथा ऑस्ट्रेलिया, अरब व पीरू की चट्टानो पर खुदे हुए लेख हमें याद दिलाते हैं कि मानव ने अपनी कृतियों का लेखा छोड़ने का कैसा प्रयत्न किया है। इनके अनुशीलन से यह तथ्य प्राप्त होता है कि मानव मस्तिष्क ने इस काम के लिए प्रत्येक देश में प्रायः एक ही साधन को अपनाया है।

अमेरिका के आदिवासियों के भाव-बोधक चित्र

उत्तरी अमेरिका की रैड इण्डियन जाति के २५० वर्ष पुराने कुछ लेखे मिले हैं, जोकि पेड़ो की छाल पर खुदे हुए हैं। पृष्ठ ७४३ पर दिये गये चित्र में, जो लगभग २०० वर्ष पुराना है और अमेरिका के ओहियो राज्य में एक पेड़ की छाल पर खुदा हुआ मिला है, विंज मुण्ड नाम के सरदार की विजय की स्मृति को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। यह विजय उसने अंग्रेजों पर प्राप्त की थी।

उक्त चित्र में नीचे की ओर २३ योद्धा युद्धभूमि की ओर जा रहे हैं। सूर्य चमक रहा है। सेनाएँ युद्धभूमि में दो बार गयी हैं—पहली लड़ाई छः दिन तक चलती रही, दूसरी चार दिन तक। बीच मे तीन अंग्रेजी किलों के चित्र हैं, जिन पर हमले हुए हैं। दो नदियों के संगम पर स्थित सबसे नीचेवाले किले का नाम फोर्ट पिट है। सीधे हाथ की ओर का चौकोर किला, जिसमें दो व्यापारगृह हैं, दित्रोआ का है, और तीसरा किला ऐरी झील में स्थित है। बाईं ओर को दस विजित शत्रु खड़े हैं। चार शत्रु (जिनके सिर है) कैद कर लिये गये थे और बिना सिर के शेष छः खेत रहे। कोने मे कछुए का चित्र एक भाव-बोधक चित्र है, जिसका अर्थ 'रक्षा का स्थान' है। यह भाव-चित्र लिपिकला की प्रगति दिखलाता है। शेष अन्य चित्र केवल भूत पदार्थो के हैं। कछुए का चित्र सांकेतिक लिपि का अग्रदूत है। वह एक भावना का द्योतक है।

इसी तरह से 'पाइप' शान्ति का, 'अंगूर की बेल' मित्रता का, 'पंख फैलाये हुए पक्षी' शीघ्रता का, 'अग्नि' कुटुम्ब का, और 'वृत्त' समय का द्योतक है। ऐसे ही सांकेतिक चित्रों द्वारा नोवास्कोटिआ और न्यू ब्रन्सविक के मिकमाक लोग पूर्ण वाक्यार्थ व्यक्त कर लेते हैं। चित्र-लिपि एक कदम और आगे बढ़ गई, जब कि सीधे-साधे भाव-चित्रों को सम्मिलित कर जटिल विचारों को व्यक्त किया जाने लगा। प्राचीन चीनी लिपि में 'विवाहिता स्त्री' का बोध कराने के लिए 'स्त्री' और 'झाड़ू' के सांकेतिक चित्रों को जोड़ दिया जाता था; और 'प्रेम करना' क्रिया का बोध 'स्त्री' और 'पुत्र' के चित्रो द्वारा कराया जाता था। क्यूनीफार्म लिपि में भी यही तरीका काम में लाया जाता था। 'बन्दीगृह' का बोध 'घर' और 'अंधकार' के सांकेतिक चिन्हों से कराया जाता था। 'अश्रु' का बोध 'चक्षु' और 'जल' के चिन्हों से।

ध्वनि-बोधक चित्र

भाव-बोधक चित्रों के पश्चात् ध्वनि-बोधक चित्रों की बारी आती है। मैक्सिको देश की चित्र-लिपि के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भावचित्र ध्वनि-बोधक चित्रो मे परिणत हो गये। चतुर्थ मैक्सिकन राजा का नाम था इत्ज-कोत्ल। 'इत्ज' का अर्थ है 'चाकू' और 'कोत्ल' का अर्थ है 'सर्प'। इसका बोध कराया गया है, पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० १४ में दिखाये गये चिन्ह द्वारा। जब व्यक्ति-वाचक संज्ञाओं का बोध कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब ध्वनि-बोधक चित्रो का निर्माण हुआ।

अमेरिका के यूकातान निवासी मय लोगों के ध्वनि-संकेतों मे लिखित कुछ आलेख प्राप्त हुए हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन संकेतों के मूल रूप मैक्सिकन चित्र है। उसी वर्णमाला में लिखी हुई तीन हस्तलिपियाँ भी प्राप्त हुई है। इनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ आक्षरिक संकेतों और भाव-चित्रों के अतिरिक्त मय लोग

२४ चिन्ह और काम में लाते थे, जो कि अवश्य ही वर्ण-माला के अक्षर रहे होंगे। यह लिपि चीनी या असीरियन जातियों की लिपियों से कहीं अधिक पूर्ण है। पर दुःख का विषय है कि मध्यवर्ती अमेरिका की लिपियों के बारे में विशेष ज्ञान किसी को भी नहीं है। वे केवल अजायबघर की ही शोभा बढ़ा सकती हैं।

चीनी चित्र-लिपि

जब हम चीनी वर्णों पर दृष्टिपात करते हैं, तो और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि आदि काल मे मानव ने किस प्रकार चित्र-लिपि द्वारा अपने विचारों तथा संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया था। चीनी वर्णों के अध्ययन से एक बात और भी मालूम होती है कि यह लिपि सांकेतिक चित्र-लेखन की परिधि से बाहर न जा सकी। यह बात चीनी प्रगति के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई है।

यदि आधुनिक चीनी लिपि की वहाँ की प्राचीन लिपि से तुलना की जाय, तो उसके मूल का पता तो लग जाता है, पर साम्य किसी भी बात में दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ, 'श्वान' के लिए सांकेतिक चिह्न है पृष्ठ ७४५ के चित्र मे नं० १५ जैसा, और लकड़ी के लिए नं० १६ जैसा। इन दोनों सांकेतिक चिह्नों में उन वस्तुओं की अपेक्षा, जिनका बोध उनके द्वारा होता है, अधिक साम्य है। किन्तु जब हम इन सांकेतिक चिह्नों के मूल रूप का पता लगा लेते हैं, तो सब समझ में आ जाता है। 'लकड़ी' के लिए मूल सांकेतिक चिह्न पहले ७४५ पृष्ठ के चित्र में नं० १७ जैसा था। इस रूप में वृक्ष की शाखाओं, तने और जड़ों को पहचानना कोई मुश्किल नहीं है। 'श्वान' के मूल सांकेतिक रूप नं० १८, १९ और २० के चित्रों जैसे थे। इनमें श्वान का आकार स्पष्ट झलक रहा है। मूल भाव-चित्र मे श्वान का शरीर, टाँगें, दुम, सिर और कान देखकर आधुनिक लिपि-संकेत समझ में आ जाता है।
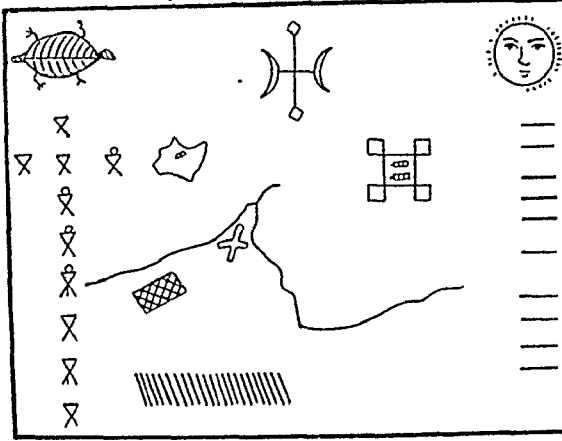
रेड इंडियन जाति का २०० वर्ष पुराना एक संकेत-चित्र

इसमें एक सरदार की विजय का आलेख है। चित्र में नीचे की ओर २३ खड़ी रेखाएँ युद्ध-भूमि की ओर जा रहे २३ योद्धा की द्योतक हैं। अन्य संकेत-चिन्हों के लिए पृष्ठ ७४२ का मैटर देखिए।

'साधु' का बोध कराने के लिए दो सांकेतिक चिह्न हैं, जो कि संयुक्त रूप में इस प्रकार लिखे जाते थे, जैसे ७४५ पृष्ठ के चित्र में नं० २१ में दिखाये गये हैं। इनका प्राचीन रूप नं० २२ के चिह्न जैसा था, जिसमें दो सांकेतिक चित्र 'मनुष्य' के 'पर्वत' पर रहने का बोध कराते हैं।

अधिक विशद वर्णन के लिए प्रतीकों का सहारा लिया गया। मूर्त पदार्थों के चित्र अमूर्त विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रतीकतुल्य काम में लाये गये। 'रक्षा' का बोध कराने के लिए एक 'हाथ' का चित्र बनाया गया, जो कि 'अबला' की सहायता के लिए तना हुआ है। 'वृक्ष' के चित्र के नीचे 'सूर्य' का चित्र अन्धकार का बोध कराने लगा और वैसे ही 'वृक्ष' के चित्र के ऊपर 'सूर्य' का चित्र या 'चन्द्रमा' और 'सूर्य' के चित्र साथ-साथ प्रकाश का बोध कराने लगे। दो मिले हुए हाथों से 'मित्र' का अर्थ लिया गया। इसी प्रकार ४०,००० चीनी शब्दों में से अधिकांश के सांकेतिक चिह्न बन गये। इन्हें चित्र के बजाय प्रतीक कहना अधिक युक्ति-संगत होगा; क्योंकि आधुनिक चीनी लिपि में बहुत कम चिह्न ऐसे रह गये हैं, जिनमें मूल चित्रों का लेशमात्र भी आभास मिल सके। चीनी लिपि के अध्ययन करने पर हमें उसकी क्लिष्टता और

उसके निर्माताओं की बुद्धिमत्ता पर चकित होना पड़ता है। चीनी भाषा की विचित्रता के ही कारण उसकी लिपि भी विचित्र प्रकार की बनी। चीनी भाषा धातु-प्रधान भाषा है। उसमें ऐसे कोई चिह्न नहीं, जिनके द्वारा काल, पुरुष, वचन, कारक और अर्थ का पता लग सके। एक शब्द अपने उसी रूप में संज्ञा, क्रिया, विशेषण, क्रिया-विशेषण सबके लिये प्रयुक्त हो सकता है! प्रत्येक शब्द में एक अक्षर होता है। शब्दों का व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान वाक्य में उनकी जैसी स्थिति हो उसी से लग सकता है। चीनी भाषा में स्वर और व्यंजनों की विभिन्न एकाक्षरी संहिताओं की संख्या ४५० है। केवल चार विभिन्न स्वरपातों के प्रयोग से

१२०३ सुबोध्य एकाक्षरी शब्दो का उच्चारण संभव है। परन्तु सभ्यता की दौड़ में बढ़ी हुई चीनी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ये शब्द बहुत ही थोड़े हैं, यह स्पष्ट है। इसीलिए चीनी भाषा मे बहुत से 'होमोफोन्स' हैं। 'होमोफोन' वह संकेत है, जिसमे एक ही उच्चारण से अनेक शब्दों का काम निकाला जाता है। इसी कारण अधिकांश चीनी एकाक्षरों के एक से अधिक अर्थ होते हैं। बहुत-सी गड़बड़ संकेतों और स्वरपात से दूर की जाती है। लिखने के समय भी किसी ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता प्रत्यक्ष है। अंग्रेजी में तो 'राइट' (Right) और 'राइट' (Write) उच्चारण मे एक होने पर लिखने के समय विभिन्न वर्ण-विन्यासयुक्त होते हैं। चीनी भाषा में किसी भी चीनी शब्द को पूर्णतया बुद्धिगम्य करने के लिए दो प्रतीक प्रयुक्त होते हैं। इनमें एक तो ध्वनि-बोधक होता है और दूसरा भाव-बोधक। ऐसे भाव-बोधक प्रतीकों को टीका या कुंजी कहते हैं। उदाहरणार्थ, चीनी में 'पा' ध्वनि के आठ विभिन्न अर्थ होते है; इसका अर्थ है कि आठ विभिन्न शब्द हैं, जिनका एक ही उच्चारण है। एक ध्वनि-बोधक चिह्न इस तरह लिखा जाता है जैसा पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० २३ के दो चिह्नो में ऊपर का चिह्न है; इस चिह्न का मूल रूप उसी के नीचे दिखाया गया है, जो किसी जानवर की दुम के सदृश है। 'वृक्षों' की टीका के साथ इस ध्वनि-बोधक चिह्न का अर्थ होगा 'केले का पेड़'; 'लोहे' की टीका के साथ इसका अर्थ होगा 'लड़ाई का रथ'; 'रोग' की टीका के साथ अर्थ होगा 'घाव'; और 'मुख' की टीका के साथ अर्थ होगा 'चिल्लाहट'। इसी प्रकार अन्य चार अर्थ और होंगे।

विचार करने से समझ मे आ जायगा कि चीनी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कोई आसान काम नही है। वह लगभग एक असम्भव कार्य है। एक मामूली चिट्ठी लिखने या एक मामूली पुस्तक पढ़ने भर को लगभग ६००० या ७००० सांकेतिक चिह्नों को स्मरण रखने की आवश्यकता है। जितनी पढ़ने-लिखने की क्षमता हिन्दी के एक विद्यार्थी में ६ या ७ वर्ष की अवस्था में होती है, उतनी चीनी विद्यार्थी में २५ वर्ष की अवस्था में भी मुश्किल से पाई जाती है। यदि हिन्दी-भाषा या साहित्य का साधारण ज्ञान चार या पाँच साल मे हो सकता है, तो चीनी भाषा के विद्यार्थी को उतना ही सीखने के लिए बीस साल लग जाते है। भला, इतना समय कहाँ से आए, और किसको इतना अवकाश और धैर्य प्राप्त है, जो ऐसी विलष्ट भाषा को सीखने का उद्योग करे? स्पष्ट ही ह कि ऐसा कार्य एक विशेष वर्ग के लोगों के मत्थे डाल दिया जाता है, जिनका काम ही जीवन-पर्यन्त पढ़ना-लिखना रह जाता है।

जापानी लिपि

लेखन-कला को अधिक सुविधाजनक तथा सरल बनाने के लिए आक्षरिक साधन का आश्रय ग्रहण किया गया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है जापानी लिपि, जिसका उद्भव चीनी लिपि से हुआ। चूँकि जापानी भाषा अनेकाक्षरी है, अतएव उसमें मौखिक ध्वनि-बोधक चीनी वर्णों का प्रयोग आक्षरिक चिह्नो के रूप में होना संभव था। अतः आक्षरिकता की ओर प्रगति अनिवार्य हो गई। 'हीराकाना' अक्षरो में 'त्सी' के लिए वह अक्षर है, जो ७४५ पृष्ठ के चित्र में नं० २४ में प्रदर्शित है और 'काताकाना' में इसी के लिए नं० २५ वाला चिह्न है, जिसका अव्याहृत लिपि-चिह्न है नं० २६ वाला चिह्न। यह प्रतीक लिये गये हैं चीनी सांकेतिक चिह्न सि (si) से (दे० उक्त चित्र में नं०२७), जिसका अर्थ है 'पुत्र'। इसका मूल रूप उक्त चित्र में नं० २८ का चित्र है।

क्यूनीफार्म लिपि का आविर्भाव

चार हजार वर्षो तक चीनी लोग भाव-बोधक सांकेतिक चिह्नों की परिधि से आगे न बढ़ सके। किन्तु जब दूसरी जाति के लोगों ने उनके प्रतीकों को देखा, और समझा तो तुरन्त ही आवश्यकतानुसार उन्होने उनका उपयोग किया। देखा गया है कि ऐसे परिवर्तन दो विभिन्न जातियो के पारस्परिक संसर्ग द्वारा ही संभव है। उदाहरणार्थ, मिस्री चित्र-लिपि मे सुधार सैमिटिक जाति ने किये और सैमिटिक वर्णमाला में सुधार यूनानियो, आर्यो और ईरानियों ने किये। जब एक जाति ने अन्य जाति की लिपि को देखा, तो उसने उसमें अपने लिए उपयोगी आवश्यक परिवर्तन और सुधार किये। क्यूनी-फार्म या कीलाक्षर लिपि के सम्बन्ध मे भी यही बात सत्य घटित हुई। तुरानी जाति ने इसका आविष्कार किया; उनसे वह सैमिटिक जातिवाले असीरियनों और बैबिलोनियन लोगो के यहाँ पहुँची। सैमिटिक क्यूनीफार्म से तुरानी 'प्रोटो-मीडिक' का जन्म हुआ और ईरानी आर्यो ने क्यूनीफार्म वर्णमाला को जन्म दिया। जिस ढंग से लिपि में विविध सुधार और परिवर्तन होते है, क्यूनीफार्म लिपि इसका एक आश्चर्यजनक सच्चा उदाहरण है—किस तरह मूल चित्र से भाव-बोधक चित्र बनते हैं और फिर ये मौखिक ध्वनि-बोधक चित्रों से आक्षरिक संकेतों मे परिणत हो जाते है तथा अन्ततोगत्वा वर्णमाला के अक्षर बन जाते हैं! ७४५ पृष्ठ के चित्र में नं० २९ का चिह्न एक असीरियन सांकेतिक चिह्न है, जिसको 'अल्पू' कहते हैं; इसका अर्थ है 'बैल'।
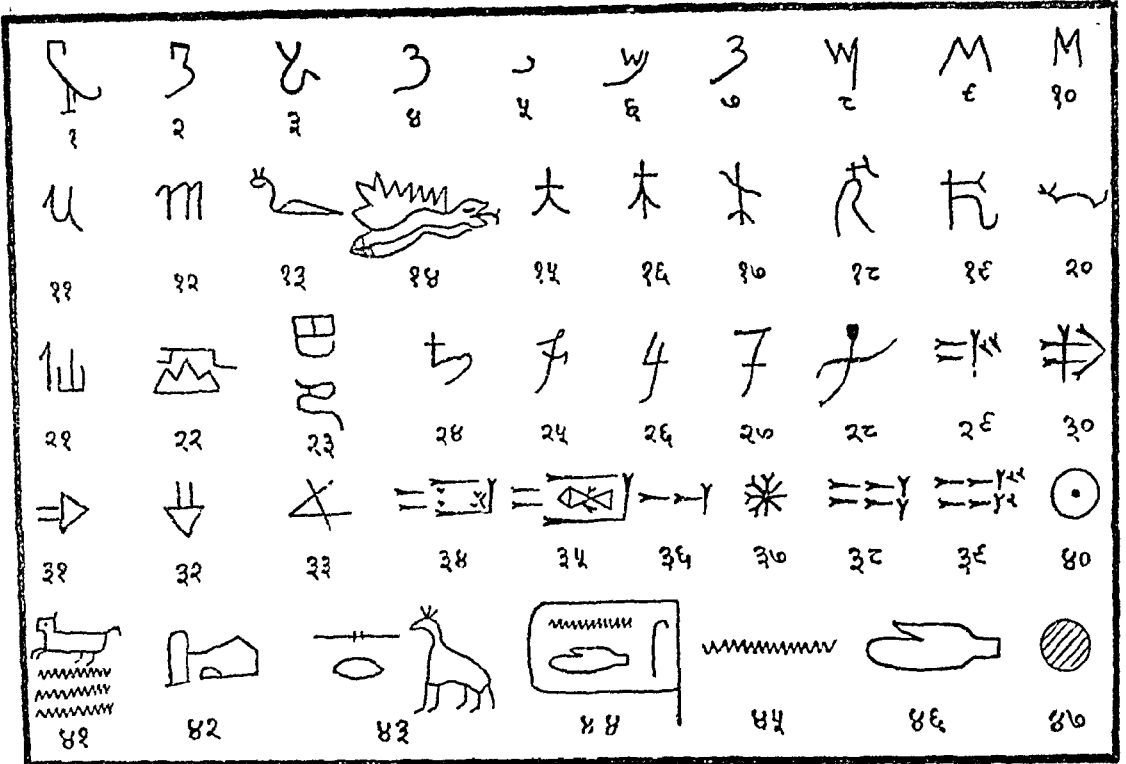
अक्षरों के आदिम रूप

इस चित्र में दिये गये संकेत-चिह्नों का निर्देश प्रत्येक चिह्न के नीचे दिये गए नंबर द्वारा लेख में स्थान-स्थान पर किया गया है।

इस असीरियन रूप का हाइरेटिक बैबिलोनियन रूप नं० ३० का चिह्न है और इसका लीनियर बैबिलोनियन रूप है नं० ३१ का चिह्न। यदि इसको थोड़ा घुमाकर सामने से देखा जाय (दे० नं० ३२ का चिह्न) तो बैल के सिर और सींगों का आकार दिखलाई पड़ेगा। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इस मूल चित्र और नं० ३३ के फिनीशियन सांकेतिक चिह्न में अधिक अन्तर नहीं है। संयुक्त सांकेतिक चिह्न भी छोटे-छोटे रूपों के मेल से बनाये गये। निनवे नगर का बोध कराने के लिए भावबोधक प्रतीक नं० ३४ में प्रदर्शित चिह्न है। इसका प्राचीन रूप है नं० ३५ का चिह्न। यह सांकेतिक चित्र दो भावबोधक चित्रों को मिलाने से बना। इसमें एक 'घर' प्रदर्शित है, जिसमें 'मत्स्य' है। इस चित्र में उस काल के इतिहास की झलक मिलती है, जब निनवे नगर एक समय केवल मछुओं की बस्ती मात्र था। जब यह लिपि असीरिया पहुँची, तो उसमें अनेक सुधार किये गये। क्यूनीफार्म लिपि के निर्माताओं की भाषा अनेकाक्षरी थी। अतएव उन्होंने अपनी भाषा को सरल करने के लिए उसे आक्षरिक बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मूल भाव-बोधक चित्र को ध्वनि-बोधक मान लिया, फिर इस प्रतीक द्वारा उन्होंने शब्द के आदि अक्षर के उच्चारण का बोध कराया। उदाहरणार्थ, आकाश का वाचक साधारण संकेत (इसी पृष्ठ के चित्र में नं० ३६ का चित्र) है। यह भावबोधक तारे के चित्र (देखो चित्र में नं० ३७) का सरलीकृत रूप है। प्रोटो-बैबिलोनियन धर्म में नक्षत्रों की उपासना मुख्य थी। इसीलिए यह सांकेतिक चिह्न 'भगवान्' के लिए प्रतीकात्मक भाव-बोधक चित्र बना। भगवान् के लिए मूल शब्द ऐकेडियन भाषा में 'ऐना' है। इसका सरलीकृत रूप हुआ 'ऐन'। इस प्रकार हमने देखा कि पहले तो सांकेतिक चिह्न आकाश का बोध करानेवाला भाव-बोधक चिन्ह बना, और भगवान् के लिये भी वह प्रयुक्त हुआ, और अन्तिम अवस्था में वह केवल 'ऐन' के उच्चारण-बोधक ध्वनि-बोधक चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ। जब एक बार मूल ध्वनि-बोधक संकेतों से अक्षरों का निर्माण हो गया तो इन अक्षरों को मिलाकर अनेकाक्षरी शब्दों का बोध कराया जाने लगा। उदाहरणार्थ, 'प्रकाश' का बोध करानेवाला आक्षरिक चिह्न वह है, जो चित्र में नं० ३८ में दिया है।

इसे 'पर्वत' बोधक चिह्न से संयुक्त करा दिया, तो वह संयुक्त ध्वनि-बोधक संकेत बना, जो नं० ३९ में दिया है, और जिसका अर्थ होता है 'आत्मा'।

क्यूनीफार्म में अनेक जटिलताएँ कालान्तर में प्रवेश करने लगीं। असली वर्णमाला का उद्भव तो ईरानी आर्यों द्वारा ही हुआ, परंतु ईरानी क्यूनीफार्म में भी कई बातों का अभाव खटकता है, जिसके कारण वह पूर्ण विकसित वर्णमाला के अधिकार से वञ्चित रह गई। कदाचित् ईरानियों को वर्णमाला की आवश्यकता फिनीशियन वर्णमाला से परिचय होने पर सूझी हो। फिनीशियन वर्णमाला फरात की घाटी में ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित थी और वह क्यूनीफार्म लिपि की समकालीन थी। औपर्ट के कथनानुसार प्रोटो-मीडिक अक्षरों से थोड़े-से क्यूनीफार्म वर्ण लिये गये, उन्हें और सरल बनाया गया और भावबोधक सांकेतिक अर्थों का ईरानी भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार ईरानी शब्द बनने पर आद्यक्षरोच्चारण सिद्धांत के अनुसार वर्णमाला तैयार की गई। ईरानी वर्णमाला के अनुशीलन से विकासवाद के सिद्धांत की पुष्टि होती है। वस्तुतः मनमाना आविष्कार नाम की कोई चीज नहीं है। जिस प्रकार वृक्षों और पशुओं का विकास होता है, उसी प्रकार लिपि का भी। जिस प्रकार मूल चित्रों से ईरानी वर्णमाला के अक्षरों की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार मिस्री चित्रों से रोमन वर्णमाला की उत्पत्ति हुई। इसका इतिहास बड़ा ही विस्मयजनक है।

मिस्री चित्र-लिपि का विकास

जब हम क्यूनीफार्म और चीनी लिपियों की मिस्री चित्र-लिपि से तुलना करते हैं, तो शीघ्र ही समझ में आ जाता है कि किस प्रकार मिस्री चित्र-लिपि बनी।

यह तो स्पष्ट ही है कि मिस्री चित्र-लिपि का श्रीगणेश अन्य लिपियों की भाँति भाव-बोधक चित्रों से हुआ और बहुत-से चित्र अपने पूर्वरूप में अन्त तक प्रयुक्त होते रहे। उदाहरणार्थ पृष्ठ ७४५ के चित्र नं० ४० वाला प्रतीक सूर्य का बोध करानेवाला भाव-बोधक चित्र-संकेत ही है। अनेक अमूर्त विचार प्रतीकों द्वारा बुद्धिगम्य किये गये। 'प्यास' का बोध जल की ओर दौड़ते हुए वत्स द्वारा कराया गया (दे० उक्त पृ० के चित्र में नं० ४१); 'लड़ाई' का बोध दो भुजाओं द्वारा कराया गया है (उक्त चित्र में नं० ४२), जिनमें एक ढाल को पकड़े हुए है और दूसरी एक भाला ग्रहण किए हुए है।

इसके पश्चात् मूल भाव-बोधक संकेतों से मौखिक ध्वनि-बोधक संकेतों की उत्पत्ति हुई। तदनंतर आद्यक्षर सिद्धांतानुसार ये ध्वनि-संकेत आक्षरिक संकेतों के लिए प्रयुक्त हुए। 'वंशी' का चित्र 'उत्तमता' का प्रतीक समझा जाता था। तत्पश्चात् वह 'अच्छे' का बोध कराने के लिए ध्वनि-बोधक संकेत बना। मिस्री भाषा में इसके लिए 'नेफर' शब्द है। परन्तु यह ध्वनि-संकेत दो शब्दों के अर्थ में प्रयुक्त होता है—एक का अर्थ 'अच्छे' का है और दूसरे का 'यथासंभव'। अतएव हम देखते हैं कि वही संकेत 'वंशी' का बोध कराने के लिए भाव-बोधक चित्र संकेत है और 'अच्छाई' का बोध कराने के लिए है भाव-बोधक प्रतीक। फिर वही 'यथासंभव' के अर्थ में ध्वनि-बोधक उपसर्ग 'नेफर' बना और अन्त में 'ने' का बोध कराने के लिए आक्षरिक संकेत बन गया ('ने' 'नेफर' का आद्याक्षर है)।

जब ध्वनि-बोधक कठिनाई दूर हो गई तो आक्षरिक संकेतों को मिलाकर संयुक्त ध्वनि-बोधक संकेत बने। ऐसा होने पर बहुत-से प्रतीक अनेक-ध्वनि-बोधक बन गए। इनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया जाने लगा। ये विशेषण दो प्रकार के होते थे—एक विशेष, दूसरे जाति-बोधक। उदाहरणार्थ पृ० ७४५ के चित्र में नं० ४३ वाले समूह में (जो मिस्री शब्द 'सेर' का प्रतीक है, और जिसका अर्थ है जिराफ), पहले दो प्रतीक ध्वनि-बोधक संकेत हैं और वे 'सेर' की ध्वनि को व्यक्त करते हैं। इसके पश्चात् एक पशु का चित्र है, जो कि **विशेष** विशेषण है। इन **विशेष** विशेषणों की संख्या अपरिमित है। जातिबोधक विशेषणों की संख्या लगभग १०० है और इनका प्रयोग विशेष स्थलों पर ही होता है। उदाहरणार्थ, 'चक्षु' का प्रयोग उन शब्दों के लिए होता है, जो देखने और समझने से सम्बन्ध रखते हैं; 'दो टाँगों' का प्रयोग होता है चलने का भाव व्यक्त करने के लिए, और 'बत्तख' का प्रयोग समस्त पक्षियों के लिए होता है।

यहाँ तक तो मिस्री लिपि क्यूनीफार्म और चीनी लिपियों की भाँति कार्य-साधन करती रही। लेकिन अब एक अन्तर उपस्थित हुआ। इसमें अनेक भावबोधक और आक्षरिक चिह्नों से सम्बन्धित कुछ ऐसे संकेत हैं, जिन्हें हम वर्णाक्षरिक कहने के लिये मजबूर हैं। इन्हीं वर्णाक्षरिक प्रतीकों से पाश्चात्य जगत् में व्याप्त रोमन लिपि का उद्भव हुआ। ये प्राचीनतम स्मारकों पर अभिलिखित हैं। महीपति सेंत के प्राचीनतम लेख में राजा का नाम व्यक्त करने के लिये जो वर्णाक्षर प्रयुक्त हुए हैं, वे पृ० ७४५ के चित्र में नं० ४४ में प्रदर्शित हैं। अंग्रेजी अक्षर एन (n) और डी (d) के मूल हैं उक्त चित्र में नं० ४४ और ४५ वाले संकेत-चिह्न, जिनके द्वारा राजा सेंत का नाम लिखा गया है।

एक और उदाहरण मिस्री सम्राट् खैफरे की अँगूठी का है। खैफरे ने ही पिरामिड बनवाए हैं। इस अँगूठी पर अंकित जो प्रतीक हैं, उनका हम आज भी प्रयोग करते हैं। पहला प्रतीक है पृष्ठ ७४५ के चित्र में नं० ४७ का चिह्न, जो एच (H) का मूल है; दूसरा प्रतीक है वर्र (दे० उक्त चित्र में नं० १३), जिससे F, Y, V, U और W की उत्पत्ति हुई है। इन वर्णाक्षरों से एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है। वह यह है कि ये अक्षर पिरामिडों से भी प्राचीन हैं। उस आदि काल में भी मिस्री जाति इतनी उन्नतिशील थी, यह कोई कम आश्चर्य की बात नही है।

वर्णाक्षरों का आविष्कार कोई मामूली बात न थी। न तो बैबिलान के लोग, न असीरिया के लोग, न मीडी, न जापानी—कोई भी आक्षरिक मंजिल से आगे नही बढ़ पाये थे। इन जातियों के अक्षरों में स्वर-ध्वनि-बोधक प्रतीक तो मिलते हैं, पर इनसे अधिक कठिन व्यञ्जन-बोधक प्रतीक तक उनकी पहुँच नही हो पाई थी। ऐसी ध्वनि की उत्पत्ति, जो बिना दूसरी ध्वनि की सहायता के उच्चारण न की जा सके, आसान नही है। यह काम मिस्री जाति ने ही किया! अन्त में मिस्री वर्णमाला के निर्माण में कुछ विशेष प्रतीक प्रयुक्त होने लगे। आरंभ में लगभग ४०० मिस्री ध्वनि-संकेत थे। घटते-घटते वे केवल ३५ रह गए।
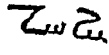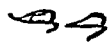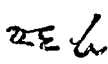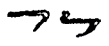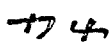
वर्णाक्षरों का प्रादुर्भाव

चित्र-लिपि में वर्णाक्षर हजारों वर्षो तक छिपे रहे। आवश्यकता इस बात की थी कि उसमें जितने भी अनावश्यक उपादान थे, उनको अलग कर दिया जाता, जिससे कि वर्णमाला का प्रयोग और अधिक सरल तथा सुबोध हो जाता। यह काम सैमिटिक जाति ने किया। पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार इसी जाति ने संसार को वास्तविक वर्णमाला दी।

अंग्रेजी में वर्णाक्षरों को 'अलफाबेट' कहते हैं। जैसा कि इस नाम से प्रकट है, यह यूनानी भाषा के प्रथम दो वर्णाक्षरों—'अलफा' और 'बीटा'—के सम्मिलन से बना है। 'अलफा' और 'बीटा' और 'अलिफ' और 'बेथ' में जो साम्य है, वह प्रकट ही है। 'अलफा' और 'बीटा' के तो कोई भी

	१	२	३	४
उकाब				A
बगुला				B
सिंहासन				C
हाथ				D
भूलभुलैयाँ				E
वर्र				F
बत्तख				Z
चलनी				H
चिमटा				
समानान्तर रेखाएं				I
प्याला				K
सिंहनी				L
उल्लू				M
जल				N
कुर्सी की पीठ				X
......			o	O
खिड़की				P
सर्प				
कोण				Q
मुख				R
जलपूर्ण उद्यान				S
फन्दा				T

(दाहिनी ओर) रोमन अक्षरों का विकास

इस चित्र में नं० १ के नीचे के संकेत मिस्री हाइरोग्लाफिक संकेत है, जिनसे क्रमशः नं० २ के नीचे दिये गये हाइरेटिक संकेत-चिह्न, फिर उनसे नं० ३ के नीचे दिये फिनीशियन संकेत चिह्न और अन्त में नं० ४ के नीचे दिये गये रोमन अक्षर बन गये।

अर्थ नहीं है, परन्तु सैमिटिक भाषा के 'अलिफ' और 'बेथ' सार्थक हैं। अलिफ 'बैल' का द्योतक है और बेथ 'गृह' का।

अंग्रेजी वर्णाक्षरों का सम्बन्ध रोमन वर्णाक्षरों से है, और रोमन का यूनानी से। यूनानी का सैमिटिक से है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में केवल नाम का ही साम्य नहीं है, किन्तु जिस क्रम से यूनानी वर्णाक्षर प्राप्य हैं, उससे प्रत्यक्ष है कि सैमिटिक जाति ने ही यूनानियों को पूर्ण वर्णमाला दी। यद्यपि उनके नामों में साम्य है, परन्तु रूप में नहीं है। रूप पूर्णतया उसके विभिन्न हैं और इस बात के साक्षी हैं कि रूप-विभिन्नता अपनी-अपनी अवस्थाओं और आवश्यकताओं पर निर्भर होती है। यद्यपि अर्वाचीन हीब्रू और यूनानी वर्णाक्षरों में कोई साम्य दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु हम आदिम सैमिटिक और आदिम यूनानी वर्णाक्षरों में पर्याप्त ही नहीं, लगभग पूर्ण साम्य के दर्शन करते हैं (देखिए पृ० ७५१ का चित्र)। इन वर्णाक्षरों के अध्ययन से हमें यूनानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति का ही पता नहीं मिलता, वरन् अंग्रेजी के बड़े वर्णाक्षरों और सैमिटिक वर्णाक्षरों की प्राचीनतम रूपरेखा का भी पता लग जाता है और यह देखकर आश्चर्य होता है कि ढाई हजार वर्षों से अधिक समय बीत जाने पर भी इनमें कितना कम परिवर्तन हुआ है !

मोआबाइट प्रस्तरवाले लेख में बिना किसी कठिनाई के हम रोमन वर्णाक्षरों का तो पता लगा ही सकते हैं, परन्तु यदि विशेष परिश्रम किया जाय तो सीरिएक, रूसी, हीब्रू, आर्मीनियन, पैह्लवी आदि का भी पता लगाने में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। जो भी कठिनाइयाँ होंगी, वे केवल क्रम की। कहीं-कहीं पर क्रम न मिलेगा। इतना होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों को यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि सम्पूर्ण वर्णाक्षरों की (जिनकी संख्या लगभग तीन हजार है) उत्पत्ति मूल सैमिटिक लिपि से ही हुई और मोआबाइट प्रस्तरालेख में सभी वर्णाक्षरों के बीज सूक्ष्मत. प्राप्य हैं।

परम्परा का कथन है कि लेखनकला को फिनीशियन लोगों ने मिस्र से ले जाकर यूनान में प्रतिष्ठित किया। इस कथन पर सच्चाई की मोहर लगाने के लिए प्लैटो, प्लूटार्क, और टैसिटस आदि के नामों का उल्लेख किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार यूनानी और सैमिटिक वर्णाक्षरों में हमने साम्य स्थापित किया है, उसी प्रकार किसी भाँति भी सैमिटिक वर्णाक्षरों की उत्पत्ति मिस्री चित्र-वर्णमाला से स्थापित करने में हम असमर्थ हैं। न क्रम, न नाम, न रूप, किसी में भी उनमें साम्य नहीं दिखलाई पड़ता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि परम्परा का यह कथन कि सैमिटिक अक्षर मिस्र से प्राप्त हुए हैं, असत्य है।

रूजे की महत्वपूर्ण खोज

जिसैनियम नामक विद्वान् का कथन है कि सैमिटिक चित्र-वर्णमाला ही बाद की संशोधित वर्णमाला का मूल आधार है। उदाहरणार्थ, 'अलिफ' का पूर्वरूप बैल के सिर का चित्र है, 'बेथ' का मूलरूप 'खेमा' है, आदि। प्रोफेसर ह्विटनी और अर्नेस्ट रेटॉन जैसे प्रकाण्ड पण्डितों का कथन है कि फिनीशियन जाति ने मिस्री जाति से ही लेखन-कला को सीखा और संसार भर में फैलाया। कई शताब्दियों तक वर्णमाला की मूल उत्पत्ति के बारे में कोई भी निश्चयात्मक बात स्थिर नहीं की जा सकी थी। परन्तु खोज करने से अब पता लग गया है कि सैमिटिक वर्णाक्षर किस प्रकार प्रादुर्भूत हुए। इसका श्रेय एक फ्रान्सीसी विद्वान् इमानुअल रूजे महोदय को है। इनकी खोज का सिद्धान्त यह है कि सैमिटिक वर्णमाला का पूर्वरूप मिस्री चित्र-वर्णमाला में न ढूंढ़कर वहाँ की चित्र-वर्णमाला की अनवरुद्ध लिपियों में ढूंढ़ना चाहिए, जिन्हें जनता प्रतिदिन व्यवहार में लाती थी। चित्र-वर्णमाला तो केवल जातीय महान् कार्यों और धार्मिक व्यवस्थाओं के लिए ही व्यवहृत होती थी।

रूजे महोदय की खोज यह है कि मिस्र की चित्र-वर्णमाला का अनवरुद्ध लिपि-रूप प्राचीन हाइरेटिक लिपि थी, जिसका उत्पत्तिकाल हाइक्सोज के आक्रमण के पश्चात् आता है, जब सेमिटिक सेना ने दक्षिण मिस्र पर आधिपत्य जमाया था। लगभग छः शताब्दियों के अन्दर-अन्दर सैमिटिक वर्णमाला बढ़ी और पनपी।

रूजे महोदय ने प्राचीनतम प्रचलित सैमिटिक वर्णाक्षरों से अपने अनुसंधान का कार्य प्रारम्भ किया। इनसे समानता स्थापित करने के लिए इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने हाइक्सोज के मिस्र से बहिष्कृत होने के पूर्वकाल के हाइरेटिक अक्षरों को खोज निकाला। फिर प्रत्येक चित्र की शुद्ध ध्वनियों को खोज निकाला। इसके लिए इन्होंने सीरिया प्रदेश के नगरों के नामों का व्यवहार किया, जिनका उल्लेख 'पैपिरस अनासतासी' में किया गया है। यह पैपिरस सीरिया में यात्रा-सम्बन्धी विवरण की एक पुस्तक है। इस विधि से रूजे ने प्रत्येक सैमिटिक वर्णाक्षर के हाइरेटिक पूर्वरूप का पता लगाया। रूजे के इस प्रयास का फल यह हुआ कि इनकी खोज का पदानुसरण कर शुद्ध वैज्ञानिक रूप से भाषा-सम्बन्धी खोजें सम्भव हो गईं।

हाइरेटिक लिपि में लिखी गई संसार की प्राचीनतम पुस्तक, जो उपलब्ध हो सकी है, वह है 'पैपिरस प्रीस'। यह थीवी में प्रीस नामक विद्वान् को बहुत खोज के अनन्तर मिली थी। सर्वप्रथम यह सन् १८४७ में प्रकाशित की गई। इसमें कुल मिलाकर अठारह पृष्ठ है। पहले दो पृष्ठ कुछ अस्पष्ट हैं और अन्तिम सोलह पृष्ठों में उपदेश लिखे हुए हैं। लिपि के वर्ण पूर्ण, सुगठित और सुन्दर हैं। जब सैमिटिक जाति की विजय-पताका मिस्र में फहराई, उस काल में यह हाइरेटिक लिपि साहित्यिक और व्यापारिक कार्यों के लिए व्यवहृत होने लगी। उसी का सर्वोत्तम उदाहरण यह पैपिरस प्रीस है।

पृष्ठ ७४७ पर दिये गये चित्र में तीसरे खाने में फिनीशियन (सैमिटिक) अक्षर दिये गये हैं, जैसे कि वे मोआवाइट प्रस्तर पर खुदे हुए हैं। उसी चित्र के दूसरे खाने में हाइरेटिक अक्षर दिये गये हैं। पहले खाने में मिस्री हाइरोग्लाफिक्स दिये हुए है। समस्त हाइरेटिक अक्षर एक या दो के अतिरिक्त पैपिरस प्रीस से लेकर दिये गये हैं। फिनीशियन (सैमिटिक) और हाइरेटिक रूपों का अध्ययन करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पैपिरस प्रीस और मोआवाइट प्रस्तर के बीच का काल लगभग १३०० वर्ष का है। इसमें वर्णमाला के अक्षरों में परिवर्तन होना अनिवार्य था। आश्चर्य तो इस बात का है कि रूपान्तर इतना थोड़ा हुआ, और अधिक न हो सका। विशेष अन्तर तो हाइरेटिक और हाइरोग्लाफिक चित्र-संकेतों में दृष्टिगोचर होता है।

पैपिरस प्रीस की दो पंक्तियाँ

यह हाइरेटिक लिपि में लिखित संसार की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक का एक अंश है।

रूजे महोदय ने बड़ी छानबीन के पश्चात् अपनी खोज के नतीजों को लिखा है। पूर्ण विवरण तो उनकी पुस्तक के अवलोकन से ही मिल सकता है, अतः यहाँ एक-दो उदाहरण देकर ही हम सन्तोष कर लेंगे।

फिनीशियन भाषा में अन्य भाषाओं की तरह 'र' और ल' में विशेष अन्तर नहीं है। 'र' ध्वनि का प्रतीक चित्र-वर्णमाला में मुख है (दे० ७४७ पृष्ठ का चित्र) और 'ल' का प्रतीक है सिंहनी (दे० वही चित्र)। इसके हाइरेटिक और सैमिटिक रूप भी (उसी चित्र में) इन संकेत-चिह्नों के आगे दिये गये है। पैपरिस प्रीस की गोलाई मोआवाइट प्रस्तर के कोण में परिवर्तित हो गई है। यह अन्तर लेखन-सामग्री के कारण है।

हाइरोग्लाफिक वर्णमाला में 'व' का प्रतीक 'वर्र' है (दे० पृष्ठ ७४७ का चित्र)। इसके मोआवाइट प्रस्तर के रूप और हाइरेटिक रूप में कोई विशेष अन्तर ही नहीं है, प्रत्युत पूर्ण समानता दिखलाई पड़ती है।

'श' ध्वनि के लिए हाइरोग्लाफिक संकेत है 'जल-पूर्ण उद्यान' का चित्र (दे० उक्त चित्र)। इसके फिनीशियन रूप और हाइरेटिक रूप में कितनी समानता है, स्पष्ट ही है। फिनीशियन वर्ण केवल अनावश्यक पुछल्ला हटाकर बना लिया गया है। पुछल्ला लेखक की अपनी कलात्मक भावना का प्रदर्शन भी हो सकता है।

इसी प्रकार अन्य वर्णों का अध्ययन कर हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि कम से कम १६ वर्णों की समानता तो पूर्ण सन्तोषप्रद है। अन्य वर्णो के लिए सन्देह की काफी गुञ्जाइश है। यदि खोजकर और कुछ सामग्री मिल सकी, तो बहुत अंशों में ये संदेह भी मिट जायँगे।

एक बात यहाँ और स्पष्ट करना आवश्यक है। जिस अनुमान के सहारे रूजे महोदय ने मिस्री और सैमिटिक वर्णों में समानता दिखलाने की चेष्टा की है, वह यद्यपि मैक्समूलर, लेनोर्मा, माहार्फी जैसे भाषाविज्ञों को मान्य है, फिर भी बहुतों ने उस अनुमान को मिथ्या सिद्ध किया है।

मिथ्या सिद्ध करनेवालों में प्रो० लागार्दे प्रमुख है। इन महोदय का कहना है कि कितनी ही सैमिटिक ध्वनियाँ सैमिटिक भाषा की विशेषताएँ है और वे मिस्री वर्णमाला में कभी भी स्थान नहीं पा सकती। अतः सैमिटिक वर्णो की उत्पत्ति सैमाइट जाति के ही मस्तिष्क की उपज हो सकती है। परन्तु इसमें लागार्दे महोदय यह भूल करते है कि जब एक जाति दूसरी जाति की वर्णमाला को अपनाती है, तो यह आवश्यक नही कि ध्वनियों में पूर्ण साम्य हो। समानता लगभग मिलती-जुलती ही हो सकती है। उसी ध्वनि को हम अन्य जातियों की वर्णमाला द्वारा प्रकट कर सकते हैं। इसी प्रकार के अन्य आक्षेप हैं, जिनका निराकरण थोड़ी-सी समझ के प्रयोग से हो सकता है।

सैमिटिक अक्षर सैमिटिक चित्र-लिपि से बने, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। न तो प्राचीन भाव-चित्र मिलते हैं, न प्राचीन स्मारक ही, जिन पर प्राचीन चित्र अभिलिखित हों। कुछ विद्वानों का कथन है कि

सैमिटिक अक्षर हिट्टाइट चित्र-लिपि के परिवर्तित रूप हैं। परन्तु इस की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नही मिले हैं। अतएव हमारे लिए रूजे के सिद्धान्त को अपनाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नही है।

सैमिटिक वर्णमाला के विविध रूप

सैमिटिक वर्णमाला का कुटुम्ब बहुत बड़ा है। उसमें फिनीशियन, हीब्रू, सीरिएक, अरामियन, मोआबाइट और अरबी संमिलित हैं। इनके अक्षरों के रूप विभिन्न है, परन्तु इन सब की उत्पत्ति एक ही आदिम वर्णमाला से है। मोआबाइट प्रस्तर के अभिलेख पर सैमिटिक लिपि की समस्त विशेषताएँ—अक्षरों का क्रम, संख्या, नाम, शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव, दाईं से बाईं ओर को लिखना, आदि—देखने को मिलती हैं और यह पैपरिस प्रीस के काल से लेकर अब तक ज्यों की त्यों बनी है। शुद्ध स्वरों का पूर्ण अभाव सर्वप्रधान विशेषता है। सैमिटिक वर्णमाला में जितनी भी ध्वनियाँ हैं, उनमें भी कोई परिवर्तन नही हुआ है। कंठ्य ध्वनि के लिए कोई प्रतीक नहीं। अक्षरों की संख्या उतनी ही है; न घटी है, न बढी।

अक्षरों के रूप बहुत बदल गये हैं। उनका अधिकाधिक अनवरुद्ध लिपि की ओर ही झुकाव रहा है और वे आधुनिक अरबी में अन्तिम सीमा को पहुँच गये हैं। मोआबाइट प्रस्तर पर अभिलिखित अक्षरों में से बारह के रूपों में पूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। ये आदिम चिन्ह उनके परिवर्तित रूपों के साथ नीचे दिये जाते हैं :—

इन रूपों को पहचानने में कितनी कठिनाई है, यह स्पष्ट है। पढने की कठिनाई को दूर करने के लिए नुकते लगाये गये, जिससे कि ये ठीक-ठीक पढ़े जा सकें। अब ये इस प्रकार लिखे जाते हैं:—

वास्तव में नुकतों के लगाने से अक्षर अथवा वर्ण गायब हो गया और शब्द मात्र रह गया। अक्षर का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व ही न रह गया।

'बे' 'नून' 'ये' 'ते' का नुकतों के अभाव में एक ही रूप है। प्राण-ध्वनि 'ह' स्थिति के अनुसार चार प्रकार से लिखी जाती है और इसके चार रूप और भी हैं, जिन्हें हम यहाँ महाप्राण कह सकते हैं।

वस्तुतः अभी वर्णमाला पूर्णरूपेण विकसित नही हुई थी। पूर्णता तो अनेक शताब्दियाँ बीतने पर उसे मिली। इस पूर्णता का श्रेय आर्यों को है। आर्यों ने ही संसार को स्वर दिये।

अरबी की लिपि पढ़ने से पहले उसे भाषा के रूप में जानना नितान्त आवश्यक है। इसके विरुद्ध आर्य भाषाओं में अक्षर की महत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। प्रत्येक अक्षर स्पष्ट है और उसकी आदिम रूपरेखा ज्यों-की-त्यों बनी रही है। अंगरेजी के अक्षर O, Y, H, Q के आदिम रूप मोआबाइट अक्षरों के उन रूपों से मिलते-जुलते हैं, जो पृष्ठ ७४७ के चित्रों में इन रोमन अक्षरों के सामने दिये गए हैं। अन्य अक्षरों में भी विभिन्नता विशेष नहीं है। उनमें जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे आदिम रूप को और अधिक स्पष्ट करने के हेतु से ही हुए हैं। उदाहरणार्थ D के लिए हाइरेटिक संकेत का आधुनिक रूप कितना पुष्ट होकर निखरा है! उसी प्रकार P का हाइरेटिक आदिम रूप भी है। परिवर्तन कम-से-कम हैं और हैं अक्षर को एकदम भिन्न, सरल, सुस्पष्ट रूप देने के लिए। आर्य वर्णमाला के अक्षर पढ़ने में सीधे हैं; सैमिटिक वर्णमाला के अक्षरों को लिखने के लिए कम समय की अपेक्षा है। टेलर महोदय के कथनानुसार "यदि सैमिटिक लिपि मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी का ढाँचामात्र है, तो आर्य लिपि एक जीवित मनुष्य का पूर्ण स्वस्थ मुख है, जिसमें हृदयगत भावनाओं, क्रोध की भभकती ज्वाला और मीठी मृदु मुसकान को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है।"

सैमिटिक वर्णमाला की तीन प्रधान शाखाएँ थीं—फिनीशियन, जिससे ग्रीक (यूनानी) वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; अरामियन, जिससे ईरानी वर्णाक्षरों की उत्पत्ति हुई; और दक्षिणी सैमिटिक, जिससे कि पाश्चात्य लेखक देवनागरी अक्षरों की उत्पत्ति मानते हैं, यद्यपि भारतीय विद्वानों को यह मत मान्य नही है।

सैमिटिक वर्णाक्षरों का प्रामाणिक इतिहास ई० पूर्व नवीं शताब्दी से थोड़ा-बहुत मिलता है। उस समय से लेकर अब तक उसके वर्णमाला के रूपों के विकास का इतिहास कुछ तथ्यता के साथ तो प्रस्तुत किया ही जा सकता है। इससे कुछ काल पूर्व यूनानी वर्णमाला का प्रादुर्भाव हो चुका था। इन्ही यूनानी अक्षरों से सैमिटिक अक्षरों के पुराने रूपों का अनुमान कर लिया गया है। इसी प्रकार आदिम अरबी अक्षरों का भी कालनिर्णय किया गया है।

हीब्रू वर्णमाला			अरबी वर्णमाला		ग्रीक वर्णमाला	
ध्वनि-चिह्न	रूप	नाम		अर्थ	रूप	नाम
अ	א	अलिफ	ا	बैल	α	अलफा
व	ב	वे (वेथ)	ب	गृह	β	बीटा
(ग) ज	ג	जीम	ج	ऊँट	γ	गामा
द	ד	दाल	د	द्वार	δ	डेल्टा
ह	ה	हे	ح	खिड़की	ε	ऐपसाइलौं
व	ו	वाव	و	हुक	ϛ	वाउ
ज़	ז	जे	ز	अस्त्र	ζ	ज़ीटा
ख	ח	खे	خ	रोक	η	ईटा
त	ט	तोय	ط	सर्प	θ	थीटा
य	י	ये	يـ	हाथ	ι	आइओटा
क	כ	काफ़	ك	हथेली	κ	काप्पा
ल	ל	लाम	ل	अंकुश	λ	लामडा
म	מ	मीम	م	जल	μ	यू
न	נ	नून	ن	मत्स्य	ν	नू
स	ס	सीन	س	मेख	ξ	क्सी
अ	ע	ऐन	ع	चक्षु	ο	आमाइक्रों
प	פ	पे	پ	मुख	π	पाई
स़	צ	स्वाद	ص	भाला	ϡ	सान
क़	ק	क़ाफ़	ق	गाँठ	ϙ	कोप्पा
र	ר	रे	ر	शिर	ρ	र्हो
श	ש	शीन	ش	दाँत	σ	सिग्मा
त	ת	ते	ت	चिन्ह	τ	ताउ

अरामियन वर्ग के वर्णाक्षरों का साहित्य-निर्माण में बड़ा जबर्दस्त हाथ रहा है। हीब्रू, सीरिएक और अरबी इसी वर्ग में है। इस वर्ग की वर्णमाला की उत्पत्ति सीरिया प्रदेश में बतलाई जाती है। जब इससे लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व फिनीशियन जाति की शक्ति का ह्रास हो चुका, तो अरा-*मियन वर्ग की वर्णमालाओं ने फिनीशियन वर्णमाला का* स्थान ग्रहण किया और शनैः शनैः वह पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। फिनीशियन वर्णमाला का तो आज अस्तित्व ही नहीं रहा है। हाँ, उसकी एक उत्तराधिकारिणी--आधुनिक सैमेरिटन—अवश्य बच रही है, जिसके बोलने-लिखनेवाले इने-गिने परिवार ही हैं।

मोआबाइट प्रस्तर

फिनीशियन वर्णमाला द्वारा कोई लिखित साहित्य के निर्माण का प्रमाण नहीं मिलता। इसके द्वारा केवल थोड़े-से पत्थर अमर हो गये हैं। इन पत्थरों पर अभिलिखित लेखों से ही आज हम इसकी वर्णमाला का पता लगा सके हैं। ऐसे अभिलेखो में सबसे प्राचीन 'मोआबाइट प्रस्तर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर मोआब के राजा मेशा द्वारा खुदवाये गये निम्न टूटे-फूटे वाक्य हैं—"मैं मोआब के राजा कामोशगाद का पुत्र मेशा हूँ। मैं दिबोनाइत हूँ। मेरे पिता ने मोआब मे ३० वर्ष तक राज्य किया, और मैंने अपने पिता के पश्चात् राज्य किया। और मैंने मैंदान में...... कामोश के स्मृत्यर्थ यह स्मारक निर्माण कराया। मुक्ति......... क्योंकि उसने मेरी सब भयों से रक्षा की थी, और उसने मेरे शत्रुओं पर मेरी मनोकामना प्रकट करने का मुझे अवसर दिया था... इजराइल के राजा ओमरी ने बहुत काल तक मोआब को सताया, क्योंकि कामोश उसके देश से क्रुद्ध था। उसके पश्चात् उसका पुत्र राजा हुआ। उसने भी कहा मैं मोआब को चैन न लेने दूँगा।"

इस प्रस्तर में छः सतरें हैं। जिस प्रस्तर पर यह खुदा है, वह बड़ा ही सख्त है। अक्षर सब स्पष्ट हैं। इससे निश्चित तिथि का पता लगता है। इस प्रस्तर का ऐतिहासिक महत्व स्पष्ट है। यह प्रस्तर आजकल लूव्रे (पेरिस) में सुरक्षित है। लूव्रे में आने से पहले यह प्रस्तर ४१ इंच ऊँचा और २१ इंच चौड़ा था और इस पर ३४ सीधी सतरें थी। फिर फ्रांस और जर्मनी दोनों ने इसको अपने कब्जे में करने की कोशिशें की। बहुत झगड़े हुए। इस पर अरब-निवासियों ने उसको तोड़ डाला और उसके टुकड़े अपने-अपने घरों पर उठाकर ले गए। लगभग ४० टुकड़ों का पता लग सका है। जो टुकड़ा लूव्रे मे सुरक्षित है, वह भाषाविज्ञों के बड़े ही काम का है। उसी का अनुवाद ऊपर दिया गया है।

अरामियन लिपि का प्रचार

फिनीशियन साम्राज्य और व्यापार के नष्ट होने पर जब अधिकांश वर्णमालाओं की जननी फिनीशियन लिपि प्रभाव-हीन हो गई, तो उसकी उत्तराधिकारिणी एशिया महाद्वीप में अरामियन और योरप में ग्रीक लिपि हुई। अरब के पठारों में जन्म लेने के कारण ही यह अरामियन कहलाई। अरामियन वर्णमाला के विस्तार का कारण मुख्यतः राज-नीतिक और किसी हद तक व्यापारिक भी था। टाइर की विजय के पश्चात् इस लिपि ने राज्याश्रय पाया। सेना, कचहरी, दफ्तर सभी जगह यही लिखी जाने लगी। यरू-शलम मे मन्दिर बनवाने के लिए एजरा को जो आज्ञापत्र दिया गया था, वह अरामियन लिपि में ही लिखा गया था। असीरियन और बैबिलोनियन इन दो साम्राज्यों के आश्रय में क्यूनीफार्म (कीलाकार) लिपि के पश्चात् यही लिपि खूब फली-फूली। सिकंदर की विजयों के पश्चात् जब दुनिया का नकशा बदला, तब जहाँ-जहाँ ग्रीक वर्णमाला न पहुँच पाई, वहाँ-वहाँ अरामियन लिपि ही प्रचलित हुई। इसके प्रमाण-स्वरूप अनेक सिक्के भारत, मिस्र, फारस और अरब आदि देशों में मिले हैं।

लगभग ८०० वर्ष तक शक्ति-संचय करने के पश्चात् यह लिपि पदच्युत हुई और इसका स्थान अनेक (विशेष-कर धार्मिक) कारणों से अन्य लिपियों ने ले लिया। अब सीरिएक, अरबी, हीब्रू, पारसी, मंगोलियन आदि उपलिपियो ने अपना-अपना विस्तार करना आरम्भ किया। इस्लाम, यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म आदि सब अपनी विशेष लिपियों को साथ लेकर बढ़े। चीन में मंगोलियन वर्णमाला का प्रचार है, पारसी लिपि का पारसियो में। सीरिएक लैबनन, कास्पियन सागर के तटवर्ती प्रदेशों तथा भारत के मला-बार प्रदेश में प्रचलित है; और अरबी उत्तरी अफ्रीका के मोरोक्को प्रदेश से लेकर सुमात्रा द्वीप पर्य्यन्त समस्त मुस्लिम प्रदेशो में प्रचलित है।

अरामियन लिपि का महत्व केवल ऐतिहासिक है। इसने तीन साहित्यिक लिपियों को जन्म दिया--अरबी, हीब्रू और सीरिएक। यद्यपि उसका निजी अस्तित्व अब नहीं है, तथापि वर्णमाला के इतिहास मे उसकी अमर छाप है।

आदिम सैमिटिक वर्णमाला की तीसरी शाखा दक्षिणी सैमिटिक के नाम से प्रचलित है। फिनीशियन शाखा से योरप की विभिन्न वर्णमालाओ का जन्म हुआ। दूसरी अरामियन शाखा से मध्य और पश्चिमी एशिया की वर्ण-

मालाओं का जन्म हुआ, और तीसरी से अबीसीनिया और कदाचित् भारत की वर्णमालाओं का विकास हुआ। तीसरी शाखा को 'ईथियोपिक' और 'जौकतानाइत' भी कहते हैं।

अनेक वर्षो तक दक्षिणी सैमिटिक की केवल एक ही वर्णमाला का पता था—ईथियोपिक। इसमें अबीसीनिया-निवासी ईसाईयों की धार्मिक पुस्तकें लिखी हुई हैं। इसकी लिपि का इतिहास एवं इसमें क्या-क्या परिवर्तन क्यों और कैसे हुए, आदि सब अंधकार के गर्त में है। परंतु यह सैमिटिक वर्ग की ही एक भाषा है, इसमें कोई भी संदेह नहीं है, क्योंकि इसकी वर्णमाला के कुल नाम सैमिटिक हैं। हाल ही में अदन के निकट कुछ सिक्के मिले हैं, जो कि सावियन लिपि में हैं। सावियन लिपि ईथियोपिक का पूर्वरूप है। उत्तरी सैमिटिक लिपि और सावियन लिपि में कोई साम्य नहीं है। लगभग १०० वर्ष पूर्व दमिश्क के निकट साफा में कुछ लेख मिले हैं। इनके अध्ययन से उत्तरी और दक्षिणी सैमिटिक लिपियों में साम्य स्थापित करनेवाली एक लिपि का पता चला है। इससे थामूदाइत कहते हैं। इनसे पता लग जाता है कि किस प्रकार फिनीशियन वर्णमाला से ईथियोपिक वर्णमाला विकसित हुई।

यूनान की वर्णमाला

ऐतिहासिक खोज के आधार पर इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि ईस्वी पूर्व पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण तक प्रत्येक यूनानी राजधानी की अपनी वर्णमाला थी। पीछे से समस्त यूनान मे साधारणतया एक ही वर्णमाला का प्रचलन हुआ, और इस वर्णमाला में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। पैलोपोनीशियन युद्ध के पश्चात् समस्त जनता की राय से लिखने-पढ़ने के लिए ईओनियन वर्णमाला चुन ली गई और यही वर्णमाला यूनान देश के अधिकाश भाग में व्यवहृत होने लगी। एक अभिलेख के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि एशिया माइनर में ईस्वी पूर्व ४६० तक अर्थात् ओलिम्पिक खेलों के अस्सीवें अधिवेशन तक ईओनियन वर्णमाला अपने पूर्ण रूप को पा चुकी थी। किस प्रकार यह फिनीशियन वर्णमाला से निर्मित हुई और इसका परिवर्तन-क्रम क्या रहा, यह कुछ अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है।

अबू सिम्बेल के अभिलेख

इन अभिलेखों में से एक अबू सिम्बेल के अभिलेख है। यह स्मारक नील नदी के द्वितीय प्रपात के निकट स्थित है। इस मन्दिर की भित्तियों पर सम्राट् रामसेस के राज्यकाल की गाथाओं के साथ-साथ प्रत्येक देश के मनुष्यो का भी वर्णन अंकित है। इतना ही नहीं, इसकी भीमकाय मूर्तियों पर अगणित यात्रियों और दर्शकों द्वारा अपने हाथों से विभिन्न वर्णाक्षरों में अंकित स्मृतिचिन्ह भी सुरक्षित हैं। इसमें अधिकतर नाम ही हैं। उनमें से अनेक नाम भाषाविज्ञो के लिए बहुमूल्य हैं। छः नाम फिनीशियन वर्णाक्षरों में हैं, और उन्नीस यूनानी (ग्रीक) में। सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रीक वर्णाक्षरों में लिखित पाँच पंक्तियोंवाला एक अभिलेख है, जिससे उसके लिखे जाने की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इसके द्वारा ज्ञात हुआ है कि छब्बीसवें वंश के मिस्री राजा सामेटीकस की नौकरी में कुछ यूनानी थे, जो अबू सिम्बेल गये थे। इनकी तिथि ईसा से पूर्व छठी शताब्दी का प्रारम्भिक काल है। अन्य छोटे-छोटे यूनानी अभिलेखों में से आठ और हैं, जो इसी काल के मालूम होते हैं।

अबू सिम्बेल मे आदिम ग्रीक लिपि के कुल मिलाकर नौ अभिलेख हैं, जिनकी तिथि निश्चयपूर्वक कही जा सकती हैं। इनके अक्षर दो इंच लम्बे हैं, और ये ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। अबू सिम्बेल के पाँच पंक्तियोंवाले अभिलेख का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

"जब नराधिप सामेटीकस एलीफैन्टिना पहुँचा, तो उस समय थिओक्लीज का पुत्र (कप्तान) सामेटीकस साथ था, उसने यह लिखा। वे नावों में चले और कर्कीज तक चले गये, जहाँ तक सरिता में जा सके। पोटासिम्टो विदेशियो का नायक था, और आमासीस मिस्रियो का। इसके लेखक अर्मोईविकोस का पुत्र आर्कन और यूदामीस का पुत्र पैलीकोस थे।"

अनुमान किया जाता है कि कुछ यूनानी सिपाही नूबिया प्रदेश में खोज के लिए नावों द्वारा गये। जब यह द्वितीय प्रपात पर पहुँचे तो आगे न बढ सके। लौटते समय यह अबू सिम्बेल ठहरे, और अपनी महत्वपूर्ण यात्रा का विवरण अंकित करके चलते बने।

छोटे-छोटे अभिलेखों से लेखकों की जाति का पता लगता है। एक ने लिखा है—"मैं कोलोफोनिया-निवासी पाथीस हूँ। मैं सामेटीकस के साथ आया था।" दूसरे ने लिखा है—"मैं ईआलिसिया-निवासी तैलीफस यह लिख रहा हूँ" इत्यादि। इन सबको पढ़ने से ईओनियन यूनानियों में साक्षरता के प्रसार का पता लगता है।

बड़े अभिलेख द्वारा लेखन-तिथि का निर्णय किया जा सकता है। विद्वानों ने यह तिथि ईस्वी पूर्व ६५४ और ६१७ के बीच में रखखी है। यूनान के प्रसिद्ध और सर्वप्रथम इतिहासकार हिरोडोटस ने भी अपने इतिहास में

ईओनिया और कारिया के सैनिकों का मिस्र देश के राजा के यहाँ नौकरी करने का उल्लेख किया है। अबू सिम्बेल के अभिलेखों से प्रकट है कि ईस्वी पूर्व सातवी शताब्दी मे ग्रीक लिपि अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो गई थी। अबू सिम्बेल के नौ अभिलेखो के समस्त अक्षरों मे लगभग पूर्ण साम्य है। एक-दो अक्षरो मे जो रूप-विभिन्नता है, वह नगण्य है और अन्य बातो मे जो समानता है, वह प्रमाणित करती है कि ईस्वी पूर्व सातवी शताब्दी मे ग्रीक लिपि बहुत उन्नति कर गई थी, यहाँ तक कि विदेशी राजाओ के यहाँ भी जो ग्रीक सैनिक नौकरी करते थे, वे भी उससे भिन्न थे, यद्यपि ये ग्रीक सैनिक ग्रीस (यूनान) के विभिन्न प्रदेशो के निवासी थे। साक्षरता के इतने अधिक प्रसार के लिए काफी समय अपेक्षित है। इससे प्रकट हो जाता है कि ग्रीक लिपि अवश्य ही बहुत पुरानी है। यह कितनी पुरानी है, यह तत्कालीन फिनीशियन और कारियन लिपियो की तुलना करके मालूम हो सकता है। कारियन और ईओनियन लिपियाँ एक दूसरे से बहुत भिन्न है। इतनी अधिक विभिन्नता, और वह भी दो पड़ौसियो की लिपियो में, यूनान देश के लिपिज्ञान की प्राचीनता को ही प्रमाणित करती है।

ग्रीक और फिनीशियन अभिलेखो के तुलानात्मक अध्ययन से ज्ञात हो जाता है कि ग्रीक अभिलेखो में पहले जहाँ दाई ओर से बाई ओर को लिखा जाता था, वहाँ अब बाई ओर से दाई ओर को लिखा जाता है। ध्वनि-विकार और भी स्पष्ट है। चार कंठ्य ध्वनियाँ और दो अर्द्ध-व्यञ्जनात्मक ध्वनियाँ अलफा, ऐपसाइलाँ, ईटा, ओमाइक्राँ, नू और आइओटा मे परिणत हो गई है, और तीन और नए वर्णाक्षर, जो किसी भी सैमिटिक वर्णमाला मे नही है, जोड़ दिये गये है। इसके अलावा लगभग आधे से अधिक वर्णाक्षरो मे आकृतिमूलक परिवर्तन भी कर दिये गये है। ये सभी विशेषताएँ, जो योरप और एशिया के वर्णाक्षरो में दृष्टिगोचर होती है, ईस्वी पूर्व सातवी शताब्दी मे प्रकट होने लगी थी।

ग्रीक लिपि में लिखित बाइबिल की पंक्तियाँ
यह १६०० वर्ष पूर्व की एक प्राचीन पांडुलिपि का अंश है।

फिनीशियन वर्णमाला मे इतने जो परिवर्तन हुए, उन्हे होते-होते अवश्य ही बहुत समय लगा होगा। बाईं ओर से दाईं ओरको लिखना, स्वरो मे वृद्धि होना, इनमें तो अधिक समय की अपेक्षा होती ही है; पर वर्णाक्षरों के रूप-परिवर्तन में भी अनेक पीढियाँ लग गई होगी। अन्य वर्णमालाओ के अध्ययन से प्रकट हो जाता है कि रूपातर बहुत धीमा होता है, और एक दो पीढियो मे जो कुछ हो पाता है, वह तो नही के बराबर होता है।

अबू सिम्बेल के अभिलेखो की वर्णलिपि को अपना पूर्ण रूप पाने मे अनेक शताब्दियाँ लग गई होगी, इसमें कोई भी सदेह नही।

जब सैमिटिक वर्णमाला गैर-सैमिटिक लोगो के पास पहुँची तो उसमे अनेक परिवर्तन हो जाना और त्रुटियो का होना तो अवश्यम्भावी था ही। उसमें अतिरिक्त वर्णों एव ध्वनियो का लोप हो जाना अथवा सजातीय ध्वनियो का सकेत बन जाना, तथा नवीन वर्णो का प्रकाश में आना कोई आश्चर्य उत्पन्न नही करते।

जब ग्रीक वर्णमाला बनी तो सैमिटिक अर्ध-व्यञ्जन और कंठ्य ध्वनियाँ स्वरो में परिणत हो गईं। सप्राण स्पर्श वर्णो और अन्य स्वरो का विकास हुआ। ऊष्म वर्णो में भी परिवर्तन हुए। कुछ अक्षरो के रूप बदले और कुछ ज्यो-के-त्यो बने रह गये।

जिन परिवर्तनो की अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत हुई, वे पहले किये गये। तत्पश्चात् जैसे-जैसे आवश्यकता पड़ी, परिवर्तन होते गए। सर्वप्रथम परिवर्तन स्वरो मे हुए। उदाहरणार्थ अलिफ, हे और ऐन अलफा, ऐपसाईलाँ और ओमाइक्राँ मे परिणत हो गए। अर्ध-व्यञ्जन ये का आइओटा की सजातीय स्वर-ध्वनि में परिवर्तन हो गया। अन्य वर्णाक्षरो मे परिवर्तन किस क्रमानुसार हुआ यह बहुत ही विवादग्रस्त है। ईटा के इतिहास को थीरा के अभिलेखो के आधार पर प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। ओमेगा का इतिहास ईटा के एक शताब्दी पीछे का इतिहास कहा जाता है। कहते है, ओमेगा वर्णाक्षर के विकास होने पर ही ग्रीक-वर्णमाला की इति हुई। इसका आदिम रूप फिनीशियन

वर्णाक्षर जे कहा जाता है। ऊष्म वर्णों की समस्या सबसे अधिक कठिनाई उत्पन्न करती है। सैमिटिक वर्ण-माला में चार ऊष्म वर्ण हैं। ग्रीक में केवल तीन ऊष्म वर्णों की आवश्यकता थी, परन्तु विद्वानों के मतानुसार इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक-वर्णमाला में भी चार ऊष्म वर्ण थे। उनमें से कालान्तर में एक ऊष्म वर्ण का लोप हो गया। हेरोडोटस ने इसका प्रयोग किया है, और आदिम अभिलेखों से इसका पता लगता है। **लामडा** के लिए कहा जाता है कि यह थीरा के अभिलेखों से भी पुराना है। परन्तु इसका आदिम रूप जैसा फिनीशियन में है, लगभग वैसा ही है। यह वर्ण अंग्रेजी के L का अनुरूप है। **कोप्पा** का पता प्राचीनतम ग्रीक अभिलेखों में मिलता है। इसका उल्लेख दो बार थीरा के अभिलेख में और दो ही बार एथेन्स के अभिलेख में किया गया है। और यह कोरिन्थ, कोरोनिया, कौस, क्रोटन और सिराक्यूज के सिक्कों पर भी अभिलिखित है। अबू सिम्बेल के अभिलेखो में **सिग्मा** का आदिम रूप ज्यों-का-त्यो बना हुआ है। जिस रूप में यह आजकल प्रयुक्त होता है, वह आठवीं शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। **जीटा** का प्राचीन रूप ईत्रुस्कन लिपि से लिया गया था। इसका जो रूप सिक्कों पर अभि-लिखित मिलता है, वह पृष्ठ ७४७ के चित्र में तीसरे खाने में Z वर्ण के सामने दिया हुआ है। **ऐपसाइलों** का आदिम रूप आधुनिक रूप से अधिक भिन्न नहीं है। **आइओटा** का प्राचीन रूप उक्त पृष्ठ पर तीसरे खाने में अंग्रेजी I वर्ण के सामने दिया हुआ है। इसको और अधिक सरल करने की गुञ्जाइश ही नही रही, इसी से यह एक सीधी लकीर के रूप में है। **ताउ** पहले क्रॉस के आकार का था, फिर ऊपर की चोटी गायब कर दी गई और अंग्रेजी वर्णाक्षर 'टी' (T) के रूप में व्यवहृत होने लगा। **र्हो** का प्राचीन रूप अंग्रेजी वर्णाक्षर R के सामने उक्त पृष्ठ के चित्र में दिया हुआ है। ग्रीक डेल्टा से अन्तर दिखाने के लिए इसमें पुछल्ला और लगा दिया गया है। यही 'आर' (R) के रूप में अभी तक अंग्रेजी में व्यवहृत होता है। प्राचीन हस्तलिखित लिपियों में र्हो को लकीर के कुछ नीचे से P के अनुसार लिखते है। **'बीटा'** के प्राचीन रूप अनेक हैं। अबू सिम्बेल के अभिलेख पर दिया गया इसका रूप बहुत पीछे का है। प्राचीनतम अभिलेखो में **'गामा'** का पता लगाना बहुत कठिन है। इसको चार प्रकार से लिखा गया है। **'म्यू'** और **'न्यू'** का नामकरण **जीटा** और **ईटा** के वजन पर किया गया है।

अरामियन, फ्रीजियन, कारियन, लीसियन, सिप्रिओट आदि

इधर ग्रीक वर्णमाला का विकास ईओनिया के नगरों में हो रहा था, उधर एशिया माइनर में भी इस वर्णमाला के साथ-साथ अन्य वर्णमालाओं का विकास यूनानियों से इतर जातियों में हो रहा था। इनमें से कुछ प्रसिद्ध वर्णमालाएँ हैं अरामियन, फ्रीजियन, कारियन और लीसियन। इन वर्णमालाओं में बहुत-कुछ ग्रीक वर्णमाला की छाप है। अरामियन का उल्लेख पिछले पृष्ठों में हो चुका है। फ्रीजि-यन वर्णमाला का पता प्रिमनीसस के अभिलेखों से मिला है। यह ग्रीक वर्णमाला का कोई प्राचीन रूप ही है। दो या तीन अक्षर स्पष्टतया थीरा में प्राप्य रूपों से मिलते-जुलते हैं। अबू सिम्बेल में चार अभिलेख किसी अज्ञात लिपि में हैं। सन्देह किया जाता है कि यह कारियन लिपि में हैं। इस कारियन लिपि में तीस और चालीस के बीच में अक्षर प्रयुक्त हुए हैं, और अधिकांश ग्रीक लिपि से मिलते-जुलते हैं। लीसिया प्रदेश की वर्णमाला लीसियन है। लीसिया में एक अभिलेख मिला है, जिसमें २५० पंक्तियाँ हैं। ईस्वी पूर्व लगभग पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लोगिमेनस नामक एक उच्च पदाधिकारी ने इसको लिख-वाया था। लीसियन वर्णमाला आर्य वर्णाक्षरों से प्रकट रूप में विभिन्न है। २८ वर्णाक्षरों में से आधे से अधिक ग्रीक हैं, और शेष वर्णाक्षरों के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जब सिकन्दर महान् ने सम्पूर्ण ग्रीस पर अपना आधिपत्य जमा लिया, तब से लीसियन वर्णमाला का स्थान ग्रीक ने पाया। कालान्तर मे लीसियन वर्णमाला का महत्त्व बहुत-कुछ घट गया। लीसियन में आधे व्यञ्जन हैं और आधे स्वर। व्यञ्जनो में दो के अतिरिक्त सभी फ्रीजियन हैं। स्वरों में चार ग्रीक हैं, और शेप सब ग्रीक से इतर हैं। जो ग्रीक वर्ण हैं, वे फ्रीजियन के रूपान्तर मात्र हैं।

एक और वर्णमाला का पता साईप्रस में लगा है। डाली नगर में, प्राचीन इदालियन नगर के निकट, १८६९ में एक तख्ती मिली है, और उसके साथ ही फिनीशियन में उसका उल्था भी है, जिसकी तिथि ईस्वी पूर्व लगभग चौथी शताब्दी है। इस वर्णमाला को सिप्रिओट कहते हैं। यह एक स्वतन्त्र आक्षरिक वर्णमाला है। इसका सैमिटिक से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही मालूम होता। कम-से-कम इसका अभी तक कोई प्रमाण नही मिला है। यह 'वर्ण-माला' आक्षरिकता के आगे न बढ़ सकने के कारण मृतप्राय हो गई, और जो वर्णमालाएँ अधिक विकसित हो सकी, वे

उसकी स्थानापन्न हो गई। सम्भव था कि यदि वह अधिक विकसित हो जाती तो पश्चिमी जगत् में मुख्य स्थान पाती

इटालिक वर्णमालाएँ

योरपीय सभ्यता के प्रसार में यदि फिनीशियन जाति ने व्यापार द्वारा सबसे पहले हाथ बँटाया तो यूनानियों ने विदेशों में बसकर उसको और आगे बढ़ाया। भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशो मे सबसे पहले बसनेवाले यूनानी ही थे। जहाँ-जहाँ ये बसे, वहाँ-वहाँ विभिन्न लिपियाँ प्रादुर्भूत हुई। इनमें से मुख्य हैं ईत्रुत्स्कन, लातिन, तथा रूनिक; और इनके पश्चात् की लिपियाँ हैं ग्लैगौलिथिक, मीसोगौथिक, सिरिल्लिक, अलबानियन और कौप्टिक।

लातिन और ईत्रुत्स्कन जातियो की वर्णमाला इटालिक के नाम से प्रचलित है। इटालिक वर्णमालाएँ पाँच हैं—ईत्रुत्स्कन, औस्कन, अम्ब्रिअन, लातिन और फालिस्कन। एक दूसरे के निकटवर्ती प्रदेशों की वर्णमालाएँ होने पर भी इनमें विशेष अन्तर है। लातिन बाईं ओर से दाईं ओर को लिखी जाती है और शेष सब दाईं ओर से बाईं ओर को। ईत्रुस्कन में कोमल स्पर्श वर्णों का अभाव है; लातिन में ठीक इसके उल्टा है। ईत्रुस्कन और अम्ब्रियन में **'सान'** और **'सिग्मा'** प्रयुक्त होते हैं, और शेष तीनों में केवल **'सिग्मा'** ही व्यवहृत होता है।

फालिस्कन और लातिन वर्णमालाओं का मूल स्थान चाल्सीडिया है। ईत्रुस्कन वर्णमाला के मूल के लिए कोई तो एथेन्स और कौरिन्थ के कुम्भकारों को बताता है, और कोई-कोई सीधे फिनीशियन वर्णमाला को। लगभग सम्पूर्ण इटालिक वर्णमालाओं का मूल चाल्सीडिया है। यह कहना कठिन है कि इन सबकी जननी एक ही लिपि थी। लिखित प्रमाणों के बल पर भाषाविज्ञों का कथन है कि जब यूनानी जाति इटली मे आकर बसी तो वह एक ही वर्णमाला काम में लाने लगी। इसको पेलास्जिक नाम दिया गया है। इटालिक वर्णमालाओ और पेलास्जिक वर्णमाला के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जो भी विभिन्नताएँ तथा अन्तर है, वे केवल दोषपूर्ण लेखन के कारण है। सप्रमाण कहा जा सकता है कि इटली की सम्पूर्ण वर्णमालाएँ पेलास्जिक वर्णमाला से निकलीं और पेलास्जिक वर्णमाला का मूल चाल्सीडिया की आदिम वर्णमाला थी।

राजनीतिक कारणों से और सब इटालिक वर्णमालाओं का तो लोप हो गया, केवल लातिन ही शेष बची रही। यही अंततोगत्वा इटली की जातीय वर्णमाला बनी। रोम नगर की वर्णमाला होने के कारण वह ईसाई-जगत् की वर्णमाला बन गई। लातिन अनेक कारणों से फिनीशियन से मिलती-जुलती है (देखो पृ० ७४७ का चित्र)। रोमन लोगों के प्राचीनता के पुजारी होने, इस लिपि के प्रस्तर अभिलेखों पर अधिकाधिक प्रयुक्त होने और साम्राज्य के वर्धनशील होने के कारण, लातिन मे कोई विशेष परिवर्तन नही हो पाये। लातिन वर्णमाला में २० अक्षर फिनीशियन वर्णमाला के है, और केवल तीन नये संकेत-चिह्न है।

ग्रीक-वर्णमाला का प्रारम्भिक इतिहास प्रस्तर अभिलेखों और थोड़े-से सिक्कों पर आश्रित है। प्रस्तर के अभिलेख अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते है। लेकिन जब पेपिरस और कागज आदि प्रयोग में आये तो वर्णाक्षरों का प्रस्तरवाला रूप बदलने लग गया। कागज पर लिखा जानेवाला वर्णाक्षरों का रूप प्रस्तर-अभिलेखों पर प्रयुक्त होनेवाली वर्णमाला का ही भ्रष्ट रूप है।

रोमन साम्राज्य का पतन होने पर प्रस्तर-वर्णाक्षरों के रूप में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। जब फिर से रोमन संस्कृति का उद्धार किया गया और पुस्तकों और पेपिरस पर लिखे जाने योग्य वर्णाक्षरों की आवश्यकता हुई, तो प्रस्तर वर्णाक्षरों के भ्रष्ट रूप को ही अपनाया गया। द्रुत गति से लिखी जानेवाली यह लिपि माइनस्क्यूल कहलाई। इसका रूप सुन्दर और पढ़ने में स्पष्ट था।

'बृहत्' 'अनवरुद्ध' और अंसियल लिपियाँ

वर्णाक्षरो के प्रारंभिक इतिहास मे तीन प्रकार की लिपियो के दर्शन होते है—एक तो हस्ताक्षर और नाम आदि लिखने योग्य लिपि; इसको 'बृहत् लिपि' कहते हैं। दूसरी चिट्ठी-पत्री आदि लिखने योग्य लिपि, जो अनवरुद्ध गति से लिखी जाती थी। इसीलिए इसे 'अनवरुद्ध लिपि' नाम दिया गया। तीसरी लिपि थी पुस्तकों में प्रयोग करने के लिए। इसको 'अंसिअल लिपि 'कहा गया। 'अंसिअल' शब्द अंगेजी के इंश या इंच का विशेषण है, परन्तु ये अक्षर एक इंश (इंच) ऊँचे हर्गिज नहीं लिखे जाते! सार्वजनिक प्रयोग में होने के कारण यह अब भी इसी नाम से पुकारी जाती है। अंसिअल अक्षर कुछ गोलाई लिये हुए और थोड़े तिरछे होते हैं। नवी शताब्दी तक अंसिअल और अनवरुद्ध लिपियाँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती रही। इसके पश्चात् एक नई लिपि का विकास हुआ। अक्षर छोटे होने के कारण ही यह माइनस्क्यूल कहलाई। इसमें विशेषता यह थी कि दो समानान्तर रेखाओ के ऊपर और नीचे तक इसके अक्षर लिखे जा सकते थे। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी

चाल्सिडिक | ईट्रुस्कन | अम्ब्रियन | ऑस्कन | फालिस्कन | लातिन

लातिन | ग्रीक | रूनिक | ग्लैगोलिथिक | सिरिलिक

योरप में प्रचलित वर्णाक्षरों के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक मानचित्र

इन तालिकाओं में ग्रीक और इटालिक समूह की विविध वर्णमालाओं के रूप दिग्दर्शित किये गये है, जिनसे उनकी पारस्परिक समानता और विभिन्नता का अनुमान किया जा सकता है। लातिन के दो रूप प्रदर्शित हैं।

के वृहत्‌लिपि के रूप (कैपिटल) B. D. H. P. है और इसी के माइनस्क्यूलर रूप b. d. h. p. हैं। माइनस्क्यूलर लिपि बारहवी शताब्दी में अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हुई। यही लिपि अभी तक पुस्तकों में व्यवहृत होती है।

ग्रीक हस्तलिखित लिपियों की सर्वप्रथम प्रतियाँ मिस्र देश में मिली है। यह प्रमाणित करती है कि मिस्र ग्रीक-निवासियों का उपनिवेश रहा है। प्रतियों के सुरक्षित रहने का कारण मिस्र-निवासियों के मृतक के साथ ही समाधि-स्थल में पुस्तकों को भी समाविस्थ करने की प्रथा और वहाँ की जलवायु का सहयोग है। ग्रीक अंसियल हस्तलिखित प्रतियों के प्राचीनतम नमूने ईलियड महाकाव्य की सत्रहवीं पुस्तक के दो कटे-फटे पृष्ठ हैं। इनमें लगभग ५०० सतरें है। ये १८५० में एक समाधि से उपलब्ध हुए थे। ये ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के समझे जाते है।

लातिन वर्णाक्षर भी ग्रीक-वर्णाक्षरों की तरह चार प्रकार से लिखे जाते है—कैपिटल (वृहत्), अंसियल, कर्सिव (अनवरुद्ध) और माइनस्क्यूल। लातिन का अंसिअल रूप ग्रीक की देखा-देखी हुआ और बहुत काल के पश्चात्।

लातिन के अनवरुद्ध रूप के उदाहरण कोई अधिक संख्या में प्राप्य नही है। १८७५ में पाम्पिआई नगर में १३२ मोम की तख्तियाँ मिली है। इनमें सन् ५५ और ५६ के काल में एक कोषाध्यक्ष का लेन-देन का व्यौरा है। अनुमान किया जाता है कि पाम्पिआई के ध्वस्त होने से पहले कम-से-कम दो सौ साल तक अनवरुद्ध लिपि व्यवहार में रही। इसके प्रमाण

में कहा जाता है कि सम्राट् जूनियस सीजर भी d को a की तरह लिखता था। लातिन में शार्टहैंड के लिए भी लिपि थी। जल्दी-जल्दी लिखने के लिए उपयोगी छठा शताब्दी की यह लिपि आधुनिक शार्टहैंड से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

विभिन्न जातीय लिपियाँ

रोमन साम्राज्य के नष्ट होने पर अनेक जातीय लिपियाँ प्रकट हुई। फ्रांस में मैरोविंजियन नामक लिपि का, इटली मे लोम्बार्डिक लिपि का, स्पेन मे वीजीगौथिक लिपि का और आयर्लैंड में आइरिश लिपि का उदय हुआ। आयर्लैंड के मठों मे सन पैट्रिक द्वारा आइरिश लिपि का प्रचार होना बताया जाता है। इस आइरिश लिपि का योरप की अन्य लिपियो पर विशेष प्रभाव पड़ा। आयर्लैंड के साधुओं ने जर्मनी, फ्रांस, इटली और स्विट्जर्लैंड में जाकर मठ स्थापित किये, और इस प्रकार आइरिश लिपि का प्रचार योरप महाद्वीप में खूब हुआ। अंग्रेजों ने लिखना रोम के पादरियो और आयर्लैंड के साधुओ से सीखा। आइसलैंडिक लिपि भी आइरिश वर्णाक्षरो की नकल ही है। ऐंग्लो-सैक्सन लिपि कैरोलाइन लिपि की जननी थी, जिसको सम्राट् शार्लमेन के मित्र तथा गुरु आलक्विन ने लौम्बार्डिक माइनस्क्यूल लिपि और रोमन अंसिअल लिपि के संयोग से बनाया था, और इसीलिए वह रोमन लिपि की भी जननी हुई। रोमन लिपि में ही अंग्रेजी का विशाल साहित्य लिखा जाता है। कैरोलाइन लिपि का प्रचार योरप में आलक्विन के शिष्यो ने किया। बारहवी शताब्दी का प्रारम्भिक काल इसके पूर्ण विकास का काल था। उसके अंतिम चरण में इस लिपि में परिवर्तन होने आरम्भ हो गये। तेरहवी शताब्दी में वर्णाक्षर कोण रूप में परिवर्तित हो गये और
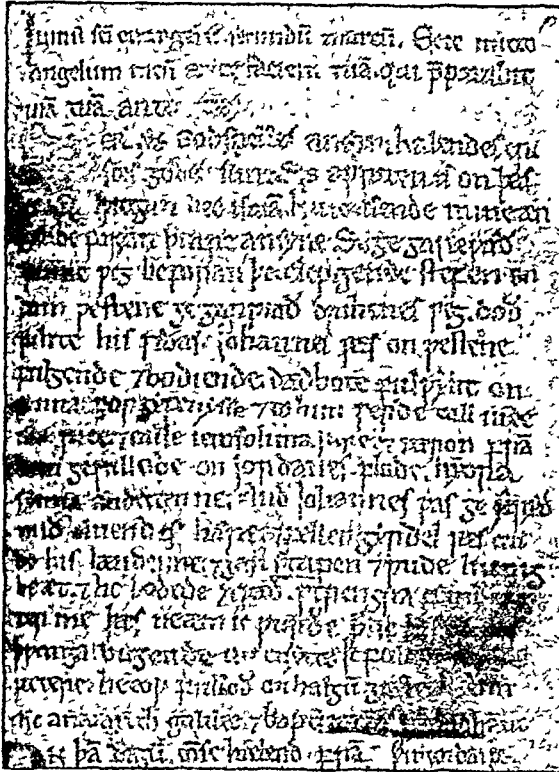
लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन अंग्रेजी (ऐंग्लो-सैक्सन) लिपि का नमूना

यह कैंटरबरी के मठ से प्राप्त बाइबिल की एक प्राचीन प्रति का अंश है।

चौदहवी शताब्दी में वर्णाक्षरो में क्रूस का रूप दीखने लगा। इस क्रूस-लिपि को ही 'गौथिक लिपि' के नाम से पुकारते है, और अधिकांश जर्मन भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपी हुई है। अब वे रोमन लिपि में छपती है। जब पन्द्रहवी शताब्दी में मुद्रण-कला जर्मनी प्रदेश से इटली को ले जाई गई, तो गौथिक में परिवर्तन किये गये। इन्ही परिवर्तनों को 'रोमन लिपि' के रूप में हम जानते है। १४७० में यह रोमन लिपि रोम से पैरिस ले जाई गई और यहाँ सॉरबौं (विश्वविद्यालय) में फ्रांस देश में सबसे पहली पुस्तक छपी। यही रोमन वर्णाक्षर पैरिस से लंदन लाये गये। रोमन लिपि में जो सबसे पहली पुस्तक मुद्रित हुई थी, वह हैनरी अष्टम द्वारा लिखित एक पुस्तक थी, जिससे प्रसन्न होकर पोप ने हैनरी को 'धर्मरक्षक' की उपाधि से विभूपित किया था। यह उपाधि आज के दिन भी अंग्रेजी सम्राटों के सिक्कों पर अभिलिखित है। यह भी हो सकता है कि पोप को प्रसन्न करने के लिए ही रोमन लिपि मे पुस्तक छापी गई। इस प्रकार रोमन लिपि गौथिक लिपि को हटाकर इंग्लैंड की लिपि बनी। गौथिक लिपि का प्रचार जर्मनी, हॉलैण्ड और डेन्मार्क मे आज भी है। यह लिपि रोमन लिपि जैसी सुन्दर नही है, और न यह उतनी सरलतापूर्वक पढी ही जा सकती है। यह गौथिक और रोमन लिपियों की तुलना करने से शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है। जिस लिपि मे जिस देश की प्रथम पुस्तक मुद्रित हुई, उस देश मे उसी लिपि का प्रचार बढता गया। इस प्रचार का श्रेय मुद्रण-कला को है। वर्णाक्षरों के इतिहास में धातु के ढले हुए अक्षरों का अस्तित्व एक महत्वपूर्ण घटना है। रोमन लिपि का प्रचार आज संसार में अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। एशिया में भी

बहुधा पुस्तकें रोमन लिपि में छापी जाने लगी हैं। मुस्तफा कमालपाशा ने टर्की में रोमन लिपि को ही अपनाया था। जर्मनी भी रोमन लिपि की ओर झुक रहा है।

लातिन वर्णाक्षरों से पश्चिमी योरप के वर्णाक्षरों का उद्भव हुआ, और पूर्वीय वर्णाक्षरों का उद्भव ग्रीक वर्णाक्षरों से हुआ। पूर्वीय वर्णाक्षरों में प्राचीनतम 'कौप्टिक' है। यह डेढ़ लाख से कुछ कम जनता की धार्मिक भाषा है। कौप्ट जाति ईसाई धर्म की प्राचीनतम रूढ़ियों की उपासक है। कौप्टिक भाषा में सेमिटिक और ग्रीक का बहुत मिश्रण है। इनकी प्रार्थना-पुस्तकें कौप्टिक में लिखी हुई हैं, और उनके सामने अरबी में उल्था छपा रहता है।

रूसी वर्णाक्षर

रूसी वर्णाक्षर महत्व में लातिन और अरबी वर्णाक्षरों के समकक्ष ठहरते हैं। पीटर महान् के राज्यकाल में ४८ वर्णाक्षरों में से १४ वर्णाक्षर अनावश्यक समझे जाकर निकाल दिये गये थे। कितने ही अक्षरों के रूप बदल दिये गये। प्राचीनतम रूसी वर्णाक्षर ईसवी सन् ९९६ के हैं, जो कीव के अभिलेख में मिले हैं। इन वर्णाक्षरों और स्लैवोनिक् अथवा सिरिल्लिक् वर्णाक्षरों में अधिक अन्तर नहीं है। सिरिल्लिक् वर्णाक्षरों का आविष्कार सिरिल और मैथोडियस नामक दो व्यक्तियों द्वारा सन् ८५५ और ८६३ के बीच में हुआ था। इस वर्णमाला में आदि में ३८ अक्षर थे, पीछे से वे ४८ हो गये।

ग्लैगीलिथिक् नामक एक लिपि स्लोवीनिया, इलीरिया और क्रोटिया के निवासियों की धार्मिक लिपि थी, जिस प्रकार सिरिल्लिक् रूथीनिया, रूस, बलगेरिया और सर्विया के निवासियों की लिपि थी। आज के दिन सिरिल्लिक् (आधुनिक रूसी) लिपि संसार की प्रमुख लिपियों में आदृत है और ग्लेगीलिथिक् का स्थान लातिन ने ले लिया है।

उत्तरी अल्बानिया में लातिन वर्णाक्षर व्यवहृत होते हैं, और दक्षिण में ग्रीक माइनस्क्यूल का एक परिवर्तित रूप, जिसमें नुकतों का प्रयोग अधिक है।

रूनिक लिपि

स्वीडन, डैन्मार्क और नार्वे में हजारों प्राचीन अभिलेख मिलते हैं, जो रूनिक लिपि में लिखे हुए हैं। यह कदाचित् पहली या दूसरी शताब्दी ईसवी के हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में रूनिक लिपि का स्थान लातिन ने ले लिया। रूनिक लिपि के तीन विभाग हैं--गौथिक, आंग्लियन और स्कैण्डिनेवियन। गौथिक में २४ वर्ण हैं, जो प्राचीनतम समझे जाते हैं; आंग्लिअन वर्ण भी २४ हैं, और ये सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक, दो सौ वर्ष तक, व्यवहृत हुए। स्कैण्डिनेवियन वर्ण, जो संख्या में १६ हैं, डैन्मार्क, स्वीडन, नार्वे और मैन द्वीप में व्यवहृत होते हैं।

ओघेम लिपि

इस अनूठी लिपि में आड़ी-टेढ़ी रेखाओं के संकेतों का प्रयोग होता है।

रूनिक लिपि के लगभग २०० अभिलेख मिलते हैं। ऐतिहासिक महत्व का एक ठोस सोने का कड़ा है, जो वालाशिया प्रदेश में ब्यूजियो नामक स्थान में मिला है। इस पर लिखा है कि यह "गौथ जाति के मन्दिर के निमित्त अर्पित है।"

ओघेम लिपि

वेल्स और आयर्लेंड की ओघेम लिपि है। यह रूनिक लिपि का परिवर्तित रूप है। आयर्लेंड के निवासी ओघेम को एक वन, प्रत्येक वर्ण को वृक्ष और एक आड़ी रेखा को वृन्त समझते थे। ओघेम लिपि आठवीं शताब्दी से पहले की है। इस लिपि का आदिम उद्गम-स्थान पेम्ब्रोक कहा जाता है, जो ट्यूटन जाति का एक प्राचीन उपनिवेश था।

इन वर्णाक्षरों के अतिरिक्त और भी अनेक वर्णाक्षर हैं, जिनका अब न तो कोई विशेष महत्व ही है और न कोई अस्तित्व ही शेष है। उदाहरणार्थ—वैनेटिक लिपि, जिसमें लिखे हुए अभिलेख आज के दिन भी उत्तर-पश्चिमी इटली में मिलते हैं; या मेसापियन लिपि, जो कि कभी इटली के दक्षिण की लिपि रह चुकी है और जिसका सम्बन्ध प्राचीन इलीरियन लिपि से बतलाया जाता है। कुछ समय पूर्व क्रीट में एक और लिपि का पता चला है, जिसके लिखनेवाले यूनान देश के आदिम निवासी अनुमान किये जाते हैं।

एक और भी लिपि का पता तुर्किस्तान में लगा है, जिसे 'तोखारिश' नाम दिया गया है। कहा जाता है कि यह लिपि अनेक लिपियों के सम्मिश्रण से बनाई गई थी। खोज द्वारा पता लगा है कि तोखारिश अनेक इन्डो-योरपियन और एक अज्ञात लिपि के सहयोग से प्रादुर्भूत हुई।

वर्णाक्षरों के इस तुलनात्मक अध्ययन से हमें मानव की विवेचना-शक्ति पर आश्चर्य होता है कि पारस्परिक सहयोग स्थापित करने के लिए वह कितना प्रयत्नशील तथा उद्यमशील रहा है और अब भी वह अपने कार्यो को सरल करने में कितना दत्तचित्त रहता है। यह केवल उसकी महानता का ही नहीं, वरन् उसकी महत्वाकांक्षाओ का भी द्योतक है, जिसकी कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती।

ईरानी वर्णमाला का विकास

यह ऊपर कहा जा चुका है कि आदिम सैमिटिक वर्णमाला की तीन शाखाएँ हुई—फिनीशियन, जौकतानाइत और अरामियन। फिनीशियन योरपीय वर्णमालाओं की जननी हुई; जौकतानाइत से संभवतः भारतीय वर्णमालाओं तथा अरामियन से ईरानी साम्राज्य में प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न वर्णमालाओं का सूत्रपात हुआ।

ईरानी वर्णमालाओं का इतिहास अनेक आवश्यक अभिलेखो के अभाव में क्रमबद्ध नही मिलता। असीरियन साम्राज्य के पतन से लेकर ससानियन साम्राज्य के स्थापनकाल तक, जो लगभग ९०० वर्ष का दीर्घकाल है, अभिलेखो का पूर्ण अभाव एक खटकनेवाली बात है। केवल एक-दो सिक्कों अथवा एक भारतीय अभिलेख के सहारे ही अनुमान द्वारा कुछ कहा जा सकता है। इसका एक कारण है। महानगरी निनवे के समूल नष्ट होने के पश्चात् वैसा एक भी ऐसा अभिलेख न बच रहा, जैसे कि असीरिया के प्रासादों से उपलब्ध हुए हैं। बड़े-बड़े अभिलेखों के लिए वहाँ क्यूनीफार्म वर्णाक्षर ही प्रयुक्त हुए और सिकन्दर की विजय के पश्चात् ग्रीक वर्णाक्षर प्रयुक्त होते रहे। नरेशों के सिक्कों तक पर ग्रीक वर्णाक्षर ही अङ्कित मिलते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नही कि ग्रीक और क्यूनीफार्म वर्णाक्षरों के साथ-साथ, जिनका प्रयोग केवल सिक्कों और अभिलेखों के लिए ही होता था, साधारण कार्यो के लिए अरामियन वर्णाक्षर भी अवश्य ही प्रयुक्त होते रहे होंगे। प्रमाणों के अभाव का कारण अभिलेखों के लिए विनाशशील सामग्री का प्रयोग ही हो सकता है—जैसे पैपिरस, जानवरो की खालें, वृक्षों की छालें, तथा मोम या मिट्टी की तख्तियाँ। जब हम अनेक वर्णमालाओं को एक-दूसरे से मिलती-जुलती पाते है तो स्पष्ट ही है कि ये किसी आदिम वर्णमाला ही से जनमी होंगी।

अरामियन से ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं

इसके प्रमाणस्वरूप कहा जा सकता है कि अग्निपूजकों की धर्मपुस्तकों के निर्माणकाल के आसपास ईरान में अवश्य ही कोई लिपि रही होगी। दसवीं शताब्दी के अरब इतिहासकार ममूदी का कथन है कि जर्थुस्त्र द्वारा आविष्कृत अक्षरों में १२,००० गौचर्मो पर जैन्द अवेस्ता लिखी गई थी। सिकन्दर की विजय के बहुत काल पूर्व बैक्ट्रीयन साहित्य का अस्तित्व रहा होगा और वह कदाचित् अरामियन लिपि में ही लिखा भी गया होगा। इसका प्रमाण सम्राट् अशोक का कपूर-दी-गीरी का अभिलेख है, जिसका काल तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व है। इस अभिलेख के अतिरिक्त अगायोक्लीज का एक सिक्का भी प्राप्त है, जिसकी तिथि २४० ईस्वी पूर्व है। चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के नरेशों के अनेक सिक्के प्राप्य है, जिन पर अरामियन वर्णाक्षर अङ्कित है—लगभग वैसे ही जैसे कि अशोक के अभिलेख पर प्रयुक्त हुए हैं। जब चौथी शताब्दी में ग्रीक और क्यूनीफार्म वर्णमालाओं का प्रयोग घटने लगा तो अरामियन वर्णमाला अधिकाधिक व्यवहार में आने लगी और सातवीं शताब्दी तक इसका प्रचलन रहा। इस अरामियन से ही ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं।

ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ

कपूर-दी-गीरी के अभिलेख से, जो कि ईरानी वर्णमाला का आदिम अभिलेख है, इतना प्रकट है कि ईरानी वर्णमाला का अस्तित्व ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के लगभग अवश्य था। यह कहना कठिन है कि ईरानी वर्णाक्षरों का सर्वप्रथम रूप कैसा था। ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ बताई जाती है—(१) इण्डो-बैक्ट्रीअन, (२) पैह्लवी, (३) आर्मीनियन, (४) जॉर्जियन। इनमें से कौन वर्णमाला किसके पूर्व व्यवहृत होती थी, इसका कोई प्रमाण नही दिया जा सकता। इन्डो-बैक्ट्रीयन वर्णमाला का केवल एक अभिलेख मिलता है और इसमें और इसके निकटतम स्वरूपवाले वर्णाक्षरों में शताब्दियों का अन्तर है। आर्मीनियन और जॉर्जिय वर्णमालाएँ भी एक-दूसरे से नितान्त विभिन्न है। पैह्लवी वर्णाक्षर केवल कुछ सिक्कों पर अङ्कित मिले है। इसके तीन विभिन्न रूपों में से केवल पारसी रूप ही अब प्रचलित है।

पैह्लवी वर्णमाला

पैह्लवी शब्द कदाचित् पार्थिवी का समानार्थक है। जिस काल में पैह्लवी भाषा और साहित्य का सर्जन हो रहा था, उस काल में पार्थिअनों के हाथ में ईरानी राष्ट्र की बागडोर थी। इसकी आधारभूत प्राचीन 'ईरानी' है और इसमें अनेक शब्द सैमिटिक हैं, जो ईरानी व्याकरण का पदानुसरण करते हैं। जिस प्रकार आजकल 'डॉग लैटिन' और 'पिजिन इंगलिश' बोली जाती है, वैसे ही यह भाषा भी बोली जाती थी। भाषाविज्ञों का अनुमान है कि पैह्लवी जनता की भाषा न होकर केवल सासानी नरेशों के राजदरबारियों तक ही सीमित थी। प्रोफेसर हॉग ने प्रमाणित कर दिया है कि पैह्लवी मिश्रित भाषा न होकर केवल मिश्रित लिपि थी। जब अरामियन लेखकों ने फारसी लिखना प्रारम्भ किया तो उन्होंने फारसी शब्दों के द्योतनार्थ सैमिटिक वर्णाक्षरों का प्रयोग किया। जैसे हम आजकल 'ए. एम.', और 'पी. एम.' प्रातःकाल और तीसरा पहर निर्देश करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, ठीक वैसे ही अरामियन लेखक भी करते थे।

पैह्लवी वर्णमाला सासानी युग की वर्णमाला थी और इसी में पैह्लवी भाषा के अभिलेख सुरक्षित हैं। परन्तु इससे पार्थिअन साम्राज्य की आदिम वर्णमाला और आधुनिक पारसी का भी निर्देश होता है। ईरान के राजनीतिक इतिहास के साथ पैह्लवी का घनिष्ट सम्बन्ध है। सिकंदर महान् के साम्राज्य के बँटवारे के समय मध्यवर्ती एशिया सिन्धुनद के निकट तक सैल्यूकस निकातोर के हिस्से में आया। सैल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् अरसासीज ने बलवा कर दिया और छठे अरसासीज, मिथ्रीडेटीज प्रथम, ने समस्त ईरान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अरसासीज पार्थिया प्रदेश (आधुनिक खुरासान) का हाकिम था। देश छोटा था, पर यहाँ के निवासी बड़े ही पराक्रमी थे। इन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, और लगभग ५०० वर्षों तक इन्होंने मध्यवर्ती एशिया को विदेशियों के हाथों में जाने से बचाया। जब पार्थियन साम्राज्य का अन्त हुआ तो सासानियों के हाथ में ईरान का साम्राज्य आया। यह महान् परिवर्तन आर्देशर द्वारा संपादित हुआ। आर्देशर ने ईरान भर में देशप्रेम की ज्वाला प्रज्वलित की। इसने पुनर्वार अग्निपूजा जारी कराई, और नक्शए-रुस्तम के पास की चट्टान पर एक प्रस्तर-मूर्ति बनवाई। इस मूर्ति पर तीन लिपियाँ अङ्कित हैं—पश्चिमी पैह्लवी, पूर्वी पैह्लवी और ग्रीक (यूनानी) में उनका अनुवाद। इसके पुत्र शाहपुर ने भी अपनी विजय-गाथा नक्शए-रुस्तम के निकट की चट्टान पर अङ्कित कराई। इस तरह के जितने अभिलेख चट्टानों, प्रस्तर-मूर्तियों और सिक्कों पर उपलब्ध हुए, उनके द्वारा पैह्लवी वर्णाक्षरों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। सासानी साम्राज्य का अन्त मुसलमानों ने किया। ईरान प्रथम देश था, जिस पर पैगम्बर मुहम्मद के अनुयायियों ने आक्रमण किया। नेहावेन्द के युद्ध में एक लाख ईरानी काम आए और ईरान से पारसी धर्म को देश-निकाला दे दिया गया। मुसलमानों की विजय के पीछे ईरान में पैह्लवी लिपि का स्थान अरबी लिपि ने ग्रहण किया और यही आधुनिक पर्शिया या ईरान की लिपि है। जब मुसलमानों ने तलवार के बल पर ईरानियों को अपने इस्लाम मत की दीक्षा देना शुरू किया तो अनेक ईरानी अपनी जन्मभूमि को छोड़कर भागे। इन्हीं भागे हुए लोगों की सन्तान आज बम्बई, सूरत आदि नगरों में बसी हुई पारसी जाति है। ये लोग अग्निपूजक हैं और प्राचीन लिपि का प्रयोग करते हैं, जिसके संरक्षण में ये सदैव तत्पर रहते हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक रेखा-वर्णन से हम पैह्लवी वर्णमाला के इतिहास को तीन विभिन्न कालों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अरसासीज का काल, अर्थात् पार्थियन साम्राज्य का काल; (२) सासानी युग; (३) पारसी अथवा भारतीय पैह्लवी का काल।

पैह्लवी के विविध रूप

अरसासीज के काल की पैह्लवी में बहुत कम संख्या में अभिलेख मिले हैं। इसका कारण यह है कि पार्थिया के सम्राट् साधारणतया ग्रीक वर्णाक्षरों का ही व्यवहार करते थे। उन्होंने ऐसा लगभग दो या ढाई सौ साल तक किया। प्रारम्भिक काल के सिक्कों पर जो ग्रीक वर्णाक्षर अङ्कित हैं वे सुस्पष्ट तथा सुन्दर आकृतिवाले हैं। कालान्तर में लापरवाही अथवा अनभिज्ञता के कारण उन यूनानी वर्णाक्षरों की आकृति में परिवर्तन होने लगे और फलतः ग्रीक लिपि का स्थान दूसरी लिपि ने ग्रहण किया। यही प्रारम्भिक पैह्लवी लिपि है और यह अनेक नृपों के सिक्कों पर अङ्कित मिलती है। इसका सर्वाङ्गपूर्ण रूप नक्शए-रुस्तम और हाजियाबाद के अभिलेखों में देखने को मिलता है। अनेक शताब्दियों तक तो पैह्लवी लिपि केवल सिक्कों पर ही अङ्कित मिलती है, फिर कहीं उसके दर्शन अभिलेखों में भी होते हैं। यही लिपि बदलते-बदलते अवेस्ता की प्राचीनतम प्रतियों में मिलती है। सासानी युग की पैह्लवी आर्देशर के अभिलेख से प्रारम्भ होती है। किन्तु उस

काल में भी उसके अक्षरों के रूपों से यह बात स्पष्ट झलकती है कि उसका वह रूप काफी पुराना है। सम्राट् आर्देशर और शाहपुर ने अपनी वीर-गाथाओं को दो लिपियों में अङ्कित कराया, यह तथा इस बात का प्रबल प्रमाण है कि दोनों पैह्लवी लिपियां (सासानी और अरसासीज) उन दिनों जनता में व्यवहृत होती थीं। जो कुछ भी अन्तर था केवल भौगोलिक था। एक पूर्वी थी और दूसरी पश्चिमी। अरसासीज के युग की पैह्लवी पुरानी है और उसके कई वर्ण कपूर-दी-गीरी के वर्णों से मिलते हैं।

जैन्द या पारसी लिपि

पैह्लवी लिपि के सर्वाङ्गसंपूर्ण रूप को जैन्द के नाम से पुकारा जाता है। इसी जैन्द में 'जैन्द अवेस्ता' की वर्तमान प्रतियां प्राप्त हैं। परन्तु जैन्द नामकरण ठीक नहीं है। इसके प्रयोग से काफी भ्रम होने की गुन्जाइश है। जैन्द भाषा ईरानियों की बोलचाल की प्राचीनतम भाषा है और जैन्द वर्णाक्षर ईरानी लिपि के अन्तिम विकसित रूप हैं। जैन्द भाषा और जैन्द वर्णाक्षरों में लगभग २००० वर्षों का अन्तर है। इसलिए इनको पारसी वर्णाक्षर कहना अधिक उपयुक्त है। पारसी लोग जिस लिपि को अपनी धर्मपुस्तकों की प्रतियों के लिए प्रयुक्त करते हैं, वह उनके महान् धर्मग्रंथ 'जैन्द अवेस्ता' में प्रयुक्त वर्णमाला का ही परिवर्तित रूप है। परन्तु वर्णों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है।

जैन्द अवेस्ता का सर्वप्रथम अधिकारपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत करने का श्रेय एक फ्रांसीसी दुपेरो को है, जिसने कठोर परिश्रम के पश्चात् १७७१ में उसे मुद्रित कराया। परन्तु विद्वानों ने उसके अनुवाद का परिहास किया और उसे झूठा करार दिया! बेचारे अनुवादक की मृत्यु के २० वर्ष पश्चात् रास्क और बूर्नु की खोजों ने कहीं जाकर उसको सही प्रमाणित किया।

ईरानी लिपि में अशोक का महत्त्वपूर्ण अभिलेख

ईरानी वर्णमालाओं का प्राचीनतम अभिलेख सिन्धुनद के पश्चिम में मिला है। जिस ग्राम में यह मिला है, उसी के नाम से यह प्रख्यात है। इसीलिए इसको कपूर-दी-गीरी का अभिलेख कहते हैं। अनेक विद्वानों की खोज के फलस्वरूप यह सम्राट् अशोक के १४ प्रस्तर-अभिलेखों में से एक प्रमाणित कर दिया गया है।

अशोक के इस अभिलेख में लिखित आलेख दो भिन्न अभिलेखों में दो लिपियों में प्राप्य है। कपूर-दी-गीरी का अभिलेख दाईं ओर से बाईं ओर अरामियन द्रुत-लेखन-लिपि में है। अन्य अभिलेख एक दूसरी ही लिपि में है, जिससे भारतीय लिपियों का संबंध बताया जाता है।

कपूर-दी-गीरी के नाम से अभिलेख को पुकारना वास्तव में एक भूल है क्योंकि जिस स्थान से अभिलेख उपलब्ध हुआ है, वह वास्तव में शाहबाजगढ़ी का ग्राम है। कपूर-दी-गीरी के अभिलेख की लिपि को टॉमस महोदय ने इन्डो-बैक्ट्रीअन नाम दिया है, क्योंकि न केवल यह बैक्ट्रिया प्रदेश की ही वरन् अफगानिस्तान और पंजाब की भी। लिपि थी।

कपूर-दी-गीरी का अभिलेख लगभग २५१ ई० पू० लिखा गया बतलाया जाता है। अगाथोक्लीज का एक सिक्का भी इस लिपि में अंकित मिला है, जिसकी तिथि ईस्वी पूर्व २४० है। इससे यह प्रकट है कि यह लिपि बैक्ट्रिया और भारत में प्रचलित थी। इण्डो-सीथिअन राजाओं के काल में इस लिपि का बहुत प्रचार बढ़ा, जैसा कि बहावलपुर में प्राप्य कनिष्क के एक सिक्के से स्पष्ट हो जाता है। ईसा की पहली शताब्दी में इस लिपि का भारतवर्ष से प्रचार उठ गया और उसका स्थान भारत में सर्वोपरि आसन पर प्रतिष्ठापित ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इण्डो-बैक्ट्रिअन लिपि से ही हमें भारतीय और योरोपीय संख्या-चिन्ह मिले हैं। यही संख्या-चिन्ह अरबवासियों द्वारा स्पेन पहुँचे और १२ वीं तथा १३ वीं शताब्दियों से समस्त योरप में उनका प्रयोग होने लगा।

आर्मीनियन और जार्जियन वर्णमालाएँ

आधुनिक पारसी समाज द्वारा व्यवहृत पारसी लिपि को छोड़कर आर्मीनियन और जार्जियन लिपियों द्वारा ही ईरानी वर्णाक्षरों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। कुछ विशेष कारणों से ही ये दो लिपियां सुरक्षित रह सकी हैं और इन पर अरबी और यूनानी भाषाओं का प्रभाव नहीं पड़ पाया है। जार्जियन लिपि कुछ तो निजी विचित्रता के कारण और कुछ भौगोलिक स्थिति के कारण तथा आर्मीनियन लिपि इन दो कारणों के अतिरिक्त धार्मिक कट्टरता के कारण सुरक्षित रह सकी है।

जार्जियन और आर्मीनियन वर्णमालाओं के आविष्कार का श्रेय सन्त मेस्रौब को दिया जाता है। यह महाशय आर्मीनियन राजाओं के यहाँ सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त थे। राजदरबार में ईरानी लिपि का आदर था। राजनीतिक और धार्मिक कारणों से प्रेरित होकर मेस्रौब ने धार्मिक कार्यों के उपयुक्त एक वर्णमाला की आवश्यकता को समझा और ग्रीक वर्णाक्षरों का पदानुसरण कर आर्मीनियन वर्णमाला का आविष्कार किया। मेस्रौब ने इन्जील

का अनुवाद आर्मीनियन भाषा में किया। इतना कर चुकने पर यह महाशय जार्जिया पहुँचे और २८ वर्णों की एक लिपि वहाँ की जनता के लिए बना दी। विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि आर्मीनियन लिपि ग्रीक वर्णाक्षरों में परिवर्तन करके बनाई गई है अथवा वह ईरानी वर्णमाला के समूह से सम्बन्ध रखती है।

भारतीय लिपियों की उत्पत्ति और उनका विकास

पिछले प्रकरण में वर्णाक्षरों की उत्पत्ति और विकास का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा चुका है कि पाश्चात्य विद्वान् सैमिटिक वर्णमाला ही से भारतीय वर्णाक्षरों की भी उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे भारतीय विद्वान् इस मत से असहमत हैं। उनका क्या मत है, आइए, प्रस्तुत प्रकरण में देखें।

भारतीय लिपियों की मौलिकता तथा प्राचीनता का प्रश्न वर्षों तक यहाँ के तथा पश्चिम के पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए एक गंभीर समस्या की तरह रहा है। प्राचीन आर्यो का कोई शृङ्खलाबद्ध इतिहास आज सुलभ होता तो खोज के मार्ग में अड़ी हुई अड़चनों का अनुभव न होता। भाग्य से जो कुछ बच सका, वह आक्रमण के विध्वंसकारी परिणामों के चरणों पर चढ गया। मंदिर, मठ, पुस्तकालय आदि या तो लूट लिए गए अथवा जला दिए गए! केवल कुछ शेष बचे खंडहर अपनी प्राचीन गौरव-गाथा सुनाते हैं।

भारतीय वर्णाक्षर भारतीय मस्तिष्क की ही उपज हैं

वर्षो के कठोर परिश्रम के बाद अब यह स्पष्ट हो चुका है कि भारत के प्राचीन आर्य इतिहास-लेखन की कला से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं थे। इस कथन की पुष्टि के लिए वे अपने पीछे प्रचुर प्रमाण छोड़ गए हैं। किन्तु इससे पहले उचित साहित्य के अभाव में पाश्चात्य विद्वानों ने यहाँ की सभ्यता और साहित्य के विषय में अनेक विचित्र अटकलें लगाई। भारत के प्राचीन उत्कर्ष का सम्बन्ध पश्चिम की न जाने कौन-कौन-सी सभ्यताओं के साथ जोड़कर यहाँ की मौलिकता को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। लेकिन आधुनिक अनुसंधानों ने पाश्चात्य हठधर्मियों के भ्रमों को दूर करके यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार भारत की सभ्यता उसकी अपनी चीज है, उसी तरह यहाँ की भाषा और लिपियाँ भी भारतीयों के ही मस्तिष्क की मौलिक उपज है।

हमारा सबसे प्राचीन साहित्य वैदिक काल का है। रामायण, महाभारत, आदि महाकाव्यों, पुराणों एवं बिल्हण, कल्हण और बाण आदि कवियों द्वारा रचित इतिहासपरक काव्यों में भारत के प्राचीन उत्कर्ष का इतिहास निहित है। किन्तु शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें कई त्रुटियाँ हैं। ग्रन्थों का काव्यमय स्वरूप प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण होता है। इन ग्रन्थों का अनिश्चित रचनाकाल भी इनका ऐतिहासिक महत्व कम कर देता है।

खोज-संबंधी अड़चनें

इस साहित्य के बाद हमारे सामने वह सामग्री आती है, जो स्तूपों, शिला-लेखों, दानपत्रों तथा सिक्कों से उपलब्ध हो सकी है, यद्यपि समय के विनष्टकारी प्रभाव ने इनकी भी उपयोगिता कम कर दी है! लिपियों में क्रमशः सौन्दर्य और सरलता के विचार से परिवर्तन होते चले गए और एक जमाना आया जब कि पुरानी लिपियों को पहचानना लोग प्रायः भूल-सा गए। इसका तब और भी अधिक कटु अनुभव हुआ जबकि भारतीय लिपियों की प्राचीनता एवं मौलिकता के विषय में लगाई गई अटकलों को दूर करने के लिए प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों आदि का सही-सही पाठ पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई! फिरोज तुगलक एवं अकबर की जिज्ञासा केवल इसी कारण पूर्ण न हो सकी थी कि कोई भी विद्वान् प्राप्त शिलालेखों का ठीक-ठीक पाठांन्तर नहीं बता सका था! प्रचलित और प्राचीन लिपियों की बनावट में इतनी असमानता आ गई थी कि उन्हें देखकर विद्वान् तक यह कह देते थे कि 'ये तो देवताओं के अक्षर हैं' या 'गढ़े धन के बीजक हैं' अथवा 'सिद्धिदायक यन्त्र हैं'!

किन्तु बात यही तक रहती तब भी ठीक था! खोज से पता चला है कि अनेक शिलालेख साधारण पच्चीकारी के पत्थर समझकर दीवालों में चुनवा दिए गए; खुरदरे समझकर उन पर भंग पीसी गई; ताम्र-पत्रों पर लिखे गए दानपत्रों के बर्तन बन गए; सोने-चांदी के सिक्के आग में गलकर आभूषण बनने के काम आए! आरंभिक विद्वानों के सम्मुख ये सब अड़चनें मौजूद थीं; इसलिए, जहाँ बेचारों की कलम थम जाती, वहाँ वे काव्य-कल्पना एवं अतिशयोक्ति की दलीलों का सहारा लेकर बढ़ा करते थे। इसीलिए उनका साहित्य बहुत-कुछ भ्रमपूर्ण है।

अ	अ	इ	उ	ए	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	झ	ञ	ट
ठ	ड	ड	ढ	ण	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	ब	भ	भ	म
य	र	ल	व	श	ष	स	ह	ळ	क्ष	ज्ञ	का	कि	की	कु	कू	के

देवनागरी वर्णमाला का विकास

(स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार)

इस तालिका में सफेद अक्षर आधुनिक देवनागरी वर्ण हैं और उनके नीचे काले रंग में प्रत्येक के आदिम ब्राह्मी रूप तथा विकास की श्रेणी में क्रमशः प्रकट होनेवाले रूप दिखाए गए हैं।

आधुनिक युग के उदय के साथ भारत ही में नहीं, वरन् अमेरिका, जर्मनी, इटली आदि देशों में भी एशिया-सम्बन्धी खोज के लिए संस्थाएँ स्थापित हुईं। कई योरपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त तिब्बती, चीनी, पाली, अरबी, आदि अन्यान्य एशियाई भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। घोर परिश्रम, कठोर अध्यवसाय एवं अध्ययन के पश्चात् तत्संबंधी साहित्य एकत्रित कर प्रकाशित किया गया।

इन आरम्भिक खोजों का अधिकांश श्रेय योरपीय विद्वानों ही को है। वर्षों तक कठोर परिश्रम से शिलालेखों, दान-पत्रों तथा सिक्कों को टटोलने के बाद वर्णमालाओं का ज्ञान संभव हो सका। इस प्रकार चार्ल्स विल्किन्स, जेम्स टॉड, पं० राधाकान्त शर्मा, यति ज्ञानचंद्र, प्रिंसेप आदि के अथक परिश्रम के फलस्वरूप ब्राह्मी और खरोष्ठी वर्णमालाओं का रहस्योद्घाटन हो सका।

यह सब कुछ तो हुआ, किन्तु भारतीय लिपियों का सौष्ठव एवं इनकी सुगमता को देखकर योरपीय विद्वान् यह सिद्ध करने की चेष्टा में लगे रहे कि भारत की प्राचीन लिपियाँ न तो अत्यन्त प्राचीन ही हैं और न वे मौलिक ही हैं! यहाँ की प्राचीनतम लिपि 'ब्राह्मी', जिसकी प्राचीनता ईस्वी पूर्व की दसवीं शताब्दी तक मानी जा सकती है, उनके कथनानुसार 'सैमिटिक' समूह की है, जिससे योरप की अन्यान्य लिपियाँ उत्पन्न होकर विकसित हुई हैं। किन्तु वे यह न समझ सके कि ब्राह्मी के मूल ६३ या ६४ उच्चारणों की समता दरिद्र सैमिटिक कैसे करेगी, जिसमें उच्चारणों के लिए केवल १८ संकेत ही हैं। सैमिटिक में ब्राह्मी

की तरह व्यंजनों के साथ स्वरो का सहयोग मात्राओं से नहीं दिखाया जाता। यह ब्राह्मी ही की अपनी विशेषता है, जो अन्य किसी भाषा-लिपि मे नही है। फिर यह भी समझ में नही आता कि जिस भाषा को ६४ मूलाक्षरों की आवश्यकता हो, वह अन्य अक्षरों का तो निर्माण कर ले और जरा-से संकेतों के लिए दूसरे का मुंह ताके! जिस लिपि के बनानेवालों में अनुस्वार आदि संकेतों के निर्माण करने की क्षमता है, वे क्या अठारह संकेतों का निर्माण नही कर सकते थे? वास्तव में, सैमिटिक से ब्राह्मी की उत्पत्ति माननेवाले इसकी महत्ता समझ ही न पाये और ब्राह्मी तो आज से हजारों वर्ष पूर्व ध्वनिसूचक चिन्हो की समानता एवं शास्त्रीय क्रम की उस कसौटी पर कसी जा चुकी थी, जिस पर लिपियों की उन्नति का क्रम कसा जाता है। आज का व्यवहृत अंकों का क्रम भी उसी समय निश्चित हो चुका था। ये सब ऐसी बातें है, जो विपरीत धारणावाले मस्तिष्कों में एकबारगी ही नही पैठती। वे स्वयं अपनी धारणाओं के विषय में अनिश्चित रहते हैं।

इन गड़बड़ियों के बीच सन् १८९४ में स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की एक पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला' नाम से निकली। अपने ढंग की इस मौलिक तथा गवेषणापूर्ण पुस्तक ने विद्वानों की दुनिया में सनसनी फैला दी। किन्तु सत्य तो वह है जो सर पर चढ़कर बोलता है। इस पुस्तक में प्रतिपादित ब्राह्मी की भारतीय उत्पत्ति के सत्य को पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े कष्ट के साथ स्वीकार किया। कुछ साधुमना योरपीय सज्जन ही इस प्रयत्न को सराह सके। इसके बाद श्री ओझाजी ने 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' नामक एक बृहद् ग्रंथ ८४ लिपिपत्रों सहित प्रकाशित किया, जिसकी सर्वत्र प्रशंसा हुई। आज भी अपने ढंग की यह एक ही कृति है।

हमारे देश का ऐतिहासिक साहित्य शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, भोज-पत्रों, ताड़पत्रों और कागजों में (चौथी शताब्दी ईस्वी मे रुई-चीथड़े आदि को कूटकर भारत में कागज बनने लग गया था) पर्याप्त सुरक्षित मिलता है, यद्यपि बहुत-कुछ नष्ट हो गया और शेष बचा हुआ बहुत-कुछ

शारदा	(अ)	(क)	(श)
बंगला	(ग)	(ध)	(ल)
कन्नड़ी	(ख)	(त)	(ब)
ग्रंथ	(क)	(ङ)	(व)
तामिल	(अ)	(म)	(ळ)
गुजराती	(अ)	(च)	(फ)

विभिन्न भारतीय लिपियों के अक्षरों के विकास के कुछ उदाहरण

सफेद अक्षरों द्वारा इन वर्णों के आधुनिक रूप और काले अक्षरों द्वारा आदिम ब्राह्मी रूप से उनके विकास का क्रम दिखाया गया है।

स्मृति के आधार पर संकलित किया गया है । पुराने जमाने में ग्रंथों का आज की तरह प्रचार नहीं हो पाता था । वे या तो लेखक की निजी वस्तु रहते थे, या उसके शिष्य अथवा ग्रंथ से रुचि रखनेवाले कुछ लोग ही उन्हें जानते थे । कभी-कभी तो लेखक अपने शिष्यों को कंठस्थ कराने के पश्चात् स्वयं ग्रंथ को नष्ट भी कर डालता था । इतना होने पर भी सिक्के, शिलालेख, दान-पत्र, पुस्तकें आदि इतनी प्रचुर मात्रा में लभ्य हैं कि उनसे यह निश्चित हो जाता है कि अधिकांश प्राचीन भारतीय पढना-लिखना जानते थे। महाराजाओं और सम्राटों द्वारा देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्थापित शिलालेखों, विशाल स्तम्भों तथा सड़कों पर खड़े किए गए दूरी के निशानों (मील के पत्थरों) से यह सूचित होता है कि उन दिनों अधिकांश भारतवासी भाषा, लिपि और अंकों का ज्ञान रखते थे । इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक लिपि काफी विकास पाकर अपने उद्गम से बहुत दूर आगे निकल चुकी थी एवं साधारण जनता की चीज बन चुकी थी ।

प्राचीन भारत में लेखन-कला

ब्राह्मी का प्राचीनतम रूप अशोकी है ! इससे पूर्व के भी स्वच्छ लिखावट के दो छोटे-छोटे लेख बड़ली और नेपाल की तराई के पिपरावा नामक स्थान से मिले हैं । अशोक और उसके बाद होनेवाले राजाओं के शिलालेखों के बाद हमारे समक्ष वह साहित्य आता है जो बाहरी यात्रियों के ग्रंथों में सुरक्षित है । मेगास्थनीज की 'इंडिका' पाटलीपुत्र की शासन-व्यवस्था का विशद हाल बताती है । इस अप्राप्य पुस्तक के उपलब्ध उद्धृत अंशों से विदित होता है कि भारतीय ज्योतिषशास्त्र के महान् ज्ञाता थे, जन्म-पत्रिकाएँ बनती थीं । उनके न्यायालय भी थे, जहाँ न्याय धर्मशास्त्रों के आधार पर मिलता था । इसी प्रकार की अन्य पुस्तकों में, विशेषकर बौद्ध ग्रंथों में, लेखन-कला की प्राचीनता के कई सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'शील' नामक एक ग्रंथ में लिखा है कि पाठशाला में लड़के अवसर 'अक्खरिका' (अक्षरों का खेल) खेला करते थे, जिस तरह कि आज के लड़के 'शब्द-रचना' का खेल खेलते हैं । शून्य में एक लडका उँगली से अथवा लकड़ी की सींक से कुछ लिखता था, जिसे दूसरे लड़के पहेली की तरह बूझते थे । यह खेल बौद्धों के लिए निषिद्ध था । इसी तरह के कई मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं । 'ललित-विस्तर' में भगवान् बुद्ध का लिपिशाला में चाँदी की तख्ती पर सोने की कलम से लिखने का हाल मिलता है ।

वेद यद्यपि एक से दूसरे तक कंठाग्र होते-होते पहुँचते रहे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे लिखे ही नहीं गए। अधिक संभावना तो यही है कि उच्चारण की शुद्धता सुरक्षित रखने के लिए ही वेदों को कंठाग्र करने का क्रम निश्चय किया गया था । संस्कृत की कई पाठशालाओं में आज भी यही क्रम जारी है । हम देखते हैं कि कई पश्चात्य विद्वान् अच्छे संस्कृतज्ञ होने पर भी वेद की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते । पद्य-ग्रंथों में अलबत्ता यह कार्य आसानी से संभव हो सकता है । गद्य ग्रन्थों के बारे में यह बात सरल नहीं होती, क्योंकि बड़े-बड़े गद्य ग्रंथ स्मृति में उतारे नहीं जा सकते ।

ऋग्वेद में 'अनुष्टुप्', 'बृहती', 'पंक्ति', 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' नामक छंदों के नाम मिलते हैं । अथर्ववेद में ११ छंदों की संख्या-गणना भी लिखी है। शतपथ ब्राह्मण में तो पदों की अक्षर-संख्या तक मिली है । लिखना न जाननेवाली जातियों के लिए यह सब संभव नहीं हो सकता था । छन्द-शास्त्री के रचयिता को उदाहरणों के ही आधार पर पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना होता है । केवल कंठस्थ किये गये छंदों के आधार पर यह सब संभव नहीं । पदों की अक्षर-संख्या का भी अर्थ यही है कि उस समय वेदों की लिखित पंक्तियाँ अवश्य थीं ।

और यदि लिखित ग्रंथ न होते तो यास्क, पाणिनि आदि महान् शब्दशास्त्रियों का साहित्य कैसे रचा जाता ! व्याकरण की विद्यमानता का अर्थ है भाषा का उस अवस्था में पहुँच जाना, जबकि उसे सुचारु और नियमित रूप देने के लिए नियमबद्ध कर दिया जाय । व्याकरण-रचयिता के सम्मुख जब तक विविध शैलियाँ अथवा वाक्य-रचनाएँ न होंगी, वह अपने व्याकरण के नियमों का आधार ही किसे बनायगा । निश्चित है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' बुद्ध से बहुत पहले की है । इस 'अष्टाध्यायी' में पाणिनि ने अपने से पूर्व के कुछ वैयाकरणों, जैसे स्फोटायन, गार्ग्य, शाकल्य, शाकटायन, गालव, भारद्वाज और काश्यप आदि का उल्लेख कर उनके व्याकरणों से नियमों के संबंध में मत प्रकट किए हैं । अपने से पूर्व होनेवाले विद्वान् 'यास्क' का उल्लेख तो पाणिनि ने स्थान-स्थान पर किया है। आखिर इन सबका विवेचन संभव कैसे हो सका ? क्या उक्त सभी विद्वानों के ग्रंथों को कंठस्थ करनेवालों को सम्मुख बिठाकर उनके विभिन्न मतों को अलग-अलग सुनते-सुनते ये सब टिप्पणियाँ बनाई गई और मन में ही निबंध रूप में बनाकर शिष्यों के सम्मुख रखने के लिए वे छोड़ दी गईं ? लिखित ग्रन्थों के अभाव में क्या इस प्रकार की रचनाएँ संभव हो सकती हैं ?

जब हम यह मान लेते हैं कि प्रारम्भ में भी लेखक ग्रंथ-रचना करता था तो सहज ही में यह प्रश्न उठता है कि तो फिर उसे प्रचार का लाभ क्यों न मिल सका। बात दर-असल यह थी कि लेखन-कला का उपयोग केवल साहित्य-रचना ही में होता था, उसके प्रचार में नहीं। यही वजह थी कि लिखित ग्रन्थों का हमारे यहाँ बड़ा महत्व माना गया। पुराणों में लिखित ग्रन्थों का दान बड़ा पुण्य-कार्य बताया गया है।

लिखित ग्रंथों का प्राचीन भारत में विस्तृत प्रचार नहीं था, इसका यह अर्थ नहीं है कि भारत में लिखित ग्रंथ थे ही नहीं। प्राचीन काल में प्रचुर लिखित ग्रंथ होने के प्रमाण मिले हैं। बूलर और बोथ-लिंग महाशय भी इस सत्य को स्वीकार करते हैं। रॉथ ने तो यहाँ तक लिखा है कि वेद ग्रंथ अवश्य ही लिखित रहे होंगे, वरना उनका प्राति-शाख्य नहीं बन सकता। आगे चलकर चीनी यात्री ह्युग्रान च्वाङ् का बीस घोड़ों पर ६५७ पुस्तकें लाद ले जाना, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय तक पर्याप्त संख्या में लिखित ग्रंथ उपलब्ध थे। मध्य-भारत का श्रमण 'पुण्योपाय' ई०स० की सातवी शताब्दी में १५०० से भी अधिक पुस्तकें चीन ले गया था। इन आँकड़ो से सहज में लिखित ग्रंथों की प्रचुरता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

१	—	˥	⌒	˥	?	१
२	=	⌐	~	२		
३	≡	≋	≋	३	३	
४	+	¥	⅄	⅄	४	
५	h	P	ч	५		
६	ε	ε	६			
७	?	7	?	७		
८	५	५	५	5	⊏	८
९	?	२	?	?	९	९
	९	९	९			

देवनागरी अंकों का विकास
(पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार)

ब्राह्मी और खरोष्ठी

भारतीय प्राचीन लिपियाँ अशोक ही के समय तक की प्राप्य हैं, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। उनके अध्ययन से पता लगा है कि उस समय यहाँ दो प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं। एक वह थी जो बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी और दूसरी वह जो दाहिनी से बाईं ओर को चलती थी। इनमे से पहली 'सार्वदेशिक' और दूसरी 'एकदेशिक' कही गई है। इन दोनो लिपियों के प्राचीन नाम कौन-से रहे, इस संबंध में वैदिक ग्रंथों में तो कुछ लिखा मिलता नही। लेकिन जैनों की दो पुस्तक 'पन्नवणासूत्र' एवं 'समवायांग-सूत्र' में १८ लिपियों की नामावली दी गई है। सबके सिरे पर 'बंभी' लिपि का नाम है। यही नाम परिवर्तन के साथ संभवतः 'ब्राह्मी' हो गया। वह लिपि कब और किस तरह चली, इसका तो पता नही लगता, लेकिन इसका आदर खूब था। 'भगवती-सूत्र' नामक ग्रंथ में 'नमो बंभीए लिविए' लिखकर आरंभ ही में इसकी वदना की गई है। इन दो ग्रंथों के बाद बौद्धो के 'ललित-विस्तर' में ६४ लिपियों की गणना मिलती है। इनमें भी पहले ब्राह्मी और फिर खरोष्ठी आती है। खरोष्ठी का अर्थ है 'गधे के ओठवाली'। यह चीनी अर्थ है। यहाँ शंका संभव है। कि चीन का भारत से कैसा सम्बन्ध' बात यह है कि जब से अशोक ने भारत से बाहर चीन, ब्रह्मा, स्याम, लका आदि देशो में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए श्रमणों को भेजना आरम्भ किया, तब से विचारों तथा संस्कृति का आदान-प्रदान इन देशो में जोरो से शुरू हो गया। संस्कृति के इस विकास में चीन का काफी मित्रता का हाथ रहा। चीनी विद्वान् निरन्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन करने के लिए आते रहे। उन्होंने कई ग्रंथों के अनुवाद भी किए और अनुवाद का यह क्रम लगभग एक हजार वर्ष तक चला! भार-तीय और चीनी विद्वानों के सहयोग से ई० स० ६६८ के उत्तरार्ध में एक बौद्ध विश्व-कोष का भी निर्माण किया गया था, जो चीनी भाषा में उपलब्ध है। इस कोष का नाम है "फा-युग्रन-चु-लिन"। इस विश्व-कोष ने भी ललित-विस्तरवाली ६४ लिपियों की नामावली दी है। इसके रचयिताओं ने लिपियों के प्रवर्त्तकों के नामों की भी खोज की है। उनके मतानुसार दैवी शक्तियों से युक्त तीन आचार्यों ने इन लिपियों को बनाया है। सबसे पहली और सर्वश्रेष्ठ लिपि 'ब्राह्मी' को वे ब्रह्मा नाम के आचार्य से प्रवर्त्तित मानते हैं और दूसरी 'खरोष्ठी' की उत्पत्ति खरोष्ठ नाम के आचार्य से। उन्होंने इसे ब्राह्मी की समता प्रदान नही की। तीसरी लिपि चीनी है, जो ऊपर से नीचे की ओर चलती है। इसे सबसे कम महत्व

प्राप्त है। इसके प्रवर्त्तक 'त्सं-की' माने गए, जो चीन में हुए। ब्रह्मा और खरोष्ठ को भारत का ही वतलाया गया है। इन्होंने अपनी लिपियाँ देवलोक से पाई। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ब्राह्मी यही की लिपि थी। इसीलिए इस भाषा में यहाँ की ग्रंथ-रचना हुई और यही कारण है कि इस लिपि को अन्य लिपियों के मुकावले मे अधिक महत्व का स्थान प्रदान किया गया। इसी ब्राह्मी से भारत की अन्य लिपियो की भी उत्पत्ति हुई। यह पृष्ठ ७६४-७६५ पर दिए गए मानचित्रो के कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट हो सकेगा।

पाश्चात्य विद्वानों का भ्रमपूर्ण मत

हमें अव संक्षेप मे ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में योरपीय विद्वानो के मत की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसका नाता कई विद्वानो ने यूनानी से, कई ने खरोष्ठी से, कई ने अरामिक से और किसी ने सैमिटिक से जोड़ा है। किन्तु सवकी बातें गोल-मोल-सी ही हैं। फिर एक प्रश्न पर इतने विभिन्न मत किसी निश्चय के प्रतीक नही है। सवसे वड़ी बात तो यह है कि जिन-जिन लिपियो से ब्राह्मी की उत्पत्ति निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाता है, उनके अक्षरों से ब्राह्मी अक्षरो के उच्चारण की समानता एक-दो अक्षरों को छोड़कर कदापि नही मिलती। इस विपमता को दूर करने के अभिप्राय से यद्यपि खीच-तान से भी काम लिया गया, फिर भी सत्य अधिक समय तक न छिप सका।

महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा
जिनके भारतीय लिपियों-सवधी महत्वपूर्ण अनुसंधानों के लिए संसार सदैव ऋणी रहेगा।

ब्राह्मी की उत्पत्ति फिनिशियन से सिद्ध करने के लिए १८९५ में बूलर महाशय ने एक पुस्तक प्रकाशित करवाई थी। फिनिशियन लिपि उर्दू की तरह उल्टी ओर को चलती है। ब्राह्मी को भी उल्टी चलाने के लिए बूलर महोदय ने निहायत उम्दा वहाना खोज निकला। वे कहते है कि वाह्मी लिपि पहले उल्टी चलती थी, पीछे से इसे उलटकर वाईं ओर से चलाया गया! यही नही, शब्दो के ऊपर-नीचे उलट देने की बात भी उन्होंने लिखी है क्योकि फिनिशियन लिपि का ऊपरी भाग प्रायः स्थूल और निचला हिस्सा टेढी लकीर लिये हुए होता है, जो ब्राह्मी का उल्टा रूप है। इस वैपम्य को मिटाने की गरज से संभवतः उलट देने की यह कल्पना आई। ब्राह्मी के उल्टे हुए रूप को फिनिशियन से अधिक से अधिक समानता देने के लिए बूलर ने कुछ लकीरो को घटाया वढाया अथवा टेडा-सीधा भी किया है। किन्तु इस तरह तो किसी भी लिपि का संवंध संसार की अन्य किसी भी लिपि से जोड़ा जा सकता है!

बूलर की सूझ और चतुराई की चाहे प्रशंसा की जा सकती है, किन्तु उसका तर्क नितान्त थोथा है। यो उन्होंने प्रमाण मे 'एरण' से प्राप्त एक ऐसे सिक्के का उदाहरण दिया है, जिस पर उल्टी लिपि में उल्टे अक्षर खुदे हुए है। लेकिन मुद्रण-कला के इस वड़े-चढ़े जमाने मे भी जव असावधानी के कारण अक्षर उल्टे ढल जाते है, तव क्या यह संभव नही हो सकता कि एरण के सिक्के के लिए जिस कारीगर ने यह ठप्पा वनाया था, उसने दाहिनी ओर से वाई ओर को अक्षर खोदने के वजाय वाई ओर से खोद दिये हो? यदि जरा-सी असावधानी से अक्षर उल्टे के वजाय सीधा ही खुद जाए, तो वह अक्षर छापे मे उल्टा आ ही जाएगा। छापने की कला के वचपन मे इस प्रकार की असावधानी का अनुमान किया जा सकता है। ऐसी गलतफहमियो के कई ताजे उदाहरण भी मिले है। संवत् १९४३ का इंदौर राज्य (मालवा) का एक पैसेवाला सिक्का उल्टा ही ढला है; किन्तु इसका यह अर्थ तो कदापि नही हो सकता कि ये

लिपियाँ उर्दू की नाईं दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती रही अथवा इनका संबंध इसी तरह लिखी जानेवाली किसी लिपि है! 'एरण' के उक्त सिक्के के अलावा और कोई सिक्का या शिलालेख ऐसा मिल ही नहीं सका है, जिसमें इस प्रकार से ब्राह्मी अक्षरों का उल्टा रूप अंकित हो। अतएव उल्टे छापे की बात को खोदनेवाले की असावधानी मानना ही अधिक उपयुक्त और युक्ति-संगत है। फिर भला एक थोथी दलील के आधार पर सत्य का गला घोंटकर कल्पना के घोड़े दौड़ाना कहाँ तक उचित माना जा सकता है?

इस पूरे विवेचन के पश्चात् हम एडवर्ड थामस के शब्दों में यही कह सकते है कि ब्राह्मी अक्षर भारतवासियों की मौलिक उपज है और उनकी सरलता को देखकर उनके आविष्कारकों की बुद्धिमत्ता ही प्रकट होती है। लासन आदि विद्वानों का कथन भी इसी सत्य की पुष्टि करता है। चूंकि इसका प्राचीनतम प्राप्त रूप काफी प्रौढ़ और किसी भी प्रकार के विदेशी प्रभाव से अपनी स्वतंत्रता प्रकट करता है, अतएव वर्षों पूर्व इसका निर्माण किया जाना ही संभव हो सकता है।

कालांतर मे विकास के नियमों के अनुसार ब्राह्मी कई रूपों में बदली। गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा आदि लिपियाँ ब्राह्मी से ही उत्पन्न हैं, जो पृष्ठ ७६५ के नक्शे से स्पष्ट है। जब ब्राह्मी को पढ़े जाने की समस्या आई, तब इन्ही परिवर्तित रूपों के आधार पर वे पढ़ी गई। आज के अक्षर जिस आखिरी परिवर्त्तन में से गुजरे है, उसमें और इनमें अधिक अन्तर नही। इसी तरह और पिछले परिवर्तनों का भी हाल है। कई छापों की नकल लेकर यदि मिलान किया जाय तो सहज ही में मूल अक्षर पकड़े जा सकते है। प्रिंसेप ने बड़े परिश्रम से इसी तरह ब्राह्मी और खरोष्ठी वर्णमालाओं का ज्ञान सम्पादन किया। किन्ही सिक्कों के एक ओर एक लिपि और दूसरी ओर दूसरी लिपि के अक्षर खुदे मिलते है। किन्तु ये लिपियाँ प्रायः एक-दूसरे से सम्बद्ध रहती है, इसलिए कुछ अक्षरों का ज्ञान इनके ही आधार पर हुआ। इसी तरह प्राचीन लिपियाँ पढ़ी गई।

खरोष्ठी लिपि

खरोष्ठी के केवल दो लेख पाए गए हैं। यह उत्तर-पश्चिम में गांधार में प्रचलित थी और उर्दू की भाँति दाहिनी ओर से चलती थी। इसका मतलब यह है कि सैमिटिक से इसकी उत्पत्ति है। 'अरामिक' के मूल २२ अक्षरों को घटा-बढ़ाकर उपयोगी बना लिया गया था। चीनी विश्वकोष के आधार पर यह खरोष्ठ नाम के आचार्य की है। इसमें संयुक्ताक्षर बहुत कम है और मात्राएँ, ह्रस्व, दीर्घ आदि नहीं होते। इसीलिए संस्कृत की पुस्तकें लिखने के लिए यह अनुपयुक्त समझी गई। यह लिपि भारत में बहुत जल्दी ही अस्त हो गई, किन्तु बाहर सदियों तक चलती रही। परिश्रम की खोज के बाद इस लिपि में लिखा गया कुछ साहित्य उपलब्ध हो सका है। किन्तु इस लिपि मे ब्राह्मणों के धर्मग्रन्थ लिखे नहीं मिलते। अतएव जो लोग इनका सम्बन्ध ब्राह्मी से जोड़ने का प्रयत्न करते है, वे भ्रम में है।

ब्राह्मी की शाखाएँ

शैलियों की दृष्टि से ब्राह्मी के दो विभाग किये गए है—पहिला उत्तरी और दूसरा दक्षिणी। उत्तरी विभाग में क्रमशः (१) गुप्त, (२) कुटिल, (३) नागरी, (४) शारदा और (५) बँगला है। दक्षिणी विभाग में भी क्रमशः (१) पश्चिमी, (२) मध्यप्रदेशी, (३) तेलगु-कनड़ी, (४) ग्रन्थ, (५) कलिंग और (६) तमिल हैं। ब्राह्मी का विकास इन्हीं रूपों से हुआ है। पृ० ७६५ के नक्शे के कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो सकेगा। यह विभाजन विभिन्न समयो मे पाए जानेवाले अक्षरों के आधार पर हुआ है।

अंक भारतीय प्रतिभा की ही उपज हैं

अब एक बात और रह जाती है, और वह है अंको से संबंधित। प्राचीन और आधुनिक अंकों में काफी अन्तर है। आज की तरह तब केवल १० चिह्नों के आधार पर व्यवहार नहीं चलता था। दहाई, सैकड़ा, हजार या ऐसी ही अन्य संख्याओं के लिए भी अलग-अलग चिह्न मौजूद थे। कई के चिह्न अक्षरों से मिलते है। ४० और ६० के चिह्न के लिए क्रमशः 'स' और 'प्र' का चिह्न मिल जाता है। इसी तरह और भी चिह्न है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भारतीय अंक विदेशी अंकों से प्रभावित हैं, लेकिन ओझाजी ने इनकी स्वतन्त्रता काफी प्रमाणों से सिद्ध की है। उन्होंने लिखा है—"शून्य की योजना कर नव अंको से गणितशास्त्र को करनेवाले नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में हुई और फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश योरप में हुआ।"

निश्चय ही ये अंक काफी प्राचीन है। नवीन शैली के अंकों का प्रचार तो पाँचवीं शताब्दी ही में पाया जाता था। स्थानाभाववश इस संबंध में हम अधिक नहीं बता सकते, लेकिन ब्राह्मी के अक्षरों की तरह ये अंक भी अति प्राचीन है और उन्ही के आधार पर वर्तमान अंकों की उत्पत्ति हुई है। पृष्ठ ७६७ पर दिया गया अंकोंवाला नक्शा देखिए। उससे आपको इनके विकास का क्रम ठीक से समझ में आ जायगा।

पाषाण-काल के प्रतिनिधि—ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों के जीवन की झांकी

(ऊपर) शरीर पर विचित्र चित्रकारी किये और पत्तियों, परों आदि से पक्षियों जैसी शक्ल बनाये हुए ऑस्ट्रेलिया के ये आदिम निवासी आग के आसपास उछलते-कूदते हुए नृत्य कर रहे हैं। (दाहिनी ओर) शिकार के लिए सज्जित एक जंगली ऑस्ट्रेलियावासी योद्धा। देखने में ये लोग कोई आकर्षक नहीं होते। इनका शरीर कत्थई रंग का-सा दुबला-पतला और चेहरे पर घनी दाढ़ी मूँछों से आवृत होता है। इनका सिर और ललाट छोटा, आँखें गड़ी हुई, भौंहों की हड्डी उभरी हुई, नासिका चौड़ी एवं चपटी, ठुड्डी छोटी और ओठ मोटे होते हैं। इनका जीवन अब भी पाषाण युग की संस्कृति का द्योतक है।

पाषाण-काल के प्रतिनिधि—ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी

पिछले खंड में वर्णित पापुआनों और मेलानेशियनों के ही समकक्ष माने जाने योग्य या किसी-किसी बात में उनसे भी गये-बीते ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी हैं, जिनकी गिनती आज भी पाषाण-युग के मनुष्यों में की जाती है। इस प्रकरण में उन्हीं का परिचय दिया जा रहा है।

सभ्यता से परिचित जिन मनुष्यों की दृष्टि पहले-पहल ऑस्ट्रेलिया पर पड़ी थी, उन्होंने इसे 'काला, जंगली, खूँखार प्रदेश' नाम दिया था। इस महादेश के जिस हिस्से में ये पहुँचे थे, वह वास्तव में ही प्राकृतिक सौन्दर्य से रहित भद्दा मरुप्रदेश था। उन प्रथम पहुँचनेवालों को यहाँ के बाशिन्दे निर्दयी, दरिद्र और स्वाभाविक तौर से जंगली दिखाई दिए। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब विलियम डाम्पियर नामक अन्वेषक इस महादेश के उत्तर-पश्चिम तट पर पहुँचा तो उसकी भी यही धारणा रही कि यहाँ के बाशिन्दे संसार में सबसे अधिक पिछड़े हुए हैं और यह देश रहने के उपयुक्त नहीं है।

ऑस्ट्रेलिया के विषय में सभ्य संसार की यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही। लोग इस देश को निम्न कोटि के जानवरों का देश समझते रहे। बहुत हुआ तो वे इसे आदिम मनुष्यों का अजायबघर मान सकते थे। जब अन्वेषकों ने वहाँ के आदिम निवासियों का विशेष रूप से अध्ययन करना आरंभ किया और उनकी भाषा की छानबीन की तो यह निश्चित रूप से साबित हो गया कि इस महादेश के उत्तरी भाग में बसनेवाले मनुष्य 'पापुआन' सरीखे ही हैं। इनका भी रहन-सहन उन्हीं की कोटि का है। इसलिए ऑस्ट्रेलिया के इन आदिम निवासियों की भी गिनती यदि पत्थर-युग के आदमियों में की जाय तो इसमें कोई बुराई न होगी। आज भी ये पत्थर घिसकर अपने हथियार बनाते हैं और नरम कुन्दे पर एक तीखी सख्त लकड़ी को घिसकर उससे आग पैदा करते हैं।

घर बनाने की कला में तो ये लोग पक्षियों के घोंसले बनाने की मामूली कला से भी अभी पीछे हैं। वर्षा से बचने के लिए ये वृक्षों की छाल, घास और टहनियों द्वारा पापुआन लोगों से सीखे हुए तरीके पर किसी प्रकार अपने रहने के घोंसले तैयार कर लिया करते हैं।

बूमरैंग नामक अपने अनोखे हथियार से सुसज्जित एक ऑस्ट्रेलियावासी योद्धा

यह हथियार इस तरह फेंका जाता है कि शत्रु को घायल करके फेंकनेवाले के पास लौट आता है।

पैरों तले सोना, फिर भी सदियों से दरिद्री

अपने प्रदेश के उपजाऊ और समृद्धिशाली रहते हुए

आज भी ये अपने औजार पत्थरों से ही बनाते हैं

ऑस्ट्रेलियावासी यह बुड्ढा प्राचीन पाषाणकालीन मनुष्यों की तरह गढ़कर पत्थर की कुल्हाड़ी बना रहा है।

हजारों-लाखों वर्षों से ये रहते चले आए हैं, उन पर एक दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है। जो जानवर आज के सभ्य देशों में कदाचित् लाखों वर्ष पहले पाये जाते थे, वे ऑस्ट्रेलिया में आज भी विद्यमान हैं। हमारे यहाँ के बड़े-बड़े अजायबघरों में प्राचीनकाल के जिन जानवरों की सिर्फ अस्थियाँ भर देखने को मिलती हैं, उनमें से कुछ के वंशज ऑस्ट्रेलिया में आज भी जीवित और बहुत अधिक संख्या में वर्तमान हैं। इस दृष्टि से ऑस्ट्रेलिया को अति प्राचीनकाल का जीवित अजायबघर नाम देना अनुपयुक्त न होगा।

भी सदियों से भूख और दरिद्रता का जीवन बसर करते आये हैं। इनकी आजीविका का आधार अब भी प्राचीन ढंग का शिकार, ज्यों-त्योंकर पकड़ली जानेवाली मछलियाँ और जंगल के कंदमूल हैं। इस देश में कोयला, ताँबा, चाँदी, सोना, लोहा आदि सब कुछ प्राप्य होने पर भी ये उनका उपयोग न कर सके। यह कहना अक्षरशः सत्य होगा कि ये लोग सदैव पैरोंतले सोने को रौंदकर चलते रहे, फिर भी इनकी दरिद्रता चरम सीमा को ही पहुँची हुई रही!

जमीन के भीतर छिपे धन की तो बात दूर रही, सतह पर बिछे हुए धन का भी कोई उपयोग इन्होंने नहीं किया। जमीन को जोतने-बोने की इन्होंने कभी कोई कोशिश नहीं की। समृद्धिशाली भूमि पर रहते हुए भी खाद्य पदार्थ उपजाने या हथियार-औजार बनाने से इन्हें कभी कोई मतलब नहीं रहा। जो कुछ भी अनायास हाथ लग गया या भाग्य से सामने आ गया, बस उसी पर ये अपना गुजारा चलाते रहे और आज भी वैसा ही कर रहे हैं। संक्षेप में, मनुष्य का शरीर रहने पर भी ये प्रकृति के सामने अपने को जानवरों की भाँति निरंतर असहाय पाते रहे हैं।

अनोखे जानवरों से मुकाबला

बात कुछ अजीब-सी भले ही दिखाई देती हो, पर यह नितान्त सत्य है कि इस देश के निवासियों की प्रकृति को ठीक-ठीक पहचान पाने के लिए, जिन जानवरों के साथ

इस देश के जानवरों में सबसे पहले कंगारू आते हैं। इनके अगले पाँव बहुत छोटे होते हैं, पर पिछले पाँव और दुम बड़ी ही मजबूत होती है। वैसे तो ये जानवर खतरनाक नहीं होते, पर छेड़ने या खदेड़ने पर अपनी प्राणरक्षा के लिए ये अड़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में ये आदमियों की जान तक ले लेते हैं। सिर्फ पत्थर के हथियारों से काम लेनेवाले आदमियों से तो ये कदापि नहीं डरते।

विषैले साँप और मकड़ियों के सिवा इस देश में एक खास जाति की विषैली चीटियाँ भी होती हैं। इनकी एक जाति सफेद रंग की और जमीन के नीचे रहनेवाली होती है। ये अक्सर दल-के-दल बाहर निकलती हैं, और जो भी लकड़ी सामने आई उसे दीमक की तरह चट कर डालती हैं। ये पूरे घर का घर खोखला कर डालती हैं। एक दूसरी तरह की चीटी ऐसी होती है, जिस पर यदि छड़ी चलाई जाय तो वह प्राण रहते भागती नहीं, बल्कि काटने के लिए बराबर आक्रमण करती रहती है।

पर ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी सबसे अधिक अपने यहाँ के कौओं को मारने पर उतारू रहते हैं। कहते हैं, जब कोई भेड़ बच्चा देती होती है अथवा गरमी से तबाह होकर क्लान्त

बन जाती है, उस समय ये कौए उसका मांस नोचने के लिए उस पर तुरंत आक्रमण कर देते हैं। कभी-कभी ये भेड़ की आँख तक नोचकर ले जाते हैं और उस अपाहिज जानवर को घुल-घुलकर मरने के लिए मजबूर कर देते हैं! अक्सर ऐसा भी होता है कि कोई आदमी जंगल में राह भूलकर प्यास से तबाह होने लगता है। उस समय ये कौए उसके जिन्दा रहते ही उसकी आँख नोचकर ले भागते हैं! इसीलिए यहाँ के निवासी अक्सर इन कौओं को मारने के लिए दिन-दिन भर उनके पीछे दौड़ते रहते हैं।

यहाँ के जंगलों में प्रकृति के बनाये कुछ ऐसे भी पशु-पक्षी हैं, जो आदमियों के लिए उपयोगी भी साबित होते हैं। इनमें से एक कूकाबूरा नामक पक्षी है। इसकी बोली ठीक आदमियों की हँसी-जैसी होती है। यह साँपों को मारने में बड़ा तेज होता है। इसीलिए यहाँ के निवासी इसे पवित्र मानते हैं। ये पशु-पक्षी ही ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के विचार और रहन-सहन को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं।

रहन-सहन, आकृति, आदि

जब से आधुनिक संसार को ऑस्ट्रेलिया के धन का पता लगा है, कई योरोपियन, जिनमें अधिकांश अंग्रेज हैं, ऑस्ट्रेलिया में बस गए हैं। उन्होंने इस महादेश के दक्षिण की ओर के पूरे आधे हिस्से से आदिम निवासियों को हमेशा के लिए खदेड़ दिया है। कारपेन्टारिया की खाड़ी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग एक लाख वर्गमील से अधिक के क्षेत्र में बाह्य संसार से बिल्कुल अछूते ये केन्द्रीभूत हैं। इनमें आसन्ता, बारामुगा, बिग-बिगा और कामिलरोई जातियाँ प्रमुख हैं। जहाँ ये जातियाँ बसी हैं, उस प्रदेश में वर्ष के अधिकांश भाग में पानी और भोजन की बड़ी किल्लत रहती है।

देखने में ये लोग कोई आकर्षक नहीं होते। इनका शरीर कत्थई रंग का-सा, दुबला-पतला और चेहरे पर घनी दाढ़ी मूँछों से आवृत होता है। इनका सिर और ललाट छोटा, आँखें गढ़ी हुई, भौंहों की हड्डी उभरी हुई, नासिका चौड़ी एवं चपटी, ठुड्डी छोटी और ओठ मोटे होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनका जीवन अब भी पाषाण-युग की संस्कृति का द्योतक है। ये अपने औजार-हथियार अभी भी पत्थरों ही से गढ़कर बनाते हैं। इनका 'बूमरेंग' नामक एक हथियार बड़ा ही अनूठा होता है। यह दूज के चाँद जैसा कुछ मुड़ा हुआ होता है और शत्रु पर इस प्रकार से फेंका जाता है कि उसे घायल करके सर-सराता हुआ वापस फेंकनेवाले के पास आ जाता है। यह सौ दो सौ गज तक दूर से मार कर सकता है। इसकी सारी खूबी इसके प्रयोग में ही निहित है। यह फेंके जाने पर चील के झपट्टे की तरह शिकार को अपनी लपेट में ले लेता है।

विचित्र रस्में

इन लोगों में सदियों से कुछ पुश्तैनी रस्में बड़े मार्के की चली आ रही हैं। इन रस्मों के अदा करते समय ये अपने प्रदेश के पशु-पक्षियों की आवाजों की पूरी नकल उतारते हैं। यह नकल इतनी हू बहू उतरती है कि इसे उतारनेवाले आदमी उस समय के लिए पूरे जानवर या पक्षी ही गये-से दीखते हैं। नकल उतारने के इस काम से इन लोगों की तबियत जल्दी नहीं भरती। इस रस्म को वे अपने बाप-दादों से

ऑस्ट्रेलियावासी आदिम कलाकार

ऑस्ट्रेलियावासी यह आदिम कलाकार अपने यहाँ के नृत्योत्सवों के समय पहनी जानेवाली पेड़ की छाल पर बारीक चित्रकारी कर रहा है! इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सभ्यता की निम्नतम अवस्था में रहते हुए भी ये कला से नितांत अनभिज्ञ नहीं हैं।

प्रसन्नमुद्रा में एक ऑस्ट्रेलियावासी

पाषाणकालीन संस्कृति के ये प्रतिनिधि यद्यपि निरंतर प्रतिकूल वातावरण में संघर्षरत रहते हैं, तथापि उनकी प्रसन्नता में कमी नहीं रहती।

आई जान कर उसका अक्षरशः पालन करते हैं, और साथ ही यह भी विश्वास रखते हैं कि उनके पूर्वजों का शरीर अपूर्ण मनुष्य का था, तथा उसे पूर्ण बनाने का श्रेय विशेषकर जानवरों के भीतर पाये जानेवाले अर्धदेवों को है।

पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिलने के कारण पाषाण-युग में रहनेवाले इन मनुष्यों के बीच कई तरह के नियम चल पड़े हैं, जिन्हें वे पुश्तैनी बतलाते हैं। ऐसे नियमों में प्रमुख बच्चों या युवकों के लिए बनाये गये कानून हैं। इन लोगों में किसी जाति विशेष में जन्म होने से किसी का अधिकार उस जाति का सदस्य हो जाने का नहीं रहता। सदस्य बनने के लिए की जानेवाली साधनाओं की कई मंजिलें रहती हैं और वे साधनायें एक-से-एक भयानक होती हैं। बच्चे जैसे ही अपने बड़े-बूढ़ों को सहायता पहुँचाने योग्य बनते हैं, वैसे ही उनके खाने की चीजों पर जबर्दस्त रोक लगा दी जाती है। एक खास तरह की स्वादिष्ट चर्बी इसके बाद वे फिर खा नहीं सकते, और यह चर्बी प्राप्त कर उन्हें बिना किसी और को दिये ससुर के नाम से पुकारे जानेवाले बड़े-बूढ़ों को देना पड़ता है। यदि इस नियम में कोई ढिलाई करता है तो इसका बहुत ही बुरा परिणाम उसे भुगतना पड़ता है। रस्म अदा करने के सिलसिले में बूढ़े उस कानून तोड़नेवाले की घूँसे और तमाचों से ही खबर लेते हैं! इसके सिवा उन युवकों में यह अन्ध-विश्वास भी भर दिया जाता है कि यदि उन्होंने मना की गई चीजों का उपभोग किया तो एक खास जादू का उन पर असर होगा और वे अन्धे, लूले, पंगू हो जाएँगे तथा बुजुर्गी के चिह्न-स्वरूप उनके दाढ़ी कभी उगेगी ही नहीं! इस प्रकार के प्रतिबंध और रस्मों का खास मतलब यही है कि बूढ़ों के लिए स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ सुरक्षित रहें! खासकर इसीलिए ये नियम अक्षरशः पालन कराये जाते हैं।

इन प्रतिबंधों के हटाने के पहले की रस्में भी बड़ी भयानक होती हैं। जो व्यक्ति किसी पद से हटाया जानेवाला होता है, उसे तरह-तरह के कष्ट बर्दाश्त करने पड़ते हैं। इन कष्टों में एक जिन्दा भुना जाना भी है! कुन्दे की आग पर वह आदमी पाँच मिनट तक चित सुलाया जाता है और आग धीरे-धीरे तेज कर दी जाती है। फिर वह पाँच मिनट तक पट लेटता है। एक स्थान पर अधिक जल न जाय, यह इसके लिए वह बराबर करवटें बदलता रहता है। विधि समाप्त होने पर वह युवक रस्म अदा करानेवाले बूढ़ों से गुप्त बातें सीखने का अधिकारी हो जाता है। बूढ़े इस मौके पर अपने को जाति के पूर्वज बनकर आये हुए बताते हैं और उसी के लिए अपने शरीर पर खास तरह की चित्रकारी भी किये रहते हैं। कभी-कभी ये चित्रकारियाँ पशु-पक्षियों की शक्लों की भी की जाती हैं, पर अधिकतर वे साँप की शक्ल की होती हैं, क्योंकि उसी को ये लोग आदमी को पैदा करनेवाला पवित्र जीव समझते हैं।

इसके अतिरिक्त अपनी जीभ छेदने, बालों को काटकर रस्सी बनाने के काम में लाने के लिए बूढ़ों को देने, अथवा जाति

के किसी व्यक्ति के मरने पर अपनी छाती पर गरम पत्थर से दाग लगवाने आदि का भी रिवाज इनमें है। मर्द अपने बालों के बदले औरतों के बाल काटकर अपनी बाँह में बाँधे चलते है। दाँत उखड़वाने का रिवाज यद्यपि अब मर्दों के बीच से उठ गया है, पर यह औरतों के लिए लाजिमी बना दिया गया है! छड़ी से मार-मारकर पहले उनके दाँत हिला दिए जाते है, फिर पत्थर से ठोंक-ठोककर वे उखाड़ दिये जाते है। इससे औरतें समझती है कि वे अधिक सुन्दर हो गयी है!

तरह-तरह का अत्याचार झेलते रहने के कारण यहाँ की औरतों की उम्र पहचान पाना कठिन हो जाता है। पच्चीस वर्ष में ही वे बूढ़ी हो गई सी दीखती है। यहाँ से अधिक पीड़ित औरतें संसार के और स्थान मे शायद ही मिल सकती हैं। इनके समाज में जितने भी अच्छे खाद्य पदार्थ है, उनसे औरतें सदैव वंचित रखी जाती है। रस्मो के अदा करते वक्त भी खाने-पीने की क्रिया के समय ये अलग कर दी जाती है। इसके अतिरिक्त, मर्दों द्वारा और भी कितने ही प्रकार के अत्याचार इन पर होते है। किसी जाति के चार विभागों के चार आदमी यदि थोड़े काल के भीतर मर जाते है तो सब औरतों को एक साल तक बिल्कुल मूक रहना पड़ता है! वे एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकती। साल के आखिर मे वे मर्द का हाथ दाँत से काटती हैं। और उसे खाना देती है, तब कही वे मौन तोड़ सकती हैं।

यदि लोगों को कभी तकलीफ बर्दाश्त करने से भागने के लोभ ने विवश किया तो वे उस समय एक खास तरह की आवाजें सुनते है। इसे वे 'त्वानिका देव' की आवाज मानते है, जो उन्हे लालच में पड़ने से मना करता है। यह आवाज महज खोखली की गई एक लकड़ी से निकलती है। पर वे इस रहस्य को न खोलने के लिए हमेशा बाध्य रहते है।

खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न मिलने या शरीर को निरंतर यंत्रणा देते रहने के कारण जब इन्हे रोग आदि होते है तो ये आदिम निवासी उसे जादू की करामात मानते है और अधिकतर यह विश्वास रखते हैं कि वह जादू शत्रु ने अदृश्य जहरीली हड्डी के रूप में उन पर चलाया है। इसके उपचार के लिये रोगी लेट जाता है और जादू झाड़नेवाले कुछ देर उसे ध्यान से देखते रहते है। फिर रोगी के शरीर पर लेट-कर उसकी मालिश करते है और दाँत से काट-काटकर जहर निकालने की क्रिया दिखाते है।

मृत्यु-संबंधी अनोखे रीति-रिवाज

स्वाभाविक रीति से मृत्यु होने में इन आदिम मनुष्यों का विश्वास नहीं है। मौत का कारण वे जादू को ही समझते है। इसीलिए मरने से संबंध रखती हुई कई अनोखी रस्में इनमें होती है। इनमें जब व्यक्ति मृत्युशय्या पर पड़ता है, उसी समय से 'शोक' की रस्म का आरंभ होता है! लोग रोते-चिल्लाते और अचेत होने लगते हैं। औरतें अपनी जाँघ मे घाव करने लगती है, जो कभी-कभी इतने गहरे किये जाते है कि स्त्री खड़ी भी नही हो सकती! मृत्युशय्या पर पड़े हुए व्यक्ति की मृत्यु होते ही स्त्री-पुरुष छड़ी-लाठी आदि हाथ में लेकर एक दूसरे को भोंकते-पीटते हुए जुलूस बनाकर निकलते है। इस मौके पर एक दूसरे के आघात से बचने की कोशिश नही की जाती। इसीलिए बहुतों का शरीर लहू-लुहान तक हो जाता है! फिर लाश को ले जाकर एक पेड़ की खोह मे रख दिया जाता है। तीन दिन बाद लोग जाकर उस खोह को देखते है और पता लगाते है कि वहाँ किसी पशु-पक्षी के कोई चिह्न तो विद्य-मान नही है। यदि कोई चिह्न उन्हें मिलता है, तो वे उस चिह्न द्वारा उस शत्रु का पता लगा लेते है, जिसके कि जादू से वह व्यक्ति मारा गया माना जाता है और उससे बदला लेते है। यदि पेड़ की खोह मे तीसरे दिन उन्हे कोई चिह्न नही मिलता तो वे लाश को एक साल तक वही रक्खी रहने देते है। साल पूरा होने पर मरे हुए आदमी के भूत की अनुमति लेकर

उत्सव के लिए सुसज्जित एक ऑस्ट्रेलियावासी
शरीर पर की गई सर्पाकृति की-सी विचित्र चित्रकारी पर गौर कीजिए।

लाश की अस्थियाँ उतारी जाती हैं। इस मौके पर सबसे कम अवस्थावाला युवक पत्थर के कुल्हाड़े से अस्थि-पंजर को तोड़ता है और हाथ की एक हड्डी को छोड़कर बाकी सभी अस्थियों को वृक्ष की छाल में लपेटकर छोड़ दिया जाता है।

आॅस्ट्रेलिया में कुछ आदिमजातियाँ ऐसी भी हैं, जो अपनी जाति के मुर्दों का मांस खाना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझती हैं। ऐसा करने से वे समझती हैं कि मरा हुआ आदमी फिर से उनकी ही जाति में जन्म लेगा। कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जो वृक्ष की खोह से अस्थि को निकालकर उजली चीटी की बाँबियों में गाड़ दिया जाता है। सिर्फ हाथ की हड्डी अपने पास रख ली जाती है। तब जाति का सरदार उस हड्डी को खाल में लपेटता है और किसी लसीले वृक्ष की खोह में रख देता है। तदनंतर लोग शिकार की तलाश में निकलते हैं और इस रस्म में काम आनेवाले मांस की दिन भर खोज करते हैं। मिलने पर यह मांस पत्ते में लपेटा जाता है। मृत व्यक्ति के हाथ की हड्डी भी अलग से लपेटी जाती है। ये दोनों चीजें मरे हुए व्यक्ति के पिता को दे दी जाती है। इस मौके पर औरतें बैठ जाती हैं और खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोना शुरू करती है। मृत व्यक्ति का पिता उन औरतों में से सबसे बूढ़ी स्त्री को मृतक की हड्डी रखने को देता है। बाकी औरतें खाने के लिए साँप पकाने लगती हैं। फिर मरे हुए आदमी का भाई बूढ़ी औरत से हड्डी लेकर उसे एक गढ़े में गाड़ देता है। किसी-किसी जाति में इस अवसर पर 'साँप का जादू' भी चलाया जाता है। इसके लिए जमीन पर और आदमियों की-सी पीठ पर साँप की शक्ल बनाई जाती है और तब लोग एक विशेष प्रकार का नृत्य करते हैं, ताकि मरा हुआ व्यक्ति यदि मर्द हो तो औरत, और औरत हो हो तो मर्द के रूप में फिर से उसी जाति में जन्म ले!

आॅस्ट्रेलिया-निवासिनी एक आदिम स्त्री

ये युवावस्था में ही बूढ़ी-सी दिखाई देने लगती हैं।

एक साथ मिलकर शिकार जुटाने तथा खाने-पीने की समस्या हल करने के सवाल से मृत्यु-संबंधी ये रस्में पर्याप्त संबंध रखती हैं, इसीलिए इनकी महत्ता अधिक होती है। ये रस्में ही इन लोगों के मन-बहलाव का भी काम देती हैं। यदि ये न रहें तो इनके जीवन मे और कोई बात मार्के की रह ही नहीं जाती। इनमें मर्द अब भी पुरातन ढंग से पत्थर के बर्छे आदि हथियार बनाते हैं, या शिकार के पीछे घूमते रहते हैं। औरतें भोजन के लिए साँप, छिपकलियाँ या घासों के बीज ही इकट्ठा करती रहती हैं।

मर्दों के जब और कोई रीति-रस्म अदा करना न हुआ तो एक खास स्थान पर इकट्ठा होकर पक्षियों के पर से वे अपने को सजाते, शरीर पर गहने आदि के ढंग पर चित्रकारी करते और नाचते-गाते हैं। इस नाच को वे 'कोरोबोरी' कहते हैं। अपने आनन्द में खलल न पहुँचने पाए, इसलिए औरतों और बच्चों को वे उसमें भाग नहीं लेने देते। पर इस प्रकार के नाच कभी-कभी ही हुआ करते हैं। साधारणतया इन लोगों का जीवन कष्टमय ही बीतता है।

सभ्यता का विकास इन आदिम निवासियों मे रुके रह जाने के कई कारण हैं। हजारों-लाखों वर्ष पहले इनका विशाल भूभाग बाकी संसार से कटकर अलग होगया और दक्षिणी प्रशांत महासागर में वह अकेला पड़ गया। इसी कारण यहाँ के निवासियों के जीवन का संपर्क बाह्य संसार से बिलकुल न रह गया। इन लोगों की दृष्टि दूसरों से अपनी तुलना करने की ओर कभी गई ही नहीं; ये अपने महादेश की विकरालता के साथ अकेले ही अपने अति प्राचीन ढंग पर युद्ध करते रहे, और हमेशा ही उससे परास्त होते रहे। आज इस बीसवीं शताब्दी में भी इनके लिए संसार के सबसे छोटे महाद्वीप की प्रकृति अजेय बनी हुई है; उसके सामने आज तक सर उठाने की इनकी हिम्मत नहीं हुई है।

हमारे गौरवपूर्ण अतीत के महान् स्मारक—(१)
मोहनजोदड़ो, तक्षशिला, अशोक-स्तंभ, साँची

हमारा अभिप्राय इस स्तंभ के अन्तर्गत अपनी मातृभूमि के जन-धन-गौरव का एक विशिष्ट चित्रपट प्रस्तुत करने का है, जिसकी विशद पृष्ठभूमि का कुछ परिचय विगत प्रकरण में सरसरी तौर पर हम आपको करा चुके हैं। आइये, अब देश-दर्शन के अपने इस अनुष्ठान को विधिवत् आरंभ करते हुए, इस महादेश की उत्कर्ष-साधना के विशद चित्रपट की कुछ झाँकियाँ दिग्दर्शित कराने का प्रयास करें। सबसे पहले हम पुरातत्त्व-क्षेत्र के अपने गौरव-स्मारकों को ही लेते हैं। इन महान् स्मारकों का विवरण हम आगामी क्रमशः कई प्रकरणों में प्रस्तुत करेंगे।

भारतवर्ष का प्रागैतिहासिक युग अभी तक बहुत-कुछ अन्धकार में ही है। केवल पुरातत्व-विभाग के अनवरत प्रयत्न से यत्र-तत्र खुदाई होने पर जो कुछ सामग्री प्राप्त हुईहैं, उसके आधार पर हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं कि उन दिनों भी यह देश उत्कर्ष और सभ्यता की किस उन्नत अवस्था पर पहुँच चुका था। १९२२ ई० में भारतीय पुरातत्व-विभाग द्वारा तत्कालीन सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में स्थित डोकी स्टेशन से आठ मील की दूरी पर मोहनजोदड़ो नामक एक स्थान के टीलों की खुदाई का कार्य आरम्भ हुआ। वहाँ प्रागैतिहासिक युग की जो वस्तुएँ मिली, उनसे भारत के उस पुरातन अन्धकारमय युग पर एक सर्वथा नवीन प्रकाश पड़ा। इन वस्तुओं को देखकर अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि सिंधुप्रदेश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति यूनान, रोम, मिस्र और ईरान की प्राचीन सभ्यताओं से अनेक अंशों में बढ़ी-चढी थी।

छः हजार वर्ष पहले का एक भारतीय नगर

यह सभ्यता आज के दिन विद्वानों द्वारा 'सिंधु-सभ्यता' के नाम से पुकारी जाती है, क्योंकि इसका उद्भव और विकास सिंधु नदी की उपत्यका में हुआ था। नदियों को प्राचीन काल से ही संसार के इतिहास में कई सभ्यताओं को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। उन दिनों लोग उजाड़ और ऊसर प्रदेशों को छोड़कर प्रायः नदियों के किनारे ही बसते थे, जहाँ की उर्वरा भूमि उनको प्रचुर भोजन-सामग्री दे सकती थी। चारों ओर जल की प्रचुरता के कारण वे वहाँ अपने पशुओं को भी आसानी से पाल सकते थे। इन सुविधाओं के मिलने पर उनका सांस्कृतिक विकास बड़ी तेजी से होता था, जिससे कालान्तर में एक नवीन मौलिक सभ्यता का निर्माण हो जाता था।

सिन्धु नदी की यह सभ्यता भी ऐसी ही थी, जिसका केन्द्र आज के इस मोहनजोदड़ो नामक स्थान में बसा हुआ यह अज्ञात नगर था। सिन्धी भाषा में 'मोहनजोदड़ो' या 'मुहेंजोडेरो' का अर्थ होता है 'मृतकों का टीला'। कहते हैं, पहले इस स्थान पर कई पुराने टीले खड़े थे और लगभग २६६ एकड़ भूमि पर असंख्य ईंटों के ढेर, मिट्टी के ढूह और घास-फूस आदि का ही बोलबाला था। इससे शताब्दियों से विध्वस्त नगर के निष्प्राण पुरातन कंकाल पर उगी हुई झाड़ियों में अन्य पशुओं और कीड़े-मकोड़ों ने ही अपना आवासस्थल बना रखा था। इन मूक टीलों के ऊपर से न जाने कितने नदी-नाले बहकर निकले होंगे और न जाने कितने वर्षों तक यह स्थान इसी तरह सुनसान और निर्जन पड़ा रहा होगा। जब १९२२ ई० में इस स्थान पर स्थित एक कुषाण-कालीन स्तूप और विहार का अन्वेषण करते समय स्वर्गीय श्री राखालदास बेनर्जी को खुदाई में अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्राएँ मिलीं, तो उत्सुकतावश उन्होंने खुदाई का काम और भी अधिक तत्परता से करना शुरू किया और स्तूप के पूर्वीय भाग तथा पार्श्व के दो टीलों को उन्होंने पूर्णतया

लाश की अस्थियाँ उतारी जाती हैं। इस मौके पर सबसे कम अवस्थावाला युवक पत्थर के कुल्हाड़े से अस्थि-पंजर को तोड़ता है और हाथ की एक हड्डी को छोड़कर बाकी सभी अस्थियों को वृक्ष की छाल में लपेटकर छोड़ दिया जाता है।

ऑस्ट्रेलिया में कुछ आदिमजातियाँ ऐसी भी हैं, जो अपनी जाति के मुर्दों का मांस खाना अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझती हैं। ऐसा करने से वे समझती हैं कि मरा हुआ आदमी फिर से उनकी ही जाति मे जन्म लेगा। कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जो वृक्ष की खोह से अस्थि को निकालकर उजली चींटी की बाँबियों में गाड़ दिया जाता है। सिर्फ हाथ की हड्डी अपने पास रख ली जाती है। तब जाति का सरदार उस हड्डी को खाल में लपेटता है और किसी लसीले वृक्ष की खोह में रख देता है। तदनंतर लोग शिकार की तलाश में निकलते हैं और इस रस्म में काम आनेवाले मांस की दिन भर खोज करते हैं। मिलने पर यह मांस पत्ते में लपेटा जाता है। मृत व्यक्ति के हाथ की हड्डी भी अलग से लपेटी जाती है। ये दोनों चीजे मरे हुए व्यक्ति के पिता को दे दी जाती है। इस मौके पर औरतें बैठ जाती हैं और खूब चिल्ला-चिल्लाकर रोना शुरू करती हैं। मृत व्यक्ति का पिता उन औरतों में से सबसे बूढ़ी स्त्री को मृतक की हड्डी रखने को देता है। बाकी औरतें खाने के लिए साँप पकाने लगती हैं। फिर मरे हुए आदमी का भाई बूढ़ी औरत से हड्डी लेकर उसे एक गढ़े में गाड़ देता है। किसी-किसी जाति में इस अवसर पर 'साँप का जादू' भी चलाया जाता है। इसके लिए जमीन पर और आदमियों की-सी पीठ पर साँप की शक्ल-बनाई जाती है- और तब लोग एक विशेष प्रकार का नृत्य करते हैं, ताकि मरा हुआ व्यक्ति यदि मर्द हो तो औरत, और औरत हो हो तो मर्द के रूप में फिर से उसी जाति में जन्म ले!

एक साथ मिलकर शिकार जुटाने तथा खाने-पीने की समस्या हल करने के सवाल से मृत्यु-संबंधी ये रस्में पर्याप्त संबंध रखती हैं, इसीलिए इनकी महत्ता अधिक होती है। ये रस्में ही इन लोगों के मन-बहलाव का भी काम देती हैं। यदि ये न रहें तो इनके जीवन में और कोई बात मार्के की रह ही नहीं जाती। इनमें मर्द अब भी पुरातन ढंग से पत्थर के बर्छे आदि हथियार बनाते हैं, या शिकार के पीछे घूमते रहते हैं। औरतें भोजन के लिए साँप, छिपकलियाँ या घासों के बीज ही इकट्ठा करती रहती हैं।

मर्दों के जब और कोई रीति-रस्म अदा करना न हुआ तो एक खास स्थान पर इकट्ठा होकर पक्षियों के पर से वे अपने को सजाते, शरीर पर गहने आदि के ढंग पर चित्रकारी करते और नाचते-गाते हैं। इस नाच को वे 'कोरोबोरी' कहते हैं। अपने आनन्द में खलल न पहुँचने पाए, इसलिए औरतों और बच्चों को वे उसमें भाग नहीं लेने देते। पर इस प्रकार के नाच कभी-कभी ही हुआ करते हैं। साधारणतया इन लोगों का जीवन कष्टमय ही बीतता है।

सभ्यता का विकास इन आदिम निवासियों में रुके रह जाने के कई कारण हैं। हजारों-लाखों वर्ष पहले इनका विशाल भूभाग बाकी संसार से कटकर अलग होगया और दक्षिणी प्रशांत महासागर में वह अकेला पड़ गया। इसी कारण यहाँ के निवासियों के जीवन का संपर्क बाह्य संसार से बिलकुल न रह गया। इन लोगों की दृष्टि दूसरों से अपनी तुलना करने की ओर कभी गई ही नहीं; ये अपने महादेश की विकरालता के साथ अकेले ही अपने अति प्राचीन ढंग पर युद्ध करते रहे, और हमेशा ही उससे परास्त होते रहे। आज इस बीसवीं शताब्दी में भी इनके लिए संसार के सबसे छोटे महाद्वीप की प्रकृति अजेय बनी हुई है; उसके सामने आज तक सर उठाने की इनकी हिम्मत नहीं हुई है।

ऑस्ट्रेलिया-निवासिनी एक आदिम स्त्री

ये युवावस्था में ही बूढ़ी-सी दिखाई देने लगती हैं।

हमारे गौरवपूर्ण अतीत के महान् स्मारक—(१)

मोहनजोदड़ो, तक्षशिला, अशोक-स्तंभ, साँची

हमारा अभिप्राय इस स्तंभ के अन्तर्गत अपनी मातृभूमि के जन-धन-गौरव का एक विशिष्ट चित्रपट प्रस्तुत करने का है, जिसकी विशद पृष्ठभूमि का कुछ परिचय विगत प्रकरण में सरसरी तौर पर हम आपको करा चुके हैं। आइये, अब देश-दर्शन के अपने इस अनुष्ठान को विधिवत् आरंभ करते हुए, इस महादेश की उत्कर्ष-साधना के विशद चित्रपट की कुछ झाँकियाँ दिग्दर्शित कराने का प्रयास करें। सबसे पहले हम पुरातत्व-क्षेत्र के अपने गौरव-स्मारकों को ही लेते हैं। इन महान् स्मारकों का विवरण हम आगामी क्रमशः कई प्रकरणों में प्रस्तुत करेंगे।

भारतवर्ष का प्रागैतिहासिक युग अभी तक बहुत-कुछ अन्धकार में ही है। केवल पुरातत्व-विभाग के अनवरत प्रयत्न से यत्र-तत्र खुदाई होने पर जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, उसके आधार पर हम कुछ अनुमान लगा सकते हैं कि उन दिनों भी यह देश उत्कर्ष और सभ्यता की किस उन्नत अवस्था पर पहुँच चुका था। १९२२ ई० में भारतीय पुरातत्व-विभाग द्वारा तत्कालीन सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में स्थित डोक्री स्टेशन से आठ मील की दूरी पर मोहनजोदड़ो नामक एक स्थान के टीलों की खुदाई का कार्य आरम्भ हुआ। वहाँ प्रागैतिहासिक युग की जो वस्तुएँ मिलीं, उनसे भारत के उस पुरातन अन्धकारमय युग पर एक सर्वथा नवीन प्रकाश पड़ा। इन वस्तुओं को देखकर अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि सिंधुप्रदेश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति यूनान, रोम, मिस्र और ईरान की प्राचीन सभ्यताओं से अनेक अंशों में बढ़ी-चढ़ी थी।

छः हजार वर्ष पहले का एक भारतीय नगर

यह सभ्यता आज के दिन विद्वानों द्वारा 'सिंधु-सभ्यता' के नाम से पुकारी जाती है, क्योंकि इसका उद्भव और विकास सिंधु नदी की उपत्यका में हुआ था। नदियों को प्राचीन काल से ही संसार के इतिहास में कई सभ्यताओं को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। उन दिनों लोग उजाड़ और ऊसर प्रदेशों को छोड़कर प्रायः नदियों के किनारे ही बसते थे, जहाँ की उर्वरा भूमि उनको प्रचुर भोजन-सामग्री दे सकती थी। चारों ओर जल की प्रचुरता के कारण वे वहाँ अपने पशुओं को भी आसानी से पाल सकते थे। इन सुविधाओं के मिलने पर उनका सांस्कृतिक विकास बड़ी तेजी से होता था, जिससे कालान्तर में एक नवीन मौलिक सभ्यता का निर्माण हो जाता था।

सिन्धु नदी की यह सभ्यता भी ऐसी ही थी, जिसका केन्द्र आज के इस मोहनजोदड़ो नामक स्थान में बसा हुआ यह अज्ञात नगर था। सिन्धी भाषा में 'मोहनजोदड़ो' या 'मुहेंजोडेरो' का अर्थ होता है 'मृतकों का टीला'। कहते हैं, पहले इस स्थान पर कई पुराने टीले खड़े थे और लगभग २६६ एकड़ भूमि पर असंख्य ईंटों के ढेर, मिट्टी के ढूह और घास-फूस आदि का ही बोलबाला था। इससे शताब्दियों से विध्वस्त नगर के निष्प्राण पुरातन कंकाल पर उगी हुई झाड़ियों में अन्य पशुओं और कीड़े-मकोड़ों ने ही अपना आवासस्थल बना रखा था। इन मूक टीलों के ऊपर से न जाने कितने नदी-नाले बहकर निकले होंगे और न जाने कितने वर्षों तक यह स्थान इसी तरह सुनसान और निर्जन पड़ा रहा होगा। जब १९२२ ई० में इस स्थान पर स्थित एक कुषाण-कालीन स्तूप और विहार का अन्वेषण करते समय स्वर्गीय श्री राखालदास बेनर्जी को खुदाई में अचानक प्रागैतिहासिक युग की कुछ मुद्राएँ मिलीं, तो उत्सुकतावश उन्होंने खुदाई का काम और भी अधिक तत्परता से करना शुरू किया और स्तूप के पूर्वीय भाग तथा पार्श्व के दो टीलों को उन्होंने पूर्णतया

खुदवा डाला। इससे स्तूप की अत्यधिक प्राचीनता का पता चला और फलतः शीघ्र ही भारतीय पुरातत्व-विभाग का ध्यान इस ओर और भी अधिक आकर्षित हुआ। उसी के प्रयत्न से अंततः प्रचुर परिमाण में अत्यधिक मूल्यवान् प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक सामग्री यहाँ प्राप्त हुई, जिसका कि उल्लेख हम आगे करेंगे। साथ ही साथ इस बात का भी पता चला कि यहाँ एक बौद्ध स्तूप और विहार भी स्थापित था, जिनमें प्राप्त मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये दोनो इमारतें कुषाणवंशीय नरेश वासुदेव के समय में मौजूद थी। यहाँ पाँचवी या छठी शताब्दी ई० तक के सिक्के पाये गये हैं।

मोहनजोदड़ों की जो इमारतें और दीवालें खुदाई के बाद निकली है, वे भारत के अन्य भूगर्भस्थित नगरों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित दशा में पाई गई हैं। इसी आधार पर हम कह सकते है कि इस प्राचीन नगर की निर्माणपद्धति मिस्र और बेबीलोन की पद्धतियो से कही ऊँची है। यहाँ से प्राप्त सामग्री को देखने पर पता चलता है कि यह नगर निश्चय ही अपने उत्थान-काल में काफी समृद्धिशाली रहा होगा। यहाँ से प्राप्त मुद्राओं पर पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों के जो चित्र अंकित मिले है, उनसे यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ की भूमि उर्वरा थी तथा जलवायु अत्यंत स्वास्थ्यप्रद था। साथ ही इस बात के भी प्रमाण मिलते है कि सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों की बाढ से कई बार यह नगर उजडा एवं पुनः बसा था अधिक समय तक यहाँ कोई राजधानी नही रही थी।

स्वभावतः हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि सिंधु-घाटी का यह वैभवशाली नगर किन कारणों से एकाएक अंधकार में विलीन हो गया? सम्भवतः किसी बाहरी शत्रु ने इसे नष्ट-भ्रष्ट नही किया होगा, क्योकि इसकी स्थिति भारत के अन्य नगरों से सर्वथा भिन्न थी। हमारी धारणा मे तो प्रकृति के ही द्वारा इसका विनाश होना अधिक सम्भव है। जलवायु में असाधारण परिवर्तन तथा नदियों की बाढ़ जात पडता ने ही संभवतः इसे पृथ्वी के गर्भ मे पहुँचा दिया होगा, जिसके अनेक प्रमाण पाये गये है। इतना ही नही, भूकंप से भी इसे सम्भवतः कई बार क्षति पहुँची होगी, जिसके फलस्वरूप यहाँ के नागरिक धीरे-धीरे इसे छोड़कर अन्यत्र जा बसे होगे और अंत में यह सदा के लिए उजड़ गया होगा।

मोहनजोदड़ो की सभ्यता को इतिहास के युग-विभाजन के अनुसार नवीन प्रस्तर-ताम्र-युग के अन्तर्गत अर्थात् लगभग पांच-छ. हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है, जबकि पत्थर के औजारों के साथ ही साथ पीतल और तांबे की वस्तुओं का भी व्यवहार होने लगा था। किन्तु इस नगर की सभ्यता के अनेक स्तर है। यहाँ की इमारतों की सात तहें खुदाई होने पर दिखाई दी है। विद्वानों का मत है कि इस नगर का अन्तिम युग शायद २५०० ई० पू० के लगभग रहा होगा। सिंधु देश में उन दिनों एक प्रकार की मातृदेवी या आदि शक्ति की उपासना का प्रचार था। अतः वहाँ की सभ्यता एक अनार्य सभ्यता जान पड़ती है। इस सभ्यता मे घोड़े के अस्तित्व का पता नहीं चलता, यद्यपि यहाँ के निवासियों का व्यापारी होना सिद्ध होता है। उनमें अनेक जातियों के लोग थे, जिनके रीति-रिवाज एक-दूसरे से भिन्न थे; किन्तु उन सब की सभ्यता और संस्कृति काफी बढी-चढ़ी थी।

खुदाई में प्राप्त सामग्री

इस नगर के रीति-रिवाज तथा जीवन का बहुत-कुछ परिचय उसके ध्वसावशेषो से प्राप्त होनेवाली सामग्री से मिल जाता है। यहाँ की खुदाई में उस युग के गेहूँ तथा जौ के दाने तक मिले है, जो आकार मे काफी बड़े हैं। यहाँ से प्राप्त भिन्न-भिन्न रंगों से सुसज्जित एक मृतिकापात्र पर नारियल तथा अनार के फलो की आकृतियाँ चित्रित हैं और लंबे नीबू के अस्तित्व के भी प्रमाण मिलते हैं। अनाज कटने की ओखलियाँ तथा गेहूँ पीसने की शिलाएँ भी यहाँ पाई गई है। कुछ घड़े भी मिले है, जो खंडित अवस्था में है। इनमे से कुछ कम चौड़े और ऊँचे है तथा अन्य लंबे है और उनके तले समतल है। सम्भवतः उनके नीचे कोई आधार रखा जाता होगा। अनेक घडों पर सुन्दर ओप या पालिश मिलती है। यहाँ के निवासी मछली और मांस अवश्य खाते रहे होंगे, जिन्हें काटने के औजार चकमक पत्थर से बने हुए मिले है। इनके अतिरिक्त प्याले, थालियाँ, चम्मच तथा मिट्टी के आधारों पर रखी हुई तश्तरियाँ एवं शंख-सीपी आदि से बनाये गए बड़े आकार के चमचे भी खुदाई मे मिले है। कुछ छोटे वर्त्तुलाकार छिद्रवाले ऐसे बर्तन भी निकले है, जो सम्भवत· हाथ-पैर धुलाने के लिए व्यवहार में आते थे। ये सब वस्तुएँ मिट्टी की बनी हुई है।

मोहनजोदडो के निवासी पशुपालन करते थे, जिसका प्रमाण यह है कि बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊँट आदि पशुओ के अनेक अस्थि-पंजर यहाँ निकले हैं। कताई-बुनाई के औजार भी यहाँ पाये गये है, जो मिट्टी के बने है। सूत के बने कपड़े का एक टुकड़ा भी मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ के निवासी कपास की खेती करते थे और सूती वस्त्र बुन लेते थे। सूत के कपड़े में लिपटी हुई एक कलसी

भी यहाँ की खुदाई में निकली है। छाल के रेशों के बने वस्त्रखण्ड भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ पहनावे का कोई खास वस्त्र नहीं मिला। दो-चार टूटी-फूटी मूर्तियों और खिलौनों की वेशभूषा से ही यहाँ के निवासियों के पहनावे का कुछ-कुछ पता चलता है। कुछ नारी-मूर्तियों पर पंखे के आकार का शिरोवस्त्र दिखाई देता है। कुछ के सिर के दोनों ओर प्याल जैसी बनावट मिलती है, जो सम्भवतः दीपक का काम देती होगी। मातृदेवी की जो मूर्तियाँ यहाँ मिली हैं, वे केवल एक पटका पहने हुए हैं तथा उनके शरीर का शेष भाग सर्वथा नग्न है। पुरुष प्रायः कपड़े को दुशाले की तरह शरीर पर लपेट लिया करते थे। खुदाई में यहाँ कुछ बर्तनों में रंग जैसा पदार्थ भी रखा हुआ मिला है, जिससे अनुमान किया जाता है कि यहाँ के लोग अपने कपड़ों को रँगते भी थे। एक मिट्टी की मूर्ति, जो किसी स्त्री की ज्ञात होती है, कंबल जैसा वस्त्र शरीर पर लपेटे हुए है। यहाँ के रहनेवाले अपने केशों का भी साज-शृंगार करते थे। उनके केश प्रायः पीछे की ओर जूड़े या चोटी की आकृति में गुँथे रहते थे। कुछ मूर्तियों के बाल कटे हुए दिखाई देते हैं। बालों के बाँधने के लिए फीतों का भी प्रचार था, जो सूत के या सोने के बनते थे। खिलौनों और मूर्तियों के देखने से ज्ञात होता है कि पुरुष छोटी दाढ़ियाँ रखते थे, मगर उनकी ऊपर की मूँछें साफ रहती थी। कुछ खिलौनों के सिर मुँड़े हुए भी है। यहाँ उस्तरों के आकार के भी कुछ औजार पाए गए है। कुछ सुइयाँ भी मिली हैं और तार के बने सूजे भी दिखाई पड़े है। तीन सुइयाँ सोने की बनी हुई पाई गई हैं, जिन पर जंग लग गई है। ताँबे के बटन और मिट्टी तथा विभिन्न धातुओं के आभूषण भी खुदाई में निकले है, जिनकी बनावट बड़ी विचित्र है। आभूषणों में कड़े, हँसुलियाँ, मालाएँ, करधनी, बाजूबंद आदि का उस युग में काफी व्यवहार होता था। ताँबे और चाँदी के कर्णफूल तथा अँगूठियाँ भी पाई गई है, पर नाक और कान के जेवर यहाँ नहीं मिले।

मोहनजोदड़ो के खँडहरों में कुएँ बहुतायत से पाये गये है। यहाँ जो खिलौने निकले हैं, उनमे बैल, हाथी, कल्पित पशु-पक्षी, आदि की आकृतियाँ चित्रित है। ताँबे और मिट्टी के रथ भी इन खिलौनो के साथ पाये गये है। मिट्टी की एक मोमबत्ती तथा शमादान भी मिला है। धनुष-बाण, गुलेल, बर्छों और भालों के फल, गदाएँ, तलवारे और कटारें तथा मछली पकड़ने के काँटे, जो धातुओं तथा पत्थरों के बने है, प्रचुरता से प्राप्त हुए है। सिल - लोढे और बढ़ईगीरी के औजार भी निकले है। ये औजार या तो पीतल के हैं या ताँबेके। इन्हीं धातुओं की बनी कील, छेनियाँ और चाकू भी बाद में प्राप्त हुए है। हाथीदाँत से बने निर्मित चौपड, पाँसे और शतरंज जैसे खेल की गोटें भी मिली है। एक ताबीज भी पाया गया है। इनके उपरान्त असंख्य मिट्टी की बनी मुद्राएँ मिली है, परन्तु उनकी छाप केवल दो-चार पात्रों पर ही दिखाई देती है। इन मुद्राओं के ऊपर प्रायः पशुचित्र ही अंकित पाये गये है। जान पड़ता है, पहले ये मुद्राएँ सफाई के साथ किसी औजार से काटी जाती थी, फिर छेनी से उन पर चित्र बनाकर पालिश की जाती थी। तब ये आग मे पकाई जाती थी। गरम होने पर ये श्वेत रंग की हो जाती थी। इनका वास्तविक रंग सम्भवतः नीला था, क्योंकि कुछ टूटी हुई मुद्राओं के भीतर का भाग नीले रंग का दिखाई पड़ा है। मिट्टी की कुछ पतली तख्तियों से ज्ञात होता है कि इनमे लिखने की

मोहनजोदड़ो के ध्वंसावशेष

इस प्राचीन नगर में विधिवत् गलियाँ थी, जिनमें ढकी हुई पानी की निकास-नालियाँ भी थी।

पाटियों का काम लिया जाता रहा होगा। इनके ऊपर पहले किसी प्रकार की पालिश भी रहती होगी। खेती के औजार इस प्रदेश में कम मिले हैं। मिट्टी के खिलौनों में छोटी-छोटी कुर्सियाँ भी पाई गई हैं।

इन नगर निश्चय ही एक व्यापारिक केन्द्र था, जिसका पता इस बात से चलता है कि यहाँ प्रचुर परिमाण में पत्थर के बटखरे पाये गये हैं तथा दूकानों के अस्तित्व का भी प्रमाण मिला है। नापने के लिए यहाँ पटरियाँ व्यवहार में आती थी। एक सीपी के टुकड़े पर नाप के कुछ चिन्ह अंकित देखे गये हैं। कुछ रासायनिक पदार्थ और औषधियाँ भी मिली है, जिनसे यहाँ के निवासियों के वैज्ञानिक उत्कर्ष का ज्ञान होता है। यहाँ के निवासी अपने मृतकों को गाड़ दिया करते थे, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक अस्थि-पंजर प्राप्त हुए हैं। उनके पृथक् अवस्थानों या समाधियों का पता नही चलता। चित्र-लिपि के उपयोग तथा प्रचार के भी अनेक प्रमाण यहाँ प्राप्त हुए है, जो मिस्र की चित्र लिपि से मिलती-जुलती थी।

मोहनजोदड़ो मे धार्मिक स्थानों या मंदिरों के अस्तित्व का पता नही मिलता। सर जान मार्शल का अनुमान है कि यहाँ के पूजागृह काष्ठ के बनते थे, परन्तु यहाँ ईंटों की प्रचुरता देखकर यह कथन निर्मूल जान पड़ता है। यद्यपि पूजा की कोई मूर्ति मोहनजोदड़ो मे नहीं मिलती, परन्तु विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ पर देवपूजा तथा लाक्षणिक पूजा का प्रचार अवश्य था, जिसका पता यहाँ से प्राप्त मुद्राओं के देखने से चलता है। सम्भव है कि मूर्तिपूजा किसी समुदाय या समाज विशेष में ही प्रचलित रही हो। मृतिका-निर्मित मातृदेवी की अनेक मूर्तियाँ यहाँ पाई गई है। एक दूसरे वर्ग की मूर्तियो में बच्चे माताओं का स्तनपान करते दिखाये गये है। एक लेटी हुई गर्भवती स्त्री की मृतिका-मूर्ति भी मिली है। अन्य एक मूर्ति मे एक स्त्री अपने सिर पर किसी पात्र में रोटियाँ लिये हुए दिखाई देती है। एक मुद्रा में एक स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकलता हुआ दिखाया गया है। उसके दूसरी ओर एक पुरुष और स्त्री का चित्र है। स्त्री दोनों हाथो को ऊपर उठाये बैठी है। पुरुष के हाथ में हँसिये की तरह का कोई औजार है। एक मुद्रा पर एक स्त्री पलथी लगाये बैठी दिखाई गई है, जिसके दोनों ओर नाग पुजारी खड़े है। स्त्री के ऊपर पीपल की पत्तियाँ चित्रित है। एक और बड़ी विचित्र मुद्रा मिली है, जिसमें वृक्ष के तने से दो जुड़े हुए हरिणों के सिर निकलते हुए अंकित है। शिव और किरात जैसी आकृतियाँ भी इन मुद्राओ पर अंकित पाई गई है। पत्थर के लिंग, योनियाँ और मंडल भी (जिनके कि बीच में छिद्र है) यहाँ बहुतेरे मिले है, जिनका आशय समझ में नहीं आता। कुछ नर-नारियों की मूर्तियों के सिरों पर सींग भी बने हुए मिलते है। लम्बे आकार की वेदियाँ और छोटे-छोटे स्तम्भ भी, जो भद्दे बनावट के हैं, प्रचुरता से पाये गए है। यहाँ पशु या नर-बलि का प्रचार था या नहीं, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, पर यहाँ की कुछ मुद्राओ पर स्वस्तिक और क्रूश के चिह्न अवश्य देखे गये हैं।

कला और कारीगरी

इस नगर के भग्नावशेषों मे काँसे की बनी कुछ नर्त्तकियों की मूर्तियाँ भी निकली है, जो नग्न, अर्धनग्न और नृत्य की मुद्राओं को प्रकट करने की दशा मे है। उनके शरीर पर आभूषणों की प्रचुरता है। मिट्टी की दो मूर्तियाँ नर्त्तकों की-सी जान पड़ती हैं। यहाँ से प्राप्त अधिकतर मूर्तियों और खिलौनों की बनावट काफी सुन्दर और आकर्षक है। ये मिट्टी की मूर्तियाँ और खिलौने भारतवर्ष में अब तक प्राप्त मूर्तियो में सबसे प्राचीन है। कुछ मूर्ति-खण्डों के देखने से पता चलता है कि यहाँ के मूर्तिकार और शिल्पी अपनी कला में काफी दक्षता प्राप्त कर चुके थे और मानव-शरीर के अंगों की योजना करने तथा मेल बिठाने में बहुत कुशल थे।

इस नगर के निवासी धातुओं को पीटकर या ढालकर वस्तुएँ बना लेते थे। सोना, चाँदी, ताँबा और काँसा धातुओं का उपयोग विशेष रूप से होता था। अंकनकार्य और नक्काशी में यहाँ के कारीगर अति चतुर थे। सिंधु-प्रदेश की मुद्राएँ तथा पहियों पर खुदी हुई आकृतियाँ उक्त कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। ये मुद्राएँ या तो वर्गाकार है या चौकोर बनी है। चमकाये हुए बर्तनों के टुकड़े भी खुदाई में पाए गये है, जिन पर हल्के पीले या गहरे लाल रंग की पालिश है। बर्तनों पर भी नक्काशी प्रचुरता से दिखाई देती है। कुछ बर्तन पशुओं के आकार के बने हैं।

इस प्राचीन नगर की खुदाई होने पर यहाँ अनेक भवनों की दीवालें निकली हैं, परन्तु एक भी इमारत पूर्णतया संपूर्ण नही पाई गई है। कुछ की दीवाले ऐसी भग्न हो गई है कि उनसे इमारत के विषय में कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इन इमारतों में व्यवहृत पकाई हुई ईंटों पर कुत्तों और कौओ के पंजों का चित्रण है। सबसे बड़ी ईंट का आकार २०.२५ × १०.५ × ३.५ इंच है और सबसे छोटी का ९.५ × ४.३५ × २ इंच। ये ईंटें किसी औजार या आरी से ठीक आकारों में काटकर बनाई

जाती थीं। मकान बनाने में मिट्टी के गारे का उपयोग किया जाता था। नींव में ईंटों के टुकड़ों की भराई होती थी। छोटे मकानों की दीवालें कुछ सीधी तथा बड़े मकानों की तिरछी और बड़ी ऊँची रहती थीं। दीवालों पर पलस्तर करने का चलन नहीं था। मकान दो-मंजिले बनते थे। छत पर कुटी हुई मिट्टी डाली जाती थी या ईंटें लगती थीं। कड़ियों का प्रयोग भी बहुतायत से होता था। यहाँ के मकानों के द्वार जन-मार्ग की ओर प्रायः बहुत कम रहते थे। उनका सामना गलियों में रहता था। दरवाजों पर लकड़ी की चौखट और पटाव रहता था। मकानों में खिड़कियों के चिन्ह बहुत कम पाये गये हैं। पत्थर की जालियाँ अवश्य बनती थीं, जिनके टुकड़े खुदाई में निकले हैं। ये बड़े सुन्दर हैं। घरों में ऊपरी मंजिल में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनाई जाती थीं। सभी घरों में प्रायः पानी के लिए कुएँ रहते थे। बाहर भी कुएँ बने हुए पाए गये हैं, जिनकी जगत या चहारदीवारी बड़ी सुन्दर है। सभी घरों के भीतर स्नान-गृह तथा शौच-गृह भी थे। यहाँ तालाबों के अस्तित्व का भी पता चलता है, जो ईंटों के बनते थे। सफाई के लिए सारे नगर में गन्दे पानी की नालियाँ बनी हुई थीं! पानी को बाहर निकालने के लिए घरों में मिट्टी के बने नल भी लगे थे! यहाँ की सड़कें चौड़ी, साफ और समानांतर बनी हुई थीं। घरों में तहखानों अर्थात् भूगर्भ-गृहों की भी योजना रहती थी।

भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता के प्रागैतिहासिक काल का यह वैभवशाली नगर अपने युग में कैसा सुन्दर रहा होगा, इसका अनुमान आज हम नहीं कर सकते। सम्भवत. अपने समय में इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली होगी। आज तो इसके खंडहरों से प्राप्त सामग्री ही हमारे लिए आश्चर्य का विषय बनी हुई है। मोहनजोदड़ो ही से मिलती-जुलती पुरातत्त्व-सामग्री हड़प्पा, लोथल, रूपड़ नामक स्थानों में भी मिली है।
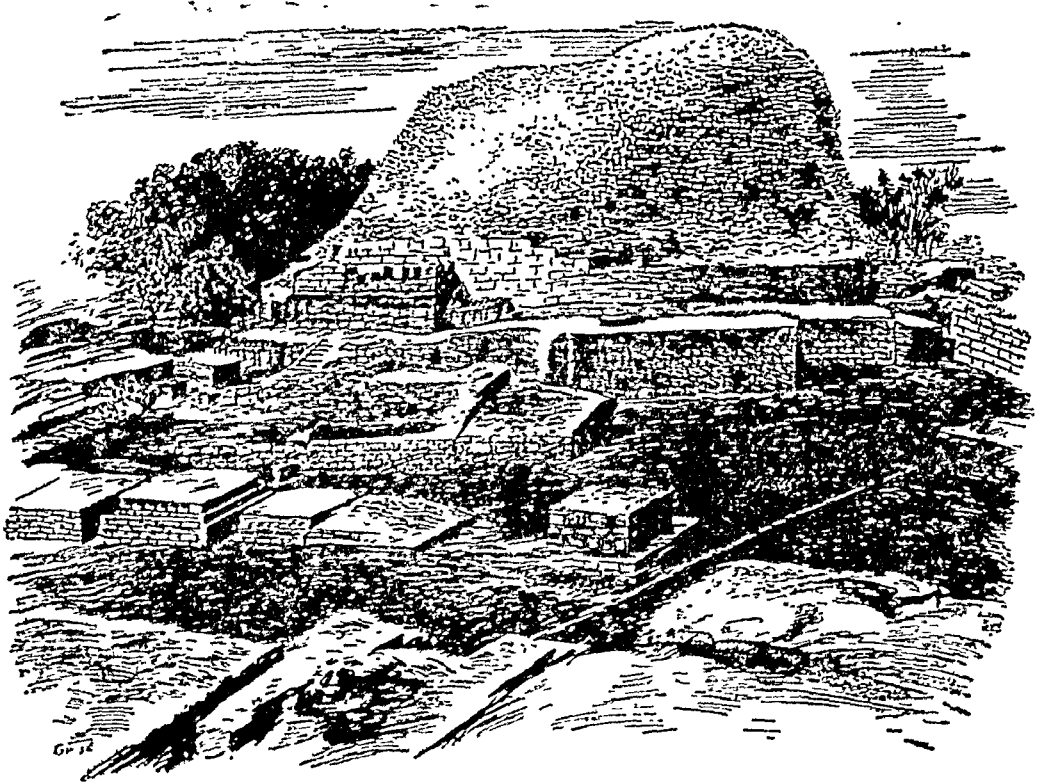
तक्षशिला के ध्वंसावशेषों की एक झांकी

तक्षशिला इस देश का महान् प्राचीन विद्याकेन्द्र था, जहाँ बाहरी देशों के विद्वान् भी शिक्षा पाने आते थे।

भारत का एक महान् प्राचीन विद्याकेन्द्र--तक्षशिला

विभाजन से पहले के भारतवर्ष की सुदूर उत्तर-पश्चिमी सीमा पर इस देश के सदियों पूर्व के गौरव की याद दिलाते हुए तक्षशिला नामक एक पुरातन नगर के ध्वंसावशेष खड़े हैं। तक्षशिला इस देश का महान् प्राचीन विद्याकेन्द्र था। किसी समय वह इस देश के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त का

एक राजनगर भी था। इस प्राचीन वैभवशाली नगर का उल्लेख इतिहास के पृष्ठों में सबसे पहले हमें सिकन्दर के आक्रमण का वृत्तान्त पढ़ते समय मिलता है। इसी नगर के राजा आम्भी ने आक्रमणकारी यूनानी सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर उसकी सहायता की थी। परन्तु यह निश्चित है कि इससे कई शताब्दियों पहले से ही यह नगर बसा हुआ था और प्राचीनकाल ही से यह विद्या और कलाकौशल का एक विशाल केन्द्र था। यहाँ पर एक महान् विश्वविद्यालय स्थापित था, जिसमें दूर-दूर के देशों के छात्र अध्ययन के लिए आया करते थे। भारतीय विद्वानों का ही यहाँ पूर्ण प्रभुत्व था और उन्हीं की देख-रेख में शिक्षा-दीक्षा का सारा कार्य होता था। इस महान् विश्वविद्यालय में ज्ञान-विज्ञान और ललित कलाएँ सीखनेवाले छात्रों की संख्या प्रायः सहस्रों तक पहुँचा करती थी और संसार के सुदूर देशों तक यहाँ की कीर्त्ति-कथाएँ फैली हुई थीं।

यूनान के इतिहास में तक्षशिला (टैक्सिला) का कई बार उल्लेख आया है। ईरानी सम्राट् जरक्सीज तक्षशिला से भारतीय सैनिकों का एक दल ले गया था, जिसकी सहायता से उसने यूनान जीत लिया था। उसने स्वलिखित संस्मरण में तक्षशिला के वैभव का विपुल वर्णन दिया है। ईरानी सम्राट् दारा ने तक्षशिला के प्राचीन राज्य को अपने अधीन करके वहाँ एक क्षत्रप-राज्य स्थापित किया था। शैलाक्ष तथा हेकेटियस ने भी भारतवर्ष के नगरों का वर्णन करते समय तक्षशिला को प्रधानता दी है। सिकन्दर के समकालीन लेखक क्लिटार्कस तथा स्ट्राबो नामक विद्वानों ने भी इस नगर की महानता का वर्णन किया है। प्लीनी नामक विद्वान् ने तक्षशिला के मार्ग से भारतीय व्यापार-वाणिज्य के विकास का भी उल्लेख किया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह नगर प्राचीन संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र होने के साथ-साथ किसी युग में विदेशों से भारत के व्यापार का भी एक मुख्य द्वार रहा होगा।

वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि भरत ने केकय देश के राजा युधाजित् के प्रस्ताव पर इस प्रदेश को जीता और अपने पुत्र तक्ष को यहाँ का अधिपति बनाया। सम्भव है, इसी कथा के आधार पर तक्ष से तक्षक या नागवंश की उत्पत्ति मानी जाती हो। महाभारत में भी नागराज तक्षक का उल्लेख मिलता है, जिसने अर्जुन के पौत्र सम्राट् परीक्षित को डसा था। कदाचित् 'डसने' का अर्थ छल से घर में प्रवेश कर परीक्षित की हत्या करने का रहा होगा, जिसका बदला परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने नाग-यज्ञ करके अर्थात् नागों के सर्वनाश द्वारा लिया। महाभारत में लिखा है कि नागराज तक्षक की पाण्डवों से पुरानी शत्रुता थी। जब अर्जुन ने खाण्डव-वन जलाया था, उस समय वह वन तक्षक के अधिकार में था। उस अग्निकाण्ड में तक्षक के अनेक कुटुम्बी और सम्बन्धी जल मरे थे, जिससे कुपित होकर तक्षक ने समय आने पर परीक्षित को मारकर बदला चुकाया। यह तक्षक कदाचित् भरतपुत्र तक्षक ही का कोई वंशधर रहा होगा, जो खाण्डव-वन के दाह के बाद अर्जुन की दृष्टि से बचकर अपनी प्राचीन राजधानी तक्षशिला में जा छिपा होगा। अनेक जैन ग्रन्थों में भी तक्षशिला का वर्णन मिलता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख आए है, आधुनिक विद्वानों द्वारा मान्यता प्राप्त इतिहास में तक्षशिला का पहलेपहल उल्लेख सिकन्दर के आक्रमण के समय ३२६ ई० पू० ही मिलता है, जब कि वहाँ के राजा ने यूनानियों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। चार वर्ष बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सैनिकों को मार भगाया और तक्षशिला पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सम्राट् अशोक की मृत्यु तक यह नगर मौर्यवंश के ही अधिकार में रहा। फिर १९० ई० पू० के लगभग जब ऐंटिओकस महान् के जामाता डेमिट्रियस ने बैक्ट्रियन साम्राज्य की सीमा पंजाब के उत्तर-पश्चिम तक बढ़ाई तो तक्षशिला में शासकों का एक नया वंश चला, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम वर्षों तक शासन करता रहा। तदनन्तर स्थानीय शक तथा पहलवी राजाओं का वंश आया, जो सन् ६० ई० तक तक्षशिला पर राज्य करता रहा। अंत में सुप्रसिद्ध कुषाण सम्राटों ने वहाँ का शासन-दण्ड छीनकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस वंश का सम्राट् कनिष्क इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ है। इस प्रकार चार सौ वर्षों में तक्षशिला पाँच भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के अधिकार में आया, जो मैसीडोनियन, मौर्य, बैक्ट्रियन, सीथो-पार्थियन तथा कुषाण कहलाए। इस सिलेसिले में यूनान से पश्चिमी चीन तक तथा रूस के स्टेपीज नामक मैदानों से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैली हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के संपर्क में आने के कारण, इस ऐतिहासिक नगर पर निश्चय ही उन सबका बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा होगा। फलतः उसने भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक धाराओं को अपनाया होगा और प्रत्येक की पृथक्-पृथक् कला तथा ज्ञान-विज्ञान की छाप उस पर पड़ी होगी। कुषाण-साम्राज्य के पतन तथा गुप्त-सम्राटों के उत्थान के साथ चौथी शताब्दी में—जहाँ तक हमें ज्ञात है—तक्षशिला के इतिहास

की इतिश्री हो जाती है। तब से उसकी शक्ति और ख्याति क्रमश: घटनी चली गई और जब सुप्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्युएन च्वाङ् ने सातवीं शताब्दी में इस प्रदेश की सैर की, तब तक यह नगर काश्मीर राज्य के अधीन हो चुका था और इसके प्राचीन महत्व का पता देनेवाले बहुतेरे स्मारक नष्ट-भ्रष्ट हो चुके थे। उस समय यह नगर सारा उजाड पडा था और उसके चारों ओर ध्वंसावशेष दिखाई देते थे। तक्षशिला को इस प्रकार उजाड़नेवाले सम्भवत. मध्य एशिया से आनेवाले बर्बर हूण लोग थे, जिन्होंने सन् ४५५ ई० के पश्चात् एक भयंकर आँधी की तरह बहुत बड़ी संख्या में भारत पर आक्रमण किया था और मार्ग में पड़नेवाले नगरों को लूटते-पाटते तथा जलाते हुए इस देश के सीमा प्रदेशों को श्मशान बना दिया था। तक्षशिला के असंख्य नागरिक उनकी तलवारों के घाट उतार दिये गये थे और वहाँ की भव्य इमारतें, मठ, मंदिर, पाठशालाएँ, पुस्तकालय आदि सब-कुछ अग्नि की भेंट चढा दिये गए थे। तब से आज तक यह नगर लगातार मिटता ही चला गया और उसका नामोनिशान बतलानेवाले कुछ मिट्टी के ढूह और स्तूप मात्र अब वहाँ अवशेष रह गए।
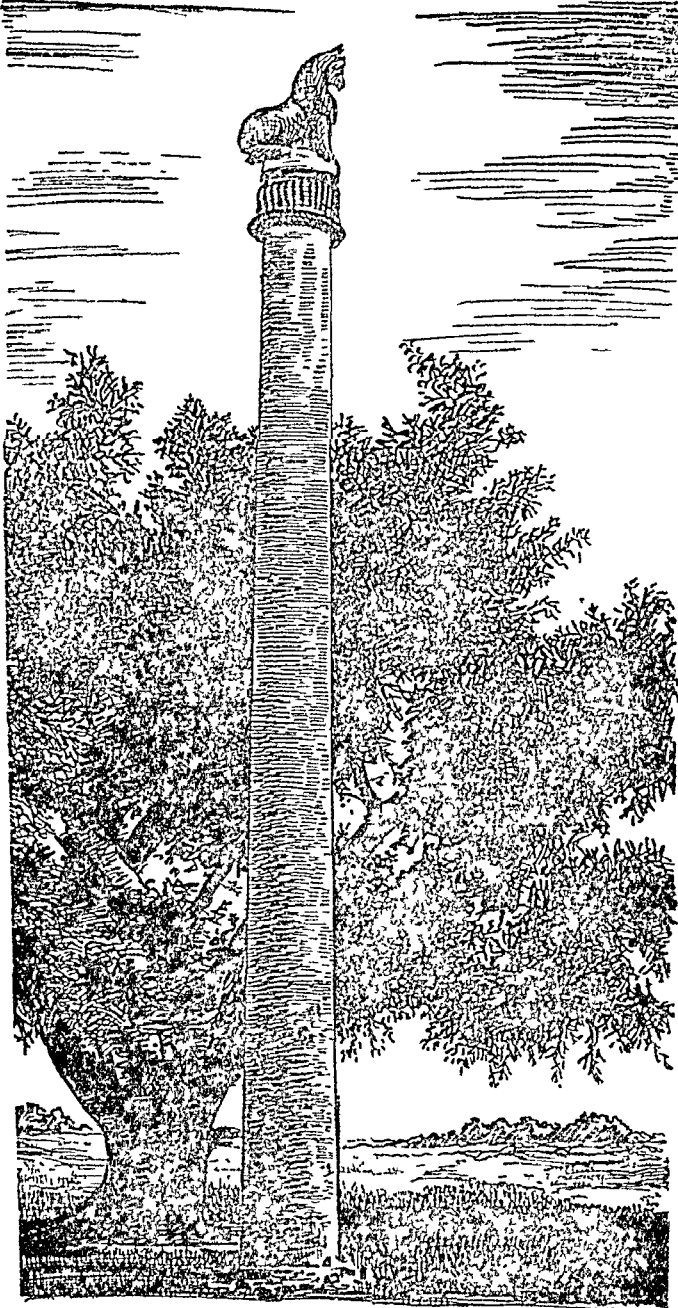
लौरिया-नंदगढ़ का प्रसिद्ध अशोकस्तंभ

अशोक के स्तभों में पौने तैंतीस फीट ऊँचे इस स्तभ का एक विशिष्ट स्थान है।

आज के दिन पाकिस्तान में रावलपिण्डी से २० मील उत्तर-पश्चिम दिशा में इस ऐतिहासिक नगर के ध्वंसावशेष एक सुरम्य उपत्यका में बिखरे हुए पड़े हैं। इस उपत्यका के उत्तर-पूर्व में काश्मीर की हिमाच्छादित पर्वतमालाएँ एक मण्डलाकार प्राचीर के रूप में दक्षिण-पश्चिम तक चली गई है। एक प्राकृतिक दुर्ग के रूप में खड़ी इन दुर्गम पहाड़ियों के बीच में सुरक्षित जल से परिपूरित इस भूभाग में इस नगर की स्थिति निश्चय ही प्राचीन काल में इसके उत्थान और विकास का मुख्य कारण बनी होगी। तक्षशिला की उपत्यका में आजकल तीन नगरों के ध्वंसावशेष पाए जाते हैं——भीरमन्द, सिरकप और सिरसुख। इनमें भीरमन्द ही सबसे प्राचीन नगर माना जाता है। यही पर मौर्यवंश के राजाओं की राजधानी थी। सिरकप यूनानी-हिन्दू शासकों का बसाया हुआ एक नगर था और कुषाण-वंश के शासन-काल तक वह इस प्रदेश की राजधानी

बना रहा। इसके बाद कनिष्क ने यहाँ से अपनी राजधानी हटाकर 'पुरुषपुर' (पेशावर) में स्थापित की। सिरकप नाम के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु स्थानीय लोगों में यह किम्वदन्ती सुनाई देती है कि प्राचीन काल में सिरकप नामक एक राजा था, जो शतरंज खेलने का बड़ा शौकीन था। वह अपने साथ खेलनेवालों से पहले ही से यह शर्त कर लेता था कि हारनेवाले को अपना सिर कटाना पड़ेगा। जो कोई भी उस राजा से शतरंज में हार जाता, उसी का सिर वह कटवा लेता था। बहुत दिनों तक उसका यही क्रम चलता रहा। सुना जाता है कि उस राजा ने एक छोटा-सा चूहा पाल रखा था, जो खेलते समय प्रतिद्वंद्वी के मोहरों को स्थानान्तरित कर देता था, जिससे उसकी हार हो जाती थी। रिसालू नामक एक सरदार ने राजा की यह चाल समझ ली और उसने एक बहुत छोटे कद की बिल्ली पाली तथा उसे लेकर सिरकप के पास शतरंज खेलने गया। खेल आरम्भ होने पर ज्योंही सिरकप का चूहा मोहरों को इधर-उधर करने निकला, त्योंही रिसालू की बिल्ली भी उसकी आस्तीन से बाहर निकली और चूहे पर झपटी। चूहा डरकर भाग गया। फलतः रिसालू जीत गया। सम्भवतः उसी सिरकप ने 'सिरकप' नगर की स्थापना की हो !

इस किम्वदन्ती में कहाँ तक सत्यता है, यह तो नहीं कहा जा सकता। हाँ, उस प्रदेश के निवासी आज भी रिसालू और सिरकप की कहानी बड़े चाव से कहते-सुनते पाए जाते हैं। सिरकप शब्द वास्तव में पंजाबी भाषा का प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है 'सिर कटना'। कदाचित् इसी आधार पर सिरकप नामक राजा की कल्पना की गई होगी। तीसरे नगर सिरमुख की खुदाई में सम्राट् कनिष्क की मुद्राएँ निकली हैं। फलतः यह नगर अवश्य ही कनिष्क के समय में रहा होगा और यही पर सम्भवतः उसकी पूर्व-राजधानी भी रही हो।

तक्षशिला के स्तूप और अन्य कलावशेष

तक्षशिला में कई बौद्ध स्तूप मौजूद हैं, जिनमें से तीन मुख्य हैं। एक स्तूप अशोक का बनवाया हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि इस स्थान पर तथागत ने अपने सिर की बलि दी थी। यह स्तूप तक्षशिला के उत्तर में हारोनद से १०० फीट की ऊँचाई पर स्थित है। कहते हैं, यहाँ दैवी पुष्पों की वर्षा होती थी। पर्व के दिनों में यहाँ पर मेला लगता था। दूर-दूर से रोगग्रस्त प्राणी उपचार के लिए यहाँ आया करते थे। इसे बाहलार-स्तूप कहते हैं। नगर के बाहर, दक्षिण-पूर्व की पहाड़ियों की दिशा में, १०० फीट ऊँचा अन्य एक स्तूप कुणाल-स्तूप है। कहा जाता है कि अशोक ने अपनी रानी के बहकावे में आकर यहीं पर अपने निरपराध पुत्र कुणाल की आँखें निकलवाई थीं। हारोनद से लगभग ७० गज की ऊँचाई पर तीसरा एक स्तूप धर्मराज का स्तूप है। यह स्तूप तक्षशिला में सब स्तूपों से आकार में बड़ा है। इसके चारों ओर गान्धार-शैली की अनेक मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जिनमें से कुछ मालाएँ धारण किए हैं। एक स्थान पर भगवान् बुद्ध की बहुत बड़ी एक मूर्ति के भग्नावशेष हैं, जिसके केवल पैर ही अवशिष्ट हैं, शेष भाग नष्ट हो चुके हैं। इस स्थान पर कुछ तो बोधिसत्व की मूर्तियाँ हैं तथा कुछ छत्रधारी शाक्य मूर्तियाँ हैं। प्रायः सभी मूर्तियों में अभय-मुद्रा की प्रधानता है। कतिपय शिलालेख भी इस स्तूप में पाये गये हैं। यहाँ स्थान-स्थान पर मंदिरों, देव-मूर्तियों के भग्नावशेष बिखरे दिखाई देते हैं। अधिकांश मूर्तियाँ यूनानी, पार्थियन तथा कुषाण काल की हैं, परन्तु कनिष्क के समय की मूर्तियों का सर्वत्र बाहुल्य है। इनकी काट-छाँट, गढ़न और रचनाशैली यूनानी मूर्ति-कला से मिलती-जुलती है। ये नमूने तत्कालीन कारीगरी के उत्तम उदाहरण हैं। बुद्ध की मूर्तियाँ यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों जैसी हैं। यक्षों तथा कुबेर की मूर्तियाँ फिडियन और जियस की मूर्ति जैसी हैं। देवमूर्तियों का पहनावा भी यूनानी ढंग का है। तक्षशिला की खुदाई में अनेक सिक्के भी पाए गए हैं, जो भिन्न-भिन्न साम्राज्यों के हैं।

विहारों तथा संघारामों के भी कई टूटे-फूटे हिस्से यहाँ दिखाई देते हैं, जो सम्भवतः बौद्ध भिक्षुओं और श्रमणों के रहने के लिए समय-समय पर बने थे। इनके अतिरिक्त प्राचीनकाल के बर्तन, आभूषण और यंत्र आदि भी खुदाई में निकले हैं, जो यहाँ के संग्रहालय में रखे हैं। सुप्रसिद्ध तक्षशिला विद्यापीठ के छात्रावास तथा पाठशाला के भग्नावशेष भी मिले हैं, जो अधिकांश टूटे-फूटे पड़े हैं।

इस विश्व-विख्यात भारतीय नगर के प्राचीन ध्वंसावशेषों को ही देखकर इसके प्राचीन वैभव की सही-सही झाँकी पाना असम्भव है। ऐसा जान पड़ता है, मानों इसके खँडहर अपनी महानता का स्मरण करके अपनी वर्तमान हीनावस्था पर दुःखी होकर लज्जा से धरती में गड़े जा रहे हैं। अपने युग में इस महादेश का मस्तक ऊँचा करनेवाले इस प्राचीन नगर के बिखरे हुए कंकालों में कौन कौन सी स्मृतियाँ संचित हैं, इसे बतलानेवाला आज वहाँ कौन है ?

सम्राट् अशोक की अद्भुत लाटें या स्तम्भ

भारतीय स्थापत्य में आदिकाल से ही किसी विशेष गौरव की सूचना के लिए स्तम्भों या लाटों के निर्माण की रीति प्रचलित रही है। इन स्तम्भों पर बौद्धमतावलम्बियों ने यदि अपनी धर्मलिपियाँ अंकित कराईं और उनके शिखरों पर अपने धर्मचक्र-सहित कुछ विशेष देव-चिन्हों की मूर्तियाँ बनवाईं तो जैनियों ने अपने स्तम्भों से दीपाधारों का काम लिया एवं वैष्णवों ने ध्वज के रूप में गरुड़ या मारुति की मूर्तियाँ उनके शिखर पर स्थापित कराईं। इस प्रकार ये स्तम्भ धार्मिक महत्व की वस्तुएँ बने रहे और उन पर भारतीय इतिहास की कई प्रमुख घटनाएँ समय-समय पर अंकित होती रहीं, साथ ही समाज के धार्मिक विकास का भी विवरण समयानुसार उन पर लिपिबद्ध होता रहा। ये प्राचीन स्तम्भ हमारी वास्तु-कला, शिल्प-चातुर्य, सभ्यता और सांस्कृतिक विकास के अप्रतिम स्मारक हैं।

इन स्तम्भों में, जो आज के दिन भी ज्यों-के-त्यों खड़े हैं, अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों का स्थान सर्वोपरि है। यही सबसे प्राचीन भी हैं। कदाचित आपको यह ज्ञात ही होगा कि अशोक (२७७-२३६ ई० पू०) एक बहुत बड़ा चक्रवर्ती सम्राट ही नहीं प्रत्युत बौद्ध धर्म का एक महान् प्रचारक भी था। राज्याधिकार प्राप्त करने के बारह वर्ष बाद उसने कलिंगप्रदेश को जीता और उस युद्ध में भीषण रूप से जनसंहार होते देखकर उसके हृदय में पश्चात्ताप की ऐसी भावना जागृत हुई कि परिणामतः उसके जीवन में बड़ा परिवर्तन आ गया। फलतः वह भगवान् बुद्ध के अहिंसामार्ग का अनुयायी बन गया और उस अहिंसा धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार ही उसने अपने शेष जीवन का आदर्श बना लिया। इसी उद्देश्य से उसने जगह-जगह पहाड़ों की चट्टानों, शिलाफलकों और बड़ी-बड़ी लाटों पर अपनी इस परिवर्तित नीति के अनुसार बौद्ध धर्म के आदेश अंकित करा दिए, जो उसकी धर्मलिपियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन धर्मलिपियों का एक-एक वाक्य अशोक के महान् अनुष्ठान का परिचायक है। अशोक ने यह उद्घोषित किया कि उसे तथा उसके वंशजों को रक्तपात और हिंसा से प्राप्त होनेवाली विजय की आवश्यकता नहीं। केवल धार्मिक विजय ही उनके लिए वास्तविक विजय है। बौद्ध धर्म को अपना लेने के पश्चात् भी अशोक अन्य धर्मों को समदृष्टि से देखता रहा और विभिन्न पंथवालों के साथ सदैव उसने उदारता ही दिखलाई। अपनी 'धर्म-विजय' के अंतर्गत उसने अपने सीमान्तस्थित सुरक्षित तथा मित्र राष्ट्रों में, ठेठ लंका से लेकर पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और यूनान तक बौद्ध धर्म-प्रचारकों के अनेक दल समय-समय पर भेजे, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का असाधारण प्रचार हुआ। इसका प्रभाव उसकी मृत्यु के सैकड़ों वर्ष उपरान्त तक बना रहा।

सारनाथ के अशोकस्तंभ का कलापूर्ण शीर्षभाग

यह भारतीय कला-मंदिर की एक अनुपम कृति है, जिसका महत्व आज के दिन इस बात से और भी अधिक बढ़ गया है कि इसी की प्रतिमूर्ति नवीन भारतीय गणराज्य का राजचिह्न बनी है!

ऐसे उदारमना, परोपकारी एवं धर्मप्रिय सम्राट् के वास्तु-स्मारक भी उसी के अनुरूप गौरवशाली हैं। पत्थरों पर अंकित होने के कारण उसकी धर्म-लिपियाँ आज भी उपलब्ध हैं। उसके द्वारा निर्मित स्तम्भो की कला भी उतनी ही सुसंस्कृत तथा महान् है, जितनी कि उन पर अंकित लिपियाँ हैं। सच पूछा जाय तो ये स्तम्भ अशोक-कालीन मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस समय अशोक के बनवाये हुए ऐसे तेरह स्तम्भ निम्नलिखित जगहों पर पाए जाते हैं:—

१. दिल्ली मे—दिल्ली-दरवाजे के बाहर फीरोजशाह के कोटले पर।
२. दिल्ली के उत्तर-पश्चिमी ढाँग पर।
३. कौशाम्बी मे—जैनमदिर के निकट।
४. इलाहाबाद के किले मे।
५. सारनाथ के भग्नावशेषो मे।
६. मुजफ्फरपुर के बखीरा गाँव में।
७-८. चम्पारन के लौरिया-नन्दगढ और रढिया गाँवों में।
९-१०. उपर्युक्त जिले के रामपुरवा गाँव मे।
११-१२. नेपाल में, तराई के रुम्मनदेई (लुम्बिनी) तथा निगलीवा ग्रामों में।
१३. साँची मे।

इन तेरह स्तम्भो के अतिरिक्त निम्न चार और स्तम्भों का भी पता चला है:—(१) संकीसा, जिला फरुखाबाद में; (२) काशी मे, टूटा हुआ स्तम्भ; (३) पटने के पुराने शहर नें; (४) बुद्ध-गया के मदिर की प्रतिकृतियो में अंकित, जो भरहुत की वेदिका पर खुदा हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार इन स्तम्भों की संख्या १७ हो जाती है, परन्तु अनुमान किया जाता है कि आरम्भ में ये कम से कम ३० तक रहे होंगे।

स्तम्भों की रचना-शैली

ये सभी स्तम्भ चुनार के पत्थर के बने हुए है और प्रत्येक स्तम्भ दो टुकड़ो मे बनाया गया है। समूची लाट को पत्थर की एक ही शिला से काटकर बनाया गया है। इसी तरह से लाट के ऊपर का साज या अलंकरण भी, जिसे 'परगहा' कहते हैं, एक ही प्रस्तर-खण्ड का बना है। स्तम्भ के दोनों भागो पर ऐसे सुन्दर ढंग से पालिश या लेप किया गया है कि जान पड़ता है, मानों अभी-अभी कोई इनको चमकाकर गया है। लोगों का अनुमान है कि तत्कालीन शिल्पी पत्थर पर वज्रलेप नामक एक मसाले का व्यवहार करते थे, जिससे इतनी चमक तो आती ही थी, साथ ही मजबूती भी बढ़ जाती थी। पर कुछ विद्वानों के विचार से खूब घोटने के कारण ही स्तम्भों पर यह चमक आ गई है। कुछ भी हो, पत्थर के शिल्प पर चमक लाने की यह क्रिया हमारे देश की ही अपनी विशेषता है, जिसकी समानता अन्यत्र शायद ही देखने को मिलती हो।

अशोकीय स्तंभों के दण्ड गोलबेलनाकार तथा नीचे से ऊपर तक चढ़ाव-उतारवाले बनाये गये है। ये प्राय: तीस-चालीस फीट तक ऊँचे और वजन में हजार बारह सौ मन तक के हैं! लौरिया-नंदगढ़ में जो स्तम्भ मिला है, उसकी बनावट दर्शनीय है। उसके निचले भाग की गोलाई का नाप पैंतीस इंच तथा ऊपर के भाग का व्यास साढ़े बाइस इंच है। ऐसे भारी-भारी दीर्घाकार स्तम्भ पत्थरो की खान से अपने ठिकानों तक किस प्रकार ले जाए गए, कैसे गढ़े और चमकाए गए, किस युक्ति से खड़े किए गए और इनके ऊपर के परगहे किस भाँति ठीक-ठीक बिठाए गए, इन समस्त बातों का विचार करते समय कल्पना थकित हो जाती है और तत्कालीन कलाकारो की क्षमता पर वास्तव में आश्चर्य होता है। अपने युग के वे आदर्श कारीगर थे, जिनकी समानता अन्य देशो मे कठिनाई से पाई जायगी।

स्तम्भों के कला-आदर्श

इन स्तम्भो के परगहों पर उभारकर अथवा कोरकर मूर्ति-कला के बड़े उत्कृष्ट नमूने प्रदर्शित किए गए है। परगहों की मेखला पर गुरियों की मणिमाला को उभारकर दोहरी पंक्ति में बनाया गया है। कंठे पर मोटी डोरी या सादा गोला दिखाई देता है। सबसे सुन्दर सूक्ष्म कारीगरी तो स्तम्भ की चौकी और उसके शीर्ष पर स्थापित पशु-मूर्ति की बनावट में मिलती है। लौरिया-नन्दगढ वाले स्तम्भ की चौकी पर हल्के उभार के हंस बने है, जो उड़ते हुए दिखाये गए हैं। प्रयाग, संकीसा और रामपुरवा के वृष-स्तम्भों पर पंजे की आकृति, कमल और मुकुंद आदि अंकित है। सजावट के लिए जिन-जिन अलंकरणों का आश्रय लिया गया है, उनकी सूक्ष्मता, ठीक नाप, मुद्राएँ और नियुक्ति ऐसी सजीव है कि संसार के किसी देश में प्रस्तर-कला के ऐसे उदाहरण मिलना असंभव है। इन विशेषताओं को पाश्चात्य कलाविदों और विद्वानों ने भी माना है। शिखर पर स्थापित मूर्तियों में प्राय: सिंह, गज, वृष या अश्व की मूर्तियाँ ही है। आरम्भ की तीन मूर्तियाँ तो अभी भी संपूर्ण मिलती है, परन्तु रुम्मनदेई के स्तम्भ पर स्थापित अश्वमूर्ति नष्ट हो गई है। सारनाथवाले स्तम्भ

के परगहे की बैठक पर यही चारों पशु पहियों के बीच में उभारकर बनाए गए हैं।

सारनाथ-स्तंभ का शिरोभाग

आज के दिन पाए जानेवाले अशोकीय स्तम्भों में सारनाथवाले स्तम्भ का शीर्षभाग सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होता है। अशोककालीन कलाकृतियों में यह सबसे अनूठा और प्रभावोत्पादक है। यह स्तम्भ अशोक के शासनकाल के उत्तरार्द्ध में २४२ से २३२ ई० पू० के लगभग भगवान् बुद्ध के धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन का स्थान (प्रथम उपदेश-स्थल) दिखलाने के हेतु स्थापित किया गया था। इसकी बैठकी पर के चार पहिए धर्म-चक्र के प्रतीक हैं। शीर्ष के चार सिंहों पर भी एक धर्म-चक्र बना था, जिसके भग्न-खण्ड पाए गए हैं। इस स्तम्भ की मोटाई का व्यास २ फीट ९ इंच था। ऊपर के सिंहों पर दृष्टि डालिए तो ऐसा लगेगा मानों पीठ से पीठ मिलाकर चार सजीव सिंह ही चारों ओर मुँह किए इस प्रकार बैठे हुए हैं कि बोलना ही चाहते हैं! शिल्पी ने इस सुन्दरता से उनको गढ़ा है एवं कल्पना और वस्तु-अध्ययन से उनको इस प्रकार एक सफल रूप में चित्रित किया गया है कि मूर्तियों में उनमें हिंसक, उग्र और भयावह होने के भाव का समावेश न करते हुए भी उनकी महानता और वनराजत्व को अक्षुण्ण रखा है। अंग-प्रत्यंग से ये सिंह-मूर्तियाँ सुडौल, सुदृढ़ और गठीली बनी हैं। इनकी बनावट में भद्दापन या उच्छृङ्खलता का लवलेश भी नहीं है। चमक या पालिश भी इन पर अच्छी तरह की गई है, जिससे इनमें एक अद्भुत तेज-सा आ गया है। इनके स्कंधों पर लहराते हुए केशों के बनाने में बड़ी बारीकी से काम लिया गया है। ये चारों मूर्तियाँ सर्वाङ्गपूर्ण हैं कि अभी हाल ही की बनी जान पड़ती हैं, यद्यपि वे ढाई हजार वर्ष प्राचीन हैं। कहते हैं, इन सिंहों की आँखों में कभी मणियाँ जड़ी हुई थीं। परन्तु अब उनका पता भी नहीं। वास्तव में, इन मूर्तियों को बनाने में तत्कालीन मूर्तिकारों ने अपनी सारा कला-कौशल एवं रचना-चातुर्य लगा दिया होगा। इस कला-स्मारक का आज के दिन हमारे लिए इसलिए और भी अधिक महत्व बढ़ गया है कि उसी की प्रतिमूर्ति हमारे नवसंस्थापित भारतीय गणराज्य के राजचिन्ह के रूप में अंगीकार की गई है। इसी प्राचीन कलाकृति की प्रतिमूर्ति अब हमारे डाक के टिकटों, सिक्कों, मुद्राओं आदि पर भी अंकित होती है।

अशोकीय स्तम्भों पर अंकित लेखों की लिपि ब्राह्मी है, जो देवनागरी लिपि का पूर्वरूप है। उनके अक्षर अति सुन्दर हैं और बड़ी सफाई से उन्हें खोदा गया है। इस कार्य में भी उस युग के लिपिकार अवश्य ही अति कुशल थे।
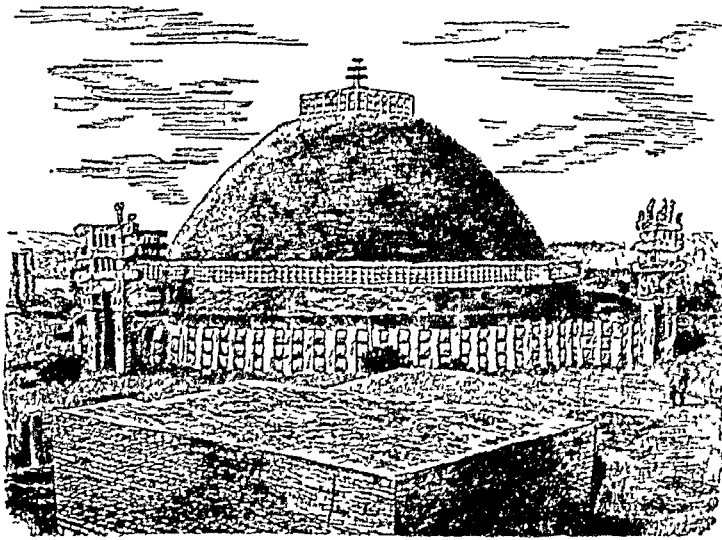
साँची का महान् स्तूप

दो हजार वर्ष पुराने इस महान् स्मारक के आसपास बनी हुई पत्थर की बाड़ के कलापूर्ण तोरणों की अद्भुत अनुपम शिल्पकारी देखकर चकित रह जाना पड़ता है!

साँची के महान् स्तूप और कलापूर्ण तोरण

मध्यप्रदेश के अन्तर्गत साँची एक छोटा सा ग्राम है, जो आज के दिन यात्रियों के लिए इस देश का एक प्रमुख दर्शनीय स्थान बन गया है। इस छोटे-से गाँव के समीप स्थित एक नीची-सी पहाड़ी पर विगत दो हजार वर्ष से खड़े हुए कुछ बौद्ध स्तूप और उनके अद्भुत तोरण विद्यमान हैं, जो कला की दृष्टि से संसार भर में अनुपम और बेजोड़ हैं। ये स्तूप जिस छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर बने हुए हैं, वह ऊपर से समतल है। इस स्थान की प्राकृतिक शोभा भी एक देखने की चीज है। इस पहाड़ी के चारों ओर हरियाली छाई हुई है और छोटी-छोटी सुन्दर झाड़ियाँ निरंतर उसकी शोभा बढ़ाती रहती है।

साँची का इतिहास सम्राट् अशोक के सिंहासनासीन होने के बाद से आरम्भ होता है। कहते हैं, अशोक ने ही इस स्थान को बसाया और तब बाद में नई-नई इमारतें यहाँ बनती गई। उज्जैन से पाटलिपुत्र की यात्रा करते समय अशोक ने साँची के निकट विदिशा (आधुनिक भेलसा) नगरी में विश्राम किया था और वहीं के एक महाजन की पुत्री पर मोहित होकर उसने उसे अपनी रानी बनाया था। अशोक की इसी रानी ने साँची के प्रसिद्ध बौद्ध विहार का निर्माण कराया। कलिंग-युद्ध के उपरान्त जब सम्राट् ने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया, तब उसने अनेकों स्तूपों का निर्माण कराया और स्थान-स्थान पर अगणित स्तम्भ भी स्थापित किए, जिनका उल्लेख हम कर ही चुके हैं। साँची का प्रथम स्तूप उन्हीं स्तूपो मे से एक माना जाता है। शुंगो के शासनकाल मे यहाँ के द्वितीय और तृतीय स्तूप तथा उनकी वेदिकायें बनी और जब शुगवंश के बाद कण्व तथा आंध्रवंश का शासन-युग आरम्भ हुआ तब भी साँची की पर्याप्त उन्नति हुई। यहाँ के पाँचों तोरण तथा द्वितीय स्तूप के नीचे की वेदिका का निर्माण इसी काल मे हुआ।

यहाँ के सर्वप्रथम स्तूप के तोरण पर अंकित एक लेख द्वारा पता चलता है कि उसका एक स्तम्भ सम्राट् सातकर्णी के आनन्द नामक शिल्पकार द्वारा प्रदान किया हुआ है। संभवत. ये तोरण ईसा की प्रथम शताब्दी में बने थे। आंध्रवंश के शासनकाल में भारतीय कला उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी और उस पर विदेशो की छाप भी पर्याप्त मात्रा मे पड़ चुकी थी। इन तोरणों की सुन्दर चित्रकारी को देखकर यह पता चलता है कि बड़े कुशल शिल्पियों ने ही इनका निर्माण किया होगा। असीरियन कला की याद दिलानेवाले अलंकरणो एव पश्चिमी एशिया की प्रणाली पर बने हुए सपक्ष दैत्यो की मूर्तियो से ज्ञात होता है कि भारत की शिल्पकला पर इस समय तक निश्चय ही विदेशो का काफी प्रभाव पड़ चुका था। फिर भी भारतीय कारीगरों की कुशलता थी कि उन्होंने विदेशी कला को भी सर्वथा मौलिक ढंग से अपनी परंपराओ के साँचे में ढाल लिया था। आंध्रवंश के पश्चात् अनेक मठ और स्तूप साँची में बने, किन्तु वे सब आजकल भग्नावशेषों के रूप मे ही इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। एक तोरण के स्तंभ पर गुप्तवंश के सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय की दिग्विजय-यात्रा का भी उल्लेख मिलता है।

साँची के ये स्तूप उन्नीसवी शताब्दी के प्रारंभ तक ज्यो-के-त्यों भग्नावस्था में पड़े रहे और किसी का ध्यान उनकी ओर नही गया। आश्चर्य तो इस बात का है कि मुसलमानों ने भी इन पर अपनी निगाह नहीं डाली, यद्यपि कई पार्श्ववर्ती नगरों में उन्होंने लूटमार कर हिन्दू मंदिरों और स्मारको को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इन स्तूपो की ओर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान पहलेपहल सन् १८१८ ई० में आकर्षित हुआ। इसके पहले भी अनेक विदेशी इनका अनुसंधान करने आये थे, पर जिज्ञासावश इनको पर्याप्त हानि पहुँचाकर लौट गये थे। यदि उनका धावा इसी प्रकार होता रहता तो सम्भवतः अब तक इन स्तूपों का नामोनिशान भी बाकी न रहा होता। आरंभ में स्तूप यथावत् खड़े थे, केवल पहले स्तूप का दक्षिण की ओर का तोरण गिरा हुआ था। तब १८२८ ई० में कप्तान जानसन ने प्रथम स्तूप को नीचे से ऊपर तक खोल डाला। इस चेष्टा से पश्चिमी तोरण तथा वेदिका के कुछ अंश टूटकर गिर पड़े। कनिंघम और मेसी सन् १८४९ मेने आकर द्वितीय और तृतीय स्तूपो को खोला। इनमे उन्हे कुछ छोटे-छोटे बक्स मिले, जिनमे प्राचीन बौद्ध भिक्षुओं की अस्थियों के कुछ अश स्मारक रूप में रखे हुए थे। इन अस्थि स्मारकों का मिलना यद्यपि महत्वपूर्ण था, परन्तु खुदाई होने से स्तूपों को बड़ी हानि पहुँची। तब १८६९ में मेजर कोल ने पहलेपहल साँची के स्तूपो का पुनरुद्धार कार्य आरम्भ कराया। उन्होंने भारत-सरकार की आज्ञा और व्यय से स्तूपो के आस-पास एकत्रित ईंट-पत्थर के ढेर साफ कराये, स्वतः स्तूपो की मरम्मत कराई और गिरे हुए तोरणो को पुन: स्थापित कराया। सन् १९१२ में पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष सर जान मार्शल ने स्वयं स्तूपों की देखरेख का भार ग्रहण किया। इससे उनके जीर्णोद्धार का कार्य बड़ी कुशलता से पूरा हुआ और आसपास खुदाई भी हुई। जो वस्तुएँ खोदने पर निकली, उनको वही पर संग्रहालय स्थापित करके सुरक्षित रख दिया गया है।

इस समय साँची में तीन ही स्तूप हैं। पहला स्तूप अन्य स्तूपो की अपेक्षा बड़ा है, इसलिए यह 'महान् स्तूप' कहलाता है। अन्य स्तूपों की निर्माण-शैली के अनुरूप यह स्तूप भी अर्द्ध-अंडाकार है। इसका शिखर चपटा है। इसके निम्न भाग में एक ऊँची मेधी है, जिस पर जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसी मेधी से लोग चारों ओर प्रदक्षिणा करते थे। इसके चारो ओर एक वेदिका है। वेदिका के चारो ओर चार द्वार हैं। इन द्वारो पर चार सुंदर तोरण स्थापित हैं। पहले यह स्तूप बहुत छोटा था और ईंटों द्वारा निर्मित था, तब प्रथम शताब्दी के लगभग इसका आकार

बढ़ा दिया गया। जब स्तूप तैयार हो गया, तब इसकी चोटी पर एक सुंदर छत्र खड़ा करके चारों ओर पत्थर की छोटी बाड़ लगा दी गई थी। बाद में ये दोनों वस्तुएँ समीप ही पृथ्वी में गड़ी हुई मिली। खोदकर निकाली जाने पर वे पुनः यथास्थान स्थापित कर दी गई हैं। इसके उपरान्त भूमि पर भी वेदिका का निर्माण हुआ। इसके सभी स्तम्भ, सूचियाँ तथा उष्णीष भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रदान किये हुए है।

इस स्तूप की ख्याति का आधार इसके चार तोरणों पर है, जो कि भारतीय कला के बेजोड़ नमूने हैं (देखिए इसी पृष्ठ का चित्र)। सबसे पहले दक्षिण का तोरण बना था और बाद में क्रमशः उत्तर, पूर्व और पश्चिम के तोरण निर्मित हुए। इन पर की हुई कुशल शिल्पाकृतियों से इनके निर्माण-काल का कुछ अनुमान होता है। दक्षिण तोरण की सजावट सबसे अच्छी तथा उत्तर तोरण की सबसे घटिया है। इन पर बुद्धदेव के जीवन की चार मुख्य घटनाओं अर्थात् जन्म, सम्बोधि, प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन और महानिर्वाण के दृश्य अंकित हैं। इनके अतिरिक्त जातकों की अनेक आख्यायिकाएँ तथा बुद्ध-देव की मृत्यु के बाद की कतिपय घटनाओं को भी बड़ी कुशलता से शिल्प में चित्रित किया गया है।

महान् स्तूप से पश्चिम दिशा में लगभग ३५० गज के फासले पर द्वितीय स्तूप बना हुआ है। यह द्वितीय स्तूप महान् स्तूप से अपेक्षाकृत छोटा है और इसमें कोई तोरण नहीं है, पर इसके नीचे की वेदिका भाँति-भाँति के सुन्दर शिल्प-चित्रों से अलंकृत है। ये खुदे हुए चित्र महान् स्तूप के चित्रांकनों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। इस स्तूप के चित्रांकनों की विशेषता यह है कि इनमें जीवधारियों के चित्र यद्यपि बेढंगे बने हैं, परन्तु फूल और बेलों के चित्रण में शिल्पियों ने कमाल दिखलाया है। इसी स्तूप के खोलने पर इसमें एक पिटारी निकली थी, जिसके भीतर चार छोटे-छोटे डिब्बे थे। इन डिब्बों में बौद्ध भिक्षुओं के अस्थि-खण्ड रखे हुए थे। पिटारी के ऊपर एक लेख भी लिखा हुआ था, जिससे पता चला कि वे अस्थियाँ बौद्ध अर्हन्तों की थीं। डिब्बों पर दस नाम खुदे हुए थे, जो अशोक के समकालीन व्यक्तियों के माने जाते हैं। महान् स्तूप से थोड़ा आगे चलने पर एक बहुत बड़ा पत्थर का कटोरा मिलता है। ज्ञात नहीं, उसका प्रयोजन क्या था! प्रथम स्तूप से उत्तर-पूर्व की ओर अनुमानतः ५० गज की दूरी पर तीसरा स्तूप है। इसमें एक ही तोरण है और वह यहाँ के तोरणों में सबसे पीछे का है।
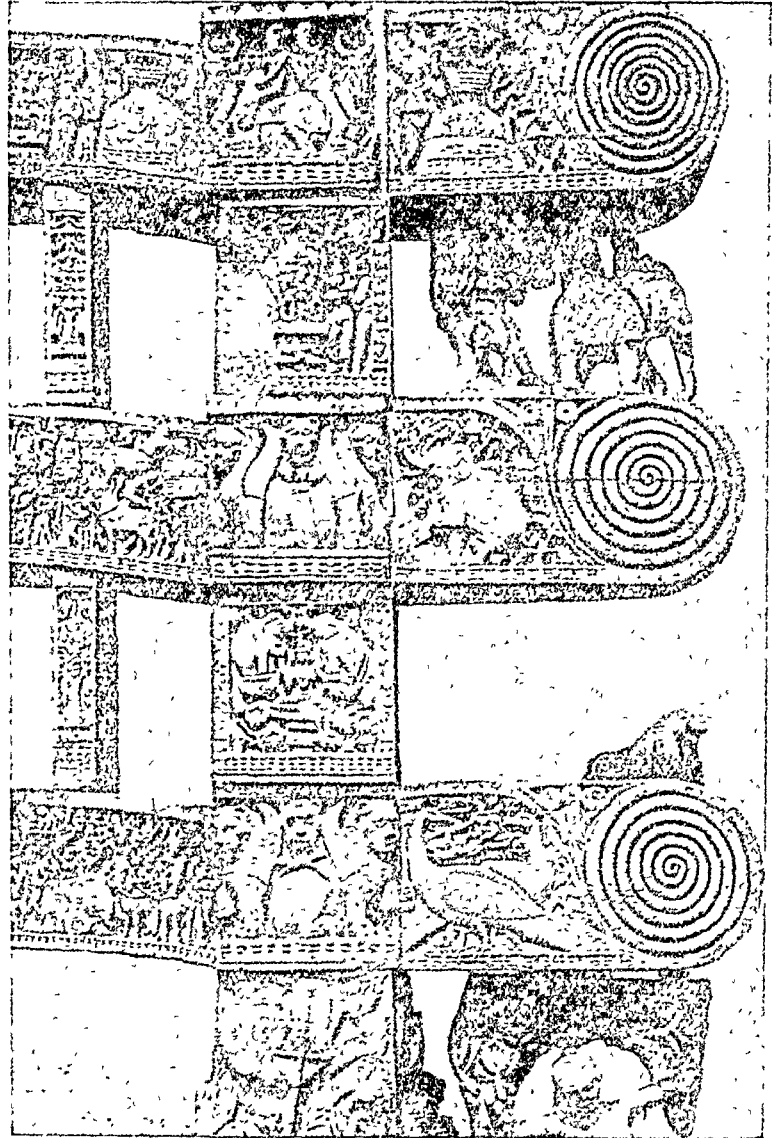
साँची के एक कलापूर्ण अद्वितीय तोरण का अंश

इसकी कारीगरी के कारण ही संसार के महान् कला-स्मारकों में इसका गौरव पूर्ण स्थान बन गया है।
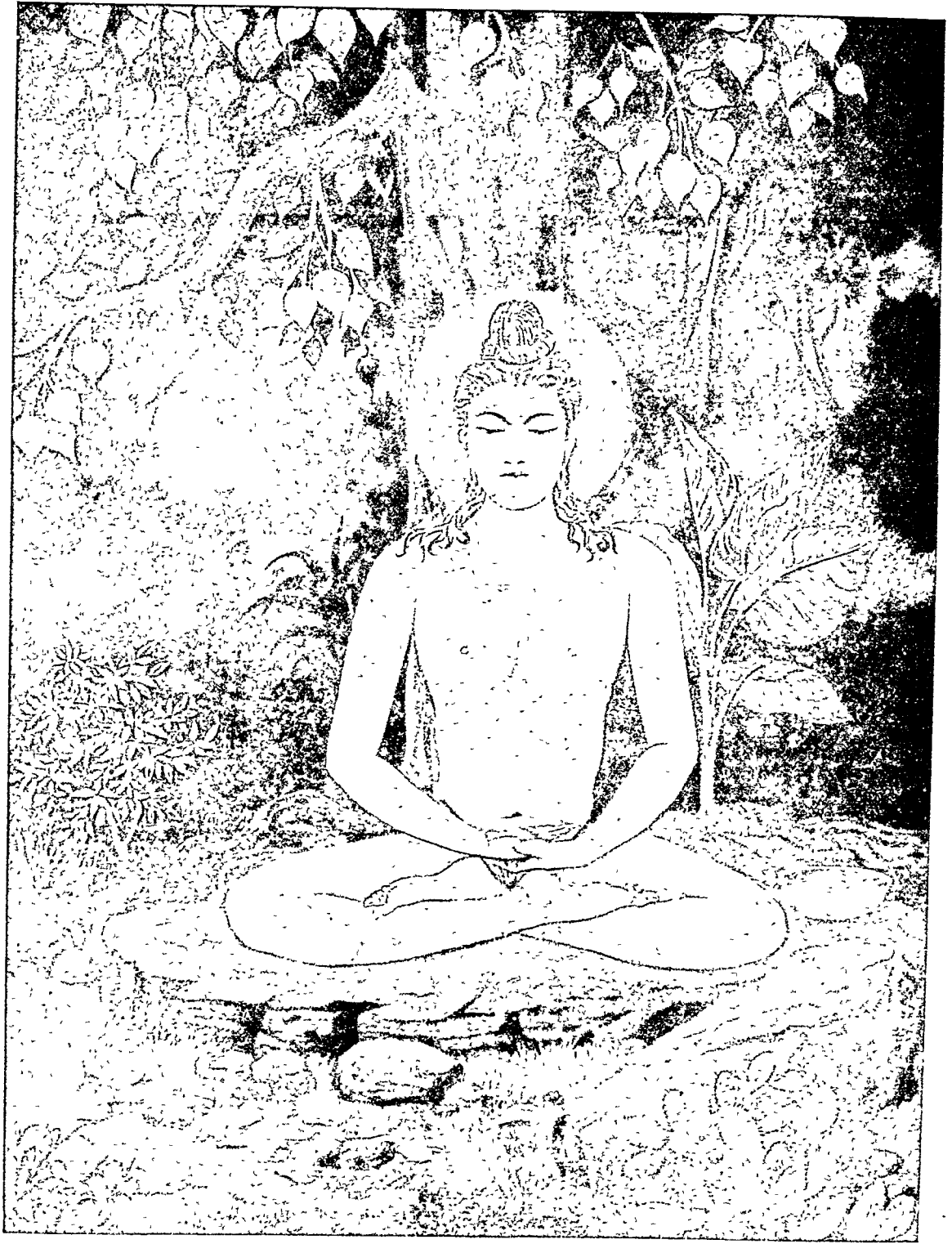
'एशिया के सूर्य' —— महात्मा बुद्ध

जिन्होंने संसार के दुःखों से मानव की मुक्ति के हेतु सर्वस्व त्यागकर अंत में गया के समीप एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह आत्मज्ञान या बोध प्राप्त किया, जिसका प्रकाश आज भी करोड़ों नर-नारियों को अंधकार में मार्ग दिखा रहा है।

'एशिया के सूर्य'—गौतम बुद्ध

राज्यकुल के महान् वैभव के उत्तराधिकारी होकर भी जिन्होंने संसार के दुःखों से मानव को मुक्ति दिलाने का सच्चा रास्ता खोजने के उद्देश्य से अपना सर्वस्व त्याग दिया और अंत में आत्मज्ञान या बोध प्राप्त कर जो राजकुमार सिद्धार्थ से "गौतम बुद्ध" कहलाये, आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व अवतरित भारत के उन करुणावतार महामनीषि का संक्षिप्त परिचय।

एकछत्र राज्य के अपरिमित वैभव के बीच जो पैदा हुआ हो—जिसके चारों ओर सुख ही सुख का वातावरण हो—वह एक अपाहिज को देखकर, एक बीमार की कराह सुनकर, इतना प्रभावित हो उठे कि इन सारे दुःखों के निवारण का मार्ग खोजने के लिए अपने विलास-वैभव को छोड़कर दुःख का कँटीला रास्ता पकड़ ले, स्त्री-पुत्र को विलखते छोड़कर स्वेच्छापूर्वक जंगलों की खाक छाने—ये हमारे कल्पना में आ सकनेवाली बातें नहीं हैं; क्योंकि हम नित्य ही अपाहिजों को देखते, दुखियों की पुकार सुनते, बीमारों को कराहते पाते और उनकी करुण पुकार को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं। पर हममें और महापुरुषों में—युग-निर्माण करने-वालों में—यही तो अन्तर है कि जो हम नहीं देख सकते, उसे भी वे देख सकते हैं, और जो हम नहीं कर सकते, वह भी वे कर सकते हैं।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। कपिलवस्तु के राजमार्ग पर एक रथ चला जा रहा है और रथी कुछ हक्काबक्का-सा इधर-उधर ताक रहा है। चारों ओर सन्नाटा है, सिवा इसके कि रथ के चलने की आवाज आ रही है, जिसके कि अभ्यस्त रथी और सारथी दोनों ही हैं। अकस्मात् किसी ओर से कराहने की एक आवाज आई और रथी बोल उठा—"सारथी, रथ रोक दो! देखो, यह कौन कराह रहा है!"

रथ रुके-रुके कि सामने ही पड़ा हुआ एक व्यक्ति, जिसके अंग-प्रत्यंग में पीड़ा हो रही थी, बुरी तरह तड़पते दिखाई दिया। रथी तुरन्त ही रथ पर से कूद पड़ा और उस बीमार आदमी के पास जा खड़ा हुआ। वह उसे बड़े गौर से देखने लगा और उसके मन में एक विचार उठा—'अरे, यह आदमी किस कष्ट में है? क्यों यह कराह रहा है? मैं तो नहीं कराहता, मेरे भी तो हाथ-पैर इसी आदमी की तरह हैं!' और उसके मन में इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान ढूंढ़ने की एक आकुल उत्कंठा जग उठी। वह उदास मन से आकर रथ में बैठ गया। पीछे-पीछे सारथी भी आकर अपनी जगह बैठ गया, मानों आज्ञा की राह देख रहा हो कि रथ हांके या न हांके और हांके तो किधर हांके! रथी के मन में एक बेचैनी होने लगी। वह बार-बार सोचता था कि आदमी कराहे क्यों? क्यों वह इतना परवश है कि इस कराहने पर उसका काबू नहीं है?

रथी सारथी की ओर मुड़ा—"सारथी, यह आदमी हमारी-तुम्हारी तरह क्यों नहीं बोलता है? इसकी आँखों में क्या हो गया है कि वह हम लोगों की तरह देखता नहीं? यह अन्तर क्यों?"

"वह बीमार है, राजकुमार।"

"बीमारी क्या वस्तु होती है, सारथी?"

"उसके शरीर की रचना जिन अवयवों से हुई है, उनमें कुछ अव्यवस्था पैदा हो गई है, कुमार! इसी को बीमारी कहते हैं।"

रथी के शरीर में एक कँपकँपी-सी दौड़ गई। वह एकाएक बोल उठा—"तो क्या मैं भी इसी तरह बीमार पड़ सकता हूँ?"

"इस पर किसी का काबू नहीं है, प्रभु।"

रथी ने रथ को वापस करने की आज्ञा दी। लगातार वह बेचैनी के साथ सोच रहा था कि आखिर इस जीवन का उपयोग ही क्या, जिसमें इतनी परवशता, इतनी लाचारी भरी पड़ी है ? एक राजा है, एक भिखारी है, एक स्वस्थ है, एक बीमार है ! और इन सब दुःखों के निराकरण का कोई साधन मनुष्य के हाथ में नहीं है !

युवावस्था के आगमन तक भी, राजमहल या रनवास के वैभव और आराम को छोड़कर, बाहर की दुनिया में कैसा सुख-दु:ख है, इसकी हवा भी जिसे न लगी हो, वह बार-बार एक पर एक इसी तरह की घटनायें देखने लगा और उसके विचारों में क्रान्ति की एक आंधी उठ खड़ी हुई। उसके मन में अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति विद्रोह का एक प्रबल भाव जाग उठा। वह यह भी देखने लगा कि उसकी चिन्ता को बदल देने को और उसकी विचारधारा की गति दूसरी दिशा में मोड़ देने को उसके स्वजनों ने अपनी सारी शक्ति लगा रक्खी है। और यह देखकर उसके मन का विद्रोह और भी प्रबल हो उठा। वह अब कोई भी बन्धन मानने को तैयार नहीं था। उसके मन में एक दृढ़ता आ गई। इन सब अनिवार्य कहलानेवाले दु:खों का निवारण अवश्य होना चाहिए। पर तब मन में यह भी विचार उठता था कि—"कैसे ?" पर इस शंका को उसकी दृढता मानने को तैयार नहीं थी। उसकी तो पुकार थी कि चाहे जैसे भी हो, मानव के उद्धार और सुख की दवा खोजना आवश्यक है। यह अब उसके लिये असह्य था कि मनुष्य इसी तरह परवशता में पैदा होता रहे और मरता-जीता रहे। ऐसे जन्म और जीवन से लाभ ही क्या ?

और इसी तरह के अंतर्द्वन्द्व के फलस्वरूप एक दिन रात को उसका विद्रोह इतना प्रबल हो उठा कि उसने सब-कुछ छोड़ देने का कठोर निश्चय कर लिया। सोते से वह उठ बैठा। उसके जी में एक अजीब कड़ुवाहट-सी पैदा होने

गौतम का महाभिनिष्क्रमण

निद्रा में लीन पत्नी और नवजात शिशु को सदा के लिए छोड़कर मानव के कल्याण तथा सत्य की खोज में निकल पड़नेवाले राजकुमार सिद्धार्थ के बलिदान का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण संसार के इतिहास में शायद ही कोई दूसरा मिलेगा।

लगी। यद्यपि पास ही सरल भोले विश्वास को लिये सो रही पत्नी और उसकी छाती से चिपटे हुए अबोध नन्हें शिशु का मायामय सुन्दर मुखड़ा उसके चित्त को रह-रहकर अपनी ओर खींच रहे थे, परन्तु वह अन्तिम निर्णय कर चुका था। अब उसके लिए वापस पलटने की गुंजाइश न थी।

शयनकक्ष के द्वार तक पहुँचते-पहुँचते ममता उसके जी में फिर डुबकी-डुबकी-सी उठने लगी। उसे मालूम हुआ मानो उसकी यशोधरा उसे पुकार रही है, उसका राहुल हाथ फैलाये उसकी ओर दौड़ा आ रहा है, और चलते-चलते वह ठिठक गया। मन की इस उथल-पुथल को वह सँभाल नहीं पाया और फिर शयन-कक्ष में वापस आ गया। किन्तु मन में फिर आंधी उठी--ना, ना, इस बंधन को तोड़ना ही होगा, वरना मनुष्य के दुःखों का निराकरण कैसे हो पाएगा? माया के पाश को उसने अपने आभूषणों या केश-पाशों ही की तरह काट फेंका। और मन की सारी शक्ति लगाकर एक झटके के साथ वह चल दिया।

निर्वाण की खोज में

उसे निर्वाण चाहिए, दरिद्रता, रोग और मृत्यु से छुटकारा चाहिए--और इसी को खोजने वह निकला। पर राजमहल छोड़ते ही उसके सामने यह प्रश्न विकराल रूप में उठ खड़ा हुआ कि आखिर वह कहाँ खोजे यह निर्वाण? कहाँ जाय उसकी तलाश में? उसे याद आई तीर्थस्थानों की, बड़े-बड़े धर्म-स्थानों की, अतः अपने प्रश्नों के समाधान के लिए काशी, प्रयाग आदि सब-कुछ उसने छान डाला। पर उसके जी में विद्रोह की आग और भी अधिक प्रचण्ड हो उठी, जब उसने देखा कि निर्वाण का मार्ग बताने का दावा लेकर खड़े इन देवस्थानों और धर्मस्थानों में तो पशु-बलि की होड़ चल रही है, और दुराचार का बाजार गरम है! उसने देखा कि पुरातन वैदिक धर्म अपने उच्च आदर्शों से बहुत नीचे गिर चुका है। पुरोहितशाही ने तरह-तरह के पूजा-पाठ का पाखण्ड फैला रखा है। जातियों का बंधन मानवता के विकास में बाधा बनकर अड़ रहा है। मन्त्र-तंत्र और जादू-टोना आदि अंध-विश्वास लोगों के मन में घर करते जा रहे हैं। इस प्रकार पुरोहित लोग मिथ्या धारणाओं और आडम्बर के सहारे जनता के दिमागों पर शासन कर रहे हैं और मानव-कल्याण का मार्ग बताने की अपेक्षा वे राज्य-शक्ति प्राप्त करने की ओर अधिक प्रवृत्त हैं।

धर्मचक्रप्रवर्त्तन

सारनाथ से प्राप्त भगवान् बुद्ध की इस कलापूर्ण प्रतिमा में उसी स्थान में उनके द्वारा प्रथम धर्मोपदेश की झाँकी प्रत्याङ्कित है। उनका यह धर्मोपदेश ही 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' के नाम से प्रख्यात है।

बोध-प्राप्ति

यह सब देखकर उसे बड़ी निराशा हुई। इन धर्मध्वजियों की दूकानों से दूर हटकर निर्जन वन के एकान्त की शरण लेने ही में उसे एकमात्र सही राह दिखाई दी। वर्षों तक इसी तरह जंगलों की खाक छानने के बाद तब एक दिन उसने गया के समीप एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि लगा ली। कहते हैं कि वर्षों की तपस्या, कष्ट-सहन, उपवास और तरह-तरह की अन्य साधनाओं के द्वारा जो वस्तु उसे नहीं प्राप्त हुई थी, वही थोड़े दिनों की उस समाधि से सिद्ध हो गई। उसे प्रकाश मिल गया, बोध हुआ, बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और उसी दिन से कपिल-वस्तु का वह राजकुमार संसार में 'बुद्ध' के नाम से प्रख्यात हो गया। जिस वृक्ष के नीचे उसे 'बोध' हुआ था, वह भी संसार में 'बोधि वृक्ष' के नाम से अमर हो गया।

धर्मचक्र प्रवर्तन

अब इस खोजी को, जो एक दिन दुःखों का निराकरण और सत्य ढूंढने निकला था, अन्य ऐसे खोजियों की आवश्यकता हुई, जो उसकी खोज और ज्ञान से लाभ उठा सकें, और वह सोचने लगा कि किस प्रकार वह अपना प्राप्त ज्ञान संसार में फैलाए। इसी समय अचानक उसे याद आई उन पांच साथियों की, जो कि उसका साथ छोड़कर इसलिए चलते बने थे कि इसका विश्वास शरीर को उप-

वास आदि द्वारा व्यर्थ कष्ट देकर कठोर तप करने की प्रणाली से उठ गया था। उसे उन साथियों की याद करके उनकी बुद्धि और समझ पर तरस आई और तुरंत ही वह उनकी खोज मे निकल पड़ा।

बुद्धत्व-प्राप्त यह सन्यासी जगह-जगह घूमते-फिरते जब बनारस पहुँचा,तो उसने देखा कि वहाँ इसिपत्तन (ऋषिपत्तन) या वर्तमान सारनाथ के मृगवन मे उक्त पाँचों साथी निवास कर रहे थे। उन पाँचों सन्यासियो ने उसे दूर से आते देखते ही आपस में सलाह करनी शुरू की। कोई कहता—'देखो मित्र, वही पथभ्रष्ट सन्यासी गौतम आ रहा है, जो अपनी आदतों से विवश होने के कारण तप से च्युत हो गया था! जिसने सुजाता नामक एक स्त्री के हाथ का दिया भोजन ग्रहण कर लिया था, और तप तथा कठोरता का जीवन छोड़कर सुख के जीवन की ओर जो प्रवृत्त हो गया था।' दूसरा कहता—'हाँ, हाँ, वही है! इधर ही आ रहा है। आओ, हम लोग मुँह फेर ले।' पर ज्योंही वह बुद्धत्व-प्राप्त सन्यासी पास आया, सबके पूर्व निश्चय बदल गए। किसी ने उसका कमण्डलु लेकर एक ओर सँभालकर रखखा, तो किसी ने आसन बिछाया। कोई पैर धोने को पानी लाने दौड़ा तो कोई खड़ाऊँ लाने गया। इस तरह स्वागत के बाद जब वह संन्यासी अपने लिए बिछाये गए आसन पर बैठा, तब उक्त पाँचों संन्यासियो ने उससे बात करने के लिए मुँह खोला। वे उसे 'मित्र' कहकर संबोधित करने लगे।

बुद्ध ने कहा—'संन्यासियो, तथागत को उसके नाम से अथवा 'मित्र' कहकर मत पुकारो। वह तुम्हें शिक्षा देगा, धर्म का उपदेश करेगा। अगर तुम उसकी बातों पर ध्यान दोगे तो दीर्घजीवी होगे, अपने आपको पहचान सकोगे, जीवन का रहस्य जान सकोगे।'

वे बार-बार शंका करने लगे। पर अन्त में उनकी सब शकाओ का समाधान हो गया, और उन लोगों ने शिक्षा ग्रहण करना शुरू कर दिया। बुद्ध ने कहा—जिन्होने संसार को त्याग दिया है, उन्हे दो प्रकार की अति से बचना चाहिए। ये दोनो अति क्या है? एक तो है सुख और विलास में प्रवृत्त जीवन, जो मनुष्य को नीचे ले जानेवाला है। दूसरा, व्यर्थ के बलिदान का जीवन, जो कष्टप्रद और उपेक्षणीय है। सन्यासियो, इन दोनों अति के मार्ग को छोड़कर तथागत ने एक मध्यम मार्ग पाया है, जो बुद्धि, शान्ति, ज्ञान, सम्बोधि और निर्वाण का मार्ग है। यह मध्यम मार्ग क्या है? यह है अष्टाङ्गिक सन्मार्ग, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सत्सङ्कल्प, सद्वचन, सदाचरण, साधु-जीविकावलम्बन, आत्मसंयम, सत्‌विचार और सच्चिन्तन का मार्ग।

जनसाधारण के निकट सम्पर्क में

और यही शिक्षा अपने जीवन के शेष पैतालिस वर्षों में कोसल से विदर्भ और राजगृह तक घूम-घूमकर वह देते रहे। शिक्षार्थियों और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ उनके पास जमा होने लगी। यह खबर फैलते देर न लगी कि एक नवीन सन्यासी समता का उपदेश करता फिरता है और कहता है कि ज्ञान प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है। अभी तक पंडितों और पुरोहितों ने ज्ञान प्राप्त करने के अधिकार को एक वर्ग-विशेष तक सीमित रक्खा था, अतएव इस विद्रोही वाणी पर निम्न श्रेणी के लोग प्रसन्नता से नाच उठे। इस नई आवाज को सुनकर पुरोहितों और मठाधीशों के कोप की आग भड़क उठी। राजन्यों की भी भृकुटियाँ तन गई और इस नवीन सन्यासी की राह में रोड़े अटकाने के लिए तरह-तरह के षड्यत्र रचे गए। पर कोई सफल न हुआ। उन दिनों शिक्षा संस्कृत में होती थी,जिससे साधारण जनता लाभ नहीं उठा सकती थी। बुद्ध ने अपनी शिक्षा जनता ही की बोली (प्राकृत) में देना प्रारंभ किया। अतएव इस धार्मिक प्रजातंत्र के सम्मुख एकतंत्र का किला जड़मूल से काँप गया और विरोधी तक एक-एक करके आकर इस नवीन धर्म में दीक्षित होते गए।

अन्त मे एक दिन राजा शुद्धोदन की राजधानी कपिलवस्तु का शृङ्गार होना शुरू हुआ। उनका प्रवासी पुत्र गौतम (राजकुमार सिद्धार्थ) बुद्धत्व प्राप्त कर लोकशिक्षक के रूप में आज वापस आ रहा है। उसकी पत्नी यशोधरा—पिछले कितने वर्षों से पति की प्रतीक्षा के पथ पर आँखें बिछाये रहनेवाली यशोधरा—खुशी और मान की भावना से आज उन्मत्त है। वह आए। पर सभी को नवीन धर्म मे दीक्षित कर फिर चले गए!

निर्वाण-प्राप्ति

इस तरह पैतालिस वर्ष लगातार धर्म-प्रचार करते-करते एक दिन कुशीनगर (वर्तमान गोरखपुर के समीप 'कसया' नामक स्थान) की राह मे 'पावा' नाम के एक गाँव में वह अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

अब तक उनके लाखों अनुयायी हो चुके थे, अतः उनके भस्मावशेष आठ भागों मे विभक्त किये गए। उन्हे गाड़कर उसके ऊपर आठ स्तूप बनाये गए। और इस तरह एक महान् जीवन, एक युगान्तरकारी व्यक्तित्व का अन्त हुआ।

नई दुनिया का महान् अन्वेषक—क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस

पिछले खंड में इसी स्तंभ के अंतर्गत 'धरती की खोज' शीर्षक लेखद्वारा पृथ्वी के अज्ञात भूभागों का अन्वेषण करनेवाले वीरों के महान् प्रयासों का सामूहिक रूप से हम आपको परिचय करा चुके हैं। उसी क्रम में अमेरिका महाद्वीप की नई दुनिया को खोजने में सबसे महत्व का भाग लेनेवाले क्रिस्टॉफर कोलंबस का भी संक्षेप में हम उल्लेख कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रकरण में उसी महान् अन्वेषक की विस्तृत कहानी दी जा रही है।

लगभग पांच सौ वर्ष पहले की बात है। ३ अगस्त, सन् १४९२, के दिन स्पेन के एक छोटे से बंदरगाह पैलॉस में एक व्यक्ति अपनी सामुद्रिक यात्रा के प्रबंध में व्यस्त था। वह व्यक्ति यद्यपि अपने पार्थिव जीवन के पूरे ५६ वर्ष व्यतीत कर चुका था, लेकिन तब भी नवयुवकों को लज्जित कर देनेवाले उत्साह एवं महत्वाकाक्षा से वह स्फुरित हो रहा था। लंबा शरीर, सुंदर व्यक्तित्व, चौड़ा मस्तक, विचारशील नेत्र, और मुख पर एक अदम्य संकल्प! तीन छोटे-छोटे पुराने जलयान—'सांता मेरिया', 'पिन्ता' और 'नाइना'—उसकी यात्रा के लिए तैयार किये जा चुके थे। इनमें केवल सांता मेरिया में ही डेक लगे हुए थे, शेष दोनों अगले और पिछले भागों को छोड़कर खुले जलपोत थे। जो दर्शक इस यात्रा के साहसमय उद्देश्य से परिचित नहीं थे, उन्हें यह प्रतीत होता था कि ये नौकाएँ कदाचित् महाद्वीपों के किनारे-किनारे मछलियों के शिकार के लिए अथवा पड़ोस के देशों से व्यापार करने के लिए जानेवाली हैं। किंतु, जो उस व्यक्ति की प्रतिज्ञा से परिचित थे, वे यही समझते थे कि यह स्वयं भी महासागर में जा डूबने और अपने साथियों को भी ले डूबने का प्रबंध कर रहा है!

पश्चिम के मार्ग से एशिया तक जा पहुँचने का स्वप्न

इस व्यक्ति का नाम था क्रिस्टॉफर कोलम्बस। इसका जन्मस्थान इटली का जिनोआ नामक नगर था। इसके माता-पिता जुलाहे थे, किंतु चौदह वर्ष की अवस्था में ही उसे नाविक बनने का शौक पैदा हुआ और उसने मल्लाही की नौकरी कर ली। जब वह लगभग ३० वर्ष का हुआ, तो उसने अपनी सबसे पहली जलयात्रा की। यह यात्रा भूमध्य-सागर के एजियन समुद्र में स्थित 'किआँस' नामक टापू तक की थी। तदनंतर पुर्तगाल, इंगलैंड तथा आइसलैंड तक वह गया। इस तरह सामुद्रिक यात्राओं में उसका शौक और साहस बढ़ता ही चला गया। लगभग ३३ वर्ष की अवस्था में वह पुर्तगाल आया और वहाँ आकर उसने प्रसिद्ध नाविक राजकुमार हेनरी के एक कप्तान की लड़की से विवाह कर लिया। इस प्रकार उस कप्तान का बहुत-सा यात्रा-सम्बन्धी साहित्य उसके हाथ लगा, जिसका उसने ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। मार्को पोलो की यात्रा-संबंधी पुस्तक भी उसने पढ़ी और उसका समय प्राय. भूगोल के अध्ययन तथा अनुभवी नाविकों से बातचीत करने में ही व्यतीत होने लगा। उसे विश्वास हो गया कि पृथ्वी गोल है; सारा भूखंड योरप, एशिया, अफ्रीका तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीपों से ही बना है, और इन महाद्वीपों में एशिया सबसे बड़ा तथा बहुत दूर तक विस्तृत है। इस समय तक सभी यात्रियों ने पूर्व ही की ओर यात्रा की थी। अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर आगे बढ़ने का साहस अभी तक किसी ने न किया था। कोलम्बस ने सोचा कि यदि पृथ्वी गोल है और एशिया बहुत दूर तक पूर्व की ओर फैला हुआ है, तो अटलांटिक महासागर में पश्चिम की ओर यात्रा करने से भी एशिया मिल जाना चाहिए! ऐसा अनुमान उसने, स्पष्टत:, इसलिए किया था कि वह पृथ्वी को अपने वास्तविक आकार से बहुत छोटी और एशिया को बहुत बड़ा समझता था। उसकी ये धारणाएँ अन्य कुछ बातों से और भी दृढ़ हो गई थीं। उसने सुन रक्खा था कि मदीरा और

एजोर द्वीपों के पास कुछ ऐसे वृक्षों तथा वृहदाकार बेंतों के तने वहकर आये हैं, जो एक अनजान देश के ही हो सकते हैं। इसके अलावा मनुष्यों द्वारा गढ़े हुए कुछ लकड़ी के टुकड़े भी अटलांटिक की धाराओं में वहते हुए पाये गये, और एक द्वीप के किनारे दो ऐसे मनुष्यों के शव आकर लगे, जो न योरप के हो सकते थे और न अफ्रीका के—उनके शरीर तथा मुख की आकृति योरप तथा अफ्रीका-निवासियों से सर्वथा भिन्न थी। इन समाचारों ने कोलम्बस की धारणाओं को और भी पुष्ट कर दिया और वह पश्चिम की ओर जलयात्रा करने के लिए व्यग्र हो उठा।

यात्रा की तैयारी

लेकिन, एक मामूली-सा व्यक्ति बिना पर्याप्त साधनों के इतनी बड़ी तथा साहसपूर्ण यात्रा कैसे कर सकता था? उसे अनेक जहाजों, सौ से अधिक मल्लाहों, खाने-पीने की सामग्री, धन तथा राज्य के संरक्षण की आवश्यकता थी। यह सब साधन कैसे जुटाए जायँ? कोलम्बस के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ। उसने सबसे पहले पुर्तगाल के राजा जान द्वितीय के सामने अपना उद्देश्य प्रकट किया।

कोलंबस की यात्रा के पूर्व संसार के ज्ञात भूभाग

वे भाग, जो उस समय तक पश्चिमवालों को ज्ञात थे, श्वेत रंग में दिखाये गये हैं।

बादशाह ने एक भूगोल-परिषद् के पास यह मामला विचारार्थ भेज दिया, लेकिन परिषद् कोलम्बस के विचारों से सहमत न हो सकी। तथापि बादशाह को कोलम्बस की धारणा कुछ जँच-सी गई और उसने कोलम्बस से छिपाकर एक गुप्त यात्रा की योजना की! किंतु यह यात्रा सफल न हो सकी। जब कोलम्बस को इस बात का पता चला, तो वह बड़ा ही व्यथित हुआ और उसने पुर्तगाल छोड़ देने का ही निश्चय कर लिया। सन् १४८४ में उसने लिस्बन छोड़ दिया और वह चुपचाप स्पेन आ गया। लगभग दो वर्ष स्पेन में रहने के बाद उसने अपना यात्रा-संबंधी प्रार्थनापत्र रानी आइसाबेला के पास भेजा। लेकिन उस समय राजा फर्डीनेंड और रानी आइसाबेला दोनों ही मूर लोगों को दक्षिण स्पेन से निकाल बाहर करने में जुटे हुए थे और उनसे युद्ध हो रहा था, अतएव कोलम्बस के प्रार्थनापत्र पर उचित ध्यान न दिया जा सका। लगभग छः वर्ष तक वह संरक्षण और सहायता की खोज में इधर-उधर भटकता रहा, लेकिन हर जगह उसे निराश ही होना पड़ा। उसने इंगलैंड के बादशाह सप्तम हेनरी को भी लिखा, लेकिन वहाँ से भी उसके प्रस्ताव अस्वीकृत होकर लौटे। इस बीच में उसके उत्साह को बनाये रखनेवाले कुछ नाविक और कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्ति ही थे, जिनसे उसने प्रगाढ़ मित्रता स्थापित कर ली थी। निदान जनवरी, सन् १४९२, में मूरों का प्रधान नगर ग्रैनाडा स्पेन के हाथों में आ गया और मूर लोग पराजित हुए। रानी आइसाबेला को अवकाश मिलने पर उसका ध्यान फिर कोलम्बस के उद्देश्यों की ओर आकर्षित किया गया और उनने कोलम्बस को सहायता देने के लिए निश्चय कर लिया। आइसाबेला और कोलम्बस में यात्रा-सम्बन्धी समझौता हो गया, जिसके अनुसार रानी ने कोलम्बस की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने का वचन दिया। साथ-ही-साथ उसे एड्मिरल की उपाधि भी दे दी गई और नवान्वेषित देशों के वायसराय का पद और उन देशों से प्राप्त धन का दशांश देने का भी वादा कर दिया गया। सबसे बड़ी कठिनाई कोलम्बस को साथियों के ढूँढने में हुई। यहाँ तक कि जेल में पड़े-पड़े सड़नेवाले दंडित अपराधियों तक को इस शर्त पर छोड़ देने का वादा किया गया कि वे कोलम्बस के साथ चले जायँ, लेकिन वे भी राजी न हुए! बड़ी कठिनाइयों के बाद धन अथवा धमकी देकर १२० व्यक्ति इकट्ठे किये जा सके। 'सांता मेरिया' नामक जहाज का प्रधान नाविक स्वयं कोलम्बस बना, 'पिन्ता' का मार्टिन पिंजन, और 'नाइना' का मार्टिन पिंजन का भाई यानेज पिंजन। पिंजन-बन्धु पैलॉस के प्रसिद्ध नाविक थे। सांता मेरिया १०० टन का जहाज था, पिन्ता ५० टन का और नाइना केवल ४० टन का था। बारह महीनों के लिए खाने-पीने की सामग्री भर ली गई।

यात्रा का आरंभ

आखिर ३ अगस्त १४९२, को ये नौकाएँ अपनी यात्रा पर चल पड़ी। अनुकूल हवा के झकोरों ने तीनों जहाजों को कनारी द्वीपों तक पहुँचा दिया। उसकी नौका पिन्ता का पतवार इस छोटी-सी यात्रा में ही टूट गया था। उसके अंदर पानी आने लगा था। कोलम्बस ने इन द्वीपों में भरसक प्रयत्न किया कि वह पिन्ता को किसी दूसरी नौका से बदल ले, लेकिन उसका यत्न निष्फल हुआ। लगभग तीन सप्ताह वहाँ रुककर अंत में कोलम्बस ने पिंता को सँभाला। अब तक जहाज कनारी द्वीपों के ही आस-पास तक प्रायः आया-जाया करते थे, उसके आगे पश्चिम की ओर क्या है, यह कोई भी नहीं जानता था। अब कोलम्बस अटलांटिक की अपरिचित तरंगों का भेदन करते हुए आगे बढ़ा। उसकी आशाएँ ही उसका निर्दिष्ट लक्ष्य थीं, और सत्य और कर्म में अटल विश्वास ही उसे उनकी ओर खींचे लिये जा रहा था। कुछ ही देर में कनारी द्वीप दृष्टि से ओझल हो गये। लेकिन अब टेनरिफ द्वीप के ज्वालामुखी की गगनचुम्बी ज्वालशिखा दीखने लगी थी। उसे देखकर कोलम्बस के भीरुहृदय और अस्थिर-चित्त साथी भयभीत हो गये! उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों उस अनजान देश में प्रवेश करते ही कोई बृहदाकार राक्षस आग उगलता हुआ उन्हें हड़प जाने के लिए उनकी ओर चल पड़ा हो! मल्लाह सहमकर शिथिल पड़ गये। कोलम्बस ने तीनों जलपोतों में जा-जाकर उन्हें समझाया कि ज्वालामुखी पर्वत क्या होता है और उसके मुख से आग क्यों निकलती है। इस प्रकार उसने उन्हें धैर्य दिया। कुछ ही देर में ज्वालशिखा भी क्षितिज से मिल गई और धीरे-धीरे उसमें विलीन हो गई। यह ज्वालशिखा ही पुरानी दुनिया का अन्तिम चिह्न थी, अतएव उसके अंतर्धान होते ही मल्लाह फिर भयग्रस्त और खिन्न हो गये। उन्हे ऐसा जान पड़ा, मानों वे किसी दूसरी ही दुनिया में प्रेतों की भाँति विचरण कर रहे हों। 'क्या हम अपने वास्तविक जीवनमय जगत में जीते-जागते फिर लौट सकेंगे?' इस विचार ने मल्लाहों के हृदय को कँपा दिया। कोलम्बस ने उन्हें धैर्य दिया—'देखो, हम ऐसे देशों की ओर अग्रसर हो रहे है, जहाँ सुवर्ण के ढेर लगे हुए है, जिनके समुद्रतटों पर मोती बिखरे पड़े हैं, जिनके पर्वत बहुमूल्य रत्नों से झिलमिला रहे है, और जिनकी भूमि कीमती मसालों के पौधों से आच्छादित है। ऐसे ही देशों में कुछ ही समय बाद हमारे जलयान लगेंगे। वहाँ हम अपने देश का झंडा फहराएँगे।' मल्लाहों की आँखें एक सुखमय आशा से चमक उठी, उनकी नसों में एक नवीन शक्ति का संचार होने लगा। आगे बढ़ने में उत्तरपूर्वीय ट्रेड हवायें पूरी मदद दे रही थीं। अब तक नावें योरप से सैकड़ों मील दूर पहुँच चुकी थीं लेकिन कोलम्बस इस दूरी के रहस्य को कभी भी नहीं खोलता और यही कह दिया करता था कि नावें योरप से कुछ ही दूरी पर है।

क्रिस्टॉफर कोलंबस
जिसने 'नई दुनिया' की खोज करके इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया।

अनोखा चुम्बकीय प्रभाव

कुछ दूर और आगे बढ़कर (कनारी द्वीपों से लगभग ६०० मील की दूरी पर) कोलम्बस ने देखा कि उसकी मार्ग-प्रदर्शिनी चुम्बक की सुई इधर-उधर डोलने लग गई है। कोलम्बस स्वयं घबड़ा उठा, "आखिर, इसका कारण क्या हो सकता है? क्या वह ऐसे संसार में आ गया है, जहाँ चुम्बकीय सिद्धांत लागू नहीं होता?" लेकिन मल्लाहों को सांत्वना देने के लिए उसने चट से एक बात बना ली—'संसार के इस भाग में कुछ नये नक्षत्रों के प्रभाव से ही सुई में यह विकार उत्पन्न हो गया है!'

दूसरे ही दिन (१८ सितम्बर को) जलयानों के ऊपर बगुले की जाति का एक पक्षी और एक अन्य पक्षी उड़ते हुए दिखाई दिये। उन्हें देखकर सारे यात्री प्रसन्न हो गये। 'अवश्य ही आगे कुछ दूरी पर स्थल होगा, नहीं तो ये पक्षी कहाँ से आ सकते थे?" कुछ ही दूर आगे कुछ ऐसे वृक्ष तैरते हुए दिखाई दिये, जो स्थल के ही हो सकते थे, और कुछ अन्य पक्षी भी आकाश के एक ओर से दूसरी ओर उड़ते हुए चले गये। सारे यात्री आनंद से पुलकित हो उठे। नीला आकाश, टिमटिमाते हुए नक्षत्र, सुगंधित वायु

और क्रीड़ा-मग्न जलचर उनके चित्त को लुभाने लगे। "केवल नाईटिंगेल की ही कमी है," कोलम्बस बोल उठा।

भूमि का कहीं पता नहीं

लेकिन यह आनंद अस्थायी था। दिन पर दिन बीतने लगे भूमि का कही पता न था। उत्तर-पूर्वीय ट्रेड हवाएँ तीव्र गति से वह रही थी और उन नौकाओं को न जाने कहाँ घसीटे लिये जा रही थीं। जब इतनी दूर आने पर भी कोलम्बस द्वारा कल्पित देश न मिल सका, तो इन हवाओं के प्रतिकूल फिर अपने देश में पहुँचना तो असंभव ही हो जायगा! बहुत-से मल्लाह कोलम्बस को पागल, सनकी, हठी, आदि कहकर बड़बड़ाने लग गये—'एक मनुष्य के पागलपन के कारण १२० मनुष्य भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर जान दे दें, यह कहाँ का न्याय है?' मल्लाहों में विद्रोह बढ़ने लगा। लेकिन, उसी दिन संध्या समय पक्षियों का एक दल कलरव करता हुआ पुनः आकाश को पार कर गया। इनमें एक गोरैया भी थी, जो मनुष्य के घरों में ही अपना घोंसला बनाती है। 'अवश्य ही स्थल समीप होगा', नाविकों ने फिर सोचा। इसके साथ-ही-साथ उन्होंने देखा कि सागर की नीलिमा एक हरीतिमा में परिणत होती जा रही है और सागरतल सामुद्रिक घास से अधिकाधिक आच्छादित होता चला जा रहा है। और आगे बढ़ने पर यह समुद्री घास इतनी घनी हो गई कि बजरों का उसमें होकर निकलना भी कठिन हो गया। 'क्या यहीं पर उलझकर हमें अपने प्राण दे देना होगा'—कोलम्बस के कातर मल्लाह फिर बड़बड़ाने लगे। कोलम्बस स्वयं चकित था, लेकिन उसने अपने साथियों को समझाकर शांत किया। वास्तव में यह घास 'सारगोसा-सागर' की थी।

कोलंबस का जहाज 'सांता मेरिया'

इसी जहाज पर यात्रा कर उसने 'नई दुनिया' की खोज की थी। इसके द्वारा अटलांटिक महासागर को पार करने में ३६ दिन लगे थे।

सारगोसा-सागर को पार करने पर, जब घास से छुटकारा मिला, तो मल्लाहों की सहायक उत्तर-पूर्वीय ट्रेड हवाएँ एकाएक बंद हो गईं, कारण विषुवत् रेखा के सामीप्य के कारण हवाओं का शांत कटिबंध आ पहुँचा था। लेकिन स्थल का फिर भी कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता था। मल्लाहों में फिर बड़बड़ाहट शुरू हुई, 'बगैर हवाओं के कैसे किधर चला जाय?' इतने में ही एक बृहदाकार ह्वेल समुद्र में उतराती हुई दृष्टिगोचर हुई। कोलम्बस के भीरु साथी फिर घबड़ा गए। उनका धैर्य अब प्रायः समाप्त हो चुका था और उसका स्थान कोलम्बस के प्रति उनके क्रोध ने ले लिया था।

'हम लोग इसकी बात नहीं मान सकते', एक बोला।

'मारो, फेंक दो इसे समुद्र में', कई चिल्ला उठे।

कोलम्बस सब सुन रहा था। धैर्यपूर्वक उसने सारे अपमान को सहा। व्यथित वह अवश्य था, लेकिन उसकी आशाएँ अब भी टूटी न थी। स्थल तो मिलेगा ही', उसने नम्रतापूर्वक अपने साथियों को समझाया।

दिन अस्त होते-होते पिन्ता का कमांडर पिंजन चिल्ला उठा—'धरती, धरती!' मल्लाहों में हर्ष और खलबली मच गई और ईश्वर को धन्यवाद दिया जाने लगा। लेकिन दूसरे ही दिन सवेरा होने पर कोहरे के साथ ही साथ पिंजन के दृष्टि-भ्रम का भी लोप हो गया—कारण स्थल का कहीं पता न था। असंतोष फिर बढ़ चला,—'न कहीं द्वीप और न कोई देश, न सोना और न हीरा! हम लोगों की बलि व्यर्थ ही दी जा रही है। धोखेबाज, पापी, देशद्रोही कोलम्बस!' बहुत-से लोग बड़बड़ाने और फिर चिल्लाने लगे; यहाँ तक कि वे कोलम्बस को मार डालने तक पर उतारू हो गए! किसी को समझाकर, किसी की खुशामद कर, किसी को

डाटकर और किसी को धमकी देकर कोलम्बस ने अपने साथियों को कुछ शांत किया। 'ईश्वर के नाम पर मुझे तुम तीन दिन और दो। यदि इस बीच हम किनारे न लगें, तो तुम जो मन में आए करना', उसने कहा।

दूसरे दिन सूर्योदय के समय कुछ ताजे उखड़े हुए पेड़, कुछ कुल्हाड़ी तथा अन्य यंत्रों से कटे हुए लकड़ी के टुकड़े अम्लान पुष्पों से लदी हुई एक डाली, तथा एक घोंसला, जिसमें मादा चिड़िया अब भी बैठी हुई अपने अंडों को से रही थी, एक-एक करके समुद्र की लहरों में बहते हुए पाए गए। दूसरे दिन (यानी ११ अक्टूबर, १४९२, को) निशीथ के अंधकार में निद्राहीन कोलम्बस की खोजती हुई तीव्र दृष्टि सहसा क्षितिज पर अग्निशिखा के एक क्षणिक प्रकाश पर पड़ी। उसने धीरे से अपने कुछ विश्वासपात्र साथियों से उस ओर इशारा करते हुए कहा-- 'कुछ देखा आपने ?' फिर एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ और एक क्षण में अंतर्धान हो गया। प्रकाश था अवश्य, सबकी आँखों को धोखा नहीं हो सकता था; लेकिन सब चुप रहे---कहीं यह भी धोखा ही न सिद्ध हो! इतने में 'पिंता' ने, जो आगे-आगे खेती हुई चली जा रही थी, एक बंदूक दागी। 'भूमि-भूमि', की आवाज गूँज उठी। हर्ष से कोलाहल मच गया!

धरती दिखाई दी

भाँति-भाँति की अपरिचित सुगंधियाँ अब स्थल की ओर से आकर यात्रियों को आनंदित करने लगीं। १२ अक्टूबर की पौ फटने पर सागर-तरंगों से परिवेष्टित एक द्वीप का आकार दृष्टिगोचर होने लगा! और आगे बढ़ने पर स्पष्टतः किनारे की पीली बालू दिखाई पड़ने लगी। तब हरी-भरी भूमि भी दृष्टिगोचर हुई और आगे पहाड़ियों के ढालों पर लगे हुए विशाल वृक्ष और पहाड़ियों के सुंदर शिखर दिखाई देने लगे। बीच-बीच में लकड़ी और पत्तों के बने हुए घर, उनमें से उठता हुआ धुआँ, और फिर निकट पहुँचने पर नग्न अथवा अर्द्धनग्न अनेक पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी तट पर खड़े दिखाई देने लगे।

कोलंबस का धैर्य का बाँध अब टूटा। उसके नेत्रों से आँसू बह चले थे। वह व्यग्र हो उठा उस 'कुमारी' धरती पर पैर रखने, उस पर अपने देश और धर्म का झंडा गाड़ देने के लिए। उसने सम्राट्-द्वारा प्रदत्त एड्मिरल और वायसराय के पद

कोलंबस का यात्रा-मार्ग

दाहिनी ओर, कोलंबस के मुख्य जहाज 'सान्ता मेरिया' का रेखाचित्र दिया गया है। कोलंबस की सन् १४९२ ई० की प्रथम यात्रा का मार्ग कटावदार रेखा द्वारा दिग्दर्शित है। मानचित्र में वे मुख्य-मुख्य द्वीप आदि निर्देशित हैं, जिन्हें कोलम्बस ने खोजा।
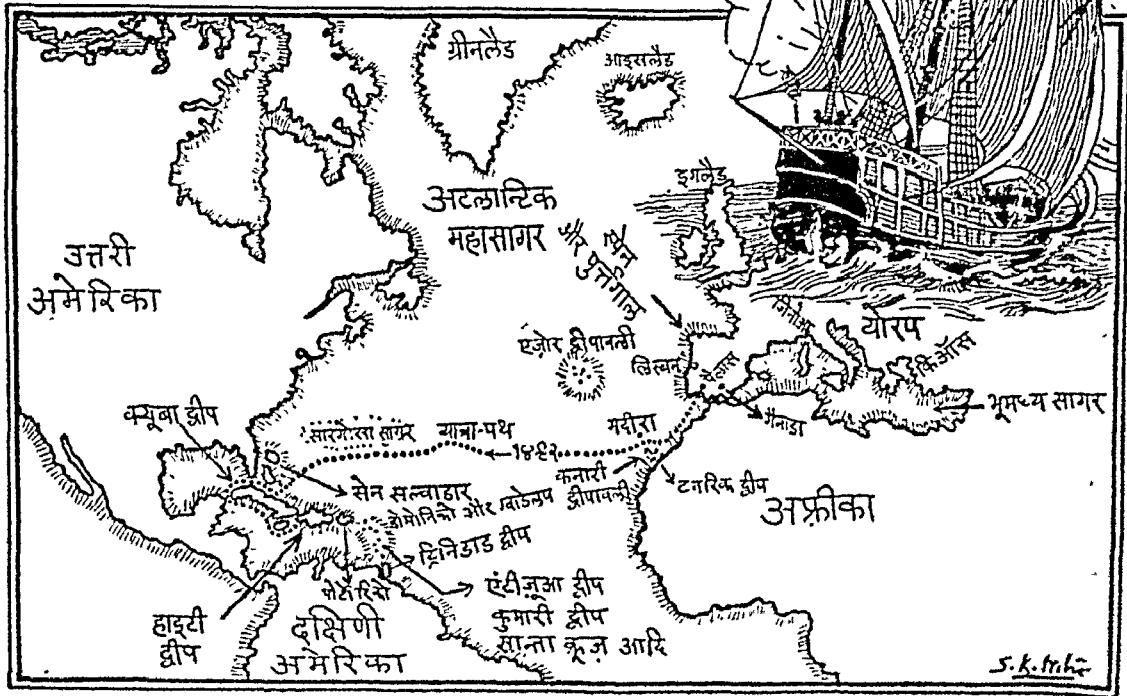
के अनुसार अपनी शाही पोशाक पहन ली और तट की ओर बढ़ा! भूमि पर उतरते ही उसने घुटने टेके, धरती को चूमा और घास में अपना मुँह गड़ाकर फूट-फूटकर वह रोने लगा। ईश्वर को उसने भूरि-भूरि धन्यवाद दिया और ईसा के नाम पर उस द्वीप का नाम उसने 'सैन सल्वाडार' रख दिया।

कोलंवस के साथी एक ओर तो हर्ष से उन्मत्त हो रहे थे, पर दूसरी ओर लज्जा से गड़े भी जा रहे थे। अभी दो ही दिन पहले उन्होंने अपने एड्मिरल को मार डालने, उसे समुद्र में फेंक देने तक का प्रायः निश्चय कर लिया था! पश्चात्ताप, क्षमा-याचना और सम्मान के भावों से विचलित होकर वे उसके चरणों पर गिर पड़े।

उस द्वीप के नग्न ताम्रवर्ण निवासी यह सारा दृश्य देखकर भयभीत हो रहे थे। न उन्होंने ऐसी नौकाएँ देखी थीं, न ऐसे मनुष्य और न ऐसे विचित्र वस्त्र ही। उन्हें मालूम पड़ा, मानों ये मनुष्य स्वर्गलोक से उतरकर पृथ्वी पर आए हों! आदर के भाव से वे धीरे-धीरे सन्निकट आ गए। हाय रे मूलनिवासी! तुम उस समय यह न समझ सके कि वे देवता न थे, तुम्हीं को पराजित करने के लिए आए हुए मनुष्य थे!

कोलम्बस समझता था कि वह एशिया के पूर्वीय द्वीपों में से किसी एक में आ पहुँचा है। इसलिए उसने इन मूलनिवासियों को 'इंडियन' कहकर पुकारा। यद्यपि कोलम्बस का विचार गलत था तथापि इस नई दुनिया के बचे-खुचे मूलनिवासी इसी नाम से अब तक पुकारे जाते हैं।

इसी द्वीप से आगे चलकर सुवर्ण की खोज में घूमता हुआ कोलम्बस क्यूबा नामक द्वीप में पहुँचा। इस द्वीप को उसने जापान समझा। वहाँ उसने तम्बाकू और उसकी उपयोगिता से पहले-पहल परिचय प्राप्त किया। क्यूबा के किनारे किनारे घूमते हुए और उसके प्राकृतिक सौंदर्य की सराहना करते हुए वह दूसरे द्वीप 'हाइटी' में जा पहुँचा। इस द्वीप का नाम उसने 'हिस्पेनिओला' रक्खा। इस द्वीप के किनारे कोलम्बस का जहाज सांता मेरिया पानी में बैठ गया। अतएव उसने अपने ४४ साथियों को उस द्वीप में छोड़ दिया। सांता मेरिया से जो कुछ लकड़ी निकल सकी, उसमें उसने उन मनुष्यों के रहने के लिए एक किला बनवा दिया। ४ जनवरी, सन् १४९३, को वह अन्य साथियों को लेकर स्पेन की ओर लौट चला। छोड़े हुए साथियों को उसने आश्वासन दिया कि वह शीघ्र ही लौटेगा और तब तक वे इस द्वीप के विषय में जितना ज्ञान प्राप्त कर सकें, करें। बड़ी कठिनाइयों के बाद १३ मार्च को वह पैलॉस पुनः पहुँच सका। अपने विजयचिह्नों को प्रदर्शित करने के लिए वह अपने साथ अन्वेषित प्रदेशों के कुछ विचित्र तोते, अन्य बहुतेरी वस्तुएँ तथा कुछ मूलनिवासियों को भी लाया था। प्रजा और राजा की ओर से उसका खूब धूमधाम से स्वागत किया गया।

कोलम्बस की अन्य यात्राएँ

इसके पश्चात् कोलम्बस ने तीन यात्राएँ और कीं, जिनमें उसने क्रमशः डोमिनिका, ग्वाडेलूप, ऐंटिगुआ, सांता क्रूज, कुमारी (वर्जिन) द्वीपावली, पोर्टोरिको, जमैका, ट्रिनिडाड आदि अनेकानेक द्वीपों तथा दक्षिण अमेरिका की प्रधान भूमि का अन्वेषण किया। परन्तु कोलम्बस इनको एशिया के पूर्वीय द्वीपसमूह का ही भाग समझता रहा। कई वर्षों बाद कुछ अन्य यात्रियों ने, जिनमें एक अमेरिगो विस्पुकी था, अपने अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध किया कि जिसे कोलंबस एशिया समझ रहा था, वह वस्तुतः एशिया नहीं, किंतु अब तक के अज्ञात दो महान् महाद्वीप—उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका—हैं। इन महाद्वीपों का नाम अमेरिका कदाचित् 'अमेरिगो' के नाम पर ही पड़ा। कोलम्बस ने, वास्तव में एक नई दुनिया को ढूँढ निकाला था। इसी से पृथ्वी का वह अर्द्धभाग, जिसमें दोनों अमेरिका स्थित हैं, अब भी 'नई दुनिया' के नाम से पुकारा जाता है।

अपनी दूसरी यात्रा में कोलम्बस बहुत-से जहाज और १५०० मनुष्य साथ में ले गया था, इस आशा से कि वह वहाँ उपनिवेशों की स्थापना करेगा। पर जब घूमता हुआ वह फिर हिस्पेनिओला पहुँचा तो उसने देखा कि वह लकड़ी का किला, जो उसने वहाँ अपनी पहली यात्रा में बनाया था, नष्टभ्रष्ट पड़ा है और उन छोड़े हुए ४४ मनुष्यों में से किसी का भी पता नहीं है। वे कदाचित् आपस में ही अथवा मूलनिवासियों से लड़कर मर-खप चुके थे। इधर कोलंबस के अन्य साथियों में बड़ा असंतोष फैल गया और स्पेन की राजसभा में उसकी शिकायतों पर शिकायतें पहुँचने लगीं। तीसरी यात्रा में कोलम्बस के विरुद्ध इतनी शिकायतें हुई कि वह गिरफ्तार कर लिया गया और हथकड़ियाँ पहनाकर स्पेन वापस लाया गया। रानी आइसाबेला ने जब सारी कहानी सुनी, तो उसने बहुत दुःख प्रकट किया और कोलम्बस के अपमान की पूर्ति यथासाध्य धन एवं सम्मान द्वारा की। परन्तु शीघ्र ही अपनी संरक्षिका का देहांत हो जाने के कारण जीवन के अंतिम वर्षों में कोलम्बस ने निर्धनता और रोग के कारण बड़ा कष्ट सहा और २० मई, सन् १५०६, को उसकी मृत्यु हो गई। उसकी कथा जब तक पृथ्वी पर मनुष्य है, कही जायगी।